विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०
5 अंसारी रोड, नई दिल्ली 110002
सवॉय चैम्बर्स, 5 वैलेस स्ट्रीट, बम्बई 400001
10 फर्स्ट मेन रोड, गांधी नगर, बंगलोर 560009
8/1-B चौरंगी लेन, कलकत्ता 700016
80 केनिंग रोड, कानपुर 208004

© डी० सी० गुप्ता, 1977

1V02G1709

ISBN 0 7069 0513 X

Rs 20

[इस पुस्तक के मुद्रण के लिए भारत सरकार से रियायती दर पर कागज़ उपलब्ध हुआ है।]

Bhartiya Shasan Vyavastha Evam Rajniti (Political Science)
by D. C. Gupta

तिलोल प्रिंटर्स, 6618, पहाड़ी धीरज, दिल्ली में मुद्रित

विषय-सूची

भाग एक

भारतीय शासन-व्यवस्था
(INDIAN GOVERNMENT)

भाग दो

भारतीय राजनीति
(INDIAN POLITICS)

भाग एक

भारतीय शासन-व्यवस्था

(INDIAN GOVERNMENT)

अध्याय 1

भारत–गणतंत्र की ओर

(India—Towards A Republic)

जो ब्रिटिश अधिकारी भारत पर अपना अधिकार बनाए रखने के इच्छुक थे, वे यह दलील देते थे कि भारतीय जनता अपने देश का शासन चलाने के अयोग्य है और यह कि 1919 तथा 1935 के दो संविधान अधिनियमों द्वारा जो शासन-व्यवस्था निर्धारित की गई थी, वह भारतीयों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। किन्तु इन महत्त्वाकांक्षाओं की प्रवक्ता कांग्रेस 1919 के अधिनियम को "प्रकाशहीन प्रभात" और 1935 के अधिनियम को "गुलामी का नया राज्यादेश" समझती थी। कांग्रेस का कहना था कि भारत की जनता केवल वही संविधान स्वीकार करेगी जो वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा तैयार किया जायेगा। कांग्रेस का यह भी कहना था कि खास-खास अल्पसंख्यक समुदायों को केवल अपने सामुदायिक मतों द्वारा अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया जायेगा। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के लगभग एक मास बाद, 19 सितम्बर, 1945 को, वाइसराय लार्ड वेवल ने घोषित किया कि केन्द्रीय विधानसभा (Central Legislative Assembly) एवं प्रान्तीय विधानमण्डलों (Provincial Legislatures) के निर्वाचन शीघ्र कराये जायेंगे। उन्होंने यह भी घोषणा की कि "यथासम्भव शीघ्र" एक संविधान-निर्माता निकाय (body) का आयोजन किया जायेगा और आम चुनावों के बाद निर्वाचित सदस्यों के प्रतिनिधियों एवं देसी रियासतों के प्रतिनिधियों के साथ प्रस्तावित संविधान-निर्माता निकाय के आकार-प्रकार, उसकी सामर्थ्य व अधिकारों और कार्यविधि सम्बन्धी विचार-विमर्श किया जायेगा।[1] लंदन में प्रधानमन्त्री एटली ने भी लगभग इसी प्रकार की घोषणा की। एटली ने भारतीय जनता से "ऐसा संविधान बनाने के संगठित प्रयास में मिलकर हाथ बंटाने" की अपील की, "जो बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक समुदायों को उचित एवं न्यायपूर्ण प्रतीत हो तथा जिसमें देशी राज्यों और प्रान्तों, सभी को उचित स्थान प्राप्त हो।"

[1]वेवल प्लॉन 14 जून, 1945 को प्रकाशित किया गया। देखिये, मोती राम की पुस्तक *Guide to Constituent Assembly*, पृष्ठ 190-94।

ब्रिटिश संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल (British Parliamentary Delegation)

केन्द्रीय विधानसभा के लिए चुनाव नवम्बर-दिसम्बर 1945 में हुए। ग्यारह प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव 19 जनवरी, 1946 को असम से शुरू हो कर साढ़े तीन महीने तक चलते रहे। इसी अवधि में 6 जनवरी से 8 फरवरी तक एक ब्रिटिश संसदीय प्रतिनिधि-मंडल ने भारत का दौरा किया। अपने भारत-प्रवास के अन्तिम दिन इस प्रतिनिधि-मंडल के नेता प्रोफेसर राबर्ट रिचर्ड्स (लेबर पार्टी) ने एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि प्रतिनिधि-मंडल के सभी सदस्य यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि भारत के सभी राजनीतिक दल स्वतन्त्रता की माँग करते हैं और इस प्रश्न पर उनमें कोई मतभेद नहीं है। उन्होंने यह भी कहा, "आप लोगों में परस्पर मतभेद हैं किन्तु जब आप स्व-शासन (self-government) की माँग करते हैं, जोकि उचित भी है, तब वे मतभेद गायब हो जाते हैं···हम सब इस तथ्य को समझते हैं कि अन्ततः भारत में राजनीतिक विचारों की परिपक्वता आ गई है।"

ब्रिटिश मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल—भारत के भविष्य की योजनाएँ (British Cabinet Mission—Plan for the Future of India)

संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल के वापस लंदन पहुँचने के कुछ ही दिन बाद (19 फरवरी को) प्रधानमंत्री एटली ने ब्रिटिश लोकसभा (House of Commons) में घोषणा की कि लार्ड पैथिक लॉरेन्स, स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स, और ए० वी० अलैक्ज़ेण्डर का एक मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल भारत जायेगा। इस शिष्टमण्डल के दौरे का उद्देश्य भारतीय नेताओं के साथ भारत द्वारा प्राप्त स्व-शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना बताया गया। उन्होंने कहा कि शिष्टमण्डल "इस संवैधानिक प्रश्न से सम्बन्धित सिद्धान्तों और कार्यविधि" के बारे में किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करेगा। 15 मार्च को एटली ने कहा कि ये तीनों मंत्री भारत को यथासम्भव, शीघ्र एवं पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अधिकतम सहायता देने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि यह निश्चय करना तो भारत का ही काम है कि वर्तमान के स्थान पर वहाँ किस प्रकार की सरकार स्थापित की जाये, पर ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा है कि इसका निर्णय करने के लिए आवश्यक तंत्र तुरन्त स्थापित करने में भारत की सहायता की जाये।

मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल 23 मार्च, 1946 को भारत पहुँचा और उसने यहाँ के राजनीतिक नेताओं से वार्त्ताएँ आरम्भ की। इन वार्त्ताओं का अन्तिम दौर 5 से 12 मई तक शिमला में हुआ जिसका कोई परिणाम नहीं निकल सका। शिष्टमण्डल के सदस्यों ने यह अनुभव किया कि कांग्रेस भारत को यद्यपि संगठित रखना चाहती है, मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पर अड़ी हुई है। शिष्टमण्डल के दोनों पक्षों की माँगें अस्वीकार करते हुए भारत के भविष्य के बारे में अपनी ही योजना तैयार की और ब्रिटिश सरकार ने उसे 16 मई को एक **श्वेतपत्र** (white paper) के रूप में प्रकाशित कर दिया।

लीग द्वारा प्रस्तुत पाकिस्तान की माँग अस्वीकार करते हुए श्वेतपत्र में एक भारतसंघ बनाने की सिफारिश की गई जिसमें देसी रियासतें और प्रान्त दोनों ही सम्मिलित हों। श्वेतपत्र में यह तो स्वीकार किया गया कि "जनता का यथासम्भव अधिकतम दृढ़ एवं उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की" सबसे अधिक सन्तोषजनक विधि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन द्वारा ही हो सकती है, पर "इस समय ऐसा उपाय करने का प्रयत्न करने से नया संविधान बनाने में अनावश्यक विलम्ब होगा।" अतः शिष्टमण्डल ने सुझाव दिया कि एकमात्र क्रियात्मक उपाय "हाल में निर्वाचित प्रान्तीय विधान सभाओं का निर्वाचक निकायों के रूप में उपयोग करना" होगा। मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना यह थी कि (i) प्रत्येक प्रान्त के लिए उसकी जनसंख्या के अनुपात से, वयस्क मताधिकार द्वारा प्रतिनिधित्व के निकटतम विकल्प के रूप में प्रत्येक लगभग दस लाख व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि के अनुपात से स्थानों की कुल संख्या नियत करना; (ii) स्थानों के इस प्रान्तीय आवंटन को प्रत्येक प्रान्त के विविध समुदायों में उनकी जनसंख्या के आधार पर विभाजित करना; और यह प्रावधान करना कि किसी प्रान्त में प्रत्येक सम्प्रदाय की जो प्रतिनिधि संख्या निर्धारित की जायेगी, उस प्रान्त की विधान सभा के उसी सम्प्रदाय के सदस्य तदनुसार अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगे। यह भी सुझाव दिया गया कि इस दृष्टिकोण से केवल तीन प्रमुख सम्प्रदायों, सामान्य, मुस्लिम एवं सिखों को ही मान्यता देना पर्याप्त होगा। सामान्य में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित थे, जो मुस्लमान या सिख नहीं थे।

यह भी सुझाया गया कि प्रत्येक प्रान्तीय विधान सभा निम्नलिखित संख्या में प्रतिनिधि चुने और विधान सभा का प्रत्येक भाग (सामान्य, मुस्लिम, सिख) एकल हस्तान्तरणीय मत (single transferable vote) सहित आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अपना प्रतिनिधि चुने।

अनुभाग क

प्रान्त	सामान्य	मुस्लिम	जोड़
मद्रास	45	4	49
बम्बई	19	2	21
संयुक्त प्रान्त	47	8	55
बिहार	31	5	36
मध्य प्रान्त	16	1	17
उड़ीसा	9	0	9
जोड़	167	20	187

अनुभाग ख

प्रान्त	सामान्य	मुस्लिम	सिख	जोड़
पंजाब	8	16	4	28
सीमान्त प्रान्त	0	3	0	3
सिन्ध	1	3	0	4
जोड़	9	22	4	35

अनुभाग ग

प्रान्त	सामान्य	मुस्लिम	जोड़
बंगाल	27	33	60
असम	7	3	10
जोड़	34	36	70

ब्रिटिश भारत के लिए कुल स्थान 187+35+70=292

मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल ने यह प्रस्तावित किया कि मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों को प्रतिनिधित्व देने के लिए, अनुभाग 'क' में केन्द्रीय विधान सभा के दिल्ली व अजमेर-मारवाड़ के प्रतिनिधि सदस्यों की संख्या जोड़ दी जायेगी और एक प्रतिनिधि कूर्ग विधान परिषद द्वारा चुना जायेगा। अनुभाग 'ख' में बलूचिस्तान का प्रतिनिधि जोड़ दिया जायेगा।

यह भी मंशा प्रकट की गई कि विधानसभा की निर्णीत रचना में देसी रियासतों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाये, जो ब्रिटिश भारत के लिए जनसंख्या की गणना के आधार पर 93 से अधिक नहीं हो सकता था किन्तु उनके चयन की विधि संविधान ही निश्चित करेगा। आरम्भिक अवस्था में देसी रियासतों का प्रतिनिधित्व एक वार्ता समिति के जिम्मे किया गया।

प्रतिनिधियों के चयन के तुरन्त बाद यह सुझाव दिया गया कि सामान्य कार्य-क्रम निर्धारित करने, अध्यक्ष एवं अन्य अधिकारियों के चुनाव करने तथा नागरिकों, अल्पसंख्यकों, जनजातीय और अपवर्जित-क्षेत्रों (excluded areas) के लिए एक सलाहकार समिति बनाने के लिए वे नई दिल्ली में एकत्र हों।[2] उसके बाद प्रान्तीय प्रतिनिधियों ने तीन अनुभागों में विभाजित हो जाना था जैसाकि उपर्युक्त प्रतिनिधित्व सारणी (table of representation) में 'क', 'ख', 'ग' के अन्तर्गत दिखाया गया है। ये अनुभाग अपने-अपने (सारणी में आवंटित) प्रान्तों में प्रान्तीय संविधान निर्धारित करने का कार्य शुरू कर देंगे और यह भी निश्चित करेंगे कि उन प्रान्तों के लिए कोई गुट संविधान स्थापित करने की आवश्यकता है अथवा नहीं, और यदि है तो प्रत्येक गुट में कौन-कौन से प्रान्तीय विषय सम्मिलित किये जाएँ।

उपर्युक्त अनुभागों और देसी रियासतों के प्रतिनिधियों ने संघीय संविधान निश्चित करने के लिए पुन: एकत्र होना था। यह भी प्रस्तावित किया गया कि ज्यों ही नई संवैधानिक व्यवस्था लागू हो, कोई भी प्रान्त यह निश्चय कर सकता था कि वह अपने गुट से निकल जाए। ऐसा निर्णय नये संविधान के अन्तर्गत प्रथम आम चुनाव के बाद

[2]ऐसा प्रावधान था कि इस समिति में प्रभावित हितों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। उसका कार्यभाग संघीय संविधान सभा को मौलिक अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा सम्बन्धी उपबन्धों और जनजातीय व अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन के लिए प्रतिवेदन देना तथा यह परामर्श देना होगा कि उपयुक्त अधिकार प्रान्तीय अथवा संघीय संविधानों में सम्मिलित किए जाएं।

राज्य का विधानमण्डल कर सकता था ।[3]

वाइसराय द्वारा "अन्तरिम" सरकार में सम्मिलित होने का निमंत्रण (Viceroy's Invitation to join "Interim" Government)

अभी मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के सदस्यों की भारत के राजनीतिक नेताओं से वार्ता चल रही थी कि 9 मई को यह घोषित किया गया कि कमाण्डर-इन-चीफ सहित वाइसराय की कार्यकारी परिषद ने त्यागपत्र दे दिया है ताकि "वाइसराय तथा मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल जो व्यवस्था कर रहे थे, उसमें सुविधा रहे।" किन्तु ब्रिटिश लोक सभा (House of Commons) में प्रधानमंत्री एटली ने कहा कि जब तक नई व्यवस्था नहीं हो जाती, कार्यकारी परिषद व कमाण्डर-इन-चीफ अपने-अपने पद पर कार्य करते रहेंगे।

एटली ने यथाशीघ्र एक प्रतिनिधि भारत सरकार स्थापित कराने की आवश्यकता पर बल दिया। वाइसराय और मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल ने 16 जून को एक वक्तव्य दिया जिसमें दो बड़े दलों एवं कुछ अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों सहित कुल 14 भारतीय नेताओं को अन्तरिम काल के लिए प्रतिनिधि सरकार के सदस्यों के रूप में कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया। इनमें 5 कांग्रेसी, 5 मुसलमान, 1 सिख, 1 भारतीय ईसाई, 1 पारसी तथा 1 अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधी होना था।[4]

मुस्लिम लीग का पाकिस्तान की माँग को दोहराना (Muslim League Reiterates Pakistan Demand)

मुस्लिम लीग की परिषद ने मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्तावों पर 5-6 जून को दिल्ली में विचार-विमर्श किया और प्रस्तावित संविधान-कारी निकाय की सदस्यता के प्रति सहमति घोषित कर दी। 25 जून को मुस्लिम लीग ने वेवल को सूचित किया कि वह प्रस्तावित "अन्तरिम" सरकार की सदस्य बनने को तैयार है। साथ ही, उसने अपने पाकिस्तान स्थापित करने के अन्तिम उद्देश्य की पुनरोक्ति भी की और कहा कि "वह भारत के मुसलमानों के दृढ़ उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी सम्भव उपाय करेगी तथा किसी भी बलिदान को अत्यधिक महान नहीं समझती।"[5]

[3]विस्तृत अध्ययन के लिए वी० पी० मेनन की पुस्तक *The Transfer of Power in India* (Orient Longman, New Delhi, 1957), Appendix IV, देखो, पृष्ठ 475-84।

[4]विस्तृत अध्ययन के लिए देखो, मोती राम, n. 1, पृष्ठ 126-28।

[5]लीग की कार्यकारी परिषद के 6 जून, 1946 के प्रस्ताव के अध्ययन के लिए देखो, क्रिस्टाइन ई० डाविन की पुस्तक *Basic Documents in the Development of Modern India and Pakistan* (Van Nostrand Reinhold Company, London, 970), पृष्ठ135।

कांग्रेस द्वारा मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना की स्वीकृति (Congress Accepts Cabinet Mission's Plan)

जिस दिन मुस्लिम लीग ने "अन्तरिम" सरकार में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की, कांग्रेस ने उससे इन्कार कर दिया। उसने कहा कि वह "अपना राष्ट्रीयता का स्वभाव नहीं त्याग सकती..." और न ही कोई अस्थायी या अन्य प्रकार की सरकार बनाने में मुस्लिम लीग के साथ किसी "बनावटी एवं अनुचित समानता को स्वीकार कर सकती।" साथ ही कांग्रेस ने इस बात पर भी बल दिया कि जनता के दुख दूर करने के लिए यथाशीघ्र एक प्रतिनिधि व जिम्मेदार अस्थायी राष्ट्रीय सरकार स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना के प्रति व्यक्त की गई अपनी स्वीकृति को दीर्घावधि संविधानिक प्रस्ताव बताते हुए यह भी स्पष्ट किया कि वह संविधान सभा में "केवल एक स्वतन्त्र, संगठित एवं प्रजातन्त्रीय भारत का संविधान बनाने के दृष्टिकोण से ही शामिल होगी।"[6]

अनुसूचित जातियों व सिखों द्वारा मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्ताव अस्वीकार (Scheduled Castes and Sikhs Reject Cabinet Mission's Proposals)

दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक मण्डलों, सिखों व अनुसूचित जातियों ने मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के सुझावों पर विचार किया और उन्हें अस्वीकार कर दिया। अकाली सिखों ने इस आधार पर आलोचना की कि सिखों को उत्तर-पश्चिमी मुस्लिम ब्लाक (ग्रुप "ख") में शामिल करने से "सिख मुस्लिम बहुसंख्या की दया पर रह जायेंगे और उससे सिख धर्म व संस्कृति खतरे में पड़ जायेगी।" ऑल इण्डिया शिड्यूल्ड कास्ट फैडरेशन ने इन प्रस्तावों को "पूर्णत: भ्रमात्मक एवं गम्भीरतापूर्वक विचार के सर्वथा अयोग्य" बताया। विधानमण्डलों में अनुसूचित जातियों के लिए एक भी स्थान आरक्षित नहीं किया गया था और "अन्तरिम" सरकार में उन्हें केवल एक स्थान देने का प्रस्ताव था, अत: इसे उन्होंने अपनी उपेक्षा समझा।

वेवल द्वारा "कार्यवाहक" सरकारें स्थापित—संविधान सभा के निर्वाचन का कार्यक्रम घोषित (Wavell Forms "Caretaker" Governments—Announces Schedule for Constituent Assembly Election)

मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल और लॉर्ड वेवल ने जब यह देखा कि अनेक भारतीय नेता "अन्तरिम सरकार" में सम्मिलित होने को तैयार नहीं हैं तो उन्होंने इस प्रश्न पर आगे बातचीत करना स्थगित कर दिया। 29 जून को वाइसराय ने अन्तरिम अवधि में काम चलाने के लिए अधिकारियों की एक कार्यवाहक सरकार की रचना की घोषणा

[6]वही, पृष्ठ 150।

की । फील्ड मार्शल सर क्लौड आकिलेक (भारत के कमाण्डर-इन-चीफ) के अतिरिक्त "कार्यवाहक" सरकार के सभी सदस्य उच्च सरकारी अधिकारी थे और इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य थे ।

"कार्यवाहक" सरकार की नियुक्ति के अगले दिन नई दिल्ली में यह घोषणा की गई कि संविधान सभा के चुनाव के लिए नामांकन तिथियाँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 8 से 12 जुलाई तक होंगी । चुनाव 15 जुलाई के बाद जल्दी-से-जल्दी कराये जायेंगे तथा यह आशा की जाती है कि वह जुलाई के अन्त तक समाप्त हो जायेंगे । संविधान सभा की प्रथम बैठक की तिथि 10 अगस्त, 1946 के लगभग नियत की गई । वेवल ने संविधान सभा के आयोजन सम्बन्धी कार्य का प्रमुख संविधानिक सलाहकार नियुक्त किया ।

नेहरू द्वारा मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्तावों के प्रति रवैये में परिवर्तन (Nehru Changes Stand on Cabinet Mission's Proposals)

उपर्युक्त घटनाओं पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक 6 से 7 जुलाई तक बम्बई में हुई । इसमें कांग्रेस कार्यसमिति के निर्णयों—"अन्तरिम" सरकार में शामिल होने से इनकार और मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्तावों की स्वीकृति की पुष्टि कर दी गई । अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने मौलाना अबुल कलाम आजाद के बाद जवाहरलाल नेहरू को अपना अध्यक्ष चुना । 10 जुलाई को उन्होंने बम्बई में एक संवाददाता सम्मेलन में वक्तव्य दिया कि कांग्रेस ने "मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के किसी भी दीर्घावधि अथवा अल्पावधि कार्यक्रम के प्रति कोई वचन नहीं दिया है", कि वह "यह निश्चित करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र है" कि "उसने संविधान सभा में क्या करना है" तथा "वह किसी भी मामले पर किसी के प्रति वचनबद्ध नहीं है ।" प्रान्तीय ग्रुपबन्दी के सन्दर्भ में उसने कहा कि "बहुत संभव" है कि "ऐसी कोई ग्रुपबन्दी नहीं होगी ।" मंत्रिमण्डल बनाने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि कांग्रेस कोई भी बाह्य हस्तक्षेप सहन नहीं करती और "ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप तो बिल्कुल भी स्वीकार नहीं किया जाएगा ।" उन्होंने यह भी कहा कि मुस्लिम लीग के अतिरिक्त किसी ने भी प्रान्तों की ग्रुपबन्दी स्वीकार नहीं की और इस प्रश्न पर लीग बिल्कुल अकेली पड़ गई है ।[7]

मुस्लिम लीग द्वारा "सीधी कार्रवाई" दिवस (Muslim League Celebrates "Direct Action" Day)

नेहरू के वक्तव्य से मुस्लिम लीगी हलकों में गम्भीर चिन्ता उत्पन्न हुई । इसकी कार्य

[7]उनके वक्तव्य के उद्धरण के लिए ए० सी० बेनर्जी की पुस्तक देखिए, *The Making of the Indian Constitution–1939-1947* (ए० मुखर्जी एण्ड को०, कलकत्ता, 1948), प्रथम खण्ड, पृष्ठ 241-42 ।

समिति की एक बैठक 29 जुलाई को बम्बई में हुई जिसमें निम्नलिखित दो प्रस्ताव पारित किये गये : (क) मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्तावों की स्वीकृति वापस लेना और, (ख) एक "सीधी कार्रवाई" की नीति निर्धारित करना और सभी मुसलमानों से उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त उपाधियाँ वापिस करने की माँग करना। तदनुसार "16 अगस्त" को "सीधी कार्रवाई" दिवस मनाया गया और कलकत्ता नगर में अभूतपूर्व हिंसक विद्रोह, हिन्दुओं का कत्लेआम और उनकी सम्पत्ति का विनाश किया गया। यह विभीषिका तीन दिन तक चली। मुस्लिम लीग ने फिर से सरकार और कांग्रेस के विरुद्ध लड़ाई का मार्ग अपना लिया।

वेवल द्वारा "अन्तरिम" सरकार की रचना (Wavell Forms "Interim" Government)

वाइसराय ने 29 जून को "कार्यवाहक" (caretaker) सरकार बनाई थी। अब उसके स्थान पर वह राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों की सरकार स्थापित करने के लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होंने नेहरू से अनेक वार्ताएँ कीं। इसके फलस्वरूप नेहरू ने वक्तव्य दिया कि कांग्रेस 6-5-3 के फार्मूले पर सरकार बनाने को तैयार है, अर्थात् छः कांग्रेसी, पाँच मुस्लिम लीगी और तीन अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों की सरकार। वाइसराय ने जिन्ना से अपने दल के प्रतिनिधियों के नाम देने को कहा, पर जिन्ना ने 25 अगस्त को "साफ मना" कर दिया। उसी दिन वेवल ने "कार्यवाहक" सरकार का त्यागपत्र स्वीकार करने की घोषणा की। 2 सितम्बर को "अन्तरिम" सरकार बना दी गई।[8] जिन्ना ने वेवल की कार्रवाई को "अविवेकपूर्ण और अराजनीतिज्ञोचित" और "खतरों और गम्भीर परिणामों से परिपूर्ण" बताया।

वाइसराय ने "अन्तरिम" सरकार में मुस्लिम लीग को शामिल करने का एक और प्रयत्न किया और जिन्ना से अनेक वार्ताओं के परिणामस्वरूप वे सितम्बर में सहमत हो गए। अक्तूबर 1946 के आरम्भ में जिन्ना और नेहरू में वार्ताएँ हुईं जिनकी मध्यस्थता भोपाल के नवाब ने की, जो उस समय चैम्बर ऑफ प्रिन्सेज़ (Chamber of Princes) के चान्सलर थे। लीग ने "अन्तरिम" सरकार में अपने प्रतिनिधियों के नाम देने के प्रति सहमति की घोषणा कर दी और 25 अक्तूबर को पुनः "अंतरिम" सरकार बनाई गई।

"अन्तरिम" सरकार में कांग्रेस-लीग झड़पें (Congress-League Conflicts within "Interim" Government)

ऐसा प्रतीत होता था कि लीग का देश के प्रशासन में कांग्रेस से सहयोग करने का कोई इरादा नहीं था। वह सरकार में केवल उसे भीतर रहकर नष्ट करने और लंदन

[8]सभी सदस्यों की नामावली के लिए देखो, मोतीराम, n. 1, पृ० 216।

स्थित अधिकारियों को यह विश्वास दिलवाने के लिए शामिल हुई थी कि पाकिस्तान बनाए बिना भारत के गतिरोध की समस्या का समाधान सम्भव नहीं होगा। सरकार में शामिल होने के तीन ही दिन बाद लीगी मंत्री लियाकत अली खाँ ने, जो वित्त विभाग संभाले हुए थे, एक प्रेस विज्ञप्ति में घोषित किया कि यद्यपि सरकार में लीगी सदस्य मंत्रिमण्डल में अपने साथियों के साथ मिलकर चलना चाहते हैं, वे "सामूहिक उत्तरदायित्व" के सिद्धान्त के प्रति वचनबद्ध नहीं हैं। उनका कहना था कि "वर्तमान संविधान में ऐसा कोई सिद्धांत विद्यमान नहीं है।" कांग्रेसी मन्त्रियों के विभागों से आय-व्यय के जो प्रस्ताव आते थे, वित्त विभाग में उनकी कठोर जाँच की जाती थी और उनमें काट-छाँट करना अथवा रद्द कर देना बहुत सामान्य हो गया था। इससे कांग्रेसी मन्त्रियों के काम में बहुत बाधा पड़ती थी और फलस्वरूप वैमनस्य उत्पन्न होता था।

संविधान सभा के चुनाव (Constituent Assembly Elections)

इसी अवधि में संविधान सभा के चुनाव नियत कार्यक्रम के अनुसार आरम्भ हुए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 26 मई को मंत्रिमण्डलीय योजना के अनुसार चुनाव अप्रत्यक्ष होने थे, अर्थात् जनवरी-अप्रैल 1946 में निर्वाचित विधान सभाओं ने निर्वाचन निकायों (electing bodies) का कार्य किया। प्रान्तों और उनमें रहने वाले सम्प्रदायों को स्थान आवंटित करने और प्रतिनिधित्व देने के भी वही सिद्धांत एवं तरीके थे, जो उस योजना में निर्धारित किये गए थे। अन्तिम परिणाम 25 जुलाई को घोषित किये गए। कुल 296 स्थानों के लिए निर्वाचन करवाये गए थे जिनमें 210 'सामान्य' स्थान, 78 मुसलमानों के स्थान, 4 स्थान पंजाब के सिखों के और 3 स्थान चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों (दिल्ली, कूर्ग और अजमेर-मारवाड़) के, और 1 स्थान बलूचिस्तान का था। निर्वाचन के बाद ब्रिटिश भारत में स्थानों की स्थिति इस प्रकार रही :

कांग्रेस	202
मुस्लिम लीग	73
निर्दलीय	7
एकतावादी मुसलमान	3
भारतीय ईसाई	2
कृषक प्रजा मुस्लिम	1
अनुसूचित जाति फेडरेशन	1
हिन्दू महासभा	1
एंग्लो-इंडियन	1
साम्यवादी	1
जोड़	292

सिखों के चार स्थान नहीं भरे गए क्योंकि सिख पंथिक बोर्ड (Sikh Panthik Board) ने 15 जुलाई को चुनावों का वहिष्कार करने का निश्चय किया था। उनका यह कहना था कि मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के प्रस्तावों द्वारा सिख-बाहुल्य क्षेत्रों को "अनुभाग (ख)" प्रान्तीय ग्रुप में रख दिया गया था, जिसमें मुख्यतः मुस्लिम-बाहुल्य के प्रान्त थे। कालान्तर में सिखों ने अपना निर्णय वदल दिया और संविधान सभा तथा "अन्तरिम" सरकार दोनों में सम्मिलित हो गए।

मुस्लिम लीग द्वारा संविधान सभा का वहिष्कार (Muslim League Boycotts Constituent Assembly)

ऐसा प्रतीत होता था कि यद्यपि मुस्लिम लीग "अन्तरिम" सरकार में शामिल होने के लिए सहमत हो गई थी पर उसने मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल के सुझावों को पुनः स्वीकार नहीं किया था। सरकार में सम्मिलित होने से पहले जिन्ना ने वाइसराय को लिखा कि दीर्घावधि योजना के निपटारे का प्रश्न श्रेष्ठ एवं सहायक वातावरण बनने तथा "अन्तरिम" सरकार के पुनः बन कर अन्तिम रूप में स्थापित हो जाने तक के लिए उठा रखा जाये। इसका वेवल ने यह उत्तर दिया कि "अन्तरिम" सरकार में शामिल होने का आधार ही मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना की स्वीकृति था, अतः लीग परिषद को उस योजना की स्वीकृति वापस लेने के अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए यथाशीघ्र अपनी बैठक करनी चाहिए। किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ और 14 नवम्बर को जिन्ना ने घोषित किया कि उपर्युक्त योजना का समर्थन वापस लेने का लीग का निर्णय अटूट है और वह संविधान सभा का बहिष्कार करेगी। उन्होंने घोषित किया कि **पाकिस्तान** और **हिन्दुस्तान** के बनाये जाने से ही वर्तमान साम्प्रदायिक समस्या का समाधान होगा। तीन दिन वाद उन्होंने वाइसराय से संविधान सभा को **अनिश्चित काल के लिए स्थगित** करने का अनुरोध किया और कहा कि उसका आयोजन "अत्यन्त गम्भीर एवं भयानक प्रकार की" भूल थी। उन्होंने कहा कि वाइसराय "वर्तमान गम्भीर स्थिति को तथा अपने सामने की वास्तविकताओं को देख नहीं पा रहे है" और वे "कांग्रेस के हाथों में खेल रहे है" किन्तु वाइसराय अडिग रहे और उन्होंने 20 नवम्वर को नई दिल्ली में घोषित किया कि संविधान सभा प्रथम वार 9 दिसम्बर, 1946 को अपने प्रारम्भिक अधिवेशन में एकत्र होगी।

कांग्रेस कार्य समिति की एक बैठक 22 से 24 नवम्वर तक मेरठ में हुई जिसमें "अन्तरिम" सरकार तथा संविधान सभा में भाग लेने के निर्णय की पुनः पुष्टि की गई। इसमें साम्प्रदायिक एकता की मार्मिक अपील की गई। किन्तु मुस्लिम लीग को जवाव के रूप में जिन्ना का यह सुझाव प्राप्त हुआ कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों को वर्तमान साम्प्रदायिक तनाव के समाधान के लिए जनसंख्या के तबादले पर विचार करना चाहिए, और वही इसका सर्वोत्कृष्ट साधन हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि मुस्लिम लीग कांग्रेस के "पाकिस्तान को टारपीडो" करने के सभी प्रयत्नों का प्रति-

रोध करेगी और वह "कांग्रेस की आधीनता या उसकी गुलामी की स्थिति कभी स्वीकार नहीं करेगी।" पाकिस्तान की माँग के आन्दोलन को और अधिक तीव्र कर दिया गया।

लीग को संविधान सभा में शामिल करने के एटली के प्रयत्न (Attlee's Efforts to obtain League's Participation in Constituent Assembly)

"अन्तरिम" सरकार के कार्यान्वियन, मन्त्रिमंडलीय शिष्टमंडल के सुझावों के प्रति लीग के रवैये, लीग द्वारा संविधान सभा का वहिष्कार करने के निर्णय और पाकिस्तान के लिए नये संघर्ष से लंदन में यह धारणा व्याप्त हो गई कि "अन्तरिम" सरकार जिस उद्देश्य से बनाई गई थी, उसे पूरा न कर सकेगी और लीग के शामिल हुए बिना संविधान सभा, उसके विचार-विमर्श एवं निर्णय बेकार होंगे क्योंकि "देश के किन्हीं असहमत भागों पर" कोई संविधान थोपा नहीं जा सकता। प्रधानमन्त्री एटली ने कांग्रेस व मुस्लिम लीग के बीच की खाई को पाटने का एक और प्रयत्न किया और उन्होंने वाइसराय, नेहरू, जिन्ना, लियाकत अली, और बलदेवसिंह (सिख प्रतिनिधि) को विचार-विमर्श के लिए लंदन बुलाया। इन नेताओं की एटली तथा मन्त्रिमण्डलीय आयोग के सदस्यों से 3 से 6 दिसम्बर तक वार्ता हुई किन्तु कांग्रेस-लीग मतभेदों का कोई समाधान नहीं हो सका। मुख्य कठिनाई नए संविधान द्वारा प्रान्तों की ग्रुपबन्दी, मुख्यत: 'ख' व 'ग' अनुभागों के प्रान्तों के कारण, द्वारा उत्पन्न हुई। इनमें उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व के क्षेत्र थे जिन्हें मुस्लिम लीग पाकिस्तान में परिवर्तित करना चाहती थी। इन क्षेत्रों में प्रान्तों की "ग्रुपबन्दी" में लीग को पाकिस्तान का एक विकल्प दिखाई देने लगा। उसका विचार था कि भारत की एकता बनी रहने पर ही सामान्य उद्देश्य के लिए इन प्रान्तों का एक संगठन बनाया जा सकेगा। लीग ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि प्रत्येक अनुभाग में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि एक-साथ बहुमत द्वारा निर्णय करें कि "ग्रुप संविधान" होना चाहिए अथवा नहीं। किन्तु कांग्रेस का यह मत था कि प्रत्येक प्रान्त के प्रतिनिधि बहुमत द्वारा यह निर्णय करें कि उनका प्रान्त किसी ग्रुप में सम्मिलित हो। दोनों पक्षों में यह मतभेद बहुत महत्वपूर्ण था। यद्यपि अनुभाग 'ख' व 'ग' में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों का बहुमत था, प्रत्येक प्रान्त में उसका ऐसा बहुमत नहीं था। अनुभाग 'ख' में पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त एवं सिन्ध थे और बलूचिस्तान को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। संविधान सभा में इसके 35 सदस्य थे जिनमें 22 मुसलमान थे, 9 'सामान्य' थे और 4 सिख थे। अनुभाग 'ग' के, जिसमें बंगाल और असम थे, कुल 70 सदस्य थे और उनमें से 36 मुसलमान थे तथा 34 'सामान्य' सदस्य थे। असम के 10 सदस्य थे जिनमें केवल 3 मुसलमान थे।

वार्ता निष्फल रह कर समाप्त हो गई और नेहरू व बलदेवसिंह 8 दिसम्बर को दिल्ली लौट आए।

संविधान सभा आरम्भ—मुस्लिम लीग द्वारा वहिष्कार (Constituent Assembly Opens—Muslim League Boycotts)

9 दिसम्बर को नई दिल्ली में भारत की संविधान सभा आरम्भ हुई।[9] जैसाकि पहले घोषित किया जा चुका था, इसमें मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि शामिल नहीं हुए। अकाली सिखों का प्रतिनिधित्व सरदार हरनाम सिंह, सरदार उज्ज्वलसिंह और सरदार करतार सिंह कर रहे थे। कांग्रेस के नामांकित सदस्य सरदार प्रतापसिंह ने सिखों के लिए आरक्षित चौथे स्थान की पूर्ति की। सबसे वयोवृद्ध सदस्य को अध्यक्ष बनाने की फ्रांसिसी परम्परा (the *President d'age*) के अनुसार सभा ने सर सच्चिदानन्द सिन्हा (75 वर्षीय) को अध्यक्ष चुना। बाद में डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, जो "अन्तरिम" सरकार में खाद्य एवं कृषिमंत्री थे, को स्थायी अध्यक्ष चुना गया।

पंजाब और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त में साम्प्रदायिक दंगे (Communal Rioting in Punjab and NWFP)

संविधान सभा आरम्भ होने से भी नेताओं को बहुत चिंता हुई। उन्हें ऐसा लगने लगा कि शायद ब्रिटिश सरकार लीग द्वारा प्रस्तुत की गई पाकिस्तान की माँग की उपेक्षा करके भारत का शासन कांग्रेस के हाथों में सौंप देना चाहती है। ऐसे विचारों से परेशान होकर जिन्ना और उनके साथी नेताओं ने कांग्रेस और हिन्दुओं के विरुद्ध अपना घृणा और दुर्भावना का प्रचार तेज कर दिया। बंगाल में वे "सीधी कार्रवाई" दिवस के रूप में पहले ही ऐसी कर चुके थे। अब पंजाब की बारी थी। लीगी नेता स्थान-स्थान पर हिंसा, दुर्भावना और साम्प्रदायिकता भड़काते फिरे, और **रजाकार-ए-इस्लाम** के **नेशनल गार्ड** नामक लीगी स्वयंसेवकों ने सार्वजनिक परेडें, प्रदर्शन और सभाएँ आयोजित कीं।

पंजाब सरकार (गैर-लीगी मुसलमानों, सिखों और कांग्रेसियों की मिली-जुली सरकार) को शान्ति एवं नियम-व्यवस्था के प्रति आशंका उत्पन्न हुई, अतः उसने **रजाकार-ए-इस्लाम** तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (**रजाकार-ए-इस्लाम** की ही तरह का एक सैनिक हिन्दू संगठन) को अवैध घोषित कर दिया तथा उनके लाहौर स्थित कार्यालयों पर छापे मारे। अनेक प्रख्यात लीगी नेताओं—सर फीरोज खाँ नून, नवाब ममदोत, बेगम शाह नवाज, और सरदार शौकत हयात खाँ—को इस आधार पर गिरफ्तार कर लिया गया कि उन संगठनों और व्यक्तियों की गतिविधियों से "शान्ति को खतरा था।" इस कार्रवाई से लीगी नेताओं का क्रोध भड़क उठा और सारे पंजाब व

[9] भारत के 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र होने पर इस विधायक सत्ता प्राप्त हो गई। 26 जनवरी, 1950 को नया संविधान आरम्भ होने पर इसने प्रथम भारतीय संसद के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। यह 5 मार्च, 1952 को भंग किये जाने और नयी संसद के स्थान ग्रहण करने से पहले अनिश्चित काल के लिए उठ गई।

देश के अन्य भागों में दूर-दूर तक विरोध-प्रदर्शन हुए। लाहौर, अमृतसर और जालंधर में गंभीर विद्रोह हुए और एक हजार से भी अधिक मुसलमान गिरफ्तार किए गए। मुस्लिम लीग ने पंजाब सरकार के विरूद्ध एक "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" छेड़ दिया जिसके परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक विद्रोह हुए तथा जान-माल की बहुत क्षति हुई। गवर्नर ने पंजाब विधान सभा को स्थगित कर के भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 93 के अधीन प्रान्त का शासन अपने हाथों ले लिया। हिंसा, प्रदर्शन, सम्पत्ति का विनाश, बाजारों का लुटना तथा मानव हत्याएं जारी रहीं तथा अशान्ति बनी रही। लीग की कार्य समिति ने संविधान सभा का बहिष्कार करने के अपने निर्णय की पुनः पुष्टि की, उसके अधिनियमों (Acts) को अवैध बताया तथा उसे भंग करने की माँग की। 16 फरवरी, 1947 को "अन्तरिम" सरकार के वित्त मन्त्री लियाकत अली खां ने, जो लीग के महासचिव भी थे, अलीगढ़ में कहा कि "अंग्रेज जो सत्ता छोड़ कर जा रहे हैं, देश की बहुसंख्यक पार्टी उस पर अपना एकाधिकार स्थापित करने का भरसक प्रयत्न कर रही है" और लीग "केवल शासक बदलना कभी सहन नहीं करेगी।"

एटली द्वारा भारतीय हाथों में सत्ता सौंपने का निर्णय (Attlee Decides to Transfer Power into Indian Hands)

भारत की राजनीतिक स्थिति से लंदन के अधिकारियों को यह विश्वास हो गया कि कांग्रेस-लीग मतभेद कभी दूर नहीं हो सकते। उन्होंने मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना को रद्द कर दिया तथा एटली ने ब्रिटिश लोक सभा में घोषित किया कि सम्राट की सरकार अधिक से अधिक जून 1948 तक सत्ता "जिम्मेदार भारतीय हाथों" में सौंप देना चाहती है। यदि उस समय तक "एक पूर्णतः प्रतिनिधि भारतीय संविधान सभा" द्वारा भारतीय संविधान तैयार नहीं हो पाया तो सम्राट की सरकार केन्द्रीय सत्ता या तो "ब्रिटिश भारत के लिए किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार" को, अथवा कुछ क्षेत्रों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को, या जिस प्रकार भी भारतीय हित में उसे उचित प्रतीत होगा, हस्तांतरित करने की सम्भावना पर विचार करेगी।[10]

इस वक्तव्य का कांग्रेसी हलकों में स्वागत किया गया। 22 फरवरी को नेहरु ने एटली के निर्णय को "बुद्धिमत्तापूर्ण एवं साहसपूर्ण" बताया और कहा कि इससे "सभी भ्रम व शंकाएँ दूर हो गई हैं।" उन्होंने मुस्लिम लीग से संविधान सभा का बहिष्कार करने की योजना को त्यागने तथा "आन्तरिक मतभेदों" को समाप्त करने की अपील की, "क्योंकि इससे हमारे प्रयत्न अब तक विफल होते रहे हैं और हमारी प्रगति में बाधक बने हुए हैं।" किन्तु मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया यह थी कि वह "अपनी पाकिस्तान की माँग से एक इंच भी पीछे नहीं हटेगी।"

[10] विस्तृत विवरण के लिए देखो, मेनन, n. 3, पृष्ठ 518-21।

पुनः साम्यवादी विद्रोह (More Communal Riots)

मुस्लिम लीग ने अनुभव किया कि वह अपने लक्ष्य के निकट पहुँच रही है, अतः उसने अपना चिरपरिचित हथियार पुनः आजमाया और लाहौर, अमृतसर, मुलतान तथा पंजाब के अन्य नगरों में पहले से भी अधिक भीषण दंगे कराये। विद्रोह की आग देहातों में भी जा पहुँची और हिंसा, हत्या, सम्पत्ति नष्ट करने, लूटने, अपहरण करने, गाँवों को जलाने तथा धर्म संस्थानों पर आक्रमण करने की अनेक घटनाएँ हुई। प्रभावित क्षेत्रों में दौरा करने के लिए सहस्रों ब्रिटिश व भारतीय सैनिक तैनात किये गए। 1 मई को बंगाल के गृह मन्त्रालय के संसदीय सचिव ने वक्तव्य दिया कि अक्तूबर 1946 में नौआखाली एवं टिप्परा जिलों में जो दंगे हुए, उनमें क्रमशः 220 व 65 व्यक्ति मारे गए तथा करोड़ों रुपए की सम्पत्ति नष्ट की गई।

सत्ता हस्तांतरण के नये ब्रिटिश प्रस्ताव (New British Proposals for Transfer of Power)

उपर्युक्त घटनाओं से नए वाइसराय लार्ड माउंटबेटन की अन्तरात्मा को बहुत आघात पहुँचा। ब्रिटिश अधिकारियों से परामर्श करने के बाद उन्होंने 3 जून, 1947 को भारतीय जनता के नाम एक प्रसारण में घोषित किया कि उनके लिए मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना अथवा किसी भी अन्य योजना पर सभी सम्प्रदायों की सहमति प्राप्त करना सम्भव नहीं हुआ है। इससे भारत की एकता नहीं बनी रह सकती, अतः ब्रिटिश सरकार ने यथाशीघ्र ब्रिटिश भारत की एक या दो सरकारों की सत्ता हस्तांतरित करने का निश्चय किया है। उन्होंने यह भी बताया कि ये सरकारें अलग-अलग स्वःशासी स्तर (dominion status) की होंगी और इसके लिए अगले महीने (जुलाई में) ब्रिटिश संसद में आवश्यक विधेयक लाया जायेगा। उन्होंने यह भी घोषित किया कि प्रस्तावित विधान से "भविष्य में भारत द्वारा ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्य देशों के साथ अथवा यदि विभाजन हो तो दोनों नए राज्यों द्वारा पारस्परिक एवं ब्रिटिश कॉमनवेल्थ (British Commonwealth) के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

प्रधानमन्त्री एटली ने 3 जून को सत्ता हस्तांतरण की नई योजना घोषित की। इसके मुख्य तत्त्व इस प्रकार थे :

(1) वर्तमान संविधान सभा—जिसमें मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, महाराष्ट्र, बिहार, मध्य प्रान्त, असम, उड़ीसा, और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के प्रतिनिधि तथा दिल्ली, कूर्ग और अजमेर-मेरवाड़ा के प्रतिनिधि हैं पर बंगाल, पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बलूचिस्तान के मुस्लिम लीगी प्रतिनिधि नहीं है—का कार्य नहीं रुकेगा, पर उसके द्वारा बनाया गया संविधान देश के उन भागों पर लागू नहीं होगा जो उसे स्वीकार नहीं करना चाहते।

(2) जिन क्षेत्रों ने वर्तमान संविधान सभा में भाग न लेने का निश्चय किया

इस प्रश्न पर उनकी इच्छा का पता लगाया जायेगा कि उनका संविधान वर्तमान संविधान सभा द्वारा ही वनाया जाये अथवा केवल उन्हीं क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की एक पृथक संविधान सभा द्वारा वनाया जायेगा।

एटली ने कहा कि उपरोक्त कार्य हो चुकने के वाद यह निश्चित करना सम्भव हो जायेगा कि सत्ता किस प्राधिकारी या प्राधिकारियों को सौंपी जानी चाहिए।

(3) विभाजन के प्रश्न पर तुरन्त निर्णय करने के लिए वंगाल और पंजाव की विधान सभाओं के सदस्य मुस्लिम-वाहुल्य एवं गैर-मुस्लिम-वाहुल्य ज़िलों के अनुसार दो पृथक भागों में वैठेंगे। 1941 की जनगणना के आधार पर दोनों प्रान्तों के मुस्लिम-वाहुल्य ज़िलों के ये नाम थे :

पंजाव—लाहौर मण्डल के पाँच ज़िले (लाहौर, गुजरांवाला, गुरदासपुर, शेखुपुरा, सियालकोट); रावलपिंडी मण्डल के छः जिले (रावलपिंडी, अटक, गुजरात, झेलम, मियाँवाली, शाहपुर); और मुलतान मण्डल के छ: ज़िले (मुलतान, डेरा गाज़ी खाँ, झंग, लायलपुर, मिंटगुमरी, और मुज़फ्फरगढ़)।

वंगाल—चिटगांग मण्डल के तीन ज़िले (चिटगांग, नोआखाली, टिप्पराह); ढाका मण्डल के चार ज़िले (ढाका, वकरगंज, फरीदपुर, मेमनसिंह); प्रेज़िडेन्सी मण्डल के तीन ज़िले (जैसौर, नदिया, मुर्शीदावाद); और राजशाही मण्डल के छ: ज़िले (राजशाही, वोगरा, दिनाजपुर, मालदा, पावना और रंगपुर)।

(4) सिन्ध की विधान सभा (यूरोपीय सदस्यों के अतिरिक्त), अलग वैठक में, यह निर्णय करेगी कि वह वर्तमान संविधान सभा में शामिल हो या न हो।

(5) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में यह जानने के लिए जनमत-संग्रह किया जायेगा कि वह पाकिस्तान में सम्मिलित होगा अथवा भारत में।

(6) व्रिटिश वलूचिस्तान को भी इसी प्रकार का निर्णय करने का अवसर दिया जायेगा।

(7) असम गैर-मुस्लिम-वाहुल्य का प्रान्त था पर उसके सिलहट ज़िले में मुस्लिम-वाहुल्य था। यह माँग की जा रही थी कि यदि वंगाल का विभाजन हो तो सिलहट को, जिसकी सीमा वंगाल के मुस्लिम-वहुसंख्यक भाग से मिली हुई है, बंगाल में मिला दिया जाए। इसके अतिरिक्त, यह निर्णय होने पर कि बंगाल का विभाजन होना है, तव सिलहट ज़िले के लिए जनमत-संग्रह किया जाएगा कि वह असम का ही भाग रहेगा या पूर्वी वंगाल की सहमति होने पर वह पूर्वी वंगाल में शामिल किया जाएगा।

(8) यदि ऐसा निर्णय हो कि बंगाल और पंजाव का विभाजन किया जाना है तो संविधान सभा में उनके प्रतिनिधि चुनने के लिए नये चुनाव कराये जाएंगे। प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त वही रहेगा जो मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना में था अर्थात् प्रत्येक दस लाख की जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि। यदि सिलहट ज़िले का पूर्वी वंगाल में शामिल होने का निर्णय हुआ तो वहाँ भी ऐसा ही चुनाव करवाया जायेगा।

तव प्रत्येक क्षेत्र के प्रतिनिधियों की संख्या इस प्रकार होगी :

प्रान्त	सामान्य	मुस्लिम	सिख	जोड़
सिलहट जिला	1	2	—	3
पश्चिमी बंगाल	15	4	—	19
पूर्वी बंगाल	12	29	—	41
पश्चिमी पंजाब	3	12	2	17
पूर्वी पंजाब	6	4	2	12

(9) यह नयी योजना केवल ब्रिटिश भारत के लिए है, और देसी रियासतों के प्रति वही नीति रहेगी, जो मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना में घोषित की गई थी।

(10) वर्तमान संविधान सभा और यदि बनाई गई, तो नई विधान सभा, अपने-अपने प्रदेशों के लिए संविधान बनायेंगी।[11] कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सिक्खों, और दलित जातीय लीग ने भारत के विभाजन की ब्रिटिश योजना का स्वागत किया। हिन्दू महासभा ने इसका विरोध किया।

पाकिस्तान स्थापित करने का निर्णय (Decision to Create Pakistan)

भारत के विभाजन और पाकिस्तान के लिए अलग संविधान सभा स्थापित करने के उपाय शीघ्रतापूर्वक किये गये। 20 जून को बंगाल विधान सभा के सदस्यों की कलकत्ता में दो अनुभागों में बैठकें हुई। इनमें से एक अनुभाग हिन्दू-बाहुल्य क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा मुस्लिम-बाहुल्य क्षेत्र का। पहले अनुभाग के 21 मतों के विरुद्ध 58 मतों से विभाजन के विरोध में निर्णय दिया, और दूसरे ने 35 के विरुद्ध 106 मतों से विभाजन के पक्ष में निर्णय किया।

23 जून को पंजाब की विधान सभा की दो अनुभागों में बैठकें हुई और विभाजन के पक्ष में निर्णय दिया। पूर्वी पंजाब के प्रतिनिधि अनुभाग (हिन्दू व सिख बहुसंख्यक) ने 50 के प्रति 22 मतों से विभाजन के विरुद्ध मत दिया और पश्चिमी पंजाब के प्रतिनिधि अनुभाग मुस्लिम बहुसंख्यक) ने 69 के प्रति 27 मतों से विभाजन के पक्ष में मत दिया। दोनों अनुभागों के संयुक्त अधिवेशन में 92 सदस्यों (88 मुसलमान, जिसमें दो मुस्लिम लीगी सदस्य और सर खिदर हयात खां के नेतृत्व में मुस्लिम एकतावादी), दो भारतीय ईसाई और एक एंग्लो-इंडियन, ने एक नई विधान सभा में शामिल होने का निर्णय किया, और 77 सदस्यों (हिन्दू, सिख और अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि) ने, यदि उस प्रान्त का विभाजन न हो, तो वर्तमान संविधान सभा में शामिल होने का निर्णय किया।

26 जून को सिन्ध की विधान सभा की एक बैठक करांची में हुई जिसमें 33 के प्रति 20 मतों से पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय लिया गया। कांग्रेसी सदस्यों ने इसके विरुद्ध मत दिया।

[11]मेनन, n. 2, पृ० 522-27।

ब्रिटिश बलूचिस्तान के कबाइली सरदारों ने 29 जून को जिरगा में एक बैठक की और सर्व-सम्मति से पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय किया।

उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में "लाल कुर्ती" (कांग्रेस) नेता, खान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ, ने 25 जून को घोषणा की कि उनका दल आगामी जनमत-संग्रह का बहिष्कार करेगा। उन्होंने मांग की कि सीमा प्रान्त की जनता को एक स्वतन्त्र राज्य बनाने के निमित्त मतदान करने का अवसर दिया जाए। इसका नाम उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में **पठानिस्तान** हो। केवल इस प्रश्न पर मतदान नहीं हो कि वे संविधान सभा में शामिल हों अथवा न हों। किन्तु यह इस कारण सम्भव नहीं था कि 3 जून की योजना स्वीकार करते समय, कांग्रेस व लीग दोनों ने ही, इस बात पर सहमति प्रगट की थी कि सीमा प्रान्त सीधे इस प्रश्न के निर्णय के लिये मतदान करेगा कि वह पाकिस्तान में शामिल होगा अथवा भारत में।[12]

सिलहट ज़िले में जनमत-संग्रह 6 जुलाई को हुआ और 239,619 मतदाताओं ने पाकिस्तान के पूर्वी बंगाल प्रदेश में शामिल होने के पक्ष में मत दिया तथा 184,041 ने भारत के पक्ष में मतदान किया। इस प्रकार, 55,578 ने सिलहट को पाकिस्तान का एक भाग बना दिया।

भारत स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947
(Indian Independence Act, 1947)

3 जून के प्रस्तावों के अनुसार कांग्रेस व मुस्लिम लीग कार्यशील हो गई तथा अधिकाधिक देसी रियासतों को अपनी और मिलाने के प्रयत्न करने लगीं। उसी समय लंदन में ब्रिटिश अधिकारी बड़ी तेज़ी के साथ विभाजन की योजना के क्रियान्वयन में लगे हुए थे। 18 जुलाई को भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक को राजकीय सहमति प्राप्त हो गई। प्रधानमन्त्री एटली ने ब्रिटिश लोकसभा में कहा कि "भारत (इण्डिया)" व "पाकिस्तान" के नाम दोनों उपनिवेशों के नेताओं ने स्वयं चुने हैं, और दोनों ही "इस पदनाम के पूर्ण अर्थों में स्वतन्त्र उपनिवेश होंगे।"

अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे :

(1) भारत पाकिस्तान के स्वतंत्र उपनिवेश 15 अगस्त, 1947 को स्थापित किये जायेंगे।

[12]खान अब्दुल गफ्फार खाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के 22 वर्ष पश्चात 1969 में भारत आये। भारत के राष्ट्रपति वी. वी. गिरी से "अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय के लिए तीसरा जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार" प्राप्त करते हुए उन्होंने 15 नवम्बर को अपने भाषण में कहा कि स्वतन्त्रता की बातें करते समय कांग्रेस में पख्तूनों को "अकेला छोड़ दिया था।" उन्होंने आरोप लगाया कि पख्तूनों की "सलाह" तक नहीं ली गई। उन्होंने यह भी कहा कि पख्तूनों ने जनमत-संग्रह में इसलिए भाग नहीं लिया था कि वे "मुस्लिम लीग से सहयोग नहीं करना चाहते थे," और यह कि "मुस्लिम लीग के साथ उनकी निभ नहीं सकती थी।" *The Hindustan Times*, 16 नवम्बर, 1962, पृ० 12।

(2) जिन प्रदेशों को पाकिस्तान के प्रदेश बनाया जायेगा, उन्हें छोड़कर भारत में, ब्रिटिश भारत में सम्मिलित, सम्राट के आधिपत्य के सभी उपनिवेश शामिल होंगे।

(3) पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बलूचिस्तान शामिल होंगे। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में जनमत-संग्रह के परिणामस्वरूप यदि बहुमत पाकिस्तान विधान सभा में शामिल होने के पक्ष में हुआ तो वह प्रान्त भी पाकिस्तान का भाग हो जाएगा।

(4) शाही उपाधि और पदवी में से भारत के राजाधिराज और "भारत के सम्राट" इत्यादि को हटा दिया जाएगा।

(5) 15 अगस्त 1947 से ब्रिटेन का उन प्रदेशों का शासन चलाने के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा जो अब ब्रिटिश भारत में शामिल है। उसी दिन से देसी रियासतों पर से ब्रिटिश सम्राट का अधिराजत्व समाप्त हो जाएगा।

(6) आरम्भ में प्रत्येक उपनिवेश के संविधान के प्रावधान तैयार करने के लिए विधायक सत्ता उस उपनिवेश की संविधान सभा द्वारा प्रवर्तित की जाएगी।

(7) लार्ड माउंटबेटन को स्वतन्त्रता अधिनियम लागू करने के लिए आवश्यक आदेश देने के अधिकार दिये गए। ऐसे आदेशों में दोनों उपनिवेशों ने वाइसराय पद के अधिकारों और भारतीय सशस्त्र सेनाओं के विभाजन सम्बन्धी प्रावधान भी सम्मिलित थे।

(8) अधिनियम द्वारा भारत की संविधान सभा को मान्यता प्रदान की गई जिसका प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को हुआ था। इसके द्वारा गवर्नर-जनरल के प्राधिकार में पाकिस्तान संविधान सभा स्थापित करने का भी अधिकार प्रदान किया गया।

(9) देसी रियासतों को किसी भी एक उपनिवेश में शामिल होने का निर्णय करने और भारतीय या पाकिस्तानी संविधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई।

(10) भारत के लिए राज्य सचिव और भारत-कार्यालय (India Office) के कार्यभाग समाप्त हो गए। अब से भारत व पाकिस्तान के साथ ब्रिटिश सम्बन्ध कॉमनवैल्थ रिलेशनज़ ऑफिस द्वारा क्रियान्वित किये जाएंगे।[13]

भारत के मुख्य न्यायाधीश सर पैट्रिक स्पैन्ज़ को पंच अदालत की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित किया गया जो भारत व पाकिस्तान के मतभेदों वाले मामलों पर विचार करने के लिए स्थापित किया गया था।

दि हिन्दुस्तान टाइम्ज़ ने जिसे कांग्रेस का मुखपत्र माना जाता था, इस अधिनियम को *"ब्रिटिश संसद द्वारा बनाया गया सबसे अच्छा और महानतम अधिनियम"* बताया, और मुस्लिम लीग के मुखपत्र **दि डॉन** ने इसे "सामयिक और अद्भुत" विधान बताया और कहा कि इसके कारण ब्रिटेन "संसार के सभी स्वतन्त्रता-प्रेमी व्यक्तियों की श्रेष्ठतम प्रशंसा का पात्र बन गया है।"

[13]मेनन, The *Transfer of Power in India*, Appendix XI, पृ० 528-46।

भारतीय संविधान सभा द्वारा संविधान की रचना (Indian Constituent Assembly Frames the Constitution)

संविधान सभा के निर्वाचन के लिए प्रत्याशियों का चयन करते समय कांग्रेस ने इस बात का ध्यान रखा था कि संविधान सभा में यथासम्भव अधिकतम प्रतिनिधित्व हो और उसमें देश के सबसे अधिक योग्य व्यक्ति सम्मिलित किये जाएँ। मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना में संविधान सभा में केवल मुसलमानों व सिक्खों के लिए स्थानों की गारन्टी की गई थी पर कांग्रेस ने ऐसी व्यवस्था की कि एंग्लो-इण्डियन, भारतीय ईसाई, तथा अनुसूचित जातियों व जन जातियों इत्यादि अन्य अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया। स्त्रियों के लिए भी स्थानों की व्यवस्था की गई। निर्वाचन आरम्भ होने से पहले कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए प्रत्याशियों के चुनाव सम्बन्धी निर्देश भेजे। उदाहरणत: संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेसी कमेटी को निर्देश दिया गया कि नेहरू, आचार्य कृपलानी और गोविन्दवल्लभ पंत के अतिरिक्त, हृदयनाथ कुंजरू और सर तेजबहादुर सप्रू को भी उसकी सूची में स्थान दिया जाए। इसी प्रकार, मद्रास प्रदेश कांग्रेस कमेटी को आदेश दिया गया कि पट्टाभि सीतारमैय्या और राजगोपालाचार्य के अतिरिक्त, ए०के० अय्यर, एन० जी० आयंगार, के० सन्थानम और बी० शिवाराव भी निर्वाचित किये जाएं। अन्य प्रान्तों की कांग्रेस कमेटियों को ऐसे ही आदेश भेजे गए। अधिकतर प्रान्तों की विधान सभाओं में कांग्रेस का बहुमत होने के कारण उसके प्रत्याशी सुगमतापूर्वक चुन लिए गए। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के छ: भूतपूर्व अथवा वर्तमान अध्यक्ष, और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के चौदह अध्यक्ष संविधान सभा के सदस्य बन गए। कांग्रेस के अन्य उल्लेखनीय व्यक्ति नेहरू, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद और आज़ाद थे।

संविधान सभा के सदस्यों में वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के भूतपूर्व सदस्य केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधानमण्डलों के भूतपूर्व सदस्य, प्रख्यात न्यायशास्त्री, वकील, शिक्षाविद् (उपकुलपति, लेखक, पत्रकार इत्यादि), प्रख्यात उद्योगपति एवं व्यापारी, कर्मचारियों के प्रतिनिधि (औद्योगिक और कृषक) तथा चिकित्सक वर्ग के सदस्य शामिल थे। अनेक ख्यातिप्राप्त व्यक्ति—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, अल्लादी कृष्ण स्वामी अय्यर, एच० सी० मुकर्जी, एन० गोपालास्वामी आयंगार, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और टी० टी० कृष्णमाचारी भी संविधान सभा के सदस्य थे। इस प्रकार, संविधान सभा में सभी प्रकार की विचारधाराओं, दृष्टिकोणों, पदवियों और पेशों, और विशेषताओं के व्यक्ति थे[14] तथापि कांग्रेस-जनों की स्थिति सबसे अधिक प्रभुतापूर्ण एवं प्रभावशाली थी।

संविधान सभा का दूसरा आरम्भिक अधिवेशन 20 से 26 जनवरी, 1947

[14]सभी सदस्यों के नामों के लिए मोतीराम की पुस्तक देखो, *Guide to Constituent Assembly*, पृ० 211-16।

तक हुआ। इसमें नेहरू द्वारा प्रस्तुत 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objectives Resolution) पारित किया गया। संविधान सभा का उद्देश्य भारत का एक प्रभुत्वसम्पन्न प्रजातंत्रीय गणतन्त्र स्थापित करना था। नेहरू ने एक और प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें नया संविधान लागू किए जाने के बाद, जितनी जल्दी सम्भव हो, प्रान्तों को "भाषाई, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और आर्थिक आधारों पर समांगीकृत इकाइयाँ" बनाने के लिए, उनके प्रदेशों के नए सिरे से वितरण करने की व्यवस्था थी। इस प्रस्ताव को भी सर्वसम्मति से पारित कर दिया गया। तीसरा आरम्भिक अधिवेशन 28 अप्रैल से 2 मई तक हुआ। इसमें संघीय अधिकार समिति और मौलिक अधिकारों सम्बन्धी सलाहकार समिति के प्रतिवेदनों पर विचार किया गया। अधिकार समिति का विचार था कि मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना के अनुसार भारतीय संघ को मुख्यतः निम्नलिखित अधिकार प्राप्त होंगे—प्रतिरक्षा, विदेशी सम्बन्ध, संचार, वित्तीय अधिकार तथा कुछ अन्य अधिकार। दूसरी समिति ने मौलिक अधिकारों को दो भागों में विभाजित कर दिया—न्याय योग्य और न्याय के अयोग्य। इस समिति ने यह भी कहा कि मौलिक अधिकार, जाति, वंश, धर्म अथवा लिंग-भेद के बिना, सभी के लिए समान हों। अन्य बातों के साथ-साथ संविधान सभा ने एक यह सिफारिश भी स्वीकार की कि "अस्पृश्यता" को समाप्त कर दिया जाना चाहिए और अनुसूचित जातियों को किसी प्रकार से अयोग्य कहने अथवा उनसे भेदभाव बरतने के कृत्य को संविधान में एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया जाना चाहिए। संविधान सभा ने यह भी निर्णय किया कि भारतीय संघ कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा तथा भारतीय संघ का कोई भी नागरिक किसी विदेशी राज्य से किसी प्रकार की कोई उपाधि ग्रहण नहीं करेगा।

2 मई को डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का यह प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद कि भारत का संविधान हिन्दुस्तानी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखा जाए, संविधान सभा अनिश्चित काल के लिए उठ गई।

14 से 31 जुलाई तक संविधान सभा की पुनः बैठक हुई जिसमें मुख्यतः तीन विषयों पर विचार किया गया।

(क) प्रस्तावित संविधान पर संघीय संविधान समिति का प्रतिवेदन;

(ख) प्रान्तीय संविधान समिति का प्रतिवेदन जिसमें प्रान्तों के लिए नमूने का एक संविधान प्रस्तुत किया गया था; और,

(ग) भारत के नए राष्ट्रीय झंडे की स्वीकृति।[15]

14-15 अगस्त की मध्य रात्रि को संविधान सभा का एक विशेष अधिवेशन

[15]बी० शिवाराव की पुस्तक, *The Framing of India's Constitution : Select Documents* (दि इण्डियन इंस्टीट्यूट ग्राफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, (1966), Vol. I. पृ० 494 पर डा० एस० डी० कालेलकर की राष्ट्रीय ध्वज सम्बन्धी टिप्पणी देखो।

सत्ता के हस्तान्तरण तथा भारतीय उपनिवेश के श्रीगणेश के लिए हुआ। इसका चौथा अधिवेशन 20 से 29 अगस्त तक हुआ जिसमें निम्नलिखित प्रतिवेदनों पर विचार किया गया: (1) संघीय अधिकार समिति की महासंघीय एवं प्रान्तीय अधिकारों सम्बन्धी दूसरी रिपोर्ट; (2) अल्पसंख्यकों सम्बन्धी सलाहकार समिति का प्रतिवेदन, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त पहले के साम्प्रदायिक निर्वाचन मण्डल समाप्त करके उनके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन मण्डल बनाने की सिफारिश की गई थी।[16]; और (3) संविधान द्वारा भविष्य में एक संविधान-निर्माता एवं विधि-निर्माता, दोनों प्रकाय के रूप में कार्य करने सम्बन्धी प्रतिवेदन। इस प्रतिवेदन में सिफारिश की गई थी कि संविधान बनाने तथा सामान्य विधि बनाने के दोनों कार्य संविधान सभा द्वारा अलग-अलग दिनों को, अलग-अलग अधिवेशनों में किये जायें। यह सुझाव दिया गया कि जब संविधान सभा भारत के विधान मण्डल के रूप में कार्य कर रही हो, उसकी अध्यक्षता एक निर्वाचित अध्यक्ष (Speaker) द्वारा की जाये, और जो मंत्री संविधान सभा के सदस्य न हों, उन्हें उपस्थित रहने तथा संविधान बनाने के कार्य में भाग लेने का अधिकार हो; यद्यपि सदस्य निर्वाचित हुए बिना उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होना चाहिए। यह भी परामर्श दिया गया कि देसी रियासतों के प्रतिनिधि निरन्तर विधि-निर्माण के कार्य में भाग लेते रहें।[17]

29 अगस्त को संविधान सभा द्वारा एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमें उपर्युक्त विविध समितियों के प्रतिवेदनों पर किये गए निर्णयों के अनुसार संविधान बनाने के लिए एक प्रारूपण समिति (Drafting Committee) स्थापित करने सम्बन्धी प्रावधान था। इस समिति को कुछ मुद्दों पर भारत सरकार अधिनियम, 1935 का अनुकरण करने का आदेश दिया गया। डॉ० भीमराव अम्बेडकर को इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

इस समिति ने 21 फरवरी, 1948 को भारत के संविधान का प्रारूप संविधान सभा को प्रेषित किया और उसके बाद समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर बहस आरम्भ हुई। 29 फरवरी को मुस्लिम लीग के 27 सदस्यों में से 14 ने यह संकल्प प्रस्तुत किया कि "देश की बदली हुई परिस्थितियों के कारण मुस्लिम लीग एक सांप्रदायिक दल के रूप में भारतीय संघ के मुसलमानों की उचित सेवा नहीं कर सकती," अतः संविधान सभा में मुस्लिम लीग दल 1 मार्च, 1948 से भंग हो जायेगा।

14 सितम्बर, 1949 को संविधान सभा ने निर्णय किया कि 10 अक्तूबर से भारतीय वादों व अभियोगों पर से—जिनकी संख्या उस समय 70 दीवानी अपीलें और

[16]अल्पसंख्यकों के लिए संरक्षण व्यवस्था और अन्य सिफारिशों के लिए उसी के Vol. IV म पृ० 589-94 देखो।

[17]संविधान सभा 17 नवम्बर, 1947 को प्रथम बार भारत की संसद के रूप में एकत्र हुई। इस अधिवेशन में सर्वसम्मति से जी. वी. मावलंकर (केन्द्रीय विधानसभा के अध्यक्ष, जो 15 अगस्त, 1947 को समाप्त हो गई थी) को राजेन्द्रप्रसाद से अगला अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

10 फौजदारी अपीलें थीं— प्रिवी काउंसिल का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जायेगा। किन्तु जो अपीलें 12 अक्तूबर से आरम्भ होने वाली बैठकों में सुनवाई के लिए लगाई जा चुकी थीं, उनके सम्बन्ध में प्रिवी काउंसिल का क्षेत्राधिकार पूर्ववत् रहने दिया गया। यह भी निर्णय किया गया कि भारत के एक उच्चतम न्यायालय स्थापित किये जाने से पूर्व अन्तरिम काल में संघीय न्यायालय को, जो 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत स्थापित किया गया था, उच्च न्यायालयों के निर्णयों पर अपीलें स्वीकार करने तथा उनका निपटारा करने का क्षेत्राधिकार दे दिया जायेगा। संविधान सभा ने यह भी निर्णय किया कि भारतीय संघ की सरकारी काम-काज की भाषा, **देवनागरी** लिपि में हिन्दी हो तथा सरकारी काम-काज में भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का उपयोग किया जाये। यह तय पाया कि संविधान आरम्भ होने के बाद 15 वर्ष तक अंग्रेजी भाषा उच्चतम न्यायालय और प्रान्तीय उच्च न्यायालयों में तथा सभी अधिनियमों, विधेयकों, आदेशों, नियमों एवं विनियमों में सरकारी भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रहेगी।

भारत गणतन्त्र घोषित (India is Declared A Republic)

लगभग तीन वर्ष बाद संविधान सभा ने संविधान को 26 नवम्बर को पूरी तरह स्वीकार कर लिया और उसे 26 जनवरी, 1950 से लागू कर दिया गया। कुल मिला कर इसके 11 अधिवेशन हुए जिनमें 1965 दिन लगे। इनमें से 114 दिन संविधान के प्रारूप पर विचार करने में लगाये गए। संविधान के कुछ अनुच्छेद, जिनमें नागरिकता सम्बन्धी अनुच्छेद भी थे, 26 नवम्बर को लागू किये गए जिसके द्वारा अनेक विस्थापित व्यक्ति स्वयं को भारत के नागरिक के रूप में पंजीकृत करा सके।

संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार थी :

हम भारत के लोग, भारत को एक **सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक **न्याय;**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतन्त्रता;**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए;

दृढ़ संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा** में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छ: विक्रमी) को **एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित एवं आत्मासमर्पित** करते हैं।

अध्याय 2

राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्त
(Directive Principles of State Policy)

प्रथम महायुद्ध के बाद कांग्रेस ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष आरम्भ किया। इस संघर्ष का मूल कारण देश को विदेशी शासन से स्वतन्त्र कराने की इच्छा ही नहीं, यह विचार भी था कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना यहाँ के करोड़ों निवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक उद्धार सम्भव नहीं है, और पिछले कुछ दशकों में जो सामाजिक असमानताएँ व्याप्त हो गई थीं, उन्हें कम नहीं किया जा सकेगा। 1931 के करांची अधिवेशन में कांग्रेस ने यह संकल्प लिया था कि "···जनता का शोषण समाप्त करने के लिए राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ आर्थिक स्वाधीनता भी अवश्य प्राप्त की जानी चाहिए।" उसी अधिवेशन में कांग्रेस ने व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा निश्चित करने तथा धीरे-धीरे कम करके न्यूनतम राष्ट्रीय अंक के बीस गुने पर स्थिर करने का संकल्प किया। 1931 में लंदन की गोलमेज़ कान्फ्रेंस (Round Table Conference) में गांधी जी ने कहा कि "कांग्रेस भारत के सात लाख देहातों में रहने वाले उन करोड़ों लोगों का उद्धार चाहती है जिन्हें प्रायः आधे पेट सोना पड़ता है।" उन्होंने यह भी कहा कि अछूतों, स्त्रियों तथा अत्यन्त दरिद्र व्यक्तियों को उनकी युगों पुरानी घटनाओं एवं शोषण से मुक्ति अवश्य दिलाई जानी चाहिए। स्वाधीनता संघर्ष के दिनों में जवाहर लाल नेहरू ने भी अनेक बार कहा कि "यहाँ के करोड़ों निवासियों की भुखमरी और शोषण समाप्त किये बिना केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं होगा।" धीरे-धीरे इस प्रकार की धारणा विकसित होने लगी और कांग्रेस की नीति का एक अंग बन गई। भारत में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति लाने के अधिकाधिक स्पष्ट संकल्प प्रतिवर्ष लिए जाने लगे।

1947 में जब देश स्वतन्त्र हुआ और एक नया संविधान बनाने का काम हाथ में लिया गया तो समानता के आदर्श को संविधान की प्रस्तावना में तथा "राज्यनीति के निदेशी सिद्धान्त" नामक अध्याय में सम्मिलित किया गया।

राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्त संविधान की धारा 39 से 51 तक में दिये गए हैं।

धारा 39 में नीति के वे सिद्धान्त बताये गए हैं जो राज्य को निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाने चाहिए—(क) सभी नागरिकों को लिंग-भेद के बिना अपनी आजीविका कमाने का समान अधिकार है, (ख) भौतिक साधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण को इस प्रकार वितरित किया जाये कि उससे जनता को अधिकाधिक लाभ पहुँचे, (ग) धन और उत्पादन के साधनों का ऐसा केन्द्रीकरण न होने पाये जिससे लोकहित की हानि होती हो, (घ) पुरुषों व स्त्रियों, सभी को समान काम के लिए समान वेतन दिया जाये, (ङ) कामगर पुरुषों व स्त्रियों के शारीरिक स्वास्थ्य एवं बल तथा बच्चों की अबोध अवस्था का दुरुपयोग न होने दिया जाये तथा नागरिकों को आर्थिक कारणों से ऐसे धंधे करने के लिए बाध्य न किया जाये जो उनकी उम्र एवं शारीरिक अवस्था से मेल न खाते हों। राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाने की दृष्टि से संविधान की धारा 40 में यह कहा गया है कि राज्य द्वारा ग्राम पंचायतें स्थापित कराने की व्यवस्था की जायेगी और उन्हें ऐसी क्षमताएँ व अधिकार प्रदान किये जायेंगे जिनसे वे स्वायत्त सरकार की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें। धारा 41 में राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह बेरोज़गारी, बुढ़ापा, बीमारी, तथा अन्य कठिन परिस्थितियों में अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की मर्यादा के अनुसार जनता को काम करने का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार एवं बेरोजगारों के लिए सरकारी सहायता का अधिकार प्रदान करे। धारा 42 में निर्दिष्ट किया गया है कि राज्य द्वारा न्यायपूर्ण तथा मानवोचित काम की शर्तों एवं जच्चा सम्बन्धी व्यवस्था की जायेंगी। धारा 43 में कहा गया है कि राज्य उचित विधान, आर्थिक संगठन एवं अन्य प्रकार से सभी प्रकार के श्रमिकों को ऐसे काम, निर्वाह योग्य वेतन, तथा काम की उचित शर्तें जुटाने की व्यवस्था करेगा ताकि वे एक सुखी जीवन बिता सकें। इसके लिए राज्य को देहाती क्षेत्रों में वैयक्तिक या सहकारी आधार पर कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने का निर्देश दिया गया है।

संविधान की धारा 44 में निर्देश दिया गया है कि राज्य सभी नागरिकों के लिए सारे भारत में एक-जैसी व्यवहार-संहिता स्थापित करेगा। संविधान के रचियताओं को यह पता था कि कोई भी सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम उस समय तक लागू नहीं हो सकेगा, जब तक भारत की अधिकतम जनता शिक्षित नहीं होगी। अतः उन्होंने संविधान की धारा 45 में निर्दिष्ट किया कि संविधान लागू होने के दस वर्ष के भीतर, राज्य चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को मुफ़्त एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करेगा। कमजोर वर्गों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों की रक्षा करने तथा विशेषतः अनुसूचित जातियों व जन-जातियों को सामाजिक अन्याय एवं अन्य सभी प्रकार के शोषण से सुरक्षा प्रदान करने का भी निर्देश दिया गया। धारा 47 में राज्य को जनता के पोषक आहार का स्तर ऊँचा करने तथा स्वास्थ्य में सुधार लाने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को नशीली वस्तुओं के प्रयोग पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया है। धारा 48 में राज्य को भारत की

ग्रामीण जनता के हित में कृषि एवं पशु-पालन के नये तरीकों के प्रचार की व्यवस्था करने का आदेश दिया गया है।

राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा के लिए राज्य कला एवं पुरातत्व के महत्त्व की प्रत्येक इमारत, स्थान व पदार्थ की रक्षा करेगा तथा उसे खराब करने, नष्ट करने, वेचे जाने व निर्यात करने इत्यादि के विरुद्ध नियम बनाएगा।

नवीन भारत के निर्माताओं ने यह भी अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं स्थिरता के विना उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव न होगी, अतः उन्होंने संविधान की धारा 51 में निर्देश दिया कि राज्य द्वारा--

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की उन्नति करने,
(ख) राष्ट्रों में उचित एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने,
(ग) सभ्य मानव समाज के परस्पर-व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं सन्धियों के प्रति आदर की भावना प्रेरित करने, तथा
(घ) देशों के आपसी विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाये।

ये निदेशी सिद्धान्त सामूहिक रूप से समानता के आदर्श पर आधारित हैं और देश के शासन में इन्हें मौलिक स्थान देना अत्यन्त आवश्यक है। राज्य का यह कर्तव्य होता है कि कानून बनाते समय इन मौलिक सिद्धान्तों पर अमल किया जाये। किन्तु ध्यान रहे कि जिस प्रकार मौलिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उच्च न्यायालयों व सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली जा सकती है, निदेशी सिद्धान्तों को उसी प्रकार लागू नहीं कराया जा सकता। इसका यह कारण है कि यद्यपि संविधान के निर्माता समानता की भावना से ओतप्रोत थे तदपि वे देश के नए शासकों की मजबूरियों, विशेषतः आर्थिक साधनों की कमी, अशिक्षा और तेज़ी से वढ़ती हुई जनसंख्या, के प्रति भी पूर्णतः जागरूक थे। यदि वे इन निदेशी सिद्धान्तों को कानून द्वारा लागू कराने योग्य बना देते तो राज्य सदा के लिए मुकदमेबाजी में फँस कर रह जाता। फिर भी, समानता के सिद्धान्त की अनेक वार पुष्टि की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना (जिसका प्रारूप 8 दिसम्बर, 1952 को प्रकाशित किया गया था) का लक्ष्य था "अधिकतम उत्पादन, सबके लिए रोज़गार, तथा आर्थिक समानता एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति," और यही उद्देश्य संविधान में भी निहित था। बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में भी समानता के आदर्श को प्रमुखता दी गई। कांग्रेस ने अपने 1955 के (अवादी) अधिवेशन (21-23) जनवरी में एक अर्थनीति सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया जिसमें यह सिफारिश की गई कि "समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की आय में अन्तर कम करने के उपाय किये जायें।" अर्थनीति सम्बन्धी अवादी प्रस्ताव को 1964 के भुवनेश्वर अधिवेशन में पुनः दोहराया गया।

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जब 24 जनवरी, 1966 को भारत के प्रधानमन्त्री पद की बागडोर सम्भाली, तबसे उन्होंने अनेक बार सामाजिक-आर्थिक न्याय एवं समा-

नता का उल्लेख किया है। मार्च 1971 में लोक सभा के मध्यावधि चुनाव के समय श्रीमती गांधी ने जनता को "गरीबी हटाओ" का एक नया नारा दिया और मार्च 1972 में राज्यों की सभाओं के निर्वाचन के अवसर पर उन्होंने "अन्याय हटाओ" का एक और नारा दिया। इस प्रकार, स्वाधीनता के बाद से समानता के आदर्श को लागू करना केन्द्र एवं राज्य सरकारों के लिए सदैव नीति एवं आस्था का एक अंग रहा है।

निदेशी सिद्धान्तों को लागू करने के उपाय (Methods of Enforcing Directive Principles)

भारतीय गणतन्त्र (26 जनवरी, 1950) के आरम्भ से ही सरकार ने निदेशी सिद्धान्तों पर अमल करना शुरू कर दिया था। तत्कालीन वित्त मन्त्री जॉन मथाई ने 28 फरवरी को घोषित किया कि सरकार ने एक योजना आयोग स्थापित करने का निश्चय किया है ताकि देश का विकास सुनियोजित ढंग से हो सके। योजना का मुख्य उद्देश्य जीवनयापन का स्तर ऊँचा करना तथा अधिक समृद्ध एवं विविधतापूर्ण जीवन के अवसर उपलब्ध करना बताया गया। पहली पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य यह था कि वर्तमान मानवीय एवं खनिज साधनों का अधिकाधिक इस्तेमाल किया जाए ताकि उनसे उत्पादन एवं सेवा में अत्यधिक वृद्धि की जा सके। तथा धन, आय और अवसरों की असमानताएँ दूर की जा सकें। इस योजना में सिंचाई, बिजली, मूल उद्योगों, परिवहन तथा अन्य साधनों का विस्तार करके रोजगार बढ़ाने के ठोस प्रयत्न किये गए। शेष तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में भी लगभग उसी रूप-रेखा पर अर्थात् सामाजिक-आर्थिक न्याय व समानता प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य किया गया।

संविधान की धारा 39 के सिद्धान्तों को लागू करने के लिए समय-समय पर अनेक कानून बनाये गए हैं। इनमें से कुछ के नाम हैं: कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, न्यूनतम वेतन अधिनियम, कामगर प्रतिकर अधिनियम, सम्पदा कर अधिनियम, उपाहार अधिनियम, इत्यादि। आय में असमानता दूर करने के लिए धारा 31 में दिये गए सम्पत्ति के अधिकार में तीन बार संशोधन किया गया। लगभग सभी राज्यों एवं प्रदेशों की विधायिकाओं ने भूमि सुधार कानून पास करके भू-सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी है तथा भू-स्वामियों से फालतू भूमि लेकर भूमिहीन किसानों में बाँट दी गई है। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण समझे जाने वाले अनेक औद्योगिक उत्पादनों एवं विशिष्ट सेवाओं को सार्वजनिक क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है। 1969 में देश के चौदह प्रमुख व्यापारी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। उसी वर्ष भारतीय नरेशों के प्रिवी पर्स और विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गए। 1956 में जीवन बीमा और 1971 में सामान्य बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी किये गए और इन सबका उद्देश्य, उनसे प्राप्त होने वाले वित्तीय साधनों का जनता के लिए उपयोग करना था।

भूमि सुधार सम्बन्धी कानून बनाने और उन्हें लागू करने की जिम्मेदारी राज्यों की थीं। इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए लगभग सभी राज्यों एवं संघीय प्रदेशों ने जमींदारों, जागीरों तथा इनामों इत्यादि के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम पास किये। बहुत सी उपजाऊ भूमि को, जो पहले बेकार पड़ी हुई थी, भूमिहीन मजदूरों में बाँट दिया गया और अब उस पर खेती की जाने लगी। अनेक राज्यों में जो मुजारे किसी जमीन को जोतते थे, उन्हें उसी पर पक्का कर दिया गया, अर्थात् उन्हें एक निश्चित अवधि तक उससे बेदखल नहीं किया जा सकता। अधिकतर राज्यों में प्रति व्यक्ति भूमि की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई। इस प्रकार, लाखों एकड़ भूमि प्राप्त हुई जिसे भूमिहीन व्यक्तियों में बाँट दिया गया। उत्तर प्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, दिल्ली, मैसूर और हिमाचल प्रदेश इत्यादि राज्यों में भूमि की चकबन्दी कर दी गई। आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में चलाये गए भूदान और ग्रामदान आन्दोलनों में लगभग 50 लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई जिसे भूमिहीन खेतिहरों में बाँट दिया गया। नेशनल कोआपरेटिव फार्मिंग एडवाइजरी बोर्ड ने अनेक योजनाएँ तैयार कीं और कृषि में सहकारिता को प्रोत्साहन दिया। अनेक राज्यों में इसी प्रकार के बोर्ड स्थापित किये गए। दण्डकारण्य विकास अधिकरण ने बेघर लोगों के लाभ के लिए सहकारी कृषि की व्यवस्था की। मैसूर और आन्ध्र प्रदेश की सरकारों ने ऐसी भूमियों के लिए सहकारी कृषि की योजनाएँ तैयार कीं जो नदियों के प्रवाह में पड़ती थीं और बेकार पड़ी थीं। ग्रामीण इलाकों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ तैयार की गई और 2 अक्तूबर, 1952 को ऐसी 55 योजनाओं पर काम शुरू किया गया। प्रत्येक योजना का परिसर 1300 वर्ग किलोमीटर था और प्रत्येक के अन्तर्गत 300 गाँवों की लगभग दो लाख जनता आती थी। 1969 तक सारे देश को 5265 विकास खण्डों में बाँट दिया गया था। संघीय कृषि एवं खाद्य मंत्री के आधीन एक सलाहकार परिषद नियुक्त की गई, जो संघीय सरकार एवं सामुदायिक विकास कार्यों के प्रभारी राज्य मन्त्रियों में तालमेल बनाये रखती थी।

जनवरी 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद ने सिफारिश की कि गाँवों के विकास के लिए अधिकार तन्त्र का विकेन्द्रीकरण करके स्थानीय लोकप्रिय प्रतिनिधियों में बाँट दिया जाना चाहिए। इस पर अमल करने के लिए पंचायत राज स्थापित किया गया और गाँवों, विकासखण्डों एवं जिलों के स्तर पर स्थानीय स्वायत्तशासी निकाय स्थापित किये गए। इन प्रतिष्ठानों को विकास एवं स्थानीय प्रशासन के क्षेत्रों में विशेष अधिकार एवं जिम्मेदारियाँ सौंपी गई। इस प्रकार लगभग सारे देश में पंचायत राज स्थापित हो गया।

संविधान की धारा 48 के निदेशानुसार कृषि के आधुनिक एवं वैज्ञानिक तरीके अपनाने के लिए अनेक योजनाएँ चालू की गई जिन का उद्देश्य नदियों के पानी को खेती के लिए, बिजली उत्पादन के लिए तथा बाढ़ नियन्त्रण के दृष्टिकोण से उचित

उपयोग में लाना था। इनमें से कुछ के नाम हैं : नागार्जुनसागर परियोजना (आन्ध्र प्रदेश), तुंगभद्रा परियोजना (आंध्र प्रदेश व कर्नाटक), गंडक परियोजना (बिहार व उत्तर प्रदेश), कोसी परियोजना (बिहार), चम्बल परियोजना (मध्य प्रदेश और राजस्थान), हीराकुंड बाँध परियोजना (उड़ीसा), भाखड़ा नंगल परियोजना (पंजाब, हरियाणा और राजस्थान), फरक्का परियोजना (पश्चिम बंगाल), तथा दामोदर घाटी परियोजना (पश्चिम बंगाल व बिहार)। रासायनिक खादों के उत्पादन के लिए अनेक फैक्टरियाँ खोली गई। 1969 में बीज अधिनियम पास किया गया और राष्ट्रीय बीज निगम ने देश भर के किसानों को सब्जियों तथा अन्य सभी प्रकार की फसलों के अधिक उपज देने वाले बीज बाँटे। पौधों की रक्षा तथा टिड्डी दल से बचाव के भी कार्यक्रम आरम्भ किये गए। कृषि और पशुपालन के नये-नये तरीके सिखाने के लिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद तथा अनेक कृषि विश्वविद्यालय खोले गए विपणन और निरीक्षण निदेशालय की विपणन अनुसन्धान एवं सर्वेक्षण शाखा ने महत्त्वपूर्ण कृषि, बागबानी तथा पशुओं की नस्लों के विषय में सर्वेक्षण किये। पशु-पालन एवं मुर्गीपालन परियोजनाओं का व्यापारिक स्तर पर विकास किया गया। भेड़ एवं मछलीपालन उद्योगों के विकास की भी योजनाएँ आरम्भ की गई।

संविधान की धारा 43 के प्रावधान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों के कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए सरकार ने पहली चार पंचवर्षीय योजनाओं में 775 करोड़ रुपया राज्यों एवं संघीय प्रदेशों की स्कीमों पर व्यय किया। कुटीर उद्योगों के विकास की प्राथमिक ज़िम्मेदारी राज्यों की थी, अतः उनके प्रयत्नों की सहायता के लिए केन्द्रीय सरकार ने खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग अखिल भारतीय हस्तकला मण्डल (All India Handicrafts Board) लघु उद्योग मण्डल (Small Scale Industries Board), अखिल भारतीय हस्त करघा मण्डल (All India Handloom Board) कौयर बोर्ड, तथा सेंट्रल सिल्क बोर्ड स्थापित किये। केन्द्र में लघु उद्योग विकास संगठन को सरकार की लघु उद्योग सम्बन्धी नीतियाँ लागू करने का काम सौंपा गया। इन उद्योगों में दो करोड़ से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिल गया। यह संख्या मध्य एवं बड़े आकार के उद्योगों में लगे व्यक्तियों की संख्या से काफी अधिक थी।

यद्यपि स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने व उन पर अमल करने का दायित्व राज्य सरकारों का था, संघीय सरकार ने धारा 47 में निहित निदेशी सिद्धान्तों को लागू करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा जनता के स्वास्थ्य का स्तर सुधारने की बड़ी बड़ी स्कीमें चलाई और वर्तमान स्कीमों को प्रोत्साहन दिया। पहली चार पंचवर्षीय योजनाओं में औषध प्रशिक्षण और अनुसन्धान के विकास, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने, संक्रामक रोगों के नियन्त्रण, दवाओं की देशी पद्धतियाँ चलाने तथा अस्पताल एवं लघु चिकित्सा केन्द्र स्थापित करने पर 1050 करोड़ रुपया व्यय किया गया। मलेरिया, फ़ाइलेरिया, तपेदिक, कोढ़, यौन रोग, चेचक और कैंसर को समाप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न किये गए।

जून 1960 में एक राष्ट्रीय पोषण नीति स्थिर करने तथा जनता का पोषण स्तर ऊपर उठाने के लिए एक राष्ट्रीय पोषण समिति नियुक्त की गई। 1954 में खाद्य वस्तु मिलावट निरोध कानून पास किया गया जिसमें मिलावटी खाद्य सामग्री बनाने, आयात करने तथा बेचने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और इसका उल्लंघन करने वालों के लिए कड़े दण्ड निर्धारित कर दिये गए। 1954 में राष्ट्रीय जल प्रदाय और सफाई कार्यक्रम आरम्भ किया गया और लाखों नल-कूप लगाए गए। बीमारी-सुविधा और सेवा भी राज्यों के ही उत्तरदायित्व के विषय थे पर संघीय सरकार ने स्वयं योगदत्त स्वास्थ्य सेवा (Contributory Health Service) की स्कीम चलाई। देश में बनाई जाने वाली बेची जाने वाली तथा बाँटी जाने वाली दवाओं के नियन्त्रण के लिए ड्रग्स व कास्मेटिक्स एक्ट एवं ड्रग्स व कास्मेटिक्स नियम बनाए गए। 1952 में परिवार नियोजन आरम्भ किया गया और जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए तेज़ी से काम किया गया तथा अनुसन्धान किये गए।

निदेशी सिद्धान्तों में संघीय एवं राज्य सरकारों को भारतीय जनता के सामाजिक स्तर की उन्नति का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया था। 31 मार्च, 1956 को लोक सभा ने देश भर में तेज़ी से एवं प्रभावशाली ढंग से शराबबन्दी का कार्यक्रम चलाने का प्रस्ताव पास किया। शराबबन्दी की नीति धीरे-धीरे पर अबाध गति से लागू की गई तथा अनेक राज्यों एवं संघीय क्षेत्रों में तत्सम्बन्धी कार्रवाई की गई। 1960 में संसद ने बालक अधिनियम (Childrens Act) पारित किया और देश भर में परित्यक्त एवं अपराधी बच्चों की देख भाल के लिए किशोर न्यायालय, बाल कल्याण बोर्ड, रिमाण्ड होम एवं प्रेक्षण गृह और विशेष विद्यालय स्थापित किये गए। 1956 में स्त्रियों व लड़कियों के अनैतिक व्यापार सम्बन्धी अधिनियन पारित किया गया और उसके द्वारा मई 1950 में न्यूयार्क में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में हस्ताक्षर किये गए सिद्धान्तों के अनुरूप-स्त्रियों व लड़कियों के अनैतिक व्यापार को दमन करने सम्बन्धी कानून बनाए गये। अधिकतर राज्यों ने सार्वजनिक स्थानों में भीख माँगने पर रोक लगाने के लिए विशेष कानून बनाए। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने ग्रामीण इलाकों में रहने वाली स्त्रियों व बच्चों के कल्याण की अनेक योजनाएँ चालू कीं। अन्धे तथा अन्य प्रकार से अपंग व्यक्तियों की देख-रेख के लिए लगभग 140 विद्यालय एवं प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये।

1929 के बाल विवाह प्रतिरोध कानून के अन्तर्गत कोई भी ऐसा विवाह नहीं कराया जा सकता था जिसमें वर की आयु 18 वर्ष से तथा कन्या की आयु 15 वर्ष से कम हो। 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया कि विवाह के समय वर की कोई अन्य पत्नी तथा कन्या का कोई अन्य पति जीवित नहीं होना चाहिए। स्त्रियों व बच्चों के सम्बन्ध में जो अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक कानून बनाये गए उनमें से कुछ ये थे: किशोर धूम्रपान अधिनियम, हिन्दू विवाहित स्त्रियों के पृथक रहने व गुजारा लेने के अधिकार का अधिनियम, हिन्दू वैवाहिक अयोग्यता

निवारण अधिनियम और हिन्दू विवाह प्रमाणन अधिनियम । इस प्रकार, यद्यपि मुस्लिम सम्प्रदाय के अपने धर्मगत जातीय कानून में परिवर्तन के प्रति विरोध के कारण कोई एकरूप व्यवहार-संहिता नहीं बनाई जा सकी, पर हिन्दू स्त्रियों, पुरुषों एवं बच्चों की स्थिति सुधारने के अनेक उपाय किये गए। संविधान के एक निदेशी सिद्धान्त के अन्तर्गत चौदह वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा अनेक राज्यों ने उस दिशा में कानून बनाए । प्रारम्भिक शिक्षा के राष्ट्रीय संस्थान के प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अध्यापकों व प्रशासकों के प्रशिक्षण एव मार्गदर्शन की व्यवस्था की । उसने शिक्षकों व शिक्षार्थियों के लिए आवश्यक सामग्री व साहित्य की भी व्यवस्था की । व्यस्कों के लिए प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम भी चलाये गए ताकि प्रौढ़ व्यक्ति अपनी जीवन पद्धति में परिवर्तन कर के समाज के विकास में योगदान कर सकें । 1969 में इसके लिए एक राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा बोर्ड स्थापित किया गया ।

ललित कला अकादेमी, संगीत नाटक अकादेमी, राष्ट्रीय आधुनिक कला वीथि (National Gallery of Modern Art), साहित्य अकादेमी, अजायबघरों और नेशनल बुक ट्रस्ट ने संविधान की धारा 49 के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता की। लगभग सभी राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक कर दिया गया।

इस निदेशी सिद्धान्त को लागू करने के लिए कि राज्य अनुसूचित जातियों व जन-जातियों को सभी प्रकार के शोषण एवं सामाजिक अन्याय से बचाने के यथोचित उपाय करे, संसद ने मई 1955 में छुआछूत निरोध कानून पास किया । इन अधिनियम द्वारा किसी व्यक्ति को छुआछूत के कारण किसी सार्वजनिक पूजा स्थल में जाने से रोकने अथवा किसी पवित्र तालाब, कुएँ या झरने से पानी न लेने देने के प्रति दण्ड निर्धारित कर दिये गए। अन्य प्रकार की सामाजिक अयोग्यताओं के प्रवर्तन अर्थात् किसी दुकान, रेस्तरां, सार्वजनिक अस्पताल, व शिक्षा संस्थान, होटल इत्यादि में न जाने देने, किसी सड़क, नदी, पानी के नल, नहाने के घाट, श्मशान, धर्मशाला अथवा ऐसे संस्थानों में रखे बर्तनों का उपयोग न करने देने इत्यादि के प्रति भी दण्ड निर्धारित कर दिये गए। इस अधिनियम द्वारा पेशे, व्यवसाय अथवा वाणिज्य सम्बन्धी आयोग्यताओं अथवा किसी इलाके में आवास बनाने या उसमें रहने की अयोग्यता, अथवा किसी धार्मिक या सामाजिक रीति-रिवाज के अनुकरण की अयोग्यता के प्रति भी दण्ड निर्धारित किये गए। इसी प्रकार, किसी हरिजन को केवल इस कारण से माल बेचने या सेवा करने से इनकार करने के प्रति भी, कि वह हरिजन था, दण्ड निर्धारित किये गए।

छुआछूत समाप्त करने के लिए कानून बनाने के अतिरिक्त, संघीय सरकार ने उसके लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी साधनों का भी इस्तेमाल किया। राज्य सरकारों को इस कुरीति को दूर करने के अधिक ठोस उपाय करने के निदेश दिये गए ।

संविधान की धारा 51 में वांछित विश्व शांति के उपायों के रूप में संघीय सरकार

ने गुट-निरपेक्षता और पंचशील की नीति का अनुसरण किया और शान्ति व व्यवस्था का वातावरण स्थापित करने के प्रयत्न किये जो समानता का समाज स्थापित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक थे।

अधिकतर उपाय प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किये गए (Most of the Methods are not Enforced Properly)

संघीय सरकार और राज्य सरकारों ने राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्तों को लागू करने के जो उपाय किये, उनमें से अधिकतर केवल कागज़ी कार्रवाई बन कर रह गए और भारतीय समाज में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने में असफल रहे। धन का वितरण असंगत रहा जिससे धनवानों का धन बढ़ता गया और निर्धन और भी अधिक निर्धन हो गए। लगभग 80 बड़े व्यापारी संस्थानों ने देश की अधिकतर सम्पदा बटोर कर अपने कब्ज़े में कर ली और स्वयं सरकार के अपने आँकड़ों के अनुसार 1972-73 तक भी 44 प्रतिशत जनता अर्थात् 22.5 करोड़ व्यक्तियों का जीवन स्तर निर्धनता से भी कम था। जनता की महत्वाकांक्षाएँ उदासी और निराशा में परिवर्तित हो गईं। एक ओर जहाँ लाखों भूखे-प्यासे और अधनंगे व्यक्ति असीम दरिद्रता और हीनता का जीवन बिता रहे थे, दूसरी ओर वहीं वैभव की चकाचौंध में वासना और पाप फल-फूल रहे थे। गगनचुम्बी अट्टालिकाएं झुग्गी-झोंपड़ियों के बीच खड़ी होने लगीं। सरकारी अधिकारियों तथा मन्त्रियों तक का यही कहना था कि देश में सामाजिक समानता लाने के जो भी प्रयत्न उन्होंने किये वे सब बेकार गए। संसद में तीसरी पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत करते हुए नेहरू ने कहा "...बहुत बड़ी संख्या में जनता को आर्थिक समृद्धि का लाभ नहीं पहुँचा है और वे जीवन की मूल अनिवार्यताओं के बिना जीवन बिता रहे हैं। दूसरी ओर थोड़े से धनिक हैं। उन्होंने किसी न किसी प्रकार अपने लिए वैभवशाली समाज गठित कर लिया है जबकि शेष भारत उससे अभी बहुत पीछे है... "मुझे लगता है कि नये धन का प्रवाह किसी एक ही ओर को चल रहा है और उसका उचित वितरण नहीं हो रहा है।" इसी प्रकार श्रीमती गांधी ने भी अनेक बार कहा है कि पिछले 25 वर्षों में जो विकास कार्य हुए हैं उनसे भी जनता की दरिद्रता दूर नहीं हो पाई है। अर्थशास्त्रियों, पत्रकारों, योजना निर्माताओं, बुद्धिजीवियों और जन-नेताओं ने अनेक बार शासक वर्ग की कथनी व करनी में अन्तर स्पष्ट किये हैं।

बेरोज़गारी निरन्तर बढ़ रही है। 1970 में रोज़गार तलाश करने वालों की संख्या में 18.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई तो 1971 में यह संख्या 25.3 प्रतिशत और 1972 में 35.2 प्रतिशत बढ़ी। केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों के अनुसार यह संख्या 1970 के अंत में 41 लाख, 1971 के अन्त में 51 लाख और 1972 के अन्त में 69 लाख थी। पढ़े-लिखे बेरोज़गारों की संख्या में वृद्धि अधिक तेज़ी से हुई। उनकी संख्या 1970 में 18 लाख, 1971 में 23 लाख और 1972 में 33 लाख थी। हज़ारों डाक्टर व इंजीनियर काम की तलाश में थे।

1972 तक 38.6 करोड़ व्यक्ति लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। निरक्षरता की दृष्टि से स्त्रियों, विशेषत: देहाती स्त्रियों का-सबसे बुरा हाल था। सरकार ने जनसंख्या सम्बन्धी कोई दृढ़ नीति निर्धारित नहीं की, जिस का यह परिणाम हुआ कि उसे संसार की 14.8 प्रतिशत जनसंख्या का गुजारा करना पड़ता है जबकि देश का क्षेत्रफल सारी दुनिया के क्षेत्रफल का केवल 2.4 प्रतिशत है और आय केवल 1.5 प्रतिशत है।[1] लगभग 6.5 करोड़ अनुसूचित जातीय व 3 करोड़ जन जातीय व्यक्तियों को पंचवर्षीय योजनाओं का कोई लाभ नहीं पहुँचा था और उनके लिए "गरीबी हटाओ" का नारा पूर्णत: निरर्थक सिद्ध हो रहा था। हरिजन उद्धार भी अभी कोरी कल्पना ही थी, और उन्हें अभी वही युगों पुरानी हीनताएँ जकड़े हुए थीं। बल्कि देहाती इलाकों में हरिजनों पर पहले से भी अधिक ज़ुल्म ढाये जाने लगे थे। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, मैसूर और राजस्थान के अनेक इलाकों में बंधुवा मज़दूरी की प्रथा अब भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थी।[2] स्त्रियों व लड़कियों के अनैतिक व्यापार निरोधक कानून लगभग 20 वर्ष से प्रचलित होने के बावजूद वेश्यावृत्ति समाप्त नहीं हो पाई। पकड़े गए मामलों और उन पर दिये गये न्यायालयों के फैसलों से यह प्रतीत होता है कि उन में से 90 प्रतिशत अपराधी कानून की कमी के कारण छूट निकले। ऐसे अनेक अन्य उदाहरण भी हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने राज्य नीति के सिद्धान्त लागू करने के जो प्रयत्न अथवा उपाय किये, उनमें से अधिकतर अपना उद्देश्य पूरा करने में असफल रहे।

निदेशी सिद्धान्तों को अधिक तेजी से लागू करने के लिए संविधान संशोधन
(Amendment in Constitution to Enforce Directive Principles)

केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस की सरकारें जो वायदे स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से करती आ रही थीं, उन्हें पूरा नहीं कर सकी, अत: जनता ने उन्हें चौथे आम चुनावों में एक ज़ोरदार झटका दिया। निर्वाचन में करारी मात खाने के पश्चात इन सरकारों ने, विशेषत: केन्द्र सरकार ने सामान्य जनता की दशा सुधारने के कई नए उपाय किये। उनमें से दो उपाय यह थे कि एक तो देश के चौदह प्रमुख व्यापारी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, तथा भूतपूर्व नरेशों के प्रिवी पर्स एवं विशेष सुविधाएँ समाप्त कर दी गई। उच्चतम न्यायालय ने इन दोनों कृत्यों को असंवैधानिक करार दिया किन्तु इस अड़चन को दूर करने के लिए केन्द्र सरकार ने संविधान में आवश्यक संशोधन करने के लिए

[1] 1971 की जनगणना के अनुसार 1961-71 में भारत की जनसंख्या में 24.57 प्रतिशत वृद्धि हुई, और उस समय यह संख्या 54,69,55,945 थी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भविष्य वाणी की कि सन् 2000 तक भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक हो जायेगी। देखो, 'दि हिन्दुस्तान टाइम्ज़', 13 अप्रैल 1971, पृष्ठ 1।

[2] बंधुआ अथवा बंधक मजदूर को सारे जीवन अपने स्वामी की सेवा करनी पड़ती थी और उसके बाद उसका लड़का अपने पिता के उत्तरदायित्व में उसी घराने की सेवा करता था।

विधेयक प्रस्तुत किये। चौबीसवां संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत करते हुए विधि मन्त्री गोखले ने कहा कि यदि राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्तों को केवल "सजावट की वस्तुएँ अथवा शृंगार के प्रसाधन मात्र" बनाकर नहीं रखना है तो ऐसे उपाय करने होंगे कि संविधान के स्थायी तत्त्व अर्थात् मूल अधिकार और प्रेरक तत्त्व अर्थात् निदेशी सिद्धान्तों में टक्कर हो तो निर्णय निदेशी सिद्धांतों के पक्ष में हो और अन्ततः उन्हीं पर अमल किया जाए, लोक सभा में पच्चीसवां संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत करते हुए गोखले ने कहा कि निदेशी सिद्धान्त, संविधान सभा में संविधान के प्रारूप पर विचार किया जाने से भी पूर्व, संविधान की बुनियाद में विद्यमान थे, और यदि बैंक राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी पर्सों के मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय का प्रभाव समाप्त नहीं किया गया तो ये सिद्धान्त पूर्णतः निरर्थक सिद्ध होंगे। इसके लिए धारा 31 ख के बाद 31 ग जोड़ दी गई। नयी धारा में यह निर्दिष्ट किया गया कि धारा 13 के प्रावधान के बावजूद धारा 39 के अनुच्छेद (ख) या (ग) में निर्दिष्ट निदेशी सिद्धान्तों को प्रवर्तित करने सम्बन्धी कोई भी कानून इस आधार पर निरर्थक नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, धारा 19 वा धारा 31 द्वारा प्रदान किये गए किसी भी अधिकार से असंगत है, उसे समाप्त करता है वा उसमें किसी प्रकार से बाधक है। धारा 31 ग में यह भी निर्दिष्ट किया गया कि कोई भी कानून, जिसमें यह घोषणा हो कि वह निदेशी सिद्धान्तों सम्बन्धी नीति को कार्यान्वित करने के लिए बनाया गया है, किसी भी न्यायालय में इस आधार पर विचार का विषय नहीं बनाया जायेगा कि उससे वह नीति कार्यान्वित नहीं होती।

आपात्-स्थिति की घोषणा के बाद निदेशी सिद्धान्त (Directive Principles after the Declaration of Emergency)

इस प्रकार अत्यधिक अधिकारों से लैस होकर संघीय सरकार ने जनता का सामाजिक व आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए कुछ नये उपाय किये। इनमें से कुछ ये थे : जनरल बीमा कम्पनियों एवं कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण, अनेक 'रुग्ण' कपड़ा मिलों का अधिग्रहण, अनाज के थोक व्यापार का अधिग्रहण, रेल कर्मचारियों की हड़ताल (जिससे देश की अर्थव्यवस्था के और अधिक अस्त-व्यस्त होने का भय था) समाप्त कराने के कठोर उपाय, अन्य सरकारी प्रतिष्ठानों में भी हड़ताल न होने देने के उपाय, इत्यादि। किन्तु ये सब उपाय भी पूर्वचर्चित उपायों के समान ही बेकार साबित हुए। 1974 में अनेक विपक्षी दलों ने, जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में, कांग्रेस राज्य की अव्यवस्था एवं अयोग्यता के प्रति एक देशव्यापी आन्दोलन चलाया। श्रीमती गांधी ने कहा कि यह उन्हें प्रधानमन्त्री पद से हटाने की 'साजिश' है। उन्होंने राष्ट्रपति को संविधान की धारा 352 (1) के अन्तर्गत आपात्-स्थिति घोषित करने का परामर्श दिया और राष्ट्रपति ने उस पर तुरन्त अमल किया तथा 26 जून, 1975 को आपात्-स्थिति घोषित कर दी गई। 26 'उग्रवादी' संगठनों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा भारत रक्षा कानून एवं आन्तरिक सुरक्षा कानून के अधीन सैकड़ों व्यक्तियों

को नजरबन्द कर दिया गया। 1 जुलाई को प्रधानमन्त्री ने एक 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम घोषित किया और कहा कि इस कार्यक्रम को तेजी से एवं पक्के इरादे से लागू किया जायेगा। यह कार्यक्रम निदेशी सिद्धान्तों से बहुत मिलता-जुलता है। केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों ने इसे लागू करने के अनेक उपाय किये। उदाहरणतया, संसद ने युगों पुरानी बन्धुवा मजदूर प्रथा को समाप्त करने के लिये एक कानून पास किया और राज्य सरकारों को छुड़ाये गये मज़दूरों के पुनर्वास की योजनाएँ तैयार करने का आदेश दिया गया। गरीब देहातियों, मज़दूर किसानों, देहाती शिल्पियों, तथा छोटे किसानों के कर्ज़े, जो 30 जून, 1971 को कुल 1,910 करोड़ रुपये के थे, माफ कर दिये गए। जनवरी 1976 में संसद ने एक विधि पारित करके पुरुषों व स्त्रियों के लिए समान काम के लिए समान मज़दूरी की व्यवस्था की और काम पर लगाने के सम्बन्ध में स्त्रियों के प्रति कोई भेदभाव न बरतने का आदेश दिया। कई राज्यों ने कृषि मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी निश्चित कर दी। फरवरी 1976 में संसद ने औद्योगिक विवाद (संशोधन) अधिनियम पारित किया और 300 से अधिक व्यक्ति नियोजित करने वाले औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए, काम बन्द करने, छंटनी करने या मज़दूरों को खाली बैठाने के प्रति सरकार की पूर्व-अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया, ताकि उन प्रतिष्ठानों में मजदूरों को संरक्षा प्रदान की जा सके।

6 फरवरी, 1976 को संसद ने खाद्य पदार्थों में मिलावट निवारक (संशोधन) अधिनियम पास किया और खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यक्तियों के लिए बहुत सख्त सज़ाएँ निर्धारित कीं, जिनमें आजीवन कारावास और 5,000 रुपये तक का जुर्माना भी सम्मिलित थे। दहेज का आदान-प्रदान अवैध घोषित कर दिया गया और देश भर में सहस्रों लड़के-लड़कियों ने शपथ ली कि वे अपने विवाह के समय दहेज नहीं लेंगे। धन को गिने-चुने हाथों में एकत्रित होने से बचाने तथा ब्लैक मार्केटिंग, जमाखोरी और तस्कर व्यापार बन्द करने के अनेक उपाय किये गए। जिन परिस्थितियों में कोई वस्तु आयात करने की अनुमति दी जाती है, उनका उल्लंघन करके आयातित माल का दुरुपयोग करने वाले व्यक्तियों से निपटने के लिए 12 जनवरी, 1976 को आयात-निर्यात (नियंत्रण) संशोधन विधेयक पास किया गया। तस्कर व्यापार और विदेशी मुद्रा की हेरा-फेरी से राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ रहा था। इसे रोकने के लिए संसद ने तस्कर व्यापारी एवं विदेशी मुद्रा तस्कर (सम्पत्ति ज़ब्ती) अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के आधीन तस्कर व्यापारियों की अवैध तरीकों से अर्जित सम्पत्ति को राज्य द्वारा ज़ब्त किया जा सकता है। तस्करी बन्द करने के लिए संसद ने विदेशी मुद्रा परिरक्षण और तस्करी निवारक (संशोधन) अधिनियम भी पारित किया। छोटे, किसानों, कृषि मज़दूरों, तथा छोटे व्यापारियों व दस्तकारों के लिए उधार की सुविधा जुटाने के लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक विधेयक पास किया गया ताकि छोटे-छोटे बैंक स्थापित किये जा सकें। छिपी आयों की स्वैच्छिक घोषणा योजना द्वारा 1500 करोड़ रुपये का "कालाधन" श्वेत हो गया और सरकार को इस रकम

का 25 प्रतिशत भाग करों के रूप में प्राप्त हुआ। शहरी भूमि की सौदेबाजी, मुनाफाखोरी, और छल-व्यापार को समाप्त करने के लिए संसद ने 2 फरवरी, 1976 को शहरी भूमि अधिकतम सीमा और विनियमन अधिनियम पास किया तथा राज्यों को ऐश्वर्य-निर्माण करने तथा अधिकतम सीमा से वड़े प्लाटों पर पहले से बने ऐश्वर्य भवनों पर भारी कर लगाने का आदेश दिया गया। केन्द्र सरकार ने राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्तों को लागू करने के अनेक उपाय किये, जिनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा रहा है।

राज्य सरकारों ने भी उस दिशा में तेज़ी से कार्य किया। जनता की कठिनाइयाँ कम करने के लिए दैनिक उपयोग की अनिवार्य वस्तुओं के भाव कम कराये गए और सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार किया गया। भूमि सुधार के उपायों को लागू करने तथा फालतू भूमि को भूमिहीनों में बाँटने के काम शुरू किये गए। छोटे किसानों और भूमिहीनों को साहूकारों के चंगुल से छुड़ाने के लिए कर्जों की अदायगी में छूट देने के आदेश दिये गए और कई राज्यों ने उन्हें समाप्त करने के कानून बनाए। रोज़गार प्राप्ति और प्रशिक्षण का विस्तार करने के लिए, विशेषतया कमज़ोर वर्गों के लिए अप्रेन्टिस स्कीमें चालू की गईं। भूमिहीन कृषि मज़दूरों के आवंटन में अनुसूचित जातियों व जनजातियों को प्राथमिकता दी गई। कमज़ोर वर्गों को लगभग 60 लाख मकान बनाने के लिए जमीनें दी गईं। अधिकतर राज्यों एवं केन्द्र-शासित प्रदेशों ने रवैये तथा कार्यविधि में परिवर्तन लाने के लिए अनेक सुधार-कार्य किये और हज़ारों भ्रष्ट एवं अकुशल अधिकारियों को नौकरी से अलग कर दिया गया।

ये सभी उपाय निदेशी सिद्धान्तों को वास्तविकता प्रदान करने के लिए किये गए हैं, पर इन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है यह अभी समय ही बताएगा।

अध्याय 3

संविधान-संशोधन की समस्या
(The Problem of Constitutional Amendment)

संविधान के रचयिताओं ने भारत की जनता को एक संविधान प्रदान किया जिसे देश की क्रान्ति के दूसरे व अधिक बुनियादी चरण, आर्थिक एवं सामाजिक प्रजातन्त्र लाने, के दृष्टिकोण से रचा गया था। वे जानते थे कि संविधान को लक्ष्य-प्राप्ति का एक साधन होना चाहिए, और यदि उसका कोई भाग या प्रावधान लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक हो तो उसे संशोधित कर देना, तथा आवश्यक हो तो निकाल देना चाहिए। संविधान ऐसा न हो कि उसे बदला ही न जा सके और न ही उसे प्रगतिहीन होना चाहिए, अन्यथा वह उन्नति में बाधक होगा और आगामी पीढ़ियाँ उसे भंग करने का प्रयास करेंगी।

राजनीतिक समाज में जनता का आचरण विधि द्वारा नियन्त्रित अवश्य होता है किन्तु विधि द्वारा ऐसे बन्धन नहीं लगाये जाने चाहिए जो असहनीय हों। देश की आधारभूत विधि के रूप में संविधान भी उसी प्रकार का होना चाहिए। जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये थे : "यद्यपि हम संविधान को यथाशक्ति ठोस व स्थायी बनाना चाहते हैं पर संविधानों में कभी स्थायित्व नहीं होता। संविधान में नम्यता अवश्य होनी चाहिए। यदि संविधान को कठोर (immutable) एवं स्थायी (static) बना दिया जाय तो उससे राष्ट्र की उन्नति रुक जायेगी अर्थात् देश की जीवित, ओजस्वी एवं प्रगतिशील जनता का विकास ठप्प हो जायेगा। कुछ भी हो, हम संविधान को ऐसा कठोर कभी नहीं बना सकते कि उसे समय की आवश्यकता के अनुसार सुधारा न जा सके। आज इतनी खलबली है और इतने शीघ्र परिवर्तन हो रहे हैं कि हम जो कुछ करते हैं, शायद कल तक उसकी उपयोगिता कम हो जाये।" राजनीति-वैज्ञानिकों और संविधान विधि विशेषज्ञों का सदैव यह दृढ़ मत रहा है कि देश के संविधान में संशोधन करने की गुंजाइश अवश्य रखी जानी चाहिए। उदाहरणतया, मलफोर्ड (Mulford) का कहना था कि "जिस संविधान में संशोधन नहीं किया जा सकता वह भाग्य की निकृष्टतम क्रूरता है, अथवा वह

स्वयं क्रूरता ही है।"[1] विलियम वी. मुनरो (William B. Munro) ने लिखा है "असंशोधनीय संविधान की कल्पना एक विपरीतार्थक पदनाम के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती।"[2] ह्यूग इवैन्डर विलिस (Hugh Evander Willis) ने अपनी पुस्तक *Constitutional Law of the United States* में लिखा है कि संविधान की परिवर्तनीयता का सिद्धान्त जनता की प्रभुत्व सम्पन्नता के सिद्धान्त पर आधारित है। हरमन फ़ाइनर (Herman Finer) ने अपनी पुस्तक *The Theory and Practice of Modern Government* में संविधान को संशोधन की प्रक्रिया बता कर परिभाषित किया है। उनके विचार में संविधान संशोधन का अर्थ एक प्रावधान को संविधान से अलग करके पुनः (संशोधित रूप में) संविधान में सम्मिलित करना, अथवा उसे 'तोड़ कर पुन बनाना' है। उन्होंने संशोधन सम्बन्धी धारा को इतना मौलिक माना कि वे उसे भी संविधान ही कहने लगे। अनेक अन्य प्रतिष्ठित लेखकों ने भी यही विचार व्यक्त किये हैं। संविधान के रचयिता यह जानते थे कि एक विकासमान समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति संशोधन प्रक्रिया से ही हो सकती है, अतः उन्होंने संविधान संशोधन की एक कार्य-विधि निर्धारित की, जो संविधान के वीसवें भाग के रूप में स्थापित हुई।

संविधान के संशोधन की कार्य-विधि
(Procedure for Amendment of the Constitution)

संविधान के संशोधन की प्रक्रिया सम्बन्धी धारा 368 में विधान है कि इस उद्देश्य के लिए संसद के किसी भी सदन में **(किन्तु किसी राज्य की विधान सभा में नहीं)**[3] विधेयक लाया जा सकता है, जिसे संसद में पारित हो जाने के वाद राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना चाहिए। विधेयक को यह स्वीकृति मिल जाने पर (जिसके लिए समय की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई), संविधान को विधेयक के प्रावधानों के अनुसार संशोधित माना जायेगा।

संविधान के कुछ प्रावधानों में संशोधन केवल तभी हो सकता है जब उसे संसद के प्रत्येक सदन द्वारा (1) सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से तथा (2) सदन में उपस्थित सदस्यों (जिन्होंने मत दिया हो) कम से कम दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाये। उसके बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित करने से पहले कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा प्रस्ताव पारित करके सत्यापित किया जाना आवश्यक होता है। ये प्रावधान निम्नलिखित हैं :

[1]Quoted in James W. Garne, *Political Science and Government* (World Press Ltd. Calcutta, 1935) p. 537.

[2]William B. Munro, *The Government of United States* (MacMillan Company, New York, 1947).

[3]लेखक के अपने शब्द।

(क) राष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी धारा 54, राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति सम्बन्धी धारा 55, संघीय कार्यकारी सत्ता सम्बन्धी धारा 73, राज्यों की कार्यकारी सत्ता की मर्यादा सम्बन्धी धारा 162, अथवा केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए उच्च न्यायालयों सम्बन्धी धारा 241, अथवा

(ख) सर्वोच्च न्यायालय सम्बन्धी भाग V का अध्याय IV, राज्यों के उच्च न्यायालयों सम्बन्धी भाग VI का अध्याय V, केन्द्र एवं राज्यों के बीच विधायी सत्ता के बंटवारे सम्बन्धी भाग XI का अध्याय I

(ग) सातवीं अनुसूची में निबद्ध तीनों विधायी सूचियां।

(घ) लोक सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व, अथवा

(ङ) संविधान संशोधन सम्बन्धी धारा 368 के प्रावधान।

इन प्रावधानों को सामान्यतः संघीय प्रावधान कहा जा सकता है क्योंकि इनसे केन्द्र एवं राज्य दोनों ही सम्बन्धित रहते हैं। भारत के एक भूतपूर्व सर्वोच्च न्यायाधीश के. सुब्बाराव ने उन्हें संविधान के "परिरक्षित उपलब्ध" (Entrenched Provisions) बताया है।

संविधान की उन 22 धाराओं के अतिरिक्त जिन्हें सामान्य बहुमत द्वारा संशोधित किया जा सकता है, शेष धाराओं को (क) प्रत्येक सदन के सामान्य बहुमत द्वारा, और (ख) तत्सम्बन्धी सदन के उपस्थित मतदाता सदस्यों के न्यूनतम दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किया जा सकता है। उपर्युक्त 22 धाराएँ निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित हैं: नागरिकता प्राप्त करने तथा नागरिकता का परित्याग करने एवं नागरिकता सम्बन्धी अन्य सभी मामलों पर नियम बनाने के संसद के अधिकार (धारा II), नए राज्य स्थापित करना अथवा वर्तमान राज्यों का पुनर्गठन करना (धारा 4), राज्यों में उच्च सदन स्थापित करना व समाप्त करना (धारा 169), अनुसूचित क्षेत्रों तथा जन-जातियों के प्रशासन सम्बन्धी प्रावधान (अनुसूची V, भाग घ), उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन (धारा 125,2) इत्यादि।

इन प्रावधानों में परिवर्तन करने के लिए संसद जो विधि निर्माण करती है, वे धारा 368 के दृष्टिकोण से संविधान संशोधन नहीं माने जाते।

संसद में संविधान-संशोधन विधेयक की प्रत्येक धारा अलग-अलग पारित की जाती है और प्रत्येक धारा के लिए आवश्यक बहुमत होना आवश्यक होता है। 8 मई, 1970 को एक संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य मधु लिमये ने यह आपत्ति उठाई कि परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति में संसद में किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है, अतः दो-तिहाई बहुमत का प्रश्न छोड़ दिया जाये। अन्यथा, वर्तमान कार्यविधि से ऐसे संविधान संशोधन भी पारित न किये जा सकेंगे, जिनकी तुरन्त आवश्यकता है। इसके कुछ समय बाद, सितम्बर में, जब भूतपूर्व नरेशों के प्रिवी पर्सों तथा विशेषाधिकारों (Privy Purses and Privileges) सम्बन्धी एक विधेयक राज्य सभा में, उसके प्रथम पाठ के अवसर पर ही केवल इस लिए गिर गया कि आवश्यक

दो-तिहाई बहुमत में केवल एक मत का तिहाई कम रह गया था, तो मधु लिमये का दृष्टिकोण और अधिक दृढ़ हो गया। (विधेयक के समर्थन में 149 और विरोध में 75 मत आये, जबकि इसके पारित होने के लिए 149.33 मतों की आवश्यकता थी।) मामला संसद की विषय समिति में प्रस्तुत किया गया, जिसने सुझाव दिया कि विशेष बहुमत की आवश्यकता आरम्भिक अवस्थाओं में नहीं वरन् विधेयक पारित होने की अन्तिम अवस्था में होनी चाहिए।

किन्तु विषय समिति ने अनुभव किया कि ऐसे बहुपदीय विधेयकों में, जिनमें संविधान के अनेक पहलुओं तथा विषयों सम्बन्धी विविध धाराओं में संशोधन किया जाना हो, भिन्न-भिन्न सदस्यों का प्रत्येक विषय पर भिन्न दृष्टिकोण हो सकता है। यदि विशेष बहुमत द्वारा मतदान को अन्तिम अवस्था के लिए ही उठा रखा जाये तो सदस्य भ्रान्ति में पड़ जायेंगे और उनके मत द्वारा उनका दृष्टिकोण व्यक्त नहीं हो पायेगा। अतः समिति ने सुझाव दिया कि भविष्य में संविधान-संशोधन सम्बन्धी प्रत्येक विधेयक केवल एक ही पहलू अथवा विषय से सम्बन्धित हो।[4]

एक बार यह भी प्रश्न उठाया गया कि जिस संविधान-संशोधन विधेयक पर राज्यों की स्वीकृति लेना आवश्यक हो, उसे सभी राज्यों को भेजा जाये, अथवा कुछ ही राज्यों की स्वीकृति प्राप्त कर लेना पर्याप्त होगा। तीसरे संविधान संशोधन विधेयक को आधे राज्यों द्वारा स्वीकृति भेजे जाने के तुरन्त बाद से प्रवर्तित घोषित कर दिया गया था। इस पर मैसूर राज्य विधान मण्डल ने आपत्ति की थी कि उसे विधेयक के प्रति स्वीकृति व अस्वीकृति देने के लिए विचार करने का पर्याप्त समय नहीं दिया गया।

1950 के बाद किये गये संविधान संशोधन
(Amendments of the Constitution Since 1950)

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 [The Constitution (First Amendment) Act, 1951]

संविधान प्रवर्तित किये जाने के कुछ ही मास बाद उसके क्रियान्वयन में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ पेश आईं, जिनके कारण उसकी अनेक धाराओं में संशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जून 1951 में संविधान (प्रथम संशोधन अधिनियम) पारित किया गया, जिसके द्वारा निम्नलिखित संशोधन किये गये :

(1) धारा 15 में एक नया खण्ड (4) जोड़ दिया गया।
(2) धारा 19 के खण्ड (2) और (6) की भाषा में सुधार किया गया।
(3) धाराएँ 31, 31-क और 31-ख जोड़ी गईं।
(4) मूल अधिनियम 85 के स्थान पर नया अधिनियम जोड़ा गया।

[4] *The Hindustan Times*, 10 दिसम्बर, 1970, पृष्ठ 8।

(5) धारा 87 के खण्ड (1) व (2) की भाषा में सुधार किया गया।

(6) मूल धारा 174 के स्थान पर एक नई धारा जोड़ी गई।

(7) धारा 176 के खण्ड (1) व (2) की भाषा में सुधार किया गया।

(8) धारा 341 के खण्ड (1), में सुधार किया गया। इसी प्रकार धारा 342 के खण्ड (1), धारा 372 के खण्ड (3) के उप-खण्ड (क) तथा धारा 376 के खण्ड (1) की भाषा में भी सुधार किया गया।

(9) संविधान की नवीं अनुसूची के बाद एक नई, दसवीं अनुसूची, जोड़ी गई।

यह उल्लेखनीय है कि इन धाराओं में से अधिकतर में संशोधन अनेक मामलों में न्यायालयों द्वारा दिये गए निर्णयों द्वारा कठिनाई उत्पन्न होने के फलस्वरूप करने पड़े, जैसे कि कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य, रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य, ब्रज भूषण बनाम दिल्ली राज्य, तथा मोती लाल बनाम उत्तर प्रदेश सरकार। इन मुकद्दमों में भिन्न-भिन्न मुद्दे उठाये गए, जैसेकि भाषण की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार की मर्यादा, मध्यवर्ती जनों की जमींदारी (भूमि) का ग्रहण, प्रत्येक नागरिक द्वारा कोई भी व्यवसाय, व्यापार, धन्धा, इत्यादि अपनाये जाने की मूल स्वतन्त्रता (धारा 19, छ:) का किसी राज्य द्वारा किसी व्यापार को अपने एकल अधिकार में करने से टकराव इत्यादि।

संविधान (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 1952 [The Constitution (Second Amendment) Act, 1952]

संविधान में दूसरा संशोधन, पहले संशोधन के लगभग दो वर्ष बाद, मई 1953 में हुआ। इस संशोधन द्वारा संविधान की धारा 81 के खण्ड (1) के उप-खण्ड (ख) में से "प्रति 7,50,000 जनसंख्या में से न्यूनतम एक सदस्य, और" शब्द निकाल दिये गए, अर्थात् लोक सभा का एक सदस्य अब 7,50,000 से अधिक जनता का प्रतिनिधित्व कर सकता था। इसका उद्देश्य सदन की सदस्य संख्या 500 तक सीमित रखना था।

संविधान (तीसरा संशोधन) अधिनियम, 1954 [The Constitution (Third Amendment) Act, 1954]

भारतीय गणराज्य के पाँचवें वर्ष (फरवरी, 1955) में संविधान की सातवीं अनुसूची में संशोधन द्वारा समवर्ती विधान सूची के 33वें इन्दराज के स्थान पर नया इन्दराज किया गया।

संविधान (चौथा संशोधन) अधिनियम, 1955 [The Constitution (Fourth Amendment) Act, 1955]

1954 में उच्चतम न्यायालय ने पश्चिम बंगाल राज्य बनाम बेला बनर्जी के बाद

में यह सिद्धान्त निरूपित किया कि जब किसी व्यक्ति को उसके किसी अधिकार से वंचित किया जाये तो उसे उसका "न्यायोचित मुआवजा" (a just equivalent) मिलना चाहिए। न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए कि मुआवज़े की मात्रा पर्याप्त थी अथवा नहीं। संघीय सरकार समाजवाद के पथ पर चल रही थी, अत: उसे यह निर्णय एक बाधा प्रतीत हुआ। इसके प्रतिकार के लिए अप्रैल 1955 संविधान (चौथा संशोधन) अधिनियम द्वारा धारा 31 और 31 क में संशोधन किया गया और धारा 31 के खण्ड (2) और धारा 31 क के खण्ड (1) के स्थान पर नए अनुच्छेद जोड़े गए। इसके परिणामस्वरूप "किसी सार्वजनिक उद्देश्य" के लिए किसी सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए दिये गए मुआवज़े की मात्रा के औचित्य का प्रश्न न्यायालय में नहीं उठाया जा सकता। किन्तु "किसी सार्वजनिक उद्देश्य" के अतिरिक्त किसी सम्पत्ति का अनिवार्य अधिग्रहण अथवा अधियाचन नहीं किया जा सकता तथा अधिग्रहण से पहले मुआवज़े की राशि निर्धारित करना अथवा मुआवज़ा निश्चित करने व अदा करने के सिद्धान्त एवं प्रणाली निर्दिष्ट करना आवश्यक एवं अनिवार्य कर दिया गया। इसके अतिरिक्त जब किसी विधि में किसी संपत्ति के स्वामित्व व कब्जे का अधिकार राज्य को अथवा उसके किसी निगम को हस्तांतरित करने की व्यवस्था न हो तो उसके कारण किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से वंचित होने पर भी यह नहीं समझा जा सकता कि उस विधि में सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण या अधियाचन (acquisition or requisition of property) का प्रावधान है। ऐसे मामले में मुआवज़े की अदायगी भी वैधानिक रूप से आवश्यक नहीं होगी।

प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में जो धारा 31-क जोड़ी गई थी, उसके आशय को विस्तृत कर दिया गया। मूल धारा 305 के स्थान पर एक नई धारा जोड़ दी गई। संविधान की नवीं अनुसूची में भी संशोधन करके इन्दराज 13 के बाद कुछ नए इन्दराज किये गए।

संविधान (पाँचवाँ संशोधन) अधिनियम, 1955 [The Constitution (Fifth Amendment) Act, 1955]

दिसम्बर, 1955 में संविधान (पांचवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया और धारा 3 में संशोधन किया गया। उस धारा के मूल पाठ में राज्यों के पुनर्गठन सम्बन्धी विधेयक पर राज्यों द्वारा प्रकट करने के लिए समय की सीमा निश्चित नहीं की गई थी। संघीय सरकार राज्यों के पुनर्गठन का विचार कर रही थी पर उसे यह डर था कि उससे जो राज्य प्रभावित होंगे, वे इस कार्य में बाधा डालेंगे अथवा उसे होने ही न देंगे। अत: मूल पाठ में संशोधन करके निर्धारित कर दिया गया कि राज्य विधान मण्डल ऐसे विधेयकों पर "उनको भेजे गए पत्र में निश्चित अवधि के भीतर व राष्ट्रपति द्वारा अनुमित परिवर्धित अवधि के भीतर" अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करें।

संविधान (छठा संशोधन) अधिनियम, 1956 [The Constitution (Sixth Amendment) Act, 1956]

छठा संविधान (संशोधन) अधिनियम सितम्बर 1956 में पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा संविधान की सातवीं अनुसूची में संशोधन किया गया, तथा (क) संघीय विधान सूची में इन्दराज 92 के बाद एक नया इन्दराज किया गया, और (ख) राज्य विधान सूची में इन्दराज 54 के स्थान पर एक नया इन्दराज किया गया। धारा 269 में (क) खण्ड(1) में उप-खण्ड(च) के बाद एक नया उप-खण्ड(छ) जोड़ा गया; तथा (ख) खण्ड(2) के बाद एक नया खण्ड(3) जोड़ा गया। धारा 286 में—(क) खण्ड (1) की व्याख्या काट दी गई तथा (ख) उप-खण्ड(2) व (3) के स्थान पर नए खण्ड(2) और (3) जोड़ दिये गए।

संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम, 1956 [The Constitution (Seventh Amendment) Act, 1956]

1956 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के परिणामस्वरूप, अक्तूबर, 1956 में सातवाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम पारित किया गया। यह तब तक के संशोधनों में सबसे बड़ा संशोधन विधेयक था, तथा उसे राज्य पुनर्गठन अधिनियम के क्रियान्वयन के उद्देश्य से रचा गया था। धारा 1 के खण्ड(2) तथा खण्ड(3) के उप-खण्ड(ख) के स्थान पर नए प्रावधान जोड़े गए। संविधान की पाँचवीं अनुसूची के स्थान पर नई अनुसूची जोड़ी गई। चौथी अनुसूची का पुनः विधान किया गया। धारा 81 व 82 के स्थान पर नई धाराएँ जोड़ी गईं। धारा 131, 153, 158, 168, 171, 216, 217 और 222 के संलग्न प्रावधानों के स्थान पर नए प्रावधान जोड़े गए। धारा 220, 224, 230, 231, 232, 239, 240, 298 और 371 के स्थान पर नई धाराएँ जोड़ी गईं। 258 क, 350क, 350ख, 372क और 378क इत्यादि नई धाराएँ जोड़ी गईं। दूसरी और सातवीं अनुसूची में राज्य पुनर्गठन अधिनियम के उद्देश्य से सारभूत संशोधन किये गए।

संविधान (आठवाँ संशोधन) अधिनियम, 1959 [The Constitution (Eighth Amendment) Act, 1959]

लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में ऐंग्लो-इंडियनों, अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के लिए स्थानों का आरक्षण, धारा 334 के प्रावधानों के अनुसार, संविधान आरम्भ होने के दस वर्ष बाद, अर्थात् 1960 में समाप्त होना था। किन्तु राजनीतिक क्षेत्रों में यह अनुभव किया गया कि यह आरक्षण पुनः दस वर्षों के लिए जारी रखा जाए। अतः धारा 334 में तदनुसार संशोधन करके "दस वर्ष" के स्थान पर "बीस वर्ष" कर दिया गया।

संविधान (नवाँ संशोधन) अधिनियम, 1960 [The Constitution (Ninth Amendment) Act, 1960]

10 सितम्बर, 1958 को भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार के साथ बेरुबारी यूनियन नं. 12 को दोनों देशों में विभाजित करने के एक करार पर हस्ताक्षर किये थे। यह प्रदेश पश्चिम बंगाल राज्य के भीतर स्थित था। इस करार को क्रियान्वित करने के लिए संविधान की प्रथम अनुसूची में दिसम्बर 1960 के संविधान (नवें संशोधन) अधिनियम द्वारा यथोचित संशोधन किया गया।

संविधान (दसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1961 [The Constitution (Tenth Amendment) Act, 1961]

संविधान में दसवाँ संशोधन अगस्त 1961 में, संघीय (केन्द्र शासित) प्रदेशों में दादर व नगर हवेली के नाम जोड़ने के लिए किया गया। इसके लिए संविधान की प्रथम अनुसूची एवं धारा 240 में परिवर्तन किये गए।

संविधान (ग्यारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1961 [The Constitution (Eleventh Amendment) Act, 1961]

राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन 1962 के ग्रीष्म काल में होना था। केन्द्र सरकार को यह आशंका थी कि कहीं ऐसा न हो कि सभी संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों व राज्य विधान सभाओं के चुनाव पूरे न होने तथा निर्वाचक पंजिका (Electoral College) पूर्ण रूप से तैयार न होने के आधार पर न्यायालय में वाद चला कर राष्ट्रपति पदीय निर्वाचन में बाधा डालने के प्रयत्न न किये जाएँ। ऐसे प्रयत्नों के अगाऊ प्रतिकार के लिए दिसम्बर 1961 में संविधान (ग्यारहवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया। धारा 71 में खण्ड (3) के बाद यह जोड़ दिया गया कि "किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जानी चाहिए कि उनको निर्वाचित करने वाले सदस्यों की मतदाता सूची में कोई रिक्त स्थान है, चाहे उस (रिक्तता) का कुछ भी कारण हो।"

उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी धारा 66 के खण्ड (1) का मूल प्रावधान कि "संसद के दोनों सदनों के सदस्य एक संयुक्त सभा में एकत्रित होकर" उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करेंगे, बेकार एवं अनावश्यक पाया गया क्योंकि व्यवहार में संयुक्त बैठक का कोई लाभ नहीं था। अतः धारा 66 में भी संशोधन कर दिया गया और मूल शब्दों के स्थान पर यह शर्त जोड़ दी गई कि उपराष्ट्रपति का निर्वाचन "एक निर्वाचन मण्डल के सदस्य करेंगे जिसके सदस्य संसद के दोनों सदनों के सदस्य होंगे।"

संविधान (बारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1962 [The Constitution (Twelfth Amendment) Act. 1962]

मार्च 1962 में गोआ, दमन और दीव (Goa, Daman and Dieu) के नाम केन्द्रशासित प्रदेशों की सूची में जोड़ने के लिए संविधान, बारहवाँ संशोधन अधिनियम पारित किया गया तथा इसके लिए संविधान की प्रथम अनुसूची तथा धारा 240 में भी यथावश्यक सुधार किये गए।

संविधान (तेरहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1962 [The Constitution (Thirteenth Amendment) Act, 1962]

नागा जनजातियों में बसे असम के पर्वतीय ज़िलों तथा उत्तर-पूर्व सीमा प्रदेश (नेफ़ा) के ट्यूनसांग सीमान्त प्रमण्डल को मिलाकर सितम्बर 1962 में पृथक् नागालैंड राज्य बना दिया गया, तथा उसकी स्थापना के लिए विशेष प्रावधान करने के लिए तेरहवाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा गवर्नर के विशेष अधिकारों, तथा राज्य विधान मण्डल स्थापित करने के लिए विशेष प्रावधान किये गए।[5]

संविधान (चौदहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1962 [The Constitution (Fourteenth Amendment) Act, 1962]

1962 में ही संविधान में तीसरा संशोधन हुआ था पर उसके दिसम्बर मास में संशोधनों की संख्या 14 तक जा पहुँची। चौदहवाँ संशोधन दिसम्बर 1962 में, अंशतः पांडीचेरी को केन्द्र शासित प्रदेशों में जोड़ने के लिए किया गया। इसके लिए प्रथम अनुसूची और धारा 240 में परिवर्तन किये गए। केन्द्र शासित प्रदेशों की संख्या में निरन्तर वृद्धि को ध्यान में रखकर धारा 81 के खण्ड(1) के उप-खण्ड(ख) में संशोधन करके केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधित्व के लिए 20 के स्थान पर 25 सदस्य संख्या निश्चित कर दी गई। धारा 239 के बाद धारा 239(क) जोड़ कर संसद को हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, गोआ, दमन और दीव के किसी भी केन्द्र शासित प्रदेश के लिए स्थानीय विधान मण्डल स्थापित करने की क्षमता प्रदान कर दी गई।

संविधान (पन्द्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1963 [The Constitution Fifteenth Amendment) Act, 1963]

अक्तूबर 1963 में संविधान में पन्द्रहवाँ संशोधन किया गया। धारा 124 में परि-

[5]इनके विस्तृत अध्ययन के लिए देखो, विधि एवं न्याय मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित *The Constitution of India*, Commemorative Edition,(New Delhi 1973) पृष्ठ 233-235।

वर्तन कर के खण्ड 2 के बाद "उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की आयु संसद के विधि द्वारा निर्दिष्ट अधिकारी द्वारा एवं संसद के ही द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली से निश्चित की जायेगी" जोड़ दिया गया।

इसी अधिनियम द्वारा धारा 128 में भी परिवर्तन किया गया। इस धारा के मूल पाठ में निर्दिष्ट था कि भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश "किसी भी ऐसे व्यक्ति से उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर कार्य करने का आग्रह कर सकते हैं, जो उच्चतम न्यायालय व संघीय न्यायालय (Federal Court) के न्यायाधीश रह चुके हों। "संघीय न्यायालय" के स्थान पर "या जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर आसीन रह चुके हों तथा सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखते हों," शब्द जोड़ दिये गये।

धारा 217 में संशोधन कर के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवा निवृत्ति की आयु 60 के स्थान पर 62 वर्ष कर दी गई। उच्च न्यायालय के अतिरिक्त न्यायाधीश तथा स्थानापन्न न्यायाधीश के काम करने की अधिकतम सीमा भी 62 वर्ष निश्चित कर दी गई। इस उद्देश्य के लिए धारा 224 में परिवर्तन किया गया।

धारा 217 के खण्ड (2) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ कर उसे आरम्भ से ही जोड़ा हुआ मान लिया गया—(3) यदि किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की वयस के बारे में प्रश्न उठ खड़ा हो तो उसका निर्णय राष्ट्रपति द्वारा भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश के परामर्श से किया जायेगा तथा राष्ट्रपति का निर्णय अन्तिम होगा। इसकी आवश्यकता तब पडी जब कलकत्ता उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ज्योति प्रकाश मित्तर ने यह प्रश्न उठाया कि उनके हाई स्कूल प्रमाणपत्र में जो वयस दिखाई गई है, जिसे सरकार ने उनकी वयस के प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है, अतः उन्हें अभी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर से सेवानिवृत्त नहीं किया जा सकता।

धारा 224 के आगे धारा 224क जोड़ दी गई। इस के परिणामस्वरूप किसी राज्य के उच्च न्यायालय के उच्चतम न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति ले कर किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जो पहले उस न्यायालय व किसी अन्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुका हो, "उस राज्य के उच्च न्यायालय में आसन ग्रहण करके न्यायाधीश के पद पर कार्य करने का आग्रह कर सकते हैं," तथा इस प्रकार जिस व्यक्ति को नियुक्त कर दिया जायेगा उसे वे भत्ते दिये जायेंगे जो राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा निर्णीत करेंगे तथा उस व्यक्ति को उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के सभी क्षेत्राधिकार, क्षमता एवं विशेषाधिकार (Jurisdiction, Powers and Privileges) प्राप्त होंगे।

संविधान की धारा 226 (1) में निर्दिष्ट किया गया था कि प्रत्येक उच्च न्यायालय को किसी भी व्यक्ति व प्राधिकारी को (जिसमें यथासमय कोई सरकार भी हो सकती है) संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त किसी भी मौलिक अधिकार को प्रवर्तित

कराने के अथवा किसी अन्य उद्देश्य के लिए, निदेश, आदेश व किसी प्रकार की याचिका जारी करने का अधिकार होता है। किन्तु यह क्षमता उस उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के भीतर अर्थात् उस राज्य की सीमा के भीतर ही प्रवर्तित हो सकती थी। इस प्रावधान के अनुसरण में उच्चतम न्यायालय के **चुनाव आयोग बनाम वेंकटराव** तथा खजूर सिंह बनाम भारत सरकार तथा कतिपय अन्य मामलों में यह नियम निर्धारित किया कि किसी राज्य के उच्च न्यायालय द्वारा याचिका (Writ) जारी करने से पूर्व प्रतिवादी का उस राज्य की सीमा के भीतर स्वयं उपस्थित होना आवश्यक है। इससे अनेक बार पेचीदगियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। इन पेचीदगियों को दूर करने के लिए धारा 226 में परिवर्तन किया गया तथा खण्ड (1) के बाद यह जोड़ दिया गया कि उच्च न्यायालय उस धारा के खण्ड (1) द्वारा प्रदत्त क्षमता का उपयोग तब भी कर सकता है, जब वह सरकार, प्राधिकारी वा सम्बन्धित व्यक्ति उस राज्य की सीमा के भीतर का न हो।

पंद्रहवें संविधान संशोधन द्वारा धारा 297, 311 और 316 में भी संशोधन किया गया। ये संशोधन बहुत कम महत्त्व के थे। संविधान की सातवीं अनुसूचि में भी थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया।

संविधान (सोलहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1963 [The Constitution (Sixteenth Amendment) Act, 1963]

संविधान में अगला संशोधन अक्तूबर 1963 में किया गया, और यह—सोलहवां संशोधन—अत्यधिक महत्त्व का था। इसके द्वारा धारा 19,84 एवं 173 में परिवर्तन किये गए। धारा 19 के खण्ड (1) के उप-खण्ड (क) में भारत के नागरिकों को भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दी गई थी, किन्तु उसी के खण्ड (2) में यह भी निर्दिष्ट था कि सरकार राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्री सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शालीनता (decency) और नैतिकता (morality) अथवा न्यायालय की मान हानि (contempt of court) बदनामी (defamation) व अपराध के लिए उत्तेजित करने इत्यादि के सम्बन्ध में रोकथाम के लिए इस अधिकार पर "तर्क संगत प्रतिबन्ध" लगाने के लिए विधि बना सकती है। धारा 19 के खण्ड (3) में भी, जिसमें हथियारों के बिना शान्ति पूर्वक एकत्रित होने का अधिकार दिया गया है, उपर्युक्त प्रतिबन्ध जोड़ दिये गये। इसी प्रकार, धारा 19 के ही खण्ड (4) में जिसमें संगठन एवं श्रमिक संघ इत्यादि बनाने सम्बन्धी प्रावधान हैं, उसमें भी ऐसे ही प्रतिबन्ध की व्यवस्था कर दी गई।

धारा 84 व धारा 173 में क्रमशः संसद-सदस्यों व राज्य विधान मंडलों के सदस्यों द्वारा ग्रहण की जाने वाली शपथों में परिवर्तन किये गए। संविधान की तीसरी अनुसूची में परिवर्तन करके संघीय एवं राज्यों के मन्त्रियों, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों और भारत के महालेखा नियन्त्रक व परीक्षक (Comptroller and

Auditor General) द्वारा ली जाने वाली शपथों में भी परिवर्तन किया गया।

संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1964 [The Constitution (Seventeenth Amendment) Act, 1964]

धारा 31क, जोकि प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ी गई थी व चौथे संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित की गई थी, उसमें जून 1964 में संविधान (सत्रहवें संशोधन) अधिनियम द्वारा पुनः परिवर्तन किये गए। इसकी आवश्यकता तव पड़ी जव **करीमबिल कुणिकोणम् वनाम केरल राज्य** के वाद में केरल कृषि सम्वन्ध अधिनियम को तथा ए. पी. **कृष्णस्वामी नायडू बनाम मद्रास राज्य** के वाद में मद्रास भूमि सुधार कानून (भूमि के स्वामित्व की सीमा-निर्धारण अधिनियम) को उच्चतम न्यायालय द्वारा असंवैधानिक करार दे दिया गया। धारा 31क के संलग्न प्रावधान के बाद एक नया प्रावधान जोड़ दिया गया। इसके परिणामस्वरूप, जव राज्य द्वारा किसी भी विधि के प्रवर्तन में किसी भी भू-सम्पत्ति में स्थित, किसी व्यक्ति के निजी कृषि कार्य में प्रयुक्त भूमि (जबकि वह भूमि उस समय प्रवर्तित विधि अनुसार अधिकतम सीमा के भीतर हो) व उस भूमि पर खड़ी किसी इमारत व कोठरी को अधिग्रहीत करना चाहे, तो ऐसा अधिग्रहण उसका मुआवजा चुकाये विना "जिस की दर उसके बाज़ार मूल्य से कम नहीं होगी," नहीं किया जा सकता।

संविधान (सत्रहवें संशोवन) अधिनियम द्वारा संविधान की नवीं अनुसूची में भी संशोधन किये गए तथा इन्दराज 20 के बाद अनेक नए इन्दराज जोड़े गए।

संविधान (अठारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 [The Constitution (Eighteenth Amendment) Act, 1966]

अगस्त 1966 में संविधान में अठारहवाँ संशोधन किया गया और धारा 3 में दो व्याख्यात्मक अनुच्छेद जोड़े गए। प्रथम अनुच्छेद द्वारा खण्ड (क) से (ङ) सहित उस धारा के प्रावधान केन्द्रशासित प्रदेश के लिए प्रवर्तनीय वना दिये गए। द्वितीय अनुच्छेद द्वारा खण्ड (क) द्वारा उसे प्रदत्त संसदीय क्षमता में किसी राज्य व केन्द्र-शासित प्रदेश एवं उसके भाग को किसी अन्य राज्य व केन्द्रशासित प्रदेश या उसके भाग के साथ जोड़ कर नया राज्य स्थापित करने की क्षमता सम्मिलित थी।

संविधान (उन्नीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 [The Consiitution (Nineteenth Amendment) Act, 1966]

संविधान (उन्नीसवाँ संशोधन) अधिनियम द्वारा, संसद एवं राज्य विधान मण्डलों के चुनावों से या उनके सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं एवं विवादों के निर्णय के लिए नियुक्त किये जाने वाले निर्वाचन अधिकरणों की नियुक्ति को चुनाव आयोग के

"अधीक्षण, नियन्त्रण एवं निदेशन" (Superintendence, direction and control) से अलग कर दिया । इसके लिए धारा 324 में परिवर्तन किया गया ।

संविधान (बीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 [The Constitution (Twentieth Amendment) Act, 1966]

1966 में ही संविधान में तीसरी बार संशोधन किया गया, जोकि बीसवाँ संविधान संशोधन था । इसके द्वारा धारा 233 के पश्चात धारा 233क जोड़ दी गई । इसका उद्देश्य कतिपय ऐसे ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदोन्नति व स्थानान्तरण तथा उनके द्वारा किये गए न्यायों, डिक्रियों (decrees) दण्ड तथा आदेशों को वैध घोषित करना था, जिनकी नियुक्ति धारा 233 के प्रावधानों के अनुसार नहीं हुई थी । इन ज़िला जजों और उनके निर्णयों को इस संशोधन की तिथि से ही नहीं वरन सदैव के लिए वैध घोषित कर दिया गया ।

संविधान (इक्कीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1967 [The Constitution (Twenty-first Amendment) Act, 1967]

अप्रैल 1967 में संविधान (इक्कीसवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया, जिसके द्वारा संविधान की आठवीं अनुसूची में परिवर्तन किया गया । इसमें सिंधी भाषा को भारत की बारहवीं भाषा के रूप में सम्मिलित कर लिया गया तथा तत्सम्बन्धी सूची की क्रम संख्या पुनः निरूपित की गई ।

संविधान (बाईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1969 [The Constitution (Twenty-second Amendment) Act, 1969]

गारो, खाँसी और जैन्तिया के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले गैर असमी जनता अपने लिए अलग राज्य की माँग कर रही थी । सरकार ने उसे स्वीकार कर लेने का निश्चय किया, जिसके लिए संविधान में संशोधन करना आवश्यक था । इसके लिए सितम्बर 1969 में बाईसवाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया । संविधान के भाग X में धारा 244 के बाद धारा 244क जोड़ दी गई, और संसद को असम राज्य के भीतर, सभी जनजातीय क्षेत्रों का एक स्वशासी राज्य स्थापित करने तथा विधान मण्डल एवं मन्त्रि परिषद स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया । नए राज्य के उचित परिचालन के लिए धारा 275 में संशोधन किया गया तथा धारा 371क के बाद धारा 371ख जोड़ दी गई ।

संविधान (तेईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1969 [The Constitution (Twenty-third Amendment) Act, 1969]

दिसम्बर 1969 में संविधान (तेईसवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया।

इसे अनुसूचित जातियों व जन-जातियों और ऐंग्लो-इण्डियनों के लिए लोक सभा और राज्यों की विधान सभाओं में आरक्षण दस वर्ष की अतिरिक्त अवधि के लिए अर्थात् जनवरी 1980 तक बढ़ाने के लिए पारित किया गया। इसमें धारा 334 का संशोधन भी सम्मिलित था जिसमें "बीस वर्ष" के स्थान पर "तीस वर्ष" जोड़ा गया।

चौथा आम चुनाव और संविधान संशोधन
(Fourth General Election and Constitutional Amendment)

सन् 1950 से 1967 तक संविधान में 21 बार परिवर्तन किये गए पर इसमें कोई कठिनाई नहीं आई। इसका मुख्य कारण यह था कि केन्द्र एवं अधिकतर राज्यों में कांग्रेस दल का अच्छा-खासा बहुमत था। किन्तु लोकसभा में बहुमत अब कम हो चला था और चौथे आम चुनावों के बाद सात राज्यों में संयुक्त मोर्चा सरकारें बन गई थीं। उसके बाद, केन्द्र में सत्तारूढ़ होते हुए भी, कांग्रेस दल आवश्यक दो-तिहाई बहुमत चाहे जब प्राप्त नहीं कर सकता था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे मुद्दों के अतिरिक्त जिनमें राष्ट्रव्यापी मतैक्य विद्यमान हो, सरकार संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकती। असम में से एक स्वशासी पर्वतीय राज्य बनाना इसलिए पारित हो सका कि विपक्षी दलों ने सरकार के पक्ष में मत दिया। वे सब ऐसा राज्य बनाने के प्रति सहमत थे। इसी प्रकार, संविधान (तेईसवाँ संशोधन अधिनियम) इसलिए पारित हो गया कि राजनीतिक दृष्टिकोण से यदि कोई भी राजनीतिक दल अनेक पिछड़े वर्गों के विरुद्ध रवैया अपनाता तो वह स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के समान होता। यह केवल इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि विपक्षी दलों ने विधेयक का समर्थन किया तदपि उन्होंने सरकार को इस बात के लिए फटकारा कि उसने अब तक अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के लिए कुछ भी नहीं किया है। जनसंघ ने तो यह सुझाव भी दिया कि स्थानों एवं नौकरियों में आरक्षण देश की जनसंख्या में केवल पिछड़े व्यक्तियों के अनुपात में होना चाहिए।

यह तथ्य कि सरकार सामान्य मतैक्य के बिना संसद में संविधान संशोधन पारित नहीं करा सकती। श्री मधु लिमये के उस विधेयक के पारित न होने से स्पष्ट हो जाता है जिसमें इण्डियन सिविल सर्विस (ICS) अफसरों के विशेषाधिकार समाप्त कराने का उन्होंने प्रयत्न किया था। इस विधेयक में संविधान की धारा 314 को समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया था। पर जब उस पर 28 अप्रैल 1970 को मत लिए गए तो वह आवश्यक बहुमत के अभाव में असफल हो गया। उस समय सदन में शासक कांग्रेस के कुल 220 सदस्यों में से 136 उपस्थित थे और सभी ने विधेयक के पक्ष

में मत दिया।[6] गृह मन्त्री चव्हाण ने विधेयक को पूर्ण समर्थन प्रदान करने का वचन दिया था। कतिपय विपक्षी दलों ने इसे सरकार की नैतिक पराजय बताया और सरकार से त्यागपत्र की माँग की।

श्रीमती गांधी की सरकार ने अपनी स्थिति की दयनीयता को भली भाँति समझा, और चाहते हुए भी, संविधान में अधिक महत्त्वपूर्ण संशोधन करने के क्रान्तिकारी उपाय नहीं किये। 10 फरवरी, 1970 को उच्चतम न्यायालय ने बैंकिंग कम्पनीज़ (संस्थानों के अधिग्रहण एवं हस्तान्तरण) (Banking Companies—Acquisition and Transfer of Undertakings) अधिनियम 1969 को अवैध एवं असंवैधानिक घोषित कर दिया। उसी वर्ष 15 दिसम्बर को प्रिवी पर्स के वाद में सरकार के विरुद्ध निर्णय दिया गया।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी को अपने नव क्रान्तिवादी (radical) कार्यक्रमों तथा समाजवादी नीतियों के प्रवर्तन में घोर कठिनाई अनुभव होने लगी। प्रिवी पर्स के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय आने के शीघ्र बाद उन्होंने राष्ट्रपति वाराह गिरि वेंकट गिरि को लोक सभा भंग करके नए चुनाव कराने का परामर्श दिया। 24 जनवरी, 1971 को कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में वक्तव्य दिया कि वह संविधान में वे सब सुधार करेगी जो उसे अपने घोषणा-पत्र में परिभाषित नीतियों एवं कार्यक्रमों के प्रवर्तन में आवश्यक प्रतीत होंगे। लोक सभा की कुल सदस्य संख्या 518 में से 352 स्थान प्राप्त कर लेने के बाद उसने संविधान संशोधन की दिशा में तीव्रगति

[6]इस विधेयक के पक्ष में 213 और प्रतिपक्ष में 21 मत आये तथा एक मत नहीं डाला गया। संविधान संशोधन विधेयक होने के कारण उसे सदन की कुल सदस्यता की कम से कम आधी संख्या के समर्थन, अर्थात 262 मतों की आवश्यकता थी। कांग्रेसी सदस्यों को इस "निर्णायक" मतदान में भाग लेने के लिए कड़ा आदेश दिया गया था पर फिर भी 84 सदस्य अनुपस्थित रहे।

मतदान का विस्तृत ब्यौरा इस प्रकार था :

	हाँ	नहीं	दलीय सदस्य संख्या
कांग्रेस	136	—	220
कांग्रेस (विपक्षी)	14	—	64
स्वतन्त्र दल	—	20	37
जन संघ	—	—	33
द्रविड़ मुनेत्र कड़गम	14	—	25
कम्युनिस्ट (मा०)	10	—	19
कम्युनिस्ट	13	—	24
संयुक्त सोशलिस्ट	17	—	17
प्रजा सोशलिस्ट	10	—	16
यू० आई० पी० जी०	5	1	25
भारतीय क्रान्ति दल	2	—	9
स्वतन्त्र सदस्य	1	1	25

से अग्रसर होना शुरू किया ताकि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रस्तुत बाधाओं से पीछा छुड़ाया जा सके।

संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 [The Constitution (Twenty-fourth Amendment Act) 1971]

केन्द्रीय विधि मन्त्री एच. आर. गोखले ने 28 जुलाई, 1971 को लोकसभा में संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) विधेयक, 1971 प्रस्तुत किया। इस विधेयक में संसद को मौलिक अधिकारों में परिवर्तन करने का अधिकार देने के निमित्त निम्नलिखित प्रावधान प्रस्तावित किये गए :

(1) संविधान की धारा 13 में खण्ड (3) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड (4) जोड़ दिया जाये : "इस धारा का कोई प्रावधान संविधान की धारा 368 के अन्तर्गत किये गए संविधान संशोधन के प्रति लागू नहीं होगा।"

(2) धारा 368 का मूल शीर्षक था 'संविधान संशोधन की कार्यविधि'। इसके स्थान पर "संविधान संशोधन एवं इसकी कार्यविधि में परिवर्तन करने की संसद की क्षमता" शब्द जोड़ दिये जायें।

(3) धारा 368 में खण्ड (2) जोड़ दिया जाये, जोकि इस प्रकार था—

"इस संविधान के अन्य प्रावधानों के बावजूद संसद अपनी विधायक क्षमता द्वारा संविधान के किसी भी प्रावधान को, इस धारा में निर्दिष्ट कार्यविधि के अनुसार, विस्तृत परिवर्तित अथवा निरस्त कर सकती है।"

(4) मूलतः धारा 368 में यह प्रावधान था कि संशोधन विधेयक संसद द्वारा पारित किये जाने के बाद "उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित किया जायेगा, और विधेयक को यह स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद, संविधान को तदनुसार संशोधित माना जायेगा।" प्रस्तावित विधेयक द्वारा इन (कोष्ठबद्ध) शब्दों के स्थान पर ये शब्द लगाये जाने थे "उसे राष्ट्रपति को प्रेषित किया जायेगा जो उसे अपनी स्वीकृति प्रदान करेंगे, और उसके बाद..."

(5) धारा 13 के प्रावधान धारा 368 के अन्तर्गत प्रस्तावित प्रावधानों पर प्रवर्तित नहीं होंगे।

उपर्युक्त विधेयक प्रस्तुत करते समय गोखले ने कहा कि यदि राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) को केवल 'शृंगाररूपी शब्द' नहीं माना जाना है तो ऐसे उपाय किये जाने चाहिए जिनसे मूल अधिकारों—स्थिर तत्त्व और सिद्धान्तों तथा सक्रिय तत्त्व में संघर्ष होने पर—निर्णय सिद्धान्तों के समर्थन में हो; अन्ततः सिद्धान्त ही स्थायी रूप से प्रचलित रहते हैं। उन्होंने वचन दिया कि सरकार अनिवार्य कारणों के बिना अपने अधिकारों का मिथ्या उपयोग नहीं करेगी और जनता को मूल अधिकारों से वंचित नहीं करेगी। इसी प्रकार, प्रधान मन्त्री ने भी घोषित किया कि सरकार जनता के मूल अधिकारों की यथासम्भव

रक्षा करने के लिए "कृतसंकल्प" है "क्योंकि वे निरपेक्ष हैं।"

4 अगस्त, 1971 को उपर्युक्त विधेयक को लोक सभा द्वारा भारी बहुमत से पारित कर दिया गया। उपस्थित 412 सदस्यों में से 384 सदस्यों ने उसके पक्ष में मत दिया। 10 अगस्त को यह विधेयक राज्य सभा द्वारा संगठन कांग्रेस, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, साम्यवादी दल, साम्यवादी (मार्क्सिस्ट), कतिपय छोटे दलों तथा अधिकतर स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन से पास कर दिया गया। तब उसे धारा 368 के प्रावधान के आधीन कम से कम आधे राज्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिए राज्यों को भेजा गया। इस प्रकार आधे, अर्थात् 10 राज्यों द्वारा स्वीकृत किया जाने के पश्चात् विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित किया गया। राष्ट्रपति की स्वीकृति 5 नवम्बर, 1971 को प्राप्त हुई और विधेयक उसी दिन से अधिनियम के रूप में प्रवर्तित हो गया।

संविधान (पच्चीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 [The Constitution (Twenty-fifth Amendment) Act, 1971]

संसद द्वारा मूल अधिकारों में परिवर्तन कर सकने की क्षमता की प्रचुर व्यवस्था कर लेने के बाद श्रीमती गांधी उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रस्तुत बाधाओं को हटाने की दिशा में अग्रसर हुईं। प्रिवी पर्सों के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि प्रिवी पर्सों का अधिकार भूतपूर्व नरेशों का मौलिक अधिकार है, अतः उसे राष्ट्रपति के 'अचानक आदेश' (Midnight order) द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। **बैंक राष्ट्रीयकरण** वाद में न्यायालय ने फैसला दिया था कि बैंकिंग कम्पनीज़ (संस्थानों का अधिग्रहण एवं हस्तांतरण) अधिनियम 1969 से "विधि में समान अधिकार" (Equality before Law) सम्बन्धी धारा 14, "सम्पति के अधिग्रहण, कब्जे में रखने, तथा निर्वर्तन सम्बन्धी धारा 19(1) (च), तथा "सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण" सम्बन्धी धारा 31(2) का उल्लंघन होता है। न्यायालय ने निर्णय दिया कि सरकार जिस सम्पत्ति का अधिग्रहण करे, उसका मुआवज़ा बाज़ार भाव के आधार पर निश्चित किया जाये।

कांग्रेस संसदीय दल के हलकों में अनेक महानुभावों ने आग्रह किया कि धारा 31 (2) को संविधान से पूर्णतः निकाल दिया जाना चाहिए। किन्तु श्रीमती गांधी का विचार था कि उससे पहले सम्पत्ति के अधिकार को काट दिया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि संविधान के रचयिताओं ने "सम्पत्ति सम्बन्धी किसी अनियन्त्रित अधिकार का तात्पर्य नहीं रखा था," और उनका अभिप्राय सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को "सामाजिक-आर्थिक उन्नति के मार्ग में बाधा डालने देना" नहीं था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रधानमन्त्री ने लोक सभा में संविधान (पच्चीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि आम जनता के दम पर बाज़ार भाव देना "मेरी मेरे दल की, तथा राष्ट्रीय विचार-नीति के विपरीत है।"

केन्द्रीय विधि मन्त्री गोखले ने कहा कि राज्य-नीति के मार्गदर्शक सिद्धान्त संविधान सभा में, संविधान के प्रारूप पर विचार किये जाने से भी पहले से, संविधान के मूल आधार रहे हैं; और यदि उपर्युक्त दोनों मामलों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णयों को निरस्त नहीं किया गया तो वे सिद्धान्त पूर्णत: निरर्थक हो जायेंगे। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री सिद्धार्थ शंकर रे ने कहा कि विधेयक "सांवैधानिक रूप से उचित आर्थिक दृष्टिकोण से अनिवार्य, राजनीतिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक उचित, नैतिक दृष्टिकोण से न्यायसंगत है।"[7]

संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने तथा संविधान में और सुधार करने का मार्ग प्रशस्त हो जाने के बाद संसद उपर्युक्त विधेयक पारित कराने की ओर अग्रसर हुई। विपक्षी दलों ने विधेयक में संशोधन करने के जितने भी प्रस्ताव किए, संसद में उन सब को सरकार व उसके समर्थकों ने ठुकरा दिया। सरकार ने विधि आयोग (Law Commission) का यह सुझाव भी ठुकरा दिया कि न्यायालयों को यह निश्चित करने की अनुमति दी जाये कि धारा 39(ख) और (ग) में निर्दिष्ट निदेशी सिद्धान्तों (directive principles) को प्रवर्तित करने के लिए संसद अथवा राज्य विधान सभा द्वारा पारित किसी विधेयक से वास्तव में ऐसा होता भी है अथवा नहीं।

इस विधेयक को लोक सभा में 1 दिसम्बर, 1971 को मतदान के समय उपस्थित 376 सदस्यों में से 353 के भारी बहुमत द्वारा पारित कर दिया गया। राज्य सभा में उसे 8 दिसम्बर को पारित किया गया। राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने के पश्चात् विधेयक ने अप्रैल, 1972 के तीसरे सप्ताह में अधिनियम का रूप ले लिया।

इस अधिनियम से संविधान में निम्नलिखित परिवर्तन किये गए :

(1) धारा 31 में खण्ड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया गया :

"सार्वजनिक उद्देश्य के अतिरिक्त, तथा किसी ऐसी विधि द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के अतिरिक्त, जिसमें उसी विधि द्वारा अथवा उसी विधि द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित मूल्य उसी विधि में निर्दिष्ट रीति से अदा करके सम्पत्ति के अधिग्रहण (acquisition) या अधियाचन (requisition) की व्यवस्था हो, किसी संपत्ति का अनिवार्यत: अधिग्रहण या अधियाचन नहीं किया जायेगा, तथा ऐसी किसी विधि को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जाएगी कि उपर्युक्त निश्चित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा उपर्युक्त पूरी रकम व उसका भाग नकद नहीं दिया जाना है।"

"जब धारा 30 (1) में उल्लिखित किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित एवं प्रशासित किसी शिक्षा संस्थान की सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण सम्बन्धी विधि बनायी जाये, तो राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि उस सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिए

[7] *The Hindustan Times*, 2 दिसम्बर, 1971, पृष्ठ 6।

उपर्युक्त विधि द्वारा व उसके अनुसार निश्चित की गई राशि इतनी हो कि उससे इस खण्ड में प्रतिभूत अधिकार की अवहेलना न होती हो।"

(२) बैंक राष्ट्रीयकरण के बाद (1970) में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि जो विधि किसी सार्वजनिक उद्देश्य के लिए सम्पत्ति का अधिग्रहण व अधियाचन करे वह धारा 19(1)(च) की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, जिसमें नागरिकों के "सम्पत्ति के अधिग्रहण, कब्जे में रखने तथा निर्वर्तन" के अधिकारों की व्यवस्था हो। नये संशोधन द्वारा व्यवस्था की गई कि "सार्वजनिक उद्देश्य के लिए" सम्पत्ति के अधिग्रहण व अधियाचन से सम्बद्ध किसी विधि के प्रति धारा 19(1)(च) प्रवर्तित नहीं होनी चाहिए।

(3) संविधान में धारा31 ख के बाद निम्नलिखित धारा जोड़ दी गई :

"31 ग धारा 13 के प्रावधानों के बावजूद, धारा39 के खण्ड (ख) व खण्ड (ग) में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के प्रति राज्य की नीति को क्रियान्वित करने सम्बन्धी कोई कानून इस आधार पर प्रभाव शून्य नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, 19 व 31 से मेल नहीं खाता तथा उनमें प्रदत्त किसी अधिकार को छीनता और क्षीण करता है, तथा ऐसी कोई भी विधि जिसमें यह घोषणा विद्यमान हो कि वह ऐसी नीति को क्रियान्वित करने के लिए है, किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति का विषय नहीं बनाया जायेगा कि उससे ऐसी नीति क्रियान्वित नहीं होती।

"ऐसी विधि किसी राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनायी जाने की स्थिति में इस धारा के प्रावधान उस पर तब तक प्रवर्तनीय नहीं होंगे, जब तक उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित किया जाने के बाद उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाये।"

संविधान (छब्बीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 [The Constitution (Twenty-sixth Amendment) Act, 1971]

लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के बाद लोकसभा में जो संविधान संशोधन विधेयक पारित कराये गए, उनमें छब्बीसवें संविधान (संशोधन) विधेयक का नम्बर तीसरा था। इसे 9 अगस्त को स्वयं प्रधान मन्त्री ने प्रस्तुत किया। इसे भूतपूर्व भारतीय रजवाड़ों के नरेशों के प्रिवी पर्स तथा अन्य विशेषाधिकार समाप्त करने तथा उनकी राष्ट्रपति द्वारा मान्यता वापस लेने के तात्पर्य से रचा गया था।

विधेयक के साथ संलग्न, विधेयक के उद्देश्यों एवं कारणों के विवरण में बताया गया था कि :

"प्रिवी पर्सों और व्यक्तिगत विशेषाधिकारों सहित नरेश, राजा, महाराजा इत्यादि शासक शब्दों की धारणा—जिसका वर्तमान कार्यभाग तथा सामाजिक उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं—आधुनिक समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था से मेल नहीं खाती। अतः सरकार ने भूतपूर्व भारतीय रजवाड़ों के नरेशों के प्रिवी पर्स एवं अन्य

विशेषाधिकार समाप्त करने का निश्चय किया है। अत यह विधेयक प्रस्तुत: किया जा रहा है।"

विधेयक में निम्नलिखित प्रावधान प्रस्तावित किये गए थे—

(1) 'शासकों के प्रिवी पर्स' की राशि सम्बन्धी धारा 291 तथा 'भारतीय रजवाड़ों के शासकों के व्यक्तिगत एवं विशेषाधिकार' सम्बन्धी धारा 362 को छोड़ दिया जाये।[8]

(2) संविधान की धारा 363 के बाद धारा 363 क जोड़ दी गई, जो इस प्रकार थी—

'इस संविधान के अन्य प्रावधानों तथा तत्काल प्रचलित किसी कानून के बावजूद—

(क) प्रत्येक नरेश, सरदार अथवा अन्य व्यक्ति जिन्हें इस संविधान (छब्बीसवाँ संशोधन) अधिनियम 1971 के प्रवर्तित होने से पूर्व राष्ट्रपति द्वारा भारतीय राज्य के शासक के रूप में मान्यता दी जाती थी, अथवा ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जिसे इससे पहले उपर्युक्त शासक को उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता दी जाती थी, इसके प्रवर्तन के तुरन्त बाद से उसे शासक व उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता देना समाप्त हो जायेगा।

(ख) इस संविधान (छब्बीसवाँ संशोधन) अधिनियम 1971 के प्रवर्तित होने के तुरन्त बाद से प्रिवी पर्स समाप्त किया जाता है तथा प्रिवी पर्स से सम्बन्धित सभी अधिकार, दायित्व एवं ज़िम्मेदारियाँ समाप्त की जाती हैं। अत: खण्ड (क) में वर्णित शासक व उसके उत्तराधिकारी, जो भी हो, अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति को, प्रिवी पर्स नहीं दिया जायेगा।

(3) संविधान की धारा 366 में खण्ड(22) के स्थान पर निम्नलिखित जोड़ दिया गया—

(22) "शासक" का अर्थ है नरेश, सरदार व अन्य व्यक्ति जिसे संविधान (छब्बीसवाँ संशोधन) अधिनियम 1971 प्रवर्तित होने से पूर्व किसी राज्य के शासक

[8]धारा 291 इस प्रकार थी—

'यदि इस संविधान के प्रवर्तित किए जाने से पहले किसी भारतीय राज्य के शासक द्वारा किये गए किसी भी प्रसंविदा व करार द्वारा भारतीय उपनिवेश की सरकार ने ऐसे किसी राज्य के शासक को कोई कर मुक्त धन की अदायगी की गारंटी दी हो तो—

(क) वह धन भारतीय संचित निधि (Consolidated Fund of India) पर प्रभारित होगा तथा उसी में से अदा किया जाएगा; और (ख) शासक को इस प्रकार दी गई राशि सब प्रकार के आय कर से मुक्त होगी।'

धारा 362 इस प्रकार थी—

केन्द्र अथवा किसी राज्य की कार्यकारी क्षमता के उपयोग में अथवा संसद व किसी राज्य विधान मण्डल की विधायक क्षमता के उपयोग में धारा 291 में वर्णित भारतीय राज्यों के शासकों को प्रसंविदाओं एवं करारों द्वारा दी गई अधिकारों, सुविधाओं तथा मर्यादाओं सम्बन्धी गारन्टियों व आश्वासनों का उचित ध्यान रखा जायेगा।

के रूप में मान्यता दी जाती थी अथवा ऐसा कोई व्यक्ति जिसे राष्ट्रपति द्वारा इस अधिनियम के प्रवर्तित होने से पहले, किसी शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता दी जाती थी।

इस विधेयक को लोकसभा ने 2 दिसम्बर, 1971 को उपस्थित मतदाता सदस्यों के 393 पक्ष में तथा 6 प्रतिपक्षी मतों द्वारा पारित किया। इसका विरोध केवल स्वतन्त्रदलीय तथा नरेश मण्डल के प्रतिनिधियों ने किया। इसे एक सप्ताह वाद राज्य सभा ने 167-7 मतों से अधिनियम का रूप दिया। राष्ट्रपति ने इसे 31 दिसम्बर, 1971 को स्वीकृति प्रदान की।

मार्च 1971 में मध्यावधि चुनाव करा चुकने के वाद इन्दिरा गांधी की सरकार ने 24वें, 25वें, तथा 26वें संविधान (संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किये तथा उन्हें संसद में शीघ्र पारित करा लिया। इससे उनका उद्देश्य **गोलकनाथ** वाले वाद में न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना था। विपक्षी दलों, मुख्यत: जनसंघ और स्वतन्त्र, कतिपय प्रख्यात न्यायशास्त्रियों के. सुब्बाराव, एम. सी. सीतलवाड और एन. ए. पालकीवाला तथा कतिपय लोकप्रिय नेताओं जयप्रकाश नारायण इत्यादि ने इसके लिए सरकार की आलोचना की। उनकी आलोचना के मुख्य मुद्दे यह थे कि सरकार देश को तानाशाही की ओर ले जा रही है, कि सरकार विधान के अनुसार शासन का विनाश कर रही है, कि वह देश की संघीय रचना के विरुद्ध कार्य करके राज्यों की क्षमता में कटौती कर रही है, तथा संसद, एकदलीय स्पष्ट वहुमत की आड़ में जो क्षमता ग्रहण कर रही है, वह उसे देने का संविधान के रचयिताओं का आशय नहीं था।

प्रधान मन्त्री, विधि मन्त्री तथा उनके कतिपय अन्य साथियों ने कहा कि इन अधिनियमों की आलोचना करना उचित नहीं है; आलोचकों की आशंकाएँ निराधार हैं; तथा देश के आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाने के लिए उक्त उपाय करने आवश्यक थे।

संविधान (सत्ताईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 [The Constitution (Twenty-seventh Amendment) Act, 1971]

दिसम्बर 1969 में संसद द्वारा असम पुनर्गठन अधिनियम पारित किया गया और असम में से काट कर एक अलग 'मेघालय' नामक पहाड़ी राज्य स्थापित कर दिया गया। 2 अप्रैल, 1970 को प्रधान मन्त्री ने उसका उद्घाटन किया। जनवरी 1972 में दो केन्द्रशासित प्रदेशों, त्रिपुरा और मणिपुर को पूर्ण राज्यों का दर्जा दे दिया गया। दो अन्य केन्द्रशासित प्रदेश मिज़ोरम और अरुणाचल प्रदेश स्थापित किये गए। ये सभी परिवर्तन, संविधान की धारा 3 के अनुसार, राज्यों के पुनर्गठन के सिलसिले में थे और इसके लिए संविधान में आवश्यक परिवर्तन करना अनिवार्य था। अतः 15 दिसम्बर, 1971 को लोक सभा द्वारा छब्बीसवाँ संविधान (संशोधन) अधि-

नियम 350 के मुकाबले 1 मत से पारित कर दिया गया। राज्य सभा ने उसे 21 दिसम्बर को पारित किया।

इस अधिनियम का पहला प्रावधान यह था कि मिज़ोरम और अरुणाचल प्रदेश को केन्द्रशासित प्रदेशों की सूची में जोड़ दिया गया, और अब ऐसे प्रदेशों की संख्या 9 हो गई।[9] चौदहवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में धारा 239क जोड़ी गई थी। इसके द्वारा संसद को हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, गोआ, दमन और दीव के किसी भी केन्द्रशासित प्रदेश के लिए :[10]

(क) केन्द्रशासित प्रदेश के विधान मण्डल के रूप में कार्य करने के लिए एक निर्वाचित व आंशिक रूप से निर्वाचित तथा आंशिक रूप से निर्वाचित निकाय,

(ख) एक मन्त्रिपरिषद, व दोनों, प्रत्येक दशा में विधि में निर्दिष्ट आवश्यक संविधान, क्षमताओं (powers) और कार्यांगों (functions) सहित स्थापित करने की क्षमता प्रदान की गई थी।

धारा 239क के बाद निम्नलिखित धारा 236ख जोड़ दी गई—

(1) धारा 239(क) के खण्ड (i) में वर्णित केन्द्रशासित प्रदेश के विधान मण्डल का अधिवेशन होने के अतिरिक्त, यदि किसी समय वहाँ का प्रशासक यह समझे कि उसके द्वारा तुरन्त कार्रवाई करना आवश्यक है, तो वह यथासमय आवश्यक अध्यादेश जारी कर सकता है,

किन्तु राष्ट्रपति से तदर्थ आदेश प्राप्त किये बिना प्रशासक उपर्युक्त अध्यादेश जारी नहीं करेगा,

तथा जब भी उपर्युक्त विधान मंडल भंग किया हुआ हो, अथवा धारा 239 क के खण्ड (i) में वर्णित किसी कानून के प्रवर्तन में की गई कार्रवाई द्वारा विधान मण्डल का कार्य परिचालन निलम्बित कर दिया गया हो तो उस स्थिति में विधान मण्डल के पुनः कार्यरत होने से पूर्व, प्रशासक कोई अध्यादेश जारी नहीं करेगा।

(2) इस धारा के आधीन राष्ट्रपति के आदेश सहित जारी किये गए अध्यादेश को केन्द्रशासित प्रदेश के विधान मण्डल के अधिनियम के समान माना जायेगा, जिसे धारा 239क के खण्ड (i) में वर्णित किसी कानून के प्रावधानों का अनुकरण करके अधि-

[9]अन्य सात केन्द्रशासित प्रदेशों के नाम ये थे : अन्दमान-निकोबार द्वीप-समूह, लक्षदीवी, मिनिकोय व अमीनदीवी द्वीप-समूह, दादरा व नगर हवेली, गोआ, दमन, दीवी, पाण्डीचेरी, दिल्ली व चण्डीगढ़। हिमाचल प्रदेश केन्द्रशासित प्रदेश को हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम 1970 द्वारा केन्द्रशासित प्रदेशों की सूची में से निकाल दिया गया, तथा मणिपुर व त्रिपुरा के केन्द्रशासित प्रदेशों को उस सूची में से उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम 1971 द्वारा निकाल दिया गया। लक्षदीवी, मिनिकोय व अमीनदीवी द्वीप-समूह केन्द्रशासित प्रदेश का नाम संसद ने 8 अगस्त, 1973 को बदल कर लक्षद्वीप रख दिया।

[10]कालान्तर में मणिपुर, त्रिपुरा व हिमाचल प्रदेश को केन्द्रशासित प्रदेशों की सूची में से निकाल दिया गया।

नियमित किया गया हो, किन्तु प्रत्येक ऐसे अध्यादेश को :

(क) केन्द्रशासित प्रदेश के विधान मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत किया जायेगा तथा वह विधान मण्डल के पुनः एकत्रित होने से पूर्व निष्क्रिय हो जायेगा तथा यदि उपयुक्त अवधि समाप्त होने से पूर्व विधान मण्डल द्वारा प्रस्ताव पारित करके उसे अस्वीकार कर दिया जाये तो वह प्रस्ताव पारित होने पर निष्क्रिय हो जायेगा; तथा

(ख) राष्ट्रपति से तदर्थ आदेश प्राप्त करने के पश्चात् प्रशासक द्वारा वापिस उठाया जा सकता है।

(3) यदि इस धारा के अधीन किसी अध्यादेश से ऐसा प्रावधान होता हो जो धारा 239 क के खण्ड (i) में वर्णित किसी कानून में बताये गए तदर्थ प्रावधानों के अनुकरण सहित किसी केन्द्रशासित प्रदेश के विधान मण्डल के अधिनियम द्वारा अधिनियमित किया जाने पर वैध न हो सकता हो, तो वह प्रभावशून्य होगा।"

संविधान (चौदहवाँ संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित धारा 240 के साथ निम्नलिखित नई शर्त जोड़ दी गई :

"और जब भी धारा 239क के खण्ड (i) में वर्णित किसी कानून के अनुसार की गई कार्रवाई के कारण गोआ, दमन और दीव, पांडिचेरी या मिज़ोरम के विधान-मण्डल के रूप में कार्य करने वाली कोई निकाय भंग कर दी जायेगी या उसका कार्य परिचालन निलम्बित कर दिया जायेगा, तो राष्ट्रपति उसके भंग या निलम्बित रहने की अवधि के लिए उस केन्द्रशासित प्रदेश की शान्ति, उन्नति एवं उत्तम प्रशासन के लिए आवश्यक विनियम बना सकते हैं।"

मणिपुर राज्य के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान किया गया। संविधान (तेरहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा संविधान में जो धारा 371 (ख) जोड़ी गई थी और जिसके द्वारा नगालैंड राज्य सम्बन्धी विशेष प्रावधान किया गया था, उसके बाद धारा 371 (ग) जोड़ दी गई जो इस प्रकार थी :

(1) इस संविधान के अन्य प्रावधानों के बावजूद राष्ट्रपति मणिपुर राज्य के सम्बन्ध में विशेष आदेश द्वारा सरकारी कामकाज के नियमों तथा राज्य की विधान सभा की कार्य प्रणाली के नियमों में सुधार करने के लिए राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्यों की एक समिति के गठन एवं कार्य परिचालन की व्यवस्था कर सकते हैं तथा उस सम्बन्ध में गवर्नर का विशेष उत्तरदायित्व निश्चित कर सकते हैं।

(2) गवर्नर मणिपुर राज्य में पर्वतीय क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को एक वार्षिक अथवा जब भी राष्ट्रपति माँग करें प्रतिवेदन भेजेंगे, तथा केन्द्र सरकार की कार्यकारी सत्ता राज्य को उपर्युक्त क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी निदेश देने तक परिवर्तित मानी जायेगी।

संविधान (सत्ताईसवाँ संशोधन) अधिनियम में 'पर्वतीय क्षेत्रों' की परिभाषा नहीं बताई गई तथा इसे राष्ट्रपति द्वारा भविष्य में घोषित किए जाने के लिए छोड़ दिया गया।

संविधान (अठ्ठाईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 [The Constitution (Twenty-eighth Amendment) Act, 1972]

नरेशों के पर्सों एवं विशेषाधिकारों की समाप्ति के बाद भारतीय लोक सेवा के उच्च अधिकारियों (आई. सी. एस. अफसरों) की "विशेष सुविधाओं" (special privileges) को समाप्त करने की मांगें उठाई गईं। इन "सुविधाओं" को संविधान में उचित संरक्षण दिया गया था और यह डर था कि उन्हें समाप्त किया जाने पर प्रभावित व्यक्ति उच्चतम न्यायालय की शरण लेंगे। इसकी पेशबन्दी के लिए सरकार ने संविधान में आवश्यक परिवर्तन करने का निश्चय किया जिसके लिए अगस्त 1972 में संविधान (बाईसवाँ संशोधन) विधेयक पारित किया गया।

धारा 312 के बाद, जिसमें एक व अधिक अखिल भारतीय सेवाएँ स्थापित करने की व्यवस्था थी, धारा 312(क) जोड़ दी गई, जो इस प्रकार थी :

(1) संसद कानून द्वारा :

(क) उन व्यक्तियों के वेतन, छुट्टी एवं पेंशन सम्बन्धी सेवा की शर्तों, व अनुशासनिक विषयों सम्बन्धी अधिकारों को परिवर्तित अथवा समाप्त कर सकती है, जो इस संविधान के परिवर्तित होने से पूर्व राज्य सचिव द्वारा या उनकी परिषद द्वारा भारत में ब्रिटिश राज्य की लोक सेवा (सिविल सर्विस) के लिए भर्ती किये गए थे तथा संविधान (अट्ठाईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 के प्रवर्तित होने के बाद भी भारत सरकार व किसी राज्य की सरकार में किसी पद पर कार्य कर रहे हैं, तथा इस परिवर्तन व समाप्ति को तत्काल अथवा किसी निर्दिष्ट पिछली तिथि से प्रवर्तित माना जा सकता है।

(ख) उन व्यक्तियों की पेंशन सम्बन्धी सेवा की शर्तों को आगे से अथवा किसी निर्दिष्ट पिछली तिथि से (Prospectively or Retrospectively) परिवर्तित तथा समाप्त कर सकती है, जो इस संविधान के प्रवर्तित होने से पूर्व राज्य सचिव द्वारा या उनकी परिषद द्वारा (Secretary of State or Secretary of State in Council) भारत में ब्रिटिश राज्य की लोक सेवा के लिए भर्ती किये गए हों; पर संविधान (अट्ठाईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 के प्रवर्तित होने से पूर्व सेवानिवृत्त होकर एवं किसी अन्य कारण से सेवा में न रहे हों।

किन्तु उपरोक्त व्यक्तियों में से जो व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या अन्य न्यायाधीश, भारत के महालेखा नियन्त्रक व परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) संघ अथवा किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या अन्य सदस्य या मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर कार्य कर रहे हों या कर चुके हों, तो उपर्युक्त खंड (क) या (ख) के प्रावधान उनके इन पदों पर नियुक्त होने अथवा रह चुकने से उत्पन्न सेवा की शर्तों में प्राप्त लाभ में कमी नहीं करेंगे और उनकी भारत में ब्रिटिश राज की लोक सेवा में राज्य सचिव व उनकी परिषद द्वारा की गई नियुक्ति द्वारा उत्पन्न सेवा की शर्तों तक ही सीमित

रहेंगे ।

(2) निम्न मामलों में सर्वोच्च न्यायालय व अन्य किसी न्यायालय को क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं होगा—

(क) खण्ड (1) में वर्णित किसी व्यक्ति द्वारा किये गए किसी करार, प्रसंविदा अथवा अन्य प्रलेख के प्रावधानों से उत्पन्न विवाद; अथवा ऐसे किसी व्यक्ति को भारत में अंग्रेज़ी सरकार की लोक सेवा में नियुक्ति, या उसके भारतीय उपनिवेश या उसके किसी प्रान्त की सेवा में वने रहने के सम्वन्ध में दिये गये किसी पत्र से उत्पन्न विवाद;

(ख) धारा 314 के मूल प्रावधान के अधीन किसी अधिकार, दायित्व या ज़िम्मेदारी से सम्वन्धित कोई विवाद ।

(3) 'वर्तमान अधिकारियों अथवा कतिपय विशिष्ट अधिकारियों' को संरक्षण देने सम्वन्धी धारा 314 को संविधान में से निकाल दिया गया ।

इस संशोधन अधिनियम को पारित करने के कुछ ही समय बाद संसद में राज्य सचिव अधिकारीगण (सेवा की शर्तों सम्वन्धी) अधिनियम पारित किया गया जिसके फलस्वरूप भारतीय लोक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) की अनेक सुविधाएँ कम कर दी गईं अथवा समाप्त प्रायः कर दी गईं ।

संविधान (उन्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 [The Constitution (Twenty-ninth Amendment) Act, 1972]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद कुछ राज्यों ने ज़मींदारी या जागीरदारी प्रथाओं को समाप्त करने सम्वन्धी कानून बनाये थे, पर संविधान की धारा 31 के अनुच्छेद (6) में यह निर्दिष्ट किया गया कि संविधान प्रवर्तित होने से अठ्ठारह मास पूर्व तक राज्यों द्वारा पारित प्रत्येक कानून को संविधान प्रवर्तित होने के वाद तीन मास के भीतर सत्यापन के लिए राष्ट्रपति को प्रेषित किया जाये । इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा सत्यापित किया जाने के बाद उस कानून को किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि उससे संविधान की धारा 31 के अनुच्छेद (2) का हनन होता है (इस अनुच्छेद में राज्य द्वारा अधिगृहीत सम्पत्ति का मुआवज़ा देने का प्रावधान था) अनुच्छेद (6) का उद्देश्य उन विधियों की रक्षा करना था जो राज्यों द्वारा भूमि-सुधार के दृष्टिकोण से प्रवर्तित किये गए हों । किन्तु इससे वांच्छित उद्देश्य प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि संविधान प्रवर्तित होने के पश्चात् जिन व्यक्तियों की ज़मीन छीनी जा चुकी थी, उनमें से कुछ ने उच्च न्यायालयों में याचिकाएँ प्रेषित करके उन अविनियमों को भंग किये जाने की प्रार्थना की क्योंकि उनसे उनके सम्पत्ति सम्वन्धी वुनियादी अधिकारों का हनन होता था । पटना उच्च न्यायालय ने विहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 को सर्वसम्पत्ति से अवैध घोषित कर दिया । उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश ज़मींदारी समाप्ति व भूमि सुधार अविनियम, 1950 को

वैध ठहराया, पर ज़मींदार उससे सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर दी। केन्द्र सरकार को लगा कि कहीं सर्वोच्च न्यायालय उस अधिनिमय को अवैध न ठहरा दे, अतः उसने संसद में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम पारित कराया और संविधान में दो नई धाराएँ 31(क) व 31(ख) तथा एक नई अनुसूची—नवीं अनुसूची—जोड़ दी। इस अनुसूची में राज्यों द्वारा वनाये गए उन कानूनों की सूची निर्धारित की गई जिन पर धारा 31 के अनुच्छेद (2) के प्रावधान लागू नहीं होते थे। 1969 में केरल राज्य विधान मण्डल द्वारा केरल भूमि सुधार अधिनियम पारित किया गया कि राज्य द्वारा एक निर्दिष्ट सीमा तक किसी की ऐसी कृषि भूमि को अधिगृहीत किये जाने पर जिसे वह स्वयं जोतता हो—उसे वाज़ार भाव से मुआवज़ा देना अनिवार्य नहीं है। इस विषय पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये एक निर्णय के कारण सरकार को वड़ी परेशानी उठानी पड़ी, अतः उसके प्रतिकार के लिए केन्द्र सरकार ने संविधान (उन्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 प्रस्तुत करके संसद में शीघ्रतापूर्वक पारित करा लिया। यह अधिनियम जून, 1972 से लागू किया गया। केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 और केरल भूमि-सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 को संविधान की नवीं अनुसूची में सम्मिलित करके संरक्षण प्रदान कर दिया गया।

संविधान (तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 [The Constitution (Thirtieth Amendment) Act, 1972]

धारा 133 (1) में प्रावधान था कि भारत की सीमा के भीतर किसी उच्च न्यायालय द्वारा दीवानी मामलों में दिये गए निर्णय, डिक्री (Decree) अथवा अन्तिम आदेश के प्रति यदि वही उच्च न्यायालय निम्नलिखित प्रमाण न करे तो सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है :

(क) कि विवादास्पद विषयवस्तु का मूल्य अथवा धन राशि, मामला सर्वप्रथम न्यायालय में लाया जाने के समय वीस हज़ार रुपये से कम नहीं थी और अव भी उससे कम नहीं है (वाद में यह राशि वढ़ा कर एक लाख रुपये कर दी गई); अथवा (ख) कि निर्णय, डिक्री वा अन्तिम आदेश में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उतनी ही राशि अथवा मूल्य की सम्पत्ति सम्वन्धी प्रश्न विद्यमान था ; तथा (ग) कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में सुनवाई के योग्य है। जव (ग) के अतिरिक्त किसी अन्य मामले में उच्च न्यायालय के निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश द्वारा अपने से निकटतम अधीनस्थ न्यायालय द्वारा किये गए निर्णय की पुष्टि की गई हो तो उच्च न्यायालय में अपील करने से पूर्व उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित किया जाना भी आवश्यक था कि अपील में विधि का सारगर्भित प्रश्न निहित है।

केन्द्र सरकार को उपयुक्त मूल्यांकन-व्यवस्था अमीर व गरीव के वीच पक्षपातपूर्ण तथा अनुचित प्रतीत हुई। यह प्रावधान भी कि सर्वोच्च न्यायालय में अपील तभी की

जा सकती है, जब कोई विधि सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचाराधीन हो, असन्तोषजनक माना गया। सरकार चाहती थी कि उच्च न्यायालय की तब अपील की जाये, जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि इस मामले में कोई सार्वजनिक महत्त्व का कानूनी प्रश्न विद्यमान है तथा उच्च न्यायालय यह समझता है कि उसका निर्णय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा होना आवश्यक है। सरकार के शब्दों में, उसका उद्देश्य यह था कि सामान्य जनता भी सर्वोच्च न्यायालय द्वार तक पहुँचने में समर्थ होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केन्द्र सरकार ने संसद में संविधान (तीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया, जो अगस्त 1972 के तीसरे सप्ताह में पारित कर दिया गया।

संविधान की धारा 133 में अनुच्छेद (1) के स्थान पर निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ दिया गया—

"(1) भारत की सीमा के भीतर किसी उच्च न्यायालय द्वारा दीवानी के मामलों में दिये गए किसी निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में केवल तभी अपील की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय प्रमाणित करे कि :

(क) उस मामले में कोई विधि सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है, तथा

(ख) उच्च न्यायालय का यह मत है कि उस मामले का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए।"

संविधान संशोधन में सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन मामलों के सम्बन्ध में भी विशेष प्रावधान किये गए, जो इस प्रकार थे :

(1) इस अधिनियम से, निम्नलिखित प्रभावित नहीं होंगे—

(क) संविधान की धारा 133 के अनुच्छेद (1) के उप-खण्ड (क) या (ख) या (ग) के अधीन की गई कोई भी अपील, जो इस अधिनियम के प्रवर्तित होने के समय सर्वोच्च न्यायालय के विचाराधीन थी, अथवा,

(ख) इस अधिनियम के प्रवर्तित होने पर या उसके बाद, उच्च न्यायालय के किसी दीवानी मामले के फैसले, डिक्री या अन्तिम आदेश के विरुद्ध अपील, जिसके प्रति इस अधिनियम के प्रवर्तित होने से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 133 के अनुच्छेद (1) के उप-खण्ड (क) या (ख) या (ग) के अधीन प्रमाणन किया हो।

ऐसी प्रत्येक अपील पर उसी प्रकार सुनवाई और निर्णय, अथवा यदि आवश्यक हो तो पंजीयन भी, उसी प्रकार हो सकता था, जैसेकि यह अधिनियम पारित ही नहीं किया गया।

(2) अनुच्छेद (1) के प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए, इस अधिनियम के प्रवर्तित होने से पूर्व किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत या आरम्भ किये गए किसी भी वाद या दीवानी मामले में दिये गए निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश के प्रति सर्वोच्च न्यायालय में कोई अपील नहीं की जा सकती, यदि वह इस अधिनियम द्वारा संशोधित उपर्युक्त अनुच्छेद (1) के प्रावधानों को सन्तुष्ट न करती हो।

संविधान (इकत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक, 1973 [The Constitution (Thirty-first Amendment) Bill, 1973]

सन् 1961 से लेकर 1971 तक भारत की जनसंख्या में 24.57 प्रतिशत वृद्धि हुई, जिसके कारण लोक सभा की सदस्य संख्या में वृद्धि करना भी आवश्यक हो गया। तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त एस० पी० सेन वर्मा ने सुझाव दिया कि यह संख्या बढ़ा कर 570 कर दी जाये। किन्तु उनके उत्तराधिकारी डा० नागेन्द्र सिंह ने इस सुझाव का खण्डन करते हुए दलील पेश की कि 1910 के बाद संयुक्त राज्य अमरीका की जनसंख्या दुगने से भी अधिक हो गई है, पर प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या वही है। इंगलैण्ड में भी लोक सभा (हाउस ऑफ़ कामन्स) की सदस्य संख्या नहीं बढ़ाई गई है। अतः सरकार ने कुछ समय के लिए लोक सभा की सदस्य संख्या में वृद्धि करने का विचार छोड़ दिया। किन्तु 1970 से 1972 तक के वर्षों में हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय इत्यादि कतिपय केन्द्रशासित प्रदेशों को पूर्ण राज्यों का दर्जा मिल गया। 1971 में संसद द्वारा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम पारित किया गया, जिसके द्वारा राज्यों को आवंटित किये गए कुल स्थान 506, अर्थात् संविधान द्वारा अनुमित संख्या से 6 अधिक हो गये। मार्च 1973 में लोक सभा में स्थानों की कुल संख्या 522 हो गई (15 बड़े-बड़े राज्यों से 489, छोटे राज्यों से 17 और 8 केन्द्रशासित प्रदेशों से 16), और इन सभी परिवर्तनों के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन करने का प्रश्न सामने आया। इसके लिए अप्रैल मे संविधान (इकत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया गया जो उसी वर्ष 9 मई को पारित कर दिया गया। लोक सभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व के लिए स्थानों की संख्या 500 से बढ़ा कर 525 कर दी गई तथा केन्द्रशासित प्रदेशों के सदस्यों की तत्कालीन संख्या 25 से घटाकर 20 कर दी गई। इस प्रकार, लोक सभा की कुल सदस्य संख्या 545 तक जा पहुँची।

संविधान (बत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक, 1973 [The Constitution (Thirty-second Amendment) Bill, 1973]

जैसाकि राजनीतिक दल-बदल सम्बन्धी अध्याय में बताया जा चुका है, केन्द्रीय सरकार ने 16 मई, 1973 को संसद में संविधान (बत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक का उद्देश्य राजनीतिक दल-बदल करने वाले व्यक्ति को विधान मण्डल की निरन्तर सदस्यता से वंचित करना था। जब उस पर 13 दिसम्बर, 1973 को लोक सभा में बहस आरम्भ हुई तो कुछ विपक्षी सदस्यों ने उसकी कई प्रकार से आलोचना की। मधु लिमये ने कहा कि इस विधेयक को पारित कराने के प्रयत्न में सरकार जो शीघ्रता कर रही है, उसमें सरकार की नीयत साफ नहीं है। साम्यवादी सदस्य हीरेन मुखर्जी ने विधेयक को दल-बदल की प्रवृत्ति रोकने के लिए कठोर कानून का "उपहास" बताया। उन्होंने कहा कि विधेयक में इतनी त्रुटियाँ हैं

कि उसे प्रयोग करने वाला व्यक्ति उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त कर सकेगा। उन्होंने सरकार द्वारा राजनीतिक दल-बदल सम्बन्धी समिति की उस सिफ़ारिश को स्वीकृत न किये जाने की आलोचना की, जिसमें दल बदलने वाले व्यक्ति पर मन्त्री बनने से रोक लगाने का प्रस्ताव किया गया था। जन संघ नेता जगन्नाथ राव जोशी ने सरकार पर आरोप लगाया कि वह विधेयक को संसद में प्रस्तुत कर दिये जाने के बाद भी बिहार और उत्तर प्रदेश में उसके विरुद्ध कार्य करती है। इन आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए सरकार ने उस विधेयक को संसद की एक साठ-सदस्यीय संयुक्त समिति को सौंपने का निश्चय किया ताकि उसके दोषों को खोज कर रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किये जायें। इस विधेयक को अभी अधिनियम का रूप नहीं मिल पाया है।

संविधान (तेतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1973 [The Constitution (Thrity-third Amendment) Act, 1973]

(संसद के शीत अधिवेशन (नवम्बर-दिसम्बर 1973) में केन्द्र सरकार ने संविधान (तेतीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया जिसके द्वारा आन्ध्र प्रदेश की अखण्डता की रक्षा करने के पूर्व परिभाषित "छह सूत्री फार्मूले" को संवैधानिक रूप प्रदान करना अभीष्ट था। यह विधेयक लोक सभा द्वारा 18 दिसम्बर, 1973 को 311 समर्थक और 8 विपक्षी मतों से पारित किया गया। 6 सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया। इसके दो दिन बाद उसे राज्य सभा द्वारा 174 के विपरीत 7 मतों से पारित किया गया। इस विधेयक द्वारा संविधान में दो नए प्रावधान—धारा 371 (ग) और 371 (घ)—जोड़े गए। धारा 371 का अनुच्छेद (1), जिसमें आन्ध्र प्रदेश विधान सभा की क्षेत्रीय समितियों के गठन एवं कार्यान्वियन सम्बन्धी प्रावधान थे, छोड़ दिया गया। आन्ध्र प्रदेश में एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित किया जाना था जिसे सार्वजनिक सेवाओं में स्थानीय एवं राज्यीय स्तरों पर नियुक्तियों एवं पदोन्नतियों सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मिलना था। इस न्यायाधिकरण को राज्य उच्च न्यायालय की अधिकार सीमा के बाहर कार्य करना था और उसके निर्णय राज्य सरकार द्वारा संशोधित किये जा सकते थे। विधेयक में यह भी प्रावधान था कि न्यायाधिकरण को राष्ट्रपति के आदेश से समाप्त किया जा सकता है।

इस अधिनियम द्वारा संसद को आन्ध्र प्रदेश के लिए एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रावधान करने का अधिकार भी दिया गया।

इस विधेयक से संलग्न लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की विवरणिका में बताया गया था कि जब 1956 में आन्ध्र प्रदेश राज्य स्थापित किया गया, उसी समय तेलंगाना क्षेत्र के विकास, रोज़गार के अवसर तथा शिक्षा-सुविधाओं की व्यवस्था की माँग की गई थी। धारा 371 के अनुच्छेद (1) के प्रावधान उपर्युक्त व्यवस्था को क्रियान्वित करने के लिए ही थे। 1957 में सार्वजनिक रोजगार (निवास सम्बन्धी आवश्यकता) अधि-

नियम तेलंगाना क्षेत्र के वासियों के लिए रोज़गार के उचित अवसर उपलब्ध कराने के निमित्त अधिनियमित किया गया था। किन्तु 1969 में उच्चतम न्यायालय द्वारा इस अधिनियम के कुछ अंशों को असंवैधानिक बता कर निरस्त कर दिया गया। कई कारणों से तेलंगाना क्षेत्र के लिए की गई उपर्युक्त व्यवस्थाओं के कार्य परिचालन से उस क्षेत्र में तथा आन्ध्र प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में भी असंन्तोष का वातावरण बन गया। कुछ समय पूर्व आन्ध्र के कई नेताओं ने अनेक उपाय सुझाये थे जिन्हें "छः सूत्री फ़ार्मूला" कहा जाता है। इसमें पिछड़े क्षेत्रों के शीघ्र विकास, सार्वजनिक सेवाओं के उज्ज्वल भविष्य, शिक्षा व रोज़गार सम्बन्धी समान प्रयत्न करने का आग्रह व्यक्त किया गया था। इस फ़ार्मूले को राज्य भर में खूब समर्थन प्राप्त हुआ और इसे राज्य सरकार ने भी उचित बताया।

विवरणिका में बताया गया कि क्षेत्रीय समितियों के गठन सम्बन्धी अनुच्छेद को छोड़ देने का प्रस्ताव किया गया है क्योंकि "छः सूत्री फ़ार्मूले" से ऐसे निकाय बनाने की आवश्यकता समाप्त हो गयी है।

विधेयक से संलग्न वित्तीय विवरणिका में बताया गया था कि पांचवीं पंचवर्षीय योजना में इस विधेयक के प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए आन्ध्र प्रदेश के लिए प्रस्तावित केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना सहित लगभग पाँच करोड़ रुपये व्यय करने होंगे।

संविधान (चौंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 [The Constitution (Thirty-fourth Amendment) Act, 1974]

सन् 1974 के आरम्भ में गुजरात में शिक्षकों व विद्यार्थियों के एक 'नव-निर्माण समिति' नामक संगठन ने अनेक विधान सभा सदस्यों को अपने पद त्याग करने पर विवश किया। बिहार में भी ऐसी लहर थी। दोनों ही राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों पर बहुत बुरा असर पड़ा और केन्द्र सरकार के अभिकर्त्ताओं को आशंका होने लगी कि यदि इस प्रवृत्ति को रोका नहीं गया तो कहीं अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को पद त्याग न करना पड़ जाये। इसके लिए विधि मन्त्री गोखले ने 4 मई, 1974 को संसद में संविधान (चौंतीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक में यह व्यवस्था प्रस्तावित की गई थी कि यदि अध्यक्ष या स्पीकर को जाँच के बाद यह विश्वास हो कि त्यागपत्र स्वेच्छा से नहीं दिया गया है अथवा असली नहीं है तो वे उसे अस्वीकार कर दें। इस उद्देश्य के लिए धारा 101 व 190 में आवश्यक संशोधन के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गए।

विपक्षी सदस्यों ने विधेयक के विरोध में अनेक दलीलें पेश कीं। मधु लिमये (समाजवादी) ने कहा कि कांग्रेस अपने राज्य को स्थायी बनाना चाहती है और प्रस्तावित विधेयक से अध्यक्ष का पद एक सार्वजनिक विवाद का विषय बन जायेगा। जन संघ के अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा कि संविधान संशोधन द्वारा जनता को विधायकों

को वापस बुलाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए, उलटी तरफ जाने का नहीं। साम्यवादी (मार्क्सवादी) सोमनाथ चटर्जी ने आरोप लगाया कि इस विधेयक द्वारा सामान्य जनता को मुंह वन्द रखने के लिए बाध्य करने का प्रयत्न किया गया है। उनका कहना था कि कांग्रेस जनता से दुराव करके उसे अपने आधिपत्य में रखना चाहती है। एक अन्य साम्यवादी (मार्क्सवादी) सदस्य ज्योतिमय बसु ने सरकार पर बिहार के कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों का अवांछित संरक्षण देने का दोष लगाया, जो उनकी नज़र में जनता का विश्वास बड़ी तेज़ी से खो रहे थे।

गोखले तथा संसदीय मामलों के मंत्री के. रघुरमैया ने विधेयक को देश में संसदीय प्रणाली के संरक्षण का प्रयत्न बता कर उचित ठहराया। कांग्रेस दल ने लोक सभा में पूरा जोर लगाया और उसके पक्ष में 300 से अधिक कांग्रेसी सदस्यों ने विधेयक के पक्ष में मत दिया। बाद में उसे राज्य सभा द्वारा भी पारित कर दिया गया।

संविधान (पैंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 [The Constitution (Thirty-Fifth Amendment) Act, 1974]

जुलाई 1972 में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की एक परिषद ने केन्द्र सरकार को कुछ सुझाव भेजे जिनमें भूमिधारी की अधिकतम सीमा में कमी करना, अधिकतम सीमा का प्रवर्तन एक पति-पत्नी एवं तीन अवयस्क बच्चों के परिवार के आधार पर करना तथा विमुक्तियों (exemptions) को समाप्त करना सम्मिलित थे। इन प्रस्तावों के तद्नुरूप तेरह राज्यों ने बीस कानून पारित किये जिनमें न्यूनतम भूमिधारी सीमा, निर्धारित की गई थी और मध्यवर्ती पट्टेदारी समाप्त की गई थी। अनेक उच्च न्यायालयों ने इन विधियों का प्रवर्तन अन्तरिम आदेश द्वारा रोक दिया। सरकार की इच्छा थी कि फालतू भूमि का अधिग्रहण करके उसे काश्तकारों और भूमिहीनों में आवंटित करने के कार्य को तेज़ी से किया जाये। साथ ही, उसे यह भी आशंका थी कि कहीं इस प्रक्रिया में न्यायालयों द्वारा बाधा न डाल दी जाये। अतः केन्द्र सरकार ने उपर्युक्त विधियों को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करने का विचार किया।[11] मई 1974 के आरम्भ में संविधान (पैंतीसवाँ संशोधन) विधेयक लोक सभा में प्रेषित किया गया। इस विधेयक में उपर्युक्त बीसों कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में जोड़ने का प्रस्ताव किया गया था। इसे संसद के दोनों सदनों ने अगस्त 1974 में पारित कर दिया।

मूलतः इस अनुसूची में केवल 13 इन्दराज थे। 1951 में 14 से 21 तक इन्दराज किये गए और 1964 में 22 से 64 तक। बाद में दो और इन्दराज किये गए। अब 20 नए इन्दराज कर देने से कुल संख्या 86 तक जा पहुँची।

[11]भूमि सुधार कानून इन राज्यों द्वारा पारित किए गये : आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, पंजाब, राजस्थान और पश्चिम बंगाल।

संविधान (छत्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 [The Constitution (Thirty-sixth Amendment) Act, 1974]

सितम्बर 1974 में संसद ने संविधान (छत्तीसवाँ संशोधन) पारित किया। इसे सिक्कम को "संरक्षित राज्य" (protectorate) के दर्जे से हटा कर भारत का ही एक "साझी" (associate) राज्य बनाने के दृष्टिकोण से रचा गया। इस विधेयक के पारित होने के बाद संसद में बहुत वाद-विवाद हुआ तथा उसे "ऐतिहासिक", "ऊर्जस्वी (dynamic)" "राजनीतिक दृष्टि से अबुद्धिमत्तापूर्ण" तथा "पण्डोरा बाक्स" बताया गया। इस के आलोचकों का कहना था कि इस विधेयक से विदेशों में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होगी तथा देश में विघटनकारी भावना सक्रिय हो उठेगी। समाजवादी दल, जन संघ और भारतीय लोक दल के कुछ सदस्यों ने विधेयक को दृढ़ समर्थन प्रदान करने के साथ-साथ यह भी माँग की कि सिक्किम को भारत के बाइसवें राज्य के रूप में मिला लिया जाये।

यह उल्लेखनीय है कि सिक्किम विधान सभा ने भारत सरकार से सिक्किम को नया दर्जा देने की प्रार्थना की, पर वहां के नरेश 'चोग्याल' ने उसका विरोध किया।

संविधान (सैंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 [The Constitution (Thirty-seventh Amendment) Act, 1975]

23 अप्रैल, 1975 को लोक सभा ने सैंतीसवाँ संविधान संशोधक विधेयक पारित किया जिसमें देश के सुदूर उत्तर स्थित केन्द्रशासित प्रदेश अरुणाचल प्रदेश के लिए एक विधान सभा और मन्त्रिपरिषद स्थापित करने के प्रस्ताव थे। इसका उद्देश्य वहाँ की जनता की राजनीतिक महत्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करना था। विधेयक सर्वसम्मति से पारित हुआ।

संविधान (अड़तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 [The Constitution (Thirty-eighth Amendment) Act, 1975]

फ़रवरी 1975 में सिक्किम के चोग्याल नेपाल के राजा वीरेन्द्र के राज्यारोहण समारोह में भाग लेने काठमाण्डू गए पर उन्होंने वहाँ जाने से पूर्व मुख्य मन्त्री काज़ी लेण्डुप दोरजी से परामर्श नहीं किया। फलत: राजा एवं मन्त्रिपरिषद के सम्बन्धों में तनाव आ गया।

10 अप्रैल को मुख्य मन्त्री के संकेत पर सिक्किम विधान सभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें चोग्याल का पद समाप्त करके भारत सरकार से आग्रह किया गया कि सिक्किम को भारतीय संघ के एक पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया जाये। इस पर भारत सरकार ने अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में संसद में अड़तीसवाँ संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया जो भारी समर्थन सहित पारित हो गया। चोग्याल का पद समाप्त कर दिया गया और उनके स्थान पर गवर्नर का पद स्थापित किया गया जिनकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। गवर्नर को "सिक्किम की जनता के भिन्न-भिन्न

वर्गों की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए समानतापूर्ण व्यवस्था करने तथा शान्ति बनाए रखने की विशेष ज़िम्मेदारी" सौंपी गई। उन्हें आवश्यक निदेश राष्ट्रपति से लेने होंगे। सिक्किम राज्य को लोक सभा व राज्य सभा प्रत्येक में एक-एक स्थान दिया गया है। सिक्किम की न्यूनतम 30 सदस्यों की एक विधान सभा स्थापित की गई और उसे वही अधिकार प्रदान किये गए जो भारतीय संघ के अन्य राज्यों की विधान सभाओं को होते हैं। किसी भी ऐसी सन्धि, करार या सिक्किम सम्बन्धी अन्य समझौते इत्यादि, जिसमें भारत सरकार या उसकी पूर्ववर्ती सरकार ने एक पक्ष के रूप में हस्ताक्षर किये हों, से उत्पन्न होने वाले विवाद के सबन्ध में सर्वोच्च न्यायालय अथवा किसी भी अन्य न्यायालय को क्षेत्राधिकार प्रदान नहीं किये गए।

संविधान (उन्तालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 [The Constitution (Thirty-ninth Amendment) Act, 1975]

जुलाई-अगस्त 1975 में संसद द्वारा कुछ और भी संविधान संशोधन विधेयक पारित किये गए। इनमें से एक को उन्तालीसवाँ संशोधन कहा गया। इस विधेयक द्वारा संविधान की धाराओं 123, 213, 239 ख, 352, 356, 359 और 360 में संशोधन किये गये। इनमें से प्रथम तीन धाराओं के संशोधन का उद्देश्य यह घोषित करना था कि कोई अध्यादेश जारी करने के लिए राष्ट्रपति, गवर्नर अथवा किसी केन्द्रशासित प्रदेश के प्रशासक अन्तिम और निर्णायक होंगे तथा उसे किसी आधार पर भी किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। धारा 352 का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि पहले से चाहे कोई घोषणा क्रियान्वित हो रही हो अथवा नहीं, राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न आधार पर भिन्न-भिन्न घोषणाएँ कर सकते हैं। विधि मन्त्री ने स्पष्ट किया कि इस संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि अनेक याचिकाओं में यह आपत्ति की गई थी की जब आपात्-स्थिति की एक घोषणा (1971 से प्रवर्तित) कार्यशील है तो आपात्-स्थिति की और घोषणा नहीं की जा सकती। धारा 352, 356 एवं 360 में संशोधन का एक उद्देश्य यह भी था कि आपात्-स्थिति घोषित करने के लिए राष्ट्रपति की संतुष्टि को अन्तिम व निर्णायक बना दिया जाये, जिसे किसी भी आधार पर चुनौती न दी जा सके। इस प्रकार, उच्चतम एवं अन्य न्यायालयों पर राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपात्-स्थिति की घोषणा की वैधता के विरुद्ध किसी भी आधार पर कोई भी वाद स्वीकार करने से रोक दिया गया। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने 1975 में निर्णय दिया था कि धारा 352, 356 और 360 के आपात्-स्थिति सम्बन्धी प्रावधानों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। विधि मन्त्री ने कहा कि इस विधेयक में कोई भी असाधारण बात नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि यह संशोधन इसलिए किया जा रहा है कि आपात्-स्थिति की घोषणा को कई बार चुनौती दी जा चुकी है और इस प्रकार की मुक़द्दमेबाज़ी से जनता का समय और धन व्यर्थ व्यय होता है।

संविधान की धारा 359 में भी संशोधन प्रस्तावित किया गया। इसके अन्तर्गत

राष्ट्रपति को यह अधिकार था कि वे निश्चित आदेश द्वारा संविधान के तीसरे भाग में प्रदत्त जनता के अधिकारों में से कुछ को, आपात्-स्थिति की अवधि के लिए, न्यायालय में याचिका द्वारा प्रवर्तित कराने का प्रयत्न करने के अधिकार को भी निलम्बित कर सकते हैं। इस संशोधन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए श्री गोखले ने बताया कि सरकार ऐसी व्यवस्था करना चाहती है कि जैसे आपात्-स्थिति की घोषणा की घोषणा होने से धारा 358 के अधीन धारा 19 (स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार सम्बन्धी) स्वचालित रूप से निलम्बित हो जाती है, उसी प्रकार उपरोक्त अधिकार भी निलम्बित किये जा सकें। तात्पर्य यह था कि धारा 358 की भाषा तथा धारा 359 के अनुच्छेद (1) के अधीन राष्ट्रपति के विशेष आदेश में जो अधिकार निलंबित किये हों, तत्सम्बन्धी भाषा में कोई अन्तर न हो।

लोक सभा ने यह विधेयक 23 जुलाई, 1975 को 342 के मुकावले एक मत से पारित किया तथा राज्य सभा द्वारा उसे अगले ही दिन 164 के मुकावले शून्य मत से पारित कर दिया गया। तत्पश्चात् विधेयक को राज्यों द्वारा सत्यापित कराने के लिए भेजा गया। पन्द्रह राज्यों के विधान मण्डलों ने विधेयक में प्रस्तावित संशोधन से सहमति प्रकट की (जबकि कुल 12 राज्यों की सहमति की आवश्यकता थी)। उसके बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित किया गया। वह भी उसे तुरन्त मिल गई और संविधान में तदनुसार सशोधन हो गया।

संविधान (चालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 [The Constitution (Fortieth Amendment) Act, 1975]

विधि मन्त्री ने 7 अगस्त, 1975 को लोक सभा में संविधान (चालीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया। उसका उद्देश्य धारा 71 (जिसका उप-शीर्षक "राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित मामले" था), धारा 329 (जिसका उपशीर्षक "निर्वाचन सम्बन्धी मामलों में न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप की मनाही" था) तथा संविधान की नौवीं अनुसूची (जिसमें वे 86 अधिनियम गिनाये गये थे जिनकी वैधानिकता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती) में संशोधन करना था।

संविधान में उपर्युक्त संशोधन प्रस्तुत करने के अनेक उद्देश्य थे। पहला उद्देश्य संसद को ऐसा विधान बनाने की क्षमता प्रदान करना था जिसके द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री तथा लोक सभा के अध्यक्ष निर्वाचन सम्बन्धी विवादों की सुनवाई के लिए गोष्ठी आयोजित की जा सके। विधेयक में प्रस्तावित किया गया कि इन चारों उच्च पदों पर निर्वाचित व्यक्तियों के निर्वाचन सम्बन्धी मामलों पर विचार करने के लिए नवीन गोष्ठी स्थापित करने सम्बन्धी संसदीय विधि को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जानी चाहिए। विधेयक में यह भी प्रस्ताव किया गया कि तत्कालीन विधि के अन्तर्गत जो मामले न्यायालयों में विचाराधीन हों, उन्हें भी समाप्त माना जाये (इसमें उच्चतम न्यायालय के विचाराधीन श्रीमती इन्दिरा गांधी का निर्वाचन

सम्बन्धी वाद भी था) । ये संशोधन प्रस्तावित करते हुए विधि मन्त्री गोखले ने स्पष्ट किया कि अब वह समय आ गया है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री व अध्यक्ष के निर्वाचन सम्बन्धी विवादों के निपटारे की वर्तमान प्रणाली में परिवर्तन करने की आवश्यकता पर विचार किया जाये। उन्होंने कहा कि अपने कार्यकाल में अपनी क्षमता के प्रयोग में किये गए किसी भी कृत्य के लिए राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, अतः यह उचित ही होगा कि उनके निर्वाचन सम्बन्धी प्रश्न भी न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखे जायें। प्रधान-मन्त्री एवं अध्यक्ष के पदों को भी न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर निकालने का कारण समझाते हुए गोखले ने कहा कि उनके पदों की उच्चता को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनके निर्वाचन सम्बन्धी प्रश्नों को भी न्यायालय में प्रस्तुत न किया जाये, अपितु उन्हें संसदीय विधि के अनुसार संगठित एक विचार समिति द्वारा निर्णीत कराया जाये जोकि न्यायालय न हो। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि ऐसे कानून की, प्रधानमन्त्री व अन्य संसद सदस्यों में भेद रखने के कारण आलोचना नहीं की जायेगी। विधि मन्त्री ने यह भी कहा कि भारत की राज-नीतिक प्रणाली में प्रधानमन्त्री का स्थान अत्यन्त केन्द्रीय होता है, और उन्हें सारे देश में निर्विवाद नेता के रूप में स्वीकार किया जाता है। अतः उन्हें न्यायिक छिद्रान्वेषण का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए, जहाँ "निर्वाचन को अत्यन्त थोथे कारणों से भी निरस्त किया जा सकता है।"

चालीसवाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित कराने में सरकार का यह भी उद्देश्य था कि वह संसद एवं राज्यों के अनेक अधिनियमों को धारा 31-ख के अन्तर्गत संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करना चाहती थी, ताकि उन्हे मूलभूत अधिकारों के नाम पर न्यायालय में चुनौती न दी जा सके। उनमें से कुछ अधिनियम ये थे : आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, रुग्ण कपड़ा संस्थान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, विदेशी मुद्रा नियन्त्रण अधिनियम, विदेशी मुद्रा रक्षण तथा तस्करी निरोध अधिनियम, अतिरिक्त वेतन (अनिवार्य जमा) अधिनियम, जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974, निर्वाचन विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975। भूमि सुधार तथा कृषि भूमि की अधिकतम स्वामित्व सीमा सम्बन्धी कतिपय राज्यीय कानून पहले ही नवीं अनुसूची में सम्मिलित किये जा चुके थे। गोखले ने कहा कि पुनः उपर्युक्त आश्रय लेना अर्थात् इन कानूनों को नवीं अनुसूची में सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि उनकी वैधता को न्यायालयों में चुनौती दी गई थी और यह आशंका थी कि कहीं उन्हें असंवैधानिक बता कर निरस्त न कर दिया जाये।

इस विधेयक को लोक सभा द्वारा 7 अगस्त, 1975 को पारित किया गया तथा राज्य सभा ने उसे अगले ही दिन पारित कर दिया। राज्यों की विधान सभाओं को इस विधेयक को सत्यापित करने के लिए एक-दिवसीय विशेष अधिवेशन में बुलाया

गया। 17 राज्यों ने 9 अगस्त को इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी। राष्ट्रपति ने तुरन्त सहमति प्रदान की और तदनुसार संविधान संशोधन हो गया।

संविधान (इकतालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 [The Constitution (Forty-first Amendment) Act, 1975]

एक विधेयक धारा 361 में संशोधन करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया। यह इकतालीसवाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम था। इस विधेयक का उद्देश्य राष्ट्रपति एवं गवर्नरों को संविधान में प्रदत्त संरक्षण में वृद्धि करना तथा उस संरक्षण का लाभ प्रधानमन्त्री को भी प्रदान करना था। धारा 361 (1) में निर्दिष्ट था कि राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के गवर्नर को अपने पद की क्षमता एवं कर्त्तव्यों के प्रवर्तन में अथवा उन क्षमताओं एवं कर्तव्यों के प्रवर्तन द्वारा किए गए कार्यों में किये गए किसी भी कृत्य के लिए किसी न्यायालय में उत्तरदायी नहीं होना पड़ेगा (किन्तु इससे किसी व्यक्ति द्वारा केन्द्र वा किसी राज्य सरकार के विरुद्ध उचित न्यायिक कार्रवाई करने पर प्रतिबन्ध नहीं होगा)। उसी धारा के अनुच्छेद 2 के अनुसार राष्ट्रपति व गवर्नर के विरुद्ध, उनके कार्यकाल में किसी प्रकार की कोई दण्डनीय कार्रवाई आरम्भ नहीं की जा सकती और न ही पिछली ऐसी कार्रवाई चालू रखी जा सकती है। अनुच्छेद (3) के अधीन राष्ट्रपति व गवर्नर के कार्यकाल में किसी भी न्यायालय द्वारा उन्हें बन्दी बनाने या कारागार में डालने सम्बन्धी कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। धारा 361 के अनुसार राष्ट्रपति या किसी राज्य के गवर्नर के विरुद्ध उनके द्वारा अपने कार्यकाल में या उससे पूर्व किये गए किसी भी कृत्य के लिये, जहाँ उन पर उनके कार्य-काल में कोई दण्डनीय कार्रवाई नहीं की जा सकती थी, **राष्ट्रपति या गवर्नर द्वारा अपना पद त्यागने के तुरन्त बाद ऐसी कार्रवाई करना पूर्णतः संभव था।**[12] सरकार को यह व्यवस्था तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती थी, अतः संशोधन विधेयक में यह प्रस्तावित किया गया कि राष्ट्रपति या गवर्नर द्वारा अपने कार्यकाल में किये गए किसी भी कृत्य के लिए **उनके पद त्याग के बाद भी** उनके विरुद्ध कोई दण्डनीय कार्रवाई चलाई वा चालू रखी नहीं जा सकेगी। विधि मन्त्री ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह विमुक्ति उनके द्वारा अपने पद से हटने के बाद किये गये किसी कार्य के लिए नहीं होगी।

संविधान में राष्ट्रपति या राज्यों के गवर्नरों को दीवानी मुक़द्दमों से छूट प्रदान नहीं की गई है। इसके लिए केवल यह शर्त होती है कि ऐसा मुक़द्दमा दायर करने से पहले उन्हें दो मास पूर्व लिखित अधिसूचना देना आवश्यक होता है। यह अनुबन्ध सरकार को उचित नहीं लगा। विधि मन्त्री गोखले ने विधेयक के समर्थन में बोलते हुए कहा कि यदि राष्ट्रपति व गवर्नर इत्यादि के उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों के विरुद्ध

[12]लेखक के अपने शब्द।

दीवानी मुक़द्दमे चलाने की अनुमति दी गई तो हो सकता है कि लोग उनके विरुद्ध झूठे मुक़द्दमे चलायें। फलस्वरूप उनके काम में बाधा पड़ेगी तथा उन्हें अनावश्यक परेशानी उठानी होगी। अतः राष्ट्रपति व गवर्नर के पद पर आसीन व्यक्तियों पर ऐसे मुक़द्दमे चलाने की अनुमति न देना ही उचित होगा। विधि मन्त्री ने आगे कहा कि सरकार का यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्तियों के उचित एवं न्यायसंगत दावों की भी सुनवाई न की जाये, पर भारतीय संघ के प्रधान तथा किसी राज्य के प्रधान के कार्यकाल में उन्हें ऐसे मुक़द्दमों में न घसीटा जाये। अतः यह प्रावधान करने का प्रस्ताव किया गया कि एक ओर जहाँ किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति या गवर्नर के रूप में कार्य करने की अवधि में उस पर मुक़द्दमा चलाने की अनुमति न दी जाये, दूसरी ओर वही मुक़द्दमे उन पर अपना पद त्यागने के पश्चत् चलाये जा सकें तथा इसी प्रकार के नए मुक़द्दमे भी आरम्भ किये जा सकें, और जितने अन्तराल के लिए उन पर मुक़द्दमे चलाने की मनाही रहे, वह कालबाधिता के सिद्धान्त के प्रवर्तन में नगण्य समझे जायें।

विधि मन्त्री ने आगे कहा कि भारत की लोकतन्त्रीय एवं गणतन्त्रीय सरकार में प्रधान-मन्त्री का अत्यन्त केन्द्रीय स्थान होता है तथा संविधान में जो संरक्षिता राष्ट्रपति एवं राज्यों के गवर्नरों को प्रदान की गई है, वही प्रधानमन्त्री को भी प्रदान करना तर्कसंगत होगा। अतः धारा 361 में प्रदत्त संरक्षण प्रधानमन्त्री को भी देने का प्रस्ताव किया गया।

इसे 9 अगस्त को राज्य सभा द्वारा 154 के मुकाबले शून्य मत से पारित कर दिया गया। तदुपरान्त इसे लोक सभा को भेज दिया गया।

संविधान (बयालिसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 [The Constitution (Forty-second Amendment) Act, 1976]

21 मई, 1976 को विधि मंत्री श्री एच.आर. गोखले ने लोक सभा में संविधान (बया-लिसवाँ संशोधन) अधिनियम प्रस्तुत किया। इसका लक्ष्य धारा 31वी से 64 तक की सुरक्षा प्रदान करना था तथा केन्द्र व राज्य सरकारों को निम्न अधिकारों से मुक्त करना था। तस्करों की सम्पत्ति को ज़ब्त करना, शहरी भूमि का सीमा-निर्धारण, बंधुआ मज़दूरी से मुक्ति, विदेशी मुद्रा का संरक्षण व तस्करी की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाना, आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन पर रोक तथा भूमि सुधार। इनमें से अधिकांश अधिनियम (9 केन्द्रीय तथा 55 राज्य सरकारों के) 25 जून, 1975 को आपात्-स्थिति की घोषणा के बाद प्रधानमंत्री के बीस सूत्री कार्यक्रम को लागू करने के लिए पारित किये गये थे। ये सभी अधिनियम संविधान की नवीं सूची में शामिल किये जाने थे ताकि इनकी संवैधानिकता को न्यायालय में चुनौती न दी जा सके। संशोधन अधिनियम को धारा 1 में देश की प्रभुत्वसंपन्नता के अधिकारों को भी विस्तृत कर दिया गया था और उसमें समुद्री संपदा शामिल कर ली गई थी। इसमें "संपूर्ण आर्थिक

क्षेत्र" की अवधारणा को समाहित करने का उद्देश्य शामिल था।

इस अधिनियम के प्रयोजनों एवं कारणों में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संबंधित धाराओं (कुल संख्या 64) को यदि न्यायालयों में चुनौती दी जाती है तो हमारे लक्ष्यों को हानि पहुँचती है और देश की अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान पहुँचता है।

यह अधिनियम 25 मई को पारित किया गया। इसके पक्ष में 313 मत पड़े और विपक्ष में एक भी नहीं। दो दिन बाद राज्य सभा ने इसे सर्वसम्मति से पारित कर दिया। उसी दिन राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति दे दी।

संविधान (तैंतालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 [The Constitution (Forty-third Amendment) Act, 1976]

संसद ने 1 सितम्बर, 1976 को संविधान (तैंतालीसवाँ संशोधन) विधेयक पारित किया। इस विधेयक द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की सेवा निवृत्ति की आयु 60 से बढ़ाकर 62 करने का प्रस्ताव किया गया था। अतः संविधान की धारा 316 (2) में तदनुसार संशोधन कर दिया गया।

केन्द्र में कांग्रेस सरकार संविधान की अनेक धाराओं में संशोधन करने का विचार कर रही थी। उसके लिए कांग्रेस हाई कमान ने भूतपूर्व रक्षा मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह के नेतृत्व में एक समिति बनाई जिसे उन संशोधनों के प्रारूप तैयार करने का काम सौंपा गया। इस संदर्भ में केन्द्र सरकार को सलाह देने के लिए रूस से एक विधि प्रतिनिधिमण्डल भी आमंत्रित किया गया। इस समिति ने जो सिफारिशें कीं, उन पर कांग्रेस कार्य समिति ने 28 मई, 1976 को विचार किया और उनमें से अनेक को स्वीकार कर लिया गया। इन सिफारिशों के आधार पर संविधान संशोधन का एक वृहत् विधेयक तैयार किया गया। इस विधेयक के अनेक प्रावधानों में, नागरिकों के मूल कर्त्तव्य, लोक सभा और राज्यों की विधान सभाओं के कार्यकाल को 5 से बढ़ाकर 6 वर्ष करना, प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित करना तथा केन्द्रीय क़ानूनों की सांविधिक वैधता पर उच्चतम न्यायालय का एकच्छत्र अधिकार स्थिर करना सम्मिलित थे। इसे विधि मन्त्री श्री गोखले ने 1 सितम्बर को लोक सभा में प्रेषित किया। इस विधेयक को पारित करने के लिए अक्टूबर के चौथे सप्ताह में संसद का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया।[13]

[13]दो संशोधन विधेयक, बत्तीसवाँ और इकतालीसवाँ, लोक सभा द्वारा अभी पारित नहीं हुए हैं। अतः कुल पारित विधेयकों की संख्या अब तक 40 है।

अध्याय 4

भारत–राज्यों का एक संघ
(India—A Union of States)

आधुनिक संवैधानिक सरकारों की प्रणाली में जब प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र सरकारें (sovereign independent governments) यह समझती हैं कि उनमें हितों, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की परस्पर समानता है और वे सम्मिलित रूप से उनकी उन्नति व संरक्षा के बेहतर प्रयास कर सकती हैं, तो वे अपने महासंघ (federation) बना लेती हैं।[1] जब और जहाँ ऐसी चेतना जागृत होती है, सम्बन्धित सरकारें एक अनुबंध स्थापित करके उसकी शर्तों के अनुसार एक नई सरकार स्थापित कर लेती हैं जिसे "महासंघीय" सरकार कहते हैं। शासन की सत्ता, कार्यांगों और उत्तरदायित्वों को संघटक राज्यों व महासंघीय सरकार में परस्पर विभाजित कर लिया जाता है। इसके लिए संघटक राज्यों की सरकारें तात्कालिक आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं तथा उन पर महासंघ की स्थापना के समय व्याप्त परिस्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आधुनिक युग में पहली बार ऐसे महासंघ का निर्माण उत्तरी अमरीका के अतलांतिक तट पर स्थित उन तेरह उपनिवेशों ने किया था जिन्होंने ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम करके 1783 में स्वतन्त्रता प्राप्त की और अपना एक महासंघ बनाने का निश्चय किया।

जब ये उपनिवेश अपने नये राज्य, संयुक्त राज्य अमरीका के लिए एक संविधान बनाने के लिए 1787 में फ़िलेडेल्फ़िया में एकत्र हुए, तो वे उस राज्य की सरकार, अर्थात् महासंघीय सरकार को केवल वही सत्ताएँ व कार्यांग सौंपना चाहते थे, जो महासंघ के परिचालन के लिए आवश्यक हों तथा उनके समान हितों की तत्परतापूर्वक एवं प्रभावशाली ढंग से उन्नति कर सकें। अतः संविधान पर अन्तिम रूप से सहमति होने तथा उसे प्रवर्तित करने से पहले पर्याप्त वार्ता, सौदेबाज़ी, तालमेल एवं सामंजस्य करने पड़े। महासंघ को केवल सीमित रूप से सत्ता सौंपी गई तथा शेष सत्ता संघटक

[1] गैर-सरकारी क्षेत्रों में भी संघ बनाए जाते हैं। इनके उदाहरण हैं—अमेरीकन फेडरेशन ऑफ़ लेबर, दि इन्टरनेशनल फेडरेशन ऑफ़ सिटीज, वर्ल्ड फेडरेशन ऑफ़ ट्रेड यूनियन्ज, इत्यादि।

राज्यों के ही अधिकार में रही अर्थात् जो सत्ता संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार को नहीं सौंपी गई तथा संघटक राज्यों को उनसे वंचित नहीं किया गया, वे उन्हीं के पास रहीं।

आस्ट्रेलिया में भी महासंघीय सरकार की सत्ता व प्राधिकार निर्धारित कर दिये गए, तथा शेष सत्ता को संघटक इकाइयों ने स्वयं अपने अधिकार में बनाए रखा।

संघ की बजाय महासंघ बनाने सम्बन्धी प्रभावी तत्त्व (Factors Influencing Decision in Favour of a Union and not a Federation)

भारत में जिन परिस्थितियों में महासंघीय राजनीति प्रचलित की गई, वे अमरीका और आस्ट्रेलिया की परिस्थितियों से भिन्न थीं। यहाँ ऐसी कोई स्वतन्त्र प्रभुत्वसंपन्न राजनीतिक इकाइयाँ नहीं थीं, जो परस्पर एकत्र होकर नया महासंघीय प्राधिकार स्थापित करने की अनिवार्यता या आवश्यकता अनुभव करतीं। यह एक बाहरी प्राधिकारी-ब्रिटिश सरकार थी, जिसने अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा बनाने का निश्चय किया। इसी संविधान सभा ने भारत के संविधान का प्रारूप बनाकर उसे पारित किया।

संविधान के रचयिताओं को अनेक तत्त्वों ने प्रभावित किया। इनमें से प्रथम तत्त्व यह था कि संविधान बनाने से पूर्व देश भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बँटा हुआ था जिनका अलग-अलग दर्जा था। ये प्रान्त स्वतन्त्रता प्रभुत्व सम्पन्न इकाई नहीं थे वरन् उनका शासन केन्द्रीय प्रणाली से होता था। प्रत्येक प्रान्त का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल होता था, जो भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी होता था। यद्यपि भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा गवर्नर शासित प्रान्तों में स्वायत्त शासन (autonomy) की प्रणाली प्रचलित कर दी गई थी, मन्त्रिपरिषदों व प्रान्तीय विधानमण्डलों के अधिकारों को गवर्नरों के "विशेष उत्तरदायित्वों" के द्वारा बहुत परिसीमित कर दिया गया था, जिनका प्रान्तीय विधान सभाओं के प्रति कोई उत्तरदायित्व न होकर सीधे गवर्नर-जनरल से सम्बन्ध होता था। चीफ़ कमिश्नरों के प्रान्त सीधे गवर्नर-जनरल के प्रशासनिक नियन्त्रण (administrative control) में होते थे। इस प्रकार प्रान्तों को जो भी अधिकार प्राप्त थे, वे उन्हें एक उत्कृष्ट केन्द्रीय प्राधिकारी से प्राप्त होते थे। अतः विधायक एवं प्रशासनिक अधिकारों के वितरण में उनके दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व नहीं होता था। यद्यपि देसी रियासतों को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 द्वारा "बातचीत द्वारा निश्चित करके" भारतीय उपनिवेश में सम्मिलित होने की छूट दी गई थी, किन्तु उनकी भौगोलिक, राजनीतिक और वित्तीय परिस्थितियों के कारण उनके लिए ऐसी कोई बातचीत कर पाना लगभग असम्भव था। अतः संविधान के रचियताओं को उन्हें अपने विचारों के अनुसार आवश्यक एवं यथोचित सत्ता एवं अधिकार देने की छूट उपलब्ध थी।

प्रान्तों व देशी राज्यों को दिये जाने वाले दर्जे से भी अधिक महत्त्व आगामी वर्षों में देश की अखंडता एवं मजबूती का था। भारत एक विशाल घनी आवादी वाला देश है जिसमें जातियों, धर्मों, भाषाओं, परम्पराओं, संस्कृतियों, और प्रदेशों की महान भिन्नताएँ विद्यमान हैं और स्वतन्त्र भारत में सभी अपने-अपने विकास एवं मान्यता की अपेक्षा कर रहे थे। देश में विघटनकारी तत्त्व सदैव प्रवल रहते थे और देश के विभाजन के पश्चात् भी वे समाप्त नहीं हो गए थे। संविधान के रचियताओं ने, जिनमें से अनेक महानुभाव विख्यात इतिहासकार, विधिवेत्ता और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे, यह आवश्यकता अनुभव की कि एक मज़बूत केन्द्रीय सरकार होनी चाहिए जो उपर्युक्त विघटनकारी तत्त्वों को नियंत्रित करके देश के संगठन, प्रभुसत्ता, और अखण्डता की रक्षा कर सके। कुछेक बड़ी देसी रियासतों ने जो समस्याएँ उपस्थित कीं तथा भारतीय उपनिवेश में सम्मिलित होने की वार्ता के लिए नरेश-मण्डल (Chamber of Princes) ने जो शर्तें प्रस्तुत कीं, उनसे संविधान के रचयिताओं के ये विचार और भी दृढ़ हो गए कि केन्द्र में भारत की एक सुदृढ़ सरकार होना **अत्यन्त आवश्यक है**।

संविधान के रचयिताओं के दिमाग़ में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह भी था कि आधुनिक लोकहितकारी राज्यों (welfare states) के कार्य भार एवं उत्तरदायित्व इतने विशाल एवं पेचीदा हैं तथा आर्थिक पुर्ननिमाण एवं विकास की योजनाएँ एक-दूसरी पर इतनी अधिक निर्भर करती हैं कि पर्याप्त साधनों एवं अधिकारों से लैस एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार ही उनका शीघ्रता एवं सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकती है।

संविधान के मूल रचयिताओं को भारत की उन ज़िम्मेदारियों एवं कर्त्तव्यों का भी पूरा ध्यान था जो उसे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय प्राँगण में निभाने थे अथवा होंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अनेक विशिष्ट एजेंसियाँ स्थापित होना, सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में शीत युद्ध आरम्भ होना, एशिया व अफ्रीका में अनेक स्वतन्त्र देशों का प्रादुर्भाव तथा उनके आर्थिक पुर्ननिमाण के प्रश्न, ये कुछ ऐसी विकट समस्याएँ थीं कि उनके समाधान के लिए भीषण प्रयत्न दरकार थे। भारत को यदि कमज़ोर, विभाजित अथवा भीतरी मतभेदों में ही उलझा रहने दिया जाता तो इन चुनौतियों का सामना करना अत्यन्त कठिन हो जाता। अतः यही निश्चय किया गया कि केन्द्रीय सरकार सुदृढ़ एवं सशक्त हो।

उपर्युक्त तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के रचयिताओं ने कहीं भी "महासंघ" (federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया और भारत को राज्यों का संगठन (union of states) संज्ञा देना ही उचित समझा। महासंघ अथवा फैडरेशन का अर्थ सभी संघटक पक्षों के लिए समान या लगभग समान दर्जे का अनुबन्ध माना जाता किंतु संविधान के रचयिताओं के मस्तिष्क में राज्यों को ऐसा दर्जा देने का विचार बिल्कुल नहीं था। उन्होंने केन्द्र एवं राज्यों में सरकारी सत्ता का वितरण अवश्य किया तथा राज्यों को अपने परिक्षेत्र में स्वशासी अवश्य बनाया, पर राज्यों को उस स्व-शासन का उपयोग केन्द्र की सर्वोपरि श्रेष्ठता को ध्यान में रखते हुए करना था। दोनों

में मतभेद होने पर राज्यों के लिए झुकना आवश्यक रखा गया।

डा. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा के सम्मुख संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए कहा : "इस प्रकार एक दोहरी शासन-पद्धति स्थापित हो जाती है। केन्द्र में केन्द्रीय सरकार और राज्यों में उनकी अपनी-अपनी सरकारों को संविधान द्वारा निर्दिष्ट अपने-अपने कार्यक्षेत्र में सम्प्रभुता उपलब्ध रहेगी। भारतीय संघ कोई राज्यों का संघ नहीं है जिनमें परस्पर ढीले-ढाले सम्बन्ध हों और न ही राज्य संघीय सरकार के अभिकरण हैं जिन्हें उससे सत्ता प्राप्त होती हो। केन्द्र और राज्य दोनों ही संविधान की कृतियाँ हैं, और दोनों को ही केन्द्र से अधिकार प्राप्त होता है। कोई भी अपने क्षेत्र में दूसरे के अधीनस्थ नहीं है, उनके प्राधिकार परस्पर समन्वित हैं।" डॉ० अम्बेडकर का कहना था कि वास्तव में भारतीय संविधान समय और परिस्थितियों के अनुसार एकात्मक (unitary) एवं महासंघीय, दोनों प्रकार का है।"[2]

संविधान सभा के एक सदस्य श्री एन०वी० गडगिल ने कहा, "मैं नहीं समझता कि *भारत में या उसके बाहर कोई भी व्यक्ति अथवा दल ऐसा होगा जो पूर्णतः एकात्मक* सरकार (unitary state) का समर्थक होगा।"[3]

संविधान सभा के सदस्य और सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डा. कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने कहा कि "भारत एक अर्ध महासंघीय संघ (A quasi-federal union) है जिसमें एकात्मक सरकार के अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षणों का समावेश है।"[4]

पश्चिम बंगाल बनाम भारतीय संघ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने बहुमत निर्णय में संविधान के प्रकार पर टिप्पणी करते हुए कहा कि वह "महासंघ के किसी भी पारम्परिक नमूने से मेल नहीं खाता।" अल्प-मतीय निर्णय में कहा गया कि भारतीय संविधान "का ढाँचा महासंघीय है जिसका केन्द्र की ओर बहुत अधिक झुकाव है।"[5]

भारत के एक भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डा० पी० बी० गजेन्द्रगडकर ने विचार व्यक्त किया कि यद्यपि संविधान में महासंघीय ढाँचे के कुछ लक्षण विद्यमान हैं, तथापि उसे सही अर्थ में महासंघीय नहीं कहा जा सकता।"[6]

अनेक विदेशी विद्वानों ने भी भारतीय संविधान के बारे में ऐसे ही विचार व्यक्त

[2]संविधान सभा, डिबेट्स, खंड VII, पृष्ठ 33-34।

[3]*Ibid.*, खंड XI, पृष्ठ 657।

[4]See his book, *The President under the Indian Constitution* (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1967), p. 1.

[5]Quoted in the Institute of Constitutional and Parliamentary Studies. *Journal of Constitutional and Parliamentary Studies*, vol. III; No. 4. Oct-December 1969, p. 1.

[6]P. B. Gajendragadkar, *The Constitution of India: Its Philosophy and Basic Postulates* (Oxford University Press, Bombay, 1969), p. 67.

किये। उदाहरणतया सर आइवर जेनिन्ज़ ने लिखा "भारत की एक तीव्र केन्द्रीकरण प्रवृत्ति की महासंघीय सरकार (Federal Union) है।"[7] के० सी० व्हीयर ने कहा कि भारत का एक अर्ध-महासंघीय (quasi-federal) संविधान है।"[8] डब्ल्यू० एच० मोरिस-जोन्स का दृष्टिकोण था कि भारतीय महा संघीयता एक प्रकार की "सहकारी संघीयता" (co-operative federalism) है जिसमें केन्द्र व राज्यों के बीच सौदेबाज़ी होती है, पर अन्त में कोई न कोई हल निकल आता है और दोनों ही सहयोग करने पर सहमत हो जाते हैं।"[9] बैन्जामिन एन० शून्फ़ैल्ड का विचार था कि भारतीय महासंघीयता में केन्द्रीयता की प्रवृत्ति है, किन्तु वह उसके मूल ढाँचे के कारण नहीं वरन् उसके समाजवादी लक्ष्यों और केन्द्र प्रतिपादित विकास आयोजन के कारण है।[10]

भारतीय संविधान के प्रकार पर व्यक्त किये गए इन विचारों के कारण प्रोफ़ेसर अलेक्जैन्ड्रोविज़ को कहना पड़ा कि "भारतीय संविधान पूर्णतः अद्‌भुत (sui generis) है।"[11]

यद्यपि भारतीय संविधान में महासंघीयता की तीनों प्रमुख विशेषताएँ विद्यमान हैं, तदपि उसे महासंघों की पंक्ति में रखना अनुचित होगा। वास्तव में यह भारतीय समाज की विशेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए गढ़ी गयी एक नवीन कल्पना है।

संघीय सरकार व राज्य सरकारों में सत्ता का वितरण
(Distribution of Powers between the Union and States)

कार्यकारी सत्ता (Legislative Power)

प्रत्येक सरकार की कार्यकारी सत्ता उसके विधानकारी सामर्थ्य के अनुसार होती है। अतः संविधान के रचयिताओं ने केन्द्र एवं राज्यों में सत्ता का वितरण अत्यन्त सावधानी से किया था।[12] संविधान की धारा 245 में निर्दिष्ट किया गया है कि संसद सारे भारत या उसके किसी भाग के लिए विधि निर्माण कर सकती है तथा

[7]Ivor Jennings, *Some Characteristics of the Indian Constitution* (Oxford University Press, London. 1953), p. 1.

[8]K. C. Wheare, *Federal Government* (Oxford University Press, London 1963), fourth edition, p. 27. Also see his *Modern Constitutions,* published by the same press in 1964, pp. 29 and 51.

[9]W. H. Morris-Jones, *The Government and Politics in India* (Hutchinson University Press, London, 1964), p. 143.

[10]Benjamin N. Schoenfeld, *Federalism in India* (Public Affairs Press, Washington D. C., 1960). p. 14.

[11]Alexandrowicz, *Constitutional Development in India* (Oxford University Press, London, 1957), p. 159. See also K. P. Mukerji, "Is India a Federation ?" *Indian Journal of Political Science*, vol. 15, 1954, pp. 177-79.

[12]Mrs Ranjite Coondoo, *The Division of Powers in the Indian Constitution* (Bookland Private Ltd, Calcutta, 1964), pp. 1-5-189.

किसी राज्य का विधान मण्डल उस सारे राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधि निर्माण कर सकता है।" राज्य विधान मण्डलों द्वारा बनाये गए कानूनों पर प्रादेशिक सीमाएँ प्रवर्तित होती हैं, पर धारा 245 के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट है कि संसद द्वारा बनाए गए कानूनों पर ऐसी कोई सीमाएँ प्रवर्तित नहीं होतीं। संसद ऐसी विधि भी बना सकती है जिनका उपयोग देश की सीमा के बाहर किया जाये। यह प्रावधान अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि संसद ऐसी विधि न तो बना सकती है और न ही उसे बनानी चाहिए, जो वह प्रवर्तित न कर सके। यह स्पष्ट ही है कि संसद द्वारा बनाई गई विधि भारतीय संघ की प्रादेशिक सीमा के बाहर प्रयुक्त नहीं की जा सकती। किन्तु उसकी विधि भारतीय नागरिकों द्वारा देश से बाहर किये गए अपराधों के प्रति प्रवर्तित हो सकती है और तत्सम्बन्धी व्यक्ति या व्यक्तियों को देश में आने पर दण्ड दिया जा सकता है। प्रशासन के जो भी सम्भावित विषय संविधान के रचयिताओं की कल्पना में आये, उन्हें तीन सूचियों में विभक्त कर दिया गया—संघीय विधान सूची, राज्य विधान सूची तथा समवर्ती विधान सूची। संघीय विधान सूची में 97 विषय, राज्य विधान सूची में 66 और समवर्ती सूची में 47 विषय सम्मिलित किये गए।

धारा 246 में प्रावधान किया गया कि संसद को संघीय विधान सूची के विषयों पर विधि बनाने का पूर्ण अधिकार है; राज्य विधान मण्डलों को राज्य सूची के विषयों के सम्बन्ध में विधि बनाने का पूर्ण अधिकार होता है तथा समवर्ती सूची के विषयों के सम्बन्ध में विधि बनाने का संसद व राज्यों दोनों को एक साथ अधिकार होता है।

संसद की श्रेष्ठता (Predominance of Parliament)

संसद व राज्य विधान मण्डलों की विधायक शक्तियों में स्पष्ट भेद व्यक्त किये जाने के बावजूद संसद को सामान्य विधानकारी क्षेत्र में श्रेष्ठता का दर्जा दिया गया है। यदि कोई विषय संघीय सूची (Union List) तथा राज्य सूची (State List) दोनों में सम्मिलित हो, तथा यदि उन दोनों में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाये तो संघीय सूची को श्रेष्ठ माना जायेगा। इसी प्रकार, यदि संघीय और समवर्ती विधान सूचियों में एक ही विषय एक साथ आ जाये तो संघीय विधान सूची की श्रेष्ठता मानी जायेगी तथा समवर्ती सूची (Concurrent List) को राज्य सूची पर प्राथमिकता दी जायेगी। धारा 246 के अनुच्छेद (4) में यह भी निर्दिष्ट किया गया कि संसद को भारतीय सीमा के भीतर किसी भी ऐसे प्रदेश से सम्बन्धित किसी भी विषय के सम्बन्ध में विधि बनाने का अधिकार होगा, जो किसी राज्य में सम्मिलित न किया गया हो, चाहे वह विषय राज्य सूची में ही सम्मिलित क्यों न हो।

राज्य सूची के किसी भी विषय पर राष्ट्रीय हित में विधान बनाने का संसद का अधिकार (Power of Parliament to legislate with respect to any matter in the State List in the national interest)—विधि-निर्माण के क्षेत्र में संसद

की श्रेष्ठता संविधान की अनेक धाराओं में स्थापित की गई है। उदाहरणतया धारा 249 में प्रावधान है कि यदि राज्य सभा न्यूनतम दो-तिहाई उपस्थित एवं मतदाता सदस्यों के समर्थन द्वारा प्रस्ताव पारित करके घोषित करे कि प्रस्ताव में निर्दिष्ट किसी राज्य सूची के विषय के सम्बन्ध में विधि बनाना राष्ट्रीय हित में आवश्यक अथवा लाभप्रद होगा तो प्रस्ताव के कार्यान्वित रहने की अवधि में सारे भारत या उसके किसी भाग के लिए उस विषय पर नियम बनाना न्यायसंगत होगा। ऐसा प्रस्ताव स्वयं अपने द्वारा निर्दिष्ट अवधि के लिए, अधिकतम एक वर्ष के लिए क्रियान्वित रह सकता है। राज्य सभा ऐसे प्रस्ताव की अवधि में उसकी अन्यथा समाप्त होने की तिथि के आगे एक वर्ष तक की वृद्धि कर सकती है। यह कार्रवाई उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार आरम्भ में प्रस्ताव पारित किये जाने के समय की जाती है। संसद द्वारा बनाई गई ऐसी विधि जिसे बनाना सामान्यतः उसके अधिकार में नहीं था, पर राज्य सभा द्वारा प्रस्ताव पारित करने के कारण उसे वह अधिकार मिल गया था, तत्सम्बन्धी प्रस्ताव का कार्यकाल समाप्त होने के बाद छः मास की अवधि समाप्त होने पर स्वतः अप्रवर्तनीय हो जाता है, पर उपर्युक्त अवधि समाप्त होने से पूर्व किये गए अथवा करने से छोड़े गए कार्य उसके अपवाद माने जाते हैं। इस प्रावधान से राज्य सभा को, जो राज्यों की प्रतिनिधि होती है, किसी भी स्थानीय चिन्ता के विषय को जो राष्ट्रीय महत्त्व का बन गया हो—समवर्ती सूची में रख देने का अधिकार मिल गया। राज्य सभा ऐसा कार्य किसी भी समय कर सकती है, चाहे उस समय आपात्-स्थिति हो या न हो।

आपात्-स्थिति विद्यमान होने की स्थिति में राज्य सूची के विषयों के सम्बन्ध में विधान बनाने का संसद का अधिकार (Power of Parliament to legislate with respect to any matter in the State List if a proclamation of emergency was in operation)—युद्ध या बाहरी आक्रमण अथवा अन्दरूनी गड़बड़ी के कारण भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने पर यदि राष्ट्रपति ने धारा 352 के अनुसार आपात्-स्थिति की घोषणा की हो, तो व्यावहारिक रूप से संविधान पूर्णतः एकात्मक हो जाता है। धारा 250 के अनुच्छेद (1) द्वारा संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय के सम्बन्ध में विधि बनाने का अधिकार दिया गया है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधानों में ऐसा कोई प्रावधान नहीं किया गया है तथा आपात्-कालीन परिस्थितियों से निपटने के लिए महा संघीय सरकारों के अधिकारों में वृद्धि न्यायालयों द्वारा व्याख्या के आधार पर की जाती है। भारतीय संविधान के रचयिता विविध विषयों को न्यायालयों द्वारा निर्णीत कराने के लिए नहीं छोड़ना चाहते थे, अतः उन्होंने संविधान में ऐसा प्रावधान कर दिया जिससे संघीय सरकार किसी भी आपात्-स्थिति से निपटने के लिए पर्याप्त रूप से सशक्त रहे। संसद द्वारा धारा 250 (1) के अन्तर्गत बनायी गई विधि आपात्-स्थिति की अवधि समाप्त होने के बाद छः मास की अवधि समाप्त होने पर निष्प्रभावी हो जाती है। किन्तु उन

विधियों के अन्तर्गत किये गए या करने से छोड़े गये कार्य इसके अपवाद होते हैं ।

राज्य विधान मण्डलों को संविधान द्वारा जिन विषयों पर विधि बनाने के अधिकार दिये गए हैं, धारा 249 और 250 द्वारा उन पर कोई रोक नहीं लगाई गई है। किन्तु यदि उनके द्वारा बनाये गए किसी विधि का कोई प्रावधान संसद द्वारा बनाये गए किसी विधि के प्रावधान के विपरीत हो, तो चाहे संसद द्वारा वह विधि राज्य विधान मण्डल से पहले बनायी गयी हो अथवा बाद में, संसद की ही विधि प्रवर्तित की जायेगी और राज्य विधान मण्डल द्वारा बनायी गयी विधि अपनी विपरीतता की परिसीमा तक किन्तु केवल संसद के विधि के प्रवर्तन की अवधि के लिए प्रवर्तनीय नहीं होगी ।

दो या अधिक राज्यों के लिए उनकी सहमति से विधान बनाने का संसद का अधिकार (Power of Parliament to legislate for two or more States by consent)—संसद को दो अथवा अधिक राज्यों के लिए उनकी सहमति से विधि बनाने का भी अधिकार दिया गया । धारा 252 (1) में निर्दिष्ट किया गया कि यदि दो या अधिक राज्यों के विधायकों को ऐसा प्रतीत हो कि धारा 249, 250 के प्रावधानों के अतिरिक्त किन्हीं ऐसे विषयों को, जिस पर संसद को विधि बनाने का अधिकार न हो, राज्यों में संसद द्वारा अपनी विधि के परिवर्तन से नियमित किया जाये तथा यदि उन सभी राज्यों के विधान मण्डलों के सभी सदनों द्वारा तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किये जायें तो संसद के लिए उस विषय के सम्बन्ध में अधिनियम पारित करके नियम बनाना न्यायिक माना जायेगा; इस प्रकार पारित किया गया अधिनियम उन राज्यों पर लागू होता है । ऐसी विधि को यदि किसी अन्य राज्य का विधान मण्डल बाद में ग्रहण कर ले तो वह उस राज्य पर भी लागू किया जा सकता है । संसद द्वारा इस प्रकार पारित कानून को केवल संसद द्वारा ही संशोधित या समाप्त किया जा सकता है । धारा 252 केवल तभी प्रवर्तित होती है, जब कम से कम **दो राज्य संयुक्त रूप से उसका उपयोग करें** । राज्य सूची के किसी विषय को संसद के अधिकार में दे दिया जाने पर राज्य विधान मण्डल उसके क्षेत्र से बाहर हो जाता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को कार्यान्वित करने के लिए विधान (Legislation for giving effect to International Agreements)—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में केवल संघीय सरकार कार्य करती है तथा राज्य सरकारों को उस सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं होते । कभी-कभी संघीय सरकार विदेशी ताकतों से ऐसे क़रार कर लेती है जिनका प्रभाव सारे देश में प्रवर्तित होता है । ऐसे क़रारों को ठीक प्रकार लागू कराने के लिए यह आवश्यक माना गया कि संघीय सरकार को उस सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार हों । अत: धारा 253 में यह प्रावधान किया गया कि संसद को सारे भारत या उसके किसी भाग के लिए किसी अन्य देश या देशों के साथ की गई संधि, क़रार या समझौता लागू करने अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संगठन या अन्य निकाय इत्यादि में किये गए निर्णय को प्रवर्तित कराने के लिए कानून बनाने का

पूर्ण अधिकार होगा। इस प्रावधान से संसद को राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार मिल गया।

संघीय तथा राज्यों के विधियों में असामञ्जस्य(Inconsistency between Union and State laws)—समवर्ती सूची के किसी भी विषय पर संसद एवं राज्य विधान मण्डल दोनों को ही विधि बनाने का अधिकार होता है। किसी समय ऐसा भी हो सकता है कि एक ही विषय पर संघीय विधि के प्रावधान तथा राज्य की विधि में भिन्नता हो। धारा 254 में ऐसी परिस्थिति सम्बन्धी प्रावधान हैं। इसमें निर्दिष्ट किया गया है कि संसद द्वारा बनाया गया कानून चाहे राज्य के कानून से पहले बनाया गया हो अथवा बाद में, श्रेष्ठ माना जायेगा; और राज्य के कानून का जितना भाग संसद के कानून से भिन्न होगा, प्रभावशून्य होगा। किन्तु यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर राज्य की विधि को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर लिया गया और उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाये तो उस राज्य में वही विधि लागू होगी। किन्तु संसद को किसी भी समय उसी विषय के सम्बन्ध में कोई विधि बनाने का अधिकार होगा जिसमें राज्य विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार बनायी गई विधि में अन्य प्रावधान जोड़ने, संशोधन करने, फेर-बदल करने तथा उसे समाप्त करने की व्यवस्था भी की जा सकती है।

संवैधानिक तन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाने की स्थिति में संसद का राज्यों के लिये विधि बनाने का अधिकार (Power of Parliament to legislate for States in case of failure of constitutional machinery)—संसद की श्रेष्ठता की पुष्टि धारा 356 व 357 द्वारा भी की गई है। धारा 356 में निर्दिष्ट किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि किसी राज्य की सरकार को संविधान के प्रावधानों के अनुसार चलाया नहीं जा सकेगा तो वे यह घोषित कर सकते हैं कि उस राज्य के विधान मण्डल के अधिकार संसद द्वारा या उसके प्राधिकार से प्रवर्तित होंगे। धारा 357 में निर्दिष्ट है कि संसद अपनी विधायक सत्ता राष्ट्रपति को सौंप सकती है। धारा 356 का यह प्रभाव होगा कि उस राज्य में जब तक आपात्-स्थिति की घोषणा प्रवर्तित होगी, उसका विधान मण्डल निलम्बित अथवा भंग माना जायेगा और उसकी विधायक सत्ता संसद के अधिकार में होगी।

राज्यों द्वारा विधि निर्माण पर संघीय सरकार का नियन्त्रण (Union Government's control over State Legislation)—राज्यों द्वारा विधि निर्माण पर केवल संसद का ही नहीं वरन् संघीय कार्यपालिका का भी कुछ नियन्त्रण होता है। धारा 31 के अनुच्छेद (3) में, जिसमें सम्पत्ति के अधिकार सम्बन्धी प्रावधान हैं, व्यवस्था की गई है कि यदि किसी राज्य का विधान मण्डल सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए चल या अचल सम्पति के अनिवार्य अधिग्रहण सम्बन्धी विधेयक पारित करे तो वह राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित (Reserve) करने तथा उनकी स्वीकृति प्राप्त हुए बिना कार्यान्वित नहीं किया जायेगा। यह प्रावधान इसलिए किया गया है कि राष्ट्र-

पति यह देख कर सन्तुष्ट हो सकें कि विधेयक में अधिगृहीत की जाने वाली सम्पत्ति का मुआवज़ा देने की यथोचित व्यवस्था कर दी गई है। धारा 200 में एक यह शर्त जोड़ी गई है कि गवर्नर को ऐसे किसी विधेयक के प्रति अपनी स्वीकृति नहीं देनी चाहिए तथा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रख लेना चाहिए। यदि गवर्नर के विचार में, विधि बन जाने पर, उच्च न्यायालय की सामर्थ्य की इससे अवहेलना होने की आशंका हो, तो उस न्यायालय को संविधान द्वारा दिया गया सम्मान कम हो सकता है। किसी समय किसी राज्य के विधान मण्डल और उच्च न्यायालय में मतभेद भी उत्पन्न हो सकता है (जैसाकि 1964 के आरम्भ में उत्तर प्रदेश विधान सभा और वहाँ के उच्च न्यायालय में हुआ था) तथा ऐसा हो सकता है कि विधान मण्डल ऐसा विधेयक पारित कर दे जिससे उच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र तथा प्राधिकार पर कुप्रभाव पड़ता हो। धारा 200 में उपर्युक्त प्रावधान इसलिए किया गया कि राष्ट्रपति यथासमय न्यायपालिका की स्वच्छन्दता एवं प्राधिकार की रक्षा कर सकें। धारा 200 व 201 में राज्यों के विधान मण्डलों के विधेयकों के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति की व्यवस्था की गई है, पर स्वीकृति देने या उससे इनकार करने के लिए समय की कोई मर्यादा निश्चित नहीं की गई है, और न ही ऐसे सिद्धान्त या मानदण्ड निर्धारित किये गए हैं जिनके अनुसार स्वीकृति दी जानी हो अथवा उससे इनकार करना हो। धारा 200 के अन्तर्गत गवर्नर राज्य विधान मण्डल के किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ तथा उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए रोक सकते हैं। संविधान में ऐसा कुछ नहीं बताया गया है कि ऐसा वे अपनी मर्ज़ी से करेंगे अथवा केन्द्रीय निर्देश पर करेंगे। किन्तु सामान्यतः इसका यही तात्पर्य माना जाता है कि गवर्नर किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए केवल तभी सुरक्षित करेंगे, जब उसमें कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दा जुड़ा हो।

धारा 288 (खण्ड 2) में निर्दिष्ट है कि किसी राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा, या अन्तर्राज्यीय नदी या नदी-घाटी को नियन्त्रित करने या विकसित करने के लिए स्थापित प्राधिकारी द्वारा एकत्र, उत्पन्न, व्यय किया, वितरित अथवा विक्रय किये गये जल या विद्युत पर, कर लगा सकता है अथवा लगाने का अधिकार दे सकता है किन्तु ऐसी विधि जब तक उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित न किया गया हो तथा उनकी स्वीकृति न मिल गई हो, प्रभावरहित होगा।

धारा 304 (ख) के अधीन किसी राज्य का विधान मण्डल विधि द्वारा व्यापार, वाणिज्य या राज्य के भीतर या बाहर माल के आदान-प्रदान पर ऐसे तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगा सकता है, जो सार्वजनिक हित में आवश्यक प्रतीत हों। किन्तु राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना किसी राज्य के विधान मण्डल में ऐसा कोई विधेयक या संशोधन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

यदि राष्ट्रपति धारा 352 के अधीन वित्तीय कठिनाइयों के कारण उत्पन्न आपात्-स्थिति की घोषणा करें तो वे किसी भी राज्य को आदेश दे सकते हैं कि उसके सभी

अर्थ या वित्त विधेयकों को, राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित कर दिये जाने के बाद उनकी स्वीकृति के लिए उठा रखा जाये [धारा 360,4 (ii)] ।

प्रशासनिक अधिकार (Administrative Powers)

संसद की विधायक सत्ता को संविधान में स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया हैं पर संघीय विधि जिस प्रदेश में प्रवर्तित होती है, वह राज्यों में बंटा हुआ है। इस विधि को विविध राज्यों में प्रवर्तित कराने के लिए यह आवश्यक था कि संघीय सरकार को तदर्थ पर्याप्त प्रशासनिक अथवा कार्यकारी सत्ता प्रदान की जाये। धारा 256 में संविधान के रचयिताओं ने निर्दिष्ट किया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी सत्ता को इस प्रकार प्रयुक्त किया जाये कि संसद द्वारा बनाई गई विधि तथा राज्य में प्रचलित तत्कालीन विधि का पालन होता रहे। इसी धारा में यह निर्दिष्ट किया गया है कि भारतीय संघ की कार्यकारी सत्ता राज्यों को ऐसे निदेश दे सकती है, जो भारत सरकार के तदर्थ आवश्यक प्रतीत होती हों।

कुछ मामलों में संघ का राज्यों पर नियन्त्रण (Control of the Union over States in certain matters)—धारा 257 में निर्दिष्ट है कि संघीय सरकार को सारे देश पर प्रभावी नियन्त्रण रखने के लिए, राज्यों को अपनी कार्यकारी सत्ता का इस प्रकार उपभोग करना होगा कि संघ की कार्यकारी सत्ता के कार्यों में रुकावट या हानि न होने पाये। इसके अतिरिक्त, संघीय सरकार उस उद्देश्य के लिए राज्यों को आवश्यक निर्देश भी दे सकती है। वह किसी राज्य को ऐसे संचार-साधन निर्मित करने व उनका निर्वाह करने के आदेश दे सकती है जो उसने राष्ट्रीय व सैनिक महत्त्व के घोषित किये हों (यद्यपि सामान्यत: स्वयं संघीय सरकार ही जल, थल एवं वायु सेना की आवश्यकतानुसार अपने कार्यभाग के रूप में संचार साधनों का निर्माण एवं निर्वाह करती है)। संसद किसी राजमार्ग या जलमार्ग को राष्ट्रीय राजमार्ग या जलमार्ग घोषित कर सकती है और संघ किसी राज्य को आदेश दे सकता है कि वह अपने प्रदेश में रेल मार्ग की सुरक्षा की उचित व्यवस्था करे।

कुछ मामलों में राज्यों को सत्ता प्रदान करने इत्यादि के संघ के अधिकार (Power of Union to confer powers etc. on States in certain matters)—राष्ट्रपति को अधिकार है कि वे किसी राज्य की सरकार को उसकी सहमति से शर्त सहित या बिना किसी शर्त ऐसे किसी विषय से सम्बन्धित कार्य भाग सौंप सकते हैं जिस पर संघीय कार्यकारी सत्ता प्रवर्तित होती हो। इसके अतिरिक्त, संसद किसी राज्य, उसके अधिकारियों व प्राधिकारियों को किसी ऐसी विधि के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान कर सकती है एवं उनके कर्तव्य निर्दिष्ट कर सकती है, जिनके सम्बन्ध में राज्य विधान मण्डल को विधि बनाने के बिल्कुल अधिकार न हों। इन प्रावधानों से केन्द्र को संसद की विधि प्रवर्तित करने के लिए राज्य को शासन-तन्त्र का उपयोग करने का अधिकार मिलता है। उन अधिकारों व कर्तव्यों के परिपालन

में राज्य को जो प्रशासनिक खर्चे करने पड़ते हैं, वह केन्द्र सरकार देती है।

राज्यों द्वारा अपने कार्यभाग संघ को सौंपने के अधिकार (Power of the States to entrust functions to the Union)—जिस प्रकार संघ अपने अधिकार राज्यों को दे सकता है, उसी प्रकार राज्य भी अपने अधिकार केन्द्र को दे सकते हैं। धारा 258 (क) में निर्दिष्ट है कि किसी राज्य का गवर्नर, भारत सरकार की सहमति से (सशर्त या बिना शर्त) उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय सम्बन्धी अधिकार प्रदान कर सकते हैं, जिस पर राज्य की कार्यकारी सत्ता प्रवर्तित होती हो।[13]

सरकारी अधिनियम, अभिलेख और न्यायिक कार्रवाइयाँ (Public Acts, Records and judicial proceedings)—महासंघीय राजतन्त्र में दोहरी शासन-व्यवस्था होने के कारण यह आवश्यक है कि प्रत्येक सरकार के सार्वजनिक अधिनियम व कार्रवाइयों को सारे देश में स्वीकार किया जाये तथा उनमें से किसी के भी प्राधिकार को निर्बल न होने दिया जाये। अतः धारा 261 में निर्दिष्ट किया गया है कि भारतीय संघ एवं प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कृत्यों, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्रवाइयों को सारे भारत में पूर्ण सम्मान दिया जाये। इन कृत्यों, अभिलेखों तथा कार्रवाइयों को प्रमाणित करने तथा उसका प्रभाव निश्चित करने की प्रणाली तथा शर्तें संसद की विधि द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। भारत के किसी भी भाग में दीवानी अदालतों द्वारा दिये गए अन्तिम निर्णय और आदेश सारे भारत में विधिवत् क्रियान्वित होने योग्य माने जाने चाहिए।

जल सम्बन्धी विवाद (Disputes relating to Waters)—भारत में ऐसी अनेक नदियाँ हैं जो एक से अधिक राज्यों में से हो कर बहती हैं तथा उनकी घाटियाँ एक से अधिक राज्यों में फैली हुई हैं। विज्ञान और तकनीक के युग में जल-साधन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा राज्यों में उनके उपयोग सम्बन्धी विवाद उठ खड़े होना बहुत स्वाभाविक है। धारा 262 में ऐसे विवादों के निपटारे सम्बन्धी प्रावधान किये गए हैं। इसके अनुसार, संसद कानून बनाकर किसी भी अन्तर्राज्यीय नदी या नदी-घाटी जल के उपभोग, वितरण या नियन्त्रण के सम्बन्ध में विवाद अथवा शिकायत के निर्णय की व्यवस्था कर सकती है। उसी धारा में संसद को ऐसे विवाद या शिकायत के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को अपना क्षेत्राधिकार प्रयुक्त करने से रोकने का भी अधिकार दिया गया है।

धारा 339 (2) के अधीन केन्द्र सरकार किसी भी राज्य को निदेश दे सकती है कि वह अपने प्रदेश की जन-जातियों के कल्याण के लिए आवश्यक योजनाएं बनाये तथा उनका निदेशानुसार परिपालन करे।

धारा 350 (क) द्वारा संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम, 1956 समाविष्ट

[13]संविधान में यह प्रावधान 1956 में समाविष्ट किया गया।

किया गया। इसके द्वारा प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी एवं राज्य के लिए यह अनिवार्य बना दिया गया कि वह "भाषा के मामले में अल्पसंख्यक बच्चों को प्राथमिक स्तर तक उनकी मातृ-भाषा में शिक्षा प्रदान करने की उचित व्यवस्था करे।" राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया कि वे ऐसी सुविधाएँ जुटाने के लिए किसी भी राज्य को यथोचित एवं आवश्यक निदेश दे सकते हैं।

जब धारा 352 के आधीन आपात्-स्थिति की घोषणा की गई हो तो केन्द्रीय कार्यपालिका किसी भी राज्य को कार्यकारी सत्ता के प्रवर्तन के कानूनी निदेश दे सकती है। इसी प्रकार, जब राष्ट्रपति ने धारा 360 के आधीन वित्तीय आपात्-स्थिति की घोषणा की हो तो संघीय सरकार किसी भी राज्य को "वित्तीय औचित्य के यथोचित एवं आवश्यक सिद्धान्त (canons of financial propriety) सम्बन्धी निर्देश दे सकती है।"

केन्द्र द्वारा दिये गए निदेशों का पालन न करने या उन्हें क्रियान्वित न करने का प्रभाव (Effect of failure to comply with or to give effect to directions given by the Union)—जब भी कोई राज्य, केन्द्र द्वारा संविधानानुसार दिये गए, निर्देशों का पालन न करे तो राष्ट्रपति को धारा 365 के प्रावधान के अनुसार यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि उस राज्य की सरकार संविधान के प्रावधान के अनुसार कार्य नहीं कर सकती। फलस्वरूप धारा 356 के प्रयोग द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है।

वित्तीय अधिकार (Financial Powers)

धन प्रत्येक सरकार का जीवन-सार होता है। इसके बिना न तो वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सकती है और न ही जनता की भलाई के कार्य करने की जिम्मेदारी निभा सकती है। वित्त एकत्र करने के साधन अनेक होते हैं, पर जनता पर कर और विविध उपभोक्ता सामग्रियों पर मालगुजारी (levies) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। संघीय राज्य-व्यवस्था में दो सरकारें कार्य करती हैं, अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक के पास धन हो। अतः संविधान के रचयिताओं ने संघीय सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा धन जुटाने के साधनों की स्पष्ट व्याख्या की है।[14]

केवल केन्द्र द्वारा लगाये जाने वाले कर तथा शुल्क (Taxes and duties levied exclusively by the Centre)—संघीय सूची में वर्णित निम्नलिखित कर तथा अन्य सभी कर, जो राज्य व समवर्ती सूचियों में न गिनाए गए हों और जिन्हें 'शेष कर' कहा जा सकता है, केवल संघीय सरकार द्वारा लगाये जा सकते हैं। संघीय सूची के कर निम्नलिखित हैं: कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आयों पर कर, निर्यात शुल्क सहित सभी सीमा शुल्क परंतु (क) मानवीय उपभोग के लिए बनाई गयी मदिराओं और, (ख) अफ़ीम, भारतीय भाँग तथा अन्य नशीली वस्तुओं तथा दवाओं को छोड़

[14]देखिए, श्रीराम शर्मा, *The Indian Federal Structure* (सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद 1967) पृष्ठ, 28 व 33।

कर; ऐसी दवाओं तथा सौन्दर्य-सामग्रियों को सम्मिलित करके, जिनमें उपर्युक्त(ख) गिनाए गए द्रव्य अथवा मदिरा प्रयुक्त की गई हो; भारत में बने तम्बाकू या अन्य वस्तुओं पर लगाए गए शुल्क, निगम कर, पावना सम्पत्ति में लगे मूलधन पर कर; कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर जायदाद शुल्क, कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकरण से सम्बन्धित शुल्क, रेल, समुद्र या वायुमार्ग से ढोये गए माल या यात्रियों पर लगाये गए चुंगी कर, रेल भाड़े व माल-किराये पर कर, सट्टा-बाज़ारों तथा अग्रिम सौदों के व्यापार हुँडियों, चैकों, प्रामिसरी नोटों, लदान-पत्रों, साख-पत्रों, बीमा पॉलिसियों, शेयरों के हस्तांतरण, ऋण-पत्रों, प्रतिनिधि-पत्रों और रसीदों पर लगाये गए स्टाम्प शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर, समाचारपत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें छपे विज्ञापनों पर लगाये गए कर, तथा संघीय सूची के किसी भी विषय से सम्बन्धित फीस।

कर तथा शुल्क जो केवल राज्यों द्वारा लगाये जा सकते हैं (Taxes and duties levied exclusively by the States)—कुछ कर केवल राज्य सरकारों द्वारा लगाये, वसूल तथा उपयोग किये जा सकते हैं। ये इस प्रकार हैं: भूमि कर, उसका निर्धारण तथा वसूली, कृषि आय पर कर, कृषि-भूमि से सम्बन्धित उत्तराधिकार शुल्क, कृषि-भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति कर, भूमि तथा भवनों पर कर, खनिज अधिकारों पर कर, मानवीय उपभोग के लिए मदिरा और अफीम इत्यादि पर आबकारी शुल्क, किसी स्थानीय क्षेत्र में माल के उपभोग, प्रवर्तन या विक्रय के लिए प्रवेश पर कर, बिजली के उपभोग अथवा विक्रय पर कर, समाचारपत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर, सड़क या अन्दरूनी जलमार्ग द्वारा ढोये गये माल या सवारियों पर कर, गाड़ियों पर कर, जानवरों व नावों पर कर, जीविकाओं, व्यापारों, व्यवसायों, नौकरियों इत्यादि पर कर, व्यक्ति कर, आमोद-प्रमोद की वस्तुओं पर कर, मनोरंजन विनोद, तथा जुए-सट्टे पर कर, तथा संघीय सूची में वर्णित प्रलेखों को छोड़ कर अन्य प्रलेखों से सम्बन्धित स्टाम्प शुल्क।

राज्यों और संघ में राजस्व का वितरण (Distribution of Revenue between Union and the States)—राज्यों द्वारा एकत्र सभी करों को वे अपने लिए व्यय करते हैं, पर केन्द्र जो राजस्व वसूल करता है वह उसका अकेले उपभोग नहीं करता। संविधान के रचयिता जानते थे कि राज्यों के वित्तीय साधन उनके आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होंगे, अत: उन्होंने संघीय राजस्व के कुछ भाग के राज्यों में वितरण की व्यवस्था की। धारा 268 में वे शुल्क गिनाये गए हैं, जो केन्द्र द्वारा लगाये जाते हैं पर जिनकी वसूली तथा उपभोग राज्य करते हैं। ये थे: संघीय सूची में वर्णित स्टाम्प शुल्क तथा दवाओं व शृंगार सामग्री पर लगाये गए उत्पादन कर। किसी वित्तीय वर्ष में किसी राज्य में लगाये जाने वाले ऐसे शुल्क भारत की संचित निधि का भाग न बनकर उसी राज्य को आवंटित कर दिये जाते हैं।

कर जो केन्द्र द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाते हैं, पर राज्यों के नाम कर दिये जाते हैं (Taxes and Levies collected by the Union but assigned to the States)—ये हैं : कृषि-भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर शुल्क, कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा कर, रेल, समुद्र या वायुमार्ग से ढोये गए माल तथा सवारियों पर चुंगी, रेल किरायों तथा भाड़ों पर कर, सट्टा-बाजारों व भावी बाजारों पर लगाये गए स्टाम्प शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर, तथा समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें छपे विज्ञापनों पर कर। संसद द्वारा विधिवत् (धारा 269) कानून बनाकर निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार इन करों से शुद्ध वसूली राज्यों के लिए दे दी जाती है।

संविधान के रचयिता जानते थे कि राज्यों के लिए केन्द्रीय आर्थिक सहायता के बिना आत्मनिर्भर होना सम्भव न होगा, अतः उन्होंने धारा 270 द्वारा कृषि-आय के अतिरिक्त शेष आय कर की शुद्ध उपलब्धि में से राज्यों को अनिवार्यतः कुछ भाग दिये जाने की व्यवस्था की। यह कर केन्द्र द्वारा लगाया तथा वसूल किया जाता है पर उससे प्राप्त शुद्ध राशि (net proceeds) को संघ एवं राज्यों द्वारा परस्पर बांट लिया जाता है।[15]

धारा 272 में निर्दिष्ट किया गया है कि भारत सरकार, संघीय सूची में वर्णित दवाओं और शृंगार-सामग्रियों पर उत्पादन कर के अतिरिक्त सभी प्रकार के उत्पादन कर लगाये और वसूल करे तथा उससे जो धन एकत्रित हो, उसे संघ एवं राज्यों में बांट दिया जाये। यह केवल अनुमति देने सम्बन्धी प्रावधान है तथा धन का वास्तविक बंटवारा केन्द्र की सुविधा पर निर्भर करता है।

संघीय सरकार असम, बिहार और पश्चिम बंगाल के राज्यों में किये गए पटसन के उत्पादन पर निर्यात कर लगाती एवं वसूल करती है। भारत सरकार अधिनियम, 1935 में पटसन उगाने वाले क्षेत्रों की शुद्ध आय में से राज्यों को एक भाग मिलने का प्रावधान था परन्तु वर्तमान संविधान में ऐसे किसी बंटवारे की व्यवस्था नहीं की गई है। किन्तु इन चारों राज्यों को केन्द्र से, संविधान प्रवर्तित होने के बाद से दस वर्ष तक की अवधि के लिए अपने भाग की बजाय सहायता-अनुदान दिये गए।[16] धारा 275 में संघ से कतिपय राज्यों को अनुदान देने सम्बन्धी प्रावधान किए गए। ऐसे

[15]किसी कर या शुल्क के सम्बन्ध में "शुद्ध वसूली" (net proceeds) से तात्पर्य कर अथवा शुल्क से प्राप्त धन में से वसूली की लागत कम करके शेष धन होता है। धारा 279 में बताया गया है कि "शुद्ध वसूली" की राशि की गणना भारत के महालेखा परीक्षक व नियंत्रक द्वारा की जाती है "जिसका प्रमाणपत्र निर्णायक माना जायेगा।"

[16]डा. भीमराव अम्बेडकर का विचार था कि निर्यात कर संघ का भाग होता है तथा राज्यों को उनमें से कोई भाग नहीं मिलना चाहिए। किन्तु डर यह था कि यदि राज्यों को दिया जाने वाला भाग एकदम समाप्त कर दिया गया तो उनके वित्त पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। अतः सहायता-अनुदान का प्रावधान किया गया। देखो, Constituent Assembly, *Debates IX*, पृष्ठ 242.

अनुदान उन राज्यों को दिये जाते रहे हैं जो भारत सरकार की स्वीकृति से जन-जातियों के कल्याण कार्यों में प्रगति करने तथा जन-जातीय क्षेत्रों के प्रशासन का स्तर ऊँचा उठाने सम्बन्धी विकास योजनाएँ आरम्भ करते हैं। असम राज्य को परिगणित क्षेत्रों के उत्थान के लिए विशेष अनुदान दिये जाते हैं। ऐसे प्रत्येक अनुदान की राशि संसद द्वारा निश्चित की जाती है।

धारा 276 के अधीन राज्य विधान मण्डलों को, किसी राज्य म्यूनिसिपेलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, स्थानीय बोर्ड अथवा अन्य स्थानीय निकाय के लाभ के लिए जीविकाओं, व्यापारों, व्यवसायों अथवा नौकरियों सम्बन्धी कर लगाने का अधिकार होता है। ऐसा कर लगाने के किसी भी कानून को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जायेगा कि वह आय पर कर से सम्बन्धित है। राज्य विधान मण्डल के इस अधिकार से जीविकाओं, व्यापारों, व्यवसायों और नौकरियों इत्यादि की आय पर कर लगाने के लिए कानून बनाने के संसद के अधिकार में कोई कमी नहीं आती। धारा 276 के आधीन किसी व्यक्ति पर लगाया गया कर एक वर्ष में 250 से अधिक नहीं होना चाहिए।

संघ तथा राज्यों के उधार लेने के अधिकार (Borrowing Powers of the Union and the States)—संविधान के रचयिता समझते थे कि ऐसा भी हो सकता है कि संघीय एवं राज्य सरकारें करों द्वारा पर्याप्त धन न जुटा पायें। अतः उन्होंने उनकी संचित निधि के विश्वास पर ऋण लेने सम्बन्धी प्रावधान किये। धारा 292 में, जिसके द्वारा संघीय सरकार को ऋण लेने की अनुमति दी गई, कोई प्रादेशिक सीमा निर्धारित नहीं की गई। किन्तु धनराशि की संख्या पर अंकुश अवश्य रखा गया है, जो समय-समय पर संसद द्वारा निर्धारित की जाती है। राज्यों को भी अपनी संचित निधि की प्रत्याभूति पर ऋण लेने के अधिकार हैं पर धारा 293 में यह निर्दिष्ट किया गया है कि वे केवल भारतीय प्रदेश के भीतर से ही ऋण ले सकते हैं। भारत सरकार, संसद द्वारा निर्दिष्ट शर्तों के अनुसार किसी भी राज्य को ऋण दे सकती है अथवा किसी भी राज्य द्वारा लिए गए ऋण के प्रति गारण्टी दे सकती है। यदि किसी राज्य पर भारत सरकार या उसकी पूर्ववर्ती सरकार द्वारा दिये गए ऋण का कुछ भाग बाकी हो, अथवा ऐसे ऋण का शेष हो जिसके लिए भारत सरकार या उसकी पूर्ववर्ती सरकार ने गारण्टी दे रखी है, तो वह राज्य भारत सरकार की अनुमति के बिना और ऋण नहीं ले सकता।

संघीय सम्पत्ति को राज्य कर व्यवस्था से मुक्ति (Exemption of Union from State Taxation)—धारा 285 के आधीन केन्द्र की सभी सम्पत्ति, यदि संसद ने कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न की हो, किसी भी राज्य अथवा राज्य के भीतर अन्य प्राधिकारी द्वारा लगाये गए सभी करों से मुक्त होती है। राज्यों को भारत सरकार द्वारा अथवा भारत सरकार द्वारा किये जाने वाले रेलों के निर्माण, परिरक्षण, अथवा परिचालन में प्रयुक्त विद्युत पर कर लगाने की मनाही होती है। इसी प्रकार, संविधान के प्रवर्तन से तुरन्त पूर्व प्रवर्तित होने वाली कोई भी राज्य विधि अन्तर्राज्यीय नदियों

व नदी-घाटियों के नियंत्रण एवं विकास के लिए संसद द्वारा स्थापित किसी प्राधिकारी द्वारा एकत्र, या उत्पन्न, प्रयुक्त अथवा वितरित किये जाने वाले जल या विद्युत पर (यदि राष्ट्रपति ने आदेश दे कर अन्य व्यवस्था न कर दी हो) किसी प्रकार का कोई कर नहीं लगा सकता। इस प्रावधान का उद्देश्य अन्तर्राज्यीय बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाएँ स्थापित कराना था। परस्पर छूट देने के सिद्धान्त के आधार पर, धारा 289 द्वारा राज्यों की सम्पत्ति को संघीय कर-व्यवस्था से छूट दी गई। किन्तु इससे केन्द्र को किसी राज्य द्वारा अथवा उसकी ओर से चलाये जाने वाले व्यापार या वाणिज्य पर कर लगाने से वंचित नहीं किया जा सकता। जिस वाणिज्य या व्यापार को संसद द्वारा राज्य सरकार के सामान्य कार्य-प्रचालन का आनुषंगिक मान लिया जाये, वह केन्द्रीय कर-व्यवस्था से मुक्त होता है।

अध्याय 5

केन्द्र एवं राज्यों में विवाद

(Era of Union-State Confrontation)

सन् 1950 से 1967 तक के 17 वर्षों में केन्द्र सरकार एवं राज्यों के बीच सम्बन्ध संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार सुचारु रूप से चलते रहे। इस अवधि में कभी-कभी तनाव की स्थिति भी उत्पन्न हुई। ऐसे अवसर विशेषत: वे होते थे, जब संघीय सरकार किसी राज्य के संवैधानिक तन्त्र को हटा कर उसके स्थान पर धारा 356 के आधीन राष्ट्रपति शासन लागू कर देती थी। पूर्वी पंजाब में ऐसा 20 जून, 1951 को किया गया; पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य संघ (पैप्सू) में 5 मार्च, 1953 को; आंध्र में 15 नवम्बर, 1954 को; और ट्रावनकोर-कोचीन में 23 मार्च, 1956 को। इन सभी मामलों में विपक्षी दलों ने केन्द्र-स्थित कांग्रेस सरकार की आलोचना की कि वह उन्हें वैकल्पिक सरकार बनाने का अवसर प्रदान नहीं करती। उन्होंने आरोप लगाया कि कांग्रेस किसी भी राज्य में गैर-कांग्रेसी सरकार सहन करने को तैयार नहीं है और वह विपक्षी बैंचों पर बैठना पसन्द नहीं करती। इस आरोप की इस तथ्य से पुष्टि होती है कि पश्चिम बंगाल, बिहार और पंजाब के तीन राज्यों में कांग्रेस ने अपने समर्थन द्वारा अल्पसंख्यक सरकारें स्थापित कीं। इस अवधि में गवर्नरों पर भी आरोप लगाये गए कि विशेषत: जब कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य किसी दल की सरकार होती है तो वे अपने कर्त्तव्यों को निष्पक्षतापूर्वक नहीं निभाते। तथापि, केन्द्र एवं राज्यों में झगड़ा कभी नहीं होता था और अवसर बीत जाने के बाद शिकायत भी मिट जाती थी।

इसके मुख्यत: दो कारण थे : प्रधानमन्त्री नेहरू का प्राकृतिक नेतृत्व और केन्द्र व अधिकतर राज्यों में कांग्रेस का प्रभुत्व। नेहरू को सरकारी एवं दलीय तन्त्रों पर लगभग निरंकुश नियन्त्रण प्राप्त था तथा दल के अधिकतर नेता न केवल उनके इंगित पर चलते थे, प्रत्युत वे देश में अपने राजनीतिक जीवन में भी उन्हीं पर आश्रित रहते थे। राज्य सरकारों के नेताओं की तकलीफें व शिकायतें दलीय स्तर पर मिटा दी जाती थीं और जिन शिकायतों का समाधान नहीं हो पाता था, उन्हें लाइलाज कहकर छोड़ दिया जाता था। यदि कोई नेता हठ करता था तो उसे झिड़क कर चुप करा दिया जाता था अथवा सरकार से या पार्टी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता था।

राज्यों में कांग्रेस की प्रभुसत्ता समाप्त—केन्द्र एवं राज्यों के बीच झड़पें आरम्भ (Congress Party Predominance in States ends—Union-State Confrontation begins)—संघ-राज्य सहयोग का युग कुछ तो 27 मई, 1964 को श्री नेहरू के देहान्त के वाद समाप्त हो गया और जो कसर थी वह फरवरी, 1967 में चौथे आम चुनाव के वाद पूरी हो गई।

श्री नेहरू के वाद कांग्रेस का कोई भी छोटा या वड़ा नेता उनके जैसा सम्मानित नहीं था, और उनके समान दवदवा भी किसी का नहीं था। केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस एवं सरकारों के कार्यभार नेताओं की एक मण्डली के हाथ में आ गया। इसी मण्डली का नाम आगे चलकर 'सिंडीकेट' (Syndicate) पड़ा। चौथे आम चुनाव के वाद केन्द्र एवं लगभग आधे राज्यों में कांग्रेस की प्रभुता वहुत कम हो गई। लोकसभा में उसका वहुमत 1962 के 361 स्थानों से हटकर 282 स्थान रह गया और 17 में से 7 राज्यों में कांग्रेस को संयुक्त मोर्चे अथवा मिली-जुली सरकारें वनानी पड़ीं। इन राज्यों में कांग्रेस के वड़े-वड़े नेता सत्तारूढ़ न रह सके और वे संघर्ष एवं झगड़ों, धमकियों व चेतावनियों और गिले-शिकवों की वातें करने लगे।

केन्द्र के विरुद्ध राज्यों की शिकायतें
(Grievances of States against the Union)

विशिष्ट शिकायतें (Specific Grievances)

गैर-कांग्रेसी दलों द्वारा शासित राज्यों के शिकवे और शिकायतें, विशेषतः संघीय सरकार के विरुद्ध, विशिष्ट एवं सामान्य—दोनों प्रकार की थीं। विशिष्ट शिकायतें भिन्न-भिन्न राज्यों की थीं और सामान्य शिकायतें सभी राज्यों की थीं। उदाहरणतः केरल की विशिष्ट शिकायतों में से एक यह थी कि केन्द्र उन्हें उचित मात्रा में खाद्यान्न की पूर्ति नहीं कर रहा है। मुख्य-मन्त्री ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद (सी.पी.आई.-मार्क्सवादी) ने 18 मई 1967 को कहा, कि यदि केन्द्र उनके राज्य के प्रति किये गए वायदों को पूरा नहीं करता तो उनके राज्य को विवश होकर चीन से प्रवन्ध करना पड़ेगा। उन्होंने केरल द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा में से अपने भाग की माँग की।[1]

मार्च-अप्रैल, 1969 में संघीय सरकार और अजय मुखर्जी के नेतृत्व में पश्चिम वंगाल मन्त्रिमण्डल के सम्वन्धों में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा विधान मण्डल में दिये गए अभिभाषण के कारण तनाव पैदा हो गया। 6 मार्च को दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में भाषण करते हुए धर्मवीर ने अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गए भाषण में से दो पैरे छोड़ दिये थे जिनमें उनके द्वारा नवम्वर, 1967 में संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को "अड़ियल और असंवैधानिक" (peremptory and unconsti-

[1] *The Hindustan Times,* 19 मई, 1967, पृष्ठ 14।

tutional) बताकर पदच्युत करने का वर्णन था। संयुक्त मोर्चे के सदस्य राजनीतिक दलों ने बहुत रोष व्यक्त किया और उनमें से एक, सी.पी.एम. ने राज्यपाल को "तुरन्त" वापस बुलाने की माँग की क्योंकि "वर्तमान" राज्यपाल और संयुक्त मोर्चा सरकार में सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते। मुख्यमन्त्री मुखर्जी ने कहा कि नये राज्यपाल नियुक्त करने से पूर्व उनकी सरकार की सलाह अवश्य ली जानी चाहिए। किन्तु केन्द्र सरकार ने इन दोनों माँगों को अस्वीकार कर दिया, जिससे केन्द्र और पश्चिम बंगाल के सम्बन्ध बहुत तनावपूर्ण हो गए।

पंजाब के मुख्यमन्त्री गुरनामसिंह ने 28 जून, 1969 को **पंजाबी सूबे** के सीमांकन और चंडीगढ़ का भविष्य निश्चित करने के प्रश्न को लेकर केन्द्र पर "राजनीतिक बेईमानी" का आरोप लगाया।

कर्नाटक के मुख्यमन्त्री वीरेन्द्र पाटिल ने नवम्बर 1970 में यह शिकायत की कि केन्द्र द्वारा गैर-कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों का अपमान किया जाता है और "केन्द्रीय नीतियों और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रश्न पर" उनसे तथ्य "छिपाये जाते हैं।" उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि जो केन्द्रीय मन्त्री उनके राज्य के दौरे पर गए, उन्होंने विधान सभा के सदस्यों को कांग्रेस में आ मिलने का लालच देकर उनकी सरकार उलटाने के प्रयत्न किये। मुख्य मन्त्री को एक यह भी शिकायत थी कि केन्द्रीय मन्त्रियों को राज्य सरकारों द्वारा पूर्ण सत्कार दिया जाता है, पर राज्यों के मन्त्रियों को नई दिल्ली में केन्द्रीय मन्त्रियों से सुगमता और सम्मानपूर्वक मिलना भी कठिन होता है।[2]

बिहार के मुख्यमन्त्री, महामाया प्रसाद सिन्हा ने केन्द्र की ओर से निराश होकर सोवियत संघ से प्रार्थना की कि उनके राज्य में दुर्भिक्ष का सामना करने में उनकी मदद करे।

चन्द्रभानु गुप्त और श्रीमती सुचेता कृपलानी ने—जब वे उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री थे—अपने-अपने काल में शिकायत की कि केन्द्र ने उनकी आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया और राज्य के 28 पूर्वी ज़िलों में भुखमरी और ग़रीबी के प्रति सरकार ने पर्याप्त सरगर्मी नहीं दिखाई, जबकि अन्य राज्यों में जहाँ कुछ "राजनीतिक परिपालन" की आवश्यकता थी, केन्द्र ने खुलकर सहायता दी। उन्होंने माँग की कि योजना-आवंटन जनसंख्या के आधार पर किया जाये।

उड़ीसा के मुख्यमन्त्री, आर०एन० सिंह देव ने अपने राज्य में दूसरा इस्पात संयंत्र लगाने की माँग की और अस्वीकृति की स्थिति में जन-आन्दोलन की धमकी दी। उन्होंने आरोप लगाया कि केन्द्र का उड़ीसा के प्रति रवैया "कट्टर, विरोधी, उदासीनता का एवं पक्षपातपूर्ण है।" राजस्थानी नेताओं ने अपने राज्य के प्रति केन्द्र सरकार के दृष्टिकोण को "बहुत उपेक्षापूर्ण" बताया। दिल्ली के केन्द्रशासित प्रदेश के मुख्य कार्यकारी पार्षद वी. के. मलहोत्रा ने जो जन संघी सरकार के नेता थे, आरोप

[2] *Ibid.*, 30 नवम्बर, 1970, पृष्ठ 7, श्री पाटिल, संगठन कांग्रेस के थे।

लगाया कि केन्द्र ने "दिल्ली विरोधी" रवैया अपना रखा है तथा उसकी नीतियाँ दिल्ली की कल्याण-योजनाओं को चलने नहीं देना चाहतीं।

राज्यों द्वारा केन्द्र के प्रति शिकायतों में से ऊपर केवल थोड़ी-सी विशिष्ट घटनाओं का वर्णन किया गया है। ऐसी शिकायतों के और भी अनेक उदाहरण हैं तथा प्रत्येक राज्य को किसी न किसी आधार पर अनेक शिकायतें थीं।[3]

आम शिकायतें (General Grievances)

जिन राज्यों में मिली-जुली सरकारें बनाई गई थीं, उनको मुख्यतः पाँच शिकायतें थीं। इनमें से पहली शिकायत राज्यपाल के बारे में थी। इन राज्यों की सरकारों का यह ख्याल था कि केन्द्र सरकार ऐसे कांग्रेसी नेताओं को गवर्नर नियुक्त कर देता है जो चुनाव में हार जाते हैं, और ऐसे व्यक्ति राज्यों की कार्यकारी सत्ता के उपयोग में केन्द्र सरकार के आदेशों का अत्यधिक पालन करते हैं, तथा केन्द्र में शासक दल अर्थात् कांग्रेस उन्हें राज्यों की संयुक्त मोर्चा सरकारों को उलटने में इस्तेमाल करती है।[4] ये सरकारें बहुत दिनों तक अपने पद पर नहीं रह सकीं और उन्होंने आरोप लगाये कि केन्द्र में कांग्रेस दल ने गवर्नरों के माध्यम से उनका पतन कराया।

उपर्युक्त सभी राज्यों को यह आम शिकायत थी कि केन्द्रीय सरकार उनके साथ संविधान की भावना के अनुसार करों का बंटवारा नहीं करती, कि उन्हें विकास और समाज सेवा के कार्यभाग निपटाने पड़ते हैं जो निरन्तर बढ़ते जा रहे है पर केन्द्र से उन्हें तदनुसार धन नहीं दिया जाता, और धन के वितरण की वर्तमान प्रणाली में अमीर राज्यों को अधिक व गरीब राज्यों को कम धन मिलता है जिसके परिणाम-स्वरूप गरीबी व अमीरी का अन्तर बढ़ता जाता है। संविधान के रचयिताओं ने यह विचार कर कि कहीं केन्द्र द्वारा राज्यों को दी जाने वाली सहायता राजनीतिक विचारों के अनुसार चयन पर आधारित न हो जाये, धारा 280 में वित्त आयोग (Finance Commission) नामक स्वतन्त्र अभिकरण की व्यवस्था की थी। वित्त आयोग संविधान लागू होने के दो वर्ष के भीतर गठित किया जाना था और उसके बाद प्रत्येक पांच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर अथवा उससे पहले, जब राष्ट्रपति आवश्यक समझें, गठित किया जाना था। इस आयोग का एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य होते थे। इसका सदस्य बनने के लिए आवश्यक अर्हता निश्चित करना तथा उनके चयन की विधि निर्धारित करना संसद का कार्य था। वित्त आयोग के निम्नलिखित

[3]देखो, सुकुमार दास का लेख "Centre State Relations Since 1967," *Modern Review*, 126 (4), अप्रैल, 1970, पृष्ठ 288-91 ; दुर्गादास का लेख "Political Confrontation of Centre and States," *The Economic Times*, 22 अप्रैल, 1969.

[4]पी० एम० शर्मा और एम० पी० सिंह का लेख, "Governors and their Changing Role in Centre-State Relations," फरवरी, 1970 के *Modern Review* 127 (2) में पृ० 132-38 पर देखो।

कर्तव्य थे : (क) केन्द्र और राज्यों के बीच करों की शुद्ध प्राप्ति का जो भाग वितरित करना होता था या करना सम्भावित होता था, उसका वितरण करना, तथा (ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्व को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के सिद्धान्त निर्धारित करना। राष्ट्रपति "वित्त व्यवस्था को मजबूत रखने के हित में" किसी भी अन्य मामले में आयोग की सलाह ले सकते थे, अर्थात् ऐसे किसी भी अन्य मामले में आयोग की सलाह ली जा सकती थी जिसमें केन्द्र व राज्य के सम्बन्धों में टकराव होता हो। किन्तु यह व्यवस्था उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। इसका कारण यह था कि समय-समय पर जो वित्त आयोग नियुक्त किये गए, वे केवल सांविधिक आर्थिक सहायता का प्रवर्तन व नियन्त्रण करते थे और उनके हाथों में बहुत कम धनराशि होती थी। संघ द्वारा राज्यों को दिया जाने वाला अधिकतर धन विवेक पर आधारित अनुदानों की श्रेणी में आता था और योजना आयोग की सिफारिशों पर दिया जाता था। वित्त आयोग की उत्पत्ति संविधान से थी, जबकि योजना आयोग सरकार द्वारा जनित था। प्रधान मन्त्री उसका अध्यक्ष होता था/(थी)। जुलाई 1971 में योजना मन्त्री सी० सुब्रह्मणयम इसके उपाध्यक्ष बने। कालान्तर में इस पद पर डी० पी० धर आये तथा जनवरी 1975 में पी० एन० हक्सर नियुक्त हुए। आयोग का अधिकतर प्रशासनिक अमला केन्द्रीय मन्त्रालयों से लिया जाता था।

उपर्युक्त परिस्थितियों में योजना आयोग की नीतियों व निर्णयों को केन्द्र सरकार की नीतियों व निर्णयों से पृथक नहीं किया जा सकता और योजना आयोग लगभग केन्द्र सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में ही कार्य करता था। किसी राज्य को क्या व कितना अनुदान दिया जाना है, यह निर्णय औपचारिक रूप से योजना आयोग द्वारा किया जाता था पर वस्तुतः वह केन्द्र सरकार का निर्णय होता था।

आयोग के अधिकारों एवं कार्य का परिक्षेत्र इतना विस्तृत था कि वह लगभग प्रत्येक सरकारी कार्य को प्रभावित करता था। देश के आर्थिक विकास की सभी योजनाएँ आयोग द्वारा बनाई जाती थीं, स्थूल लक्ष्य (broad targets) भी वही निर्धारित करता था और प्राथमिकताओं (priorities) का क्रम भी उसी के द्वारा निर्धारित किया जाता था। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य सरकारें अपनी-अपनी योजनाएँ तैयार करती थीं पर उनका अन्तिम रूप राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा योजना आयोग से विचार-विमर्श कर चुकने के बाद ही निर्धारित किया जाता था। योजना आयोग द्वारा निश्चित प्राथमिकताओं और लक्ष्यों को ध्यान में रखना होता था और ऐसा न होने पर राज्यों की योजनाओं में या तो आमूल संशोधन कर दिये जाते थे या उन्हें काट दिया जाता था। इस प्रकार, योजना आयोग का सभी राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों के विकास कार्यों पर नियंत्रण था। राज्य-सूची के—कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि—विषयों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों के विधि निर्माण कार्य भी योजना आयोग के नियंत्रण में आ गए। उदाहरणतः, राज्यों की भूमि-सुधार योजनाओं सम्बन्धी विधेयकों को, विधान मण्डल में प्रस्तुत करने से पूर्व, योजना आयोग के भूमि

सुधार सम्भाग द्वारा जांच की जाती है। सामुदायिक विकास, जिसमें वस्तुतः वे मदें आती थीं जो राज्यों की विधेयक क्षमता की होती थीं, एक ओर योजना आयोग द्वारा नियंत्रित और नियमित होती थीं और दूसरी ओर संघीय सामुदायिक विकास मन्त्रालय द्वारा नियंत्रित होती थीं। अनेक बार योजना आयोग जो अनुदान देता था वे किन्हीं विशिष्ट परियोजनाओं के साथ बंधी होती थीं और राज्य सरकार को उन्हें केवल उसी उद्देश्य से प्रयुक्त करना होता था। राज्य सरकार का ऐसा एक भी विकास कार्य नहीं होता था, जिसमें योजना आयोग शामिल न हो और योजना आयोग की रचना इस प्रकार थी कि उसमें केन्द्रीय सरकार का प्रभाव सबसे अधिक था। अतः ऐसी आपत्तियाँ उठाई गईं कि आयोग एक नई "सरकार के ऊपर सरकार" बन गई है और वित्त नियन्त्रण के माध्यम से उसने राज्यों को केन्द्र के आधीन कर लिया है। ऐसी माँगें की गयीं कि योजना आयोग को एक स्वतन्त्र स्वशासी निकाय बना दिया जाए और वह केन्द्र सरकार का केवल एक अंग बन कर न रहे।

केन्द्र सरकार के विरुद्ध राज्यों की तीसरी आम शिकायत केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस को लेकर थी। अनेक केन्द्रीय उद्योग एवं संस्थान—इस्पात मिलें, गोला-बारूद की फैक्टरियाँ, डाक व तार घर, और रेलवे इत्यादि—सभी राज्यों में फैले हुए थे और हड़तालों, तालेबन्दियों एवं हिंसक प्रदर्शनों की स्थिति में वहाँ हिंसा एवं लूटमार होती थी। केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस (CRP) की इकाइयाँ लगभग सभी राज्यों व केन्द्र-शासित प्रदेशों में नियुक्त थीं और यह सशस्त्र उपद्रवियों तथा अन्य समाज-विरोधी तत्त्वों का सामना करने के लिए प्रशिक्षित एवं हथियारों से लैस बहु-उद्देशीय शक्ति थी। केन्द्रीय गृह मन्त्रालय के मतानुसार इन इकाइयों को उस समय सक्रिय होने का आदेश दिया जाता था, जब केन्द्रीय सरकार के संस्थानों व सम्पत्ति को ख़तरा हो और राज्य सरकार उन्हें उचित प्रतिरक्षा प्रदान करने की स्थिति में प्रतीत न होती हो।

संविधान के अनुसार नियम-व्यवस्था का परिरक्षण राज्य-सूची का विषय था और राज्य सरकारों का यह दृष्टिकोण था कि उनकी सीमाओं के भीतर केन्द्र द्वारा सी० आर० पी० केवल उनके कहने पर ही नियुक्त की जाये। 1968 में इस प्रश्न को लेकर केन्द्र व केरल में भीषण विवाद उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष 19 सितम्बर को देश भर के केन्द्रीय सरकारी कर्मचारी हड़ताल पर थे और अनेक स्थानों पर स्थिति ने हिंसक रूप ले लिया था। केरल सरकार से परामर्श किये अथवा उसे सूचना दिये बिना ही, गृह मन्त्री वाई० बी० चव्हाण ने केरल स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालय की रक्षा के लिए सी० आर० पी० की एक बटालियन वहाँ के लिए भेज दी। चव्हाण ने राज्य सरकार से ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध कार्रवाई करने का अनुरोध भी किया, जो केन्द्र सरकार के निष्ठावान सरकारी कर्मचारियों को भड़का रहे थे या डरा-धमका कर हड़ताल पर जाने के लिए वाध्य कर रहे थे। मुख्यमन्त्री नम्बूदरीपाद ने चव्हाण की कार्रवाई के प्रति रोष प्रकट किया और 18 दिसम्बर को उनके मन्त्रि-

मण्डल ने निर्णय किया कि व्यक्तियों या सम्पत्ति पर हिंसापूर्ण हमलों के मामलों के अतिरिक्त सभी हड़ताल सम्बन्धी मामलों को न्यायालयों की अनुमति से वापस उठा लिया जाये। केन्द्र सरकार ने इस निर्णय को गम्भीर चिन्ता का विषय बताया और केरल सरकार को चेतावनी दी कि उसका निर्णय "अवैध" तथा "असांविधिक" है।[5]

8 अप्रैल, 1969 को कोसीपुर (पश्चिम बंगाल) की बंदूक व कारतूस फैक्टरी के प्रतिरक्षा व सुरक्षा-पुलिस कर्मचारियों ने कर्मचारियों की एक हिंसक भीड़ को हटाने के लिए गोली चलाई जिसके परिणामस्वरूप पाँच व्यक्ति मारे गए। संयुक्त मोर्चा और उसकी कर्मचारी संघ शाखा राष्ट्रीय संग्राम समिति ने 24 घंटे के "बंगला बन्द" की घोषणा की और यह हड़ताल पूरी तरह सफल हुई। चव्हाण ने गोली चलाने सम्बन्धी तथ्यों एवं परिस्थितियों की जाँच करने के लिए एक "एक-व्यक्तीय आयोग" की नियुक्ति की घोषणा की। किन्तु मुख्यमन्त्री ज्योति बसु (सी० पी० एम०) ने "राज्य सरकार से परामर्श किये बिना आयोग की नियुक्ति" के प्रति रोष प्रकट किया। उन्होंने कलकत्ता में समाचारपत्रों के संवाददाताओं को वक्तव्य दिया कि "ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्र हमसे सहयोग नहीं करना चाहता।" उन्होंने संकेत दिया कि हो सकता है कि शायद पश्चिम बंगाल सरकार "जाँच आयोग से सहयोग न करे।" उन्होंने केन्द्र सरकार पर प्रथम संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को "अपदस्थ करके" पश्चिम बंगाल की जनता का "अपमान" करने का भी आरोप लगाया।

पंजाब के मुख्यमन्त्री गुरनाम सिंह ने भी अपने राज्य में सी० आर० पी० की नियुक्ति पर आपत्ति की और कहा कि राज्य सरकार के प्राधिकार के बिना उन टुकड़ियों को कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिए।

विरोध प्रदर्शन के इन सभी मामलों में केन्द्रीय सरकार ने कहा कि जहाँ भी आन्तरिक विप्लव अथवा बाहरी खतरों से रक्षा करने के लिए आवश्यक प्रतीत हो, उसे सी० आर० पी० की टुकड़ियाँ रखने का निर्बाध अधिकार है। एक बार तो यह भी परामर्श दिया गया कि नियम-व्यवस्था का प्रतिरक्षण समवर्ती सूची का विषय बना दिया जाये ताकि राज्य सरकारें सी० आर० पी० की टुकड़ियों के प्रवर्तन पर आपत्ति न कर सकें।[6]

राज्यों की केन्द्र के प्रति चौथी शिकायत (इस प्रश्न पर कांग्रेस व गैर-कांग्रेस शासित राज्यों में अधिक मतभेद नहीं था। केवल इतना अन्तर था कि कांग्रेस-शासित राज्य अधिक जोरदार आवाज़ नहीं उठाते थे) यह थी कि केन्द्र ने उद्योगों, वाणिज्य-व्यापार तथा माल के उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी नियन्त्रण पर एकाधिकार स्थापित कर

[5]पश्चिम बंगाल और पंजाब की सरकारों ने भी, जहाँ गैर-कांग्रेसी शासन था, ऐसे ही निर्णय किये थे।

[6]के० के० दास का लेख "Union-State Relations: Administration of Law and Order," *Indian Journal of Public Administration*, 16(3), जुलाई-सितम्बर, पृष्ठ 333-40 देखें।

लिया है। उन्होंने दलील दी कि ये राज्य-सूची के विषय हैं—उद्योगों की क्रम संख्या 24, वाणिज्य-व्यापार की 26, तथा माल के उत्पादन, आपूर्ति और वितरण की क्रम संख्या 27 है—किन्तु संविधान के इस प्रावधान का लाभ उठाकर कि राष्ट्रीय हित में संसद उन्हें नियन्त्रित कर सकती है, केन्द्र सरकार ने उन पर अपना नियन्त्रण कर लिया है। संसद ने 1951 में उद्योग (विकास एवं नियन्त्रण) अधिनियम पारित किया जिनमें उन उद्योगों के नाम गिनाए गये जिन्हें राष्ट्रीय हित में केन्द्र द्वारा नियन्त्रित किया जाना आवश्यक था। अधिनियम का मूल रूप उचित एवं तर्कसंगत था और उसके द्वारा अत्यावश्यक तथा सामरिक महत्त्व के उद्योगों पर केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होना उचित था। किन्तु कालान्तर में अधिकाधिक उद्योगों को उस अधिनियम की परिधि में ले आया गया, जिसके फलस्वरूप संविधान की योजना में बहुत परिवर्तन हो गए। 24,26,27 क्रम संख्या के विषय राज्य-सूची के विषय नहीं रह गए और क्रियात्मक दृष्टिकोण से वे पूर्णत: केन्द्र-सूची के कार्य हो गए। रेज़र ब्लेड, कागज, गोंद, जूते, माचिस, बिजली की घरेलू उपयोग की वस्तुएँ, श्रृंगार-सामग्री, साबुन और अन्य सौन्दर्य-प्रसाधन जैसी वस्तुएँ भी केन्द्रीय अधिकार में चली गईं। राज्यों के नेताओं का कहना था कि इस प्रकार अति-केन्द्रीकरण के कारण आर्थिक विकास की गति शिथिल रही है तथा उसके परिणामस्वरूप जनता को गरीबी का सामना करना पड़ रहा है।

चीनी, गेहूँ, मिट्टी का तेल, चावल और वनस्पति घी जैसी दैनिक उपयोग की वस्तुओं की पूर्ति एवं वितरण भी केन्द्र के नियन्त्रण में ले लिए गए। आमतौर पर यह शिकायत की जाती थी कि केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा इन वस्तुओं की पूर्ति एवं वितरण के कार्य में राजनीतिक प्रयोजन निहित होते हैं। यह आरोप लगाया गया कि इन वस्तुओं से राज्यों में निर्वाचन जीतने के उपकरणों का काम लिया गया है। उदाहारणत:, उत्तरप्रदेश में फरवरी 1974 के अन्तिम सप्ताह में विधान सभा के निर्वाचन से पूर्व उर्वरक, मिट्टी का तेल, वनस्पत्ति घी, सीमेन्ट, और कोयला खुली मात्रा में उपलब्ध थे, पर यही वस्तुएँ उन्हीं दिनों दिल्ली, हरयाणा और पंजाब के बाजारों से गायब हो गई थीं। विपक्षी दलों के नेताओं ने आरोप लगाया कि केन्द्र में कांग्रेस का राज है और उसे अपनी सत्ता बनाए रखने के अतिरिक्त कोई चिन्ता नहीं है। इसके लिए वह गंदी से गंदी चालें अपनाने से भी नहीं चूकती।

संघीय सरकार के विरुद्ध राज्यों को एक और शिकायत यह थी कि वह उन विषयों में भी उनकी स्वायत्तता का अतिक्रमण कर रही है, जो राज्य-सूची में शामिल किये गये थे और इस प्रकार भारतीय राज्य संघ वास्तविक व्यवहार में एकात्मक सरकार बन गई है। केन्द्रीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए राज्यों के नेता माँग करने लगे कि उन्हें और अधिक अधिकार दिये जायें। तमिल नाडु के मुख्यमन्त्री एम० करुणानिधि ने आग्रह किया कि इसके लिए संविधान में उचित

संशोधन किये जायें ।[7] नम्बूदरीपाद इस विषय पर और भी अधिक उत्तेजित थे। उन्होंने 19 अप्रैल, 1971 को वक्तव्य दिया कि यदि राज्यों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान नहीं की गई तो भारत में भी "बंगलादेश की कहानी दोहराई जाने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है।"[8] अन्य राज्यों के नेताओं ने, जहाँ कांग्रेस का राज्य था, ऐसा रवैया तो नहीं अपनाया, पर उनका भी यही कहना था कि उन्हें अधिकतम स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाये और भारतीय राजतन्त्र के संघीय चरित्र (federal character) को विगड़नेन हीं देना चाहिए। राज्यों की गैर-कांग्रेसी सरकारों का यह विचार था कि संविधान सम्बन्धी बहस द्वारा केन्द्र की शक्ति को कम करने से उनकी अपनी शक्ति और प्रभाव में वृद्धि करने का काम लिया जा सकता है।[9]

भारतीय संघ एवं राज्यों के सम्बन्ध सुधारने के उपाय (Suggestions for Reform of Union State Relationship)

भारत में चौथे आम चुनाव के वाद केन्द्र एवं राज्यों के सम्बन्धों के प्रश्न ने एक सार्वजनिक चिन्ता के विषय का रूप ले लिया और प्रख्यात राजनीतिज्ञ, न्यायशास्त्री, संविधान-विशेषज्ञ, इनमें झगड़ा न होने देने के उपाय सुझाने लगे। अप्रैल 1967 में भारत की वार एसोसियेशन ने एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया जिसमें 40 से अधिक वक्ताओं ने भाषण दिये। वे सब इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि संविधान-तन्त्र के कुंठित हो जाने की स्थिति में राष्ट्रपति और राज्यपालों द्वारा राज्य सरकार को निलंबित करने सम्बन्धी अधिकारों व कर्त्तव्यों की और अधिक जाँच करना आवश्यक है; योजना आयोग को, जिसे आजकल केन्द्र सरकार का एक अंग माना जाता है, एक स्वतंत्र स्वशासी निकाय वनाया जाना चाहिए, वित्त आयोग को एक स्थायी निकाय बनाया जाना चाहिए तथा उसका अधिकार क्षेत्र केवल संविधिक (statutory) अनुदानों तक ही नहीं अपितु विवेक (discretionary) अनुदानों तक विस्तृत होना चाहिए।

1967 में राष्ट्रपति पद के लिए विपक्षी दलों के प्रत्याशी व भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव ने उपर्युक्त विचार-गोष्ठी में कहा कि भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हैं, अत: "नियन्त्रण की वजाय सहयोग पर, अधिकार की वजाय देशभक्ति पर, सामान्य हितों के मामलों में सभी को एक ही मार्ग पर चलाने की वजाय रचनात्मक प्रतियोगिता पर, सत्ता की वजाय सेवा पर, ध्येयपूर्ति की बजाय चिरपरिचित परम्पराओं पर, तथा राज्यों की समस्याओं के प्रति पक्षपातपूर्ण

[7] *The Hindustan Times*, 27 अप्रैल, 1971, पृ०6।

[8] *Ibid*: 20 अप्रैल, 1971, पृ० 5 और 7 सितम्बर, 1971 का पृ० 8 भी देखो।

[9] देखो "New Strategy to Achieve Greater Autonomy for States," *Capital*, 12 मार्च, 1970, पृ० 437-39।

दृष्टिकोण की वजाय परिलक्षित मूल्यांकन (objective appraisals) पर अधिक ज़ोर दिया जाना चाहिए।" उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश एम० हिदायतुल्ला, जो बाद में भारत के मुख्य न्यायाधीश बने और कुछ समय भारत के राष्ट्रपति भी रहे, ने कहा कि "राज्यों को विधान, प्रशासन और वित्त सम्बन्धी मामलों में और अधिक स्वतन्त्रता न दिये जाने से संविधान पर वहुत अधिक ज़ोर पड़ेगा।" भारत के भूत-पूर्व अटॉर्नी-जनरल एम० सी० सीतलवड ने, जो गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे थे, खेद प्रकट किया कि पिछले कुछ वर्षों में केन्द्र ने राज्यों पर अनेक मामलों में अपनी नीति थोपने की प्रवृत्ति अपना ली है। उनका कहना था कि इससे राज्यों में स्वतः प्रेरणा शिथिल पड़ गई है। उन्होंने इस तथ्य पर हर्ष प्रकट किया कि चौथे आम चुनाव के परिणामस्वरूप "देहली उनके चंगुल से छूट गया है।" गोष्ठी में कुछ अन्य वक्ताओं ने कहा कि यदि संविधान के प्रावधानों पर तदर्थ भावना सहित आचरण किया जाये, उनकी नीतियों में सारे राष्ट्र के एक-साथ हितों को ध्यान में रखा जाये, और यदि केन्द्र सरकार स्वयं को दलीय विचारों की संकीर्णता से ऊपर उठाकर दलीय सरकार की वजाय राष्ट्रीय सरकार के रूप में कार्य करे तो केन्द्र और राज्यों के बीच कोई संघर्ष नहीं होगा।[10]

उपर्युक्त विचार-गोष्ठी के कुछ सप्ताह बाद नई दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में **दि हिन्दुस्तान टाइम्ज़** के क्षेत्रीय संवाददाताओं ने केन्द्र एवं राज्य के सम्बन्धों के प्रश्न पर संविधान-विशेषज्ञों, विख्यात राजनयिकों और मन्त्रियों से भेंट-वार्ताएँ कीं। सभी का यह मत था कि बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में ये सम्बन्ध और अधिक सन्तुलित आधार पर नियमित किये जाने चाहिये। संविधान सभा के एक सदस्य कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने बताया कि धाराओं 131,143 और 152 में केन्द्र एवं राज्यों अथवा राज्यों के परस्पर विवादों को संविधानिक तरीके से निपटाने सम्बन्धी पूर्ण संहिता दी गई है। उन्होंने आगे कहा कि नेहरू के युग का दृष्टिकोण कि राष्ट्रपति के आवरण तले कांग्रेसी प्रधानामन्त्री राज्यों की नीतियों और कार्यों को नियंत्रित कर सकता है, वर्तमान स्थिति पर लागू किया जाये। और, यदि इस दृष्टिकोण का अनुसरण किया जाये कि राष्ट्रपति सभी परि-स्थितियों में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की "सहायता एवं सलाह" से बंधा होता है, तो केन्द्र एवं राज्यों के संघर्ष अनिवार्य होंगे। राष्ट्रपति की अधि-मन्त्रीय शक्तियों का ज़िक्र करते हुए उन्होंने दलील दी कि संविधान के रूप की रक्षा के लिए राष्ट्रपति के निजी सुरक्षित अधिकारों को क्रियान्वित करके इस्तेमाल किया जाना चाहिए। श्री मुंशी का कहना था कि राष्ट्रपति को केन्द्र में सत्तारूढ़ दल और राज्यों में सत्तारूढ़ दल या दलों के बीच संतुलन स्थिर करना चाहिए।

[10] 16-18 अप्रैल, 1967 का *The Hindustan Times* देखो। इंस्टिट्यूट ऑफ कांस्टिट्यू-शनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज़ का पत्र *National Convention on Union-State Relations* (नई दिल्ली, 1970) भी देखो।

डा० ए० अप्पादुराई और बी० शिवा राव ने कहा कि केन्द्र व राज्यों के बीच संघर्ष न होने देने के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद स्थापित की जानी चाहिए।[11] उन्होंने कहा कि ऐसी परिषद में भारत के मुख्य न्यायाधीश, भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, भूतपूर्व राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, उप-प्रधानमंत्री और अटॉर्नी-जनरल होने चाहिए और अनेक महत्त्वपूर्ण मामले—किसी राज्य में संविधान की धारा 356 के आधीन राष्ट्रपति शासन लागू करना, राज्यपालों की नियुक्ति अन्तर्राज्यीय सीमा विवाद, अथवा किसी राज्य की विधायिका द्वारा पारित और राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित विधेयक पर राष्ट्रपति की सहमति देने के प्रश्न—उसके सुपुर्द किये जाने चाहिए। अप्पादुराई का कहना था कि इस परिषद का परामर्श, मन्त्रि परिषद द्वारा दिये गये परामर्श से भिन्न हो तो भी वह राष्ट्रपति द्वारा अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।[12]

जिन अन्य व्यक्तियों से साक्षात्कार किया गया—नाथ पै, सी० एन० अन्नादुराई, ज्योति बसु, अटलबिहारी वाजपेयी, और भूपेश गुप्त—उन्होंने सुझाव दिया कि केन्द्र-राज्य संघर्ष न होने देने का सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि केन्द्र विचारपूर्वक एवं समझौते की भावना से कार्य करे तथा राज्यों को कांग्रेसी व गैर-कांग्रेसी सरकार में भेदभाव किये बिना पर्याप्त वित्तीय अनुदान दे।

1970 में तमिल नाडु सरकार ने पी० वी० राजमन्नार के नेतृत्व में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के प्रश्न की जाँच करने और भारतीय प्रजातन्त्र को और अधिक मजबूत करने के लिए एक तीन सदस्यों का आयोग नियुक्त किया। इसने छः प्रमुख सिफारिशें कीं—**प्रथम,** तुरन्त एक अन्तर्राज्यीय परिषद स्थापित की जाये, जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री हो तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हों। उस परिषद से परामर्श किये बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक

[11]ऐसी परिषद के संबंध में संविधान की धारा 263 में प्रावधान दिये गए हैं। उसके निम्नलिखित कर्तव्य निर्धारित किये गए हैं: (क) राज्यों में यदि कोई विवाद उठ खड़े हुए हों तो उनकी जाँच करना तथा उनके विषय में परामर्श देना, (ख) ऐसे विषय में जाँच करना तथा उनके बारे में विचार-विमर्श करना जिनमें सभी राज्यों के अथवा किसी राज्य व एक या अधिक राज्यों के समान हित हों, और (ग) किसी भी ऐसे मामले के प्रति सिफारिश करना और विशेषतः उस विषय के सम्बन्ध में नीति एवं कार्यों में बेहतर तालमेल स्थिर करना। राष्ट्रपति को ऐसी परिषद स्थापित करने तथा उसके कर्तव्य, संगठन, और कार्यविधि परिभाषित करने के अधिकार दिये गए थे। *Journal of the Society for Study of State Government* के जनवरी-जून 1970 अंक में स्वदेश के० शर्मा का लेख "Inter-State Council : An Administrative Necessity," पृ०21-32 देखो।

[12]*Eastern Economist*, 55 (14), 2 अक्तूबर, 1970 के पृष्ठ 589-90, 593 पर ए० अप्पादुराई का लेख "The Demand for State Autonomy" देखो। 22 अप्रैल, 1969 के *The Statesman* में "State Deserves a Larger Share of Authority," कुलदीप नैयर का लेख भी देखो।

या अधिक राज्य प्रभावित होते हों। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धों के अतिरिक्त, उस परिषद से परामर्श किये बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हों। **दूसरे,** योजना आयोग तोड़ दिया जाये, तथा उसके स्थान पर एक सांविधिक निकाय नियुक्त की जाये जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि और अर्थ विशेषज्ञ हों। राज्यों के अपने आयोजन मण्डल हों और ये निकाय उन्हें परामर्श देने का कार्य करें। **तीसरे,** वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर करना पड़े। **चौथे,** राजमन्नार समिति (Rajamannar Committee) ने केन्द्रीय एवं समवर्ती सूची के अनेक विषयों को राज्य-विधान सूची में स्थानान्तरित करने की सिफारिश की। **पांचवें,** राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मंत्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनाई गई किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से और जो व्यक्ति एक बार राज्यपाल बन जाए उसे दोबारा किसी अन्य सरकारी पद पर नियुक्त न किया जाए। संविधान में संशोधन करके राष्ट्रपति को राज्यपालों के लिए आदेशपत्र जारी करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के आदेशपत्र में उनके लिए मार्गदर्शी रूपरेखा हो। धारा 164 का परन्तुक, कि मन्त्रियों का अपने पद पर बना रहना राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर होगा, संविधान में से निकाल दिया जाना चाहिए। **छठे,** राज्यों के उच्च न्यायालय राज्यों के क्षेत्राधिकार के सभी मामलों के लिए उच्चतम न्यायालय हों। तदपि संविधान की व्याख्या सम्बन्धी मामले, पहले के समान, उच्चतम न्यायालय में पेश किये जायें।[13]

संघीय सरकार द्वारा सुधार के सुझाव अस्वीकार (Union Government turns down Proposals for Reforms)

राज्यों के मुख्यमंत्रियों और अन्य विपक्षी नेताओं की धमकियों और चेतावनियों के सन्दर्भ में प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के प्रश्न का "गहन अध्ययन" करने का विचार किया। सुधार के प्रस्ताव और सुझाव अनेक व्यक्तियों एवं संस्थाओं से प्राप्त हुए थे। गृह मंत्रालय ने उनका विश्लेषण और जाँच की और सरकार इस नतीजे पर पहुँची कि देश का संविधान काफी सुदृढ़ है, केन्द्र राज्य-सम्बन्धों की परिभाषा पुनः बताने के लिए किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है और देश के संविधान की बजाय देश की नीतियाँ दोषपूर्ण एवं अस्पष्ट थीं।

नियम-व्यवस्था के प्रश्न पर गृह मन्त्री ने कहा कि ये केवल पुलिस के कार्य नहीं हैं, प्रत्युत सामाजिक, राजनीतिक, एवं आर्थिक तनाव की अभिव्यक्तियाँ हैं। ये अपने विवि

[13]विस्तृत अध्ययन के लिए तमिल नाडु सरकारी मुद्रण कार्यालय को *Report of Centre-State Inquiry Committee* (Madras, 1961) देखो।

रूप दिखाती हैं अर्थात् कभी साम्प्रदायिक दंगे तो कभी युवक विद्रोह अथवा अतिवादी राजनीतिक दर्शन (extremist political philosophies) और औद्योगिक व श्रमिक विवादों के रूप में प्रकट होती हैं, पर केन्द्र केवल तभी हस्तक्षेप करता है जब स्थिति राज्य सरकार के नियन्त्रण से बाहर प्रतीत होती है। संसद के भीतर व बाहर राज्यपालों के आलोचकों को उत्तर देते हुए चव्हाण ने कहा कि राज्यपालों को अपने अधिकारों का उपयोग करने की आवश्यकता विधायकों के दल-बदल के कारण पड़ी, जो उन्होंने पद-लोलुपता के कारण किये। चव्हाण ने आगे कहा कि राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों का चयन करने, मन्त्रिमण्डलों को बर्खास्त करने तथा विधान मण्डलों के सत्र बुलाने व सत्रावसान करने के कृत्य सदैव निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार ही किये हैं।

राज्यों की इस शिकायत पर कि धन का आवंटन राजनीतिक आधार पर किया जाता है, संघीय सरकार की स्थिति यह थी कि धन का आवंटन मोटे तौर पर उचित ही होता है। इसका प्रमाण यह है कि पहले केन्द्र अपने विवेकानुसार राज्यों को धन देता था, पर अब उसके स्थान पर एक यह परम्परा बना दी गई है कि राज्यों को दी जाने वाली सहायता एवं अनुदानों की मात्रा राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) द्वारा निश्चित की जाती है। यह भी बताया गया कि राजस्व में राज्यों का भाग बढ़ा दिया गया है। पहले वित्त आयोग ने केवल 52 करोड़ रुपया वितरित किया था, जबकि पांचवें वित्त आयोग ने 800 करोड़ रुपया वितरित किया।

संघीय सरकार का यह दृष्टिकोण था कि कुल मिला कर देश की सुदृढ़ता ही राज्यों की स्वायत्तता की सर्वोत्तम गारंटी है क्योंकि किसी प्रकार वह मज़बूती समाप्त हो जाये तो न भारतीय संघ की प्रभुसत्ता रहेगी और न ही राज्यों की स्वायत्तता रह सकेगी। देश एक आर्थिक संकट और राजनीतिक उथल-पुथल में से गुज़र रहा था। केन्द्र-राज्य मतभेदों एवं विवादों को परस्पर मैत्रीपूर्ण तरीकों से हल न करने से देश पूर्ण अराजकता, विघटन तथा विनाश की ओर जा सकता है।[14] राजमन्नार समिति एवं अनेक अन्य स्रोतों से अन्तर्राज्यीय परिषद बनाने का जो सुझाव दिया गया था, उस पर विचार किया गया पर उसे लाभदायक नहीं समझा गया।

कांग्रेस की प्रधानता पुनः स्थापित (Congress Party Predominance is Re-established)

चौथे आम चुनावों के परिणामस्वरूप केन्द्र-शासक कांग्रेस दल को सात राज्यों में प्रतिपक्षी सरकारों का सामना करना पड़ा था, पर अक्तूबर-नवम्बर 1969 में उस पर इससे भी भयानक विपत्ति आयी। यह विपत्ति कांग्रेस के टूट कर दो धड़े बनना थी—एक प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में, तथा दूसरा कांग्रेस अध्यक्ष निज-

[14] 29 अप्रैल, 1967 के *The Hindu* में ए० एन० सन्थानम का लेख "Strong Centre a Historic Necessity" देखो।

लिंगप्पा के नेतृत्व में । इसके परिणामस्वरूप अनेक कांग्रेसी संसत्सदस्यों एवं विधायकों ने केन्द्रीय व राज्य सरकारों को समर्थन देना बन्द कर दिया और संगठन कांग्रेस की रचना की । इससे केन्द्र व अनेक राज्यों में कांग्रेसी सरकारों की स्थिति अत्यधिक डाँवाडोल हो गई तथा उनका सत्तारूढ़ रहना भी अनिश्चित हो गया । श्रीमती गांधी को ऐसा प्रतीत होने लगा कि यद्यपि वे और उनके अनुयायी कुछ और समय तक सत्तारूढ़ रह सकेंगे, पर इससे वे देश का कुछ भी भला नहीं कर पायेंगे । अत: उन्होंने दो उपाय किये—एक तो यह कि राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराया गया, तथा दूसरा यह कि राज्यों की राजनीति को ऐसे मोड़ दिये कि या तो उनकी पार्टी की सरकार बनी, या उनकी पार्टी ने किसी ऐसे अन्य राजनीतिक दल को समर्थन प्रदान किया जो केन्द्र में इन्दिरा के शासन का पृष्ठपोषक था, अथवा अन्य राज्यों पर राष्ट्रपति का शासन हो गया । मार्च 1971 में हुए लोकसभा के मध्यावधि चुनावों का परिणाम यह यह हुआ कि प्रधान मन्त्री को 352 स्थान मिले और इस प्रकार वे केन्द्र में सुगमतापूर्वक सत्तारूढ़ हो गईं । दूसरे उपाय का भी लगभग यही परिणाम हुआ ।

जैसाकि "राज्यों में मिली-जुली सरकारों" के अध्याय में बताया गया है, चौथे आम चुनावों के बाद केरल, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, उड़ीसा और मद्रास में गैर-कांग्रेसी दलों ने सरकारें बनाई थीं । केरल में सी०पी०एम० नेता नम्बूदरीपाद की संयुक्त मोर्चा सरकार 24 अक्तूबर, 1969 को भंग हो गई और 1 नवम्बर, 1969 को सी० पी० आई० नेता अच्युत मेनन के नेतृत्व में एक नई मिली-जुली सरकार बनी । कांग्रेस ने इस सरकार को समर्थन प्रदान किया । किन्तु यह मन्त्रिमण्डल बहुत दिन नहीं चला तथा 4 अगस्त, 1970 को उसके पद त्याग करने पर केरल में केन्द्र का शासन लागू कर दिया गया । उसी वर्ष केरल विधान सभा के आम चुनाव में (17 सितम्बर, 1970) सी० पी० आई० के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे को 72 स्थान मिले और कांग्रेस को केवल 56 । अच्युत मेनन ने 4 अक्तूबर को एक नया मन्त्रिमण्डल बनाया जिसमें कांग्रेसी विधायकों ने समर्थन का वचन दिया । इस प्रकार, केरल में ऐसी सरकार बन गई जो केन्द्र की पृष्ठपोषक थी ।

पश्चिम बंगाल में बंगला कांग्रेस नेता अजय मुखर्जी के नेतृत्व के संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को राज्यपाल ने इसलिए पद्च्युत कर दिया कि डा० पी० सी० घोष व 17 विधान सभा सदस्यों ने अपना समर्थन समाप्त कर दिया था, पर जब पी० सी० घोष ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो छ: कांग्रेसी विधान सभा सदस्य उसमें मन्त्रियों के रूप में शामिल हो गए । राज्य में कुछ राजनीतिक घटनाओं के कारण घोष की सरकार भी बहुत दिन नहीं चल सकी और 20 फरवरी, 1968 को पश्चिम बंगाल में केन्द्र शासन लागू हो गया । 9 फरवरी, 1975 को हुए मध्यावधि चुनाव के परिणामस्वरूप अजय मुखर्जी ने दूसरी संयुक्त मोर्चा सरकार बनाई पर भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) ने ऐसी हिंसा एवं अराजकता फैलाई कि इस मन्त्रिमंडल

ने भी त्यागपत्र दे दिया और 19 मार्च, 1970 से राज्य में पुनः केन्द्र का शासन हो गया। 10 मार्च, 1971 को पुनः मध्यावधि चुनाव कराए गए। कांग्रेस ने अजय मुखर्जी के संयुक्त मोर्चे को समर्थन दिया और उन्होंने 2 अप्रैल को नया मन्त्रिमण्डल बनाया। पर इस बार भी मन्त्रिमण्डल में विरोध उत्पन्न हो गए और 29 जून, 1971 को राज्य में पुनः राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इस प्रकार, चौथे आम चुनाव के बाद पश्चिम बंगाल में अधिकतर समय राष्ट्रपति शासन ही रहा।

उत्तर प्रदेश में कांग्रेस विधायक दल के नेता चन्द्रभानु गुप्ता ने 14 मार्च, 1967 को 17 निर्दलीय एवं 4 अन्य विधान सभा सदस्यों के समर्थन से मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु चरण सिंह एवं उनके अनुयायियों द्वारा दल बदलने के कारण गुप्ता मन्त्रिमण्डल को उसी वर्ष 1 अप्रैल को इस्तीफ़ा देना पड़ा। चरण सिंह ने कुछ अन्य राजनीतिक दलों के समर्थन से दूसरी सरकार बनाई। मन्त्रिमण्डल की घटक इकाइयों (constituent units) में मतभेद उत्पन्न हो गए और 15 अप्रैल, 1968 को राज्य में केन्द्रीय शासन लागू कर दिया गया। फरवरी 1969 में हुए मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस को 425 के सदन में 211 स्थान प्राप्त हुए। 4 निर्दलीय सदस्य भी कांग्रेस में आ मिले और उसके नेता चन्द्रभानु गुप्त ने नया मन्त्रिमण्डल बनाया। अक्तूबर-नवम्बर 1969 में कांग्रेस दो धड़ों में बंट गई और गुप्ता संगठन कांग्रेस में बने रहे। उप-मुख्यमंत्री कमलापति त्रिपाठी एवं सात अन्य मन्त्री श्रीमती गाँधी के नेतृत्व वाले धड़े में शामिल हो गए और उन्होंने गुप्ता मन्त्रिमण्डल को समर्थन देना बन्द कर दिया। इस विग्रह का लाभ उठाते हुए भारतीय क्रान्ति दल (बी० के० डी०) के नेता चरण सिंह ने 17 फरवरी 1970 को इन्दिरा गाँधी के अनुयायियों की सहायता से मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु बी० के० डी० और कांग्रेसी नेता मिल कर नहीं चल सके और राज्य में 2 अक्तूबर 1970 को केन्द्रीय शासन स्थापित हो गया। विधान सभा को निलम्बित कर दिया गया। उसके बाद संगठन कांग्रेस, जन संघ, एस० एस० पी०, और स्वतन्त्र पार्टी ने एक संयुक्त विधायक दल बना कर टी० एन० सिंह को अपना नेता चुना। प्रत्यक्ष रूप से टी० एन० सिंह अधिकतर विधान सभा सदस्यों के नेता थे, अतः राज्यपाल ने उन्हें मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। फलतः उन्होंने 17 अक्तूबर, 1970 को अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। बाद में बी० के० डी० ने भी उन्हें अपना समर्थन प्रदान कर दिया। किन्तु लोक सभा के मध्यावधि चुनावों के कारण संयुक्त विधायक दल विघटित हो गया और टी० एन० सिंह के समर्थक अनेक विधान सभा सदस्य दल बदल कर त्रिपाठी कांग्रेस में जा मिले। 4 अप्रैल, 1971 को त्रिपाठी ने मन्त्रिमण्डल बनाया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में भी केन्द्र सरकार के प्रति निष्ठावान मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गया।

बिहार में महामायाप्रसाद सिन्हा ने 5 मार्च, 1967 को गैर-कांग्रेसी धड़े की एक मिली-जुली सरकार बनाई जिसमें जन संघ, जन क्रांति दल, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और सी० पी० आई० सम्मिलित थे। यह मन्त्रिमण्डल भंग

हो गया और 1 फरवरी, 1968 को एक संयुक्त सोशलिस्ट नेता बी० पी० मण्डल ने, जिन्होंने अपने दल से अलग होकर शोषित दल नामक गुट बना लिया था, नया मंत्रिमण्डल बनाया। यह सरकार बहुत दिन नहीं चली और 22 मार्च, 1968 को लोकतांत्रिक कांग्रेस दल के नेता भोला पासवान शास्त्री ने सरकार बनाई, जो तेरह महीने की अवधि में तीसरी सरकार थी। यह सरकार भी भंग हो गई और 29 जून, 1968 को राज्य में केन्द्रीय शासन स्थापित हो गया। 9 फरवरी, 1969 को मध्यावधि चुनाव हुए जिनमें कांग्रेस सबसे बड़े एकल दल के रूप में सामने आई। उनके नेता हरिहर सिंह ने अनेक अन्य दलों के समर्थन से मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु सत्ता-लोलुपता एवं संघर्ष के कारण उनकी सरकार चल न सकी और उन्होंने 20 जून को त्यागपत्र दे दिया। राज्य में अस्थिर राजनीतिक स्थिति के कारण वहाँ 4 जुलाई, 1969 को राष्ट्रपति का शासन लागू हो गया। इसके बाद अक्तूबर-नवम्बर 1969 में कांग्रेस पार्टी दो धड़ों में विभाजित हो गई। हरिहर सिंह संगठन कांग्रेस में शामिल हो गए। श्रीमती गांधी के अनुयायियों ने उनका नेतृत्व छोड़ कर दरोगाप्रसाद राय को अपना नेता चुन लिया। उन्होंने कुछ अन्य दलों की सहायता से 16 फरवरी, 1970 को मंत्रिमण्डल बना लिया। 18 दिसम्बर, 1970 को उनके मंत्रिमण्डल के विरुद्ध एक अविश्वास प्रस्ताव पास हो गया और 22 दिसम्बर को संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता कर्पूरी ठाकुर ने एक वैकल्पिक सरकार बनाई। किन्तु संयुक्त मोर्चे के जिन सदस्यों की सहायता से उन्होंने अपनी सरकार बनाई थी, वे पृथक हो गए और दिसम्बर, 1971 में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। इस प्रकार बिहार में भी अधिकतर समय राष्ट्रपति का शासन लागू रहा या मिली-जुली सरकारें बनीं। इन मिली-जुली सरकारों को कभी-कभी कांग्रेस का भी समर्थन प्राप्त होता था।

पंजाब की राजनीति में भी ऐसी युक्तियाँ प्रयुक्त की गई कि या तो वहाँ केन्द्र का शासन रहा या कांग्रेस का शासन रहा, अथवा किसी ऐसे दल का शासन रहा जिसे कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था। गैर-कांग्रेसी दलों को बहुत थोड़ी अवधियों के लिए कभी-कभार मंत्री पद नसीब हुए। 8 मार्च, 1967 को गुरनाम सिंह ने एक मिली-जुली सरकार बनाई क्योंकि कांग्रेस में विग्रह के कारण वह मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में नहीं थी। ऐसा कहा जाता है कि इसके विधायक दलीय नेता प्रबोध चन्द्र ने विधायकों को दल बदलने के लिए उकसाया। इसके परिणामस्वरूप सिंह मन्त्रिमण्डल को इस्तीफा देना पड़ा। उन्होंने कांग्रेस की चालों को 'भद्दा खेल' बताया। कांग्रेसी विधायकों ने लछमनसिंह गिल को समर्थन का वचन दिया और उन्होंने 27 नवम्बर, 1967 को एक नया मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु कांग्रेस हाई कमान के आदेश से समर्थन वापस ले लिया गया और 22 अगस्त, 1968 को गिल मन्त्रिमण्डल भंग हो गया। इसके दो दिन बाद पंजाब में केन्द्र का शासन लागू हो गया।

पंजाब में 9 फरवरी, 1969 को मध्यावधि चुनाव हुए और अकाली दल के दो बड़े, जो मतदान की पूर्व-संध्या को मिलकर एक हो गए थे, कांग्रेस के स्थान पर विधान

सभा में सबसे बड़े एकल दल के रूप में सामने आये। उनके नेता गुरनाम सिंह ने 17 फरवरी को नया मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु अकाली दल की एकता बहुत दिन नहीं चली। गुरनाम सिंह ने मुख्यमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया और एक अन्य अकाली नेता प्रकाशसिंह बादल ने 21 मार्च, 1970 को नया मन्त्रिमण्डल बनाया। यह मन्त्रिमण्डल भी बहुत दिन नहीं चल सका और 15 जून, 1971 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

उड़ीसा में स्वतन्त्र पार्टी के नेता आर० एन० सिंहदेव ने 8 मार्च, 1967 को जन कांग्रेस की सहायता से एक मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया। कांग्रेस में फूट पड़ने के बाद अनेक कांग्रेसी विधान सभा सदस्य इन्दिरा के गुट में शामिल हो गए और उन्होंने जन कांग्रेस विधायकों को सिंहदेव के मन्त्रिमण्डल में से तोड़ लेने के प्रयत्न किये। वे अपने प्रयत्नों में सफल हुए और 9 जनवरी, 1971 को सिंहदेव मन्त्रिमण्डल अपदस्थ हो गया। वैकल्पिक मंत्रिमण्डल बनाना सम्भव प्रतीत नहीं होता था, अतः राज्य में केन्द्र का शासन लागू कर दिया गया। 5 मार्च, 1971 को मध्यावधि चुनाव हुए जिन में कांग्रेस सबसे बड़ी एकल दल थी किंतु वह मंत्रिमण्डल बनाने की स्थिति में नहीं थी। उत्कल कांग्रेस ने उसे मिली-जुली सरकार बनाने का परामर्श दिया, पर उसने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसका विचार था कि मिला-जुला मन्त्रिमण्डल चिरस्थायी नहीं होगा। उसके बाद उत्कल कांग्रेस ने स्वतन्त्र पार्टी से सहयोग किया और उन दोनों ने मिलकर एक निर्दलीय विधान सभा सदस्य विश्वनाथ दास को मुख्यमन्त्री पद के लिए चुना। उन्हें 3 अप्रैल, 1971 को अपने पद की शपथ दिलाई गई। इस प्रकार उड़ीसा ही एक ऐसा राज्य था जिसमें न तो बहुत समय के लिए राष्ट्रपति का शासन लागू किया जा सका और न ही कांग्रेस सत्तारूढ़ हो सकी।

मद्रास में 1967 में कांग्रेस को 234 के सदन में केवल 50 स्थान प्राप्त हुए और द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (DMK) ने मन्त्रिमण्डल बनाया। डी० एम० के० का बहुमत इतना अधिक था कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकार कोई चाल नहीं चल सकी और डी० एम० के० सरकार अपने पद पर बनी रही।

नगालैण्ड ऐसा आठवां राज्य था, जहाँ कांग्रेस की सरकार नहीं बन सकी। इस राज्य का जन्म 1 दिसम्बर, 1963 को हुआ था। इसकी विधान सभा के पहले आम चुनाव 10 से 16 जनवरी, 1964 तक हुए थे। कुल स्थान 46 थे। इनमें से 33 स्थान नगा नेशनलिस्ट पार्टी को मिले, 11 डैमोक्रेटिक पार्टी को और 2 स्थान निर्दलीय प्रत्याशियों ने जीते। शीलू आओ (Shilu Ao) को सर्वसम्मति से बहुसंख्यक दल का नेता चुना गया और उन्हें 25 जनवरी, 1964 को मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। नगालैण्ड में दूसरे आम चुनाव 6, 8 और 10 फरवरी, 1969 को हुए। इस बार 22 स्थान नगा नेशनलिस्ट पार्टी को प्राप्त हुए, 10 यूनाइटेड फ्रन्ट ऑफ नगालैण्ड को, और 8 निर्दलीय प्रत्याशियों को। निर्वाचन के बाद त्वेंग सांग रीजनल कॉन्सल द्वारा नामित 12 सदस्य नगा नेशनलिस्ट पार्टी में जा मिले। 8 निर्दलीय में से भी 7

उसमें शामिल हो गए और इस प्रकार एन० एन० पी० की सदस्य संख्या 52 के सदन में 42 हो गयी। एन० एन० पी० नेता होकिशे सीमा ने 22 फरवरी, 1969 को सरकार बनाई। विद्रोही नगाओं की आतंक एवं हिंसापूर्ण गतिविधियों के कारण नगालैण्ड की स्थिति कुछ भिन्न थी, अतः इस राज्य के प्रति केन्द्र का रवैया निरन्तर दृढ़तापूर्ण रहा। यद्यपि वहाँ गैर-कांग्रेसी सरकार थी, फिर भी कोई उल्लेखनीय केन्द्र-राज्य विवाद उत्पन्न नहीं हुआ।

पांचवाँ आम चुनाव—कांग्रेस पुनः सत्तारूढ़ (Fifth General Election—Congress in Power Again)

दिसम्बर 1971 में पाकिस्तान पर विजय प्राप्ति के बाद मार्च 1972 में 16 राज्यों की विधान सभाओं और दो केन्द्रशासित प्रदेशों के विधान मण्डलों के लिए पांचवें आम चुनाव कराये गए। परिणामस्वरूप, 15 राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गए। उड़ीसा में पहले मध्यावधि चुनाव हो चुके थे, अतः वहाँ मार्च 1972 में निर्वाचन नहीं हुए। जून, 1972 में वहाँ एक संघीय मंत्री श्रीमती नन्दिनी सत्पथी को मुख्य मन्त्री बना दिया गया। 28 फरवरी, 1973 को जब नन्दिनी सत्पथी ने अपने कुछ समर्थकों द्वारा दल बदलने के कारण अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दिया तो केन्द्र ने वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया; पर बीजू पटनायक को, जिन्हें बहुमत का समर्थन प्राप्त था, वैकल्पिक सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया। कुछ समय बाद कांग्रेस पुनः सत्तारूढ़ हो गई।

चौथे आम चुनाव के बाद केन्द्रशासित प्रदेशों में स्थिति इस प्रकार थी : दिल्ली में एक महानगर परिषद (Metropolitan Council) विद्यमान थी। इस परिषद के पहले आम चुनाव (1967) में जनसंघ के 33, कांग्रेस के 19, रिपब्लिकन पार्टी का 1 और निर्दलीय 3 प्रत्याशी चुने गए थे। इस प्रकार, जन संघ सत्तारूढ़ हो गया था। किन्तु मार्च 1972 में जन संघ पुनः अपदस्थ हो गया और कांग्रेस का प्रभुत्व पुनः स्थापित हो गया।

गोआ में कुल 30 स्थानों में से 16 स्थान महाराष्ट्रवादी गोमान्तक दल ने जीते, 12 यूनाइटेड गोअन्स ने, और 2 निर्दलीय उम्मीदवारों ने। कांग्रेस ने जो एक स्थान पिछले चुनाव में जीता था, उससे वह भी छिन गया। इस प्रकार, गोआ में गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना।

हिमाचल में विधान मण्डल की कुल सदस्य संख्या 60 थी। इनमें से कांग्रेस को 33, जन संघ को 7, साम्यवादियों (दक्षिणपंथी) को 3 स्थान प्राप्त हुए और 12 निर्दलीय प्रत्याशी चुने गए। शेष 5 निर्वाचन क्षेत्रों में भारी वर्फ के कारण चुनाव स्थगित करना पड़ा। इस प्रकार वहाँ भी कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गयी और जुलाई 1970 में जब हिमाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया, तब भी वह कांग्रेस का गढ़ बना रहा।

मणिपुर में कुल 30 के सदन में से कांग्रेस को 16 स्थान प्राप्त हुए, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी को 3, साम्यवादी दल (दक्षिणपंथी) को 1 और निर्दलीय सदस्यों को 9 स्थान प्राप्त हुए। एक परिणाम देर से आया। बाद में 9 में से 6 निर्दलीय कांग्रेस में शामिल हो गए। इस प्रकार मणिपुर में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गया। बाद में, मार्च 1973 में जब कांग्रेस सरकार के समर्थक कुछ विधान सभा सदस्य कांग्रेस छोड़कर विपक्षी दलों में जा मिले तो मणिपुर में, जो अब एक पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त कर चुका था, केन्द्रीय शासन लागू कर दिया गया।

त्रिपुरा में कुल 30 के सदन में से कांग्रेस को 27 स्थान प्राप्त हुए, 2 स्थान वामपंथी साम्यवादियों ने तथा एक दक्षिणपंथी साम्यवादी ने जीता। इस प्रकार, इस केन्द्रशासित प्रदेश में भी कांग्रेस की सरकार बनी। मार्च, 1972 में त्रिपुरा द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने पर भी वहाँ कांग्रेस का प्रभुत्व बना रहा।

पांडिचेरी में कांग्रेस को कुल 30 में से 21 स्थान प्राप्त हुए। पीपुल्स फ्रंट को 4 और निर्दलीयों को 5 स्थान प्राप्त हुए। वहाँ भी कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गई, किन्तु बाद में पांडिचेरी में डी० एम० के० का शासन हो गया और फ़ारूक मारीकार मुख्यमन्त्री बने। दिसम्बर 1973 में दल-बदल होने के कारण फ़ारूक की सरकार को अपदस्थ होना पड़ा और वहाँ केन्द्र का शासन हो गया। बाद में अन्ना डी० एम० के० और सी० पी० आई० की एक मिली-जुली सरकार ने सत्ता सम्भाली। किन्तु 1974 में विधान सभा के भीतर हुए एक शक्ति-परीक्षण में पराजित होने के बाद उसे भी 27 मार्च, 1974 को त्यागपत्र देना पड़ा। इस प्रकार इस केन्द्रशासित प्रदेश में विधान सभा भंग करके केन्द्रीय शासन लागू कर दिया गया।

अन्य केन्द्रशासित प्रदेशों में सीधे केन्द्रीय सरकार का शासन था, अतः वहाँ केन्द्र-राज्य विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता था।

इस प्रकार, पांचवें आम चुनाव के परिणामस्वरूप अधिकतर राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों में कांग्रेस का प्रभुत्व पुनः स्थापित हो गया और केन्द्र एवं राज्यों के बीच झगड़े होने बन्द हो गए। राज्य केन्द्रीय सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों के प्रति वचनबद्ध हो गए।

श्रीमती गाँधी द्वारा केन्द्रीय प्रभुता बनाए रखने के प्रयत्न (Mrs Gandhi Endeavours to Preserve Central Predominance)

श्रीमती गाँधी ने अनुभव किया कि भारतीय संघ की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा केन्द्र में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए संघीय सरकार एवं राज्य सरकारों में अच्छे सम्बन्ध विद्यमान रहना अत्यन्त आवश्यक है। अतः उन्होंने पांचवें आम चुनाव के बाद की अवधि में केन्द्र के प्रभुत्व की रक्षा के प्रयास किए। उन्होंने इस दिशा में राजनीतिक स्तर पर अनेक उपाय किये, जो इस प्रकार थे :

(1) राज्यों के मुख्यमन्त्रियों पर जब भी विपक्षी दलों के अतिरिक्त कांग्रेसी

विधायकों या संसत्सदस्यों द्वारा भ्रष्टाचार, कुशासन, तथा अपना घर भरने या स्वार्थ-सिद्धि के आरोप लगाये गए तो उन्होंने सदैव उनकी रक्षा की तथा समर्थन प्रदान किया। उदाहरणतया हरियाणा के मुख्यमन्त्री बंसीलाल और हिमाचल प्रदेश के मुख्यमन्त्री वाई० एस० परमार पर गम्भीर आरोप थे और माँग की गई कि उनके आचरण की जाँच के लिए केन्द्र द्वारा जाँच समितियाँ नियुक्त की जायें। पर श्रीमती गाँधी ने उनकी माँग अस्वीकार कर दी और कहा कि ऐसी कार्रवाई का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। इस प्रकार, उत्तर प्रदेश कांग्रेस के असहमत नेताओं ने, जिनमें विधायक और संसत्सदस्य भी शामिल थे, मुख्यमन्त्री कमलापति त्रिपाठी को अपदस्थ करने की माँग की, पर उनके आन्दोलन को दबा दिया गया। मध्य प्रदेश में पी० सी० सेठी के मन्त्रिमण्डल में से पाँच कांग्रेसी मन्त्रियों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिये और मुख्यमन्त्री को हटाने की माँग की, पर कांग्रेस हाई कमान ने उनके इस्तीफे वापस करा दिये और सेठी को अछूता छोड़ दिया। असहमत नेताओं व उनके नेता डी० पी० मिश्रा को यह कह दिया गया कि नेता बदलने का कोई वास्तविक कारण नहीं है।

(2) जिन राज्यों में मुख्यमन्त्री पद के लिए दो या अधिक कांग्रेसियों में प्रतिस्पर्धा होती थी, उनकी राजनीति में केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप किया जाता था। उदाहरणतया, अक्तूबर 1973 में हरिदेव जोशी और रामनिवास मिर्धा राजस्थान के मुख्यमन्त्रित्व के लिए होड़ कर रहे थे। प्रधान मन्त्री ने विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह को उनमें से एक को सर्वसम्मति से चुना जाने की व्यवस्था करने के लिए भेजा। उनकी अपील पर मिर्धा ने अपना नाम वापस ले लिया और जोशी को राज्य का मुख्यमन्त्री चुन लिया गया। बिहार में 40 में से 25 विधान सभा सदस्यों ने मुख्यमन्त्री केदार पाण्डे से इस्तीफे की माँग की और जब केदार पाण्डे ने इस्तीफा नहीं दिया तो केन्द्र ने हस्तक्षेप करके उनके स्थान पर ग़फूर को मुख्यमन्त्री बना दिया। इस प्रकार, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल विघटित होने से बच गया। गुजरात के मुख्यमन्त्री घनश्याम ओझा को जून 1973 में असहमत कांग्रेसियों ने अविश्वास प्रस्ताव की धमकी दी। श्रीमती गाँधी ने हस्तक्षेप करके उन्हें त्यागपत्र देने का परामर्श दिया और उनके स्थान पर 18 जुलाई को चिमन भाई पटेल को नया मुख्यमन्त्री बना दिया गया। दिल्ली के केन्द्रशासित प्रदेश में असहमत कांग्रेसियों के एक ग्रुप ने श्रीमती गाँधी को एक स्मृति-पत्र दे कर मुख्य कार्यकारी पार्षद के पद से हटाने की माँग की पर उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष एस० डी० शर्मा ने डाँट कर शान्त कर दिया और धमकी दी कि यदि उन्होंने राधारमण के विरुद्ध अपना आन्दोलन ज़ारी रखा तो उन्हें 'ब्लैक लिस्ट' किया जायेगा।

श्रीमती गाँधी ने ये दो युक्तियाँ कांग्रेस की एकता बनाये रखने के लिए प्रयुक्त कीं क्योंकि राज्यों में स्थिर सरकारें बनाने के लिए कांग्रेस की एकता की सबसे अधिक आवश्यकता एवं महत्त्व प्रतीत होता है, अथवा सरकारों के स्थायित्व की यही एकमात्र गारण्टी थी। ऐसा दृष्टिकोण था कि राज्यों में स्थायी कांग्रेसी मन्त्रिमंडल

न होने से राज्यों और केन्द्र में समन्वय नहीं हो सकता।

(3) इस दिशा में श्रीमती गांधी का तीसरा प्रयास उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, नगालैण्ड मणिपुर और पाँडिचेरी में फरवरी 1974 के अन्तिम सप्ताह में हुए आम चुनावों को जीतने का प्रयत्न करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेक उपाय किये जिनमें से कुछ सरकारी स्तर पर और कुछ दलीय स्तर पर थे। सरकारी स्तर के उपाय थे : (क) उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति का शासन समाप्त करके कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित करना ताकि कांग्रेस अपनी अविकारपूर्ण स्थिति का लाभ उठा कर विजय की सम्भावना में वृद्धि कर सके, (ख) कोयला, मिट्टी का तेल, उर्वरकों, वनस्पति घी इत्यादि आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की खुली पूर्ति, (ग) नाना प्रकार के औद्योगिक संयंत्रों, परियोजनाओं, शिक्षा-संस्थानों, कारखानों और अणुशक्ति स्टेशनों का श्रीगणेश एवं आरम्भ किया जाना (वास्तव में ऐसा प्रतीत होता था कि उत्तर प्रदेश सरकार ने इन सब को इसी अवसर के लिए विशेष रूप से परिलक्षित किया हुआ था, (घ) स्कूल व कालेजों के अध्यापकों के वेतनों में वृद्धि 1 जनवरी, 1974 को तीन वर्ष से अधिक सेवा कर चुकने वाले सरकारी कर्मचारियों का स्थायीकरण, सरकारी अस्पतालों और औषध विद्यालयों के डाक्टरों द्वारा निजी प्रैक्टिस पर से रोक समाप्त करना, प्रथम श्रेणी सेवा के सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त सभी सरकारी कर्मचारियों को अधिक महँगाई भत्ते का अनुदान, राज्यों के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की वित्तीय आवश्यकताओं की जाँच के लिए यूनिवर्सिटी अनुदान आयोग के नमूने पर एक उच्च शिक्षा अनुदान आयोग स्थापित करना और, (ङ) उत्तर प्रदेश के कृषक मतदाताओं को प्रसन्न करने के लिए गन्ने इत्यादि के मूल्यों में वृद्धि।

दलीय स्तर पर जो प्रयास किये गए उनमें उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और मणिपुर में सी० पी० आई० से तथा संगठन कांग्रेस से पांडिचेरी में किये गए 'व्यापार' थे, जिनके द्वारा कुछ स्थान उन दलों के लिए छोड़ दिये गए और शेष अपने लिए सुरक्षित कर लिए गए। भारतीय समाचारपत्रों ने पहले उपाय को "राजनीतिक भ्रष्टाचार" बताया और दूसरे को "राजनीतिक अवसरवाद" बताया। उन्होंने, विशेषकर उत्तर प्रदेश में, जहाँ निर्वाचन परिणाम निर्णायक स्थिति में थे, वृहत प्रचार अभियान आरंभ किया और पड़ौसी राज्यों से अनेक स्वयंसेवकों, मुख्यमन्त्रियों तथा संघीय मन्त्रियों को कांग्रेसी प्रत्याशियों के समर्थन में प्रचार करने के लिए भेजा। उन्होंने स्वयं ग्यारह दिन की अवधि के भीतर 47 ज़िलों में लगभग 80 सार्वजनिक सभाओं में भाषण किये। अपने भाषणों में उन्होंने देश की सभी विपत्तियों, खाद्य सामग्री की कमी, कारखानों, अस्पतालों, रेलवे, स्कूलों व कालिजों इत्यादि में हड़तालों अथवा गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि स्थानों में हिंसा एवं मूल्य-वृद्धि विरोधी आन्दोलनों, क्षेत्रीय विद्रोहों अथवा खेतों व फैक्टरियों में अपर्याप्त उत्पादन के लिए विपक्षी दलों को उत्तरदायी ठहराया। उन्होंने जनता में प्रचार किया कि विपक्षी दल प्रजातन्त्र को नष्ट करने पर तुले हुए हैं और कहा कि केवल कांग्रेस ही राज्यों में स्थायी सरकार प्रदान कर

सकती है। श्रीमती गांधी ने गरीबी हटाओ का नारा पुनः बुलन्द किया और कहा कि गरीबी समाप्त करना हमारा धर्म सिद्धान्त है। राज्य के सभी निर्वाचन क्षेत्रों में पानी की तरह धन बहाया गया और विपक्षी दलों ने आरोप लगाए कि उन्होंने बड़े-बड़े व्यापारिक संस्थानों से पचास करोड़ रुपये एकत्र किये।

इन उपायों और प्रयत्नों के फलस्वरूप, कांग्रेस को उत्तर प्रदेश में 425 में से 215 स्थान प्राप्त हुए और उसके नेता एच० एन० बहुगुणा ने 5 मार्च, 1974 को मन्त्रि-मण्डल बनाया। उड़ीसा में कांग्रेस को 147 के सदन में 69 स्थान प्राप्त हुए और सी० पी० आई० एवं कुछ निर्दलीय सदस्यों की सहायता से 6 मार्च को श्रीमती नन्दिनी सतपथी ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। नगालैंड में संयुक्त लोकतन्त्रीय मोर्चे (United Democratic Front) ने 25 स्थान प्राप्त किए, तथा नेशनलिस्ट आर्गेनाईजेशन ने 23 स्थान जीते, और 12 स्थान निर्दलीय प्रत्याशियों के हाथ आये। इस प्रकार एन० एन० ओ०, जिसके हाथ में 52 में से 31 स्थान थे, अब बहुमत का समर्थन खो बैठा। 26 फरवरी, 1974 को यू० डी० एफ० नेता, विज़ोल को मुख्यमन्त्री बनाया गया। एन० एन० ओ० नेता, होकिशी सीमा ने घोषित किया कि उनका दल "नये मुख्यमन्त्री को, राज्य का शासन चलाने का भारी उत्तरदायित्व निभाने के लिए बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करेगा।" नगालैण्ड के सामरिक महत्त्व के कारण केन्द्र सरकार ने इस राज्य की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक घटनाओं पर कड़ी निगरानी रखी। मणिपुर में; मणिपुर हिल पीपुल्स यूनियन और मणिपुर पीपुल्स पार्टी ने क्रमशः 13 व 22 स्थान जीते। इस प्रकार, 60 के सदन में उनकी संख्या 35 हो गई और उन्होंने मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाया। संयुक्त विधायक दल ने मुहम्मद अलीमुद्दीन को अपना नेता चुना और उन्हें 4 मार्च को अपने पद की शपथ दिलाई गई। अगले ही दिन मणिपुर हिल पीपुल्स यूनियन संयुक्त विधायक दल से अलग हो गई और उसके नेता वाई० झैजा (Y. Zhaiza) ने घोषित किया कि उनका दल कांग्रेस (13 स्थान) और सी० पी० आई० (6 स्थान) के साथ मिल कर एक मिली-जुली सरकार बनाएगा। बाद में ऐसा ही किया गया। पांडिचेरी में अन्ना डी० एम० के० 30 के सदन में 12 स्थानों के साथ सबसे बड़े एकल दल के रूप में सामने आई। उसकी मित्र सी० पी० आई० को केवल 2 स्थान मिले। कांग्रेस व संगठन कांग्रेस ने चुनाव से पूर्व एक चुनाव समझौता किया था पर उन्हें केवल 7 व 5 स्थान प्राप्त हुए। दोनों कांग्रेस दलों ने विधान सभा में एक इकाई के रूप में कार्य करने का निश्चय किया, और कांग्रेस विधान दल के नेता थाना कान्ताराज ने मन्त्रिमण्डल बनाने के अधिकार का दावा किया। किन्तु केन्द्र से आदेश पाकर वहाँ के लैफ्टिनेण्ट-गवर्नर छेदीलाल ने अन्ना डी० एम० के० नेता एस० रामास्वामी को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। सरकार ने 7 मार्च को अपने पद की शपथ ग्रहण की।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर कुछ टिप्पणियाँ (A few Observations on Centre-State Relationships)

भारतीय गणराज्य के प्रतिष्ठाताओं ने उसे जो संविधान प्रदान किया था, उससे केन्द्र की स्थिति राज्यों की अपेक्षा अधिक मजबूत एवं श्रेष्ठ थी। इसका यह कारण था कि वे ऐसा अनुभव करते थे कि क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता और वर्गीय संकीर्णता दूर करने के लिए तथा जनता के सामाजिक आर्थिक विकास के लिए भारत को एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है। केन्द्र-स्थित कांग्रेसी नेताओं ने संविधान लागू करने के बाद संघीय सरकार को पहले से भी अधिक शक्तिशाली बना दिया और राज्यों की विधान सूची के विषयों में भी राज्यों की स्वायत्तता में बहुत कमी कर दी। इसके लिए उन्होंने संविधान में संशोधन नहीं किए, प्रत्युत राज्यपाल के पद का उपयोग किया, संविधान की धारा 356 का लाभ उठाया, विवेक-अनुदानों (discretionary grants) का यथावश्यक आवंटन किया, आवश्यक वस्तुओं की खरीद, अथवा उत्पादन एवं बिक्री पर केन्द्र का नियन्त्रण स्थापित किया, सैंट्रल रिजर्व पुलिस का इस्तेमाल किया और योजना आयोग के माध्यम से प्रचार किया जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। कांग्रेस की देशव्यापी प्रभुता ने केन्द्रीय नेताओं को सभी राज्यों को अपने चंगुल में फँसा कर रखने के उपकरण का कार्य किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि राज्यों की स्थिति म्यूनिसिपैलिटियों के समान रह गई, और वे अपने अस्तित्व और स्थायित्व के लिए केन्द्र पर निर्भर करने लगे।

चौथे आम चुनाव के बाद की लगभग दो वर्ष की अवधि के अतिरिक्त, जब सात राज्यों की गैर-कांग्रेसी सरकारें केन्द्र के प्रभुतापूर्ण रवैये के कारण परेशान थीं, नई दिल्ली और राज्यों की राजधानियों में शान्ति व समन्वय बना रहा। वास्तविक समन्वय जनता की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के परित्राण में था पर उनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप, हड़तालों, प्रदर्शनों, बंद, धीरे एवं अकुशल काम इत्यादि के रूप में व्यापक असन्तोष देखने में आया। असन्तुष्टि एवं अतृप्ति के प्रदर्शन में अनेक बार आगज़नी, लूट, सरकारी व निजी सम्पत्ति का नुकसान, घेराव और अधिकारियों के साथ मारपीट तक की घटनाएँ हुई। शहरी क्षेत्रों और औद्योगिक उत्पादन केन्द्रों में जब भी ऐसे मामले हुए, सरकार ने दमन, गोली चलाने, बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों, तालाबन्दी, तथा कर्मचारियों का निलम्बन अथवा नौकरी से निकालने इत्यादि की कार्रवाई की। जब स्थिति सामान्य नागरिक अधिकारियों के नियन्त्रण से बाहर हो जाती तो उसकी ज़िम्मेदारी सेना को सौंप दी जाती थी, जिसे स्थिति की गम्भीरता के अनुसार "देखते ही गोली मारने" तक के आदेश होते थे। यह कहना कठिन होगा कि इसे शान्ति व समन्वय कहना ठीक होगा अथवा नहीं। यह अनुमान लगाना भी कठिन ही होगा कि यही दशा कितने समय तक और रहेगी।

धीमे आर्थिक विकास और प्रभुतापूर्ण कांग्रेसी शासन से तंग आकर राज्यों में विपक्षी

नेता राज्यों के लिए अधिकाधिक स्वायत्तता की माँग करने लगे। उदाहरणतया, उड़ीसा में प्रगति दल के नेता ने 26 दिसम्बर, 1973 को कहा कि राज्यों को "समवर्ती आर्थिक अधिकार दिये जाने चाहिए," और क्योंकि भारतीय जनता, "सत्ता-लोलुप केन्द्रीय नेताओं की धारणा के अनुसार दिल्ली के सरकारी लेखागारों में नहीं, वरन् राज्यों में रहती है," अत: "राज्यों को अपने क्षेत्रों की समस्याओं का सामना करने के प्रति अधिक उत्तरदायी एवं प्रतिग्राही (more responsible and responsive) बना कर आर्थिक प्राधिकार का कुछ विकेन्द्रीकरण अवश्य किया जाना चाहिए।"[15] इसी प्रकार, उत्तर प्रदेश के भारतीय क्रान्ति दल के नेता चरण सिंह ने वित्तीय मामलों में राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग की। पंजाब के अकाली नेताओं ने भी ऐसे ही उद्गार व्यक्त किये। किन्तु प्रधान मन्त्री ने इन सब अपीलों और अनुरोधों को अस्वीकार कर दिया और केन्द्र को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने में लगी रहीं।[16]

[15] *The Hindustan Times*, 27 दिसम्बर, 1973, पृष्ठ 4।
[16] वही, 12 फरवरी, 1974, पृष्ठ 3।

अध्याय 6

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति
(The President in Indian Constitution)

भारतीय संघ की कार्यकारी सत्ता एक राष्ट्रपति में निहित रखी गई है। वे इसका प्रवर्तन स्वयं अथवा संविधान के अनुसार अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करते हैं (धारा 53)। कोई भी व्यक्ति, जो भारत का नागरिक हो और 35 वर्ष की वयस पूरी कर चुका हो तथा लोक सभा का सदस्य बनने की अर्हता रखता हो, राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ सकता है। जो व्यक्ति भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी वेतन-भोगी पद पर नियुक्त हो, अथवा इसी प्रकार केन्द्र या राज्य सरकार के प्राधिकार द्वारा नियन्त्रित किसी अन्य स्थानीय या अन्य अधिकरण का कर्मचारी हो, निर्वाचन में भाग नहीं ले सकता। राष्ट्रपति का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा नहीं किया जाता वरन् धारा 54 के अनुसार एक निर्वाचन-मण्डल (electoral college) द्वारा किया जाता है, जिसके सदस्य (क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, तथा (ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य (किन्तु केन्द्रशासित प्रदेशों की विधान सभाओं के सदस्य नहीं) होते हैं।

15 मई, 1969 को सर्वदलीय केन्द्रशासित प्रदेश संसदीय अध्ययन मण्डल ने एक प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में राज्य विधान सभाओं के सदस्यों के समान मताधिकार की माँग की। इस मण्डल का कहना था कि उन्हें मताधिकार न देना केन्द्रशासित प्रदेशों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति 'घोर अन्याय' है। तदपि यह माँग अभी तक स्वीकार नहीं की गई है।

निर्वाचन मण्डल के प्रत्येक सदस्य का केवल एक मत निर्धारित किया गया, पर उसका मूल्य प्रत्येक राज्य में भिन्न होता है। लोक सभा के सदस्यों एवं राज्य विधान सभाओं के सदस्यों के मत के मूल्य में भी अन्तर होता है। किन्तु संविधान की धारा 55 में निर्वाचन के लिए दो सिद्धान्त निर्धारित हैं—(1) राज्यों के प्रतिनिधित्व के परिमाण में लगभग समानता स्थिर की गई है, तथा (2) सारे राज्यों के जोड़ एवं भारतीय संघ में समानता स्थिर की गई है।

मतों के मूल्य में समानता स्थिर करने का सिद्धान्त इस प्रकार प्रवर्तित किया जाता है कि प्रत्येक मतदाता अर्थात् प्रत्येक सदन के प्रत्येक सदस्य के मत का मान उसके

निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात से आँका जाता है। इसके लिए अन्तिम जनगणना से प्राप्त राज्य की जनसंख्या को (जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त जहाँ यह संख्या संविधान द्वारा 44,10,000 निर्धारित की गई है) उस राज्य के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग करना होता है, और भागफल को निकटतम हज़ारों में रखा जाता है, अर्थात् यदि शेष संख्या 500 से अधिक आये तो उसे एक मान कर प्रत्येक सदस्य के मत-मूल्य में एक अंक की वृद्धि कर दी जाती है, पर यदि शेष संख्या 500 से कम आये तो उसे छोड़ दिया जाता है। उदाहरणतया, 1961 की जनगणना में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या 7,37,46,401 थी तथा विधान सभा के सदस्यों की संख्या 425, तो—

$$\frac{7,37,46,401}{425 \times 1000} = 173\frac{522}{1000}$$

इसको पूर्णांकों में व्यक्त करते हुए 1967 के निर्वाचन में उत्तर प्रदेश विधान सभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य 174 निश्चित किया गया।[1]

इसी प्रकार, 1967 में सारे 17 राज्यों के विधान सभा सदस्यों के मतों का कुल मूल्य 430,851 निश्चित किया गया।

[1] 1967 में चौथे आम चुनाव के समय अन्य राज्यों में विधान सभा के सदस्यों की संख्या एवं उनके मतों के मूल्य इस प्रकार थे : आन्ध्र प्रदेश 827,125, आसाम 126,94; बिहार 318,146; गुजरात 168,123, हरियाणा 8,194, जम्मू-कश्मीर 7,559, केरल 133,127, मध्य प्रदेश 296,109, मद्रास 234,144, महाराष्ट्र 270,146, मैसूर 216,109, नागालैण्ड 468, उड़ीसा 140,125, पंजाब 104,107; राजस्थान 184,110, और पश्चिमी बंगाल 280,125।

1974 के निर्वाचन में निर्वाचन मण्डल में संसद के दोनों सदनों के कुल 744 सदस्य तथा 21 राज्यों की विधान सभाओं के 3,415 सदस्य थे। सारे 21 राज्यों की विधान सभाओं की सदस्य संख्याओं के कुल जोड़ 3, 415 में से गुजरात की भंग विधान सभा के 169 स्थानों सहित 222 स्थान रिक्त पड़े थे और 17 अन्य सभा सदस्यों को भिन्न-भिन्न कारणों से अयोग्य घोषित किया गया था। संसद के दोनों सदनों तथा 21 राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों की संख्या तथा उनकी मत संख्या एवं मत-मूल्य इस प्रकार थे :

विधान मण्डल का नाम	स्थान संख्या	मत-मूल्य	मत संख्या
लोक सभा	521	723	376,683
राज्य सभा	230	723	166,290
आन्ध्र प्रदेश	287	152	43,624
असम	114	128	14,592
बिहार	318	177	56,286
गुजरात	182	147	26,754
हरियाणा	81	124	10,044
हिमाचल	68	51	3,468

संघ एवं राज्यों के समूह में समानता का दूसरा सिद्धान्त प्रवर्तित करने के लिए सारे राज्यों के विधान सभा सदस्यों के मतों के कुल मूल्य को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग करके, आधे से अधिक अंश को एक मान लिया जाता है और आधे से कम को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार जो भागफल प्राप्त होता है, वह प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य माना जाता है। 1967 में यह संख्या इस प्रकार प्राप्त की गई :

$$\frac{4,30,851}{520+228}$$

(लोक सभा के 520 सदस्य और राज्य सभा के 228)। इसका भागफल 576 हुआ। यह प्रत्येक संसत्सदस्य के मत का मूल्य था। कुल 748 निर्वाचित संसत्सदस्यों के मतों के मूल्यों का जोड़ 576×748=4,30,848 था।

इस प्रकार 1967 में सारे निर्वाचन मण्डल के मतों का कुल मूल्य (4,30, 851+4,30,848)=8,61,699 हुआ।

संविधान के रचयिताओं का तात्पर्य यह निश्चित करना था कि राष्ट्रपति वह व्यक्ति बने जो केवल सर्वाधिक मतों की बजाय निर्वाचन में डाले गए मतों के 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त करे। राष्ट्रपति का निर्वाचन-क्षेत्र एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने के कारण राष्ट्रपति का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व (proportional representation) के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है अर्थात् मतदाताओं को अपने मत-पत्र में अपना इच्छित उम्मीदवार ही नहीं वरन् सारे उम्मीदवारों में से वरीयता का क्रम निर्धारित करना होता है।

जम्मू-कश्मीर	75	84	6,300
केरल	133	161	21,413
मध्य प्रदेश	296	141	41,736
महाराष्ट्र	270	187	50,490
मणिपुर	60	18	1,080
मेघालय	60	17	1,020
कर्नाटक	216	136	29,376
नगालैंड	60	9	540
उड़ीसा	147	149	21,903
पंजाब	104	130	31,520
राजस्थान	184	140	25,760
तमिल नाडु	234	176	41,184
त्रिपुरा	60	26	1,560
उत्तर प्रदेश	425	208	88,400
पश्चिम बंगाल	280	158	44,240
जोड़			10,86,263

अगला कार्य, विजयी होने के लिए प्राप्य मतों की संख्या निर्धारित करने का था। इसके लिए डाले गए मतों की कुल संख्या को, सदस्यों की निर्वाचन के लिए निर्धारित संख्या के एक से अधिक भाग करके भागफल में एक जोड़ दिया जाता है। इसका सूत्र इस प्रकार है :

$$\frac{\text{डाले गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचन के लिए निर्धारित सदस्य संख्या}+1}+1=\frac{\text{विजयी होने के लिए}}{\text{प्राप्य मत संख्या}}+1$$

यह मान कर कि सभी मत डाले जायेंगे, विजयी होने के लिए प्राप्य मतसंख्या इस प्रकार होगी :

$$\frac{8,61,699}{1+1}+1 = 4,30,850.$$

इस प्रकार, चौथे राष्ट्रपति निर्वाचन में निर्वाचित होने के लिए प्रत्याशी को 4,30,850 मत-मूल्य के बराबर मत प्राप्त करने आवश्यक थे।

यदि प्रथम गणना में किसी भी प्रत्याशी के इतने मत न आयें तो जिस प्रत्याशी के सबसे कम मत हों उसे असफल मान कर उसके लिए दूसरी वरीयता में डाले गए मत शेष प्रत्याशियों के मतों में जोड़ दिए जाते हैं। असफलता एवं पुन: मतगणना का यह क्रम किसी भी एक प्रत्याशी द्वारा मतों की नियत संख्या प्राप्त करने तक, अथवा एक के अतिरिक्त शेष सभी प्रत्याशियों के असफल माने जाने तक चलता रहता है।

मान लो तीन प्रत्याशियों 'क', 'ख' व 'ग' में 'क' को प्रथम गणना में 3,24,560 मत प्राप्त हुए, 'ख' को 3,11,878, तथा 'ग' को 2,25,261। इस प्रकार प्रथम मतगणना में किसी को भी आवश्यक मत संख्या (4,30,850) प्राप्त नहीं हुई। तब दूसरी गणना आरम्भ हुई और 'ग' को असफल मान लिया गया। यदि 'ग' के मत-पत्रों पर द्वितीय वरीयता के मत 'क' के लिए 1, 35, 618 और 'ख' के लिए 90, 463 हों तो उन्हें 'क' व 'ख' के मतों में जोड़ने से 'क' के मत का जोड़ 3,24, 560+1,35,618 =4,60,178 तथा 'ख' के मतों का जोड़ 3,11,878+90,463=4,02,521 हुआ। विजयी होने के लिए निर्धारित मत संख्या 4,30,850 थी, अत: 'क' को निर्वाचित घोषित किया गया।

राष्ट्रपति पद के लिए चौथे निर्वाचन में बड़ी संख्या में प्रत्याशी मैदान में आये। पांचवें निर्वाचन में भी यही हाल था। अनेक प्रत्याशी तनिक भी प्रसिद्ध नहीं थे और केवल प्रसिद्धि पाने के उद्देश्य से ही चुनाव लड़ना चाहते थे। यह स्थिति हास्यप्रद थी, अत: इसकी रोकथाम के लिए संसद ने एक विधि पारित करके निर्धारित किया कि राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्येक नामांकन-पत्र के न्यूनतम दस निर्वाचक प्रस्तावकर्त्ता हों एवं उसी संख्या में समर्थक भी हों। उप-राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए कम से कम पांच निर्वाचक प्रस्ताव-कर्त्ता तथा पांच समर्थक होने अनिवार्य निर्धारित किए गए। राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्येक नामांकन-पत्र के साथ 2,500 रुपये जमा कराना भी अनिवार्य कर दिया गया।

राष्ट्रपति पद के नियम व शर्तें (Terms and Conditions of President's Office)

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने के दिन से पांच वर्ष की अवधि तक के लिए अपने पद पर आसीन रहते हैं। यदि वे चाहें तो उप-राष्ट्रपति को त्यागपत्र दे कर अपना पद त्याग सकते हैं, अथवा धारा 56 (ख) के अन्तर्गत उन्हें महाभियोग (Impeachment) द्वारा पद से हटाया जा सकता है। जो व्यक्ति राष्ट्रपति रह चुका हो, वह पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है। राष्ट्रपति का वेतन 10,000 रुपये प्रति मास निश्चित किया गया है, जिस पर आयकर लगता है। इसके अतिरिक्त उन्हें वे सभी भत्ते दिये जाते हैं, जो संविधान प्रवर्तित होने से पूर्व भारतीय उपनिवेश के गवर्नर-जनरल को दिये जाते थे। धारा 59 के अनुच्छेद (4) में निर्दिष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति का वेतन एवं भत्ते "उनके कार्यकाल में कम नहीं किये जायेंगे।" किन्तु वे स्वेच्छा से अपने वेतन का कुछ भाग छोड़ सकते हैं। इस प्रकार छोड़े गये वेतन की राशि को स्वैच्छिक वेतन परित्याग (कर से छूट) अधिनियम, 1950 के आधीन आयकर के उद्देश्य से कुल वार्षिक आय में सम्मिलित नहीं किया जाता। वे एक भाड़ा-रहित भवन में निवास करते हैं जिसे राष्ट्रपति भवन कहते हैं। प्रत्येक राष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश की उपस्थिति में भारत की जनता की सेवा एवं कल्याण के लिए तथा विधि एवं संविधान की संरक्षा एवं प्रतिरक्षा के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करने की शपथ ग्रहण करनी होती है (धारा 60)।

राष्ट्रपति पद की अवधि समाप्त होने पर रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए पहले से निर्वाचन कर लिया जाना चाहिए। राष्ट्रपति के देहावसान, पद-त्याग अथवा महाभियोग द्वारा हटाये जाने के कारण उत्पन्न होने वाले रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए धारा 62 (2) के अनुसार निर्वाचन यथाशीघ्र एवं किसी भी स्थिति में स्थान रिक्त होने के पश्चात् छः महीने की अवधि के भीतर अवश्य कराये जाने चाहिए। इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति पद ग्रहण करने के दिन से पूरे पाँच वर्ष की अवधि के लिए अपने पद पर आसीन रहेगा। मई 1969 में जाकिर हुसैन की मृत्यु के पश्चात् वी. वी. गिरि राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और उन्होंने अगस्त 1974 तक अपना पांच वर्ष का कार्यकाल पूरा किया।

राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व नया निर्वाचन "अनिवार्य" (Presidential Poll "Must" before Term of Incumbent ends)

नए राष्ट्रपति का निर्वाचन अगस्त 1974 में होना था। उस समय गुजरात की विधान सभा भंग की जा चुकी थी और वहाँ केन्द्र का शासन था। जन संघ, कांग्रेस (विपक्ष), समाजवादी दल, तथा भारतीय मुस्लिम लीग इत्यादि कतिपय विपक्षी दलों ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि निर्वाचक मण्डल पूरा नहीं है, अतः

राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन नहीं हो सकता। देश भर में गम्भीर मतभेद का वातावरण फैल गया। राष्ट्रपति वराह वैंकट गिरि ने संविधान की धारा 143 (1) के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श की माँग की। मुख्य न्यायाधीश ए०एन०रे० की अध्यक्षता में सर्वोच्च न्यायालय के एक विशेष संविधान न्यायासन द्वारा 5 जून, 1974 को निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया गया कि "राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के कारण रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए होने वाले निर्वाचन के दिन जो व्यक्ति संसद के दोनों सदनों तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होंगे, केवल उन्हें ही मतदान का अधिकार होगा।" न्यायालय के दृष्टिकोण में धारा 62 (1) का प्रावधान आदेशात्मक (mandatory) है तथा राष्ट्रपति पद के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए, कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व निर्वाचन आरम्भ करके समाप्त करना **अनिवार्य** है। न्यायालय ने जानबूझ कर इस मुद्दे पर मत व्यक्त नहीं किया कि यदि किसी राज्य की विधान सभा या राज्यों की विधान सभाओं को "कदाशय पूर्वक भंग" (malafide dissolution) किया गया हो अथवा विधान सभा या विधान सभाओं को भंग किये जाने के पश्चात् उसे या उनके लिए, राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन से पूर्व तर्कसंगत अवधि के भीतर निर्वाचन कराने से "कदाशयपूर्वक" इनकार (malafide refusal) किया जा रहा हो। इसी प्रकार न्यायालय ने इस मुद्दे पर भी जानबूझ कर मत व्यक्त नहीं किया कि राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन से पूर्व बड़ी संख्या में राज्य विधान सभाओं के भंग किये जाने का क्या प्रभाव होगा। इस का यह कारण था कि इन मुद्दों पर राष्ट्रपति ने उसके परामर्श की माँग नहीं की थी।[2]

[2]सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित मुद्दों पर परामर्श देने के लिए कहा गया गया था :

(1) क्या संविधान की धारा 54, 55, 56, 62 एवं 71 की सत्य एवं ठीक-ठीक व्याख्या के अनुसार धारा 54 में जिस निर्वाचन मण्डल का जिक्र किया गया है वह केवल उन राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों तक सीमित रहेगा जो संविधान की धारा 56 (1) के आधीन राष्ट्रपति के कार्यकाल की समाप्ति पर या उससे पहले विद्यमान होंगे।

(2) भारतीय संविधान की धारा 71 (4) की सत्य एवं ठीक-ठीक व्याख्या की जाने पर जब किसी एक या अधिक राज्य या राज्यों की विधान सभा (एं) भंग कर दी गई हो (हों) तो क्या वह (उन्हें) उपर्युक्त धारा में बताये गये निर्वाचन मण्डल में रिक्त स्थान माना जायेगा अथवा माने जायेंगे।

(3) भारतीय संविधान की धारा 54, 62 (1) तथा 71 (4) में गर्भित प्रावधान का कुल मिलाकर यह अर्थ है कि चाहे तत्कालीन राष्ट्रपति के कार्यकाल की समाप्ति के समय एक या अधिक राज्य की विधान सभा(एं) भंग की हुई हो (हों) तो क्या भारत के राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन तत्कालीन राष्ट्रपति के कार्यकाल की समाप्ति से पहले अवश्य हो जाना चाहिए।

(4) क्या किसी राज्य या राज्यों की विधान सभा (सभाओं) के भंग हो जाने से राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है।

(5) जब भारतीय संविधान की धारा 56 (1) के अधीन तत्कालीन राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व किसी राज्य या किन्हीं राज्यों की विधान सभा(एं) भंग कर दी गई हो (हों) तो भारतीय संविधान के तत्सम्बन्धी प्रावधान की ठीक-ठीक व्याख्या के अनुसार राष्ट्रपति पद के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए निर्वाचन कब व कैसे कराया एवं सम्पन्न किया जाये ताकि राष्ट्रपति के सन्दर्भ में भारतीय

राष्ट्रपति को अपदस्थ करने की विधि (Procedure for Impeachment of the President)

राष्ट्रपति को संविधान की अवज्ञा करने के आरोप में अपदस्थ किया जा सकता है। आरोप संसद के किसी भी सदन द्वारा 14 दिन की पूर्व-सूचना दे कर लगाया जा सकता है जिस पर उस सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होना अनिवार्य है। आरोप लगाने का प्रस्ताव उस सदन की कुल सदस्य-संख्या के न्यूनतम दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित किया जाना चाहिए। दोनों सदनों में अनेक राजनीतिक दल होने के कारण, किसी समय दो-तिहाई बहुमत उपलब्ध करना कठिन हो सकता है। किन्तु एक सदन द्वारा आरोप प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् दूसरा सदन उसकी जाँच-पड़ताल कर सकता है अथवा कराने की व्यवस्था कर सकता है। राष्ट्रपति को ऐसी जाँच-पड़ताल के समय स्वयं उपस्थित होने तथा अपना प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होता है। यदि जाँचकर्त्ता सदन अपनी कुल सदस्य संख्या के न्यूनतम दो-तिहाई के बहुमत द्वारा आरोप को सिद्ध घोषित कर दे तो प्रस्ताव पारित करने के दिन से राष्ट्रपति को अपदस्थ माना जायेगा। तथापि राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति ऐसी है कि अपदस्थ करने के प्रावधान का कोई वास्तविक महत्त्व नहीं है। सम्भवतः इसका आशय केवल एक मानसिक भय विद्यमान रखने का ही है।

संविधान को व्यावहारिक बनाया जा सके।

(6) यदि भारतीय संविधान की धारा 62 (1) के आधीन राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन पूरा न कराया जाये तो क्या राष्ट्रपति अपना कार्यकाल समाप्त हो जाने पर भी धारा 56 (1) की शर्तों के खंड (ग) के अधीन, अपने पद पर आसीन रह सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने जो परामर्श-मत व्यक्त किया, उसकी प्रमुख धारणाएँ इस प्रकार थीं—

(1) संविधान की धारा 54 के अधीन संसद के दोनों सदन तथा राज्यों की विधान सभाएं राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए आवश्यक अंग नहीं हैं। केवल उनके निर्वाचित सदस्य ही निर्वाचक मण्डल के सदस्य होते हैं। राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन के समय उनके पास निर्वाचित सदस्य होने की अर्हता अवश्य होनी चाहिए।

(2) धारा 55 में जिस समानता की कल्पना की गई है वह एक ओर प्रत्येक राज्य को पृथक इकाई मान कर तथा दूसरी ओर भारतीय संघ की वजाए, सारे राज्यों एवं भारतीय संघ में है।

(3) धारा 55 (1) में 'यथासम्भव' शब्दों से यह स्पष्ट है कि व्यवहार में प्रतिनिधित्व का माप दण्ड एक-सा होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि निर्वाचन के दिन मतदान करने के योग्य निर्वाचकों की संख्या कम भी हो सकती है। निर्वाचन के दिन निर्वाचकों की वास्तविक संख्या संसद के दोनों सदनों के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या तथा सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से कम भी हो सकती है।

(4) धारा 62 में प्रमुख संवैधानिक उद्देश्य स्पष्ट है जोकि आदेशात्मक भी है।

(5) 11वे संविधान (संशोधन) अधिनियम में धारा 71 में अनुच्छेद (4) जोड़ते समय जिस भाषा का प्रयोग किया गया है उसके विशाल अर्थ हैं। इसका समावेश खरे विवाद के फलस्वरूप किया गया था ताकि इस आधार पर राष्ट्रपति के निर्वाचन को चुनौती देने की सम्भावना समाप्त हो जाये कि निर्वाचक मण्डल में कोई रिक्त स्थान था।

राष्ट्रपति की संरक्षा (Protection of the President)

संविधान की धारा 361 के अंतर्गत राष्ट्रपति अपने पद के अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रवर्तन व क्रियान्वयन अथवा अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रवर्तन के लिए किये या कराये गए किसी कृत्य के लिए, किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। उनके कार्य-काल में उनके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई दण्डनीय अभियोग आरम्भ नहीं किया जा सकता और न ही पूर्व-अभियोग चालू रखा जा सकता है। किसी भी न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति को गिरफ्तार करने या जेल भेजने का वारण्ट जारी नहीं किया जा सकता। किन्तु राष्ट्रपति को अपदस्थ करने के अभियोग की स्थिति में संसद के किसी भी सदन द्वारा नियुक्त न्यायालय, न्यायाधिकरण अथवा निकाय द्वारा राष्ट्रपति के आचरण की जाँच की जा सकती है। राष्ट्रपति द्वारा अपना पद ग्रहण करने से पहले अथवा पीछे किये अथवा कराये गए किसी वैयक्तिक कृत्य के लिए उन पर दीवानी दावा चलाया जा सकता है। किन्तु इसके लिए यह शर्त होती है कि वाद चलाने से दो मास पूर्व राष्ट्रपति एक लिखित अधिसूचना (notice) दे कर वाद का कारण कार्रवाई का प्रकार, वादी पक्ष का नाम, विवरण एवं निवास स्थान तथा उसके द्वारा माँगी गई धन राशि का ब्यौरा दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रपति के अधिकार एवं कार्य
(Powers and Functions of the President)

कार्यकारी अधिकार (Executive Powers)

संविधान की धारा 53 द्वारा भारतीय संघ की सभी कार्यकारी शक्तियाँ राष्ट्रपति के अधिकार में रखी गई हैं। धारा 77 (1) में निर्दिष्ट किया गया है कि भारत सरकार के सभी कृत्य राष्ट्रपति के नाम पर किये गए प्रकट किये जाने चाहिए। अतः प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद (धारा 75), उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों (धारा 124,2), उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों (धारा 217), संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों (धारा 316), महा न्यायवादी (धारा 76, 1) नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक (धारा 148), मुख्य निर्वाचन अधिकारी (धारा 324,2), तथा गवर्नरों (धारा 155) इत्यादि की सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं। वे चुनाव आयोग (324, 2), वित्त आयोग (धारा 280), तथा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण कार्यों का ब्यौरा देने के लिए एक आयोग (धारा 339) नियुक्त करते हैं। धारा 344 में यह निर्धारित किया गया था कि राष्ट्रपति, संविधान के प्रवर्तन की तिथि के पाँच वर्ष बाद एक सरकारी भाषा आयोग नियुक्त करेंगे, जो संघीय सरकारी कार्यों में हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग सम्बन्धी परामर्श देगा।

राष्ट्रपति, केंद्र-प्रशासित क्षेत्रों व प्रदेशों का प्रशासन चलाते हैं। जिसके लिए वे आवश्यकतानुसार मुख्यायुक्त अथवा अन्य अधिकारी नियुक्त करते हैं। (धारा 243)।

अनुसूचित एवं जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन भी वे इसी प्रकार चलाते हैं। धारा 263 के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यों के परस्पर विवादों की जाँच करने व तत्सम्बन्धी परामर्श देने के लिए एक परिषद नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है।

प्रतिरक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित होती है जिसका प्रयोग वे विधि अनुसार करते हैं।

संसद के विधान में राष्ट्रपति की भूमिका (President and the Constitution of Parliament)

राष्ट्रपति को संसद के विधान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। यह प्रश्न उठ खड़ा होने पर कि किसी भी सदन के अमुक सदस्य में धारा 102 के खण्ड (1) में वर्णित अनहर्ता विद्यमान है तो उसे राष्ट्रपति के निर्णय के लिए प्रेषित किया जाता है, तथा उनका निर्णय अन्तिम माना जाता है। किन्तु राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रत्येक ऐसे प्रश्न का निर्णय निर्वाचन आयोग के मतानुसार करें। धारा 101 (2) के अनुसार राष्ट्रपति का यह कर्तव्य होता है कि वे उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो संसद एवं किसी राज्य विधान सभा दोनों के सदस्य निर्वाचित हो जायें, ऐसे नियम बनायें कि यदि वे पहले राज्य विधान मण्डल से त्यागपत्र न दे चुके हों तो संसद में उनका स्थान रिक्त माना जाए।

राष्ट्रपति राज्य सभा के लिए 12 सदस्य नामांकित करते हैं। धारा 80 (3) के अनुसार ये व्यक्ति साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाज सेवा के विशेष ज्ञानी अथवा वास्तविक रूप से अनुभवी होने चाहिए, धारा 91 (1) के अनुसार राष्ट्रपति, राज्य सभा के किसी एक सदस्य को ऐसी स्थिति में अध्यक्षता करने के लिए नामांकित करते हैं कि जब उप-राष्ट्रपति, जो राज्य सभा के अध्यक्ष भी होते हैं, राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे हों तथा उपाध्यक्ष का पद रिक्त पड़ा हो। यदि राष्ट्रपति यह अनुभव करें कि आंग्ल-भारतीय सम्प्रदाय को लोक सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व उपलब्ध नहीं है तो वे उस सम्प्रदाय के दो सदस्य लोक सभा के लिए नामांकित कर सकते हैं (धारा 331 (1)। वे असम के जनजातीय क्षेत्रों तथा अण्डमान व निकोबार के केंद्रशासित प्रदेशों के प्रतिनिधि भी नामांकित करते हैं।

यदि अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष दोनों ही किसी कारणवश लोक सभा की अध्यक्षता न कर सकते हों तो राष्ट्रपति किसी भी लोक सभा सदस्य को अध्यक्षता के लिए नामांकित कर सकते हैं (धारा 95, 1)।

राष्ट्रपति लोक सभा के अधिवेशन बुलाते व समाप्त करते हैं तथा उसे भंग भी करते हैं तथा राज्य सभा का अधिवेशन बुलाने व समाप्त करते हैं।

राष्ट्रपति तथा संसद का कार्य-प्रवाह (President and the working of Parliament)

राष्ट्रपति का संसद के कार्य-प्रवाह से निकट सम्बन्ध होता है। लोक सभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् प्रथम अधिवेशन आरम्भ होने के समय तथा प्रत्येक वर्ष नया सत्र आरम्भ होने के समय वे दोनों सदनों को सम्मिलित अधिवेशन में सम्बोधित करते हैं तथा उनके बुलाए जाने का कारण बताते हैं। धारा 86 (1) में राष्ट्रपति को संसद के किसी एक अथवा दोनों सदनों के सम्मिलित अधिवेशन में भाषण करने का अधिकार दिया गया है। उन्हें संसद के दोनों सदनों को किसी विचाराधीन विधेयक अथवा अन्य विषय के सम्बन्ध में संदेश भेजने का अधिकार होता है तथा जिस सदन को ऐसा संदेश भेजा जाये, उसके लिए सन्देश द्वारा वांछित विषय पर यथासम्भव शीघ्र विचार करना आवश्यक होता है।

धारा 108 में राष्ट्रपति को विशेष परिस्थितियों में दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाने का अधिकार दिया गया है। यदि एक विधेयक एक सदन द्वारा पारित करके दूसरे सदन को भेजा गया हो तथा (क) विधेयक को दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया हो, अथवा (ख) दोनों सदनों में विधेयक के प्रस्तावित संशोधनों सम्बन्धी असहमति हो, अथवा (ग) दूसरे सदन में विधेयक पहुँचे हुए छः मास से अधिक बीत गए हों पर उसे पारित न किया गया हो, तो यदि वह विधेयक लोक सभा भंग होने के कारण समाप्त न हो गया हो तो राष्ट्रपति उस विधेयक पर बहस एवं मतदान के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाने की इच्छा प्रसारित कर सकते हैं (यह प्रावधान वित्त विधेयकों पर लागू नहीं होता)। यदि ऐसी बैठक में वह विधेयक दोनों सदनों की कुल उपस्थित एवं मतदाता सदस्य संख्या द्वारा संशोधित या अपने मूल रूप में पारित कर दिया जाये तो उसे दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायेगा। धारा 118 (3) के आधीन राष्ट्रपति, राज्य सभा के अध्यक्ष एवं लोक सभा के अध्यक्ष के परामर्श से दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन तथा सदनों में परस्पर संचार व्यवस्था सम्बन्धी नियम बनाते हैं।

धारा 111 के अनुसार, संसद के सदनों द्वारा पारित कर दिए जाने के पश्चात् प्रत्येक विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है तथा राष्ट्रपति को स्वीकृति देने अथवा न देने का अधिकार होता है। वे, स्वीकृति न देने की दशा में यदि वह विधेयक वित्त विधेयक न हो, तो प्राप्त होने के बाद यथाशीघ्र ऐसे सन्देश सहित वापस भेज सकते हैं कि वे विधेयक अथवा उसके किन्हीं निर्दिष्ट प्रावधानों पर पुनः विचार करें तथा सन्देश में उन्होंने जो संशोधन सुझाए हों उनकी ग्राह्यता पर विशेष रूप से विचार करें। इस प्रकार वापस लौटने पर सदन के लिए विधेयक पर तदनुसार विचार करना आवश्यक होता है तथा यदि विधेयक को संशोधित या असंशोधित रूप में सदन द्वारा पुनः पारित कर दिया जाये तो राष्ट्रपति के लिए उसे स्वीकृति देना अनिवार्य होता है। इस प्रकार, यह एक निलम्बन विशेषाधिकार (वीटो) के

समान है जो अवित्तीय विधेयकों पर लागू नहीं होता।

कुछ प्रकार के विधेयक संसद में केवल राष्ट्रपति की सिफारिश द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यथा धारा 3 के आधीन नये राज्य बनाने, वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं एवं नामों में परिवर्तन करने सम्बन्धी विधेयक, धारा 112 के आधीन वार्षिक वित्तीय विवरणिका (बजट) सम्बन्धी विधेयक, तथा धारा 117 के आधीन वित्त विधेयकों सम्बन्धी विशेष प्रावधानों से सम्बन्धित विधेयक।

धारा 254 द्वारा, जोकि संसद द्वारा बनाई गई विधि एवं राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा बनाई गई विधि में असंगति से सम्बन्धित है, विधानकारी क्षेत्र में राष्ट्रपति को एक और भूमिका भी दी गई है। इस धारा के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट किया गया है कि: "जब समवर्ती विधान सूची में दिए गए किसी विषय के सम्बन्ध में किसी राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि में कोई प्रावधान संसद द्वारा उसी विषय पर पहले कभी बनाये गए अथवा वर्तमान विधि के प्रावधान के विपरीत पड़ता हो तो उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनायी गई विधि, यदि पहले उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उठा रखा गया हो और अब स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, उस राज्य में परिवर्तित होगा।" तथापि संसद को उसी विषय के सम्बन्ध में किसी भी समय कोई विधि बनाने का अधिकार है जिसमें उपरोक्त (विधान मण्डलीय) विधि के संशोधन परिवर्धन, परिवर्तन अथवा खण्डन सम्बन्धी विधि भी सम्मिलित हैं।

राष्ट्रपति की विधायक क्षमता (Legislative Powers of the President)

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को संसद के अवसान काल में विधि निर्माण के विशाल अधिकार दिए गए हैं। धारा 123 (1) में निर्दिष्ट किया गया है कि संसद के दोनों सदनों के अधिवेशन के दिनों के अतिरिक्त यदि किसी समय राष्ट्रपति अनुभव करें कि तात्कालिक परिस्थितियों में उनके द्वारा तुरन्त कार्रवाई की जानी आवश्यक है, वे समय की आवश्यकता के अनुसार अध्यादेश जारी कर सकते हैं। इस प्रकार जारी किये गए अध्यादेश का वही प्रभाव होगा जो संसद के अधिनियम का होता है किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को (क) संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होता है तथा वह संसद के पुनः एकत्र होने की तिथि से छः सप्ताह की अवधि समाप्त होने पर, अथवा यदि उससे पहले दोनों सदनों द्वारा उसे अस्वीकार करने के प्रस्ताव पारित कर दिए जाएं तो दूसरा प्रस्ताव पारित होने पर प्रभावशून्य हो जाता है, तथा (ख) राष्ट्रपति उसे चाहे जब वापस ले सकते हैं। उसी धारा के अनुच्छेद (3) में यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि यदि अध्यादेश द्वारा ऐसे प्रावधान किए जाएं, जिनका विधान संसद के अधिकार क्षेत्र में न हो, तो वह प्रभावशून्य होगा। राष्ट्रपति का यह अध्यादेश सामर्थ्य (ordinance making power) वित्तीय मामलों पर भी लागू होगा। ये अधिकार उन्हें इसलिए दिए गए हैं कि वे

समान है जो अवित्तीय विधेयकों पर लागू नहीं होता।

कुछ प्रकार के विधेयक संसद में केवल राष्ट्रपति की सिफारिश द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यथा धारा 3 के आधीन नये राज्य बनाने, वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं एवं नामों में परिवर्तन करने सम्बन्धी विधेयक, धारा 112 के आधीन वार्षिक वित्तीय विवरणिका (बजट) सम्बन्धी विधेयक, तथा धारा 117 के आधीन वित्त विधेयकों सम्बन्धी विशेष प्रावधानों से सम्बन्धित विधेयक।

धारा 254 द्वारा, जोकि संसद द्वारा बनाई गई विधि एवं राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा बनाई गई विधि में असंगति से सम्बन्धित है, विधानकारी क्षेत्र में राष्ट्रपति को एक और भूमिका भी दी गई है। इस धारा के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट किया गया है कि: "जब समवर्ती विधान सूची में दिए गए किसी विषय के सम्बन्ध में किसी राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि में कोई प्रावधान संसद द्वारा उसी विषय पर पहले कभी बनाये गए अथवा वर्तमान विधि के प्रावधान के विपरीत पड़ता हो तो उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनायी गई विधि, यदि पहले उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उठा रखा गया हो और अब स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, उस राज्य में परिवर्तित होगा।" तथापि संसद को उसी विषय के सम्बन्ध में किसी भी समय कोई विधि बनाने का अधिकार है जिसमें उपरोक्त (विधान मण्डलीय) विधि के संशोधन परिवर्धन, परिवर्तन अथवा खण्डन सम्बन्धी विधि भी सम्मिलित हैं।

राष्ट्रपति की विधायक क्षमता (Legislative Powers of the President)

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को संसद के अवसान काल में विधि निर्माण के विशाल अधिकार दिए गए हैं। धारा 123 (1) में निर्दिष्ट किया गया है कि संसद के दोनों सदनों के अधिवेशन के दिनों के अतिरिक्त यदि किसी समय राष्ट्रपति अनुभव करें कि तात्कालिक परिस्थितियों में उनके द्वारा तुरन्त कार्रवाई की जानी आवश्यक है, वे समय की आवश्यकता के अनुसार अध्यादेश जारी कर सकते हैं। इस प्रकार जारी किये गए अध्यादेश का वही प्रभाव होगा जो संसद के अधिनियम का होता है किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को (क) संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होता है तथा वह संसद के पुनः एकत्र होने की तिथि से छः सप्ताह की अवधि समाप्त होने पर, अथवा यदि उससे पहले दोनों सदनों द्वारा उसे अस्वीकार करने के प्रस्ताव पारित कर दिए जाएं तो दूसरा प्रस्ताव पारित होने पर प्रभावशून्य हो जाता है, तथा (ख) राष्ट्रपति उसे चाहे जब वापस ले सकते हैं। उसी धारा के अनुच्छेद (3) में यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि यदि अध्यादेश द्वारा ऐसे प्रावधान किए जाएं, जिनका विधान संसद के अधिकार क्षेत्र में न हो, तो वह प्रभावशून्य होगा। राष्ट्रपति का यह अध्यादेश सामर्थ्य (ordinance making power) वित्तीय मामलों पर भी लागू होगा। ये अधिकार उन्हें इसलिए दिए गए हैं कि वे

अकस्मात उत्पन्न होने वाली ऐसी परिस्थितियों की व्यवस्था कर सकें जिनके लिए सामान्य विधि उपलब्ध न हो ।[3]

राष्ट्रपति के क्षमादान इत्यादि अधिकार (Power of President to grant pardons etc.)

संविधान की धारा 72 में राष्ट्रपति को कतिपय न्यायिक प्रकार के अधिकार दिए गए हैं । उन्हें किसी भी अपराध के कारण दण्डित व्यक्तियों को क्षमा, अवकाश, विलम्ब अथवा छूट प्रदान करने अथवा दण्ड को निलम्बित, कम अथवा उसमें फेर बदल करने का अधिकार होता है, (क) जब दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो, (ख) जब दण्ड किसी ऐसी विधि के उल्लंघन के कारण दिया गया हो जिसके प्रति संघीय कार्यकारी क्षमता परिवर्तित होती हो, तथा (ग) प्राणदण्ड के मामलों में ।

राष्ट्रपति को यह अधिकार ऐसे मामलों में दण्ड विधान की कठोरता से छुटकारा दिलाने के लिए दिए गए हैं जिनमें परिस्थितियों के अनुसार नम्रता की आवश्यकता प्रतीत होती हो तथा उन्हें देश के सर्वोच्च अधिकारी को दिए जाने का यही कारण है कि उनका दुरुपयोग न होने पाये ।

वित्तीय क्षेत्र में राष्ट्रपति की भूमिका (President's Role in Financial Sphere)

धारा 112 में राष्ट्रपति को वित्तीय क्षेत्र में कुछ भूमिका दी गई है । उन्हें प्रत्येक वित्त वर्ष आरम्भ होने से पूर्व संसद के दोनों सदनों में उस वर्ष के लिए भारत सरकार का बजट प्रस्तुत कराना होता है । उन्हें संसद में पूरक (supplementary), अतिरिक्त (additional) अथवा अधिक (excess) माँगों के सम्बन्ध में बजट प्रस्तुत कराना होता है, जब (क) यदि संसद द्वारा वार्षिक बजट द्वारा अधिकृत राशि उस वर्ष के लिए अधिकृत उस वर्ष के व्यय के लिए पर्याप्त न रहे, अथवा (ख) यदि किसी कार्य पर व्यय उस वर्ष में उस कार्य के लिए अनुदान की राशि से अधिक हो गया हो । वित्तीय कार्य-विधि में निर्दिष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना कोई वित्तीय अनुदान की माँग प्रस्तुत न की जाये ।

आपात्कालीन स्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार (President's Emergency Powers)

संविधान के विधाताओं ने यह अनुभव किया कि ऐसी स्थितियाँ भी उत्पन्न हो

[3]इस प्रावधान के औचित्य के लिए Constituent Assembly, *Debates*, vol. VIII, p. 213 में अम्बेडकर का कथन देखो ।

सकती हैं, जब सामान्य संवैधानिक तन्त्र कारगर न रहे और उन परिस्थितियों से निपटने के लिए कुछ असाधारण उपाय करने पड़ें। अत: उन्होंने ऐसे उपायों की व्यवस्था करते हुए राष्ट्रपति के उचित अधिकार एवं उत्तरदायित्व निश्चित कर दिये। उन्होंने मुख्यतः तीन प्रकार की आपात्-स्थितियों का अनुमान लगाया : (1) युद्ध या आन्तरिक गड़बड़ी के कारण उत्पन्न आपात्-स्थिति (2) वित्तीय आपात्-स्थिति, तथा (3) किसी राज्य में संवैधानिक-तन्त्र असफल हो जाने के कारण उत्पन्न आपात्-स्थिति। प्रथम दो प्रकार की आपात्-स्थितियों सम्बन्धी प्रावधानों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है तथा तीसरी का अगले अनुच्छेद में किया जायेगा।

1. **युद्ध अथवा आन्तरिक उपद्रव के कारण उत्पन्न आपात्-स्थिति** (Emergency arising out of War or Internal Disturbance)—धारा 352 में निर्दिष्ट किया गया है कि जब राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि युद्ध, बाहरी आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रवों के कारण ऐसी गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है, तो वे आपात्-स्थिति की घोषणा कर सकते हैं। यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो कि युद्ध, बाहरी आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रव निकट भविष्य में होने वाले हैं तो वे उससे पहले भी आपात्-स्थिति की घोषणा कर सकते हैं। इस प्रकार की घोषणा को पुनः घोषणा द्वारा समाप्त भी किया जा सकता है। इसे संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है तथा यदि इसकी घोषणा के बाद दो मास के भीतर उसे संसद के दोनों सदनों के प्रस्तावों द्वारा अनुमोदित न कर दिया जाये तो दो मास की अवधि समाप्त होने पर वह निष्क्रिय हो जाती है।

यदि घोषणा के समय या उसके उपरान्त लोक सभा उसका अनुमोदन किये बिना भंग हो जाये, और राज्य सभा उसका अनुमोदन कर दे तो नये निर्वाचन के पश्चात् नयी लोक सभा द्वारा अपने प्रथम 30 दिनों के भीतर प्रस्ताव पारित करके उसका अनुमोदन करना आवश्यक होता है, अन्यथा नवगठित लोक सभा के आरम्भ के तीस दिन बाद वह घोषणा निष्क्रिय हो जाती है।

धारा 352 के अन्तर्गत आपात्-स्थिति की घोषणा के निम्नलिखित पाँच प्रभाव होते हैं (1): संसद राज्य विधान-सूची के किसी भी मुद्दे के सम्बन्ध में सारे देश व उसके किसी भाग के लिये विधि निर्माण का अधिकार ग्रहण कर लेती है (धारा 250 और 251)। संसद जो विधि बनाने के लिए सक्षम न हो, पर आपात्-स्थिति सम्बन्धी घोषणा के कारण उसे यह क्षमता प्राप्त हुई हो, ऐसे विधि आपात्-स्थिति सम्बन्धी घोषणा के निष्क्रिय होने के पश्चात् छः मास के भीतर निष्क्रिय हो जाते हैं। (2) राष्ट्रपति को ऐसे निदेश देने का अधिकार मिल जाता है कि धारा 268 से 279 तक के, केन्द्र व राज्यों के बीच राजस्व के बंटवारे सम्बन्धी सभी या कोई प्रावधान निलम्बित रहेंगे। (3) केन्द्र सरकार की कार्यकारी क्षमता में वृद्धि द्वारा उसे राज्य सरकारों को उनकी कार्यकारी क्षमता के प्रवर्तन की रीति सम्बन्धी निदेश देने का अधि-

कार मिल जाता है। (4) संविधान की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार सम्बन्धी धारा 19 को निलम्बित किया जा सकता है तथा सरकार कोई भी विधि बनाने अथवा उस दिशा में अन्य कार्यवाही करने का अधिकार मिल जाता है। इस प्रकार बनाई गयी प्रत्येक विधि घोषणा के निष्क्रिय होने के तुरन्त बाद प्रभावरहित हो जाती है पर उस विधि की सक्रियता के समय में किये अथवा करने से छोड़े गए कार्य यथावत् रहते हैं, तथा (5) राष्ट्रपति यह घोषित करने का अधिकार ग्रहण कर लेते हैं कि संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों में से उनके आदेश में वर्णित अधिकार आपात्-स्थिति के दौरान, अथवा आदेश में निर्दिष्ट उससे कम अवधि के लिए निलम्बित रहेंगे। इस प्रकार बनाई गई प्रत्येक विधि को बनाये जाने के बाद यथाशीघ्र संसद के प्रत्येक सदन में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है।

2. **वित्तीय आपात्-स्थिति** (Financial Emergency)—धारा 360 में निर्दिष्ट है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता या साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वे एक घोषणा द्वारा तत्सम्बन्धी आपात्-स्थिति घोषित कर सकते हैं। ऐसी घोषणा को दो मास के भीतर संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित कराना आवश्यक होता है, अन्यथा वह दो मास की अवधि समाप्त होने पर निष्क्रिय हो जाती है।

इस प्रकार की आपात्-स्थिति सम्बन्धी घोषणा का यह प्रभाव होता है कि केन्द्र सरकार की कार्यकारी सत्ता को किसी भी राज्य सरकार को वांछित वित्तीय औचित्य सम्बन्धी प्रनियम (Canons of financial propriety) निर्दिष्ट करने का अधिकार मिल जाता है तथा उसी सम्बन्ध में राष्ट्रपति जो अन्य निर्देश देना आवश्यक व उचित समझें वह भी देने का अधिकार मिल जाता है। ऐसे किसी निर्देश द्वारा (क) राज्य से सम्बन्धित कर्मचारियों के सभी या किसी वर्ग-विशेष के वेतन व भत्तों में कटौती का प्रावधान किया जा सकता है, तथा (ख) प्रत्येक धन विधेयक व अन्य वित्त विधेयक को राज्य विधान सभा द्वारा पारित किये जाने के बाद राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक रखने का प्रावधान किया जा सकता है। ऐसी घोषणा द्वारा राष्ट्रपति को उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों सहित, संघीय मामलों से सम्बन्धित सभी अथवा किसी एक वर्ग के कर्मचारियों के वेतन व भत्तों इत्यादि में भी कटौती करने का अधिकार है।

राष्ट्रपति व राज्य (President and the States)

संविधान में राष्ट्रपति को राज्य सरकारों के प्राधिकारों व उनके प्रवर्तन पर नियन्त्रण के विशेष अधिकार दिये गए हैं। उदाहरणतः, धारा 356 में निर्दिष्ट किया गया है कि किसी राज्य के गवर्नर से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति को यह विश्वास हो कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का प्रशासन कार्य संवि-

धान के प्रावधानों के अनुसार चलाना असम्भव हो गया है, वे एक घोषणा द्वारा (क) उस राज्य के गवर्नर द्वारा किये जाने वाले उस राज्य सम्बन्धी सभी अथवा कोई कार्यांग अपने हाथ में ले सकते हैं, तथा (ख) ऐसे प्रासंगिक वा पारिणामिक प्रावधान कर सकते हैं जो उन्हें घोषणा के उद्देश्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक प्रतीत हों। इसके अन्तर्गत वे राज्य के किसी निकाय वा प्राधिकारी सत्ता सम्बन्धित संविधान के प्रावधानों के प्रवर्तन को निलम्बित करने का प्रावधान भी कर सकते हैं। किन्तु राष्ट्रपति न तो उच्च न्यायालय की सत्ता स्वयं ग्रहण कर सकते हैं, और न ही संविधान के उच्च न्यायालय सम्बन्धी किसी प्रावधान को निलम्बित कर सकते हैं।

ऐसी किसी भी घोषणा को पुनः घोषणा द्वारा निरस्त या परिवर्तित किया जा सकता है। प्रत्येक घोषणा को संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत करना अनिवार्य होता है तथा यदि उसका दो मास की अवधि के भीतर संसद द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाये तो दो मास की अवधि समाप्त होने पर वह निष्क्रिय हो जाती है। यदि धारा 356 के आधीन घोषणा के समय लोक सभा भंग हो चुकी हो अथवा उपर्युक्त दो मास की अवधि के भीतर भंग हो जाये, तथा यदि घोषणा के अनुमोदन का प्रस्ताव राज्य सभा ने पारित कर दिया हो पर उपर्युक्त अवधि समाप्त होने से पहले लोक सभा ने ऐसा कोई प्रस्ताव पारित न किया हो तो यदि नये चुनावों के पश्चात् नई लोक सभा के स्थान ग्रहण कर लेने से तीस दिन की अवधि के भीतर लोक सभा ने उस घोषणा को अनुमोदित करने का भी प्रस्ताव पारित न कर दिया हो तो वह घोषणा उस तीस दिन की अवधि के वाद निष्क्रिय हो जायेगी।

इस प्रकार अनुमोदित घोषणा को यदि निरस्त न कर दिया गया हो तो वह उसे अनुमोदित करने के दूसरे प्रस्ताव को पारित करने की तिथि से छः मास समाप्त होते ही निष्क्रिय हो जायेगी। यदि चाहें तो संसद के दोनों सदन एक प्रस्ताव पारित करके घोषणा को उसके निष्क्रिय होने की तिथि से पुनः छः मास की अवधि के लिए सक्रिय रख सकते हैं, किन्तु कोई भी ऐसी घोषणा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिए सक्रिय नहीं रह सकती। यदि छः मास की उपरोक्त अवधि पूर्ण होने से पूर्व, ऐसी घोषणा के सक्रिय रहने का प्रस्ताव पारित किये बिना, लोक सभा भंग हो जाये और यदि उसी अवधि के वीच राज्य सभा तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दे तो लोक सभा द्वारा पुनर्गठित हो कर, अपनी पहली बैठक के वाद, 30 दिन की अवधि के भीतर उसे सक्रिय रखने का प्रस्ताव यदि पारित न कर दिया जाये तो घोषणा निष्क्रिय हो जायेगी।

जब राष्ट्रपति ने संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत आपात्-स्थिति की घोषणा की हो, और किसी राज्य की विधायक शक्ति संसद द्वारा प्रवर्तनीय हो गई हो, तो संसद, धारा 357 के अधीन, वह शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान कर सकती है तथा राष्ट्रपति को यह अधिकार भी दे सकती है कि वे किसी अन्य प्राधिकारी को निर्दिष्ट करके उसे वह अधिकार सौंप दे। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वे संघीय सरकार, उसके अधिकारियों या प्राधिकारियों को सामर्थ्य प्रदान करके उनके कर्तव्य

निश्चित कर दें। उन्हें, संसद के सत्र की अनुपस्थिति में, राज्य की संचित निधि में से व्यय करने का अधिकार देने की भी क्षमता होगी, जिसके लिए कालान्तर में संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा।

इस अनुच्छेद के आधीन राष्ट्रपति द्वारा बनायी गयी विधि की घोषणा के बाद यदि उसे मूल या संशोधित रूप में उपयुक्त विधान मण्डल के अधिनियम द्वारा पुनः अधिनियमित न कर दिया जाय, तो एक वर्ष की अवधि समाप्त होने पर निष्क्रिय हो जायेगा।

राज्य विधान मण्डलों के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति (President's Assent to Bills of State Legislatures)

राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पारित जो विधेयक गवर्नर द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ रख लिये जाते हैं, उनके सम्बन्ध में संविधान की धारा 201 द्वारा राष्ट्रपति को कुछ नियन्त्रक अधिकार दिये गए हैं। ऐसे किसी विधेयक के लिए राष्ट्रपति निम्नलिखित तीन में से कोई एक कार्रवाई कर सकते है : (1) वे अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकते हैं, (2) वे अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकते हैं, (3) यदि वह वित्त विधेयक न हो तो वे उसे अपने संशोधन सम्बन्धी सुझावों सहित लौटा कर गवर्नर को आदेश दे सकते हैं कि विधेयक को पुनर्विचार के लिए राज्य विधान मण्डल को लौटा दिया जाये। इस प्रकार लौटाये जाने पर राज्य विधान मण्डल का यह कर्तव्य होता है कि विधेयक पर राष्ट्रपति का संदेश प्राप्त होने के छः मास के भीतर पुनर्विचार करे। विधेयक को मूल या संशोधित रूप में पारित किये जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रेषित किया जाता है, और वे चाहें तो उसे पुनः अस्वीकृत कर सकते हैं। धारा 200 के अनुच्छेद III में निर्दिष्ट है कि किसी विधेयक द्वारा उच्च न्यायालय की सम्मानित स्थिति के स्तर में अन्तर पड़ने की आशंका हो तो गवर्नर द्वारा उस पर स्वीकृति न दे कर उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ उठा रखना आवश्यक होगा।

राष्ट्रपति के सामर्थ्य-अधिकारों का प्रवर्तन (Does the President Exercise his Powers in his Discretion)

संविधान में राष्ट्रपति को दिये गए विशाल सामान्य एवं आपातकालीन अधिकारों के अध्ययन से निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं: क्या राष्ट्रपति अपने अधिकारों के प्रवर्तन में स्वयं निर्णय लेते हैं ? क्या उनकी हैसियत अमरीकी राष्ट्रपति जैसी है ? क्या वे यदि चाहें तो, कम से कम आपात्-स्थिति में ही, तानाशाह के समान कार्य कर सकते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर है, नहीं; वे ऐसा कभी नहीं करते और न कर सकते हैं। संविधान के रचयिताओं का ऐसा उद्देश्य नहीं था और न ही किसी राष्ट्रपति ने अब तक ऐसी प्रक्रिया व्यक्त की है। अनेक प्रसिद्ध विधि वेत्ताओं एवं राजनीतिक नेताओं ने संविधान सभा में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राष्ट्रपति, राज्य

के संवैधानिक अध्यक्ष मात्र हैं, वे केवल एक प्रतीक हैं, तथा उनको सभी निर्णय एवं प्रक्रियाएँ मंत्रिपरिषद के "परामर्श व सहायता" से करने होते हैं। उदाहरणतया, डा० भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि "अमरीका में जिस प्रकार की राज्य-प्रणाली प्रचलित है उसमें तथा संविधान के प्रारूप में प्रस्तावित राज्य-प्रणाली में नाम के अतिरिक्त कुछ भी समान नहीं है।" उनका कहना था कि "ये दोनों मूलत: भिन्न हैं। अमरीकी राज्य-प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका के अध्यक्ष होते हैं···हमारे संविधान के प्रारूप में राष्ट्रपति का वही स्थान है जो अंग्रेज़ी संविधान में राजा का है। वे राज्य के अध्यक्ष हैं पर कार्यपालिका के नहीं। वे राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं पर शासक नहीं। वे राष्ट्र के प्रतीक हैं। प्रशासन में उनका स्थान एक परम्परागत उपकरण व ऐसी छाप के समान है जिसके माध्यम से राष्ट्र के निर्णय घोषित किये जाते हैं।"[4]

संघीय संविधान रचयिता समिति के अध्यक्ष, जवाहरलाल नेहरू ने कहा: "मंत्रीयता हमारी सरकार की विशेषता है···यहाँ सत्ता वस्तुत: मंत्रिमण्डल एवं विधान मण्डल में निवास करती है, राष्ट्रपति में नहीं···हमने उन्हें कोई वास्तविक सत्ता प्रदान नहीं की है पर उनकी हैसियत महान प्राधिकार एवं प्रतिष्ठा की बनाई है···"[5]

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने संविधान सभा के अध्यक्ष पद से समापन अधिवेशन में बोलते हुए कहा"···यदि राष्ट्रपति का निर्वाचन वही निर्वाचक मण्डल करता है जो केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान मण्डलों का निर्वाचन करता है, तो यह उचित ही है कि उनकी हैसियत एक संवैधानिक राष्ट्रपति की है। वस्तुत: मन्त्री विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं और वे राष्ट्रपति को परामर्श देते हैं, जिनके लिए **उनके परामर्श के अनुसार कार्य करना अनिवार्य होता है।**"[6]

किन्तु संविधान में, मंत्रियों के परामर्श को राष्ट्रपति के लिये अनिवार्य बनाने सम्बन्धी कोई प्रावधान नहीं किये गये। इसके विपरीत कुछ अनुच्छेदों का यह तात्पर्य लगाया जा सकता है कि मंत्रिगण राष्ट्रपति के सहायक मात्र होते हैं और राष्ट्रपति उनके परामर्श की अवहेलना भी कर सकते हैं, जैसाकि धारा 75 के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट किया गया है कि मंत्रियों का अपने पद पर बने रहना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करेगा। किन्तु यह आशा की जाती है कि क्योंकि भारत में संसदीय शासन पद्धति ब्रिटिश नमूने पर स्थापित की गई है, अत: इंग्लैण्ड में प्रचलित प्रथायें भारत की राजनीतिक पद्धति का भी अभिन्न अंग बन जायेंगी। यद्यपि इंग्लैण्ड में सिद्धान्तत: सम्पूर्ण सत्ता राजा में सुरक्षित होती है तदपि वह नाममात्र का संवैधानिक अध्यक्ष होता है। सिद्धान्त एवं व्यवहार का यह अन्तर केवल परम्पराओं के कारण है। आशा है कि संविधान में कुछ प्रावधान करके उसे अमरीकी नमूने का राष्ट्रपति होने के भी अयोग्य बना दिया जायेगा। धारा 61 में संविधान की अवहेलना के कारण राष्ट्रपति को अप-

[4]विस्तृत अध्ययन के लिए Constituent Assembly, *Debates*, Vol.II, पृष्ठ32 देखो।
[5]*Ibid*., p. 734.
[6]*Ibid*., पृष्ठ 988.

दस्थ करने की कार्यविधि निर्दिष्ट की गई है, और राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद के परामर्श के विरुद्ध किया गया कोई भी कार्य अथवा निर्णय, संसद द्वारा राष्ट्रपति पर संविधान की अवहेलना का दोष लगाने के लिए पर्याप्त आधार माना जा सकता है। संसद के पास राष्ट्रपति के प्रति यह पर्याप्त रूप से शक्तिशाली अंकुश है।

एक ओर जहाँ धारा 75 के अनुच्छेद (2) में यह निर्दिष्ट किया गया है कि मंत्रियों का अपने पद पर बने रहना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है, उसी धारा के अनुच्छेद (3) में बताया गया है कि मंत्रिपरिषद "सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।" ये दोनों अनुच्छेद परस्पर विपरीतार्थक प्रतीत होते हैं। यदि मंत्रियों ने राष्ट्रपति को खुश रखना है तो वह संसद के प्रति उत्तरदायी कैसे रह सकते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान के रचयिताओं ने अनुच्छेद (2) का समावेश राष्ट्रपति की प्रतिष्ठा स्थिर रखने के लिए किया और जनता की वास्तविक रूप से प्रतिनिधि निकाय, अर्थात् संसद की श्रेष्ठता पर बल देने के लिए अनुच्छेद (3) की रचना की। मंत्रियों में जब तक संसद को विश्वास रहता है वह उनकी रक्षा करती है तथा राष्ट्रपति को उनके परामर्श रद्द नहीं करने देती। तथापि राष्ट्रपति संसद को भंग करके नये चुनावों का आदेश दे सकते हैं किन्तु वह ऐसा तभी कर सकते हैं जब उन्हें यह पक्का विश्वास हो जाए कि संसद संविधान के प्रावधानों के अनुसार कार्य नहीं कर रही है तथा कोई भी एक राजनीतिक दल अथवा राजनीतिक दलों का समूह देश में स्थायी सरकार स्थापित करने की स्थिति में नहीं है। यदि इन दोनों परिस्थि-तियों के उत्पन्न हुए बिना राष्ट्रपति संसद को भंग कर दे तो इसका अर्थ अपने विरुद्ध पुनर्गठित संसद में महाभियोग का खतरा मोल लेना होगा। विदित है कि कोई भी राष्ट्रपति सामान्यतः ऐसी कठिनाई का सामना करने को उद्यत नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त, संविधान के रचयिताओं ने भारत सरकार अधिनियम 1925 के उस प्रावधान को विशेष रूप से निरस्त किया है जिसमें गवर्नर जनरल को "अपने विवेकानुसार कार्य करने" अथवा अपने "व्यक्तिगत निर्णय" का उपयोग करने का अधिकार था। वस्तुतः इसका तात्पर्य, राष्ट्रपति के विवेकाधिकार को पूर्णतः समाप्त कर देना, समझना चाहिए।

संविधान में कुछ प्रावधानों द्वारा राष्ट्रपति को आपात्-स्थिति में भी निरंकुश बनने से रोक रखने की व्यवस्था की गई है। उदाहरणतः वे धारा 352 के आधीन आपात्-स्थिति घोषित कर सकते हैं किन्तु यदि दो मास की अवधि के भीतर उसे दोनों सदनों में अनुमोदित न कर दिया जाए तो दो मास पूर्ण होने पर वह निष्क्रिय हो जाएगी। इसी प्रकार वे धारा 356 के आधीन किसी राज्य में संविधान को निलंबित कर सकते हैं पर यदि दो मास की अवधि पूर्ण होने से पूर्व संसद द्वारा उस निलम्बन आदेश का अनुमोदन न कर दिया जाए तो वह कालबाधित हो जाता है।

राष्ट्रपति के पद के साथ इतना गौरव, सम्मान और प्रतिष्ठा जोड़ी गई है कि उसका अधिकारी सामान्यतः मन्त्रिपरिषद के "परामर्श व सहायता" की अवहेलना

करके अपने विवेकानुसार निर्णय करने का विचार भी नहीं करेगा। राष्ट्रपति को भारत का उच्चतम नागरिक माना जाता है, वे देश के भव्यतम प्रासाद में निवास करते हैं, वे जहाँ भी जाते हैं प्रत्येक व्यक्ति उन्हें आदरपूर्वक नमस्कार करता है, जब भी वे सरकारी दौरों पर जाते हैं उनकी अगवानी व विदाई के समय सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति इकट्ठे होते हैं और जब वे देश से बाहर जाते हैं तो उन्हें वे सब रियायतें एवं सुविधाएँ दी जाती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एक प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य के प्रधान को दी जाती हैं। वे राज्य के उच्चतम प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उनके पद की शपथ दिलाते हैं और जब वे स्वयं शपथ लेते हैं तो उन्हें 31 तोपों की सलामी दी जाती है। वे जब संसद से वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन करने अथवा नई संसद का उद्घाटन करने जाते हैं तो एक राजसी बग्घी में सवार हो कर जाते हैं और गणराज्य दिवस की परेड में उसी बग्घी में चढ़ कर राजसी ठाठ के साथ सबसे आगे चलते हैं, जबकि उनकी एक झलक के लिए लाखों आँखें लालायित रहती हैं। वे चाहे किसी अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय सम्मेलन का उद्घाटन करने अथवा किसी नए पुल, बाँध अथवा फैक्टरी का उद्घाटन करने जाएँ अथवा किसी नए बिजलीघर, पोत या अस्पताल का उद्घाटन करने जाएँ तो बड़े-बड़े सम्मानित व्यक्ति भी उनसे बात करने का अवसर पा कर स्वयं को धन्य समझते हैं। जिस अवसर पर स्वयं राष्ट्रपति उप-स्थित हों उसकी मर्यादा बढ़ जाती है। सरकार द्वारा किये गए हज़ारों काम यद्यपि वे स्वयं नहीं करते किन्तु उनके द्वारा ही किए गए माने जाते हैं। ब्रिटिश राजाओं को जो "चेतावनी देने, प्रोत्साहन देने और हर काम में परामर्श के लिए पूछे जाने" का अधिकार होता है, कम से कम वह तो भारत के राष्ट्रपति को उपलब्ध रहता ही है।

इसके अतिरिक्त, सर्वश्री राजेन्द्रप्रसाद, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, ज़ाकिर हुसैन और वराह वैंकट गिरि ने अपने-अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति पद पर जिस प्रकार कर्तव्य निर्वाह किया, उससे संविधान के रचयिताओं के दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

सम्भवत: केन्द्र तथा अधिकतर राज्यों में कांग्रेसी सरकारों के कार्य से निराश हो कर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने 28 नवम्बर, 1960 को इण्डियन ला इन्स्टिट्यूट के भवन का उद्घाटन करते हुए कहा कि "संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया हो कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य होंगे।" उन्होंने कहा कि वर्तमान संवैधानिक प्रावधानों का अर्थ लगाते समय संवैधानिक परम्पराओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। उनके इस कथन से देश के राजनीतिज्ञों एवं बुद्धिजीवियों में सनसनी फैल गई, और सभी ओर से यह दृष्टिकोण व्यक्त किया गया कि राष्ट्रपति की शंका का समाधान किया जाना चाहिए। एक संसत्सदस्य भूपेश गुप्त ने दो संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत करके मन्त्रिमण्डल के परामर्श को राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य बनाने का प्रयत्न किया, पर उनके प्रस्तावों को समर्थन प्राप्त न हो सका तथा सरकारी पक्ष की ओर से यह दृष्टिकोण व्यक्त किया गया कि संविधान में पहले ही ऐसे पर्याप्त प्रावधान विद्यमान हैं। राजेन्द्रप्रसाद अधिक

विवाद में नहीं पड़े और एक सच्चे गाँधीवादी तथा अनुशासित कांग्रेसी के समान पूर्व-वत् कार्य करते रहे। अगले दो राष्ट्रपतियों ने भी, जो राजनीतिज्ञ न हो कर शिक्षक सम्प्रदाय से थे, अपने संवैधानिक अधिकारों की भिन्न व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया। वराह वैंकट गिरि भी बिना आनाकानी किये मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर चलते रहे। बल्कि उन्होंने प्रधान मन्त्री की 'मुहर' के नाम से ख्याति प्राप्त की।

भारत के उप-राष्ट्रपति
(Vice-President of India)

संविधान में भारत के लिए एक उप-राष्ट्रपति का भी प्रावधान है। उप-राष्ट्रपति **पदाधिकार** से राज्य सभा के अध्यक्ष (ex officio chairman) होते हैं पर वे संघीय सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन वेतनभोगी पद पर कार्य नहीं कर सकते। संविधान की धारा 65 (1) के अनुसार, निधन, पदत्याग, पदच्युति के कारण या अन्यथा (अन्यथा में धारा 71 के अन्तर्गत् राष्ट्रपति का निर्वाचन निरस्त किया जाना भी शामिल है) राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होने पर नया राष्ट्रपति निर्वाचित होने तक, उप-राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करते हैं। रुग्णता, अवकाश अथवा अन्य कारणों से जब राष्ट्रपति अपना कार्य न कर सकें तो धारा 65 (2) के अनुसार, राष्ट्रपति के पुनः कार्यभार सम्भालने की तिथि तक उप-राष्ट्रपति उनका कार्य करेंगे। जब उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में अथवा राष्ट्रपति के स्थान पर कार्य कर रहे हों तो वे राज्य सभा के अध्यक्ष का कार्य नहीं करते तथा राज्य-सभा के अध्यक्ष को देय वेतन एवं भत्ते नहीं लेते। इन अवधियों में उन्हें राष्ट्रपति के सभी अधिकार एवं छूट उपलब्ध रहते हैं, तथा वे राष्ट्रपति के समान ही वेतन, भत्तों एवं रियायतों के अधिकारी होते हैं।

धारा 66 में निर्दिष्ट किया गया है कि उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों द्वारा एक संयुक्त बैठक में एकत्रित होकर एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा आनुपाति प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर किया जाये। मत-दान गुप्त मतपत्र द्वारा किया जाता है। संसद के सभी सदस्य, चाहे वे निर्वाचित हों या नामांकित हों, निर्वाचन में भाग लेते हैं। उप-राष्ट्रपति के पद के लिये प्रथम दो चुनावों में मुकाबला नहीं हुआ, और राधाकृष्णन को एक संयुक्त बैठक में सर्व सम्मति से चुन लिया गया। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि इतने महत्त्वपूर्ण पद के निर्वाचन के लिये एक ही स्थान पर एकत्रित 700 व्यक्तियों की एक संयुक्त बैठक में, निर्वाचन के भिन्न-भिन्न चरणों को संतोषजनक रूप से पूरा नहीं किया जा सकता। दिसम्बर 1961 में संसद ने राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए कार्य विधि में संशोधन करते हुए ग्यारहवां (संशोधन) विधेयक पारित कर दिया। विधेयक द्वारा धारा 66 (1) में "संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा एक संयुक्त सभा में एकत्रित

हो कर" के स्थान पर "संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के एक निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा" शब्द जोड़ दिए गए। 1962 में उप-राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव इसी व्यवस्था के आधीन लड़ा गया। उसमें डा० ज़ाकिर हुसैन तथा एन० सी० सामन्त सिन्हार, दो प्रतिद्वन्द्वी थे। डा० हुसैन के 568 मत आये तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी के कुल 14 मत आये।

उप-राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन या किसी राज्य के विधान मण्डल के सदस्य नहीं बन सकते। यदि ऐसा कोई सदस्य उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाये तो उसके उप-राष्ट्रपति पद संभालने की तिथि से ही तत्सम्बन्धी सदन में उसका स्थान रिक्त माना जायेगा। उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष होता है। इससे पूर्व वे राष्ट्रपति को लिखित पत्र दे कर पद त्याग कर सकते हैं, अथवा उन्हें राज्य सभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित कर के, जिसे लोक सभा भी सहमति दे, अपने पद से हटाया जा सकता है। ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत करने के आशय की न्यूनतम चौदह दिन की सूचना दिये बिना ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। संविधान में उप-राष्ट्रपति को उस अवधि में पद त्याग करने की अनुमति नहीं दी गयी है, जब वे राष्ट्रपति के पद पर कार्य कर रहे हों। इस विषय में धारा 67 (क) में स्पष्ट प्रावधान किया गया है कि "कोई उप-राष्ट्रपति अपने हाथ से राष्ट्रपति को पत्र लिखकर, पद त्याग कर सकते हैं।" उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात् भी नये उप-राष्ट्रपति द्वारा पद सम्भालने तक वे अपने पद पर बने रहते हैं। कार्यकाल समाप्त होने पर रिक्त होने वाले स्थान के लिये निर्वाचन, कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व करा लिया जाना चाहिए। देहावसान, पदत्याग, पदच्युति अथवा अन्य किसी कारण से स्थान रिक्त होने पर "यथासम्भव शीघ्र" निर्वाचन कराना आवश्यक होता है और इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति अपने कार्यभार संभालने की तिथि से पूरे पांच वर्ष की अवधि के लिए उप-राष्ट्रपति के पद पर कार्य करते हैं। उप-राष्ट्रपति (या राष्ट्रपति) के निर्वाचन से सम्बन्धित सभी शंकाओं एवं विवादों इत्यादि की जांच तथा निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।[7] यदि ऐसे

विवाद में नहीं पड़े और एक सच्चे गांधीवादी तथा अनुशासित कांग्रेसी के समान पूर्ववत् कार्य करते रहे। अगले दो राष्ट्रपतियों ने भी, जो राजनीतिज्ञ न हो कर शिक्षक सम्प्रदाय से थे, अपने संवैधानिक अधिकारों की भिन्न व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया। वराह वेंकट गिरि भी बिना आनाकानी किये मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर चलते रहे। बल्कि उन्होंने प्रधान मन्त्री की 'मुहर' के नाम से ख्याति प्राप्त की।

भारत के उप-राष्ट्रपति
(Vice-President of India)

संविधान में भारत के लिए एक उप-राष्ट्रपति का भी प्रावधान है। उप-राष्ट्रपति पदाधिकार से राज्य सभा के अध्यक्ष (ex officio chairman) होते हैं पर वे संघीय सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन वेतनभोगी पद पर कार्य नहीं कर सकते। संविधान की धारा 65 (1) के अनुसार, निधन, पदत्याग, पदच्युति के कारण या अन्यथा (अन्यथा में धारा 71 के अन्तर्गत् राष्ट्रपति का निर्वाचन निरस्त किया जाना भी शामिल है) राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होने पर नया राष्ट्रपति निर्वाचित होने तक, उप-राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करते हैं। रुग्णता, अवकाश अथवा अन्य कारणों से जब राष्ट्रपति अपना कार्य न कर सकें तो धारा 65 (2) के अनुसार, राष्ट्रपति के पुन: कार्यभार सम्भालने की तिथि तक उप-राष्ट्रपति उनका कार्य करेंगे। जब उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में अथवा राष्ट्रपति के स्थान पर कार्य कर रहे हों तो वे राज्य सभा के अध्यक्ष का कार्य नहीं करते तथा राज्य-सभा के अध्यक्ष को देय वेतन एवं भत्ते नहीं लेते। इन अवधियों में उन्हें राष्ट्रपति के सभी अधिकार एवं छूट उपलब्ध रहते हैं, तथा वे राष्ट्रपति के समान ही वेतन, भत्तों एवं रियायतों के अधिकारी होते हैं।

धारा 66 में निर्दिष्ट किया गया है कि उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों द्वारा एक संयुक्त बैठक में एकत्रित होकर एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर किया जाये। मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा किया जाता है। संसद के सभी सदस्य, चाहे वे निर्वाचित हों या नामांकित हों, निर्वाचन में भाग लेते हैं। उप-राष्ट्रपति के पद के लिये प्रथम दो चुनावों में मुकाबला नहीं हुआ, और राधाकृष्णन को एक संयुक्त बैठक में सर्व सम्मति से चुन लिया गया। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि इतने महत्त्वपूर्ण पद के निर्वाचन के लिये एक ही स्थान पर एकत्रित 700 व्यक्तियों की एक संयुक्त बैठक में, निर्वाचन के भिन्न-भिन्न चरणों को संतोषजनक रूप से पूरा नहीं किया जा सकता। दिसम्बर 1961 में संसद ने राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए कार्य विधि में संशोधन करते हुए ग्यारहवां (संशोधन) विधेयक पारित कर दिया। विधेयक द्वारा धारा 66 (1) में "संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा एक संयुक्त सभा में एकत्रित

हो कर" के स्थान पर "संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के एक निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा" शब्द जोड़ दिए गए। 1962 में उप-राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव इसी व्यवस्था के आधीन लड़ा गया। उसमें डा० ज़ाकिर हुसैन तथा एन० सी० सामन्त सिन्हार, दो प्रतिद्वन्द्वी थे। डा० हुसैन के 568 मत आये तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी के कुल 14 मत आये।

उप-राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन या किसी राज्य के विधान मण्डल के सदस्य नहीं बन सकते। यदि ऐसा कोई सदस्य उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाये तो उसके उप-राष्ट्रपति पद संभालने की तिथि से ही तत्सम्बन्धी सदन में उसका स्थान रिक्त माना जायेगा। उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष होता है। इससे पूर्व वे राष्ट्रपति को लिखित पत्र दे कर पद त्याग कर सकते हैं, अथवा उन्हें राज्य सभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित कर के, जिसे लोक सभा भी सहमति दे, अपने पद से हटाया जा सकता है। ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत करने के आशय की न्यूनतम चौदह दिन की सूचना दिये विना ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। संविधान में उप-राष्ट्रपति को उस अवधि में पद त्याग करने की अनुमति नहीं दी गयी है, जब वे राष्ट्रपति के पद पर कार्य कर रहे हों। इस विषय में धारा 67 (क) में स्पष्ट प्रावधान किया गया है कि "कोई उप-राष्ट्रपति अपने हाथ से राष्ट्रपति को पत्र लिखकर, पद त्याग कर सकते हैं।" उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात् भी नये उप-राष्ट्रपति द्वारा पद सम्भालने तक वे अपने पद पर बने रहते हैं। कार्यकाल समाप्त होने पर रिक्त होने वाले स्थान के लिये निर्वाचन, कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व करा लिया जाना चाहिए। देहावसान, पदत्याग, पदच्युति अथवा अन्य किसी कारण से स्थान रिक्त होने पर "यथासम्भव शीघ्र" निर्वाचन कराना आवश्यक होता है और इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति अपने कार्यभार संभालने की तिथि से पूरे पाँच वर्ष की अवधि के लिए उप-राष्ट्रपति के पद पर कार्य करते हैं। उप-राष्ट्रपति (या राष्ट्रपति) के निर्वाचन से सम्बन्धित सभी शंकाओं एवं विवादों इत्यादि की जाँच तथा निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।[7] यदि ऐसे

[7]सितम्बर 1969 में संसद के एक प्रजा सोशलिस्ट सदस्य हरि विष्णु कामथ ने गोपालस्वरूप पाठक के उप-राष्ट्रपति चुने जाने को इस आधार पर चुनौती दी कि चुनाव अधिकारी को जो रानी सरनदास सखीजा के नामांकन पत्र डाक से प्राप्त हुए थे उनको उन्होंने गलत रूप से अस्वीकृत कर दिया था। उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति एस० एम० सीकरी ने चुनाव को वैध घोषित करते हुए निर्णय दिया कि नामांकन पत्र प्रस्तावकर्त्ता या समर्थनकर्त्ता द्वारा स्वयं प्रस्तुत किये जाने चाहिए, अन्यथा इस आदेशात्मक प्रावधान की अवहेलना से अन्य अनियमितताएं उत्पन्न हो जायेंगी।

नवम्बर-दिसम्बर 1969 में वी० वी० गिरि के भारत के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को अब्दुल गनी धर, शिवकृपाल सिंह, फूलसिंह, एन० श्रीराम रेड्डी तथा अनेक संसत्सदस्यों के समूह द्वारा चुनौती दी गई। उन्होंने आरोप लगाये कि चुनाव में निर्वाचित प्रत्याशी ने तथा उसकी मिली-भगत से उसके समर्थकों ने भी अनुचित प्रभाव तथा घूस जैसे अपराध किये हैं, तथा विजयी प्रत्याशी के नामांकन-पत्र अनुचित रूप से स्वीकार किये गए हैं। उन्होंने यह भी आपत्ति की कि शिवाकृपाल सिंह तथा दो

किसी निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया जाये तो उसके कारण उस व्यक्ति द्वारा उप-राष्ट्रपति (या राष्ट्रपति) के रूप में, उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय के दिन व उससे पहले किये गये कार्य अवैध नहीं माने जायेंगे।

कोई भी व्यक्ति जो भारत का नागरिक हो, उसने 35 वर्ष की वयस पूरी कर ली हो तथा राज्य सभा का सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो, उप.राष्ट्रपति निर्वाचित होने के योग्य होता है।

राष्ट्रपति पद के उत्तराधिकार सम्बन्धी त्रुटियां—राष्ट्रपति (कार्य निर्वाह) अधिनियम 1969 [Lacunae on Succession to Presidency—The President's (Discharge of Functions) Act, 1969]

राष्ट्रपति जाकिर हुसैन के देहान्त के बाद संसद के एक प्रजा समाजवादी सदस्य नाथ पै ने संविधान की एक त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने संविधान की धारा 65 (1) का जिक्र किया जिसमें निर्दिष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर, नया राष्ट्रपति निर्वाचित होने तक उप-राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेंगे। उनका कहना था कि यह प्रावधान आदेशात्मक है क्योंकि उप-राष्ट्रपति के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में कार्य नहीं कर सकता। नाथ पै ने,

---

अन्य व्यक्तियों के नामांकन-पत्र अनुचित रूप से अस्वीकृत किये गए हैं, जबकि राजभोज पी० नाथू जी तथा तीन अन्य व्यक्तियों के नामांकनपत्र जिन्होंने अपनी प्रत्याशिता वापस ले ली थी, अनुचित रूप से स्वीकार किये गए हैं। सर्वोच्च न्यायालय में 2 दिसम्बर, 1969 को इस सम्बन्ध में विचारणीय विषयों की निम्नलिखित सूची तैयार की। प्रमुख विषय अनुचित प्रभाव तथा घूस के आरोप को बनाया गया।

(क) क्या याचिका में वर्णित सभी अथवा कोई आरोप, विधि के अनुसार राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम 1952 की धारा 18 (1) (ङ) के अन्तर्गत अनुचित प्रभाव माना जायेगा?

(ख) ये आरोप सिद्ध हो जाने व अनुचित प्रभाव माने जाने पर—(i) क्या विजयी प्रत्याशी ने अनुचित प्रभाव डालने का अपराध किया है ? (ii) क्या उसके कार्यकर्ताओं ने अनुचित प्रभाव डालने का कृत्य किया, यदि हां तो क्या उसकी अनुमति से किया, (iii) क्या अनुचित प्रभाव डालने का प्रभाव अन्य व्यक्तियों ने उसकी अनुमति से किया ? यदि हां तो उससे क्या निर्वाचन के परिणाम पर कोई ठोस प्रभाव पड़ा ?

अन्य विषय ये : क्या राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम 1952 की धारा 21 संविधान के अधिकार से बाहर है और क्या नियम 4 और नियम 6 (3) (ग) संविधान के विपरीत है तथा केंद्र-सरकार की नियमन शक्ति के बाहर हैं ?

क्या प्रतिवादी या अन्य किसी व्यक्ति ने उसकी अनुमति से याचिका में वर्णित घूस का अपराध किया, अथवा क्या यह अपराध किसी अन्य व्यक्ति ने प्रतिवादी की अनुमति से किया और यदि हां तो क्या उससे निर्वाचन के परिणाम पर कोई ठोस प्रभाव पड़ा ?

इन विषयों पर बहस 21 जनवरी, 1970 को आरम्भ हुई तथा निर्वाचन को वैध घोषित करने का निर्णय 14 सितम्बर, 1970 को सुनाया गया।

प्रश्न उठाया कि उप-राष्ट्रपति के काम करने योग्य न रहने पर राष्ट्रपति के रूप में कौन कार्य करेगा ?

इसके अतिरिक्त नाथ पै ने प्रश्न किया कि उप-राष्ट्रपति के देहावसान, पद त्याग अथवा अन्य परिस्थिति में स्थान रिक्त होने पर नये निर्वाचन के लिए समय की कोई मर्यादा निश्चित नहीं की गई है। धारा 68 (2) में केवल यह कहा गया है कि "उप-राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होने पर उसकी पूर्ति के लिए यथाशीघ्र निर्वाचन कराया जायेगा।" संविधान में ऐसी स्थिति के सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं किया गया जब उप-राष्ट्रपति का स्थान रिक्त हो जाये या उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने अथवा उनका कार्य निर्वाह करने के कारण अपने कार्याग पूरे न कर सकते हों।

इन त्रुटियों के समाधान के लिए संघीय सरकार ने संविधान की धारा 70 का सहारा लिया जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया है कि "जब कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये जो इस अध्याय में वर्णित नहीं है (भाग V का राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति सम्बन्धी अध्याय 1) तो राष्ट्रपति के कार्य निपटाने के लिए संसद यथोचित व्यवस्था कर सकती है।" सरकार ने संसद में राष्ट्रपति (कार्य निर्वाह) अधिनियम पारित करा लिया जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया कि राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के स्थान एक साथ रिक्त हो जाने की स्थिति में भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश और उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के जो वरिष्ठतम न्यायाधीश उपलब्ध हों, राष्ट्रपति का कार्य निपटायेंगे।"

इस विधेयक से एक त्रुटि की तो पूर्ति हो गई पर दूसरी अधूरी रह गई। धारा 60 में निर्दिष्ट है कि "प्रत्येक राष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने वाला या उनका कार्य निपटाने वाला प्रत्येक व्यक्ति, कार्यभार सम्भालने से पहले, भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश की उपस्थिति में अथवा उनकी अनुपस्थिति में, सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की उपस्थिति में, अभिपुष्टि की शपथ ग्रहण करेगा।" किन्तु यदि राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त व्यक्ति राजधानी से दूर हों जहां सामान्यतः सर्वोच्च न्यायाधीश रहते हैं तो इसका यह अर्थ होगा कि उन्हें सर्वोच्च न्यायाधीश या किसी वरिष्ठतम न्यायाधीश द्वारा शपथ दिलाना अगले 11-20 दिनों या उससे भी अधिक समय तक सम्भव न होने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस

अन्तराल में देश का कोई राष्ट्रपति नहीं होगा। उसके कारण चाहे कोई भयंकर स्थिति उत्पन्न न हो तो भी संवैधानिक दृष्टिकोण से वह अनुचित होगा। इस त्रुटि के समाधान के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के समान, जहाँ किसी भी स्थानीय उपलब्ध दण्डनायक, न्यायमूर्ति वा कूटनीतिक कर्मचारी से शपथ दिलाने का काम कराया जा सकता है, प्रथा लागू की जा सकती है।

अध्याय 7

राष्ट्रपति और भारतीय राजनीति
(The President and the Politics of India)

सन् 1950-67 की अवधि में केन्द्र एवं अधिकतर राज्यों में कांग्रेस का शासन था और पहले तीन चुनावों में भी (1952, 1957 और 1962) में कांग्रेस के ही प्रत्याशी राष्ट्रपति पद के लिए केवल नाममात्र के मुकाबले के बाद चुन लिए गए। ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेस के प्रभुत्व के कारण राष्ट्रपति पद का महत्त्व गौण हो गया था। वास्तव में कांग्रेसी नामितों के प्रतिद्वन्द्वियों का कोई नाम तक भी नहीं जानता था।[1] उच्चतम राजकीय पद के लिए निर्वाचित होने के बाद वे उसके सम्मोहन से ही सन्तुष्ट रहते थे और अपने सांविधिक अधिकारों की ओर बहुत कम ध्यान देते थे। सत्ता के एकाधिकार के कारण सत्तारूढ़ कांग्रेसी नेता जनता की आवश्यकताओं एवं शिकायतों के प्रति उदासीन हो गए और वे देश में इतने अलोकप्रिय हो गए कि चौथे आम चुनाव में उन्हें करारी चोट खानी पड़ी। संसद में कांग्रेस का बहुमत बहुत कम हो गया और कुल 17 राज्यों में से 7 में उसके हाथों में से सत्ता छिन गई। उन राज्यों में गैर-कांग्रेसी दलों ने मिली-जुली या संयुक्त मोर्चा सरकारें बना लीं।

के० सुब्बाराव द्वारा राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ना—राष्ट्रपति पद के प्रकार सम्बन्धी मतभेद (K. Subba Rao Contests for Presidency —Controversies about the Nature of Presidential Office)

स्वतन्त्रता के बाद पहली बार विपक्षी दल सत्तारूढ़ हुए थे और उन्हें यह डर था

[1]सन् 1952 में राष्ट्रपति पद के लिए पांच प्रत्याशी थे और डा० राजेन्द्र प्रसाद को 83.82 % मत प्राप्त हुए। उनके बाद के० डी० शाह को 15.33% मत प्राप्त हुए। शेष तीन प्रत्याशियों में से प्रत्येक को 1% से भी कम मत प्राप्त हुए। 1957 में डा० राजेन्द्र प्रसाद 99.25% मतों से पुनः विजयी हुए और उनके दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में से प्रत्येक को 1% से भी कम मत प्राप्त हुए। 1962 में डा०एस० राधाकृष्णन का भी मुकाबला दो प्रतिद्वन्द्वियों से था। उन्हें 98.24% मत प्राप्त हुए और शेष दो को क्रमशः 1.13% और ·63% मत प्राप्त हुए। 1967 में एक बार 15 प्रत्याशी थे।

कि कांग्रेस जो केन्द्र में फिर से सरकार बनाने में सफल हो गई थी उन 7 राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों को गिराने के प्रयास करेगी। उन्हें यह भी डर था कि कांग्रेस कहीं अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति पद का दुरुपयोग न करे। इस आशंका से प्रेरित हो कर 7 विपक्षी दलों ने के० सुब्बाराव को, जो उस समय तक भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश थे, और कांग्रेस ने डा० ज़ाकिर हुसैन को, जो उस समय भारत के उप-राष्ट्रपति थे, राष्ट्रपति पद के लिए अपना प्रत्याशी बनाया।

1950 में संविधान लागू होने के बाद प्रथम बार राष्ट्रपति पद के चुनाव को देश की राजनीति में उलझना पड़ा और उसके प्रकार सम्बन्धी दो विपरीत मत प्रस्तुत किये गये। भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के समर्थकों का कहना था कि बदली हुई राजनीतिक स्थिति में जब 7 राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें हैं, किसी राजनीतिक दल का राष्ट्रपति उपयुक्त नहीं होगा और डा० ज़ाकिर हुसैन, जो आजीवन कांग्रेस के सदस्य रहे हैं, अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों के समान एक रबड़ की मोहर मात्र राष्ट्रपति होंगे तथा संविधान के रचयिताओं की आकांक्षा के अनुसार कार्य नहीं कर सकेंगे। उनका विचार था कि नई परिस्थिति में केन्द्र-राज्य विवाद उत्पन्न होंगे और राष्ट्रपति से दलीय राजनीति से भिन्न दृष्टिकोण अपनाने की आशा की जायेगी। उनका मत था कि ऐसा दृष्टिकोण निष्पक्ष निर्णय की क्षमता रखने वाला और संविधान की रक्षा करने वाला व्यक्ति ही अपना सकेगा। उनके विचार में सुब्बाराव में यह सब गुण विद्यमान थे और उन्हें आशा थी कि सुब्बाराव देश को विखण्डित होने से बचाने और भारतीय संघ एवं राज्यों में विवाद न होने देने की दिशा में देश के लिए एक महान् विभूति सिद्ध होंगे। राजनीतिज्ञों का कथन था कि चौथे आम चुनाव से, संविधान के रचयिताओं ने जिस परिस्थिति की कल्पना की थी, वह सामने आ गई है और राष्ट्रपति का किसी दलीय चिन्ह अथवा सहायता के बिना राष्ट्रीय आम राय से निर्वाचित होना सर्वश्रेष्ठ होगा। इससे उन्हें राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और उनका स्थान दलीय राजनीति एवं राजनीतिक विचारधारा से बहुत ऊँचा हो जाएगा। गैर-कांग्रेसी नेताओं को दृढ़ विश्वास था कि ऐसे राष्ट्रपति संविधान की रक्षा करने और संघीय शासन व्यवस्था का रूप न बिगड़ने देने के लिए अधिक अच्छा काम कर सकेंगे।

इन महानुभावों का यह दृष्टिकोण था कि राष्ट्रपति राज्य का एक स्वतन्त्र अंग होता है और संविधान ने उन्हें प्रतिलक्षित एवं स्वतन्त्र निर्णय करने का अधिकार दिया है, मन्त्रिपरिषद की सलाह चाहे कुछ भी हो। उनका कहना था कि राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री व उनकी मन्त्रिपरिषद को पदच्युत करने का अधि मन्त्रि मण्डलीय अधिकार (Supra Ministerial Power) तथा लोक सभा को भंग करने और आपात्-स्थिति में अथवा मन्त्रिमण्डल के देश के काम-काज को ठीक प्रकार चलाने में असफल होने की स्थिति में सर्वोच्च कमाण्डर के सभी अधिकार ग्रहण कर लेने का अधिकार होता है।

ज़ाकिर हुसैन के समर्थक जिनमें अधिकतर कांग्रेसी नेता थे और कुछ गैर-कांग्रेसी

भी थे, यह दलील देते थे कि संविधान के सिद्धान्त और प्रवर्तन से यह सिद्ध हो गया है और इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि राष्ट्रपति राज्य का स्वतन्त्र अंग नहीं होता और उसे मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करना होता है, अर्थात् राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद के परामर्श से बंधे होते हैं। एक प्रख्यात उदार राजनीतिज्ञ डा० हृदयनाथ कुंजरू ने **सोसाइटी फॉर डेमोक्रेसी** (Society for Democracy) के तत्वावधान में "Independent President: A Dangerous Doctrine" पर एक गोष्ठी-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए स्वतन्त्र राष्ट्रपति के चयन में निहित आपत्तियाँ गिनाईं और विश्वास प्रकट किया कि राष्ट्रपति को केवल मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करना होता है, जोकि लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है और संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि राष्ट्रपति अपने अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग कर सकते हों। उन्होंने फिर कहा कि राष्ट्रपति के क्रियाकलाप कानूनों द्वारा नियमित होते हैं, जो संसद द्वारा बनाये जाते हैं। 6 अन्य वक्ताओं —भूतपूर्व विधि मन्त्री अशोक सेन, भूतपूर्व सूचना मन्त्री राजबहादुर, उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ एडवोकेट डब्लू० एस० बार्लिंगे, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश एस० पी० सिंह तथा सर्वोच्च न्यायालय के एडवोकेट आर० के० गर्ग ने डा० कुंजरू के मत का समर्थन किया। राजबहादुर ने आरोप लगाया कि "राष्ट्रपति की स्वतन्त्रता" और "राष्ट्रपति के विवेकाधिकार" शब्दों का प्रयोग वही लोग करते हैं जो देश में लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली जारी नहीं रहने देना चाहते।[2]

डा० हुसैन के कुछ समर्थकों ने सुब्बाराव के आचरण के न्यायिक औचित्य का भी प्रश्न उठाया। उदाहरणतः एक प्रख्यात न्याय शास्त्री और भारत के भूतपूर्व अटार्नी-जनरल एम० सी० ए० सीतलवाड ने कहा कि सुब्बाराव ने देश के उच्चतम न्यायिक पद पर आसीन रहते हुए राजनीतिक दलों के नेताओं से अपनी उम्मीदवारी के बारे में विचार-विमर्श करके बड़ी भूल की है। उन्हें उनके नाम का राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए सार्वजनिक रूप से उल्लेख किये जाने से पहले ही अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिये था।[3] उन्होंने दलील दी कि यदि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश उच्च राजनीतिक पदों की लालसा करने लगें, जिन पर वे केवल राजनीतिज्ञों की ही सहायता से पहुंच सकते हैं, तो वे अपने अत्यधिक ज़िम्मे-

[2]*The Hindustan Times*, 1 मई, 1967, पृ० 12।

[3]आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के 100 एडवोकेटों को सुब्बाराव के कृत्य में कोई आपत्तिजनक तत्व प्रतीत नहीं होता था। उन्होंने सुब्बाराव के आचरण पर आपत्ति उठाने के विरुद्ध एम० सी० सीतलवाड की आलोचना की और एम० सी० चागला का उदाहरण प्रस्तुत किया जब उन्होंने एक राजनीतिक पद सम्भालने के लिए बम्बई के मुख्य न्यायाधीश के पद से इस्तीफा दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनमें उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों ने अपने पद पर आसीन रहते हुए भी कार्यकारी पद स्वीकार किये। देखो, *The Hindustan Times*, 14 अप्रैल, 1967।

दारी के कर्तव्यों को तटस्थता, निष्पक्षता और निडरतापूर्वक नहीं निभा सकेंगे। सीतलवाड ने कहा कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता भारतीय लोकतन्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है और उसके प्रभावित हो जाने से लोकतन्त्रीय विचारों का भविष्य संकट में पड़ जायेगा। सुब्बाराव पर ऐसा उदाहरण स्थापित करने का आरोप लगाया गया, जिसमें एक न्यायाधीश ने अपने पद पर आसीन रहते हुए खुले आम प्रचार किया अथवा अपने लिए प्रचार करने दिया।

कांग्रेसी नेताओं का दृष्टिकोण था कि अल्पसंख्यक सम्प्रदाय का व्यक्ति पहली बार चुनाव लड़ रहा है और उसके पराजित होने से देश के भीतर व बाहर गम्भीर प्रतिक्रियाएँ होंगी। सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण ने कहा, "मैं सोच भी नहीं सकता कि देश का कोई व्यक्ति, जिसका स्वातन्त्र्य आन्दोलन से तनिक भी सम्बन्ध रहा हो, इस समय डा० ज़ाकिर हुसैन की अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति को कैसे अधिक उपयुक्त समझेगा।" उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि हुसैन की पराजय से भारत को पुनः विभाजित करना पड़ सकता है और देश के सर्वोच्च पद पर एक मुसलमान के पहुँचने से भारत की बहु प्रशंसित धर्म-निरपेक्षता को ठोस आधार मिलेगा।

डा० हुसैन को राष्ट्रपति पद के लिए 4,71,244 मत प्राप्त हुए, जबकि सुब्बाराव को 3,63,971 मत प्राप्त हुए। इस प्रकार डा० ज़ाकिर हुसैन के विजयी होने के साथ-साथ राष्ट्रपति पद सम्बन्धी मतभेद भी समाप्त हो गया।

राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन का देहावसान—पुनः सार्वजनिक मतभेद (Death of President Zakir Husain—Public Controversy again)

नियति को डा० ज़ाकिर हुसैन का पूरे कार्यकाल तक राष्ट्रपति भवन में रहना मंजूर न हुआ और 3 मई, 1969 को उनका देहान्त हो गया। उसके दो घण्टे के भीतर उप-राष्ट्रपति वराह वैंकट गिरि को कार्यवाहक राष्ट्रपति पद की शपथ दिलाई गई। संविधान की धारा 62 (2) के प्रावधान के अनुसार राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होने के छः महीने के भीतर नये राष्ट्रपति का निर्वाचन होना आवश्यक होता है और नये राष्ट्रपति पूरे पाँच वर्ष की अवधि के लिए अपने पद पर आसीन रहते हैं। इस प्रकार नये राष्ट्रपति का कार्यकाल 1974 तक, अर्थात् 1972 के आम चुनावों के दो वर्ष बाद तक रहना था। चुनाव के परिणाम की भविष्यवाणी करना तो कठिन था, पर 1969 में ऐसा प्रतीत होता था कि 1972 के आम चुनावों में शायद किसी भी राजनीतिक दल को लोक सभा में स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पायेगा। कांग्रेस का विचारधारा सम्बन्धी वात्सल्य (Ideological Cohesion) समाप्त होता जा रहा था और जैसाकि आचार्य कृपलानी ने कहा था, "वह दक्षिण, मध्य एवं वामपंथियों में बंट गई थी और वे सब एक-दूसरे पर शक करते थे व एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करते थे।" कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा ने 27 अप्रैल, 1969 को दल के 72 वें वार्षिक अधिवेशन में बोलते हुए कांग्रेस जनों को चेतावनी दी कि यदि दल में व्याप्त "वर्तमान प्रवृत्ति"

को नहीं रोका गया तो उसके परिणामस्वरूप देश में भयानक अव्यवस्था फैल जायेगी।[4] इसी प्रकार तमिल नाडु कांग्रेस कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष सी० सुब्रह्मण्यम ने एक लेख "Programme for Socialist Action" कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के विचारार्थ प्रेषित किया, जिसमें उन्होंने 1972 तक संसद में "पूर्ण गतिरोध" होने की आशंका व्यक्त की।[5] यदि वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, जिसमें किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होगा, तो राष्ट्रपति को केन्द्र में लगभग उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ेगा जो अनेक राज्यों में जहाँ मिली-जुली (संयुक्त मोर्चा) सरकारें थीं, राष्ट्रपति के सामने आई थीं। उदाहरणतया, एक समस्या यह हो सकती है कि एक से अधिक राजनीतिक दल उन्हें बहुमत का समर्थन उपलब्ध होने का दावा करें और इस प्रकार सरकार बनाने के हक की माँग करें। ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि प्रधान मन्त्री, अपने दल का समर्थन खो चुकने, अथवा अपने दल के सदस्यों द्वारा दल बदल लेने के कारण उनके दल के अल्पसंख्या में रह जाने, अथवा अन्य दलों का समर्थन खो बैठने के बाद भी अपने पद से त्यागपत्र देने से इन्कार कर दें। संसद में अनेक दल होने पर उनमें से एक भी दल बहुसंख्या या निकट बहुसंख्या में न होने और उसके परिणामस्वरूप बार-बार सरकार भंग होने की भी सम्भावना हो सकती थी। ये कोरी अटकलें ही नहीं थीं प्रत्युत भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के दृष्टिकोण से अटल वास्तविकताएँ प्रतीत होती थीं। यह अनुमान लगाना कठिन था कि इन परिस्थितियों में राष्ट्रपति के अधिकारों की क्या सीमा होगी, पर यह निश्चित था कि राष्ट्रपति को पहले से अधिक क्रियात्मक भूमिका निभानी होगी।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति के निर्वाचन का महत्त्व बहुत बढ़ गया और उनके पद सम्बन्धी मतभेद पुनः जाग्रत हो गये। निर्वाचन के लिए 15 प्रत्याशी थे पर उनमें केवल तीन, एन० संजीवा रेड्डी, वराह वेंकट गिरि और सी० डी० देशमुख प्रमुख थे। प्रत्येक को किसी न किसी राजनीतिक दल व दलों का समर्थन प्राप्त था—रेड्डी को कांग्रेस, गिरि को सी०पी०आई०, सी०पी०एम०, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, द्रविड़ मुनेत्र कषगम और मुस्लिम लीग इत्यादि छोटे राजनीतिक दलों का तथा देशमुख को स्वतन्त्र पार्टी, जन संघ और भारतीय क्रांति दल का—पर उनमें से प्रत्येक यही कहता था कि वह निर्दलीय प्रत्याशी है। रेड्डी ने घोषित किया कि यदि वे राष्ट्रपति चुने गये तो वे "निष्पक्ष" रहेंगे, कि भारत के राष्ट्रपति "संविधानिक प्रधान होते हैं जिनकी अपनी कोई नीति अथवा कार्यक्रम नहीं होता," और कि वे एक "संविधानिक प्रधान" के रूप में कार्य करेंगे।[6] गिरि ने कहा, "मैं जून 1967 से किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं हूँ।"[7] इसी प्रकार देशमुख ने भी कहा कि वे

[4]उनके अभिभाषण के पूर्ण पाठ के लिये देखो *Ibid.*, 28 अप्रैल, 1969, पृ० 1 व 8.
[5]पूरे विवरण के लिए देखो *Ibid.*, 6 अप्रैल, 1969.
[6]*Ibid.*, 4 अगस्त, 1969, पृ० 1.
[7]*Ibid.*, 28 जुलाई, 1969, पृ० 1.

किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं रखते। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वे इस धारणा से प्रभावित हैं कि "राष्ट्र के हित में यह आवश्यक है कि देश का उच्चतम पद समकालीन राजनीति के विचारों से अछूता रखा जाए और शासक दल अथवा विपक्षी दल का उसमें कुछ भी हाथ न हो।"[8] मुकाबला सख्त था और प्रत्येक उम्मीदवार ने अपने-अपने "व्यक्तिगत घोषणापत्र" ज़ारी किये जिनमें उन्होंने अपनी विशेष योग्यताओं का वर्णन किया और राष्ट्रपति के कर्तव्यों और अधिकारों की अपनी-अपनी परिभाषाएँ बताने लगे। उनके समर्थक राजनीतिक दलों ने निर्वाचक मण्डल के 40,000 से अधिक मतदाताओं को गश्ती चिट्ठियाँ भेज कर अपने अनुयायियों से अपने उम्मीदवारों के लिए पूर्ण समर्थन जुटाने का अनुरोध किया।

कांग्रेस में विग्रह—राष्ट्रपति पद का नया महत्त्व (Congress Party Split—New Importance of Presidential Office)

एक ओर निर्वाचन अभियान पूरे जोरों पर था, और दूसरी ओर कांग्रेस को अपने दल में फूट पड़ती दिखाई दे रही थी। एक धड़ा कांग्रेस अध्यक्ष एस. निजलिंगप्पा का अनुयायी था और दूसार प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी से निकट सम्पर्क बनाये हुए था। निजलिंगप्पा और उनके अनुयायी रेड्डी के पृष्ठपोषक थे, पर श्रीमती गांधी केवल अनमने ढंग से उनकी हाँ में हाँ मिला रही थीं। निजलिंगप्पा ने उनसे आग्रह किया कि वे कांग्रेस संसदीय दल की नेता के रूप में दल के सभी सदस्यों को आदेश दें कि वे रेड्डी के पक्ष में मत दें पर उन्होंने यह दृष्टिकोण अपनाया कि मतदाताओं को "अपनी अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार" मत देने की छूट दी जानी चाहिए। प्रधान मन्त्री के इस आचरण का यह कारण था कि उन्हें किसी प्रकार यह भनक पड़ गई थी कि कुछ चोटी के नेता—देसाई, कामराज, एस० के० पाटिल, अतुल्य घोष और स्वयं निजलिंगप्पा भी—उन्हें प्रधान मन्त्री पद से अलग करने की योजना बना रहे थे, जिसके लिये वे राष्ट्रपति पद का उपयोग करना चाहते थे। यह अफवाह इतनी प्रबल हो गई थी कि कांग्रेस संसदीय दल के दो पदाधिकारियों—उप नेता विभूति मिश्रा और महासचिव श्याम धर मिश्रा को ऐसा वक्तव्य देना पड़ा कि प्रधान मन्त्री को अपदस्थ करने का प्रचार "सस्ता प्रोपेगंडा" है, रेड्डी अपने सारे राजनीतिक जीवन में "सच्चे लोकतन्त्रवादी" रहे हैं, तथा किसी भी राष्ट्रपति द्वारा यदि संविधानिक रीतियों और परम्पराओं को तोड़ने का कोई प्रयत्न किया गया तो सभी लोकतन्त्रवादियों द्वारा उसका "विरोध" किया जायेगा जिसमें कांग्रेसी भी पीछे नहीं रहेंगे।[9] किन्तु प्रधान मन्त्री और निजलिंगप्पा में मतभेद बढ़ता गया और उसका यह परिणाम हुआ कि इन्दिरा गांधी के समर्थक कांग्रेसी मतदाताओं ने गिरि के पक्ष में मतदान किया। प्रधान मन्त्री के अपने राज्य (उत्तर प्रदेश) के 8,178 द्वितीय वरीयता मतों में से

[8] *Ibid.*, 1 अगस्त, 1969, पृ० 5।
[9] *Ibid.*, 4 अगस्त, 1969, पृ० 5।

अधिकतर मत गिरि को मिले और उनकी विजय हुई। यह पहला अवसर था जब कांग्रेस का अधिकृत प्रत्याशी पराजित हुआ।

गिरि के निर्वाचन को उच्चतम न्यायालय में चुनौती (Giri's Election Challenged in Supreme Court)

वराह वेंकट गिरि के विरोधी और प्रधान मन्त्री के आलोचक नए राष्ट्रपति के निर्वाचन को सहन नहीं कर सके और उसे उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी। याचिका प्रेषित करने का कार्य, लोक सभा के निर्दलीय सदस्य अब्दुल ग़नी घर, राज्य सभा के संगठन कांग्रेसी सदस्य एन० श्रीरामा रेड्डी, उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य डा० फूलसिंह, और दो प्रत्याशियों चरण लाल साहू एवं शिव कृपाल सिंह (जिनके नामांकन पत्र चुनाव अधिकारी द्वारा अस्वीकृत कर दिये गए थे) ने किया। उनकी याचिकाओं में निम्नलिखित आरोप लगाये गए थे:

(1) कि गिरि एवं अन्य प्रत्याशियों के नामांकन पत्र अनुचित रूप से स्वीकार किये गए थे तथा अन्य तीन सदस्यों के नामांकन पत्र अनुचित रूप से अस्वीकार किये गए थे।

(2) कि चुनाव अवैध था क्योंकि संघीय प्रदेशों के विधायक निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित नहीं किये गए थे।

(3) कि निर्वाचकों को प्रभावित करने के लिए गिरि की सहमति से एक पुस्तिका वितरित की गई थी, जिसमें कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी, एन० संजीवा रेड्डी को व्यक्तिगत रूप से बदनाम करने का प्रयत्न किया गया था।

(4) कि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी और कुछ संघीय मंत्रियों ने कुछ मतदाताओं पर दबाव डालने के लिए सरकारी तन्त्र का उपयोग किया था।

(5) कि गिरि के लिए एक संसत्सदस्य व उसके प्रभाव आधीन व्यक्तियों के मत प्राप्त करने के लिए वह संसत्सदस्य जिस कम्पनी से संबद्ध था, उसे एक रेशा संयंत्र लगाने का लाइसेंस दिया गया।

(6) कि फ़ख़रुद्दीन अली अहमद (तत्कालीन विकास मन्त्री) और मोहम्मद यूनिस सलीम (विधि उप-मन्त्री) ने ऐसा साम्प्रदायिक प्रचार किया था कि यदि रेड्डी निर्वाचित हुए तो उनका सम्प्रदाय ख़तरे में पड़ जायेगा, और

(7) कि दिनेश सिंह (तत्कालीन विदेश मन्त्री) उत्तर प्रदेश के विधायकों पर अनुचित दबाव डालने के लिए लखनऊ गए थे।

उपर्युक्त पांच याचिकाओं की सुनवाई 12 जनवरी, 1970 को सर्वोच्च न्यायालय की एक विशेष न्याय पीठ के सम्मुख आरम्भ हुई और 8 मई तक चली। गिरि ने, यद्यपि न्यायालय ने उनके बयान अकेले में लेने का आदेश दिया था, स्वयं उपस्थित होकर बयान देना अधिक उचित समझा। न्यायालय ने याचिकाओं को 11 मई को खारिज कर दिया, और 14 सितम्बर, 1970 को विस्तृत निर्णय दिया।

राष्ट्रपति गिरि का केवल एक संविधानिक प्रधान के रूप में कार्य करना
(President Giri Acts as merely a Constitutional Head)

गिरि की विजय के वाद कुछ ही महीनों में कांग्रेस में फूट पड़ गई और अनेक कांग्रेसी संसत्सदस्य विपक्ष में जा मिले। श्रीमती गांधी की सरकार अल्पमत में रह गई, पर द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम, मुस्लिम लीग और साम्यवादी दल (सी० पी० आई०) की सहायता से वह वच गई। राष्ट्रपति अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों के ही चरण चिह्नों पर चलते रहे और राज्य के नाममात्र के प्रधान के रूप में कार्य करते रहे। उन्होंने राष्ट्रपति के अधिकारों के भिन्न अर्थ वा तात्पर्य निकालने का कभी प्रयत्न नहीं किया और बिना ना-नुनच किये, प्रधान मन्त्री की सलाह मानते रहे।

सितम्बर 1970 के अन्तिम सप्ताह में उत्तर प्रदेश में भीषण सांविधिक संकट उठ खड़ा हुआ। उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री चरण सिंह ने, जो भारतीय क्रान्ति दल के थे, 26 कांग्रेसी मन्त्रियों में से 13 से इस्तीफा देने की मांग की, पर उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया। चरण सिंह ने राज्यपाल बी० गोपाल रेड्डी से उन्हें बर्खास्त करने का अनुरोध किया। विधान सभा के कांग्रेसी सदस्यों ने चरण सिंह की सरकार का समर्थन समाप्त कर दिया और उनके नेता कमलापति त्रिपाठी ने राज्यपाल से मुख्यमन्त्री की सलाह न मानने का अनुरोध किया, क्योंकि चरण सिंह कांग्रेस का समर्थन खो बैठे थे जबकि वे उसी के सहयोग से मन्त्रिमण्डल बनाने में सफल हुए थे। जन संघ, स्वतन्त्र पार्टी, संगठन कांग्रेस और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ने मुख्यमन्त्री का पक्ष लिया और केन्द्र स्थित कांग्रेसी नेताओं ने अपने दल के सदस्यों का समर्थन किया। दोनों ओर से सारपूर्ण दलीलों के कारण राज्यपाल कोई निर्णय नहीं कर सके और उन्होंने राष्ट्रपति को सूचित किया कि राज्य में संविधानिक-तंत्र विगड़ गया है, अतः संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त रिपोर्ट नई दिल्ली पहुँचने के समय राष्ट्रपति गिरि सोवियत संघ के सरकारी दौरे पर थे, और कीव (Kiev) में विराज रहे थे। उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की राज्यपाल की सिफारिश स्वीकार करने के बाद केन्द्रीय सरकार ने तत्सम्बन्धी आदेश पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर कराने के लिए एक विशेष हरकारा कीव भेजा। चरण सिंह ने गिरि को एक समुद्री तार द्वारा सूचित किया कि "राष्ट्रपति शासन लागू करने सम्वन्धी राज्यपाल की रिपोर्ट स्पष्ट रूप से संविधान के प्रावधानों, परम्पराओं, सर्वमान्य रीतियों और अकाट्य तथ्यों" के विपरीत है। उसी तार में चरण सिंह ने राष्ट्रपति से अपील की कि वे भारत लौट कर पूर्ण तथ्य और वास्तविक स्थिति को प्राप्त किये व समझे विना किसी आदेश पर हस्ताक्षर न करें। किन्तु राष्ट्रपति ने उस आदेश पर 1 अक्तूबर को हस्ताक्षर कर दिये और उसे हवाई जहाज से दिल्ली लाकर अगले ही दिन लागू कर दिया गया।

इसके तीन महीने वाद प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने राष्ट्रपति गिरि को लोक सभा भंग करने व मध्यावधि चुनाव कराने का आदेश देने की सलाह दी और उन्होंने विना

कोई आपत्ति उठाए इस पर आचरण किया ।

राष्ट्रपति गिरि द्वारा 'रबड़ की मोहर' के समान कार्य करने का एक और उदाहरण मार्च 1973 में उड़ीसा में केन्द्रीय शासन लागू करना था । नवम्बर 1972 में राज्य-आधारित उत्कल कांग्रेस को, जिसे एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री, बीजू पटनायक ने आरम्भ किया था, पुनर्जीवित कर दिया गया और उसी वर्ष 9 जून का उसे कांग्रेस में विलय करने का प्रस्ताव रद्द कर दिया गया । अपने अनुयायियों को सम्बोधित करते हुए पटनायक ने कहा कि "...अब श्रीमती नन्दिनी सत्पथी की उड़ीसा सरकार को भंग करने का समय आ गया है ।" कुछ ही सप्ताह बाद उन्होंने प्रगति पार्टी के नाम से एक नया राजनीतिक दल बनाया और जो दल एवं निर्दलीय विधायक सत्पथी के मन्त्रिमंडल के विरुद्ध थे उनसे कुटिलवार्ता आरम्भ की । वे 28 फरवरी, 1973 को उद्योग मन्त्री नीलमणि रौत्रे को मन्त्रिमंडल से त्यागपत्र देने के लिये तैयार करने में सफल हो गए और उनके साथ-साथ 25 कांग्रेसी विधायक भी प्रगति पार्टी में शामिल हो गए । इन दल बदलने वाले विधायकों ने आरोप लगाया कि पिछले पाँच महीनों से मुख्यमन्त्री एक "अन्तरंग मण्डली" द्वारा सरकार चला रही थी, और "आन्तरिक वाद-विवाद खड़े करने" में व्यस्त थी और जनता से उनका सम्पर्क टूट गया था ।

कांग्रेसियों के इस प्रकार दल बदलने के कारण सत्पथी मंत्रिमण्डल बहुमत का समर्थन खो बैठा और उसी दिन मुख्यमन्त्री ने अपनी नौ महीने पुरानी सरकार का त्यागपत्र दे दिया । इसके साथ ही उन्होंने राज्यपाल बी०डी० जत्ती को विधान सभा भंग करने की सलाह दी । उनके त्यागपत्र के कुछ ही घंटे बाद बीजू पटनायक राज्यपाल से मिले और अपनी वैकल्पिक सरकार बनाने का अधिकार जताया । उन्होंने राज्यपाल को बताया कि 140 के सदन में प्रगति पार्टी के 72 सदस्य हैं और उन्हें 2 सी०पी०एम०, 2 झाड़खंड और 2 निर्दलीय सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त है । 75 विधायकों ने स्वयं राज्यपाल के सम्मुख प्रस्तुत होकर पटनायक के वैकल्पिक सरकार बनाने के दावे की वास्तविकता के समर्थन में प्रदर्शन किया ।

जत्ती ने विधान सभा का सत्रावसान कर दिया और श्रीमती सत्पथी से अनुरोध किया कि अन्य व्यवस्था होने तक वे अपने पद पर कार्य करती रहें । राज्यपाल ने पटनायक के वैकल्पिक मंत्रिमण्डल बना सकने की सम्भवता पर विचार किये बिना राष्ट्रपति से संविधान की धारा 356 के आधीन केन्द्रीय शासन लागू करने की सिफारिश कर दी । नौ विपक्षी दलों के प्रतिनिधियों ने इसके प्रति कड़ा विरोध प्रकट किया । किन्तु राष्ट्रपति गिरि ने प्रधान मन्त्री व उनके मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर आचरण करते हुए राज्य की विधान सभा भंग करके 3 मार्च, 1973 को प्रशासन अपने हाथों में ले लिया । मार्च 1973 में उड़ीसा में और जून 1973 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने में केन्द्र ने कदाचित कांग्रेस के हित की रक्षा के लिए तत्परता दिखाई किन्तु उसने गुजरात में ऐसा करने में बड़ी हिचकिचाहट दिखाई, क्योंकि वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू न करना कांग्रेस के हित में अधिक था । उत्तर प्रदेश व कई अन्य राज्यों में आम चुनाव फरवरी

में होने वाले थे और यह डर था कि गुजरात में राष्ट्रपति शासन लागू करने से अन्य राज्यों में होने वाले चुनावों में कांग्रेस के हित पर कुप्रभाव पड़ेगा। दिसम्बर 1973 और जनवरी 1974 में छात्रों एवं जनता ने भीषण हिंसा, अराजकता और लूटपाट मचाई। वे खाद्य पूर्ति और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य कम करने की माँग कर रहे थे। नियम व्यवस्था का तन्त्र लगभग पूरी तरह नष्ट हो गया। गुजरात सरकार के मुख्य सचिव श्री एम०आर० दलाल एक महीने की छुट्टी पर चले गए। अनेक कांग्रेसी विधायकों और संसत्सदस्यों, सी०पी०आई०, जन संघ, और संगठन कांग्रेस इत्यादि विपक्षी दलों, **दि हिन्दुस्तान टाइम्स, दि इण्डियन ऐक्सप्रैस** और **दि मदरलैण्ड** इत्यादि अखबारों और अनेक छात्रों व अन्य युवकों ने चिमन भाई पटेल के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के त्याग-पत्र तथा राज्य विधान सभा को भंग करके नए चुनाव कराने की मांग की। जन संघ के अध्यक्ष एल०के० अडवानी ने 29 जनवरी को राष्ट्रपति गिरि को एक ज्ञापन देकर गुजरात मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करने की माँग की। किन्तु केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल इस तथ्य को भली भाँति समझता था कि देश में कांग्रेस पहले ही बहुत बदनाम हो चुकी है और यदि मध्यावधि चुनाव कराये गए तो हो सकता है उसे बहुमत प्राप्त न हो। अत: उसने राष्ट्रपति को गुजरात में केन्द्रीय शासन लागू करने व राज्य की विधान सभा को भंग करने की सलाह देने से इन्कार कर दिया।

केन्द्रीय सरकार ने आन्दोलन को पुलिस द्वारा दबाने का प्रयत्न किया और उसने अनेक बार गोली चलाई जिसमें लगभग 50 व्यक्ति मारे गए। राज्य के अनेक नगरों व उपनगरों में कर्फ्यू लगा दिया गया और लोक जीवन पूर्णत: कुण्ठित हो गया। जब इन उपायों से आन्दोलनकारी शान्त नहीं हुए तो केन्द्र ने राज्य को ब्रिगेडियर ए० कौल की कमान में 1000 सेना के हवाले कर दिया। निहत्थी और असहाय जनता शान्त हो गई और शासन अधिकारियों ने दावा किया कि "विद्रोह" शान्त कर दिया गया है। इस सारे काण्ड की अवधि में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल नई दिल्ली में बैठ कर विचार-विमर्श करता रहा पर एक भी मन्त्री कभी मामले की यथास्थिति जाँच करने के लिए गुजरात नहीं गया। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे सब उत्तर प्रदेश एवं अन्य स्थानों के निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे।

कुछ दिन शान्ति रहने के बाद फरवरी में हिंसा व अराजकता फिर से भड़क उठी। मूल्य वृद्धि विरोधी आन्दोलन सारे राज्य में फैल या। छ: और व्यक्ति पुलिस की गोलियों से मारे गए और इस प्रकार मृतकों की संख्या 56 हो गई। राष्ट्रपति ने फिर भी कोई कार्यवाही नहीं की और 6 फरवरी को गुजरात के मुख्यमन्त्री ने प्रधान मन्त्री एवं गृह मन्त्री से वार्ता के बाद दिल्ली में पत्रकारों को बताया कि राष्ट्रपति शासन लागू करने, दल के नेतृत्व में फेरबदल करने अथवा राज्य की विधान सभा भंग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अगले दिन राज्य के तीन केन्द्रीय स्तर के मन्त्रियों—वित्त एवं योजना मन्त्री अमुल देसाई, विधि मन्त्री दिव्य कान्त नानावती, तथा समाज-कल्याण मन्त्री अमर सिंह चौधरी, और एक उप-मन्त्री नवीन चन्द्र रवानी ने

मुख्य मन्त्री के विरुद्ध पन्द्रह आरोप लगाये और "48 घन्टे के भीतर" उनके इस्तीफे की माँग की। उन्होंने मुख्यमन्त्री को एक ज्ञापन दिया जिसमें कहा गया था कि "हम गुजरात में रक्तपात रोकने के लिए, गुजरात में सामान्य स्थिति लाने के लिए, छात्रों की रक्षा के लिए, दल की रक्षा के लिए, देश की रक्षा के लिए, और लोकतन्त्र की रक्षा के लिए आपके इस्तीफे की माँग करते हैं।"[10] मुख्यमन्त्री की सलाह पर राज्यपाल के० के० विश्वानाथन ने उन सब को धारा 64 (1) से प्राप्त संविधानिक अधिकारों के प्रवर्तन में बर्खास्त कर दिया। 8 फरवरी को शिक्षा एवं श्रम राज्य मन्त्री, मांगनलाल वड़ौत ने राज भवन के बाहर छात्रों व अध्यापकों के साथ पुलिस के "अनुचित व्यवहार" के विरोध में त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार गुजरात की स्थिति राजनीतिक, संविधानिक और प्रशासनिक, प्रत्येक दृष्टिकोण से बड़ी तनावपूर्ण हो गई।

राज्यपाल का कर्तव्य था कि उपर्युक्त परिस्थितियों की सूचना केन्द्र सरकार को भेजते और वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करते पर वे चुपचाप तमाशा देखते रहे और ऐसी कुछ भी कार्रवाई नहीं की जिससे उनकी अपने पद की शपथ के प्रति सत्यनिष्ठा प्रकट होती। केन्द्र सरकार ने यह अनुभव किया कि स्थिति नियन्त्रण से बाहर होती जा रही है, और उसे यह आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं विपक्षी दल इसका राजनीतिक लाभ न उठायें। अत: केन्द्रीय विधि मन्त्री एच० आर० गोखले को सारे मामले की यथास्थान जाँच करके आवश्यक सिफारिशें करने को भेजा गया। गोखले के यह विश्वास व्यक्त करने के बाद ही कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता और राज्य में जन आन्दोलन को बड़ी संख्या में समर्थन प्राप्त है, राज्यपाल ने केन्द्र को अपनी ओर से रिपोर्ट भेजी। गोखले के वापस आकर वृत्तान्त देने के बाद केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक विषय समिति ने गुजरात को केन्द्रीय शासन के आधीन लाने का निश्चय किया। 9 फरवरी को मुख्यमन्त्री ने अपने मन्त्रिमण्डल का इस्तीफा प्रस्तुत किया। उसी दिन सायंकाल तक राज्यपाल की रिपोर्ट भी नई दिल्ली पहुँच गई और काफी रात गए राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। विधान सभा को भंग करने की बजाय केवल निलम्बित कर दिया गया।[11] गुजरात की जनता जिसका नेतृत्व 'नव निर्माण समिति' के छात्र एवं अध्यापक कर रहे थे, केवल पटेल मन्त्रिमण्डल के हटा दिये जाने से सन्तुष्ट नहीं थी। इसके बाद उसने राज्य की विधान सभा को भंग करने की माँग की और उसके लिए एक हिंसापूर्ण आन्दोलन छेड़ दिया। उन्होंने 168 के सदन में 111 विधायकों को अपने त्यागपत्र देने पर बाध्य किया। हिंसा रोकने के लिए पुलिस को प्रतिदिन गोली चलानी पड़ती थी जिसमें पचास और आदमी मारे गए। केन्द्र सरकार ने घोषित किया कि वह बल प्रयोग और

[10]देखो, *The National Herald*, 8 फरवरी, 1974, पृ० 1।

[11]गुजरात में केन्द्रीय शासन लागू होने का यह दूसरा अवसर था। इससे पहले मई 1971 में हितेन्द्र देसाई की संगठन कांग्रेस सरकार के पराजित होने पर वहां राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था।

हिंसा के आगे नहीं झुकेगी। 12 मार्च, 1974 को संगठन कांग्रेस नेता मोरारजी देसाई ने, जो पहले उप-प्रधान मन्त्री भी रह चुके थे, "मरण व्रत" आरम्भ कर दिया। इससे स्थिति बहुत गम्भीर हो गई और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने, जो पहले किसी धमकी के आगे झुकने को तैयार नहीं था, विधान सभा को भंग करने का निश्चय किया। 15 मार्च को राज्यपाल द्वारा तदर्थ घोषणा कर दी गई।

सांविधानिक प्रधान मात्र के समान कार्य करने के प्रति राष्ट्रपति गिरि की आलोचना (Criticism of President Giri for Acting as a Constitutional Head)

चौथे आम चुनाव के बाद और फिर कांग्रेस में फूट पड़ने के बाद एक ओर कांग्रेस और दूसरी ओर विपक्षी दलों में संघर्ष बहुत तीव्र हो गया और राष्ट्रपति पद, जो अभी तक दलीय नीति से अछूता था, उस पर वे छींटाकशी करने लगे जो राष्ट्रपति के "रबड़ की मोहर" के समान कार्य करने के कारण प्रभावित हुए थे। कांग्रेस की फूट से पूर्व आलोचना के आधार एवं प्रकार का वर्णन पहले किया जा चुका है। जब वराह वैंकट गिरि राष्ट्रपति बने और अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों के ही समान कार्य करने लगे तो विपक्षी दल उनकी आलोचना करने लगे। उन्हें गिरि के पूरे कार्यकाल भर उनसे शिकायत रही। उदाहरणतया 1970 में जब उत्तर प्रदेश में केन्द्रीय शासन लागू किया गया, विपक्षी दलों ने माँग की कि राष्ट्रपति द्वारा उत्तर प्रदेश की स्थिति से निबटने के तरीके पर विचार-विमर्श करने के लिए संसद का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाये। संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता मधु लिमये (संसत्सदस्य) ने विपक्षी दलों में एक प्रस्ताव का प्रारूप प्रसारित किया और घोषित किया कि वे उस प्रस्ताव को संसद में प्रस्तुत करेंगे। किन्तु जब उन्हें पता लगा कि राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की कार्यविधि बहुत जटिल है और वे उसके लिए आवश्यक बहुमत नहीं जुटा पायेंगे तो लिमये ने अपनी योजना स्थगित कर दी। संसद का विशेष अधिवेशन बुलाने की माँग रद्द होने पर विपक्षी दलों ने गिरि को एक ज्ञापन दिया जिसमें उनकी व केन्द्रीय सरकार की कटु आलोचना की गई थी कि उन्होंने एक जैसी परिस्थितियों में भिन्न कार्रवाई की। उनका कहना था कि ऐसा रवैया प्रधान मन्त्री व उनके दल के राजनीतिक हितों की सुविधा के लिए किया गया था। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि राष्ट्रपति ने उत्तर प्रदेश में केन्द्रीय शासन लागू करने के आदेश पर अपने विदेश (रूस) प्रवास में हस्ताक्षर किया, और संभव है कि यह उन्होंने विदेशियों के परामर्श से किया होगा।[12]

2 अक्तूबर 1970 की घोषणा को संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के उत्तर प्रदेश पार्लियामेन्टरी बोर्ड के सदस्य धर्मवीर गोस्वामी, और उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य

[12] *Ibid.*, 6 अक्तूबर, 1970।

शिवपूजन पटेल ने उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी कि राज्यपाल रेड्डी ने मुख्यमन्त्री की कांग्रेसी मन्त्रियों को बर्खास्त करने की सलाह नहीं मानी, और उसके स्थान पर राष्ट्रपति को धारा 356 के अधीन राज्य का शासन अपने हाथ में लेने की सलाह दी। रिट याचिका खारिज कर दी गई और न्यायालय ने कहा कि संविधान की धारा 361 के प्रावधानों के कारण वह राष्ट्रपति की घोषणा की वैधता के प्रश्न पर विचार नहीं करेगी। उस धारा में राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को अपने कर्तव्य पालन में किये गए किसी भी कार्य के लिये किसी न्यायालय में नहीं बुलाया जा सकता। न्यायालय ने कहा कि राज्यपाल का निर्णय, धारा 163 (2) के प्रावधानों के अनुसार वैध है।[13]

27 दिसम्बर, 1970 को जब गिरि ने लोक सभा भंग की तो विपक्षी दलों के नेताओं ने आपत्ति की कि राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री की सलाह नहीं माननी चाहिए थी, और लोकसभा को भंग करने व मध्यावधि आम चुनाव कराने का आदेश देने की बजाय उन्हें विपक्षी दलों द्वारा वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाने की सम्भावना पर विचार करना चाहिए था। मध्यावधि चुनाव कराने के आदेश को उन्होंने "अवैध" एवं "अनीतिपूर्ण" बताया।[14]

[13]*Ibid.*, 20 अक्तूबर, 1970।

[14]इस प्रश्न पर कि राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री द्वारा दी गई लोक सभा भंग करने की सलाह को, अस्वीकार कर सकते हैं अथवा नहीं, न्यायशास्त्रियों और संविधानिक विधि के विशेषज्ञों के निम्नलिखित विचार थे।

डा० भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में ये विचार व्यक्त किये थे :

"यदि चाहे तो राजा विपक्ष के नेता को आगे आकर सरकार बनाने का आदेश दे सकता था ताकि जो प्रधानमन्त्री सदन को भंग कराना चाहता था, उसे बर्खास्त करके विपक्षी नेता सरकार का कामकाज अपने हाथ में ले सके और संसद को भंग न करना पड़े। यदि राजा विपक्षी नेता या किसी भी अन्य संसत्सदस्य को शासन करने तथा सरकार का काम चलाने के लिए राजी न कर पाये तो उसे सदन भंग करना ही पड़ेगा।

"इसी प्रकार भारतीय संघ के राष्ट्रपति सदन के विचारों का परीक्षण करेंगे और देखेंगे कि सदन भंग किया जाने पर सहमत है अथवा सदन इस बात पर सहमत है कि उसे भंग किये बिना किसी अन्य नेता द्वारा काम चलाया जाये। यदि वे देखें कि भंग करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है तो उन्हें एक संवैधानिक राष्ट्रपति के समान अवश्य ही प्रधानमन्त्री की सदन भंग करने की सलाह मान लेनी होगी···मैं समझता हूँ कि हमें दलीय नेताओं और पूरे सदन के बीच ठीक-ठीक निर्णय करने के मामले में राष्ट्रपति पर भरोसा करना चाहिए।"

दुर्गादास वसु ने संविधान पर अपनी टिप्पणी में लिखा कि यद्यपि राष्ट्रपति को सामान्यता मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए, कुछ ऐसे भी मामले होंगे जिनमें उन्हें अपना व्यक्तिगत निर्णय करने की छूट देनी होगी, क्योंकि एक तो ऐसी स्थिति हो सकती है कि मन्त्री की सलाह उपलब्ध न हो, अथवा वह ऐसी हो कि उस पर आचरण करना सम्भव न हो। ऐसे मामले प्रधान मन्त्री की नियुक्ति और संसद भंग करने सम्बन्धी होते हैं।

किन्तु राष्ट्रपति को यह अवश्य याद रखना चाहिए कि संविधानिक प्रधान की स्थिति निष्पक्ष होनी

राष्ट्रपति गिरि की संविधानिक कठपुतला मात्र के नाम से आलोचना का तीसरा अवसर मार्च 1973 में आया जब उड़ीसा में केन्द्रीय शासन लागू किया गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है जब कांग्रेस विधायक दलीय नेता श्रीमती नन्दिनी सत्पथी ने अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया तो उत्कल कांग्रेस के नेता बीजू पटनायक ने मन्त्रिमण्डल बनाने के अधिकार का दावा किया, पर उन्हें ऐसा अवसर दिये बिना उड़ीसा में केन्द्रीय शासन लागू कर दिया गया।

बीजू पटनायक ने कहा कि "कांग्रेस की अन्तरंग मण्डली का निर्णय अत्यन्त अलोकतन्त्रीय एवं असंवैधानिक है।" विपक्षी दलों ने संसद के दोनों सदनों में खूब शोर मचाया, राष्ट्रपति के कृत्य को "असंवैधानिक, अनैतिक और अवांछित" बताया, और आरोप लगाया कि वह कूटनीति द्वारा उत्प्रेरित है। राज्य सभा में संगठन कांग्रेस के नेता महावीर त्यागी ने, जो पहले केन्द्रीय मन्त्री रह चुके थे, कहा कि राष्ट्रपति को "संविधान की लज्जापूर्ण अवहेलना सहित रबड़ की मोहर के समान" कार्य करने के कारण अपदस्थ किया जाना चाहिए। जनसंघ के महासचिव सुरेन्द्र सिंह भण्डारी ने एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि उनका दल राष्ट्रपति द्वारा "अपने ऐच्छिक अधिकारों

चाहिए और वे किसी एक राजनीतिक दल का हित साधन न करने लगें। दूसरी ओर, सदन भंग करने की सलाह देते समय प्रधानमन्त्री का भी यह कर्तव्य है कि सदन भंग करने के अधिकार का "दलीय उद्देश्य से दुरुपयोग न हो।"

प्रोफेसर वसु का मत है कि सदन भंग करने की सलाह देने का उचित कारण केवल तभी उत्पन्न होता है, जब नए मसले पैदा होने के कारण मतदाताओं से नया आदेश प्राप्त करना अनिवार्य हो जाये और निर्वाचित प्रतिनिधियों से उचित आदेश प्राप्त न होता हो।

ब्रिटिश संविधान विशेषज्ञ डा० ई० सी० एस० वाडे का यह दृष्टिकोण था कि सदन भंग करने से इनकार करना केवल तभी उचित होगा, जब वर्तमान संसद अभी सजीव हो और अपने कर्तव्य करने के योग्य हो। आम चुनाव राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक हो सकता है, विशेषत: जबकि पहला और आम चुनाव कुछ ही समय पूर्व हो कर चुका हो, अधिपति (Sovereign) ऐसा प्रधान मन्त्री ढूंढ़ सकता हो जो यथोचित काल के लिए संसद में कार्यवाह बहुमत से सरकार चलाने को सहमत हो।

ब्रिटेन के ही सर आइवर जेनिंग्स का कहना था कि इस मामले में सदैव अधिपति को प्रधान मन्त्री की सलाह अवश्य मान लेनी चाहिए। लेकिन वे मानते थे कि बड़े दलों के टूट जाने, संविधान का संतुलन बदल जाने, और उस परिस्थिति में राजा का परमाधिकार अधिक महत्वपूर्ण हो जाने की स्थिति में अधिपति संसद भंग करने से इन्कार भी कर सकता है।

मधोक ने संविधान शास्त्री की बजाय व्यवहारिक राजनीति के दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये। उनका कहना था कि अकेले प्रधान मन्त्री के कहने से लोक सभा भंग करना 'अनैतिक' और 'अन्यायपूर्ण' होगा। वे चाहते थे कि ऐसे मार्मिक प्रश्न पर सारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक निर्णय करे। उन्होंने दलील दी कि प्रधान मन्त्री का मानसिक परेशानी हो रही है क्योंकि उनके पृष्ठ पोषक दल सत्ता में अपने भाग की मांग कर रहे हैं और यदि प्रधान मन्त्री उन्हें कुछ अधिकार दे दें तो उससे 1972 में उनके दल की चुनाव की आशा कम हो जायेगी। उन्होंने कहा कि प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त कोई लोक सभा भंग होने के पक्ष में नहीं है। *Ibid.*, 21 दिसम्बर, 1970, पृ०3।

के पक्षपात पूर्ण प्रयोग के लिए" उनके विरुद्ध महाभियोग चलायेगा। किन्तु जब उसने देखा कि यह कार्य दो-तिहाई बहुमत के समर्थन के बिना सम्भव न होगा, तो यह विचार छोड़ दिया गया।

उड़ीसा के 74 विधान सभा सदस्यों ने अपने राज्य के उच्च न्यायालय में एक रिट याचिका प्रस्तुत करके वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू करने की "वैधता" को चुनौती दी। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने याचिका रद्द कर दी और निर्णय सुनाते हुए अपना मत व्यक्त किया कि धारा 356 के अन्तर्गत घोषणा करने में विश्वास तथा विश्वास का आधार दोनों ही आत्मानुभूतिमूलक (subjective) हैं और उनका न्यायिक पुनरीक्षण नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति की घोषणा को रद्द करने के लिए कोई रिट नहीं चल सकती। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने जो दृष्टिकोण व्यक्त किया, वह उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा दिये गए उस निर्णय के अनुरूप था जो उसने ऐसी ही स्थिति में 1970 में दिया था।

फरवरी 1974 में जिस प्रकार एवं जिन परिस्थितियों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, उसकी भी विपक्षी दलों ने खूब आलोचना की। उन्होंने कहा कि धारा 356 को केन्द्र में शासक दल ने केन्द्र एवं राज्यों में अपने राजनीतिक हितों की उन्नति एवं संरक्षण का एक सुलभ एवं आसान उपकरण बना लिया है, कि राज्यपाल द्वारा रिपोर्ट भेजना प्रधान मन्त्री के हित से मेल खाने या मेल न खाने पर निर्भर करता है; राष्ट्रपति केवल एक रबड़ की मोहर बन कर रह गए हैं और उनकी सन्तुष्टि वास्तव में तथा सभी व्यवहारिक उद्देश्यों के लिए प्रधान मन्त्री एवं उनके दलीय साथियों की संतुष्टि होती है। किसी भी परिस्थिलि में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये या न किया जाये, इसका निर्णय संविधानिक दृष्टिकोण की बजाय मुख्यतः राजनीतिक आधार पर किया जाता है।

उच्चतम न्यायालय ने धारा 74 को आदेशात्मक बताया (Supreme Court says Article 74 is Mandatory)

देश के राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति की प्रधान मंत्री व उनके मंत्रिपरिषद के निर्णयों पर रबड़ की मोहर के समान हस्ताक्षर करने के लिए आलोचना करके रह गये, पर मद्रास उच्च न्यायालय के एक एडवोकेट यू० एन० आर० राव, इस मामले को न्यायालय में ले गये। उन्होंने लोक सभा भंग कर दिये जाने के बाद श्रीमती गांधी के अपने पद पर बने रहने के प्रति आपत्ति उठाई। उनका कहना था कि जब लोक सभा ही नहीं है तो उनकी मंत्रिपरिषद किसके प्रति उत्तरदायी होगी। उन्होंने मद्रास उच्च न्यायालय में एक **अधिकार पृच्छा** (quo warranto) रिट याचिका प्रस्तुत करते हुए यह प्रार्थना की कि श्रीमती गांधी और उनकी परिषद का सत्तारूढ़ रहना अवैध घोषित किया जाए। किन्तु उनकी रिट याचिका को न्यायालय ने खारिज कर दिया। उन्होंने उच्चतम न्यायालय में अपील की। मुख्य न्यायाधीश एस० एम० सीकरी ने उसे वहाँ भी खारिज कर

दिया। 27 मार्च, 1971 को सीकरी ने निर्णय दिया कि संविधान की धारा 74, जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया है कि "राष्ट्रपति को अपना कार्य निपटाने में सलाह एवं मदद देने के लिए प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रि परिषद होगी," आदेशात्मक है और राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह एवं सहायता के बिना अपना कार्य नहीं कर सकते। न्यायाधीश ने स्पष्ट किया कि संविधान का यह तात्पर्य नहीं है कि केन्द्र में राष्ट्रपति का शासन हो। यद्यपि मंत्रिपरिषद का अपने पद पर बने रहना राष्ट्रपति की मर्ज़ी पर निर्भर करता है, जब तक वह मर्जी वापस न ले ली जाए प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद का अपने पदों पर बने रहना वैध होगा। न्यायालय ने घोषित किया कि जिन दिनों लोकसभा सत्र में नहीं होगी अथवा भंग हो चुकी होगी, सदन के प्रति मंत्रिपरिषद का "सामूहिक उत्तरदायित्व" लागू नहीं होगा। यदि "इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाए कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के बिना शासन चला सकते हैं" तो, सीकरी ने कहा, कि "यह कार्यपालिका की कल्पना में आमूल परिवर्तन होगा।"[15]

शमशेर सिंह और ईश्वर चन्द अग्रवाल की रिट याचिकाओं को भी उच्चतम न्यायालय ने इसी आधार पर निपटाया। वे दोनों पंजाब न्यायिक-सेवा में प्रोबेशनर न्यायिक अधिकारी थे। सम्बन्धित मंत्री ने पंजाब व हरियाणा उच्च न्यायालय की सलाह मानकर, राज्यपाल को पूछे बिना अथवा उनके स्वयं सन्तुष्ट हुए बिना, इन दोनों अधिकारियों की सेवाएँ समाप्त कर दी थीं। एक अधिकारी की सेवा समाप्त करने का निर्णय राष्ट्रपति के शासन काल में किया गया था, पर उसका क्रियान्वयन मुख्यमंत्री द्वारा किया गया था क्योंकि इस अवधि में राष्ट्रपति का शासन वापस उठा लिया गया था। उनकी प्रोबेशन को समाप्त करने के आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गयी क्योंकि संविधान के तहत इनकी नियुक्ति का अधिकार गवर्नर को होता है (केन्द्रीय सेवाओं में राष्ट्रपति को), अत: उन्हें राज्यपाल द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता था। अपील-कर्त्ताओं के वाद का सार यह था कि राष्ट्रपति और राज्यपाल ब्रिटिश मलिका के "संविधानिक भाई-भतीजे" मात्र नहीं हैं प्रत्युत वे सत्ता के वास्तविक उपभोक्ता हैं, जो उन्हें स्पष्ट रूप से संविधान से प्राप्त होती है।

उच्चतम न्यायालय ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि "व्यवहार में पूर्णत:, राष्ट्रपति का अर्थ, मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद होता है और उनका मत, सन्तुष्टि, अथवा निर्णय संविधानिक रूप से तभी प्राप्त होते हैं जब उनके मंत्रियों का वह मत सन्तुष्टि अथवा निर्णय हो जाए।" न्यायमूर्ति वी० आर० कृष्णाअय्यर और न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती ने, जिन्होंने निर्णय दिया था, कहा कि संविधान की रूपरेखा के अनुसार राष्ट्रपति

[15]राज्य के उच्च न्यायालय ने इसी दलील के आधार पर एक और अपील खारिज की जिसमें राज्य की विधान सभा भंग होने के बाद तमिल नाडु के मुख्यमंत्री एम० करुणानिधि और उनकी मंत्रिपरिषद के अपने पद पर बने रहने को चुनौती दी गयी थी। यह अपील एक अन्य एडवोकेट के० एन० राजगोपाल ने की थी। उच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि विधान सभा भंग हो जाने के बाद राज्य में संविधानिक तंत्र भंग हो जाने का प्रश्न ही नहीं रह गया। देखो *Ibid.*, 18 मार्च, 1971, पृ० 4।

(अथवा राज्यपाल) के "कार्यभाग" और सरकार के "कार्य" मंत्रियों के होते हैं, राज्य के प्रधान के नहीं। उन्होंने कहा कि फिर भी, भारतीय संविधान में राष्ट्रपति एक "कठपुतलीमात्र" नहीं है और उन्हें "पूछे जाने, प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने" का अधिकार विद्यमान रहेगा। न्यायमूर्तियों ने आगे कहा कि "मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करने से यह अनिवार्य तात्पर्य नहीं होता कि मंत्री के सभी विचारों को तुरंत स्वीकार किया जाता हो। राष्ट्रपति किसी भी प्रस्तावित कार्रवाई के लिए अपनी सभी आपत्तियों का वर्णन कर सकते हैं और यदि आवश्यक हो तो अपने तत्कालीन मंत्रियों को पुर्नविचार करने के लिये कह सकते हैं। मंत्रिमण्डल की सलाह तो केवल अन्त में माननी होती है।"[16]

अनेक विपक्षी दलों का यह मत था कि राष्ट्रपति के लिये प्रधानमन्त्री व उनकी मंत्रिपरिषद की सलाह मानना अनिवार्य नहीं है। अत: संविधानिक और संसदीय अध्ययन संस्थान (Institute of Constitutional and Parliamentary Studies) ने लोक सभा भंग होने सम्बन्धी संविधानिक समस्याएँ (Constitutional questions relating to the Dissolution of Lok Sabha) विषय-वस्तु पर नई दिल्ली में एक संगोष्ठी आयोजित की, जिसमें प्रख्यात न्यायशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों को भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। निम्नलिखित वक्ताओं के नाम उल्लेखनीय थे—हृदयनाथ कुंजरू, एस० के० दास (भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश), जॉर्ज वर्गीज, बलराज मधोक, वी० के० पी० सिन्हा, तारकेश्वरी सिन्हा, अजीत प्रसाद जैन और एल० एम० सिंघवी। लगभग सभी वक्ताओं ने यह विचार प्रकट किये कि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की "सहायता व सलाह" से 'बंधे' होते हैं, और राष्ट्रपति संघ की कार्यकारी सत्ता का उपभोग "उस सहायता व सलाह" के बिना नहीं कर सकते।

मूल्यांकन (An Appraisal)

विपक्षी दलों के अनेक राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रपति के विवेक और स्वतंत्र निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया पर जिन व्यक्तियों ने अब तक इस पद पर कार्य किया वे राज्य के संविधानिक प्रधान के समान ही कार्य करते रहे। इसके मुख्यत: दो कारण रहे हैं। एक यह कि अब तक ऐसी स्थिति कभी नहीं आई है कि केन्द्र में उत्पन्न गतिरोध को सरकार में परिवर्तन करके अथवा लोक सभा भंग करके सुलझाने की आवश्यकता पड़ी हो। कांग्रेस विग्रह के बाद के थोड़े से अन्तराल को छोड़ कर सदैव लगभग स्पष्ट बहुमत में रही है और इससे राजनीतिक स्थिरता बनी रही है। यदि संयोगवश कभी इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और कोई भी दल स्थायी सरकार न बना सका तो सम्भावना यही होगी कि राष्ट्रपति को अपने अधिकारों का स्वतंत्र उपयोग करने की आवश्यकता पड़ेगी।

अभी तक सभी राष्ट्रपतियों द्वारा प्रधान मंत्री और उनकी मंत्रिपरिषद की सहायता

[16]*Ibid.*, 26 अगस्त, 1974, पृ० 8।

व सलाह से काम करते रहने का दूसरा कारण यह है कि नेहरू और श्रीमती गांधी दोनों ने ही सदैव ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति बनाने का ध्यान रखा जो प्रधान मंत्री से विरोध न करे। यद्यपि सभी राष्ट्रपति श्रेष्ठ निष्ठापूर्ण, अदम्य देश-भक्ति पूर्ण और अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति थे, पर प्रधान मंत्री बड़ी सतर्कतापूर्वक केवल ऐसे ही व्यक्तियों को राष्ट्रपति पद के लिये चुनते थे जिनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा प्रबल न थी। इसके लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड कदाचित यही रहा है कि राष्ट्रपति सत्ता का वैकल्पिक केन्द्र न बन जाए। श्रीमती गांधी ने अपने पिता के अनुभव का लाभ उठाया जिन्हें विशेष अवसरों पर राजेन्द्रप्रसाद और राधाकृष्णन के विरोध का सामना करना पड़ा था। संजीवा रेड्डी के नामांकन को समर्थन प्रदान करने के बाद श्रीमती गांधी ने इसलिये हाथ खींच लिया कि उन्हें किसी प्रकार यह शंका उत्पन्न हो गयी थी कि कांग्रेस में उनके प्रतिद्वन्द्वी उनको प्रधानमंत्री पद से हटाने की योजना बना रहे हैं जिसके लिये वे राष्ट्रपति से काम लेना चाहते हैं। उन्होंने फ़ख़रुद्दीन अली अहमद को इसलिये चुना कि वे बिलकुल विनम्र और सीधे-सादे होने के अतिरिक्त उनके विश्वस्त व्यक्ति और पारिवारिक मित्र भी थे।[17]

कुछ तो अपनी प्रकृति और स्वभाव के कारण और कुछ अपने पद की प्रकृति के कारण, राष्ट्रपतियों ने जब भी कोई दृढ़ रवैया अपनाने की सोची, वे ऐसा नहीं कर सके। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने हिन्दू कोड बिल के बारे में अपने विचार नेहरू से कहे, पर नेहरू के अडिग रहने पर उन्होंने चुपचाप हस्ताक्षर कर दिये। डा० राधाकृष्णन के कार्यकाल में राजस्थान के 93 संयुक्त मोर्चा विधान सभा सदस्य अपना बहुमत प्रदर्शित करने और मंत्रिमण्डल बनाने का अधिकार माँगने के लिये स्वयं राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत हुए। उन्होंने तत्कालीन गृहमंत्री से स्पष्टीकरण माँगा, पर गृहमंत्री ने कोई उत्तर नहीं दिया और विधान सभा भंग करने की घोषणा को निरस्त करने सम्बन्धी भी कोई कार्रवाही नहीं की। जुलाई 1967 में मध्यप्रदेश में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई। वहाँ भी संयुक्त मोर्चे ने ऐसा ही दावा किया और डा० ज़ाकिर हुसैन से भेंट की। उन्होंने भी असमर्थता प्रकट की। एक बार एक विपक्षी संसद सदस्य ने डा० ज़ाकिर हुसैन से शिकायत की कि केन्द्र का एक कनिष्ठ मंत्री अपने

[17]1974 में एच०एन० पंडित ने, जोकि एक पत्रकार होने के साथ-साथ संविधानिक विधि के छात्र भी हैं, एक पुस्तक *The Prime Minister's President–A New Concept on Trial* लिखी, जिसमें उन्होंने राष्ट्रपति के चयन में प्रधान मंत्री की भूमिका का सर्वेक्षण किया। विस्तृत अध्ययन के लिए इसी पुस्तक का अध्याय छ: देखिये। यद्यपि श्रीमती गांधी चाहती थीं कि राष्ट्रपति उनकी सलाह एवं निर्णयों पर सदैव अन्धस्वीकृति की मोहर लगायें, पर उन्हें यह अच्छा नहीं लगता था कि जनता राष्ट्रपति के लिए ऐसे शब्द कहे। 21 जुलाई, 1974 को कांग्रेस संसदीय दल को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा "हम ऐसे व्यक्ति को नहीं चुनेंगे जो रबड़ की मोहर के रूप में कार्य करे। उनका अपना दिमाग होना चाहिए और वे अपने निर्णय से कार्य करें।" उन्होंने आगे स्पष्टीकरण किया कि यह बात और है कि देश शासन में "सहयोग" से उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। देखो, *The Hindustan Times*, 22 जुलाई, 1974, पृ० 1।

एक रिश्तेदार के नाम से कालीन उद्योग चला रहा है और श्रमिक-विधि और अन्य विनियमों की गिरफ़्त से बचने के लिये अपनी अधिकारपूर्ण स्थिति का दुरुपयोग कर रहा है। शिकायत के साथ मामले के प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में आवश्यक प्रलेख भी प्रेषित किये गये थे। डा० हुसैन ने तुरन्त कहा कि आवश्यक जाँच के बाद मन्त्री को दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिए। वे प्रधानमंत्री को एक जाँच-समिति नियुक्त करने का आदेश देना चाहते थे पर उनके सचिवालय ने उन्हें बताया कि ऐसा आदेश देना राष्ट्रपति के अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। कहा जाता है कि यह टिप्पणी देखने के बाद उन्होंने कहा था, "इससे मुझे केवल तकनीकी सन्तुष्टि प्राप्त हुई है पर नैतिक सन्तुष्टि नहीं।" मामला यहीं समाप्त हो गया और वे मंत्री को अपदस्थ नहीं करा सके।

राष्ट्रपति गिरि के कार्यकाल में भी ऐसी ही घटनाएँ हुईं। कहा जाता है कि उन्होंने रेल मंत्री ललित नारायण मिश्रा को मई 1974 में हड़ताल करने वाले रेल कर्मचारियों के साथ नम्रता का व्यवहार करने की सलाह दी थी, किन्तु मंत्री महोदय ने उनके आग्रह की परवाह नहीं की। उन्होंने केन्द्र सरकार से आन्ध्र प्रदेश के द्विभाजन संबंधी आन्दोलन से भी सहानुभूतिपूर्वक निपटने का आग्रह किया (इस मामले में उन्हें स्वयं भावुकतापूर्ण रुचि थी) पर इसमें भी वे कुछ न कर सके। उन्होंने कहा कि यदि मंत्रिपरिषद, जो संसद के प्रति उत्तरदायी है, उनकी अवहेलना करने का निश्चय करे तो वे कुछ भी न कर सकेंगे। अन्त में उन्होंने कहा, "मैं सुझाव दे सकता हूँ, समझा सकता हूँ, तर्क कर सकता हूँ, पर अन्ततः मुझे विधेयकों और अध्यादेशों पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। सभी राष्ट्रपति यह समझते थे कि वे किसी संवैधानिक अधिकार का उपयोग नहीं कर सकते, अतः वे केवल "नैतिक अधिकार" का उपयोग करते रहे।"

अब तक के सभी राष्ट्रपतियों के विषय में यह एक रोचक तत्त्व है कि अपने राष्ट्रपति भवन आवास की अधिकतर अवधि में उन्होंने अपनी अधिकार हीन एवं असहाय अवस्था का कभी जिक्र तक नहीं किया, पर अपने कार्यकाल की समाप्ति के निकट पहुँच कर अवश्य उन्होंने देश के राजनीतिज्ञों द्वारा, जिनमें अधिकतर शासक दल के थे, जिस प्रकार भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक, एवं नैतिक जीवन का निदेशन एवं व्यवस्थापन किया जा रहा था, उसके प्रति अपनी निराशा प्रकट की। संविधान सभा के अध्यक्ष पद से बोलते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने स्पष्ट कहा था कि भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद की सहायता एवं सलाह के अनुसार कार्य करना होगा। किन्तु जब वे अपना दूसरा कार्यकाल पूरा करने के निकट थे तो 28 नवम्बर 1960 को नई दिल्ली में इण्डियन लॉ इंस्टिट्यूट के भवन का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में देश के संविधान-पंडितों से इस तथ्य का अध्ययन करने व खोज करने का आग्रह किया कि "भारत के राष्ट्रपति के अधिकारों एवं कार्यभाग में ब्रिटिश सम्राट के अधिकारों व कार्यभाग की अपेक्षा क्या कमी है।" उन्होंने इस तथ्य की भी जाँच करने का आग्रह किया कि राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा उसे अपदस्थ करने की जो विधि है, उसके कारण, संविधानिक दृष्टिकोण से भारत के राष्ट्रपति एवं ब्रिटिश अधि-

पति में क्या अन्तर है।"[18]

राष्ट्र के नाम अपने अन्तिम गणतन्त्र दिवस प्रसारण में डा० राधाकृष्णन ने कहा, "हम देशव्यापी अयोग्यता और अपने साधनों की कुव्यवस्था को कभी क्षमा नहीं कर सकते।" अपने पद का कार्य भार त्यागने से पूर्व जनता के नाम सन्देश में उन्होंने सरकार के कार्य-संचालन के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया और उसकी असफलताएँ बताईं। उन्होंने कहा, कि "हम पीस डालने वाली गरीबी और स्वार्थ-सेवी धन को बर्दाश्त नहीं कर सकते। भूखे और बेरोजगार लोग क्रान्ति लाते हैं। आत्मश्लाघा और प्रशासन में भ्रष्टाचार से प्रतिनिधि सरकार में विश्वास प्रेरित नहीं हो सकता"··· 7 मई, 1967 को संसत्सदस्यों को अपने विदाई भाषण में उन्होंने राजनीतिज्ञों को जनता के साथ मिलकर न चलने के लिए पुनः फटकारा। उन्होंने कहा, "राजनीतिज्ञों से तात्पर्य स्वार्थी एवं नृशंस व्यक्ति नहीं होते, प्रत्युत ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके हृदय में दुःखी मानवता के लिए सहानुभूति एवं सहृदयता हो।"

डॉ० जाकिर हुसैन अपना कार्यकाल पूरा करने से बहुत पहले चल बसे, अतः उन्हें इस प्रकार के विचार प्रकट करने का अवसर ही नहीं मिला। वराह वैंकट गिरि ने, जिन्हें उनके अधिकतर कार्यकाल में श्रीमती गांधी की **रबड़ मुहर** कहा जाता रहा, 28 जुलाई, 1973 को लखनऊ में गांधी भवन का उद्घाटन करते हुए सभी दलों के राजनीतिज्ञों की भर्त्सना की। कांग्रेस के बारे में उन्होंने ऐसा कहा बताते हैं कि श्रीमती गांधी ने पिछले आम चुनावों में जिस भारी बहुमत की 'इच्छा की थी और प्राप्त किया' था, उनके सतत प्रयत्नों के बावजूद उसके वांछित परिणाम नहीं निकले। अन्य दलों के राजनीतिज्ञों के बारे में उन्होंने कहा कि वे जमाखोरी और चोरबाज़ारी करते हैं। उन्होंने समाज का नैतिक स्तर गिराया है, और उनमें से अनेक विधान सभाओं के सदस्य बनने के सर्वथा अयोग्य हैं। देश की आम हालत के बारे में, युगों पुरानी मानस पीड़ा व्यक्त करते हुए, उन्होंने कहा कि उन्हें उत्तर प्रदेश के राज्यपाल को आदेश देने का अधिकार है (उत्तर प्रदेश में उस समय राष्ट्रपति शासन लागू था) कि वे उनके सलाहकार और सचिव उपनगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर जमाखोरों को पकड़कर हथकड़ियों में बाँध लायें। नैतिक स्तर की गिरावट का ज़िक्र करते हुए राष्ट्रपति ने कहा कि उन्होंने तथा अन्य महानुभावों ने 1918-20 में एक भी पैसा खर्च किये बिना चुनाव लड़े थे। किन्तु आज के युग में भ्रष्टाचार, कुन्बापरवरी, सम्प्रदायवाद

[18]एच० एन० पण्डित ने लिखा है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद के भाषण के तत्व जवाहरलाल नेहरू को पहले से पता लग गया था और वे बहुत क्रुद्ध हुए थे। वे उपर्युक्त समारोह के स्थल पर समय से पहले पहुँच गए और संस्थान के अधिकारियों को आदेश दिया कि भाषण की प्रतियाँ श्रोताओं में वितरित न की जायें। बाद में जब वकीलों, न्यायाधीशों और राजनयिक आयोगों के नेताओं ने प्रतियाँ माँगी तो संस्थान के अधिकारियों ने देने से इन्कार कर दिया। पण्डित ने यह भी लिखा है कि भारतीय अभिलेख पुस्तकालय की यह प्रथा थी कि राष्ट्रपति के सभी भाषणों के संग्रह रखे जायें, पर इस भाषण को विशेष रूप से नहीं रखा गया। देखो *Ibid.*, पृ० 19-21।

इत्यादि ढेरों बुराइयाँ विद्यमान हैं ।[19]

अपने कार्यकाल की समाप्ति के निकट पहुँचते-पहुँचते गिरि अधिक कटु आलोचक हो उठे । उनके राष्ट्रपति भवन आवास की अवधि अगस्त 1974 तक थी । नव वर्ष के दिन उन्होंने कहा कि भारत में निष्ठा, चरित्र और अनुशासन का "सबसे अधिक ह्रास" हुआ है ।[20] 9 फरवरी को उन्होंने कहा कि सरकार द्वारा गेहूँ का व्यापार अपने हाथ में लेना असफल रहा है ।[21] 26 जून को चण्डीगढ़ में लाला अचिन्तराम आडिटोरियम का शिलान्यास करते हुए राष्ट्रपति ने खेद प्रकट किया कि आज के भारतीय समाज की विशेषताएँ सिद्धान्त विहीन राजनीति, बिना परिश्रम के वैभव, अन्तरात्मा के बिना खुशी, चरित्र बिना ज्ञान, नैतिकताविहीन व्यापार, मानवतारहित विज्ञान तथा बलिदान रहित पूजा रह गई हैं ।[22] सरकार द्वारा मई 1974 की रेल कर्मचारियों की हड़ताल जिस प्रकार दबाई गई, उसके प्रति उन्होंने प्रधान मन्त्री से अपनी गहन असहमति प्रकट की । यह सोचना तर्कसंगत होगा कि गिरि श्रीमती गांधी से इतनी स्पष्ट वार्ता केवल इसलिए कर सके कि उनके सम्बन्धों में पहली सी मधुरता नहीं रह गई थी और उनका राष्ट्रपति भवन से प्रस्थान करना निश्चित हो गया था । फ़खरुद्दीन अली अहमद राष्ट्रपति भवन में अगस्त 1974 में पधारे हैं और अभी तक उनका आलोचना व टीका-टिप्पणी करने का समय नहीं आया है । कदाचित अपने कार्यकाल के अन्त के निकट वे भी अपने पूर्वगामियों का ही अनुसरण करें ।

अध्याय 8

भारत का प्रधान मंत्री
(The Prime Minister of India)

ब्रिटिश राजनीतिक पद्धति के समान भारत में भी 'औपचारिक कार्यपालिका' और 'वास्तविक कार्यपालिका' में भेद किया जा सकता है। एक के अंग राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति हैं, तो मंत्रीपरिषद व प्रधान मन्त्री दूसरी के अंग हैं। संघीय सरकार के लिए मंत्रिपरिषद का प्रावधान संविधान की धारा 74 में किया गया है और प्रधान मंत्री सम्बन्धी प्रावधान धारा 75 में हैं। धारा 74(1) में निर्दिष्ट किया गया है कि "राष्ट्रपति को अपने कार्य निर्वाह में सहायता व परामर्श देने के लिए प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद हो।" धारा 75(1) में निर्दिष्ट है कि प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाये, तथा अन्य मंत्री राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री के परामर्श से नियुक्त किये जायें। इसी धारा के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट है कि मंत्रीगण का अपने पद पर बने रहना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करेगा। इस प्रावधान का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मंत्रीगण केवल उसी समय तक अपने पद पर बने रह सकते हैं जब तक कि वे राष्ट्रपति को प्रसन्न रख सकें। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। धारा 75(3) में बताया गया है कि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। इसके अतिरिक्त, जैसाकि पांचवें अध्याय में बताया गया है, सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 74 की व्याख्या करते हुए बताया की वह धारा आदेशात्मक है। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रपति के लिये मंत्रिपरिषद्, जिसके नेता प्रधान मंत्री होते हैं, की "सहायता व परामर्श" से कार्य करना अनिवार्य होता है। इस प्रकार, संघीय सरकार की वास्तविक कार्यकारी शक्ति प्रधान मंत्री एवं मंत्रिपरिषद् में निहित होती है, राष्ट्रपति में नहीं।

प्रधान मंत्री का मंत्रिमण्डल बनाने का अधिकार (Prime Minister's Power of Constituting the Ministry)

धारा 74 के उपर्युक्त प्रावधानों से ऐसा प्रतीत होगा कि राष्ट्रपति चाहे जिस व्यक्ति को प्रधान मंत्री नियुक्त कर सकते हैं और प्रधान मंत्री को मंत्रिपरिषद के चयन

की छूट रहती है। किन्तु तथ्य यह है कि जिस व्यक्ति को लोक सभा में बहुमत वाले दल ने अपना नेता चुना हो अथवा यदि किसी भी दल को बहुमत प्राप्त न हो, तो जिस व्यक्ति को एक से अधिक दलों ने संयुक्त रूप से अपना नेता चुना हो, राष्ट्रपति द्वारा उसे प्रधान मंत्री नियुक्त करना अनिवार्य होता है। इस विषय में राष्ट्रपति अपने विवेक का उपयोग केवल तभी कर सकते हैं जब लोक सभा में कोई एक राजनीतिक दल अथवा एक से अधिक दल संयुक्त रूप से अपना एक सर्वसम्मत नेता न चुन सकें।

इसी प्रकार, मन्त्रिपरिषद बनाने में यद्यपि सदस्यों के चयन का अधिकार प्रधान मन्त्री का होता है, पर उन्हें जिस दल या जिन दलों के समूह ने अपना नेता चुना, उसके सभी महत्त्वपूर्ण नेताओं को अवश्य लेना होता है, सभी राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों को मंत्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व प्रदान करके सन्तुष्ट करना आवश्यक होता है, तथा दल के सभी प्रकार के विचारों व हितों को मन्त्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व प्रदान करना आवश्यक होता है। अनुसूचित जातियों व पिछड़े वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना भी अनिवार्य होता है।[1] प्रधान मन्त्री का यह सब करने की सुविधा प्रदान करने के लिये, धारा 75 के पांचवें पैरा में प्रावधान है कि वे चाहें तो अपने मन्त्रिमण्डल में किसी ऐसे व्यक्ति को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो संसत्सदस्य न हो पर यदि वह व्यक्ति लगातार छः मास तक स्वयं को संसद के किसी भी सदन का सदस्य निर्वाचित न करा सके तो उस अवधि की समाप्ति पर उसका मंत्रित्व भी समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जब प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति विशेष को मन्त्रिमण्डल में बनाये रखना चाहें पर उस व्यक्ति को स्वयं अपने दल के सदस्यों एवं विरोधी दलों के आग्रह पर हटाना पड़े। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण वी० के० कृष्णामेनन का है जिन्हें उत्तर-पूर्वी सीमान्त क्षेत्र(नेफा) तथा लद्दाख में चीनी सेनाओं द्वारा भारतीय सेना को पराजित किये जाने के कारण नवम्बर 1962 में नेहरू द्वारा प्रतिरक्षा मंत्री के पद से हटाना पड़ा था। दूसरा उदाहरण नेहरू के ही मन्त्रिमण्डल में खदान एवं कोयला मन्त्री के० डी० मालवीय का है। कुछ विरोधी दलीय संसत्सदस्यों

[1]इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का चयन प्रधान मन्त्री का ही विशेषाधिकार होता है। नेहरू ने सदैव इस विशेषाधिकार का उपयोग किया। लालबहादुर शास्त्री ने, जिनका चयन 'सिंडीकेट' ने इस आशा से किया था कि अब नेहरू की तरह का प्रधानत्व नहीं हुआ करेगा, तथा वे सब संयुक्त रूप से सत्ता का उपयोग करेंगे, मन्त्रियों के चयन में इस प्रकार का नेतृत्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। उन्होंने कहा, "जहाँ तक अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न है, मैंने एक भी व्यक्ति से परामर्श नहीं किया है। मन्त्रियों के विभागों में अदल-बदल इत्यादि भी मेरे द्वारा ही किया गया। अपनी सरकार के मन्त्री नियुक्त करने में मैंने गोपनीयता बरती है। भविष्य में भी जब ऐसा अवसर आयेगा, इसे मैं अपने मन में ही रखूंगा।" देखो, डी० आर० मांकेकर की पुस्तक, *Lal Bahadur: A Biography* (पापुलर पब्लिकेशन्स, बम्बई)। जून 1964 में जब संजीव रेड्डी को मन्त्रिमण्डल में लिया गया तो संसद में बड़ा हंगामा हुआ, पर अध्यक्ष सरदार हुकम सिंह ने निर्णय दिया कि मन्त्री की नियुक्ति का निर्णय सदन ने नहीं बल्कि प्रधान मन्त्री ने करना है, और सदस्य केवल इतना कर सकते हैं कि वे किसी मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव प्रेषित कर सकते हैं।

ने आरोप लगाये कि मालवीय ने कलकत्ता की एक फर्म, **सिराजुद्दीन एण्ड कम्पनी** से चुनाव अभियान के लिये धन लिया है तथा जब सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के नेतृत्व में एक जाँच समिति ने जून 1963 में अपना प्रतिवेदन प्रेषित किया, तो उन्हीं सदस्यों ने माँग की कि प्रतिवेदन को संसद की मेज़ पर रखा जाये। पर नेहरू ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और मालवीय को चुपचाप मन्त्रिमण्डल से अलग कर दिया। विदित ही है कि उन्हें यह अपनी इच्छा के विरुद्ध करना पड़ा होगा।

जो मन्त्री प्रधान मन्त्री का विश्वास खो बैठे या जो उनकी नीतियों से सहमत न हो, उसे अपना पद त्याग करना होता है। ऐसे कतिपय उदाहरण श्यामाप्रसाद मुखर्जी, सी० डी० देशमुख, एम०सी० छागला, वी०वी० गिरि, टी०टी० कृष्णमाचारी, महावीर त्यागी, अशोक मेहता, दिनेश सिंह और मोरारजी देसाई के हैं। मन्त्रियों को कई बार अन्य कारणों से भी हटाया गया है। कभी-कभी संसत्सदस्यों द्वारा अपनी नीतियों या कृत्यों की कटु आलोचना के कारण मन्त्रियों को स्वयं पद-त्याग करना पड़ा है। ऐसे पद-त्याग के उदाहरण अजीत प्रसाद जैन (खाद्य मन्त्री), शणमुखम् चेट्टी और टी० टी० कृष्णमाचारी के हैं। के० सी० रेड्डी ने जुलाई 1963 में अस्वस्थता के कारण पद त्याग किया। लाल बहादुर शास्त्री ने दो रेल दुर्घटनाओं के कारण, जिनमें कुछ व्यक्ति मारे गए थे, अपने पद से त्यागपत्र दे दिया क्योंकि उसे वे अपना उत्तरदायित्व मानते थे। डा० कर्ण सिंह में मार्च 1973 में नागरिक उड्डयन एवं पर्यटन मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया क्योंकि एक ऐवरो जेट विमान हैदराबाद के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गया और मन्त्री महोदय ने समझा कि "इसका नैतिक उत्तरदायित्व" उनका है। डा० चेन्ना रेड्डी ने इसलिये पद त्याग किया कि आन्ध्र प्रदेश के उच्च न्यायालय ने उन्हें चौथे आम चुनावों में अपने निर्वाचन में भ्रष्ट उपायों का प्रयोग करने का दोषी ठहराया था। मोरारजी देसाई (वित्त मन्त्री), लालबहादुर शास्त्री (गृह मन्त्री), जगजीवन राम (परिवहन तथा संचार मन्त्री), एस० के० पाटिल (खाद्य मन्त्री), के० एल० श्रीमाली (शिक्षा मन्त्री) तथा वी० गोपाल रेड्डी (सूचना व प्रसारण मन्त्री) ने अगस्त 1964 में "कामराज योजना" के अन्तर्गत, प्रकटतया अपने दल के संगठन के लिए कार्य करने व उसे नव-जीवन देने के लिए पद-त्याग किया।

प्रधान मन्त्री का मन्त्रिमण्डल में फेर-बदल का अधिकार (Prime Minister's Power of Reshuffling the Ministry)

प्रधान मन्त्री के मन्त्रिमण्डल बनाने के अधिकार में उसके पुनर्गठन तथा फेर-बदल के अधिकार भी सम्मिलित होते हैं। नेहरू जब चाहे ऐसा करते थे, पर श्रीमती गांधी ने उनसे भी अधिक बार ऐसा किया है। चौथे आम चुनावों के पश्चात उन्होंने मार्च 1967 में मन्त्रिमंडल बनाया। उसी वर्ष 5 सितम्बर को एम० सी० छागला ने विदेश मन्त्री के पद से त्याग पत्र दे दिया और उन्होंने उस विभाग का कार्यभार स्वयं अपने हाथों में ले लिया। दो मास बाद उन्होंने मन्त्रिमण्डल में फेर-बदल कर दिया। 22 जुलाई, 1972

को मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था में बड़े परिवर्तन किये गये। उनके निकट विश्वासी दुर्गाप्रसाद धर को सुब्रह्मणियम के स्थान पर योजना मन्त्री नियुक्त किया गया। सुब्रह्मणियम, मोइनल हक़ चौधरी के स्थान पर औद्योगिक विकास मन्त्री बनाये गए। राज्य सभा सदस्य टी० ए० पै को के० हनुमन्थैया के स्थान पर रेल मन्त्री नियुक्त किया गया। इन्द्रकुमार गुजराल को, जो पहले निर्माण एवं आवास के राज्य मन्त्री थे, श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के स्थान पर सूचना एवं प्रसारण मन्त्री बनाया गया क्योंकि श्रीमती सत्पथी को जून में उड़ीसा की मुख्य मन्त्री बना कर भेज दिया गया था। 4 फरवरी, 1973 को उन्होंने मन्त्रिपरिषद में पुनः उलट फेर करके तीन नये मन्त्री भर्ती किये, एक राज्य मन्त्री का ओहदा बढ़ा कर उसे कैबिनेट स्तर का मन्त्री बनाया, तथा दो राज्य मन्त्री व आठ उप मन्त्री भर्ती किये। 9 नवम्बर, 1973 व 11 जनवरी, 1974 को तथा अक्तूबर में भी मन्त्रिमण्डल में थोड़े परिवर्तन किये गए। दूसरे परिवर्तन में मन्त्रिपरिषद में तीन नये मन्त्री सम्मिलित किये गए। इस प्रकार आठ वर्ष से कम अवधि में संघीय मन्त्रिमण्डल में नौ बार बड़े व छोटे परिवर्तन हो चुके हैं। श्रीमती गांधी ने सात वर्ष में सात बार रेल मन्त्री बदले हैं। जिन व्यक्तियों ने उनके कार्यकाल में अब तक इस पद पर कार्य किया है, उनके नाम ये हैं—एस० के० पाटिल, सी० एम० पूनाचा, रामसुभग सिंह, गुलज़ारीलाल नन्दा, के० हनुमन्थैया, और टी० ए० पै। फरवरी 1973 के फेर-बदल में ललित नरायण मिश्रा रेल मन्त्री बनाए गये। इसी प्रकार, 1967 में औद्योगिक विकास विभाग के मन्त्री मनुभाई शाह थे। 1969 में यह विभाग फ़खरुद्दीन अली अहमद को सौंप दिया गया। अगले वर्ष दिनेश सिंह आ गये और उन्हें अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था कि यह विभाग मोइनल हक़ चौधरी को सौंप दिया गया। निर्माण एवं आवास मंत्रालय के साथ भी यही व्यवहार किया गया। 1967 में जगन्नाथराव इस विभाग के मन्त्री थे। उनके स्थान पर क्रमश: के० के० शाह और इन्द्रकुमार गुजराल आये तथा फरवरी 1973 के फेरबदल में यह विभाग भोला पासवान शास्त्री के हवाले कर दिया गया। पैट्रोलियम एवं रसायन मंत्रालय नया था, पर उसके भी छः वर्ष में पाँच मन्त्री बदले गए और एक बार तो वह दलबीर सिंह नामक उप-मंत्री के पास ही रहा। उन्हें भी नवम्बर 1974 की अदला-बदली में पलट दिया गया और उनके स्थान पर डी० के० बरूआ आये। बाद में इसे उनसे भी ले लिया गया। जुलाई 1969 में उन्होंने मोरारजी देसाई को वित्त मन्त्री के पद से हटा दिया क्योंकि वे हठी तथा अवज्ञाकारी थे। जब उन्होंने लोक सभा के मध्यावधि चुनावों के पश्चात् 18 मार्च, 1971 को नया मन्त्रिमण्डल बनाया तो पुरानी सरकार के 7 कैबिनेट स्तर के मंत्रियों को नहीं लिया गया। उनके नाम थे : बी० आर० भगत, गुलज़ारीलाल नन्दा, वी० के० आर० वी० राव, दिनेश सिंह, त्रिगुण सेन और के० रघुरामैय्या। यह एक अभूतपूर्व कृत्य था (नेहरू ने 1963 में अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन करते समय केन्द्र स्तर के छः मन्त्री अलग किये थे)।

ऐसे भी उदाहरण हैं, जब प्रधान मन्त्री ने कुछ ऐसे व्यक्तियों को संघीय मन्त्रिमण्डल

में शामिल किया जो अपने राज्यों की राजनीति में पिछड़ गये थे, पर उन्हें सरकार में बनाये रखने की आवश्यकता थी। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिये कह दिया जाता है कि अमुक व्यक्ति का दिल्ली में रहना राष्ट्र के लिए अधिक हितकर होगा। इस गिनती में उत्तर प्रदेश के गोविन्दवल्लभ पन्त और कमलापति त्रिपाठी तथा आन्ध्र प्रदेश के ब्रह्मानन्द रेड्डी के नाम आते हैं।

सामान्यत: विपक्षी दल इस बात की चिन्ता नहीं करते कि प्रधान मन्त्री किस व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में लेते हैं, पर कभी-कभी उन्हें ऐसा भी करना पड़ता है। उदाहरणतया, जून 1964 में जब तत्कालीन प्रधान मन्त्री ने संजीव रेड्डी को मन्त्रिमण्डल में शामिल किया तो लोक सभा में बड़ा हंगामा हुआ। इसी प्रकार जब जनवरी 1974 में श्रीमती गांधी ने के०डी० मालवीय को मन्त्रिमण्डल में लेकर कैबिनेट स्तर का मन्त्री बनाया, तब भी संसद में पर्याप्त शोरगुल हुआ। 10 वर्ष पूर्व उनके **सिराजुद्दीन एण्ड कम्पनी** वाले "घोटाले" (Scandal) में सम्मिलित होने के आरोप में उनके विरुद्ध हुई जाँच के बाद उन्हें नेहरू ने मन्त्रिमण्डल से अलग कर दिया था। जन संघ अध्यक्ष एल०के० अडवानी ने 11 जनवरी को कहा कि सामान्यत: प्रधान मन्त्री को अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का अधिकार होता है परन्तु इस बार श्रीमती गांधी को जनता एवं संसद के समक्ष यह स्पष्ट करना होगा कि उन्होंने "ससदीय प्रणाली के उन उच्चतम सिद्धान्तों" की अवहेलना कैसे की जिनके कारण दस वर्ष पूर्व उनके पिता को मजबूर होकर श्री मालवीय को मन्त्रिमण्डल से निकालना पड़ा था। दो दिन बाद चार प्रमुख विपक्षी दलों के सदस्यों, संगठन कांग्रेस के एस० एन० मिश्रा, जन संघ के अटल बिहारी वाजपेयी, स्वतंत्र दल के एल० एन० मिश्रा और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के बी० एन० मण्डल ने एक संयुक्त विज्ञप्ति द्वारा माँग की कि श्री मालवीय के **सिराजुद्दीन** वाले मामले सम्बन्धी जो प्रतिवेदन न्यायमूर्ति एस० आर० दास ने प्रेषित किया था उसे प्रकाशित किया जाये। उनका कहना था कि नेहरू ने दास-रिपोर्ट प्राप्त होने के तुरन्त बाद श्री मालवीय को मन्त्रिमण्डल से निकाल दिया था और अब उनका संघीय मन्त्रिमण्डल में पुन: मन्त्री नियुक्त किया जाना इस तथ्य का निवारण करता है कि यह सरकार सार्वजनिक न्यायनिष्ठा (Public integrity) का तथा नेहरू द्वारा बहुचर्चित संसदीय सरकार की उच्चतम परम्पराओं का कितना आदर करती है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि श्री मालवीय के चयन के विरोध का मूल कारण यह था कि वे एक वामपंथी के रूप में विख्यात थे। कुछ व्यक्ति उन्हें साम्यवादी दल का सदस्य बताते थे। किन्तु प्रधान मन्त्री अडिग रहीं और श्री मालवीय मन्त्रिमण्डल में बने रहे।

मन्त्रियों के बार-बार विभाग परिवर्तन से उनके निर्बाध कार्यान्वयन में बाधा पड़ती थी। कोई मन्त्री कितने भी चतुर एवं योग्य क्यों न हों, उन्हें नये विभाग की सम-

[2]श्री मालवीय की नियुक्ति के विरोध की 29 कांग्रेसी संसत्सदस्यों ने "कट्टरपन एवं प्रतिक्रियावादी" बता कर भर्त्सना की। उन्होंने अडवानी के कथन को "सारहीन" (frivolous) बताया। *The National Herald*, 13 जनवरी, 1974, पृष्ठ 4।

स्याएँ एवं कार्यविधि समझने के लिये कुछ महीने का समय तो चाहिए ही, और उनके इस योग्य होने तक उन्हें पलट दिया जाता था। ऐसी स्थिति में अपने विभाग पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर पाने की वजाय उन्हें अफसरों से दव कर रहना पड़ता था, और वास्तविक व्यवहार में, सरकार यदि प्रशासनिक अधिकारियों के लिये नहीं, तो प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा वन कर रह जाती थी। किन्तु प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल में कदाचित इसलिए वार-वार फेर-वदल करती थीं कि वे जनता एवं अपने दल में अपने सहयोगियों को यह जता देना चाहती थीं कि उन्हें किसी के दखल दिये विना अपने मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन का अधिकार न केवल है अपितु वे उसका उपयोग करना भी जानती हैं। 1973 में जब उन्होंने मन्त्रिमण्डल में फेर-वदल की, तब 10 नवम्बर के **हिन्दुस्तान टाइम्स** में एक व्यंग्य-चित्र छाप कर प्रधान मन्त्री को अपने मंत्रियों को मुँह से बजाने वाले बाजे बाँटते यह कहते हुए दिखाया गया कि "अच्छा भैया, आओ अब कुछ लोकप्रिय गीतों के सुर निकालें।" इस प्रकार ऐसा प्रतीत होने लगा कि नित नये मन्त्रिमण्डल बनाने में श्रीमती गांधी को आनन्द आता है।

साम्यवादी दल के अधिकृत पत्र **दि न्यू एज** में, जिसके सम्पादक राज्य सभा के सदस्य भूपेश गुप्ता थे, फरवरी 1973 के मन्त्रिमण्डलीय परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए यह विचार व्यक्त किया गया कि "मन्त्रिमण्डल के विस्तार एवं पुनर्गठन से सरकार को यह श्रेय नहीं मिल सकता कि वह शासक दल की विकास एवं उन्नति की घोषणाओं को कार्यरूप देने के लिये गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है।" समाचार-पत्र ने आगे कहा कि अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित वर्गों को पहले से अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने तथा सरकार में पहले से कम वयस के व्यक्ति सम्मिलित करने के बाद भी मन्त्रि-मण्डल में प्रायः फेर-वदल करते रहने से प्रधान मंत्री का तात्पर्य "अपने नये-पुराने सह-योगियों के कार्य का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने अथवा सरकार का काम सुचारु रूप से चलाने के लिये एक सुयोग्य मण्डली तैयार करने के प्रयत्नों के अतिरिक्त कुछ और ही है।"

प्रधान मन्त्री का विभाग आवंटन सम्बन्धी अधिकार (Prime Minister's Power to Allocate Portfolios)

प्रधान मन्त्री के मन्त्रिमण्डल बनाने के अधिकार का तीसरा आयाम उनका विभाग आवंटन सम्बन्धी अधिकार है। इस अधिकार का उपभोग प्रधान मन्त्री मुख्यतः अपने विवेकानुसार करते हैं। तदपि कभी-कभार कोई मन्त्री किसी विशिष्ट विभाग के मन्त्री बनाये जाने का हठ भी करते हैं। उदाहरणतया सरदार पटेल केवल गृह मन्त्रालय एवं देसी रियासतों के भारतीय संघ में सम्मिलित होने सम्बन्धी मन्त्रालय के ही मन्त्री बनना चाहते थे और नेहरू को उनकी माँग स्वीकार करनी पड़ी। तीसरे आम चुनाव के बाद टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा कि उन्हें यदि वित्त मन्त्रालय के अतिरिक्त अन्य विभाग दिया गया तो वे मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित नहीं होंगे। मनुभाई शाह ने अन्त-

र्राष्ट्रीय व्यापार राज्य मन्त्री के रूप सम्मिलित होने से पूर्व कैबिनेट स्तर का मन्त्री बनाये जाने का आग्रह किया। एस० के० पाटिल को जब नेहरू ने खाद्य मन्त्री के पद से हटा कर रेल मन्त्री बनाना चाहा तो उन्होंने भी आपत्ति की। चौथे आम चुनावों के बाद मोरारजी देसाई ने प्रधान मन्त्री पद के लिये प्रयत्न करने का निश्चय प्रकट किया किन्तु कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज ने एक समझौता-सूत्र प्रस्तुत किया कि श्रीमती गांधी प्रधान मंत्री बनें तथा मोरारजी देसाई उप-प्रधान मन्त्री बनें व अपनी पसन्द का कोई विभाग भी ले लें। देसाई ने यह सुझाव केवल इस शर्त पर स्वीकार किया कि उन्हें गृह मन्त्रालय दिया जाये। उन्होंने कहा कि यदि उप-प्रधान मन्त्रित्व का कोई अर्थ है तो उसके पास गृह विभाग होना चाहिए ताकि वह अन्य मन्त्रालयों एवं राज्य सरकारों पर नियन्त्रण रख सके। श्रीमती गांधी का कहना था कि यदि देसाई को गृह मन्त्री बना भी दिया जाये तब भी उन्हें यह अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस पर देसाई ने घोषित किया कि वे प्रधान मन्त्री पद के लिए प्रतियोगिता करेंगे। श्रीमती गाँधी ने उन्हें वित्त विभाग सौंप कर शान्त कर दिया। तदापि उनका यह विचार सुदृढ़ रहा कि उन्हें अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का स्वतन्त्र अधिकार है। जब श्रीमती गांधी ने अक्तूबर 1974 में अपने मन्त्रालय में परिवर्तन किये तो उन्हें जगजीवन राम को प्रतिरक्षा के स्थान पर कृषि मन्त्री बनाने में बड़ी कठिनाई आई।

प्रधान मन्त्री का कर्तव्य केवल मन्त्रिमण्डल बनाना एवं विभाग आवंटित करना ही नहीं होता वरन उनका कर्तव्य यह देखना भी होता है कि सभी मंत्री परस्पर निकट सहयोग पूर्वक कार्य करें तथा मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णय देश भर में प्रवर्तित किये जायें। मन्त्रिमंडलीय निर्णयों के प्रवर्तन की व्यवस्था वे मन्त्रिमण्डल सचिवालय के माध्यम से करते (या करती) हैं जोकि सीधे उनके नियन्त्रण व पर्यवेक्षण में होता है। कभी-कभार उन्हें मन्त्रियों को उनके प्रमाद के कारण डाँटना-फटकारना भी पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधान मन्त्री का यह अधिकार केवल नाममात्र का है, क्योंकि नेहरू, शास्त्री या श्रीमती गांधी, कोई भी कभी अपने मन्त्रियों के कार्य परिचालन का ढर्रा नहीं बदल सके।

प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति एवं सरकार के बीच एक कड़ी का काम देता है
(Prime Minister serves as a Link between the President and Government)

संविधान की धारा 74 के अनुसार प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष होता है, अत: उसे परिषद के गठन एवं पुनर्गठन का तथा उसके सदस्यों को विभाग आवंटित करने का अधिकार होता है। संविधान की धारा 78 में प्रधान मन्त्री के कर्तव्य बताये गये हैं, तथा उन्हें पूरा करने में वह राष्ट्रपति एवं भारत सरकार के बीच एक कड़ी का काम देता है। इस धारा में प्रधान मन्त्री के ये कर्तव्य बताये गये हैं : (क) मन्त्रिपरिषद के सभी निर्णय राष्ट्रपति तक पहुँचाना; (ख) संघीय सरकार के प्रशासन एवं विधायक

प्रस्तावों इत्यादि के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को वांछित सूचना देना; (ग) जब किसी प्रश्न पर एक मन्त्री ने निर्णय किया हो और उस पर परिषद में विचार न किया गया हो पर राष्ट्रपति ऐसा चाहें तो राष्ट्रपति के निर्देश पर उसे परिषद के विचारार्थ प्रस्तुत करना।

वैसे तो अब तक सभी राष्ट्रपतियों ने नाममात्र के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया है तथा प्रधान मन्त्री के परामर्श पर चलते रहे हैं, पर ऐसे भी अवसर आये हैं जब किसी प्रश्न पर राष्ट्रपति का प्रधान मन्त्री से तीव्र मतभेद था और उन्होंने अपना मतभेद व्यक्त किया। डा० राजेन्द्रप्रसाद, स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में स्वयं कांग्रेस दल के प्रमुख नेताओं में से थे और उनका विश्वास था कि उन्हें राष्ट्रपति पद अपने अधिकार से मिला था, प्रधान मन्त्री की अनुकम्पा से नहीं। जब नेहरू ने संसद द्वारा हिन्दू कोड बिल (Hindu Code Bill) पारित कराने का प्रयत्न किया तो राजेन्द्रप्रसाद ने उन्हें चेतावनी दी कि अभी हिन्दू सम्प्रदाय ऐसा क्रान्तिकारी कानून स्वीकार करने की स्थिति में नहीं है (विधेयक का संसद में व संसद के बाहर कड़ा विरोध किया गया)। 1958-59 में जब सरकार भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमा निश्चित करने, सहकारी कृषि की प्रथा चलाने, तथा खाद्यान्न का व्यापार अपने हाथों में लेने की योजना बना रही थी, तब भी डा० राजेन्द्रप्रसाद ने प्रधान मन्त्री को सचेत किया कि ऐसी नीतियों से सरकार एवं देश के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। इसी प्रकार जब जनवरी 1960 में कांग्रेस के पैंसठवें (बंगलौर) अधिवेशन की पूर्व संध्या को नेहरू मन्त्रिमंडल के एक भूतपूर्व वित्त मंत्री सी०डी० देशमुख ने सरकार से आग्रह किया कि कतिपय भूतपूर्व एवं वर्तमान मन्त्रियों एवं उच्च सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच के लिए एक स्वतन्त्र न्यायाधिकरण (Tribunal) स्थापित किया जाये तो राजेन्द्रप्रसाद ने नेहरू को पत्र लिख कर देशमुख के सुझावों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने तथा उच्च स्तर पर भ्रष्टाचार को समाप्त करने के तुरन्त ठोस उपाय करने का आग्रह किया।

सम्भवतः केन्द्र तथा राज्यों में कांग्रेसी सरकारों का कार्य-निर्वाह से निराश होकर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने 28 नवम्बर, 1960 को इण्डियन लॉ इंसटीट्यूट (Indian Law Institute) के भवन का उद्घाटन करते हुए कहा कि "संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया हो कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य होंगे।" उन्होंने कहा कि वर्तमान संवैधानिक प्रावधानों का अर्थ लगाते समय संवैधानिक परम्पराओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। उनके इस कथन से देश के राजनीतिज्ञों तथा बुद्धिजीवियों में सनसनी फैल गई।

डा० राधाकृष्णन ने भी नेहरू और श्रीमती गांधी को उनकी सरकारों द्वारा अपनायी गयी आन्तरिक नीतियों के प्रति अप्रसन्नता प्रकट की। वी० वी० गिरि ने भी, जो श्रीमती गांधी की ही कृपा से राष्ट्रपति बने थे, उन्हें पत्र लिख कर सरकार

द्वारा रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल के दमन में अपनाये गए तरीकों, उनके सहयोगी मन्त्रियों की कार्य प्रणाली, तथा देश के नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से पतन के प्रति रोष प्रकट किया। जब भी सरकार पर कोई गम्भीर राजनीतिक व संवैधानिक संकट आता है तो प्रधान मन्त्री व राष्ट्रपति परस्पर दृष्टिकोण समझने के लिए परामर्श करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रधान मन्त्री की भूमिका (Prime Minister's Role in International Affairs)

प्रधान मन्त्री के पास विदेश मन्त्रालय हो या न हो, वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत के हितों के प्रमुख प्रतिपादक होते (होती) हैं। वे महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में व्यक्तिगत रूप से भाग लेते हैं, राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलनों में भाग लेते हैं, विश्व शांति एवं सुरक्षा के प्रश्नों पर अन्य देशों की सरकारों के अध्यक्षों से पत्र-व्यवहार करते हैं, पारस्परिक हितों सम्बन्धी मामलों पर विचार विनिमय के लिए अन्य देशों की यात्रा करते हैं, अन्य देशों व राज्यों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों इत्यादि के अध्यक्षों का स्वागत करते हैं, नई सरकारों व प्रशासनों के उद्घाटन तथा राष्ट्रीय दिवसों पर सद्भावना एवं बधाई के सन्देश भेजते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर उल्लेखनीय घटनाएँ घटित होने पर भारत की नीति सम्बन्धी वक्तव्य देते हैं, तथा अवसर पड़ने पर मित्र देशों के साथ गुप्त एवं महत्त्वपूर्ण मंत्रणा करने के लिए निजी दूत भेजते हैं। भारत के प्रधान मंत्री द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर निभायी गयी भूमिकाओं में से कुछ इस प्रकार हैं:

जून 1950 में जब उत्तर एवं दक्षिणी कोरिया में युद्ध आरम्भ हुआ तो सोवियत संघ एवं साम्यवादी चीन उत्तर कोरिया की सहायता करने लगे तथा संयुक्त राज्य अमरीका दक्षिणी कोरिया की सहायता करने लगा। उस समय पंडित नेहरू ने *स्तालिन एवं अमरीकी विदेश सचिव डीन अकेसन* (Dean Acheson) *से पत्र-व्यवहार* करके अपने विवाद शान्तिपूर्वक सम्पर्क द्वारा निपटाने का आग्रह किया। 6 फरवरी, 1952 को उन्होंने संसद में ब्रिटेन के राजा जार्ज षष्टम के निधन की सूचना दी तथा उन्हें मार्मिक श्रद्धाञ्जली अर्पित की। रानी एलिज़ाबेथ द्वितीय के राज्यारोहण के अवसर पर उन्होंने सद्भावना का संदेश भेजा। अगस्त 1954 में जब दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन (SEATO) स्थापित की गई, तथा मार्च 1956 में जब बगदाद पैक्ट (Baghdad Pact) नामक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये गये तो प्रधान मन्त्री नेहरू ने प्रादेशिक गठबन्धनों की पद्धति को संयुक्त राष्ट्र संघ के उन्मूलन के प्रयास बताकर कटु आलोचना की। जब भारत सरकार ने मिश्र में आँग्ल-फ्रांसीसी हस्तक्षेप की तीव्र आलोचना की पर हंगरी में रूस के हस्तक्षेप के प्रति चुप्पी साधे रखी तो उसके इस रवैये की **हिन्दुस्तान टाइम्स** (नई दिल्ली), **टाइम्स ऑफ इण्डिया** (बम्बई), तथा **स्टेट्समैन** (नई दिल्ली) ने एवं प्रजा सोशलिस्ट नेता जयप्रकाश नारायण इत्यादि अनेक

विपक्षी दलों के नेताओं ने तीव्र आलोचना की। यह आरोप लगाया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत "दोहरी नीति" का अनुसरण कर रहा है। 19 नवम्बर, 1956 को नेहरू ने एक वक्तव्य द्वारा हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए हंगरी एवं मिश्र दोनों ही देशों में "कमज़ोर राष्ट्रों के प्रति हथियारों के नृशंस प्रयोग" की आलोचना की। उन्होंने दोनों देशों में से विदेशी सेनाएँ वापस बुलाने की माँग की और कहा कि मिश्र में आंग्ल-फ्रांसीसी हस्तक्षेप तथा हंगरी में सोवियत संघ द्वारा की गई कार्रवाई से जनता के मन में "धर्म संकट" (Crisis of Conscience) उत्पन्न हो गया है।

6 मार्च, 1957 को प्रधान मन्त्री नेहरू ने एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने रानी ऐलिज़ाबेथ द्वितीय से कांग्रेस दल के पत्र *The Economic Review* में छपे एक लेख के प्रति क्षमायाचना की, जिसमें उनकी पुर्तगाल यात्रा की आलोचना की गई थी। नेहरू ने उस लेख को "पूर्णतः असंतुलित एवं अप्रिय" (wholly intemperate and in very bad taste) बताते हुए कहा कि वह उसके सम्पादक श्रीमन नारायण की अनुपस्थिति में तथा उन्हें बताये बिना प्रकाशित किया गया है और यह भी कहा है कि जब उनका ध्यान उस लेख की ओर आकर्षित किया गया तो उन्हें बड़ी "मानसिक पीड़ा" हुई। 28 नवम्बर, 1957 को एक वक्तव्य द्वारा उन्होंने अमरीका एवं सोवियत संघ से "सभी अणु विस्फोट बन्द करने" तथा "वास्तविक निरस्त्रीकरण" करने की अपील की। उन्होंने कहा कि "संकट को समाप्त करना तथा मानवता को आसन्न संकट से बचाना अमरीका व रूस के हाथों में है।" 5 मार्च, 1959 को जब अमरीका व पाकिस्तान के बीच एक प्रतिरक्षा सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये तो नेहरू ने भारत की ओर से "गहरी चिन्ता" व्यक्त की।

तिब्बत में चीन-विरोधी भावना फैली और 1959 के आरम्भ में वहाँ एक खुला विद्रोह हो गया। पीकिंग के अधिकारियों ने तिब्बत सरकार को भंग कर के पंछेण लामा को "तिब्बती स्वशासन समिति" (Tibetan Autonomy Committee), का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। दलाई लामा ने भाग कर भारत में शरण ली। 30 मार्च को नेहरू ने संसद में कहा कि भारत, तिब्बत की जनता को "स्वतन्त्र रह कर उन्नति करते" देखना चाहता है तथा उस के साथ साथ "चीन जैसे महान देश" से भी मैत्री-सम्बन्ध रखना चाहता है। उन्होंने "वर्तमान कठिन परिस्थिति में पर्याप्त संयम रखने" का परामर्श दिया।

अक्तूबर 1961 में नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशन में भाग लिया और संयुक्त राष्ट्र सभा से उस प्रस्ताव को "शीघ्र" पारित करने का आग्रह किया जो स्वयं उन्होंने तथा राष्ट्रपति नासर, एनक्रूमा, सुकर्ण व टीटो ने अमरीकी एवं रूसी सरकारों के अध्यक्षों की संयुक्त बैठक के लिए प्रस्तुत किया था। प्रधान मन्त्री शास्त्री को अपने कुल 18 मास के कार्यकाल में पाकिस्तान से युद्ध का सामना करना पड़ा और उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई भारत व पाकिस्तान की समस्याओं के समाधान के

लिए राष्ट्रपति अयूव से वार्ता के लिए उन्होंने ताशकंद की यात्रा की। अभी हस्ताक्षरों की मसि सूखी भी न थी कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा और अपनी मातृभूमि से हजारों मील दूर उनका देहावसान हो गया।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी भी, यद्यपि वे विदेश मन्त्री नहीं हैं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वड़ी कार्यशील रही हैं। उन्हें मार्च 1971 में सब से अधिक गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा, जब पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच गृहयुद्ध आरम्भ हो गया और हजारों पूर्वी पाकिस्तानी शरणार्थी बन कर भारत आ गये।

भारत की दुर्बल अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक भार पड़ने के अतिरिक्त, देश के पूर्वी राज्यों में कानून एवं व्यवस्था की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। सितम्बर 1971 में श्रीमती गांधी ने पाकिस्तान सम्बन्धी समस्या पर रूसी नेताओं से विचार-विमर्श करने के लिए सोवियत संघ की यात्रा की। अक्तूबर व नवम्बर में वे बेल्जियम, आस्ट्रिया पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका गईं ताकि वहाँ की सरकारों से बातचीत करके तत्कालीन पाकिस्तानी राष्ट्रपति याहिया खान पर राजनीतिक समस्या का राजनीतिक समाधान करने के लिए दवाव डलवाया जाये, किन्तु उनके प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए और अन्ततः दिसम्बर 1971 में भारत व पाकिस्तान में खुला युद्ध छिड़ गया। यद्यपि युद्ध केवल 14 दिन चला पर भारत की अर्थव्यवस्था पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और प्रधान मन्त्री के सम्मुख युद्ध में हुई हानि की पूर्ति की विकट समस्या आ खड़ी हुई। मार्च 1972 के तीसरे सप्ताह में उन्होंने ढाका जा कर बंगलादेश के प्रधान मन्त्री शेख मुजीबुर्रहमान के साथ एक संयुक्त घोषणा तथा मित्रता एवं सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। उसी वर्ष जून में उन्होंने पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो से बातचीत के बाद एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जो "शिमला समझौता" (Simla Agreement) के नाम से विख्यात हुई।

नवम्बर 1973 में प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी एवं सोवियत साम्यवादी दल के अध्यक्ष लियोनिड ब्रेज़नेव के बीच नई दिल्ली में पांच दिन तक वार्ता हुई, तथा उन्होंने भारत व रूस में परस्पर आर्थिक सहायता, औद्योगिक सहयोग, तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये। 1974-75 में बड़ी संख्या में विदेशी उच्च पदाधिकारी, राज्याध्यक्ष, प्रशासनाध्यक्ष तथा विदेशी मन्त्री भारत आये तथा प्रधान मन्त्री ने उनके साथ पारस्परिक हितों एवं अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता के विषयों पर वार्ता की। इस प्रकार जब प्रधान मन्त्री के पास विदेश विभाग न भी हो तो भी उन्हें विदेशी मामलों की चिन्ता रहती ही है। विदेशों में भी विदेश मन्त्री की अपेक्षा उन्हें ही अधिक आदर एवं सम्मान दिया जाता है।

संसद के नेता के रूप में प्रधान मन्त्री की भूमिका (Role of Prime Minister as Leader of Parliament)

अब तक जो व्यक्ति भारत के प्रधान मन्त्री बने, उन्हें इस पद पर आसीन कराने

का श्रेय इस तथ्य को है कि वे कांग्रेस संसदीय दल के नेता थे, जिसे अब तक हुए सभी निर्वाचनों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। इसी हैसियत से वे संसद के भी नेता बने।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संकट के दिनों में सदस्य प्रधान मन्त्री से समाचार, नेतृत्व एवं प्रोत्साहन की आशा करते हैं तथा वे समय-समय पर वक्तव्य देते रहते हैं। उदाहरणतया, जब *1951* में देश *दुर्भिक्ष की-सी परिस्थिति में था, तब 1* मई को नेहरू ने कहा कि "देश दुर्भिक्ष के कगार पर खड़ा है, यह देश के सम्मुख अत्यन्त भीषण समस्या है।" प्रथम आम चुनावों के पश्चात् उन्होंने कहा था कि कुल मिला कर जनता ने अपने मताधिकार के उपयोग में विवेक एवं बुद्धि का परिचय दिया है तथा उन्होंने उल्लेखनीय अनुशासन से कार्य किया है। उन्होंने आगे कहा कि "वयस्क मताधिकारी (adult suffrage) के बारे में मेरे मन में जो शंकाएँ थीं, उनका पूर्ण समाधान हो गया है, और इन चुनावों द्वारा वयस्क मताधिकार तथा अपनी जनता में हमारे विश्वास का औचित्य पूर्णतः सिद्ध हो गया है।" वे बहुधा भारतीय संघ के भिन्न-भिन्न राज्यों के विषय में वक्तव्य दे कर उनसे परस्पर मतभेदों को वार्ता एवं सद्भावना द्वारा सुलझाने का आग्रह किया करते थे। जब सरकार ने राज्य पुनर्गठन आयोग स्थापित किया तो नेहरू ने संसद में उसका उद्देश्य स्पष्ट किया।

दिसम्बर *1961* में जब भारतीय सेना पुर्तगाली उपनिवेशों पर अधिकार करने के लिए उनके निकट पहुँची तो अमरीका के राष्ट्रपति जोन एफ० कैनेडी ने नेहरू को एक समुद्री तार भेज कर परामर्श दिया कि वे एक बार फिर पुर्तगाली प्रधान मन्त्री सालाज़ार (Salazar) से सम्पर्क करके विवाद को बिना बल प्रयोग सुलझाने का प्रयत्न करें। नेहरू के मन में क्रोध एवं विषाद दोनों प्रकार की भावनाएँ व्याप्त थीं, अतः उन्होंने सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया। उन्होंने अपनी कार्रवाई का औचित्य सिद्ध करने के लिये संसद में वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा कि मैं स्वयं नहीं चाहता था कि बल-प्रयोग किया जाये पर "घटनाचक्र" ने उन्हें ऐसा करने के लिए "मजबूर" कर दिया था। 20 अक्तूबर, 1962 को उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश एवं लद्दाख में चीनी हमले के पश्चात नेहरू ने कहा कि एक शक्तिशाली किन्तु सिद्धान्त-हीन शत्रु के आक्रमण से भारत को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, वह "हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की सबसे बड़ी कठिनाई है।" लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गांधी भी समय-समय पर संसद में नीति सम्बन्धी वक्तव्य देते रहे हैं। उदाहरणतया, जब *1965* में भाषा के प्रश्न पर दक्षिण के राज्यों में लगभग विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, शास्त्री ने संसद में नेहरू का आश्वासन दोहराते हुए कहा कि अंग्रेज़ी का अस्तित्व एक वैकल्पिक भाषा के रूप में तब तक बना रहेगा जब तक लोग इसे चाहेंगे तथा उसका निर्णय हिन्दी-भाषी जनता द्वारा नहीं बल्कि अहिन्दी-भाषी जनता द्वारा किया जायेगा। इससे, कम से कम उस समय के लिए तूफान शान्त हो ही गया। 1971 में जब बंगलादेश के प्रश्न पर देश पाकिस्तान

लिए राष्ट्रपति अयूब से वार्ता के लिए उन्होंने ताशकंद की यात्रा की। अभी हस्ताक्षरों की मसि सूखी भी न थी कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा और अपनी मातृभूमि से हजारों मील दूर उनका देहावसान हो गया।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी भी, यद्यपि वे विदेश मन्त्री नहीं हैं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में बड़ी कार्यशील रही हैं। उन्हें मार्च 1971 में सब से अधिक गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा, जब पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच गृहयुद्ध आरम्भ हो गया और हजारों पूर्वी पाकिस्तानी शरणार्थी बन कर भारत आ गये।

भारत की दुर्बल अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक भार पड़ने के अतिरिक्त, देश के पूर्वी राज्यों में कानून एवं व्यवस्था की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। सितम्बर 1971 में श्रीमती गांधी ने पाकिस्तान सम्बन्धी समस्या पर रूसी नेताओं से विचार-विमर्श करने के लिए सोवियत संघ की यात्रा की। अक्तूबर व नवम्बर में वे बेल्जियम, आस्ट्रिया पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका गईं ताकि वहाँ की सरकारों से बातचीत करके तत्कालीन पाकिस्तानी राष्ट्रपति याहिया खान पर राजनीतिक समस्या का राजनीतिक समाधान करने के लिए दबाव डलवाया जाये, किन्तु उनके प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए और अन्ततः दिसम्बर 1971 में भारत व पाकिस्तान में खुला युद्ध छिड़ गया। यद्यपि युद्ध केवल 14 दिन चला पर भारत की अर्थव्यवस्था पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और प्रधान मन्त्री के सम्मुख युद्ध में हुई हानि की पूर्ति की विकट समस्या आ खड़ी हुई। मार्च 1972 के तीसरे सप्ताह में उन्होंने ढाका जा कर बंगलादेश के प्रधान मन्त्री शेख मुजीबुर्रहमान के साथ एक संयुक्त घोषणा तथा मित्रता एवं सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। उसी वर्ष जून में उन्होंने पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो से बातचीत के बाद एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जो "शिमला समझौता" (Simla Agreement) के नाम से विख्यात हुई।

नवम्बर 1973 में प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी एवं सोवियत साम्यवादी दल के अध्यक्ष लियोनिड ब्रेजनेव के बीच नई दिल्ली में पांच दिन तक वार्ता हुई, तथा उन्होंने भारत व रूस में परस्पर आर्थिक सहायता, औद्योगिक सहयोग, तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये। 1974-75 में बड़ी संख्या में विदेशी उच्च पदाधिकारी, राज्याध्यक्ष, प्रशासनाध्यक्ष तथा विदेशी मन्त्री भारत आये तथा प्रधान मन्त्री ने उनके साथ पारस्परिक हितों एवं अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता के विषयों पर वार्ता की। इस प्रकार जब प्रधान मन्त्री के पास विदेश विभाग न भी हो तो भी उन्हें विदेशी मामलों की चिन्ता रहती ही है। विदेशों में भी विदेश मन्त्री की अपेक्षा उन्हें ही अधिक आदर एवं सम्मान दिया जाता है।

संसद के नेता के रूप में प्रधान मन्त्री की भूमिका (Role of Prime Minister as Leader of Parliament)

अब तक जो व्यक्ति भारत के प्रधान मन्त्री बने, उन्हें इस पद पर आसीन कराने

का श्रेय इस तथ्य को है कि वे कांग्रेस संसदीय दल के नेता थे, जिसे अब तक हुए सभी निर्वाचनों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। इसी हैसियत से वे संसद के भी नेता बने।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संकट के दिनों में सदस्य प्रधान मन्त्री से समाचार, नेतृत्व एवं प्रोत्साहन की आशा करते हैं तथा वे समय-समय पर वक्तव्य देते रहते हैं। उदाहरणतया, जब 1951 में देश दुर्भिक्ष की-सी परिस्थिति में था, तब 1 मई को नेहरू ने कहा कि "देश दुर्भिक्ष के कगार पर खड़ा है, यह देश के सम्मुख अत्यन्त भीषण समस्या है।" प्रथम आम चुनावों के पश्चात् उन्होंने कहा था कि कुल मिला कर जनता ने अपने मताधिकार के उपयोग में विवेक एवं बुद्धि का परिचय दिया है तथा उन्होंने उल्लेखनीय अनुशासन से कार्य किया है। उन्होंने आगे कहा कि "वयस्क मताधिकारी (adult suffrage) के बारे में मेरे मन में जो शंकाएँ थीं, उनका पूर्ण समाधान हो गया है, और इन चुनावों द्वारा वयस्क मताधिकार तथा अपनी जनता में हमारे विश्वास का औचित्य पूर्णत: सिद्ध हो गया है।" वे बहुधा भारतीय संघ के भिन्न-भिन्न राज्यों के विषय में वक्तव्य दे कर उनसे परस्पर मतभेदों को वार्ता एवं सद्भावना द्वारा सुलझाने का आग्रह किया करते थे। जब सरकार ने राज्य पुनर्गठन आयोग स्थापित किया तो नेहरू ने संसद में उसका उद्देश्य स्पष्ट किया।

दिसम्बर 1961 में जब भारतीय सेना पुर्तगाली उपनिवेशों पर अधिकार करने के लिए उनके निकट पहुँची तो अमरीका के राष्ट्रपति जोन एफ० कैनेडी ने नेहरू को एक समुद्री तार भेज कर परामर्श दिया कि वे एक बार फिर पुर्तगाली प्रधान मन्त्री सालाज़ार (Salazar) से सम्पर्क करके विवाद को बिना बल प्रयोग सुलझाने का प्रयत्न करें। नेहरू के मन में क्रोध एवं विषाद दोनों प्रकार की भावनाएँ व्याप्त थीं, अत: उन्होंने सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया। उन्होंने अपनी कार्रवाई का औचित्य सिद्ध करने के लिये संसद में वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा कि मैं स्वयं नहीं चाहता था कि बल-प्रयोग किया जाये पर "घटनाचक्र" ने उन्हें ऐसा करने के लिए "मजबूर" कर दिया था। 20 अक्तूबर, 1962 को उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश एवं लद्दाख में चीनी हमले के पश्चात नेहरू ने कहा कि एक शक्तिशाली किन्तु सिद्धान्त-हीन शत्रु के आक्रमण से भारत को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, वह "हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की सबसे बड़ी कठिनाई है।" लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गांधी भी समय-समय पर संसद में नीति सम्बन्धी वक्तव्य देते रहे हैं। उदाहरणतया, जब 1965 में भाषा के प्रश्न पर दक्षिण के राज्यों में लगभग विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, शास्त्री ने संसद में नेहरू का आश्वासन दोहराते हुए कहा कि अंग्रेज़ी का अस्तित्व एक वैकल्पिक भाषा के रूप में तब तक बना रहेगा जब तक लोग इसे चाहेंगे तथा उसका निर्णय हिन्दी-भाषी जनता द्वारा नहीं बल्कि अहिन्दी-भाषी जनता द्वारा किया जायेगा। इससे, कम से कम उस समय के लिए तूफान शान्त हो ही गया। 1971 में जब बंगलादेश के प्रश्न पर देश पाकिस्तान

के साथ गम्भीर रूप से उलझ गया और देश भर में ज़ोरदार माँग की जाने लगी कि बंगलादेश को राजनीतिक मान्यता दी जाये, तब श्रीमती गांधी ने संयत रहने का परामर्श दिया। उन्होंने मान्यता केवल उस समय दी, जब उनके अपने विचार में ठीक समय आ पहुँचा और तभी उन्होंने संसद में तत्सम्बन्धी वक्तव्य भी दिया।

कभी-कभी संसत्सदस्य उद्दंडतापूर्वक व्यवहार करते हैं। इसका कारण यह होता है कि या तो वे सरकार की नीतियों से असन्तुष्ट होते हैं, या वे किसी एक मन्त्री के कार्य-निर्वाह से असन्तुष्ट होते हैं या उन्हें किसी सार्वजनिक महत्व के प्रश्न पर विचार करने व मत प्रकट करने के लिये पर्याप्त समय नहीं दिया गया। ऐसे अवसर पर प्रधान मन्त्री के हस्तक्षेप से स्थिति शान्त हो जाती है तथा सरकार के कृत्यों अथवा भूल चूक का जो ब्यौरा वे देते (देती) हैं, उससे विपक्षी सदस्य प्राय: शान्त हो जाते हैं। 1974 के शरद अधिवेशन में जब सभी विपक्षी एवं कतिपय कांग्रेसी संसत्सदस्यों ने ललित नारायण मिश्र के विरुद्ध भ्रष्टाचार का आरोप लगाया कि उन्होंने पांडिचेरी की एक फर्म को अवैध रूप से एक लाइसेंस दिया है और जाँच की माँग की तो वे प्रधान मन्त्री द्वारा जाँच कराने का आश्वासन दिये जाने के बाद ही शान्त हुए। शीत-कालीन अधिवेशन में जब जाँच का प्रतिवेदन स्पीकर को प्रेषित किया गया और उन दलों के नेताओं ने उसे देखने का बार-बार आग्रह किया तब भी वे प्रधान मन्त्री के हस्तक्षेप से ही शान्त हुए।

समय-समय पर प्रधान मन्त्री आन्तरिक नीतियों सम्बन्धी मतभेद दूर करने के लिए विपक्षी दलों के नेताओं से वार्ता करते हैं। जब देश के सम्मुख कोई अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित हो, वे उन में से किसी एक को विश्वस्त बना लेते (लेती) हैं। अध्यक्ष के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री भी देखते हैं कि संसद की कार्रवाई गरिमा एवं अनुशासनपूर्वक हो, तथा जब कोई गड़बड़ हो तो वे उद्दंडता करने वाले संसद-सदस्य या सदस्यों को फटकार भी देते हैं। उदाहरणार्थ, 5 सितम्बर, 1974 को कुछ विपक्षी सदस्यों ने 15 मिनट तक इशाक सम्भाली का घेराव किया, जो अध्यक्ष जी० एस० ढिल्लों की अनुपस्थिति में लोक सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। श्रीमती गाँधी ने इस घटना को "अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण" बताया और कहा कि सरकार एवं विपक्षी दलों के बीच कुछ भी मतभेद हों, ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे अध्यक्ष-पद की गरिमा, प्रतिष्ठा एवं अधिकार का अनादर हो।

1974 में संसद की कार्रवाई में बड़ा कोलाहल होने लगा, और अपने मन्त्रियों को उत्पीड़न एवं कठिनाई की स्थिति से बचाने के लिए श्रीमती गांधी ने उन्हें 28 अक्तूबर को आदेश दिया कि वे संसद में जो भी वक्तव्य देना चाहें, उसकी अग्रिम प्रति तथा प्रश्नों के उत्तरों के लिये तैयार की गई टिप्पणियाँ भी उन्हें भेजा करें। इस रहस्य का उद्घाटन संयुक्त समाजवादी नेता मधु लिमये ने किया, पर प्रधान मन्त्री ने उसे असत्य बताया।

संसद के बाहर अपने दल के नेता के रूप में प्रधान मंत्री की भूमिका (Prime Minister's Role as Leader of his Party outside Parliament)

प्रधान मन्त्री द्वारा इतने विशाल अधिकारों का उपयोग मुख्यतः संसद के भीतर व बाहर उसके दल की शक्ति पर तथा दल में उसकी अपनी हैसियत पर निर्भर करता है। वस्तुतः प्रधान मन्त्री की गद्दी के लिए चुना जाना भी इस बात पर निर्भर करता है कि दल में उस व्यक्ति का क्या स्थान एवं प्रभाव है। सत्ता हस्तांतरण की पूर्व-संध्या को अन्तिम वाइसराय लार्ड माउंटबेटन ने नेहरू को एक कामचलाऊ सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया क्योंकि कांग्रेस दल में उनकी लोकप्रियता, कम वयस स्वातंत्र्य संघर्ष में उनके योगदान, उनके वंश तथा उनकी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की सूझ-बूझ के कारण वे राष्ट्र भर एवं राष्ट्रपिता (गांधी) की निर्विवाद पसन्द प्रतीत होते थे। एक बार प्रधान मन्त्री बनने के पश्चात् उन्हें उस पद पर बने रहने की लालसा होने लगी। कांग्रेस दल के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष होने लगा और नेहरू अपने प्रधान मन्त्रित्व द्वारा अपने विरोधियों को कुचलने के प्रयत्न करने लगे।

आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस दल का अध्यक्ष चुने जाने के तीन मास के भीतर त्याग-पत्र दे दिया क्योंकि महत्त्वपूर्ण सरकारी नीति सम्बन्धी निर्णयों के समय नेहरू उनसे परामर्श नहीं करते थे और न ही उन्हें कोई सूचना देते थे। नेहरू का यह दृष्टिकोण था कि सरकार द्वारा तुरन्त कार्रवाई की आवश्यकता तथा कभी-कभी गोपनीयता की आवश्यकता के कारण कांग्रेस अध्यक्ष से परामर्श करना सम्भव नहीं होता, तथा कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा प्रशस्त बृहत्तर मार्ग निर्देश के अनुसार, स्वतन्त्रतापूर्वक तथा दल के हस्तक्षेप के बिना कार्य करना, सरकार का अधिकार है।

किन्तु कृपलानी के पद-त्याग से ही नेहरू का मार्ग साफ नहीं हो गया। गृह मन्त्री के रूप में सरदार पटेल समान अधिकार की माँग करने लगे। नेहरू ने कहा कि प्रधान मन्त्री के रूप में वे प्रत्येक मन्त्रालय के साथ 'एक समन्वयकर्त्ता तथा पर्यवेक्षक" (a co-ordinator and a kind of supervisor) के समान व्यवहार कर सकते हैं। इसका पटेल ने यह उत्तर दिया कि ऐसी स्थिति अत्यन्त अप्रजातन्त्रीय एवं सरकार की मंत्रिमण्डलीय पद्धति के विपरीत होगी। उन्होंने कहा कि प्रधान मन्त्री का स्थान अपने "बराबर वालों में प्रथम" अवश्य है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें अपने सह-कर्मियों की अपेक्षा अधिक अधिकार हैं। सुना गया था कि नेहरू-पटेल विवाद गम्भीर होता गया और परस्पर तय पाया कि इसका निर्णय महात्मा गांधी की मध्यस्थता द्वारा 31 जनवरी, 1948 को किया जायेगा। किन्तु उसकी पूर्व-संध्या को गांधी जी की हत्या कर दी गई और वह बैठक न हो सकी। 15 दिसम्बर, 1950 को पटेल का निधन हो गया। तब कांग्रेस में कोई भी नेहरू के प्राधिकार को चुनौती देने वाला या उस पर अंकुश रखने वाला शेष नहीं रह गया। पुरुषोत्तमदास टंडन ने, जोकि नेहरू की इच्छा के विपरीत कांग्रेस के अध्यक्ष बन गए थे, दलीय एवं सरकारी मामलों में अपना स्थान बनाने का प्रयत्न किया पर उन्हें शीघ्र ही नेहरू ने उखाड़ फेंका और

उन्हें कांग्रेस की अध्यक्षता भी त्यागनी पड़ी। सितम्बर, 1951 में नेहरू ने कांग्रेस की अध्यक्षता भी स्वयं संभाल ली। मध्य प्रदेश के एक वरिष्ठ कांग्रेसी नेता, डी० पी० मिश्रा ने टंडन की अपदस्थता की आलोचना करते हुए उसे "भारत में प्रजातन्त्र की हत्या" (Slaughter of democracy in India) बताया एवं आशंका व्यक्त की कि नेहरू भारत के तानाशाह (dictator) बनने जा रहे हैं।

1950 वाले दशक में नेहरू ने कांग्रेस दल के कुलपिता के समान कार्य किया तथा जो कांग्रेसी "अनुशासनहीनता, घड़ेबन्दी तथा धर्मान्धता फैलाते थे और कांग्रेस के भीतर से कांग्रेसी विचारधारा को क्षति पहुँचाते थे," उनकी खूब खबर ली। पर कुछ समय बाद उन्होंने अनुभव किया कि वे दोनों पदों के उत्तर-दायित्व पूरे नहीं कर सकेंगे, अतः उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता का परित्याग कर दिया। किन्तु उन्होंने उस पद पर यू० एन० ढेबर को स्थापित कर दिया जिनका दल में कुछ भी महत्त्व नहीं था। उनका ख्याल था कि अब दल के भीतर से कोई भी उनके प्रधान मन्त्रित्व के प्राधिकार को चुनौती न दे सके। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (AICC), कांग्रेस कार्य समिति (CWC), केन्द्रीय संसदीय बोर्ड (Central Parliamentary Board) तथा केन्द्रीय निर्वाचन समिति, सभी में नेहरू का बोलबाला था, और इन निकायों के निर्णय वास्तव में नेहरू के निर्णय होते थे। नेहरू के शासनकाल के अंतिम वर्षों में और विशेषतः अक्तूबर 1962 में चीन द्वारा भारत को हराये जाने के पश्चात् मोरारजी देसाई, जगजीवनराम, चन्द्रभानु गुप्त, एस० के० पाटिल इत्यादि दलीय संग-ठन पर नेहरू के अधिकार को चुनौती देने लगे थे। नेहरू को आशंका होने लगी कि ये व्यक्ति उनका स्थान लेने का प्रयत्न कर रहे हैं अर्थात् प्रधान मन्त्रित्व की गद्दी को हस्तगत करने की योजना बना रहे हैं। उसी समय तमिल नाडु के मुख्य मन्त्री, काम-राज नदार, उनकी सहायता को आ पहुँचे। उन्होंने सुझाव दिया कि कुछ चोटी के नेता सरकार में से अपने पद त्याग कर कांग्रेस को मजबूत बनाने का कार्य करें। इस प्रस्ताव की नेहरू ने बड़ी प्रशंसा की। सभी केन्द्रीय मन्त्रियों तथा राज्यों के मुख्य-मन्त्रियों ने अपने त्यागपत्र नेहरू को थमा दिए, पर नेहरू ने केवल उन आठ केन्द्रीय मन्त्रियों तथा छः मुख्यमन्त्रियों को कार्यनिवृत्त किया, जिन पर उन्हें सबसे अधिक सन्देह था। दिखावे के तौर पर यह कार्य कांग्रेस दल को मजबूत बनाने के लिए किया गया था, पर वास्तव में यह संगठन एवं सरकार दोनों में ही अपने नियन्त्रण को दृढ़ करने की प्रक्रिया थी। किन्तु नेहरू भारत की राजनीति पर छाये रहने के लिए बहुत दिन तक जीवित न रहे और 27 मई, 1964 को उनका निधन हो गया।

कांग्रेस के कर्त्ता-धर्त्ताओं ने मोरारजी देसाई को छोड़कर सीधे-सादे, विनीत एवं शान्त स्वभाव के लालबहादुर शास्त्री को प्रधान मन्त्री पद के लिए चुना। ये कर्ता-धर्त्ता कामराज, एस० निजलिंगप्पा, एस० के० पाटिल और अतुल्य घोष थे। कालान्तर में भारतीय समाचारपत्रों में इस गुट को व्यंग्यपूर्वक 'सिण्डीकेट' संज्ञा दे डाली। ये व्यक्ति नेहरू के प्रधानत्व से तंग आ चुके थे और सरकारी मामलों में दखल प्राप्त

करने को लालायित थे। सिंडीकेट दल सामूहिक नेतृत्व की बात सोच रहा था। किंतु उन्हें इस मामले में निराशा ही हाथ लगी। एक बार प्रधान मन्त्री निर्वाचित होते ही, शास्त्रीजी प्रधान मन्त्री के रूप में अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो उठे। देसाई उनके मन्त्रिमण्डल में उप-प्रधान मन्त्री बनना चाहते थे, पर शास्त्री जी ने श्री नन्दा को उप-प्रधान मन्त्री बनाया, जो नेहरू के निधन के बाद बारह दिन प्रधान मन्त्रित्व कर चुके थे। यद्यपि उन्होंने नेहरू मन्त्रिमण्डल के अधिकतम व्यक्तियों को अपने मंत्रि-मण्डल में रखा पर उनमें विभाग आवंटन का अधिकार अपने हाथों में रखा। जब भी आवश्यकता हुई उन्होंने उनके विभागों में फेर-बदल करके पुन: आवंटित किया। सितम्बर, 1965 के 'अघोषित' भारत-पाकिस्तान युद्ध में शास्त्रीजी ने जो साहस, दृढ़-निश्चय और नेतृत्व का परिचय दिया उससे वे जनता में बहुत लोकप्रिय हो गए तथा कांग्रेसी हल्कों में उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। कई अवसरों पर उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष कामराज और कांग्रेस कार्य समिति की उपेक्षा भी की। तदपि, सरकारी एवं दलीय तन्त्र पर उनका प्रभाव नेहरू के समान सुदृढ़ नहीं था।

10 जनवरी, 1966 को शास्त्री के निधन के पश्चात् कांग्रेस संसदीय दल के सम्मुख प्रधान मन्त्री चुनने की समस्या पुन: आ खड़ी हुई। देसाई ने पुन: शक्ति परीक्षा करनी चाही पर अब की बार सिंडीकेट ने इन्दिरा गांधी को चुन लिया। निर्वाचन में श्रीमती गाँधी ने देसाई को 355 के मुकाबले 169 मतों से हरा दिया। इन्दिरा गांधी के चुने जाने का भी कारण वही था जो शास्त्री के चुने जाने का था, अर्थात् कांग्रेस दल के कर्त्ता-धर्त्ता प्रधान मन्त्री के दबाव में नहीं रहना चाहते थे। उनका विचार था कि इन्दिरा गांधी एक स्त्री हैं, उनकी वयस एवं अनुभव भी कम है, अत: वे उन पर अपनी इच्छाएँ एवं निर्णय लाद सकेंगे।

श्रीमती गाँधी एक बार कांग्रेस की अध्यक्ष रह चुकी थीं, शास्त्री मंत्रिमण्डल में अग्रणी स्थान पर रह चुकी थीं और अपने पिता के साथ अनेक बार विदेशों का भ्रमण कर चुकी थीं। इस प्रकार विदेशों में उनकी पर्याप्त जान-पहचान थी तथा उन्होंने राजनीतिक कूटनीति का प्रशिक्षण अपने पिता के जीवन काल में ही पा लिया था। जब वे स्वयं प्रधान मन्त्री बन गईं तो उन्होंने अपने दलीय साथियों, विशेषत: कामराज की, पिट्ठू बनने से साफ इन्कार कर दिया। उनके साथ मतभेद मन्त्रिपरिषद बनाने के प्रश्न को लेकर उठ खड़ा हुआ। उन्होंने मन्त्रिपरिषद में अशोक मेहता, गोपाल स्वरूप पाठक, फ़खरुद्दीन अली अहमद इत्यादि नये व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया तथा जगजीवनराम को भी, जो कामराज योजना के अन्तर्गत त्यागपत्र दे चुके थे, पुन: मन्त्री बना लिया। यह सूची शपथग्रहण समारोह से पूर्व कामराज को दिखा दी गई। उन्होंने मेहता एवं पाठक इत्यादि के नामों पर नानु-नच की, पर बात को आगे नहीं बढ़ने दिया।

श्रीमती गांधी के प्रधान मन्त्री बनने के बाद कांग्रेस संगठन का सामना पहले-पहल 12-14 फरवरी, 1966 को जयपुर में करना पड़ा, जब उनकी अपनी अपील और

कामराज के समर्थन के बावजूद, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सरकार की अनाज के आवागमन पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध सम्बन्धी नीति के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया।

जून 1966 में इन्दिरा गांधी ने रुपये का अवमूल्यन किया और ऐसा करते समय कामराज से परामर्श नहीं किया। उन्होंने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि प्रधान मन्त्री को ऐसें महत्त्वपूर्ण मामले में उनसे परामर्श अवश्य करना चाहिए था, अन्यथा दल में अन्य वित्तीय विशेषज्ञों देसाई अथवा कृष्णमाचारी इत्यादि से ही पूछ लेतीं। इस प्रकार प्रधान मन्त्री के प्रति विरोधी भावना विकसित होने लगी। उनके विरोधियों ने जब वी० के० कृष्णमेनन को, जिनका वे समर्थन करती थीं, बम्बई निर्वाचन क्षेत्र से लोक सभा का चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस का टिकट देने से इन्कार कर दिया तो उन्हें भारी धक्का लगा। पत्रकारों ने इसे प्रधान मन्त्री की "पराजय" बताया

चौथे आम चुनावों में केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा। लोक सभा में उसकी गिनती 1962 के 361 से घट कर 282 रह गई, तथा राज्य विधान सभाओं में केवल आठ राज्यों में ही उसका स्पष्ट बहुमत रह गया। सिंडीकेट के अनेक महारथी, कामराज, अतुल्य घोष एवं पाटिल इत्यादि चुनाव हार गये। नई दिल्ली में ऐसी अफवाहें फैलने लगीं कि अनेक नव निर्वाचित कांग्रेसी संसत्सदस्य एवं विधान सभा सदस्य विपक्षी दलों के साथ जा मिलेंगे, तथा कुछ ने सचमुच दल बदल लिये। इस प्रकार कांग्रेस की स्थिति बहुत खराब हो गई थी।

मोरारजी देसाई ने पुनः घोषित किया कि वे प्रधान मन्त्रिपद के लिए शक्ति परीक्षा करेंगे। युवा कांग्रेसियों की एक मण्डली—चन्द्रशेखर, चन्द्रजीत यादव, कृष्ण कान्त और शशि भूषण ने, जिन्हें भारतीय राजनीतिक हल्कों में "यंग टर्क्स" के नाम से पुकारा जाता है, श्रीमती गांधी का पक्ष लिया। कामराज को आशंका हुई कि यदि शक्ति परीक्षण हुआ तो उससे कांग्रेसियों में और अधिक फूट पड़ जायेगी। अतः उन्होंने एक समन्वय सूत्र प्रस्तुत किया जिसके द्वारा श्रीमती गांधी प्रधान मन्त्री बन गई और देसाई उप-प्रधान मन्त्री बने, पर वित्त मन्त्रालय भी देसाई के पास रहा। किन्तु देसाई को सत्ता हथियाने के खेल में तीसरी बार मात खाकर बड़ी आत्मग्लानि हुई और उन्होंने कांग्रेस की नीतियों में ऐसे दांवपेच चलाये कि वह अक्तूबर-नवम्बर 1969 में दो धड़ों में विभाजित हो गई। सिंडीकेट मण्डली भी श्रीमती गांधी की नीतियों एवं आचरण के कारण आक्रोश में था, अतः उसने देसाई का साथ दिया। जिन घटनाओं के कारण कांग्रेस का विभाजन हुआ, उनकी विवेचना इसी पुस्तक के अन्य अध्याय "कांग्रेस दल-विभाजन के पहले व बाद" में की गयी है, अतः यहाँ उसका विस्तृत विवरण नहीं किया जा रहा।

कांग्रेस की आंतरिक फूट का लाभ उठाते हुए, विपक्षी दलों—स्वतन्त्र दल, जन संघ, कांग्रेस के निजलिंगप्पा धड़े, जिसे अब संगठन कांग्रेस कहते हैं, तथा संयुक्त समाजवादी दल ने इन्दिरा गांधी को प्रधान मन्त्री पद से हटाने के प्रयत्न में एक सरकार

गुट बनाने का विचार किया तथा लोक सभा में अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत पर प्रधान मन्त्री ने भारतीय साम्यवादी दल, द्रविड़ मुनेत्र कषगम तथा प्रजा-ादी दल की सहायता द्वारा अपनी रक्षा कर ली। जब देश में राजनीतिक ों की धड़ेबन्दी व गुटबन्दी ज़ोरों पर चल रही थी और यह अटकल लगाई ा थी कि श्रीमती गांधी 1972 के आम चुनाव लड़ने के लिए साम्यवादी दल से न करेंगी, उन्होंने राष्ट्रपति को लोक सभा भंग कर के मध्यावधि चुनाव कराने का ; दिया। गिरि (राष्ट्रपति) ने 27 दिसम्बर, 1970 को तदर्थ आदेश जारी किया। ्रेस दल ने श्रीमती गांधी द्वारा गढ़े गए एक नारे गरीबी हटाओ के आधार ाव लड़ा और देश भर में कांग्रेसियों ने उनके नाम पर मतदान करने का अनु-कया। उन्होंने कुल 518 में से 352 स्थान हस्तगत कर लिए। इसका अर्थ लोक ं स्पष्ट बहुमत था। देश भर में इस जीत को प्रधान मन्त्री की व्यक्तिगत विजय ाया। राज्य विधान सभाओं के लिये एक वर्ष बाद हुए (मार्च, 1972) आम चुनावों ग्रेस को 15 राज्यों तथा एक केन्द्र शासित प्रदेश में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। ो लोक सभा निर्वाचन के कारण तथा कुछ राज्य विधान सभाओं के निर्वाचन के कांग्रेसी संस्थाओं—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, कांग्रेस कार्य समिति, निर्वाचन समिति तथा कांग्रेस पार्लियामेन्टरी बोर्ड पर श्रीमती गांधी का एक-प्रभुत्व स्थापित हो गया। प्रादेशिक कांग्रेस समितियाँ तक उनके इंगित पर लगीं। राज्यों के मुख्यमन्त्री जिनका निर्वाचन विधान सभाओं के सदस्य करते स्तव में श्रीमती गांधी द्वारा नामांकित किये जाने लगे। यदि वे किसी भी से किसी मुख्यमन्त्री से रुष्ट हो जायें तो वह अपने पद पर नहीं रह सकता उदाहरणतया, असम के मुख्यमन्त्री महेन्द्र मोहन चौधरी को 29 जनवरी, 1972 ीमती गांधी से भेंट के बाद त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि उससे पहले, कांग्रेस में प्रति उनके रवैये के कारण, उनका श्रीमती गांधी से मतभेद हो गया था। उनके पर शरतचन्द्र सिन्हा को, जिन्होंने असम राज्य कांग्रेस विधायक दल के भीतर विरोधी धड़े के नेता बन कर मुख्यमन्त्री का विरोध किया था, 31 जनवरी, को मुख्यमन्त्री बना दिया गया। इसी प्रकार, 15 सितम्बर, 1971 को आंध्र के मुख्यमन्त्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने केन्द्रीय पार्लियामेन्टरी बोर्ड (Central Parlia-tary Board), जिसकी नेता श्रीमती गांधी थीं, के इस निर्णय के फलस्वरूप त्र दिया कि उन्हें तेलंगाना क्षेत्र के व्यक्ति के लिए स्थान छोड़ देना चाहिए। वी० नरसिंहराव, जो रेड्डी मन्त्रिमण्डल में शिक्षा मन्त्री थे, सर्वसम्मति से मुख्य-बनाए गए। कुछ समय पश्चात् उन्हें भी पद त्यागना पड़ा। आंध्र कांग्रेस यक दल के विरोधी धड़े एक नेता चुनने में असफल रहे, और दिसम्बर 1973 ान मन्त्री ने उस पद के लिए जे० वेनेगल राव को नामांकित किया, जिसका उन्हें मुख्य मन्त्री बनाना ही था। दूसरी ओर हरियाणा के मुख्यमन्त्री बंसीलाल, राज्य के अनेक संसत्सदस्यों एवं विधान सभा सदस्यों द्वारा उनके विरुद्ध लगाये

गए भ्रष्टाचार के आरोपों तथा उनके प्रति जांच की मांगों के वावजूद अपने पद पर वने रहे। उनके विरुद्ध सभी मांगों को दवा दिया गया क्योंकि प्रधान मन्त्री उनसे प्रसन्न थीं। विरोधी धड़े के कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों का एक दल जिसका नेतृत्व दो मन्त्री, डाक्टर शालिग्राम और श्रीमती सरला शर्मा कर रहे थे, मार्च 1973 में हिमाचल प्रदेश के मुख्यमन्त्री डा० वाई० एस० परमार को अपदस्थ न कर सके क्योंकि उन्हें प्रधान मन्त्री का समर्थन प्राप्त था। ऐसे अनेक अन्य उदाहरण विद्यमान हैं, किन्तु सवका यहाँ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

कांग्रेस दल की नेता होने के नाते श्रीमती गांधी न केवल अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, कांग्रेसकार्य समिति, केन्द्रीय निर्वाचन समिति एवं कांग्रेसपार्लियामेन्टरी वोर्ड की वैठकों में भाग लेती हैं वल्कि वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाती हैं। इन बैठकों में किये गए अधिकतर निर्णयों तथा पारित किये गये प्रस्तावों पर उनकी अनुमति की छाप रहती है। वे दल की उच्चतम नीति निर्धारक निकाय को कभी आत्मविश्वास न खोने, कभी धैर्य न छोड़ने, वहुधा संस्था की एकता की रक्षा करने तथा समय-समय पर नवीन एवं समाजवादी नीतियों के प्रवर्तन का परामर्श देती हैं। लोक सभा के आम चुनावों, अथवा किसी एक या अनेक राज्य की विधान सभा (सभाओं) के निर्वाचन से पहले वे सारे निर्वाचन-क्षेत्रों का दौरा करती हैं और निर्वाचकों से अपने दल के प्रत्याशियों के प्रति मतदान करने का आग्रह करती हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे निर्वाचन सम्वन्धी आवश्यक नीति निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। उदाहरणतया, जव फरवरी 1974 के अन्तिम सप्ताह में उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मणिपुर, नगालैण्ड और पांडिचेरी विधान सभाओं के लिए आम चुनाव होने वाले थे, यह उन्होंने ही निश्चित किया कि यदि अन्य दलों से कोई समझौते करने हैं तो वे क्या हों, किस राज्य के किस चुनाव क्षेत्र से कौन प्रत्याशी खड़ा हो तथा विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से कांग्रेसी प्रत्याशी का चयन करने के लिए क्या मार्ग निर्देश हों।

श्रीमती गांधी द्वारा लोक सभा के मध्यावधि चुनाव तथा राज्य विधान सभाओं के पांचवें आम चुनावों के अवसर पर जनता से किये गये वायदे वहुत हद तक पूरे नहीं किये गये, तथा कांग्रेस के सभी छोटे वड़े सदस्य खिन्न थे कि नेताओं की ओर से उनकी आशाएँ पूरी नहीं की गईं। अक्तूवर 1972 के दूसरे सप्ताह में गांधी नगर में हुए कांग्रेस अधिवेशन में एक 'यंग टर्क्स" नेता कृष्णकान्त एवं उनके साथियों ने आरोप लगाया कि कांग्रेस पुनः लोकप्रियता खो रही है, तथा वह जनता से किये गये वायदों की पूर्ति नहीं कर पाई है। श्रीमती गांधी ने इन आलोचकों को यह कह कर डांट वताई कि वे "सस्ती सराहना" (cheap applause) के पीछे भागते हैं। किन्तु दल के भीतर फूट एवं विराग वढ़ता ही गया। लगभग 160 कांग्रेसी संसत्सदस्यों ने नेहरू अध्ययन मण्डल स्थापित किया, तथा अन्य वहुत से व्यक्तियों ने फोरम फॉर सोशलिस्ट एक्शन स्थापित किया। "नेहरू अध्ययन मंडल ने आरोप लगाया कि साम्यवादी दल कांग्रेस का प्रयोग "अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए" कर रहा है। उनका कहना था कि कांग्रेस अपनी समाजवादी

नीतियों के प्रवर्तन के लिए तथा "दक्षिण पंथी प्रतिक्रिया" एवं "वामपंथी साहसवाद" की चुनौती का सामना करने के लिए सक्षम है तथा उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्यवादी दल के समर्थन की आवश्यकता नहीं हैं। फोरम फॉर सोशलिस्ट एक्शन का कहना था कि अनाज के व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण, श्रीमती गांधी के नेतृत्व का विरोध करने के कारण कांग्रेस की समाजवादी नीतियों के विरोधी 'दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया-वादियों' का "पर्दाफाश" हो गया है। उन्होंने अपने आलोचकों से अपील की कि वे "दक्षिण पंथियों की चुनौती का सामना करने के लिए देश में प्रगतिशील एवं सामाजिक शक्तियों के दृढ़ीकरण के लिए श्रीमती गांधी की अपील पर ध्यान दें।"

प्रधान मंत्री को कांग्रेस के भीतर की लड़ाई से बड़ी चिन्ता होने लगी और इसमें उन्हें अपना एवं देश का भविष्य अंधकारमय प्रतीत होने लगा। वे जानती थीं कि उनकी अपनी तथा देश की भलाई कांग्रेस की अखण्डता एवं सामंजस्य में है, अतः उन्होंने दोनों ही धड़ों से अपने मतभेद छोड़कर परस्पर सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार करने की अपील की। धड़ों के नेताओं ने उनकी बात पर उचित ध्यान दिया और अप्रैल 1973 में परस्पर मतभेद दूर करने के प्रस्ताव पारित किये। निर्वाचन में शानदार विजय प्राप्त करने के एक वर्ष के भीतर विविध राज्यों में कांग्रेस में धड़ेबन्दी होने लगी तथा ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसकी एकता समाप्त होने वाली है। श्रीमती गांधी ने दल की नेता होने के नाते इन प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए कांग्रेस जनों को याद दिलाया कि यह एक राजनीतिक दल है, धड़ेबन्दी का अखाड़ा नहीं। जो व्यक्ति दल-विरोधी एवं सरकार-विरोधी गतिविधियों के दोषी थे, उनके प्रति उन्होंने कड़ा दृष्टिकोण अपनाया और ऐसे तत्वों को कुचलने के पक्के इरादे के प्रदर्शन में उन्हों ने दिनेश सिंह को कांग्रेस की मूल सदस्यता तक से निकाल बाहर किया। उन्हें कांग्रेस में पुनः तभी लिया गया, जब उन्होंने पक्का विश्वास दिलाया कि वे हाई कमान के निर्णयों के अनुसार दलीय नीतियों एवं योजनाओं का ईमानदारी एवं वफ़ादारी से पालन करेंगे।

प्रधान मंत्री ने दलीय एकता को भीतर से ही नहीं अपितु बाहरी चुनौतियों एवं हमलों से भी बचाने व बनाये रखने के प्रयत्न किये। लोक सभा के मध्यावधि चुनाव एवं राज्यविधान सभाओं के आम चुनावों में हार के कारण उत्पन्न निराशा की मनोदशा में विरोधी दलों, मुख्यतः जन संघ, स्वतन्त्र दल, संगठन कांग्रेस, समाजवादी दल और साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) ने श्रीमती गांधी की सरकार को जनता की आँखों में बदनाम करने के लिए उसके विरुद्ध आन्दोलन, दंगे एवं प्रदर्शन आयोजित करने आरम्भ किये। प्रधान मंत्री ने उन पर एक "वृहत्तर गुट" (Grander Alliance) बनाने का आरोप लगाते हुए जनता से अपील की कि वह अपनी आँखें खुली रखें ताकि वे "अत्यन्त दुस्साहस एवं दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद की उन शक्तियों के आक्रमणों" को परास्त करने के लिए मानसिक एवं शारीरिक तौर पर सजग रहें, जो "राष्ट्र की समाजवाद की ओर प्रगति में बाधा डालना चाहती हैं।" 1974 में जयप्रकाश नारायण ने बिहार में आन्दोलन चलाया और इसे भ्रष्टाचार, ऊँची कीमतें, बेरोज़गारी तथा

उद्देश्यहीन शिक्षा पद्धति के विरुद्ध लड़ाई के लिए सारे देश में फैलाने की योजना बनाई। श्रीमती गांधी का यह अनुमान था कि वह आन्दोलन उन्हें व उनके दल को सत्ता से अपदस्थ करने के लिये है, अत: उन्होंने जयप्रकाश नारायण एवं अन्य विपक्षी नेताओं पर, जिनमें से अधिकतर उनका समर्थन करते थे, आरोप एवं प्रत्यारोप लगाकर उसका उत्तर दिया।

प्रधान मन्त्री ने ऐसे और भी अनेक कार्य किये ताकि उनका दल सुदृढ़, सुसंगठित एवं देश में लोकप्रिय बना रहे। वे एक प्रकार से देश के निदेशक, नियंत्रक, एवं परामर्शदाता के समान कार्य करते (करती) हैं।

मूल्यांकन (An Appraisal)

प्रधान मन्त्री का पद पहले पहल इंग्लैण्ड में आरम्भ हुआ तथा अन्य देशों के संविधान निर्माताओं ने भी उसी के प्रतिरूप अपने-अपने देश में यह पद स्थापित किया। ब्रिटिश राजनीतिक पद्धति के लेखकों ने प्रधान मन्त्री की व्याख्या नाना प्रकार से की है। उदाहरणतया लार्ड मोर्ले ने उन्हें "मन्त्रिमंडल रूपी मेहराव का प्रमुख पत्थर" तथा *primus inter pares* (समान व्यक्तियों में प्रथम) कह कर पुकारा। पीटर जी० रिचर्ड ने अपनी पुस्तक *Patronage in British Government* में लिखा कि प्रधान मन्त्री को "समान व्यक्तियों में प्रथम" वताना "प्रधानमन्त्री की हैसियत का गम्भीर अल्पांकन होगा।" इसी प्रकार, जे० एस० डग्डेल ने अपनी पुस्तक *The British Constitution* में लिखा कि यह कहना प्रधान मंत्री सहित सभी मन्त्री समान हैं गलत होगा, पर यह कहना कि प्रधान मंत्री के अतिरिक्त शेष सभी मन्त्री समान होते हैं, "सत्य के निकटतर" है। ऐमरी ने कहा कि वास्तव में प्रधान मन्त्री का स्थान "जहाज़ के कप्तान एवं प्रमुख नाविक" के समान है। रैम्ज़े म्यूर ने अपनी पुस्तक *How Britain is Governed* में मंत्रिमण्डल को "राज्य रूपी जलपोत का पतवार पहिया" वताया तथा प्रधान मन्त्री को "नाव का खिवैया" वताया। प्रोफेसर हेरोल्ड जे० लास्की ने अपनी पुस्तक *Parliamentary Government in England* में उसे "सारे सरकार तन्त्र की धुरी" संज्ञा दी। एक महान ब्रिटिश संविधान विशेषज्ञ आइवर जेनिंग्स ने प्रधान मन्त्री को ऐसा "सूर्य, जिसकी परिक्रमा ग्रह-नक्षत्र करते हैं" वताया। वेलोफ़ ने उन्हें तानाशाह तथा हिंटन ने प्रधान मन्त्री को 'निर्वाचित राजा' वताया। सर विलियम वर्नन ने उन्हें *inter stellas luna minores* (तारों में चांद) वताया।

अपने-अपने शब्दों में इन सभी लेखकों ने स्वीकार किया कि संसदीय सरकारी पद्धति में प्रधान मन्त्री का पद सब से अधिक अधिकारपूर्ण है। भारत में भी यही बात है। नई दिल्ली में सन 1974 के नव वर्ष दिवस की पूर्व-संध्या को एक संवाददाता सम्मेलन में भाषण करते हुए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने उपालम्भ दिया कि उन्हें कोई अधिकार नहीं है। किन्तु जनता के दृष्टिकोण से भारत के प्रधान मन्त्री को अमरीकी राष्ट्रपति से कम अधिकार प्राप्त नहीं हैं जहां राष्ट्रपति की सरकार का प्रचलन है।

अध्याय 9

मन्त्रिपरिषद
(The Council of Ministers)

संघीय सरकार की वास्तविक न्यायपालिका का दूसरा अंग मन्त्रिपरिषद है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, इस का प्रावधान संविधान की धारा 74(1) में किया गया है। इस धारा में निर्दिष्ट है कि राष्ट्रपति को अपने कार्यों के संचालन में सहायता देने के लिए…एक मन्त्रिपरिषद होगी। यह प्रश्न कि मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को कोई परामर्श दिया अथवा नहीं, और यदि हाँ, तो क्या परामर्श दिया, किसी न्यायालय में नहीं पूछा जायेगा। इस धारा में कहा गया है कि राष्ट्रपति, मन्त्रियों की नियुक्ति, प्रधान मन्त्री के परामर्श के अनुसार करते हैं। धारा 75(5) में मन्त्रिपद के लिए आवश्यक अर्हताएँ (qualifications) निर्धारित की गई हैं, पर एकमात्र अर्हता यह है कि वह संसद के किसी एक सदन का सदस्य होना चाहिए। यदि कोई मन्त्री छः मास के भीतर संसद के किसी एक सदन का सदस्य नहीं बन पाता तो वह मन्त्री नहीं रह सकता। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रधान मन्त्री, राष्ट्रपति को किसी सामान्य व्यक्ति को भी मन्त्री नियुक्त करने का परामर्श दे सकते हैं, किन्तु यदि उसे मन्त्री बनाये रखना है तो उसे चाहे निर्वाचन द्वारा या नामांकन द्वारा, संसद का सदस्य अवश्य बनाया जाना चाहिए। धारा 88 में निर्दिष्ट है कि प्रत्येक मन्त्री को संसद के दोनों सदनों में, दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों में, तथा संसद की किसी समिति में—जिसका उसे सदस्य बनाया गया हो—बोलने तथा अन्य प्रकार से भाग लेने का अधिकार होगा, पर इस धारा के तहत वह उसमें मतदान नहीं कर सकेगा।

धारा 75(4) में निर्दिष्ट है कि प्रत्येक मन्त्री को अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति द्वारा उसके पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है। वह शपथ इस प्रकार होती है :

"मैं, क, ख, भगवान की सौगन्ध खा कर शपथ लेता हूँ। आत्मनिष्ठापूर्वक शपथ लेता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारतीय संविधान के प्रति आस्था एवं सत्यनिष्ठा रखूँगा, भारत की प्रभुसत्ता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करूँगा, मैं संघीय मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों की सद्-

भावनापूर्वक तथा ईमानदारी से पूर्ति करूंगा तथा मैं बिना किसी भय, पक्ष-पात, राग अथवा दुर्भावना के, संविधान एवं विधि के अनुसार सभी वर्गों के व्यक्तियों के साथ ठीक-ठीक बर्ताव करूँगा ।"

तथा

"मैं, क, ख, भगवान की सौगन्ध खाकर शपथ लेता हूँ । आत्मनिष्ठापूर्वक शपथ लेता हूँ कि ऐसा कोई भी विषय जो मेरे विचाराधीन होगा, अथवा मुझे संघीय मन्त्री होने के नाते ज्ञात होगा, मेरे मन्त्रीपद सम्बन्धी कर्तव्यों में निहित आवश्यकता के अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों को नहीं बताऊँगा ।"

मन्त्रियों के वेतन एवं भत्ते समय-समय पर संसद द्वारा कानूनी रूप से निर्धारित किये जाते हैं । 1970 के आँकड़ों के अनुसार एक केन्द्र स्तर के मन्त्री के वेतन व भत्ते इस प्रकार थे:

मद	रुपये (कर मुक्त)
वेतन, 27,000 रुपये में से कर के 5,280 रुपये काटकर	21,720
अतिथि भत्ता	6,000
बंगले का किराया	7,800
फर्नीचर इत्यादि का किराया	7,704
माली, चौकीदार, और सफ़ाई कर्मचारी	5,040
बंगले व मैदान का रख-रखाव, मरम्मत तथा साज-सज्जा	15,040

इनके अतिरिक्त मन्त्री को एक मोटरकार, पेट्रोल, बिजली, पानी तथा ड्राइवर का वेतन भी मिलता है । 1970 में एक मन्त्री पर कुल व्यय लगभग 70,000 रु० वार्षिक था । अब उससे भी अधिक है । यह खुला व्यय वे लोग करते हैं जो जनता को मित-व्ययिता एवं बचत का उपदेश देते नहीं थकते—वह जनता जिसका 40 प्रतिशत भाग (सरकारी आंकड़ों के ही अनुसार) निर्धनता के स्तर से भी निम्न कोटि का जीवन व्यतीत करता है ।

संविधान में न तो मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गई है और न ही उनकी श्रेणियां बताई गयी हैं । यह काम 1948-49 में केन्द्र सरकार के एक वरिष्ठ मन्त्री गोपाल स्वामी आयंगर को सौंपा गया था । उन्होंने नवम्बर 1949 में जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, वही सरकारी तन्त्र के पुनर्गठन का आधार बना । मन्त्रियों की तीन श्रेणियां निर्धारित की गई—केन्द्र (Cabinet) स्तर के मन्त्री, राज्य मन्त्री और उप-मन्त्री । मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई और उसे समय-समय पर, काम की आवश्यकतानुसार, प्रधान मन्त्री द्वारा निश्चित की जाने के लिए छोड़ दी गई । 4 फरवरी, 1973 के आंकड़ों के अनुसार 17 केन्द्रीय मन्त्री, 21 राज्य मन्त्री, तथा 22 उप-मन्त्री—कुल 60 मन्त्री थे । यह संख्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अधिकतम थी ।

11 जनवरी, 1974 को मन्त्रिपरिषद में कुछ फेर-बदल किया गया, जिसके फल-

स्वरूप 19 कैबिनेट मन्त्री, 19 राज्य मन्त्री तथा 22 उप-मन्त्री बनाये गए।[1]

मन्त्रिपरिषद का कार्य मन्त्रिमण्डल ने सम्भाला (Role of Council of Ministers has been Assumed by Cabinet)

संविधान की धारा 74(1) की निर्दिष्टि के अनुसार राष्ट्रपति अपने कार्यभाग मन्त्रिपरिषद की सहायता एवं परामर्श से चलाते हैं, किन्तु वास्तव में वे केवल मन्त्रि-मण्डल की ही परामर्श या सहायता से कार्य करते हैं। संविधान में ऐसा कोई प्राव-धान नहीं है पर इंग्लैण्ड में एक प्रथा विकसित हुई और भारत ने भी उसी को ग्रहण कर लिया, जिसके फलस्वरूप मन्त्रिपरिषद ने जो भूमिका निभानी थी वह मन्त्रि-परिषद ने सम्भाल ली है। आज के विज्ञान, टैक्नोलोजी, प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया, लोक-हितकारी राज्य तथा विकासमान अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में सरकार का काम बहुत पेचीदा हो गया है तथा उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए बहुत सावधानी की आव-श्यकता होती है। प्राय: स्वदेश एवं विदेशों में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके लिए गुप्त वार्ता द्वारा निर्णय लेने होते हैं, अनेक बार ऐसी समस्याएं विद्य-मान होती हैं जिनमें बहुत व्यक्तियों का भाग लेना सम्भव तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से उचित नहीं होता। कभी-कभी बहुत जोड़-तोड़, छल-कपट, एवं दाँव-पेच करने पड़ते हैं, जो 40-45 व्यक्तियों की मन्त्रिपरिषद की उपस्थिति में सम्भव नहीं हो सकता। पेचीदा एवं अधिक संवेदनशील मामलों को गुप्त रूप से शीघ्रतापूर्वक निपटाने के लिए प्रधान मन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद में से थोड़े से अधिक महत्त्वपूर्ण व अग्रणी मन्त्रियों का चयन कर लेते हैं, जिनके समूह को मन्त्रिमण्डल कहते हैं। इस प्रकार जिन मन्त्रियों का चयन किया जाता है वे या तो प्रधान मन्त्री के निकट विश्वासी होते हैं, या दलीय संगठन में, अन्यथा बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने जाते हैं, या किसी क्षेत्र में विशेपज्ञ होते हैं। अनेक बार दल से बाहर के अथवा राजनीति से बाहर के व्यक्तियों को भी मन्त्रि मण्डल में लिया जाता है। इसके कतिपय उदाहरण—सी० डी० देशमुख, सी० एच० भाभा, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, शणमुखम् चेट्टी, जान मथाई, भीम राव अम्बेडकर, वी० के० आर० वी० राव तथा टी० ए० पै हैं। मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मंत्रियों की कोई निश्चित संख्या नहीं है, पर सामान्यत: वे 15 से 20 तक होते हैं।

कभी-कभी सामान्य भाषा में मन्त्रिपरिषद को ही मन्त्रिमण्डल समझ लिया जाता

[1]मन्त्री का चयन, प्रधानमन्त्री द्वारा संसद के किसी भी सदन से किया जा सकता है, पर प्रधान-मन्त्री का चयन केवल लोक सभा से ही किया जाता है। यही प्रथा राज्यों के मुख्यमन्त्री नियुक्त करने में भी लागू होती है, पर इसके कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरणतया चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य मद्रास की राज्य परिषद के सदस्य थे, पर उन्हें वहाँ का मुख्यमन्त्री बनाया गया। इसी प्रकार मोरारजी देसाई वम्बई राज्य की विधान सभा का चुनाव हार गए पर उन्हें बम्बई राज्य परिषद् का सदस्य नामांकित कर दिया गया और राज्य के गवर्नर द्वारा उन्हें राज्य का मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया।

है, पर वास्तव में उनकी वनावट और कार्यों में अन्तर है। मन्त्रिपरिषद पूर्ण कार्यकारी निकाय है तो मन्त्रिमण्डल उसका एक भाग मात्र है; पर वह भाग अधिक महत्त्वपूर्ण, अधिक प्रभावशाली तथा सारी परिषद से अधिक शक्तिशाली है। पूरे मन्त्रिपरिषद की बैठक यदा-कदा ही होती है पर मन्त्रिमण्डल की बैठकें प्रायः होती रहती हैं। सामान्यतः एक बैठक प्रति सप्ताह उसके **राष्ट्रपति भवन** स्थित अपने सचिवालय में की जाती है। किन्तु जब सरकार के सन्मुख भीतरी वा बाहरी नीति सम्बन्धी अधिक गम्भीर समस्याएँ विद्यमान हों तो मन्त्रिमण्डल की बैठक लगभग प्रतिदिन होती है बल्कि कभी-कभी तो दिन में कई-कई बैठकें हो जाती हैं। उदाहरणतया, जब दिसंबर 1971 में बंगलादेश के प्रश्न को लेकर पाकिस्तान के साथ युद्ध छिड़ गया तो मन्त्रि-मण्डल की दिन में कई-कई बैठकें होती थीं। मार्च 1973 में जब सामरिक महत्त्व के राज्य मणिपुर में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो गया और राज्यपाल बी० के० नेहरू ने राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजकर वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू करने का आग्रह किया, तो मन्त्रिमण्डल की बैठकअपराह्न 3-30 बजे के लिए निश्चित की गयी, पर पहले 6 बजे तक के लिये और फिर 7 बजे तक के लिये स्थगित कर दी गयी। इसका कारण यह था कि उनका प्रतिवेदन अभी प्राप्त नहीं हुआ था और केन्द्र सरकार को मणिपुर की घटनाओं के कारण बड़ी चिन्ता सता रही थी।

केन्द्र स्तर के मन्त्री सरकार के सभी प्रकार के कार्यों में भाग लेते हैं पर राज्य मन्त्री एवं उप-मन्त्री केवल उन्हीं विभागों की देखरेख करते हैं जिनके वे प्रधान होते हैं। संविधान की धारा 78(क) के अनुसार "देश के भिन्न-भिन्न कार्यों की व्यवस्था के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद के जो निर्णय तथा विधि निर्माण के जो प्रस्ताव" प्रधान मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति को सूचित किये जाते हैं, वे वस्तुतः कैबिनेट के निर्णय एवं प्रस्ताव (सुझाव) होते हैं। इसी प्रकार जब किसी प्रश्न पर कोई मन्त्री स्वयं मन्त्रिपरिषद से परामर्श किये बिना निर्णय ले ले, परन्तु राष्ट्रपति उसे संविधान की धारा 78(ग) के प्रावधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद के विचार के लिए प्रेषित कराना चाहें, तो वस्तुतः उस पर कैबिनेट ही विचार करती है। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि कोई भी सामान्य कार्य जो संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद द्वारा किया जाना चाहिए, वह वास्तव में कैबिनेट द्वारा किया जाता है। यूँ भी कह सकते हैं कि इस प्रकार कैबिनेट ने मन्त्रिपरिषद का स्थान ले लिया है पर वह केवल परम्परा द्वारा ही किया गया, संसद के किसी अधिनियम या संविधान के प्रवर्तन द्वारा नहीं। यह परम्परा इंग्लैंड में विकसित हुई और भारत ने उसे अपना लिया।

अन्तरंग कैबिनेट (Inner Cabinet)

अनेक बार ऐसा होता है कि प्रधान मन्त्री को 15-20 कैबिनेट मन्त्रियों का दल भी गुप्त मन्त्रणा व महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए अत्यधिक बड़ा तथा विस्तृत प्रतीत होता है, अतः वे अपने केवल दो, तीन वा अधिकतम चार विश्वस्त सहयोगियों के परामर्श

से निर्णय करते (करती) हैं । इन विश्वस्त सहयोगियों को राजनीति में अंतरंग मंत्रि-मण्डल कहते हैं । सरदार वल्लभभाई पटेल भारत के गृह मन्त्री एवं उप-प्रधान मन्त्री थे । उनके जीवन काल (निधन दिसम्बर, 1950) में प्रधान मन्त्री नेहरू प्रत्येक महत्त्व-पूर्ण विषय में पहले उनसे परामर्श लेते थे व उसके बाद उस विषय को कैबिनेट के विचारार्थ प्रस्तुत करते थे । कभी-कभी तो इस प्रकार अंतरंग निर्णय पर मन्त्रिमण्डल की केवल सहमति प्राप्त करनी होती थी या उसे सिर्फ सूचित कर दिया जाता था । पटेल के निधन के बाद, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, रफी अहमद किदवई और गोपालस्वामी आयंगर नेहरू की अंतरंग कैबिनेट के सदस्य बने । किदवई और आयंगार के निधन के बाद यह स्थान समय-समय पर गोविन्दवल्लभ पन्त, सी० डी० देशमुख़, वी०के० कृष्णमेनन, टी०टी० कृष्णमाचारी, लालबहादुर शास्त्री और मोरारजी देसाई को मिला । अपने 18 महीने के कार्यकाल में प्रधान मन्त्री शास्त्री ने वाई० बी० चह्वाण, एस० के० पाटिल, गुलज़ारीलाल नन्दा और स्वर्णसिंह को अपना विश्वस्त बनाया । वस्तुत: शास्त्री का कार्यकाल सामूहिक नेतृत्व का युग था क्योंकि शास्त्री प्रधान मन्त्री पद पर आसीन होकर भी वह प्रधानत्व प्राप्त नहीं कर सके जो नेहरू को प्राप्त था और अब श्रीमती गांधी को प्राप्त है ।

इन्दिरा गांधी के 1966 में प्रधान मन्त्री बनने के बाद उनकी अंतरंग कैबिनेट में समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को स्थान मिला । एक समय चह्वाण, दिनेश सिंह, अशोक मेहता, और सी० सुब्रह्मण्यम उनके अधिक विश्वस्त थे । कुछ समय बाद फ़खरुद्दीन अली अहमद और डा० कर्णसिंह उनके अधिक निकट आ गए । कांग्रेस दल में फूट पड़ने के बाद उन्हें जगजीवन राम, फ़खरुद्दीन अली अहमद और सुब्रह्मण्यम पर अधिक विश्वास हो गया । 1973 में जब मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन किया गया तो दुर्गाप्रसाद धर (योजना मन्त्री), उमाशंकर दीक्षित (गृह मन्त्री) तथा सुब्रह्मण्यम (औद्योगिक विकास मन्त्री) को उनके अधिक निकट माना जाता था । यद्यपि चह्वाण, स्वर्णसिंह, जगजीवनराम इत्यादि नए मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे, पर वे धर, दीक्षित और सुब्रह्मण्यिम के समान प्रधान मन्त्री के विश्वासपात्र प्रतीत नहीं होते थे । भारतीय पत्रकारश्रीमती गांधी की अंतरंग कैबिनेट को व्यंग्यपूर्वक "किचन कैबिनेट" (Kitchen Cabinet) रखा, अर्थात् सरकारी नीतियाँ व निर्णय प्रधान मन्त्री के निकटतम विश्वास-पात्रों द्वारा "पका कर तैयार" किए जाते हैं, जो बाद में मन्त्रिमण्डल के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत कर दिए जाते हैं ।

मन्त्रिमण्डलीय समितियाँ (Cabinet Committees)

भारतीय गणराज्य के आरम्भ से ही मन्त्रिमण्डल का अधिकतर काम-काज उसकी उप-समितियों द्वारा करने की प्रथा चल पड़ी थी । कालान्तर में यह प्रथा दृढ़तर होती गई और इन समितियों की संख्या तथा महत्त्व बढ़ता गया । आजकल ऐसी नौ उप-समितियाँ हैं, जिनमें से विदेश सम्बन्ध समिति, राजनीतिक सम्बन्ध समिति, प्रति-

रक्षा समिति, संसदीय मामलों सम्बन्धी समिति तथा आर्थिक मामलों सम्बन्धी समिति अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन मामलों से सम्बन्धित समस्याओं पर पहले इन समितियों में विचार किया जाता है, तब उन्हें पूरे मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इससे मन्त्रियों के बहुत से समय व शक्ति की बचत होती है क्योंकि उन्हें अन्य भी अनेक सरकारी एवं दलीय कार्य करने होते हैं। ये समितियाँ मन्त्रिमण्डल का स्थान नहीं लेतीं पर जब किसी समिति के सदस्यों में कोई नीति-निपुण एवं प्रभावशाली मन्त्री शामिल हों तो सामान्यतः उसकी सिफारिशें एवं निर्णय बिना अधिक विचार-विमर्श अथवा फेर-बदल के ही स्वीकार कर लिए जाते हैं।

कैबिनेट के कार्य-सिद्धान्त (Working Principles of the Cabinet)

सरकार की मन्त्रिमण्डलीय पद्धति, जिसे संसदीय पद्धति भी कहते हैं कतिपय सिद्धान्तों के अनुसार प्रवर्तित होती है। ये सिद्धान्त हैं—सामूहिक उत्तरदायित्व (collective responsibility) अन्तःमन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व या मन्त्रिमण्डलीय समैक्य, (intra-cabinet responsibility or cabinet solidarity) तथा राजनैतिक उत्तरदायित्व (political responsibility)। इनमें से प्रथम सिद्धान्त का संविधान की धारा 75(3) में प्रावधान है, पर शेष दो ब्रिटिश राजनैतिक प्रणाली की देन हैं। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त से यह तात्पर्य है कि तीनों स्तरों के सभी मन्त्रिगण सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे एक साथ सत्ता ग्रहण करते हैं तथा एक साथ ही पदमुक्त होते हैं। विपक्षी दलों द्वारा एक मन्त्री के विरुद्ध प्रस्तुत किये गए अविश्वास प्रस्ताव को सभी के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव माना जाता है और यदि लोक सभा में एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाये तो सारी मन्त्रिपरिषद अपदस्थ हो जाती है। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित मन्त्री विधेयक प्रस्तुत करता है तथा संसद में प्रश्नों के उत्तर देता है, पर उसके द्वारा जाने अनजाने की गई त्रुटियों के लिए सारी मन्त्रिपरिषद का उत्तरदायित्व होता है।

अन्तःमन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व या मन्त्रिमंडलीय समैक्य से यह तात्पर्य होता है कि जब किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्णय कर लिया गया हो पर किसी एक मन्त्री का उस निर्णय से मतभेद हो तो या तो वह भी उस निर्णय में सहयोगी बने अथवा अपने पद से त्यागपत्र दे, किन्तु उसे जनता में उसके विरुद्ध बोलने अथवा संसद में उसके विरुद्ध मत देने का अधिकार नहीं होता। मन्त्रिगण परस्पर आदान-प्रदान की भावना से कार्य करते हैं और समझौता करने को तत्पर रहते हैं। संसद में विपक्षी दलों तथा देश की जनता को यह पता होना चाहिए कि मन्त्रीगण एक सुगठित टोली (team) के समान, देश के अधिकतम हित में कार्य करते हैं। मन्त्रिमण्डल में फूट पड़ने से उसे अपदस्थ होना पड़ सकता है। चौथे आम चुनाव के बाद अनेक राज्य सरकारों को इस कारण त्यागपत्र देने पड़े कि वहाँ जिन राजनीतिक दलों के गठजोड़ द्वारा मन्त्रिमण्डल बनाये गए थे वे संगठित न रह सके तथा मन्त्रिमण्डलीय समैक्य के सिद्धान्त के

अनुसार कार्य नहीं कर सके। जब कांग्रेस दल दो धड़ों में विभाजित हो गया और कुछ केन्द्रीय मन्त्री दल बदल कर विपक्षी धड़े में जा मिले तो श्रीमती गांधी की सरकार टूट जाती, पर उसकी रक्षा केवल इसलिए हो गई कि कुछ विपक्षी दलों—साम्यवादी दल, द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम तथा संयुक्त स्वतन्त्र दल (United Indepedent Group—जिसके सदस्य अकाली दल, मुस्लिम लीग और क्रान्तिवादी समाजवादी दल थे) ने उसे समर्थन प्रदान कर दिया। उनका समर्थन पा कर भी श्रीमती गांधी को अपनी स्थिति सुरक्षित प्रतीत नहीं हुई अतः उन्होंने दिसम्बर 1970 में (राष्ट्रपति से) लोक सभा भंग करने की माँग की ताकि वे जनता से "नया आदेश" प्राप्त कर सकें। तत्कालीन विदेश मन्त्री एम० सी० छागला ने 31 अगस्त, 1976 को मन्त्रिमण्डल से इस्तीफ़ा दे दिया क्योंकि उन्हें सरकार की शिक्षा नीति पसन्द नहीं थी। उनके विचार में वह नीति "यदि भारत की सुदृढ़ता का सत्यानाश नहीं तो उसके लिए खतरा अवश्य उत्पन्न कर सकती थी........" उनका यह कृत्य मन्त्रिमण्डल के समैक्य के सिद्धान्त के अनुरूप था। केन्द्रीय वित्त मन्त्री वाई० बी० चह्वाण ने 14 जुलाई, 1974 को आल इण्डिया यूथ कान्फ्रेंस में जब यह कहा कि केन्द्रीय योजना राज्य-मन्त्री मोहन धारिया सरकार द्वारा जारी किये गए उस अध्यादेश से सहमत नहीं थे जिसके द्वारा बढ़े हुए वेतन एवं महँगाई भत्ते को जमा करना अनिवार्य कर दिया गया तथा लाभांश के वितरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तो उनके इस कथन को अत्यन्त असामान्य माना गया। 2 मार्च, 1975 को श्रीमती गांधी ने मोहन धारिया (उस समय निर्माण व आवास मन्त्री) को अपनी मन्त्रिपरिषद से इसलिए निकाल बाहर किया कि वे जयप्रकाश आन्दोलन के सम्बन्ध में तथा साम्यवादी दल के साथ सम्बन्धों के विषय में अपने सरकार के साथ मतभेद का जनता में प्रचार कर रहे थे। सरकार का जयप्रकाश नारायण से बातचीत करने का कोई इरादा नहीं था, पर वे खुले आम प्रधान मन्त्री व जयप्रकाश नारायण में वार्ता की माँग कर रहे थे। इस घटना के थोड़े समय बाद एक अन्य केन्द्रीय मन्त्री के० आर० गणेश ने सरकार की "राष्ट्रीय क्षेत्र" नीति की खुले आम आलोचना की। कांग्रेस दल में तथा देश भर की जनता में यह अटकलें लगाई जाने लगीं कि उन्हें भी मन्त्रिपद त्यागना पड़ेगा, पर ऐसा नहीं हुआ। कदाचित इसका यह कारण था कि इस से प्रधान मन्त्री को अपने दल में धड़ेबन्दी उत्पन्न होने तथा फूट पड़ जाने का भय था और वे दलीय सुदृढ़ता को, स्वयं अपने अस्तित्व के हित में, सरकार के भीतर अनुशासन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझती थीं।

मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त से यह तात्पर्य है कि केवल वही मन्त्री जो अपने विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष होता है, अपने विभाग द्वारा की गई सभी त्रुटियों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। विभाग का स्थायी प्रधान अर्थात् सचिव यद्यपि उसे नीति निर्धारण तथा निर्णय करने में सहायता देता है पर यदि वह नीति असफल हो जाये अथवा निर्णय अनुचित निकले तो उसका दण्ड मन्त्री को भोगना पड़ता है। यह दण्ड, संसद में उसके विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पारित किया जाना,

विपक्षी दलों द्वारा उसकी निन्दा व आलोचना, अथवा प्रधान मन्त्री द्वारा मन्त्रिपरिषद से निकाल दिया जाना, कुछ भी हो सकता है। विभाग द्वारा किये गए सभी कृत्यों का यश या अपयश मन्त्री को ही मिलता है। 1962 में चीन से भारत की पराजय के फलस्वरूप वी० के० कृष्णमेनन को प्रतिरक्षा मन्त्री के पद से हटना पड़ा यद्यपि बाद के लेखों से यह स्पष्ट हो गया कि नेहरू, वित्त मन्त्री मोरारजी देसाई, लेफ्टिनेंट जनरल बी० एम० कौल तथा कतिपय अन्य व्यक्तियों का उत्तरदायित्व उनसे किसी प्रकार भी कम नहीं था।

1974 में संसद के शीत अधिवेशन में विपक्षी नेताओं ने यह आरोप लगाया कि जब एल० एन० मिश्रा विदेश व्यापार मन्त्री थे, उन्होंने पांडिचेरी की एक व्यापारी फर्म से अनुचित लाभ उठा कर उसे आयात लाइसेंस दिये थे। श्री मिश्र का कहना था कि इसमें उनके विशेष सहायक का हाथ था। किन्तु विपक्षी नेताओं ने कहा कि उनके कार्यकाल में जो कुछ भी हुआ, उसका उत्तरदायित्व केवल उन्हीं पर है। उन्होंने श्री मिश्रा के विरुद्ध उचित कार्यवाई तथा उनके मन्त्रिमण्डल से निकाले जाने तक की माँग की। इसी बीच 3 जनवरी, 1975 को उनकी एक हथगोले के आघात से मृत्यु हो गई। यह हथगोला किसी व्यक्ति ने उन पर समस्तीपुर (बिहार) में फेंका, जहाँ वे एक नई समस्तीपुर-मुज़फ्फ़रपुर रेल लाईन का उद्घाटन करने गये थे।

मन्त्रिमण्डल का सामर्थ्य, कार्यांग तथा भूमिका (Powers, Functions and Role of the Cabinet)

शब्द "कैबिनेट" (मन्त्रिमण्डल) को संविधान में कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है, अतः उसकी किसी भी धारा में उसके सामर्थ्य, कार्यांग और भूमिका परिभाषित नहीं हैं। भारत के प्रशासन में मन्त्रिमण्डल को जो भी अधिकार प्राप्त हैं और वह जो भी भूमिका निभाता है वह परम्परागत मात्र है। ये परम्पराएँ ग्रेट ब्रिटेन में आरम्भ हुईं और भारत में भी प्रचलित हो गई। सरकारी संयन्त्र समिति (Machinery of Government Committee) ने 1918 में जो रिपोर्ट दी, उसमें ब्रिटिश कैबिनेट को तीन कार्यांग सौंपे गए थे, जो इस प्रकार थे—(1) नीति सम्बन्धी अन्तिम निश्चय संसद को प्रेषित किया जाये; (2) राष्ट्रीय कार्यपालिका का नियन्त्रण संसद द्वारा निर्धारित रीति के अनुरूप उच्चतम अधिकारी द्वारा किया जाये; तथा (3) सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों में निरन्तर ताल-मेल की व्यवस्था की जाये, पर साथ ही उनके अपने-अपने कार्यों की मर्यादा निश्चित की जाये।[2]

मन्त्रिमण्डल को दिये गये इन तीन कार्यांगों से ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रिमण्डल संसद की एक कार्यकारी समिति है जिस पर संसद की नीतियों व निर्णयों के क्रिया-

[2]देखो आर० जे० वेंकटेश्वरण, *Cabinet Government in India* (London, George Allen and Unwin Ltd., 1967), n. 42.

न्वयन का दायित्व है । अधिकतर नीति सम्बन्धी मामले जो संसद द्वारा निर्णीत समझे जाते हैं, वास्तव में मन्त्रिमण्डल द्वारा ही निर्णीत होते हैं । जो विधेयक संसद द्वारा पारित किये जाते हैं, उनमें से अधिकतर मन्त्रिमण्डल द्वारा ही प्रेषित किये जाते हैं । यदि संसद किसी साधारण सदस्य (अर्थात जो सदस्य मन्त्री नहीं है) द्वारा प्रस्तुत ऐसा विधेयक पारित कर दे, जिसे मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त न हो तो सारी मन्त्रि-परिषद त्यागपत्र दे देती है क्योंकि उसे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध एक अविश्वास प्रस्ताव माना जाता है । जब तक मन्त्रिमण्डल का बहुमत विद्यमान है, ऐसा कभी नहीं हो सकता । प्रथम संसद के कार्यकाल में सरकार द्वारा प्रेषित विधेयकों की संख्या 315 थी, जबकि साधारण सदस्यों द्वारा प्रेषित विधेयकों की संख्या केवल 7 थी; दूसरी संसद के कार्यकाल में यह संख्या क्रमश: 327 और 2 रही; तथा तीसरी संसद के कारण में यह घट कर क्रमश: 273 व 3 रह गई । यही क्रम चौथी व पाँचवीं संसद में भी रहा ।

मन्त्रिमण्डल सरकार के विधायक कार्यों के अतिरिक्त सभी नीति सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर भी निर्णय करता है । यह आर्थिक विकास की योजनाओं पर सहमति प्रदान करता है तथा योजना आयोग इसी के परामर्श से कार्य करता है । सामान्यत: प्रधान मन्त्री योजना आयोग के अध्यक्ष (Chairman) होते हैं पर पिछले कुछ वर्षों से एक पृथक योजना मन्त्री नियुक्त किया जाने लगा है । फरवरी 1973 के मन्त्रिमण्डलीय फ़ेरबदल में दुर्गाप्रसाद धर को योजना मन्त्री नियुक्त किया गया था । योजना आयोग की बैठकों में जिस-जिस मन्त्रालय के विषय विचाराधीन होते हैं, उनके मन्त्री यथासमय भाग लेते हैं । जनवरी 1975 में प्रधान मन्त्री के भूतपूर्व प्रधान सचिव पी० एन० हक्सर योजना आयोग के उपाध्यक्ष बने । तब से मन्त्रिमण्डल उनके माध्यम से देश भर के विकास कार्यों पर नियन्त्रण रखता रहा है ।

मन्त्रिमण्डल पर सभी मन्त्रालयों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने का दायित्व होता है । यह कार्य मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय के माध्यम से किया जाता है । इस प्रकार, मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय अपने कार्य भाग के प्रकार के आधार पर अत्यन्य महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली निकाय बन गया है ।

देश के विदेश सम्बन्धों पर भी मन्त्रिमण्डल का ही नियन्त्रण होता है । विदेशी राज्याध्यक्षों या सरकारों से सभी वार्ताएँ प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री करते हैं और जब उन वार्ताओं के फलस्वरूप कोई समझौता या सन्धि होती है तो संसद को उसके बारे में केवल सूचित कर दिया जाता है । जैसाकि विदेश मन्त्री ने बाद में सूचित किया, सोवियत संघ के साथ शान्ति तथा मित्रता की सन्धि सम्बन्धी वार्ता दो वर्ष तक चलती रही, पर संसद को इस तथ्य की सूचना अगस्त 1971 में सन्धि पर हस्ताक्षर हो चुकने के बाद ही दी गई। कभी-कभी सरकार विदेशी ताकतों के साथ गुप्त संधियों व करारों पर हस्ताक्षर करती है जिसकी सूचना तक संसद को नहीं दी जाती । विदेशों में देश के कूटनीतिक प्रतिनिधियों के माध्यम से ही मुख्यत:

कूटनीतिक कृत्य किये जाते हैं। ये प्रतिनिधि प्रधान मन्त्री तथा विदेश मन्त्री के नियन्त्रण व पर्यवेक्षण में कार्य करते हैं। उन्हें समय-समय पर परामर्श एवं निर्देश के आदान-प्रदान के लिए नई दिल्ली बुलाया जाता है तथा उन्हें आवश्यक कार्य निर्देश, विदेश मन्त्री व प्रधान मन्त्री से ही प्राप्त होते हैं।

गवर्नरों, राजदूतों, संघीय लोक सेवा आयोग के चेयरमैन तथा सदस्यों, केन्द्रीय राजस्व के महा लेखाकार (Accountant General of the Central Revenues) भारत के महा लेखा नियन्त्रक तथा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India), संविधान में निर्धारित विविधआयोगों के अध्यक्षों, मुख्य चुनाव आयुक्त, तथा समय-समय पर नियुक्त किये जाने वाले जाँच आयोगों के अध्यक्षों इत्यादि सभी पदों के प्रभारियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा की जाती है। कभी-कभी तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा तीन प्रतिरक्षा सेवाओं—थल सेना, जल सेना तथा वायु सेना के अध्यक्षों तक का चयन मन्त्रिमण्डल ही करता है।

किसी राज्य में जब संवैधानिक तन्त्र असफल हो जाने पर गवर्नर द्वारा तत्सम्बन्धी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजी जाती है, तो उस रिपोर्ट पर मन्त्रिमण्डल द्वारा ही निर्णय किया जाता है। चौथे आम चुनावों के पश्चात् विपक्षी दलों ने अनेक बार यह आरोप लगाये हैं कि गवर्नरों ने प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी के दबाव के कारण प्रतिवेदन भेजे, व उनकी भाषा स्वयं प्रधान मन्त्री ने अपनी व अपने दल की आवश्यकतानुसार लिखवाई है। किसी राज्य में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिये जाने के पश्चात् मन्त्रिमण्डल ही यह निश्चित करता है कि राष्ट्रपति शासन कितने समय तक लागू रखना है और राज्य विधान सभा के नए चुनाव कब कराये जायेंगे। किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन का वास्तविक अर्थ केन्द्र का शासन या मन्त्रिमण्डल का शासन ही होता है।

बजट, मन्त्रिमण्डल के अधिकार क्षेत्र से बाहर होता है। इसे वित्त मन्त्री तैयार करते हैं तथा तत्सम्बन्धी विचार-विमर्श प्रधान मन्त्री अथवा उनके एक-दो अत्यन्त विश्वस्त मन्त्रियों के साथ ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई विषय नहीं जिसके प्रति संसद सक्षम न हो। तदपि यह उल्लेखनीय है कि मन्त्रिमण्डलों को इतने विशाल अधिकारों के उपभोग की सहमति संसद ही देती है और वह भी केवल उस समय तक रहती है, जब तक मन्त्रिमण्डल को संसद के बहुमत का समर्थन उपलब्ध रहता है।

मन्त्रिमण्डल की लगभग यही स्थिति ग्रेट ब्रिटेन में भी होती है। मन्त्रिमण्डल द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका के कारण ही रैम्से म्यूर ने उसे "राज्य रूपी जलयान का पतवार पहिया" (steering wheel of the ship of the state) संज्ञा दी है। उन्होंने अपनी पुस्तक *How Britain is Governed* में "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही" का भी ज़िक्र किया है। सर जान मेरियट (John Mariott) ने इसे "ऐसी धुरी जिसके चारों तरफ सारा राजनीतिक तन्त्र घूमता है" (The pivot round which the

whole political machinery revolves) नाम दिया है। एक अन्य ब्रिटिश लेखक वाल्टर बैजहॉट (Walter Bagehot) ने अपनी पुस्तक *The English Constitution* में मन्त्रिमण्डल को "कार्यकारी तथा विधायक विभागों को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी तथा उस योग को सुदृढ़ करने वाला काँटा" (the hyphen that joins, the buckle that fastens the executive and legislative departments together) बताया है। कीटन (Keeton) को शिकायत थी कि संसद उपेक्षित होती जा रही है तथा सरकार के संसदीय ढाँचे में मन्त्रिमण्डल ने सर्वोपरि स्थान पर अधिकार कर लिया है।

अध्याय 10

संसद
(Parliament)

भारतीय संघ की विधानकारी सत्ता राष्ट्रपति तथा लोक सभा व राज्य सभा नामक संसद के दो सदनों में निहित है संसद के विधान तथा विधि निर्माण में राष्ट्रपति जो भूमिका निभाते हैं वह पहले अध्यायों में विस्तारपूर्वक बताई जा चुकी है । अतः यहाँ उस पर पुनः विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इस अध्याय में हम दोनों सदनों के घटकों, उनके कार्यांग तथा अधिकारों व उनकी सीमाओं की चर्चा करेंगे ।

लोक सभा
(Lok Sabha)

संविधान की धारा 81 में निर्दिष्ट है कि लोक सभा के अधिकतम 500 सदस्य होंगे, जिन्हें भिन्न-भिन्न राज्यों से सीधे निर्वाचन द्वारा लिया जायेगा तथा इनमें केन्द्रशासित प्रदेशों के 25 से अधिक प्रतिनिधि नहीं होंगे । राज्यों में 500 स्थानों का वितरण इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक 7,50,000 जनसंख्या के पीछे कम से कम एक प्रतिनिधि हो तथा प्रत्येक 5,00,000 जनसंख्या का एक से अधिक प्रतिनिधि न हो । मई 1953 में संविधान में दूसरा संशोधन किया गया जिसके फलस्वरूप धारा 81 के अनुच्छेद 1 के अंश (ख) में से "प्रत्येक 7,50,000 जनसंख्या के लिए कम से कम एक" शब्द निकाल दिये गए । यह संशोधन इसलिए किया गया कि देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के दृष्टिकोण से यह निश्चित किया गया कि लोक सभा की सदस्य संख्या 500 से अधिक न होने दी जाए । 1956 का राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किये जाने के पश्चात् अक्तूबर 1956 में सातवाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया और धाराएँ 81 व 82 के स्थान पर नई धाराएँ जोड़ी गईं जिनसे प्रतिनिधित्व का आधार पहले से सरल हो गया । संशोधित धारा 81 में निर्दिष्ट किया गया कि प्रत्येक राज्य को लोक सभा में इस प्रकार स्थान दिये जायेंगे कि यथासम्भव प्रत्येक राज्य से लिए जाने वाले प्रतिनिधियों तथा वहाँ की जनसंख्या का अनुपात समान हो तथा प्रत्येक राज्य को चुनाव क्षेत्रों में इस प्रकार बाँटा जाये कि प्रत्येक चुनाव क्षेत्र की जनसंख्या

तथा उसे आवंटित प्रतिनिधि-संख्या, यथासम्भव, सारे राज्य में लगभग समान हो। "जनसंख्या" से तात्पर्य अन्तिम जनगणना से होता है जिसके परिणाम प्रकाशित किये जा चुके हों। निर्वाचन के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य को एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्रों में बाँटा गया है अर्थात प्रत्येक राज्य को लोक सभा में जितने स्थान आवंटित हैं, उतने ही उसके चुनाव क्षेत्र हैं। किन्तु कुछ राज्यों में, अनुसूचित जातियों के लिए स्थान आरक्षित करने के लिए दो सदस्यीय या वहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र भी हैं। जम्मू व कश्मीर राज्य की विधान सभा की संस्तुति पर वहाँ के प्रतिनिधित्व के लिए राष्ट्रपति द्वारा 6 सदस्य नामांकित किये जाते हैं। संविधान की धारा 330 में लोक सभा में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के लिए स्थान आरक्षित करने का प्रावधान है। धारा 331 में निर्दिष्ट है कि यदि राष्ट्रपति यह समझें कि संसद में आंग्ल-भारतीय सम्प्रदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है तो वे उसके अधिकतम दो सदस्य नामांकित कर सकते हैं। आंग्ल-भारतीय सम्प्रदाय, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के लिये स्थानों का आरक्षण संविधान की धारा 334 के आधीन संविधान लागू होने की तिथि से दस वर्ष की अवधि के लिए किया गया था, पर कालान्तर में राजनीतिक हलकों में ऐसे आरक्षण को दस वर्ष तक और जारी रखने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसके लिए जनवरी 1960 में संविधान (आठवाँ संशोधन) अधिनियम पारित करके यह आरक्षण जनवरी 1970 तक वढ़ा दिया गया। दिसम्बर 1969 में संविधान (तेइसवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया जिसके फलस्वरूप आरक्षण को जनवरी 1980 तक वढ़ा दिया गया।

चुनाव, वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है अर्थात् प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसकी वयस निर्वाचन के दृष्टिकोण से निर्धारित अथवा संसद द्वारा वनाये गए किसी विधि के आधीन निश्चित तिथि को कम से कम 21 वर्ष हो, तथा भारत का नागरिक न होने, दिमाग की अस्वस्थता, अपराध अथवा अवैध कृत्यों इत्यादि के किसी कारण से मतदान के अयोग्य न हो, अपना नाम मतदाता के रूप में पंजीकृत करा सकता है। मार्च 1971 में जो लोक सभा के लिए मध्यावधि चुनाव कराये गये, उन तक भारत में मतदाताओं की संख्या 29,40,00,000 तक जा पहुँची थी। भिन्न-भिन्न राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों के लिये स्थानों का आवंटन इस प्रकार था :

आन्ध्र प्रदेश 41, असम 14, विहार 53, गुजरात 24, हिमाचल प्रदेश 4, हरियाणा 9, जम्मू व कश्मीर 6, केरल 19, मध्य प्रदेश 37, महाराष्ट्र 45, मैसूर 27, नगालैंड 1, उड़ीसा 20, पंजाव 13, राजस्थान 23, तमिल नाडु 39, उत्तर प्रदेश 85, पश्चिम वंगाल 40, कुल जोड़=500 स्थान। केन्द्रशासित प्रदेश—अण्डमान निकोवार द्वीप समूह 1, चन्डीगढ़ 1, दादरा, नगर-हवेली 1, दिल्ली 7, गोआ, दमन, दीव 2, लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह 1, मणिपुर 2, पांडिचेरी 1, त्रिपुरा 2, तथा उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेश (NEFA) 1, (राष्ट्रपति द्वारा नामांकित)।

1971 की जनगणनाके परिणामस्वरूप जनसंख्या में जो उल्लेखनीय वृद्धि देखने में आई

तो तत्कालीन मुख्य निवर्चान आयुक्त, एस०पी० सेनवर्मा ने सुझाव दिया कि लोक सभा की सदस्य संख्या बढ़ाकर 570 कर दी जाये। उनका कहना था कि इससे दो उद्देश्यों की पूर्ति होगी। एक तो यह कि लोक सभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व में कमी नहीं आयेगी, दूसरे, संसत्सदस्यों को अपने मतदाताओं से मिलने में अधिक कठिनाई नहीं बढ़ेगी क्योंकि मध्य श्रेणी के निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या जो उस समय 11 लाख थी, 1976 तक 15 लाख हो जाने का अनुमान था। डा० सेन के उत्तरवर्ती डा० नागेन्द्र सिंह ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी निर्वाचन क्षेत्र का क्षेत्रफल तो वही रहता है, अतः संसत्सदस्य को उसी क्षेत्रफल के भीतर अधिक व्यक्तियों से मिलना पड़ता है, अधिक यात्रा नहीं करनी पड़ती। ग्रेट ब्रिटेन का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि 1832 में उस देश की जनसंख्या डेढ़ करोड़ थी और हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) में 655 सदस्य थे, और 1973 में जब उसकी जनसंख्या साढ़े पाँच करोड़ हो गई तो सदस्य संख्या केवल 630 थी। इसी तरह संयुक्त राज्य अमरीका का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि 1910 के बाद वहाँ की जनसंख्या पहले से दुगुनी से भी अधिक हो गई है पर हाउस आफ रिप्रेज़ेन्टेटिव्ज (House of Representatives) की सदस्य संख्या स्थिर अर्थात 435 ही रही है। केन्द्र सरकार इस प्रश्न पर अभी तक कोई निर्णय नहीं कर सकी है।

15 दिसम्बर, 1971 को लोक सभा में तथा 21 दिसम्बर 1971 को राज्य सभा में उत्तर पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम पारित किया गया जो संविधान का 27वाँ संशोधन था। इसके तत्वावधान में 20-21 जनवरी, 1972 को तीन नये राज्य—मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा, तथा दो केन्द्रशासित प्रदेश—मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश स्थापित किये गये (इस क्षेत्र को पहले नार्थ ईस्ट फ्रन्टियर एजेन्सी अर्थात NEFA कहते थे)। इस प्रकार, राज्यों की संख्या 21 हो गई पर केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 9 ही रही।[1] इससे संविधान की धारा 81 के प्रावधान का अतिक्रमण हुआ जिसमें यह निर्दिष्ट था कि लोकसभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व के लिए अधिकतम 500 और केन्द्रशासित प्रदेशों के प्रतिनिधित्व के लिए अधिकतम 25 सदस्य होंगे। लोक सभा की कुल स्थान संख्या में वृद्धि करना तथा उनको राज्यों में पुनः आवंटित करना अनिवार्य हो गया। इसके लिए संसद ने दिसम्बर 1972 में निर्वाचन क्षेत्र विसीमाकरण अधिनियम (Delimitation of Constituencies Act) पारित किया तथा एक विसीमाकरण आयोग (Delimitation Commission) नियुक्त कर दिया। इस आयोग ने अपना कार्य जनवरी 1975 के आरम्भ में पूरा किया। तदनुसार लोक सभा में भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए स्थानों

[1]उपर्युक्त तीन राज्यों तथा असम व नगालैंड का संयुक्त रूप से एक गवर्नर, एक उच्च न्यायालय तथा एक ही लोक सेवा आयोग रखा गया। आर्थिक व सामाजिक नियोजन क्षेत्र में समान हितों के प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए एक उत्तर पूर्वी परिषद स्थापित करने का प्रावधान भी किया गया। इस परिषद के जिम्मे इस प्रदेश में संचार-व्यवस्था, परिवहन, ऊर्जा उत्पादन तथा उद्योग के विकास सम्बन्धी समन्वय स्थापित करना भी था।

का निम्नलिखित वितरण किया गया :

राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश का नाम	वर्तमान स्थान संख्या*			संशोधित स्थान संख्या		
	कुल	अनुसूचित जातियों के लिये	जन-जातियों के लिये	कुल	अनुसूचित जातियों के लिये	जन-जातियों के लिये
उत्तर प्रदेश	85	18	—	85	18	—
बिहार	53	7	5	54	8	5
महाराष्ट्र	45	3	3	48	3	3
पश्चिम बंगाल	40	8	2	42	8	2
आन्ध्र प्रदेश	41	6	2	42	6	2
मध्य प्रदेश	37	5	8	40	5	8
तमिल नाडु	39	7	—	39	7	—
कर्नाटक	27	4	—	28	4	—
गुजरात	24	2	3	26	2	4
राजस्थान	23	4	3	25	4	3
उड़ीसा	20	3	5	21	3	5
केरल	19	2	—	20	2	—
असम	14	1	2	14	1	2
पंजाब	13	3	—	13	3	—
हरियाणा	9	2	—	10	2	—
जम्मू-कश्मीर	6	—	—	6	—	—
हिमाचल प्रदेश	4	1	—	4	1	—
त्रिपुरा	2	—	1	2	—	1
मणिपुर	2	—	1	2	—	1
मेघालय	2	—	2	2	—	—
नगालैंड	1	—	—	1	—	—
दिल्ली	7	1	—	7	1	—
गोआ, दमन, दीव	2	—	—	2	—	—
पांडिचेरी	—	—	—	1	—	—
अरुणाचल प्रदेश	1	—	—	1	—	—
मिज़ोरम	1	—	1	1	—	—
चंडीगढ़	1	—	—	1	—	—
अंडमान	1	—	—	1	—	—
दादरा, नगर, हवेली	1	—	1	1	—	1
लक्षदीवी, मिनिकोय	1	—	1	1	—	1

*"वर्तमान स्थान संख्या" से तात्पर्य वह स्थान संख्या है, जो विसीमाकरण आयोग स्थापित किये जाने के समय थी।

लोक सभा में अतिरिक्त स्थानों की व्यवस्था के लिए संविधान में संशोधन (धारा 81) आवश्यक था। यह संशोधन मई 1973 में इकत्तीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया। स्थान संख्या 525 से बढ़ाकर 545 कर दी गई।

लोक सभा के लिए निर्वाचन सीधे मतदान से होता है। संसद के दोनों सदनों तथा राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों के निर्वाचन के लिए केवल एक बृहत् निर्वाचन सूची तैयार की जाती है। किसी भी व्यक्ति को केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग इत्यादि के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। साथ ही कोई भी व्यक्ति अपना नाम किसी विशिष्ट निर्वाचन-सूची में सम्मिलित कराने की माँग कर सकता है। भारत का प्रत्येक ऐसा नागरिक, जो कम से कम 25 वर्ष का हो, किसी निर्वाचन क्षेत्र में न्यूनतम 180 दिन रह चुका हो, तथा संविधान की तीसरी अनुसूची में दिये गए प्रारूप के अनुसार निष्ठा की शपथ उठाने को तैयार हो, लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्ह (entitled) माना जाता है।

निम्नलिखित परिस्थितियों में व्यक्ति को लोक सभा का सदस्य निर्वाचित किये जाने या बनाये जाने के योग्य नहीं समझा जाता—(क) वह भारत सरकार या उसके किसी राज्य की सरकार में किसी वेतन-भोगी पद पर नियुक्त हो (कुछ ऐसे पदों के अतिरिक्त जिन्हें संसद विधि द्वारा इस प्रकार की अनर्हता से मुक्त मानती है), (ख) यदि उसका दिमाग ठीक न हो तथा किसी उपयुक्त न्यायालय द्वारा ऐसा घोषित किया जा चुका हो, (ग) यदि वह अऋणमुक्त दीवालिया हो, (घ) यदि वह भारत का नागरिक न हो अथवा उसने स्वेच्छापूर्वक किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वीकार कर ली हो, अथवा किसी विदेशी राज्य के साथ सम्बन्ध या उसकी आधीनता की स्वीकारोक्ति कर चुका हो, (ङ) यदि उसे संसद द्वारा बनाये गए किसी विधि द्वारा या उसके प्रवर्तन द्वारा अयोग्य घोषित किया गया हो। संविधान की धारा 102(2) में निर्दिष्ट है कि किसी व्यक्ति को केवल केन्द्र सरकार में मन्त्री या किसी राज्य की सरकार में मन्त्री होने के कारण भारत सरकार या उस राज्य की सरकार के आधीन वेतन-भोगी पद पर नियुक्त नहीं समझा जायेगा।

कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों तथा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति एक ही समय संसद एवं किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य निर्वाचित हो जाये और वह संसद का सदस्य रहना चाहे तो उसे राज्य विधानमण्डल की सदस्यता का स्थान रिक्त कर देना होगा।

धारा 83(2) में निर्दिष्ट है कि यदि लोक सभा पहले भंग न कर दी जाये तो वह उसकी प्रथम बैठक की नियत तिथि से पाँच वर्ष की अधिकतम अवधि के लिए जीवित रहेगी तथा इस पाँच वर्ष की अवधि की समाप्ति पर संसद भंग हो जाती है।

राष्ट्रपति किसी भी समय लोक सभा भंग करने के लिए सक्षम होते हैं पर यह विदित ही है कि वे ऐसा केवल प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करते हैं, जैसाकि उन्होंने दिसम्बर 1970 में किया था। राष्ट्रपति एक या दोनों सदनों का सत्रावसान कर

सकते हैं। राष्ट्रपति समय-समय पर अपने विवेकानुसार उचित समय एवं स्थान पर संसद के सदनों के अधिवेशन बुला सकते हैं, पर उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तिथि में छः मास का अंतर नहीं होना चाहिए। संसद के प्रत्येक सदन की बैठक के लिए आवश्यक गणपूर्ति संख्या (quorum) सदन की कुल सदस्य संख्या का तिहाई भाग होती है। यदि सदन की किसी बैठक के दौरान गणपूर्ति न हो तो अध्यक्ष का यह कर्तव्य होता है कि वे या तो सदन की बैठक स्थगित कर दें, या गणपूर्ति होने तक के लिए बैठक विलम्बित कर दें (कार्य रोक दें)।

लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker of the Lok Sabha)

संसद के प्रसंग में अध्यक्ष (स्पीकर) का पद भी उल्लेखनीय है। यह पद इंग्लैण्ड में आरम्भ हुआ। इस पर सन् 1377 में पहले-पहल सर थामस हैंगरफ़ोर्ड (Sir Thomas Hengerford) ने कार्य किया। उन दिनों इंग्लैण्ड की संसद विधायक निकाय नहीं होती थी। वह ऐसी निकाय होती थी जिसमें जनता राजा के सम्मुख याचिका प्रस्तुत करके अपनी शिकायतें दूर करने का आग्रह कर सकती थी। स्पीकर का यह कार्य होता था कि वह हाउस ऑफ कामन्स से याचिकाएँ व प्रस्ताव ले जाकर राजा के सम्मुख प्रस्तुत करे। उसका पद अत्यन्त दयनीय होता था क्योंकि उसे राजा व प्रजा दोनों का कोप-भाजन बनना पड़ता था। इस प्रकार, केवल साहसी व्यक्ति ही उस पद पर कार्य करने के लिए आगे आते थे। किन्तु कालान्तर में स्पीकर का पद संसार के सबसे अधिक आदरणीय, सम्मानित एवं ज़िम्मेदारी के पदों में गिना जाने लगा। वे देश के श्रेष्ठतम प्रजाजन (First Commons in the Realm) कहलाने लगे।

भारतीय संविधान के रचयिताओं ने भिन्न-भिन्न धाराओं में इस पद का नामोल्लेख किया है। धारा 93 में निर्दिष्ट है कि लोक सभा को यथाशीघ्र दो सदस्यों का चयन स्पीकर व डिप्टी स्पीकर के पदों के लिए करना चाहिए। यदि इन दोनों पदों में से कोई एक पद कभी भी रिक्त हो तो सदन को उस पद के लिए दूसरा व्यक्ति चुन लेना चाहिए। धारा 94 में निर्दिष्ट है कि यदि स्पीकर या डिप्टी स्पीकर लोक सभा का सदस्य न रहे तो उसे अपना पद त्याग देना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह स्वयं अपने हस्ताक्षर द्वारा त्यागपत्र दे सकता है तथा सभी लोक सभा सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास करके स्पीकर को अपने पद से हटाया भी जा सकता है। स्पीकर को उनके पद से हटाने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करने से कम से कम 14 दिन पूर्व उस आशय की सूचना देना आवश्यक होता है, अन्यथा ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसी धारा में यह भी प्रावधान है कि यदि लोक सभा भंग कर दी जाये तो स्पीकर सभा भंग होने के बाद होने वाली संसद की प्रथम बैठक से पहले दिन से पहले अपना पद रिक्त नहीं करेंगे। धारा 96 में निर्दिष्ट है कि लोक सभा की किसी बैठक में यदि स्पीकर को अपदस्थ करने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा हो तो स्पीकर

वहाँ उपस्थित होते हुए भी अध्यक्षता नहीं करेंगे। डिप्टी स्पीकर को अपदस्थ करने का प्रस्ताव विचाराधीन होने पर भी यही स्थिति होगी। जब स्पीकर को अपदस्थ करने का प्रस्ताव विचाराधीन हो, स्पीकर को लोक सभा में भाषण करने तथा अन्यथा भाग लेने का अधिकार रहता है। उन्हें मतदान का अधिकार भी रहता है पर समान मतसंख्या की दशा में निर्णायक मत नहीं दे सकते। सामान्य स्थिति में, जब सदन में अन्य प्रश्नों पर विचार किया जा रहा हो तो स्पीकर को मतदान का अधिकार नहीं होता पर समान मतसंख्या की दशा में वे निर्णायक मत डाल सकते हैं। धारा 100 (4) में निर्दिष्ट है कि यदि लोक सभा की बैठक में किसी भी समय गणपूर्ति न हो तो यह स्पीकर की ज़िम्मेदारी होगी कि वे बैठक समाप्त घोषित कर दें, या गणपूर्ति (quorum) होने तक बैठक को निलंबित कर दें। धारा 110 (3) में यह निर्दिष्ट है कि यदि ऐसा प्रश्न उठ खड़ा हुआ हो कि अमुक विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं, तो स्पीकर का निर्णय अन्तिम माना जाता है। धारा 112(3) में निर्दिष्ट है कि स्पीकर का वेतन भारतीय संचित निधि (Consolidated Fund of India) द्वारा देय होती है। धारा 118(2) में बताया गया है कि स्पीकर को लोक सभा के कार्यविधि सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार होता है। संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक होने पर स्पीकर ही उसकी अध्यक्षता करते हैं। धारा 120 (1) के प्रावधान के अनुसार, यदि कोई संसत्सदस्य अपने विचार हिन्दी या अंग्रेजी भाषा में ठीक तरह व्यक्त न कर सकता हो तो स्पीकर उसे अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकते हैं। स्पीकर द्वारा संसद की कार्रवाई के संचालन की रीति के विषय में उन्हें किसी न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार नहीं करना पड़ता। संसद की कार्रवाई के प्रतिवेदन को भी किसी कार्यविधि सम्बन्धी आरोप में संसद में प्रस्तुत नहीं कराया जा सकता।

लोक सभा के अध्यक्ष होने के नाते स्पीकर, मुद्दों पर सदन में बहस हो चुकने के बाद, मत-संग्रह करते हैं और उसका परिणाम घोषित करते हैं। प्रत्येक विचाराधीन विषय पर भाषण के लिये वे सदस्यों का चयन करते हैं और कभी-कभी यह भी निर्णय करते हैं कि सदन में किस प्रश्न-विशेष पर विचार किया जाये। उनकी सहमति के बिना सदन में किसी को भाषण की अनुमति नहीं होती। वे लोक सभा के सभी प्रकाशनों के भी उच्चतम प्रभारी होते हैं। जो प्रश्न उनके विवेक-निर्णय के लिए छोड़ दिए जाते हैं, उनके सम्बन्ध में स्पीकर का आदेश निर्णायक होता है। वे सदन को सम्बोधित सभी सन्देश प्राप्त करते हैं तथा सदन की ओर से सन्देश भेजते हैं। वे सभी उद्देश्यों के लिए वारण्ट तथा रिट जारी करते हैं। सदस्यों को वे यथोचित समय पर उनकी उद्दण्डता व सदन का अनुशासन भंग करने के लिए डाँटते-फटकारते भी हैं।

यद्यपि स्पीकर औपचारिक तौर से सदन द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, पर वास्तव में प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डलीय साथियों की सहायता से उनका चयन करते हैं। किन्तु प्रधान मन्त्री को यह ध्यान अवश्य रखना होता है कि उनकी पसन्द सभी लोक

सभा-सदस्यों को ग्राह्य होगी। यह एक प्रथा है कि जिस व्यक्ति ने पूर्ववर्ती लोक सभा में स्पीकर के रूप में कार्य किया हो, उसे ही पुनः स्पीकर चुन लिया जाता है। यद्यपि वह व्यक्ति किसी राजनीतिक दल के टिकट पर चुनाव लड़ता है (भारत में अब तक सभी स्पीकर कांग्रेस के टिकट पर चुनाव जीत कर संसद में आये थे), अन्य राजनीतिक दल उसकी प्रत्याशिता के निर्वाचन क्षेत्र से खड़े नहीं होते। इसका यही कारण होता है कि स्पीकर बनने के बाद वह दलीय बाना त्याग कर देश की राजनीति में निष्पक्ष रहता है तथा किसी भी राजनीतिक दल की बैठकों में भाग नहीं लेता। सदस्यों को प्रीति-भोजों इत्यादि पर आमन्त्रित करने अथवा संसद में भाषण का अवसर देने तथा व्यवस्था के प्रश्नों पर निर्णय देने के समय स्पीकर को एक न्यायाधीश के समान निष्पक्षतापूर्वक निर्णय देना होता है। दुर्भाग्यवश लोक सभा में इस आदर्श का अक्षरशः पालन नहीं हो रहा है। अनेक अवसरों पर स्पीकर के निर्णय के पश्चात् विपक्षी दल या तो सदन से उठकर चले जाते हैं या उनसे संघर्ष पर उतारू हो जाते हैं, उन पर पक्षपात के आरोप लगाते हैं, अथवा कुर्सी की अवज्ञा करके संसद में कोलाहल मचाते हैं। प्रथम आम चुनाव के बाद लोक सभा के जन्म से ही सदैव कांग्रेस की सरकार बनती रही है और उसे कभी भी सुदृढ़ या सुसंगठित विपक्ष का सामना नहीं करना पड़ा है। यही कारण है कि सरकार कभी भी विपक्ष के दृष्टिकोण, सुझावों, प्रस्तावों तथा आग्रहों को उचित सम्मान नहीं देती। मार्च, 1971 के मध्यावधि चुनावों का प्रमुख कारण कांग्रेस दल में फूट पड़ना था और इसके परिणाम-स्वरूप सामने आया श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाले कांग्रेसी धड़े को लोक सभा में तीव्र बहुमत प्राप्त हुआ, कांग्रेसी मन्त्री विपक्षी दृष्टिकोण एवं आग्रह के प्रति और भी अधिक उदासीन हो गए। इससे विपक्षी दलों को बड़ी निराशा हुई तथा वे बार-बार तथा समय-समय पर काम रोको प्रस्ताव, विशेषाधिकार प्रस्ताव, तथा अविश्वास प्रस्ताव तक पेश करने लगे, सरकार के प्रति तरह-तरह के गम्भीर आरोप लगाने लगे, प्रशासन की अकुशलता एवं भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ करने लगे तथा अड़चनें डालने के प्रयत्न करने लगे।

उपर्युक्त कथन के समर्थन में अनेक उदाहरण मौजूद हैं, पर यहाँ कुछ का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। 19 फरवरी, 1973 को जब राष्ट्रपति गिरि संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में बजट सत्र का उद्घाटन करने आये तो पांच विपक्षी दलों—स्वतन्त्र, जन संघ, संगठन कांग्रेस, साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) तथा संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी—ने उसका बहिष्कार कर दिया। उन्हें शिकायत थी कि बेरोजगारी, बढ़ती हुई कीमतों, कानून-व्यवस्था तथा कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन की विकट समस्याओं के समाधान के प्रश्न पर सरकार की नीति पूर्णतः असफल रही है।

इसके चार दिन बाद संसदीय मामलों के मन्त्री रघुरामैय्या ने एक साम्यवादी (मार्क्सवादी) सदस्य ज्योतिर्मय बसु को "कुर्सी" के प्रति अपमानजनक शब्द कहने के आरोप में दो दिन के लिए निलम्बित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव

ध्वनि मत से पारित हो गया पर सारे प्रति पक्ष ने वसु का साथ दिया और सदन के मार्शल को उन्हें सदन से बाहर नहीं निकालने दिया। अगले दिन प्रतिपक्ष ने सदन में यह प्रश्न उठाया कि संजय गांधी की छोटी कार फैक्टरी 'सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा' है, क्योंकि वह प्रतिरक्षा प्रतिष्ठानों के बहुत निकट अवस्थित है, तथा औद्योगिक विकास मन्त्री सी० सुब्रह्मणयम तथा प्रतिरक्षा राज्यमन्त्री विद्याचरण शुक्ल के विरुद्ध एक विशेषाधिकार प्रस्ताव (Privilege Motion) प्रस्तुत किया। दो दिन बाद अनेक विपक्षी सदस्यों ने 'मारुती' (संजय की कार) के सम्बन्ध में पूरी बहस की माँग की। 9 मार्च, 1973 को विपक्षी दलों ने हरियाणा के मुख्यमन्त्री वन्सी लाल के विरुद्ध आरोपों की जाँच की माँग की, जिसके परिणामस्वरूप सदन में बड़ा कोलाहल हुआ तथा सरकार व अनेक विपक्षी संसत्सदस्यों में खूब झड़पें हुईं।

3 सितम्बर, 1974 को स्वतन्त्र दल के नेता पीलू मोदी ने एक हिन्दी साप्ताहिक के विरुद्ध उसके द्वारा संसत्सदस्यों के विरुद्ध "भद्दे व अपमानजनक" लेखों के प्रति विशेषाधिकार प्रस्ताव प्रस्तुत किया। तीन दिन बाद जन संघी नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने एक प्रस्ताव द्वारा पांडिचेरी की कुछ फर्मों को लाइसेंस दिये जाने के मामले की संसदीय जाँच की माँग की। 18 नवम्बर को सभी असाम्यवादी दल राष्ट्रपति के उस आदेश के विरोध में सदन से उठ कर चले गए जिसके द्वारा आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के तहत बन्दी बनाये गए व्यक्तियों को न्यायिक उपाय करने की मनाही कर दी गई थी। 1974 के शीत अधिवेशन में कई दिन तक हँगामा होता रहा, जब सारे प्रतिपक्षी दलों ने "लाइसेंस स्कैन्डल" पर केन्द्रीय जाँच ब्यूरो का प्रतिवेदन दिखाने का आग्रह किया।

एक बार मोरारजी देसाई ने संसद भवन के भीतर **सत्याग्रह** करने तक की धमकी दी। अनेक अन्य संसत्सदस्यों ने विशेषाधिकार सम्बन्धी प्रश्न उठाये। प्रतिपक्ष के ये दावपेंच इतने अधिक हो गये कि 19 दिसम्बर, 1974 को स्पीकर जी० एस० ढिल्लों ने शिकायत की कि उन्हें केवल सदन की कार्रवाई का नियन्त्रण ही नहीं करना होता अपितु प्रतिदिन विशेषाधिकार के प्रश्नों पर दो या तीन निर्णय भी लिखने पड़ते हैं। उन्होंने कहा, "इससे अच्छा तो मैं एक न्यायाधीश होता तो मुझ पर सदन के संचालन का कार्यभार न होता।"

अनेक बार प्रतिपक्ष व स्पीकर में गर्मागर्मी भी हो जाती है। ऐसा एक अवसर 3 अगस्त, 1972 को आया जब प्रतिपक्ष ने माँग की कि इस्पात मन्त्री मोहन कुमार मंगलम ने जो प्रजा समाजवादी नेता समर गुप्ता के प्रति उद्धत आलोचना की, उसके लिए उनकी खबर ली जाये, पर स्पीकर ने यह माँग अस्वीकार कर दी। इसके कारण सदन में स्पीकर तथा विपक्षी नेताओं के बीच गर्मागर्मी हो गई जो इस प्रकार थी :

एस०एन० मिश्रा : यह उद्दण्डतापूर्ण उत्तर है, आपको मन्त्री की खबर लेनी चाहिए।

स्पीकर : आप हद से बाहर मत जाइए।

श्री मिश्रा : आप उस उद्दण्ड मन्त्री को हद से बाहर न जाने के लिए नहीं कहते। मैं यह उद्दण्डता सहन नहीं कर सकता। स्पीकर महोदय को उसे फटकारना चाहिए।

स्पीकर : मैं यह सहन नहीं कर सकता।

श्री मिश्रा : हम भी स्पीकर का यह रवैया सहन नहीं कर सकते।

स्पीकर : मुझे अफसोस है। यदि आप इसी तरह का व्यवहार करेंगे तो मुझे आप का नामोल्लेख करना होगा।

एक सदस्य : आप केवल सदस्यों को डाँटते हैं, मन्त्रियों को कुछ नहीं कहते।

श्री मिश्रा : हम भी आप के ही समान इज़्ज़त रखते हैं।

स्पीकर : आप इज़्ज़त रखते होंगे पर आप का व्यवहार तो ऐसा नहीं है।

जन संघीय नेता श्री० वाजपेयी को उठते देख कर स्पीकर ने कहा : आप रोज़ खड़े हो जाते हैं।

श्री वाजपेयी ने प्रत्युत्तर दिया : हम यहाँ उठ खड़े होने ही तो आते हैं।

एक अन्य जनसंघीय सदस्य : आप यहाँ स्पीकर के रूप में हैं, पुलिसमैन के रूप में नहीं।

पीलू मोदी : तुम्हें भला लगे या बुरा, विरोध तो होगा ही।

स्पीकर ने कहा : "कुछ हद भी तो हो, रोज़ चार-पांच व्यक्ति खड़े होकर सदन का काम रोक देते हैं।"

श्री मिश्रा : आप सदैव पुलिस वालों की तरह बात करते हैं।

जब अनेक विपक्षी सदस्यों ने पुनः मन्त्री को डाँटने की माँग की तो स्पीकर ने पूछा : "किस लिए ?"

इन्द्रजीत गुप्त : मन्त्री द्वारा की गई आलोचना न्यायसंगत नहीं है, और सदस्य की शिकायत (कि उनके प्रश्न का पूरा उत्तर नहीं दिया गया है) जायज है।

श्री गुप्ता ने अध्यक्ष को कहा, "मेरे विचार में आप ने उनकी बात को समझा नहीं है।"

एक साम्यवादी (मार्क्सवादी) सदस्य ज्योतिर्मय बसु ने स्पीकर से पूछा : जब आप पंजाब विधान सभा में विपक्षी नेता थे तो आप क्या करते थे ?

स्पीकर ने कहा कि वे मन्त्रियों के साथ इससे "दस गुना" अधिक कठोरतापूर्वक व्यवहार करते थे और उन्हें वह सहन करना होता था।

ज़ीरो आवर (zero hour) स्पीकर के लिए बड़ी कठिनाई का समय होता है। यह अवसर संसद (लोक सभा) में प्रश्नों के समय के बाद आता है। उस समय प्रत्येक सदस्य बोलना चाहता है और स्पीकर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। चौथी लोक सभा में जब संजीव रेड्डी स्पीकर थे, उन्होंने 15 अप्रैल, 1969 को कहा, "यह मेरे लिये रोज का सिरदर्द हो गया है। ज्यूँही प्रश्नोत्तर काल समाप्त होता है, सदस्य उठ खड़े होते हैं और मेरी अनुमति के बिना ही मन चाहे प्रश्न पूछने लगते हैं। वे इसे 'ज़ीरो आवर' कहते हैं, किन्तु नियमों में ऐसा कोई

प्रावधान नहीं है। संसद को नियमों के अनुसार कार्य करना होता है।" उन्होंने सदस्यों को चेतावनी दी कि यदि फिर कभी वे बिना आज्ञा पाये उठे तो उन्हें चुप बैठना होगा और कुछ भी अभिलिखित नहीं किया जायेगा। उन्होंने कहा कि यदि सदस्य चाहें तो सदस्य नियमों में परिवर्तन करके आधा घण्टा नियत कर सकते हैं जिसमें वे अध्यक्ष की अनुमति के बिना प्रश्न कर सकें। उन्होंने बहुत निराशाजनक शब्दों में कहा, "फिर मैं केवल यह देखूंगा कि कौन अधिक चिल्लाता है। हे भगवान ! मैं चिल्लाता हूँ, वे चिल्लाते हैं। शोर ही शोर होता है। यह ठीक नहीं है।"

विपक्षी नेताओं के साथ स्पीकर ढिल्लों के सम्बन्ध कुछ सुखद नहीं थे। मार्च 1973 के दूसरे सप्ताह में संगठन कांग्रेस के नेता एस० एन० मिश्रा ने उन्हें चेतावनी दी कि उन्हें अविश्वास प्रस्ताव का सामना करना होगा।"

इस प्रकार, स्पीकर पद अत्यन्त दायित्वपूर्ण, कठिन तथा क्लेशपूर्ण हो गया है। वह अपनी मर्यादा के अनुसार देश की राजनीति से भिन्न नहीं रहा तथा स्पीकर ढिल्लों राजनीतिक प्रवाह एवं विचारधारा पर अपने विचार व्यक्त करने लगे हैं। उदाहरण-तया, जब 1974 में जयप्रकाश नारायण ने जनता में उन सरकारी नीतियों के विरुद्ध जागृति लाने के लिए देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ किया, जिनके परिणामस्वरूप मूल्यों में वृद्धि, बेरोजगारी, तथा प्रशासन एवं सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा था, तो उन्होंने 5 नवम्बर, 1974 को विधान निकायों के अध्यक्षों के समक्ष भाषण करते हुए कहा, "मुझे यह देख कर बड़ी मानसिक पीड़ा होती है कि जय-प्रकाश नारायण जैसे ख्याति प्राप्त व्यक्ति देश के छात्रों व युवकों में विधायकों को आतंकित करने का प्रचार कर रहे हैं। यह सामान्य सभ्यतापूर्ण आचरण तथा प्रजा-तन्त्रीय व्यवहार के पूर्णत: विपरीत है।" ढिल्लों का जयप्रकाश नारायण द्वारा बिहार विधान सभा भंग करने की माँग करने तथा युवकों को विधान सभा सदस्यों व सरकारी कार्यालयों का घिराव करने के लिए उकसाने के प्रति अपनी ओर से चिन्ता व्यक्त करना चाहे उचित रहा हो पर जयप्रकाश नारायण की सीधी आलोचना करना पक्षपात का परिचायक होगा।

राज्य सभा
(Rajya Sabha)

संसद के दूसरे सदन का नाम राज्य सभा या कौंसिल ऑफ़ स्टेट्स (Council of States) है। इसके 250 सदस्य होते हैं। इनमें से 238 सदस्य राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों[2] का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामांकित किये जाते हैं। राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों के प्रति स्थानों का आवंटन संविधान की

[2]केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए प्रतिनिधित्व के लिए प्रावधान 1956 के संविधान (सातवें संशोधन) अधिनियम के अन्तर्गत किया गया।

चतुर्थ अनुसूची में दिया गया है जो इस प्रकार है : अजमेर और कुर्ग 1, असम 6, भोपाल 1, विहार 21, विलासपुर व हिमाचल प्रदेश 1, वम्वई 17, दिल्ली 1, हैदरा-वाद 11, कच्छ 1, मध्य भारत 6, मध्य प्रदेश 12, मद्रास 27, मणिपुर व त्रिपुरा 1, मैसूर 6, उड़ीसा 9, पटियाला व पूर्वी पंजाव राज्य संघ (पैप्सू) 3, पंजाव 8, राजस्थान 9, सौराष्ट्र 4, ट्रावनकोर-कोचीन 6, उत्तर प्रदेश 31, विन्ध्य प्रदेश 4, तथा पश्चिम वंगाल 14, जोड़ 200 ।

संविधान लागू किया जाने के वाद भारत के राजनीतिक मानचित्र में बार-बार प्रयत्न किये गए । इनमें से अधिकतर परिवर्तन 1956 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के पश्चात किये गए तथा संविधान में अनेक संशोधन किये गए । इसके परिणाम-स्वरूप राज्य सभा के स्थानों का आवंटन भी संशोधित करना पड़ा । यह संशोधित रूप, 5 अप्रैल, 1971 को इस प्रकार था :

आन्ध्र प्रदेश	18
असम	7
विहार	22
गुजरात	11
हरियाणा	5
हिमाचल प्रदेश	3
जम्मू-कश्मीर	4
केरल	9
मध्य प्रदेश	16
महाराष्ट्र	19
मैसूर	12
नगालैंड	1
उड़ीसा	10
पंजाव	7
राजस्थान	10
तमिल नाडु	18
उत्तर प्रदेश	34
पश्चिम वंगाल	16
दिल्ली	3
मणिपुर	1
पांडिचेरी	1
त्रिपुरा	1
जोड़	228

उत्तर पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 के लागू होने के बाद राज्य सभा के स्थानों को पुनः आवंटित किया गया। 28 मई, 1973 को स्थिति इस प्रकार थी :

आन्ध्र प्रदेश	18
असम	7
बिहार	22
गुजरात	11
हरियाणा	5
हिमाचल प्रदेश	3
जम्मू-कश्मीर	4
कर्नाटक	12
केरल	9
मध्य प्रदेश	16
महाराष्ट्र	19
मणिपुर	1
मेघालय	1
नगालैंड	1
उड़ीसा	10
पंजाब	7
राजस्थान	10
तमिल नाडु	18
त्रिपुरा	1
उत्तर प्रदेश	34
पश्चिम बंगाल	16
अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह	—
चण्डीगढ़	—
दादरा, नगर हवेली	—
दिल्ली	3
गोआ, दमन, दीव	—
लक्षद्वीप	—
मिज़ोरम	1
पांडिचेरी	1
अरुणाचल प्रदेश	1
जोड़	231+12

12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामांकित किये जाते हैं।

28 मई, 1973 को भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों की सदस्य-संख्या इस प्रकार थी : कांग्रेस 123, संगठन कांग्रेस 15, जन संघ 15, द्रविड़ मुनेत्र कपगम 11, साम्यवादी दल 11, स्वतन्त्र पार्टी 10, साम्यवादी (मार्क्सवादी) 7, मुस्लिम लीग 5, भारतीय क्रान्ति दल 4, सोशलिस्ट पार्टी 3, सोशलिस्ट पार्टी (लोहिया ग्रुप) 3, तथा अकाली दल 2। इसके अतिरिक्त छोटे-मोटे राजनीतिक दलों के 8 प्रतिनिधि, 14 स्वतन्त्र और 11 नामांकित सदस्य थे, जो किसी राजनीतिक दल से सम्बन्धित नहीं थे। इस प्रकार, कांग्रेस दल को साढ़े तीन वर्ष बाद पुन: स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ (1969 की फूट के बाद उसकी सदस्य संख्या केवल 90 रह गई थी।)

राष्ट्रपति द्वारा जो व्यक्ति नामांकित किये जाते हैं, वे विज्ञान, कला, साहित्य, तथा समाज सेवा के क्षेत्रों में विशेष ज्ञान या अनुभव के आधार पर लिए जाते हैं। वस्तुत: ये नामांकन प्रधान मन्त्री द्वारा ही किये जाते हैं, अत: ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जब ऐसे व्यक्ति नामांकिन किये गए जिन्हें किसी महान उपलब्धि का श्रेय प्राप्त नहीं था वरन् उनसे यह आशा थी कि वे शासक दल का साथ देंगे और उसकी नीतियों व योजनाओं का समर्थन करेंगे।

राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा नहीं बल्कि राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। यह चुनाव एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर किया जाता है। राज्य सभा भंग नहीं की जाती पर प्रत्येक दो वर्ष की अवधि समाप्त होने पर यथाशीघ्र निकटतम एक-तिहाई संख्या में सदस्य कार्य-निवृत्त हो जाते हैं। राज्य सभा के अधिवेशन के लिए गणपूर्ति कुल सदस्य संख्या का दसवाँ भाग होती है। सदन की बैठकों में विचाराधीन प्रश्नों का निर्णय उपस्थित मतदाता सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। भारत के उप-राष्ट्रपति राज्य सभा के **पदेन** (ex-officio) अध्यक्ष होते हैं।

उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति 'राष्ट्रपति' शीर्षक के अध्याय में बताई जा चुकी है। राज्य सभा अपने सदस्यों में से एक व्यक्ति को अपने उपाध्यक्ष पद के लिए चुन लेती है। यह पद जब भी रिक्त होता है, राज्य सभा एक अन्य सदस्य को अपने उपाध्यक्ष पद के लिए चुनती है। उपाध्यक्ष की सदस्यता समाप्त हो जाने पर उपाध्यक्ष का पद स्वचालित रूप से रिक्त हो जाता है। वे जब चाहें, अध्यक्ष को लिखित त्यागपत्र भेज कर अपना पद त्याग सकते हैं। यदि उन्हें उस पद से हटाना हो तो राज्य सभा के तत्कालीन, कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित करके हटाया जा सकता है। राज्य सभा की जिस बैठक में उप-राष्ट्रपति को अपदस्थ करने का प्रस्ताव विचाराधीन हो उसमें अध्यक्ष (उप-राष्ट्रपति) तथा जिस बैठक में उपाध्यक्ष को अपदस्थ करने का प्रस्ताव विचाराधीन हो उसमें उपाध्यक्ष, स्वयं उपस्थित होते हुए भी अध्यक्षता नहीं करेंगे। किसी बैठक में जब उप-राष्ट्रपति को अपदस्थ करने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा हो, उसमें राज्य सभा अध्यक्ष को भाषण करने व अन्य कार्रवाई में भाग लेने का अधि-

संसद में प्रदान करते हैं। अधीनस्थ विधि निर्माण सम्बन्धी समिति इस सम्बन्ध में जाँच करती है कि संविधान द्वारा प्रदत्त या संसद द्वारा अधिकृत व्यवस्थाएँ, नियम व उपनियम तथा उपविधियां बनाने के अधिकारों का उनकी परिसीमा के भीतर उचित प्रवर्तन होता है अथवा नहीं। तीसरी समिति व्यक्तियों या संगठनों से प्राप्त होने वाली याचिकाओं या प्रार्थनापत्रों इत्यादि का परीक्षण करती है। मन्त्रियों को इन तीनों समितियों के सदस्य बनने की मनाही होती है।

दोनों सदनों की तीन संयुक्त समितियाँ भी होती हैं। इनके नाम हैं : वेतन-भोगी पदों सम्बन्धी समिति (Committee on Offices of Profit), संसत्सदस्यों के वेतन व भत्तों सम्बन्धी समिति (Committee on Salaries and Allowances of Members of Parliament), तथा अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के कल्याणकार्यों संबंधी समिति (Committee on the Welfare of Scheduled Castes and Scheduled Tribes)। इन समितियों के कार्याङ्ग उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते हैं।

भिन्न-भिन्न मन्त्रालयों के लिए सलाहकार समितियाँ नियुक्त की जाती हैं जो नीति सम्बन्धी मामलों तथा सरकारी विभागों के कार्य परिचालन पर मन्त्रियों व संसत्सदस्यों में विचार-विमर्श का आधार प्रदान करती है। इन समितियों के कार्य-निर्वाह के लिए सरकार विपक्षी दलों व गुटों के परामर्श से पथ-निर्देश निश्चित करती है।

संसद में विधायक कार्य विधि

(Legislative Procedure in Parliament)

अर्थ विधेयकों तथा वित्तीय प्रकार के अन्य विधेयकों के अतिरिक्त सभी विधेयक संसद के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकते हैं। साधारण विधेयक किसी भी संसद-सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, पर अधिकतर विधेयक मन्त्री ही प्रस्तुत करते हैं। यदि कोई संसत्सदस्य विधेयक प्रस्तुत करना चाहे तो उसे स्पीकर की अनुमति लेनी होती है। अनुमति मिल जाने पर वह विधेयक की एक प्रति प्रेषित करता है तथा उस विधेयक के लक्ष्य व उद्देश्य समझाते हुए एक वक्तव्य देता है। इसे विधेयक का प्रथम पाठ कहते हैं। इसके बाद वह विधेयक भारतीय राज-पत्र (Gazette) में प्रकाशित किया जाता है। यदि प्रथम पाठ के बाद कोई सदस्य प्रस्तुत विधेयक का विरोध करे तो विधेयक के प्रस्तुतकर्त्ता तथा विरोधी को अपने-अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करने का अवसर दिया जाता है। उसके बाद स्पीकर सदन के सम्मुख यह प्रश्न रखते हैं कि उस विधेयक को पारित करने के लिये विचार किया जाये अथवा नहीं। यदि विरोधी सदस्य को विधेयक के प्रति आपत्ति का यह आधार हो कि प्रस्तुत विधेयक सदन की विधायक क्षमता से बाहर है तो स्पीकर उस पर आम बहस की अनुमति दे सकते हैं।

विधेयक को संसद के समक्ष दूसरी बार प्रस्तुत किये जाने (दूसरा पाठ) के समय उसके प्रस्तुतकर्त्ता सदस्य को निम्नलिखित तीन मार्गों में से एक अपनाना होता है : (क) कि विधेयक को एक प्रवर समिति (Select Committee) के हवाले कर दिया जाये, (ख) उसे जनता की राय जानने के लिए प्रचारित कर दिया जाए, तथा (ग) उस पर सदन में तुरन्त विचार आरम्भ किया जाए। तुरन्त विचार केवल उन्हीं विधेयकों पर आरम्भ किया जाता है जो बहुत आवश्यक एवं निर्विरोध प्रकृति के हों, अन्यथा अधिकतम मामलों में प्रथम दो प्रक्रियाएँ ही अपनाई जाती हैं। आमतौर पर विधेयक एक प्रवर समिति को भेज दिये जाते हैं। यह समिति स्वयं सदन द्वारा नियुक्त की जाती है तथा उसका अध्यक्ष स्पीकर द्वारा नामांकित किया जाता है। यदि विधेयक राज्य सभा में प्रस्तुत किया जाये तो समिति का अध्यक्ष राज्य सभा के अध्यक्ष द्वारा नामांकित किया जाता है। उस समिति द्वारा विधेयक पर विचार करने के समय कोई भी संसत्सदस्य, जो उस समिति का सदस्य न हो, उसकी बैठक में उपस्थित रह सकता है पर उसमें भाषण नहीं कर सकता। यदि कोई मन्त्री वहाँ उपस्थित होकर भाषण करना चाहे तो वह समिति के अध्यक्ष की अनुमति से बोल सकता है। समिति का प्रतिवेदन निश्चित काल के भीतर सदन को प्रेषित किया जाता है। यदि समिति के सदस्यों में परस्पर मतभेद हो तो प्रतिवेदन बहुमत के आधार पर तैयार किया जाता है। असहमत सदस्य अपने दृष्टिकोण सम्बन्धी टिप्पणी कर सकते हैं। समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के दिन विधेयक का प्रस्तुतकर्त्ता निवेदन करता है कि विधेयक सम्बन्धी प्रतिवेदन पर विचार किया जाये।

तब विधेयक के एक-एक अनुच्छेद पर बहस होती है और संसत्सदस्य उसमें संशोधन प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रत्येक संशोधन को सदन में बहस के बाद स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है। विधेयक के प्रत्येक अनुच्छेद पर बहस के बाद वह प्रतिवेदन अवस्था पार कर लेता है तथा फिर उसे तीसरे पाठ के लिये अनुसूचित कर दिया जाता है और उसके लिए निश्चित तिथि को उसे पुनः सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इस बार उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया जाता वरन् आवश्यक भाषायी संशोधन मात्र किये जाते हैं। तब विधेयक पर मत लिये जाते हैं और यदि वह उपस्थित मतदाता सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाये तो स्पीकर तत्सम्बन्धी घोषणा कर देते हैं। उसके बाद स्पीकर उस पर पारित हो जाने का सत्यांकन करके उसे दूसरे सदन को भेज देते हैं। दूसरे सदन में भी विधेयक को उपर्युक्त पाँचों अवस्थाएँ पारित करनी होती हैं और यदि वहाँ भी उसे कोई अड़चन न पड़े तो उसे संसद द्वारा पारित माना जाता है।

विधेयक को एक सदन द्वारा पारित करके दूसरे सदन को भेजे जाने के बाद यदि :

(क) दूसरा सदन विधेयक को अस्वीकृत कर दे, या

(ख) दोनों सदन विधेयक में प्रस्तावित किसी संशोधन के प्रश्न पर अन्तिम रूप

से असहमत हों, या

(ग) दूसरे सदन में विधेयक प्राप्त होने के बाद छः महीने की अवधि बीत गई हो पर उसे पारित न किया गया हो, पर यदि वह विधेयक लोक सभा भंग हो जाने के कारण कालबाधित न हो गया हो तो राष्ट्रपति, यदि सदनों का सत्र चल रहा हो, तो सन्देश भेज कर अन्यथा सार्वजनिक सूचना प्रसारित करके दोनों सदनों को इस आशय की अधिसूचना दे सकते हैं कि वे उस विधेयक पर विचार-विमर्श तथा मतदान करने के लिए एक संयुक्त अधिवेशन में उपस्थित हों। किन्तु यह अनुच्छेद मुद्रा विधेयक पर लागू नहीं होता।

राष्ट्रपति की उपर्युक्त अधिसूचना के पश्चात् सदनों को तदनुसार एकत्र होना पड़ता है। संयुक्त अधिवेशन में यदि वह विधेयक, सहमत संशोधनों सहित, दोनों सदनों की कुल उपस्थिति व मतदाता सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाये तो उसे दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों को संयुक्त अधिवेशन के लिये आमन्त्रित करने के आशय की अधिसूचना के बाद यदि वह अधिवेशन होने से पहले लोक सभा भंग हो गई हो तो भी संयुक्त अधिवेशन करके इसमें विधेयक पारित किया जा सकता है।

संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो चुकने के बाद विधेयक राष्ट्रपति को प्रेषित किया जाता है और वे उसे अपनी स्वीकृति प्रदान करने या न करने की सूचना देते हैं। स्वीकृति न देने की स्थिति में वे विधेयक संसद को ऐसे सन्देश सहित लौटा देते हैं कि वे विधेयक या उसके किन्हीं विशिष्ट प्रावधानों पर विचार करें तथा (यदि उन्होंने स्वयं कोई संशोधन प्रस्तावित किया हो) अमुक संशोधनों पर विशेषतया विचार करें। इस प्रकार लौट कर आने के बाद संसद के दोनों सदन उस विधेयक पर यथावत विचार करते हैं तथा यदि संसद उसे संशोधित या असंशोधित रूप में पुनः पारित करके राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित करे, तो राष्ट्रपति द्वारा उस के प्रति स्वीकृति प्रदान करना अनिवार्य होता है।

मुद्रा विधेयकों सम्बन्धी कार्य-विधि (Procedure in Respect of Money Bills)

संविधान की धारा 109 में मुद्रा विधेयकों के सम्बन्ध में एक विशेष कार्य-विधि बताई गई है। ऐसा कोई भी विधेयक राज्य सभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। लोक सभा द्वारा पारित किया जा चुकने के बाद उसे राज्य सभा को संस्तुति के लिये भेजा जाता है, जो उसे प्राप्ति के बाद 14 दिन के भीतर अपनी संस्तुति सहित लौटा देती है। लोक सभा, राज्य सभा द्वारा की गई संस्तुति को पूर्णतया या आंशिक रूप से स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि लोक सभा उसकी कुछ संस्तुतियों को स्वीकार कर ले तो विधेयक को राज्य सभा द्वारा संस्तुत व लोक सभा द्वारा स्वीकृत संशोधन सहित दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। यदि लोक सभा राज्य सभा

की संस्तुतियों को स्वीकार न करे तो विधेयक को राज्य सभा द्वारा संस्तुत किसी भी संशोधन के बिना, लोक सभा द्वारा पारित प्रारूप में ही, दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि कोई मुद्रा विधेयक लोक सभा द्वारा पारित करके राज्य सभा को उसकी संस्तुति के लिए प्रेषित किया गया हो और उसे 14 दिन की उपर्युक्त अवधि के भीतर लोक सभा को न लौटाया गया हो तो उसे लोक सभा द्वारा पारित किये जाने के बाद वह अवधि समाप्त होने पर दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित मान लिया जाता है जिस रूप में उसे लोक सभा ने पारित किया था।

संविधान की धारा 110 में मुद्रा विधेयक की परिभाषा बताई गई है। किसी भी विधेयक को मुद्रा विधेयक तब माना जाता है, जब उसमें निम्नलिखित सभी या कोई प्रश्न सम्मिलित हों :

(क) किसी करका लगाया जाना, समाप्त किया जाना, छोड़ दिया जाना, न्यूनाधिक किया जाना या नियन्त्रित किया जाना;

(ख) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने या गारण्टी देने को नियन्त्रित करने, अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गए या लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय उत्तरदायित्वों सम्बन्धी विधि का संशोधन;

(ग) भारत की संचित निधि या आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा तथा किसी ऐसी निधि में से मुद्रा निकालना या उसमें डालना;

(घ) भारत की संचित निधि में से मुद्रा का विनियोग (appropriation);

(ङ) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर प्रभारित घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की मात्रा में वृद्धि करना;

(च) भारत की संचित निधि के नाम पर या भारत के सार्वजनिक लेखे में मुद्रा प्राप्त करना अथवा ऐसी मुद्रा की अभिरक्षा या परिचालन, अथवा संघीय लेखों या किसी राज्य के लेखों की लेखा परीक्षा; या

(छ) उपर्युक्त अनुच्छेद (क) से (च) तक निर्दिष्ट मामलों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले कोई प्रश्न।

ऐसा प्रश्न उठ खड़ा होने पर कि अमुक विधेयक मुद्रा विधेयक है अथवा नहीं, स्पीकर का निर्णय अन्तिम होता है। राज्य सभा को भेजे गए अथवा राष्ट्रपति को सहमति के लिए प्रेषित किये गए प्रत्येक मुद्रा विधेयक पर स्पीकर यह पृष्ठांकन करते हैं कि वह एक मुद्रा विधेयक है।

वित्तीय मामलों में कार्य-विधि (Procedure in Financial Matters)

मुद्रा विधेयकों सम्बन्धी कार्य-विधि वित्तीय मामलों सम्बन्धी कार्य-विधि से भिन्न होती है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वित्तीय मामला बजट होता है। भारत में बजट दो भागों में बनाया जाता है तथा संसद में प्रस्तुत करके पास कराया जाता है, अर्थात रेलवे बजट और सामान्य बजट। रेलवे बजट में केवल रेलवे की आमदनी व खर्च

होते हैं, तथा उसे रेल मन्त्री, सामान्य बजट से पहले प्रस्तुत करते हैं। सामान्य बजट में शेष सभी मन्त्रालयों की आय तथा व्यय के अनुमान होते हैं तथा उसे वित्त मन्त्री प्रति वर्ष फरवरी मास के अन्तिम दिन प्रस्तुत करते हैं। बजट प्रस्तुत करने के बाद वित्त मन्त्री एक विस्तृत भाषण देते हैं, जिसमें वे करों के प्रस्तावों, शुल्क प्रवृत्ति (tariff trends), देश के उद्योगों को दिया गया संरक्षण, तथा अन्य मामलों का विवरण देते हैं। यह दोनों सदनों में एक साथ प्रस्तुत किया जाता है तथा इसमें प्रत्येक मन्त्रालय की खर्चे की माँगें सामूहिक एवं पृथक् रूप से दी जाती हैं।

बजट में दिये गए व्यय के अनुमानों में (क) भारत की संचित निधि में से देय व्यय की धन राशि तथा (ख) भारत की संचित निधि में से देने के लिए प्रस्तावित अन्य खर्चों की राशि का पृथक-पृथक ब्यौरा दिया जाता है।

बजट में राजस्व खाते के व्यय तथा अन्य व्यय को भी स्पष्ट रूप से भिन्न दिखाया जाता है।

निम्नलिखित खर्चे भारत की संचित निधि में से देय होते हैं :

(क) राष्ट्रपति का कुल वेतन, भत्ते तथा उनके कार्यालय सम्बन्धी अन्य खर्चे;

(ख) राज्य सभा तथा लोक सभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के वेतन व भत्ते;

(ग) ऋण भार जिसका दायित्व भारत सरकार पर हो। इसमें ब्याज, निक्षिप्त निधि (sinking fund) प्रभार, ऋण शोधन प्रभार (redemption charges), तथा ऋण प्राप्त करने, व चालू ऋण एवं ऋण शोधन सम्बन्धी खर्चे;

(घ) (1) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके सम्बन्ध में देय वेतन, भत्ते और पेंशन, (2) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके सम्बन्ध में देय पेंशन (यह मद अब अनावश्यक है), (3) भारत के महालेखा नियन्त्रक एवं परीक्षक को या उनके सम्बन्ध में देय वेतन, भत्ते व पेंशन, (4) किसी न्यायालय व पंचायत अधिकरण द्वारा किये गए निर्णय, डिक्री अथवा निपटारे के परिणामस्वरूप देय राशि, (5) अन्य खर्चे जो संविधान द्वारा या संसदीय विधि द्वारा इस प्रकार देय घोषित किये जायें।

खर्चे की इन मदों पर संसद में मतदान नहीं कराया जाता तदपि उनमें से किसी पर भी बहस की मनाही नहीं होती।

अन्य खर्चों की राशियों के लिए अनुमान, लोक सभा में, अनुदान की माँगों के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। लोक सभा को किसी भी माँग के प्रति सहमति देने, न देने, अथवा उसमें विशिष्ट कमी करने के निर्देश सहित सहमति देने का अधिकार होता है। राज्य सभा को ऐसा कोई अधिकार नहीं होता। वित्तीय कार्य-विधि का एक अन्य सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रपति की संस्तुति के अतिरिक्त अनुदान की कोई माँग प्रस्तुत नहीं की जा सकती, अर्थात् तत्सम्बन्धी मन्त्री द्वारा माँग प्रस्तुत किये बिना संसद किसी भी मद में व्यय करने के लिये धन का अनुदान नहीं दे सकती।

प्रस्तुति के बाद बजट को चार अन्य अवस्थाओं में से भी गुज़रना पड़ता है :

सामान्य बहस (general discussion), माँगों पर मतदान, विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) पर विचार तथा उसे पारित करना, तथा कर प्रस्तावों पर विचार करके पारित करना अर्थात् वित्त विधेयक। सामान्य बहस के समय केवल सामान्य सिद्धान्तों व उनकी आधारभूत नीति पर विचार किया जाता है। यह कार्य दो-तीन दिन में समाप्त कर लिया जाता है। सदस्य यदि कोई आलोचना करें तो वित्त मन्त्री उसके प्रत्युत्तर में वक्तव्य देते हैं। माँगों पर मतदान की अवस्था में सदन बजट के व्यय सम्बन्धी भाग पर मत-संग्रह करता है जिसके लिए प्रत्येक विभाग की अनुदान माँगों पर मत लिया जाता है। यद्यपि सदन को माँगों में कमी करने या उन्हें अस्वीकृत करने का अधिकार होता है पर जब तक मन्त्री स्वयं उस कटौती या अस्वीकृति को स्वीकार करने को तैयार न हो, ऐसा नहीं किया जाता। इस प्रक्रिया के लिए लगभग एक मास की समय-सीमा निर्धारित होती है और उतने समय के भीतर अरबों रुपये के व्यय के अनुमान पर मत ले लिए जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अनेक माँगें पूर्णतः बिना किसी बहस के स्वीकार कर ली जाती हैं। बहस के समय संसत्सदस्य भिन्न-भिन्न मन्त्रालयों के कार्य संचालन पर निराशा व्यक्त करते हैं पर उससे सार्वजनिक धन में से किये जाने वाले खर्चे की माँगों में कोई कमी नहीं आती। मन्त्रीगण अपने-अपने विभागों से सम्बन्धित सभी आपत्तियों का या तो उत्तर दे देते हैं या उत्तेजित सदस्यों को आश्वासन दे देते हैं कि भविष्य में उनकी आपत्तियों को ध्यान में रखा जायेगा, पर उस पर आचरण कभी नहीं होता।

लोक सभा में सभी माँगों को मतदान द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद, उन्हें संचित निधि प्रभार (consolidated fund charges) सहित एक विधेयक के रूप में रखा जाता है जिसे विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) कहते हैं। इस विधेयक पर भी लोक सभा में अन्य विधेयकों के समान प्रक्रिया होती है पर इसमें संशोधन प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। लोक सभा द्वारा पारित हो जाने के बाद स्पीकर उसे इस प्रमाणन (certificate) के साथ राज्य सभा को भेजते हैं कि वह एक मुद्रा विधेयक है। उस सदन को उसे अस्वीकृत करने या संशोधित करने का अधिकार नहीं होता, अर्थात् वह उस पर 14 दिन तक अनर्गल बहस कर सकता है। इसके बाद विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित किया जाता है। इस विधेयक का उद्देश्य सरकार को भारतीय संचित निधि से धन निकाल कर बजट में प्रस्तावित मदों पर व्यय करना आरम्भ करने की अनुमति देना होता है।

यदि वर्ष के दौरान किसी ऐसी मद पर अतिरिक्त व्यय करना आवश्यक हो जाये जो उस वर्ष के बजट में पहले अनुमानित न हो तो संसद को अनुदान की अनुपूरक माँगें भी प्रेषित की जा सकती हैं। अनुपूरक माँगों की आवश्यकता उस समय भी पड़ती है जब किसी वित्त वर्ष में किसी एक सेवा पर पहले अनुदान किये गए धन से अधिक राशि खर्च हो गई हो।

विनियोग विधेयक पारित होने के बाद बजट के व्यय सम्बन्धी भाग का कार्य पूरा

हो जाता है। किन्तु व्यय के लिए धन जुटाने के साधन खोजने पड़ते हैं, तथा उसके लिए कर लगाये जाते हैं। कुछ कर तो ऐसे होते हैं जिनके लिए वार्षिक प्राधिकार (annual authorization) प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, पर उनकी दरों में कमी-वेशी करनी पड़ती है। इसके उदाहरण आयकर तथा सीमा शुल्क हैं। किन्तु ऐसी और भी अनेक मदें होती हैं जिन पर सरकार कर लगाने के प्रस्ताव कर सकती है जिसके लिए संसद से प्राधिकार प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके लिए वित्त विधेयक प्रस्तुत करना होता है, जोकि लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि विनियोग विधेयक में न तो संशोधन किये जाते हैं और न ही ऐसे संशोधन स्वीकार किये जाते हैं पर प्रस्तावित करों में कमी, बहुधा प्रस्तावित कर दी जाती है और तत्सम्बन्धी सुझावों को सरकार यदा-कदा मान लेती है। किन्तु संसद-सदस्य ऐसे कोई नए कर लगाने की माँग नहीं कर सकते जो सरकार द्वारा प्रस्तावित न हों। वित्त विधेयक की भी विनियोग विधेयक के ही समान प्रक्रिया होती है। विधेयक पर विचार करने की नियत तिथि को, उस पर प्रस्तावित सभी संशोधनों का निपटारा हो चुका हो या नहीं, उसे पारित कर दिया जाता है।

संसद की क्षमताएँ
(Powers of Parliament)

भारतीय संसद को काफी विशाल एवं विस्तृत क्षमताएँ प्राप्त हैं, जो संविधान की भिन्न-भिन्न धाराओं में वर्णित हैं। धारा 2 में निर्दिष्ट है कि संसद विधि द्वारा किसी नए राज्य को संघ में सम्मिलित कर सकती है अथवा नए राज्य स्थापित कर सकती है। उसके लिए उसे आवश्यक शर्तें इत्यादि निर्धारित करने की छूट होती है। धारा 3 में निर्दिष्ट है कि वह (क) किसी राज्य में से प्रदेश काट कर, या दो या अधिक राज्यों या राज्यों के टुकड़ों को जोड़ कर, या किसी प्रदेश को किसी राज्य के टुकड़े में जोड़ कर नया राज्य स्थापित कर सकती है, (ख) किसी राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि कर सकती है, (ग) किसी राज्य का क्षेत्रफल कम कर सकती है, (घ) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है, तथा (ङ) किसी राज्य का नाम परिवर्तित कर सकती है। धारा 4 द्वारा संसद को विशेष परिस्थितियों में प्रथम व चतुर्थ अनुसूचियों में परिवर्तन का अधिकार दिया गया है। धारा 11 में संसद नागरिकता ग्रहण या समाप्त करने तथा नागरिकता सम्बन्धी अन्य सभी प्रश्नों के विषय में प्रावधान कर सकती है।

धारा 16 (3) के अधीन संसद किसी राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश की सरकार या किसी स्थानीय या अन्य निकाय में नौकरी के लिए आवास सम्बन्धी आवश्यकता निर्दिष्ट कर सकती है। धारा 35 के अधीन संसद मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रावधानों को कार्यान्वित करने के लिए प्रावधान कर सकती है। धारा 70 में छूट दी

गई है कि आवश्यकता पड़ने पर वह राष्ट्रपति के कार्य परिचालन के लिए राष्ट्रपति सम्बन्धी अध्याय में बताई गई आकस्मिकताओं के अतिरिक्त आवश्यक प्रावधान भी कर सकती है। संसद राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन (धारा 71, 3) से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न को नियन्त्रित कर सकती है। संसद को समय-समय पर मन्त्रियों के वेतन व भत्ते निश्चित करने का अधिकार होता है (धारा 75, 6)। धारा 80 (5) में निर्दिष्ट है कि संसद को केन्द्रशासित प्रदेशों द्वारा राज्य सभा में अपने प्रतिनिधि चुनने की विधि निश्चित करनी चाहिए। धारा 83 (2) के अधीन, आपात्-स्थिति घोषित होने पर संसद अपने कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है परन्तु यह वृद्धि एक बार में एक वर्ष से अधिक के लिए तथा किसी भी स्थिति में आपात्-स्थिति समाप्त होने के छः मास बाद से अधिक अवधि के लिए यह वृद्धि नहीं की जा सकती। संसद को दोनों सदनों के सचिवालय कर्मचारियों की भर्ती एवं सेवा की शर्तें नियन्त्रित करने का अधिकार होता है। धारा 22 के अनुच्छेद 7 में बताया गया है कि संसद ऐसी परिस्थितियाँ निर्धारित कर सकती है जिनके अधीन किसी व्यक्ति को उसी धारा के अनुच्छेद 4 द्वारा वांछित सलाहकार मण्डल का मत लिए बिना तीन मास से अधिक अवधि के लिए रोका जा सकता है।

संसद को अपनी कार्यविधि को नियमित करने तथा अपने कार्य के संचालन के लिए नियम बनाने का अधिकार है। वह वित्तीय कार्यों को समय पर निपटाने के लिए अपनी वित्तीय मामलों सम्बन्धी कार्यविधि को भी नियमित कर सकती है। धारा 121 में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों द्वारा अपने कर्तव्यों के निर्वाह में किये गए कृत्यों पर संसद में बहस की मनाही की गई है। पर जब किसी न्यायाधीश को अपदस्थ करने के लिए राष्ट्रपति को निवेदन प्रस्तुत करना हो तो यह मनाही लागू नहीं होती। धारा 139 के अनुसार, संसद, उच्चतम न्यायालय को निदेश आदेश वा रिट जारी करने की क्षमता प्रदान कर सकती है। धारा 39 (2) में उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकार प्रवर्तित कराने के उद्देश्य से रिट आदेश जारी करने का अधिकार दिया गया है। उसके अतिरिक्त, संसद उच्चतम न्यायालय को किसी भी उद्देश्य के लिए प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus), परमादेश (mandamus), निषेधादेश (prohibition), अधिकार पृच्छा (quo warranto) अथवा उत्प्रेषण (certiorari) इत्यादि के रिट आदेश जारी करने की क्षमता प्रदान कर सकती है। उच्चतम न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकारों के उचित प्रवर्तन में यदि कुछ संपूरक क्षमताओं (supplemental powers) की आवश्यकता प्रतीत हो तो संसद उसे वे क्षमताएँ प्रदान कर सकती है पर वे संविधान के असंगत नहीं होनी चाहिएँ। उच्चतम न्यायालय के आदेशों एवं डिक्रियों को सारे भारत में प्रवर्तित किया जाता है। इसके लिए संसद कार्यविधि प्रशस्त करती है।

धारा 169 (1) के अनुसार संसद, जिस राज्य में विधान परिषद विद्यमान हो, वहाँ से उसे समाप्त कर सकती है, तथा जिस राज्य में विधान परिषद न हो, वहाँ स्थापित

करा सकती है पर इसके लिए उस राज्य की विधान सभा द्वारा प्रस्ताव पारित होना अनिवार्य होता है। ऐसे प्रस्ताव के लिए विधान सभा की कुल सदस्य-संख्या का बहुमत होना आवश्यक है। साथ ही, जो सदस्य मतदान के समय उपस्थित हों और मतदान कर रहे हों उनका दो-तिहाई बहुमत होना भी आवश्यक है। संसद, समय-समय पर, अपने सदस्यों तथा समितियों की क्षमताएँ, विशेषाधिकार तथा उन्हें दी गई उन्मुक्तियाँ (immunities) परिभाषित कर सकती है और जब तक वे परिभाषित न कर दी जायें, वही मानी जाती हैं जो ग्रेट ब्रिटेन में हाउस ऑफ़ कामन्स की होती हैं। कई बार यह प्रश्न उठाया जा चुका है कि इन विशेषाधिकारों को एक संहिता के रूप में लिपिबद्ध कर दिया जाये पर सरकार का सदैव यही दृष्टिकोण रहा कि उन्हें ऐसे ही चलने दिया जाये। संसद में की गई किसी भी कार्रवाई की वैधता को किसी भी न्यायालय में प्राविधिक अनियमितता, के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती और संसद की कार्रवाई नियन्त्रित करने सम्बन्धी किसी भी अधिकारी पर तत्सम्बन्धी अधिकारों के प्रवर्तन के कारण किसी भी न्यायालय में वाद नहीं चलाया जा सकता।

संसद किसी केन्द्रशासित प्रदेश के लिए उच्च न्यायालय स्थापित कर सकती है अथवा उस प्रदेश में स्थापित किसी भी न्यायालय को संविधान के एक या अनेक उद्देश्यों के लिए उच्च न्यायालय घोषित कर सकती है। उसे अपनी बनायी हुई विधि के उचित प्रवर्तन के लिए अतिरिक्त न्यायालय स्थापित करने का भी अधिकार है। विधि-निर्माण की शेष क्षमता संसद में ही निहित होती है अर्थात् वह किसी भी ऐसे विषय पर विधि-निर्माण कर सकती है, जो समवर्ती सूची अथवा राज्य सूची में सम्मिलित न हो। यदि राज्य सभा में उपस्थित दो-तिहाई मतदाता सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पारित करके यह घोषित कर दिया जाये कि राज्य-सूची के किसी विशिष्ट विषय पर संसद द्वारा विधि बनायी जानी राष्ट्रीय हित में आवश्यक या अधिक उचित होगा तो संसद द्वारा उस प्रस्ताव के प्रवर्तन काल में उस विषय पर सारे देश या किसी प्रदेश के लिए विधि निर्माण करना न्यायोचित होगा (धारा 249) आपात्-स्थिति के प्रवर्तन काल में भी संसद को सारे देश या किसी भी प्रदेश के लिए राज्य विधान सूची के किसी भी विषय पर विधि बनाने का अधिकार रहता है। यदि दो या अधिक राज्यों को ऐसा प्रतीत हो कि किसी विशिष्ट विषय को संसद द्वारा नियमित किया जाना आवश्यक है, तो उन सभी राज्यों के विधानमण्डलों को तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पारित करने होते हैं। उनके बाद संसद को उन विषयों को नियन्त्रित करने सम्बन्धी अधिनियम बनाने व पारित करने का अधिकार मिल जाता है। किन्तु वह अधिनियम केवल उन्हीं राज्यों में प्रवर्तित होता है जिन्होंने उसे पारित किया हो अथवा जो उसे बाद में प्रस्ताव पारित करके अंगीकार करें। अन्य देशों के साथ की गई सन्धियों, करार या समझौतों इत्यादि अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संगठन वा निकाय में किये गए निर्णयों को सारे देश या उसके किसी भाग या

प्रदेश में प्रवर्तित करने के लिए विधि बनाने का संसद को पूरा अधिकार होता है।

संसद को किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार परिवर्धित करके किसी भी केन्द्र-शासित प्रदेश को उसमें सम्मिलित करने या किसी भी केन्द्रशासित प्रदेश को किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर निकालने का अधिकार होता है (धारा 230) धारा 262 के अनुसार संसद किसी अन्तर्राज्यीय नदी या नदी घाटी अथवा उसके जल के वितरण या नियन्त्रण सम्बन्धी विवाद या शिकायत पर पंच निर्णय का आदेश दे सकती है।

धारा 280 (1) में निर्दिष्ट है कि वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी, पर आयोग की सदस्यता के लिए आवश्यक अर्हताएँ तथा उनके चयन की विधि संसद निर्दिष्ट करेगी। धारा 302 के अनुसार संसद यदि सार्वजनिक हित में आवश्यक समझे तो भिन्न-भिन्न राज्यों में परस्पर वाणिज्य, व्यापार अथवा अन्य प्रकार के लेन-देन पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। राज्य सभा द्वारा न्यूनतम दो-तिहाई उपस्थित मतदाता सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पारित करके इसे राष्ट्रीय हित में लाभदायक तथा आवश्यक घोषित किया जाने पर संसद केन्द्र एवं राज्यों के संयुक्त उपयोग के लिए या अखिल भारतीय सेवाएँ स्थापित कर सकती है। दो या अधिक राज्यों द्वारा सहमत होने तथा तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पारित करने पर संसद उनके लिए एक संयुक्त सेवा आयोग नियुक्त कर सकती है। संसद को अपने दोनों सदनों तथा प्रत्येक राज्य के सदन या दोनों सदनों के लिए निर्वाचन से सम्बन्धित सभी कार्यों— मतदाता सूची बनवाने, निर्वाचन क्षेत्र सीमांकित करने, तथा प्रत्येक सदन के उचित गठन के लिए व्यवस्था करने का अधिकार है।

राष्ट्रपति, प्रत्येक राज्य अथवा केन्द्रशासित प्रदेश के गवर्नर से परामर्श कर के उस राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश में संविधान के उद्देश्य से अनुसूचित जातियाँ मानने के लिए जातियों, वंशों अथवा जन-जातियों की सूची निर्दिष्ट करते हैं। संसद, राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट सूची में से किसी भी जाति, वंश, अथवा जन-जाति का नाम निकाल सकती है, अथवा नया नाम जोड़ सकती है। धारा 343 में निर्धारित किया गया था कि भारत सरकार की सरकारी भाषा हिन्दी होगी जिसे देवनागरी लिपि में लिखा जायेगा, तथा संविधान लागू होने के बाद 15 वर्ष के भीतर पूरी तरह अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी प्रचलित हो जानी चाहिए। उसी धारा के अनुच्छेद 3 में यह अनुमति भी दी गई थी कि संसद 15 वर्ष की उपर्युक्त अवधि समाप्त होने के बाद भी अंग्रेजी भाषा प्रचलित रहने की छूट दे सकती है। संसद धारा 368 में बताई गई रीति से संविधान संशोधित कर सकती है। इस धारा एवं उसमें बताई गई कार्यविधि का विस्तृत विवरण इसी पुस्तक में अन्यत्र दिया जा चुका है, अतः यहाँ उसकी पुनः विवेचना करना पुनरावृत्ति मात्र होता।

संसद अपनी क्षमताओं का वास्तविक उपभोग नहीं करती (Parliament does not actually Exercise its Powers)

संसद की उपरोक्त क्षमताएँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं, अर्थात विधि निर्माण क्षमताएँ वित्तीय क्षमताएँ, संविधान संशोधन क्षमताएँ तथा प्रशासनिक क्षमताएँ। बहुधा ऐसा कहा जाता है और इस पुस्तक में भी कहा गया है कि संसद की क्षमताएँ वास्तव में मन्त्रिपरिषद की क्षमताएँ होती हैं, जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होते हैं। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि सरकार की संसदीय प्रणाली ने अपना स्थान मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार के लिए रिक्त कर दिया है। इस कथन की सत्यता जाँचने के लिए पहले संसद की विधायक शक्ति को आँकना होगा। यद्यपि यह सच है कि संघीय विधान सूची तथा समवर्ती सूची में निबद्ध सभी विषयों के सम्बन्ध में सभी विधि संसद द्वारा बनाई जाती है, पर वास्तव में केवल देखने में ही ऐसा लगता है। वास्तव में विधि निर्माण का सारा काम सरकार द्वारा नियन्त्रित होता है।

अधिकतम विधेयक मन्त्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं और यदि कोई साधारण सदस्य विधेयक प्रस्तुत करे तो जब तक सरकार उसे अपना समर्थन एवं अनुमति देने को तैयार न हो, वह पारित नहीं हो सकता। यदि किसी साधारण सदस्य द्वारा प्रेषित विधेयक के विषयवस्तु से तत्सम्बन्धी मन्त्री सहमत न हो पर वह विधेयक संसद में पारित हो जाए तो उसे मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास मान कर सारा मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है। इसीलिए साधारण सदस्य, जब तक वे सरकार के समर्थन का पूर्व आश्वासन प्राप्त न कर लें, अपने विधेयक संसद में प्रस्तुत नहीं करते। सामान्यतः सरकार भी यह नहीं चाहती कि किसी अच्छे विधेयक का श्रेय किसी साधारण सदस्य को मिले। उदाहरणतया, एक प्रजा सोशलिस्ट संसत्सदस्य नाथ पै ने संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें संसद को, मौलिक अधिकारों के अध्याय सहित, संविधान में संशोधन करने की क्षमता वापस दिलाने का प्रयत्न किया गया था, पर संसद में अनेक बार बहस के बाद भी उसे पारित नहीं किया गया। स्मरण रहे कि संसद की मौलिक अधिकारों में संशोधन सम्बन्धी क्षमता, **गोलक नाथ** वाद में, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दी गई थी।

2 अगस्त, 1974 को संसद (राज्य सभा) द्वारा भूपेश गुप्ता का विधेयक अस्वीकार कर दिया गया, जिसमें संसत्सदस्यों तथा राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिए आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन बिना अभियोग चलाये बन्दी बनाए जाने से छूट दिलाने का प्रयन्त किया गया था। उप-गृहमन्त्री एफ०एच० मोहसिन ने दलील पेश की कि इस विधेयक से एक नया विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग उदित हो जायेगा, जो सरकार की दृष्टि में उचित नहीं है। यही हालत अन्य साधारण सदस्यों द्वारा यदा-कदा प्रस्तुत किए गए विधेयकों की भी होती रही है।

अनेक बार सरकार संसद की विधायक शक्ति की अवहेलना कर के ऐसे विषयों पर भी अध्यादेश जारी करा देती है जिनके सम्बन्ध में साधारण विधि निर्माण द्वारा काम

चलाया जा सकता है। उदाहरणतया 1974 के शरद अधिवेशन की पूर्व-संध्या को राष्ट्रपति ने वेतन-वृद्धि जमा करने, उच्च आय वर्गों से अनिवार्य जमा कराने तथा कम्पनियों के लाभांश सीमित करने सम्बन्धी कई अध्यादेश जारी किये। लोक सभा में विपक्षी दलों ने इन अध्यादेशों का यह कह कर विरोध किया कि ऐसे अध्यादेश जारी करने के लिए संविधान में जो "असाधारण परिस्थितियाँ निर्दिष्ट की गई हैं, ऐसी कोई परिस्थिति विद्यमान नहीं है। भूपेश गुप्ता ने कहा कि यदि सरकार संसद की अवहेलना ही करना चाहती है तो खुले आम क्यों नहीं करती ? जी० वी० मावलंकर ने कहा कि जब तक नितान्त आवश्यक न हो सरकार को वित्तीय एवं कर लगाने जैसे अध्यादेश जारी नहीं करने चाहिए। किन्तु 1974 के शीत अधिवेशन की पूर्व-संध्या को सरकार ने केन्द्रीय आयात कर तथा नमक (संशोधन) अधिनियम पारित किया। जनसंघी नेता एल० के० अडवानी ने कहा कि इन से संसदीय लोक तन्त्र की उच्चतम परम्पराओं का उल्लंघन होता है। इसी प्रकार भूपेश गुप्ता ने कहा कि ये अध्यादेश जारी करना अत्यधिक "अ-लोकतन्त्रीय" तथा "अ-संसदीय" कृत्य है। स्वीकार ढिल्लों ने भी सरकार को इन शब्दों में फटकारा कि जब संसद के अधिवेशन की तिथि "स्पष्ट एवं निकट" थी तो इन अध्यादेशों की कोई आवश्यकता नहीं थी। तस्कर व्यापारियों सम्बन्धी अध्यादेश 1974 का शरद अधिवेशन समाप्त होने के लगभग तुरन्त बाद जारी किया गया। एक लोक सभा सदस्य पी० जी० मावलंकर ने कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार संसद अधिवेशन समाप्त होने की बाट देख रही थी। उन्होंने पूछा, "क्या हम यहाँ केवल कार्यपालिका के कृत्यों पर सहमति की मुहर लगाने भर को आते हैं ?" केन्द्रीय गृहमन्त्री उमा शंकर दीक्षित ने उत्तेजित सदस्यों को विश्वास दिलाया कि सरकार प्राय: अध्यादेश जारी करती रहने के पक्ष में नहीं है पर समय-समय पर अध्यादेश जारी होते ही रहते हैं।

अनेक अवसरों पर सरकार संसद में कोई अध्यादेश अत्यधिक उतावलेपन से पारित करा लेती है और सदस्यों को उसके प्रावधानों के अध्ययन का समय भी नहीं मिल पाता। संविधान (छत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक, जिसमें सिक्किम को संसद में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया, ऐसा ही एक उदाहरण था। संसत्सदस्य ऐसी कार्रवाई की सदैव आलोचना करते हैं।

संसद का दूसरा कार्यांग (function) संविधान में संशोधन करने का था। संविधान आरम्भ होने के बाद संविधान में 36 बार संशोधन किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने **गोलक नाथ वाद** में निर्णय दिया कि संसद संविधान में ऐसे संशोधन नहीं कर सकती जिन से कोई मौलिक अधिकार छिनता या कम होता हो। यह निर्णय संसद की क्षमता पर एक तीव्र रोक के समान था।

कालान्तर में यह रोक हटा ली गई। केरल के एक धर्मगुरु स्वामी केशवानन्द भारती इत्यादि ने उच्चतम न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की जिसमें संविधान के 24 वें, 25 वें तथा 29 वें संशोधनों की वैधता को चुनौती दी गई थी। 24 अप्रैल,

1973 को उच्चतम न्यायालय ने गोलक नाथ वाद में दिये गए अपने ही निर्णय को उलट कर संसद को मौलिक अधिकारों में परिवर्तन करने के अधिकार सहित उसके सभी अधिकार लौटा दिये पर उसे संविधान के "गठन के मूल आकार" (The basic structure or framework) में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया गया। किन्तु यहाँ भी वही स्थिति विद्यमान है। संसद केवल सरकारी पक्ष द्वारा प्रस्तुत संविधान संशोधन प्रस्तावों को ही पारित करती व कर सकती है क्योंकि जब भी कोई सदस्य अपनी ओर से विधेयक प्रस्तुत करता है उसे अस्वीकार कर दिया जाता है।[4]

इस प्रकार संसद के सभी विधानकारी कृत्यों पर सरकार का नियन्त्रण रहता है। आपूर्ति प्रदान करने तथा व्यय पर नियन्त्रण करने सम्बन्धी वित्तीय क्षमताओं का प्रवर्तन भी केवल खानापूर्ति के ही समान होता है। भारत की संचित निधि पर प्रभारित व्ययों के अतिरिक्त अन्य सभी खर्चों सम्बन्धी अनुमान, संसद के समक्ष खर्चों की माँगों के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। संसद उन माँगों को स्वीकार, अस्वीकार अथवा कम कर सकती है। किन्तु इसमें भी संसद की भूमिका सीमित ही है। संसत्सदस्य किसी मन्त्रालय के कार्य प्रचालन के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता व निराशा की भावना व्यक्त कर सकते हैं, उसकी तीव्र आलोचना कर सकते हैं, तथा उसमें कमी करने के सुझाव दे सकते हैं परन्तु यदि मन्त्री महोदय उनके सुझाव मानने को तैयार न हों तो संसद के पास 'हाँ' कहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं होता। संसद आपूर्ति करने के अतिरिक्त यह भी देखती है कि उन आपूर्तियों का उसी उद्देश्य के लिये उपयोग किया जाये जिसके लिए वे दी गई हैं। किन्तु यह कार्य अनेक सदस्यों को बहुत तकनीकी एवं कठिन प्रतीत होता है तथा सामान्यतः संसद महा लेखा नियन्त्रक व परीक्षक के प्रतिवेदनों के आधार पर ही निर्णय करती है। महा लेखा नियन्त्रक व परीक्षक बहुधा सरकार के विभिन्न विभागों के खर्चों इत्यादि पर टीका टिप्पणी करते हैं। इन आलोचनाओं पर कभी-कभी ही गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है, पर प्रायः उनकी कोई परवाह नहीं करता तथा जनता का धन अनाप-शनाप व्यय किया जाता है।

संसद की प्रशासनिक क्षमता के प्रवर्तन में उसका मन्त्रिपरिषद पर भी नियन्त्रण होता है। जैसाकि धारा 75 (3) में निर्धारित है, मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक

[4]ओम प्रकाश त्यागी ने एक संविधान संशोधन अधिनियम प्रेषित किया जिसमें लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति की अर्हताओं सम्बन्धी मार्ग-निर्देशिकाएं निर्दिष्ट कराने का प्रयत्न किया गया था। इसे राज्य सभा में 2 अगस्त, 1974 को अस्वीकार कर दिया गया। 21 दिसम्बर, 1974 को राज्य सभा द्वारा भूपेश गुप्ता का संविधान संशोधन अधिनियम अस्वीकृत कर दिया गया जिसमें संविधान में अभिलिखित सभी 14 भाषाओं में संसद की कार्रवाई के एक साथ अनुवाद उपलब्ध कराने की व्यवस्था करने का आग्रह किया गया था। नृपति रंजन ने मन्त्रिपरिषद का आकार छोटा करने के लिए एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया पर वह भी अस्वीकृत कर दिया गया।

सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन्त्रिपरिषद केवल तभी तक सत्तारूढ़ रह सकती है, जब तक उसे लोक सभा का विश्वास प्राप्त रहे। किन्तु वास्तव में मन्त्रिपरिषद तब तक सत्तारूढ़ रहती है जब तक उसके राजनीतिक दल का बहुमत रहता है। बहुमत समाप्त या कम होते ही या तो प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को लोक सभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराने के की सलाह देते हैं या विपक्षी दल अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इन दो में से दूसरी स्थिति अभी तक कभी उत्पन्न नहीं हुई पर पहली स्थिति दिसम्बर 1970 में उत्पन्न हुई थी, जब कांग्रेस दल में फूट के कारण प्रधानमन्त्री के समर्थकों की संख्या बहुत कम हो गई थी और उन्होंने राष्ट्रपति गिरि को लोक सभा भंग करने की सलाह दी। मार्च 1971 में जो मध्यावधि चुनाव हुए उनमें उन्हें पुनः बहुमत (516 के सदन में 362 स्थान) प्राप्त हो गया, और उन्होंने पुनः मन्त्रिमण्डल बनाया जो सुसंगठित, सुदृढ़ और कारगर रहा। लोक सभा पर पुनः श्रीमती गांधी की सरकार का नियन्त्रण हो गया।

संसद: एक संगोष्ठी संस्था (Parliament A Debating Club)

यदि संसद अपने चारों कार्यांगों में से वास्तविक या सार रूप से एक भी नहीं करती तो प्रश्न यह उठता है कि फिर वह करती क्या है? जनता का इतना धन क्यों व्यय किया जाता है? तथा क्या यह पूर्णत: निरर्थक निकाय है अथवा इसका देश को कुछ लाभ भी है? इन सब प्रश्नों का उत्तर यह है कि प्रशासन के विविध कार्यों को औपचारिक रूप प्रदान करने के अतिरिक्त, संसद एक संगोष्ठी का भी काम देती है।

विपक्षी दल काम रोको प्रस्तावों, विशेषाधिकार प्रस्तावों, निन्दा प्रस्तावों, सामान्य बहस तथा विवेचनाओं, बहिर्गमन (walk out) तथा सरकार की नीतियों एवं जाने-अनजाने की गई त्रुटियों की आलोचना द्वारा विपक्षी दल, सरकार का ध्यान जनता की कठिनाइयों की ओर आकर्षित करते हैं। ये कठिनाइयाँ बढ़ते हुए मूल्यों, नियम-व्यवस्था के गिरते हुए स्तर, बेरोज़गारी, दैनिक उपभोग की वस्तुओं की अपर्याप्त आपूर्ति अथवा सार्वजनिक जीवन या सार्वजनिक सेवाओं में भ्रष्टाचार कुछ भी हो सकती हैं।

"प्रश्नोत्तर काल" मन्त्रियों के लिए बहुत कठिनाई की घड़ी होती है क्योंकि उसमें किसी भी महत्त्वपूर्ण या सामान्य प्रशासनिक कृत्य का पर्दाफाश किया जा सकता है तथा विपक्षी दल प्राय: मन्त्रियों के कूटनीतिपूर्ण कृत्यों का रहस्योद्घाटन कराने के लिए प्रश्न पूछते हैं। ये मन्त्रियों की जाने-अनजाने में की गई त्रुटियों की जाँच के लिए संसदीय समितियाँ गठित करने की माँग करते हैं, और यदि सरकार उन्हें टालना चाहे तो अन्य हथकन्डे अपनाते हैं। उदाहरणतया 9 दिसम्बर, 1974 को संगठन कांग्रेसी नेता, मोरारजी देसाई ने धमकी दी कि यदि सरकार "आयात लाईसेन्स घोटाले" की जाँच के लिए समिति नियुक्त नहीं करती तो वे संसद भवन के भीतर

सत्याग्रह करेंगे। उनका कहना था कि मन्त्रियों एवं सदस्यों की "कलंकपूर्ण गतिविधियों" की जाँच करना संसद का विशेषाधिकार है। सामान्य नीति पर बहस बहुत महत्त्वपूर्ण होती है और अनेक बार सदस्य बहुमूल्य सुझाव, प्रस्ताव, एवं टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं। गणराज्य स्थापित होने के बाद से देश एक विप्लव तथा भीषण क्रान्ति के दौर में गुज़र रहा है। संसद एक ऐसा मंच है जहाँ अनेक नाटक रचे जाते हैं तथा जनता के प्रतिनिधियों द्वारा जनता की मनोदशा, निराशा, विरोध एवं चिड़चिड़ाहट प्रतिध्वनित होती है।

किन्तु यहाँ भी संसद की उपयोगिता नष्ट हो जाती है क्योंकि संसद केवल दो धड़ों की शक्ति-परीक्षा का अखाड़ा बन गई है अर्थात् सरकार तथा विपक्षी दल। सरकार न्यूनाधिक यही सिद्ध करने का प्रयत्न करती है कि जो कुछ वह करती है, उचित एवं ठीक होता है, पर विपक्षी दल सदैव यही कहते हैं कि सरकार के कार्य पूर्णतः अनुचित हैं तथा जनता की भलाई के नहीं हैं। सरकार का यही दृष्टिकोण होता है कि विपक्षी दल जो कुछ भी कहते या करते हैं, उसकी तह में राजनीति छिपी होती है और विपक्ष की यह धारणा रहती है कि देश को जिन कठिनाइयों में से गुज़रना पड़ रहा है वे बुरी नीतियों, नीतियों के अनुचित प्रवर्तन तथा अकुशल प्रशासन व्यवस्था का नतीजा है। विदेश नीति सम्बन्धी बहस उच्च कोटि की होती है पर बहुधा विपक्षी दल जो भी सूचना माँगते हैं, सरकार उन्हें यह कह कर टाल देती है कि वह सूचना देना सार्वजनिक हित में नहीं है। कभी-कभी मन्त्रीगण देश के आन्तरिक विषयों पर भी सूचना नहीं देना चाहते और विपक्षी दलों की दलीलें नहीं सुनना चाहते। इस प्रकार संसद का एक संगोष्ठी सम्बन्धी उद्देश्य भी निरस्त हो जाता है।

संसद का ह्रास क्यों ? (Why Decline of Parliament ?)

उपर्युक्त विवेचना से यह लगभग स्पष्ट हो जाता है कि संसद अपनी सामर्थ्य का वास्तविक उपयोग नहीं करती, उसकी सामर्थ्य पर कार्यपालिका ने अधिकार कर लिया है, संसद की शक्ति एवं गरिमा में बहुत कमी आ गई है तथा यह संविधान द्वारा परिसीमित प्राधिकार के भीतर भी प्रभुसत्तात्मक तथा सर्वसत्तासम्पन्न नहीं है। अतः यह आँकना आवश्यक प्रतीत होता है कि संसद की शक्ति के इस ह्रास के क्या कारण हैं। मुख्यतः ये तत्व, कांग्रेस दल का प्रधानत्व, दलीय अनुशासन की कठोरता, प्रत्यायुक्त विधि निर्माण (delegated legislation) तथा सरकारी कामकाज की विशालता व जटिलताएँ हैं। इनमें से प्रत्येक तत्व का पर्याप्त महत्त्व है और उसकी विस्तृत विवेचना की आवश्यकता है।

1. **कांग्रेस का प्रधानत्व** (Congress Party Domination)—नवम्बर 1969 से दिसम्बर 1970 की 13 महीने की अवधि के अतिरिक्त, संसद के दोनों सदनों पर कांग्रेस का अविच्छिन्न नियन्त्रण रहा है। इस थोड़ी अवधि में कांग्रेस के आन्तरिक विग्रह के कारण उसकी राजनीतिक स्थिति अवश्य डगमगा गई थी। लोक सभा में

अधिकतर समय कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत रहा है तथा कांग्रेस संसदीय दल के भीतर प्रधान मन्त्री का नेतृत्व सदैव विवाद रहित एवं स्पष्ट रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि नीति सम्बन्धी निर्णय दलीय कर्त्ता-धर्त्ताओं द्वारा किए जाते हैं और वे अपने निर्णयों को दोनों सदनों में पारित करा लेते हैं। विपक्षी दलों ने सरकारी नीतियों के विरुद्ध शोर मचाया तथा उनकी निन्दा व आलोचना बहुत की पर बहुमत के स्पष्ट समर्थन के कारण सरकार ने उनके दृष्टिकोण की कभी परवाह तक न की। अनेक अवसरों पर विपक्षी दलों ने सरकार द्वारा संसदीय कार्य विधि एवं क्षमता के प्रति की गई अवहेलना के कारण खेद व्यक्त किया है। उदाहरणतया, एक साप्ताहिक पत्रिका **प्रतिपक्ष** में एक लेख द्वारा संसत्सदस्यों की बदनामी के प्रति पीलू मोदी ने एक विशेषाधिकार प्रस्ताव प्रस्तुत किया तो एक कांग्रेसी सदस्य वसन्त साठे ने उसका विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया। वसन्त साठे के प्रस्ताव पर बोलते हुए संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता मधु लिमये ने कहा, "किन्तु मैं ने अपने सारे संसदीय जीवन में सरकारी बहुमत द्वारा शक्ति का इतना नग्न प्रदर्शन कभी नहीं देखा था। काम करने के अनेक ढंग भी तो होते हैं।" उन्होंने आगे कहा, "सरकार के पास अन्य साधन भी मौजूद थे, पर उनका उपयोग नहीं किया गया। वे तो हम पर और सदन पर तानाशाही चलाना चाहते थे। इसीलिए मुझे उनकी कार्य-विधि के विरुद्ध तुरन्त विद्रोह करना पड़ा।" (यह उन्होंने कतिपय विपक्षी सदस्यों द्वारा 15 मिनट तक किये गए अध्यक्ष के घेराव के सम्बन्ध में कहा)। 8 दिसम्बर, 1974 को, जन संघ नेता वाजपेयी ने अपने लोक सभा से त्यागपत्र देने के निर्णय की घोषणा करते हुए कहा कि मुझे यह विचार इसलिए करना पड़ा कि संसद "भारतीय जनता की सम्प्रभुता का प्रतिनिधित्व करने वाली उच्चतम विधानकारी निकाय के रूप में स्थिर रहने की बजाय, बहुमत दल की मनमानी की स्वीकृति देने की एक साधन मात्र बन गई है।" उन्होंने आगे कहा, "संसद में अब निर्णय तर्क, युक्ति और तथ्यों के आधार पर नहीं किये जाते। सभी विषयों के गुण दोष विचारे बिना केवल बहुमत के आधार पर निर्णय किए जाते हैं।"[5] दोनों सदनों में एक-दूसरे के ऊपर चिल्लाना तथा अनुशासन भंग करना रोज़ की बात हो गई। आम चुनावों में कांग्रेस दल को जनता द्वारा उत्तरोत्तर बहुसंख्या में दिये गए शासिनादेश के कारण कांग्रेस विपक्षी सदस्यों के दृष्टिकोण के प्रति उदासीन हो गई। विपक्ष की संख्या कम होने के कारण (जो अब पहले से भी कम थी), वे सरकार की नीतियों व निर्णयों को गम्भीर रूप से प्रभावित नहीं कर पाते थे। संसद वही करती थी जो सरकारी नेता उससे कराना चाहते थे।

2. **दलीय अनुशासन की कठोरता** (Rigidity of Party Discipline)—संसद के ह्रास का दूसरा कारण दलीय अनुशासन की कठोरता है। यद्यपि संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, पर यहाँ के राजनीतिक दल राजनीतिक पद्धति का अंग बन

[5]बाद में वाजपेयी ने अपने दल के केन्द्रीय संसदीय मण्डल के आग्रह का सम्मान करते हुए अपना उपरोक्त त्यागपत्र वापस ले लिया था।

गए हैं। सारी राजनीति, दलीय राजनीति और सत्ता के लिए संघर्ष मात्र रह गया है अर्थात राजनीतिक दल सत्ता हथियाने के लिए राजनीतिक दाँव-पेच चलाते हैं। इसके लिए विभिन्न राजनीतिक दल नीतियाँ और कार्यक्रम बनाते हैं, अपने उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित करते हैं, चुनाव लड़ते हैं, भिन्न-भिन्न निर्वाचन हलकों में चुनाव लड़ने के लिए प्रत्याशियों का चयन करते हैं तथा चुनाव जीतकर यदि वांछित बहुमत उपलब्ध हो जाये तो सरकार बनाने के लिए आर्थिक व भौतिक साधन जुटाते हैं। ये सब काम दलीय कर्ता-धर्ता करते हैं और संसद में स्थान पाने के इच्छुक प्रत्याशी को उन पर आश्रित होना पड़ता है। इस प्रकार, आश्रित होने का यह कारण है कि जिन इलाकों से चुनाव लड़े जाते हैं, उनका आकार बहुत बड़ा होता है और किसी भी उम्मीदवार के लिए एक-न-एक राजनीतिक दल के समर्थन व साधनों का उपयोग किये बिना अपने लिए आवश्यक समर्थन जुटाना सम्भव नहीं होता। अत: जब कोई प्रत्याशी किसी दल के टिकट पर चुनाव जीत लेता है तो वह उस दल के कर्ता-धर्ताओं के अनुशासन व आदेश में बंध जाता है अर्थात उसे दलीय सचेतक के आदेशानुसार मत व्यक्त करना होता है और दलीय उच्च नेताओं की ही भाषा संसद में बोलनी होती है। अनेक सदस्य संसद भवन में प्रवेश करते समय अपनी अन्तरात्मा को घर छोड़ जाते हैं तथा अपना अधिकतर समय, काफी हाउस या संसद के केन्द्रीय हाल में गप्पें लड़ा कर बर्बाद करते हैं। अन्यथा वे अपने निकट सम्बन्धियों और यदि बहुत हुआ तो अपने निर्वाचन क्षेत्र के व्यक्तियों के लिए जोड़-तोड़ करते रहते हैं। वे उपस्थिति पंजिका में प्रतिदिन का भत्ता बनाने के लिए हस्ताक्षर करते हैं तथा उनमें से अनेक तो केवल मतदान के समय ही संसद भवन में जाते हैं।

संसत्सदस्यों की इस उदासीनता के अनेक कारण हैं। एक तो यह कि उनमें से बहुत से किसी-न-किसी राजनीतिक दल के टिकट पर चुनाव जीत कर आते हैं। उनकी जीत उनकी सार्वजनिक व संसदीय योग्यता के कारण नहीं होती वरन् इसलिए होती है कि या तो वे अपने निर्वाचन क्षेत्र के बहुसंख्यक सम्प्रदाय के सदस्य होते हैं, या वे अच्छे कर्त्ता-धर्त्ता होते हैं और अपने निर्वाचन क्षेत्र में उनका अच्छा प्रभाव होता है, या इसलिए कि वे दल को बहुत अधिक चन्दा देते हैं। दूसरा यह कारण है कि संसत्सदस्यों को सत्तारूढ़ व्यक्तियों से निकट सम्बन्ध रखने में अनेक लाभ होते हैं, जैसेकि नई दिल्ली में बड़ा बंगला, अच्छा वेतन और अनेक भत्ते, भारतीय रेलों पर नि:शुल्क प्रथम श्रेणी में यात्रा की सुविधा, अनेक समितियों व आयोगों की सदस्यता, समाज में सम्मान, मित्रों व सम्बन्धियों को लाभ पहुँचाने के अवसर, राजकीय समारोहों तथा भोजों इत्यादि में निमन्त्रण, जिसे वे संसद भवन के भीतर तनिक-सी स्वतन्त्रता या नेतृत्व के लिए कभी गँवाना नहीं चाहते। सदस्यों की संसदीय मामलों के प्रति उदासीनता का तीसरा कारण यह है कि संसद का अधिकतर समय सरकारी काम-काज से ही समाप्त हो जाता है, अत: सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने, अपनी ओर विधेयक लाने अथवा ठोस सुझाव एवं प्रस्ताव प्रस्तुत

करने का समय ही नहीं मिलता। इसका चौथा कारण यह है कि दलीय कर्त्ताधर्त्ता अपने अनुयायियों (संसत्सदस्यों) को दलीय बैठकों व गोष्ठियों में तो अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की पूरी छूट देते हैं, पर संसद में उनसे पूर्ण निष्ठा व समर्थन की आशा करते हैं क्योंकि वे अपने ही दल के सदस्यों की आलोचना के कारण विडम्बना में नहीं पड़ना चाहते। यह स्थिति मुख्यतः कांग्रेस संसदीय दल के सदस्यों की है। विपक्षी दलों के टिकटों पर चुनाव जीत कर आये सदस्यों तथा स्वतन्त्र सदस्यों को संसद के निर्णयों तथा प्रक्रियाओं को प्रभावित करने के अवसर ही नहीं मिलते। इसका स्पष्ट कारण यही है कि उनकी संख्या वहुत कम होती है तथा वे अनेक गुटों व दलों में बंटे होते हैं।

3. **प्रत्यायुक्त विधि-निर्माण** (Delegated Legislation)—प्रत्यायुक्त विधि-निर्माण भी संसद के ह्रास का एक कारण है। विधि-निर्माण संसद का कार्यभाग है। जब संसद अपना सामर्थ्य किसी अन्य को सौंप देती है तो उसे प्रत्यायुक्त विधि-निर्माण कहा जाता है। जहाँ तक सरकार द्वारा बाहरी आक्रमणों को विफल करके व्यवस्था बनाये रखने तथा न्याय प्रदान करने व अपराध न होने देने का प्रश्न है, संसद सभी प्रकार के विधि आवश्यक समीक्षा सहित प्रदान करती है। किन्तु भारत एक लोक-हितकारी देश (welfare state) है, तथा अन्य सभी राज्य एवं राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ इतनी पेचीदा तथा विशाल हैं कि संसद आवश्यक विधि नहीं जुटा पाती। देश को इस समय जितनी विस्तृत विधि की आवश्यकता होती है, संसद के पास उन सबके निर्माण के लिए न तो समय है और न ही आवश्यक आँकड़े उपलब्ध हैं। उसके लिए सभी सम्भावनाओं और घटनाचक्र का पूर्व अनुमान करना असम्भव होता है। इसका यह परिणाम होता है कि संसद विधि के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के प्रयत्न करती है और उनके प्रवर्तन के लिए विस्तृत नियम बनाने की क्षमता मन्त्रियों को सौंप देती है। मंत्रियों को यह कार्य विभागीय सचिवों से कराना पड़ता है अर्थात विधि-निर्माण क्षमता प्रत्यायुक्त होते-होते संसद से चल कर विभागीय सचिवों तक जा पहुँचती है। यदि संसद स्वयं ही विस्तृत रूप में विधि बनाने का प्रयत्न करे तो सरकार का काम इतना अधिक होगा कि वह उसे संभाल नहीं पायेगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आपात्-स्थितियों में सरकार को तुरन्त एवं अधिकारों से आगे बढ़ कर कार्रवाई करनी होती है। इन सब अनिवार्यताओं के कारण संसद की क्षमताएँ कम हो गई हैं तथा प्रशासनिक विभागों की शक्तियों में वृद्धि हो गई है।

4. **सरकारी काम-काज की जटिलताएँ** (Complexity of Government Business)—संसद के ह्रास का अन्तिम तत्व सरकारी काम-काज का तकनीकीपन तथा जटिलता है। तकनीकी मामलों पर विधि-निर्माण के लिए प्रस्तुत विषय के विशेषज्ञों एवं सम्बद्ध हितों से परामर्श करना आवश्यक होता है। विधेयक का प्रारूप बनाने से पहले बहुत से आँकड़े तथा आधारभूत सूचना एकत्रित करनी होती है। यह सब साधारण सदस्यों को आसानी से उपलब्ध नहीं रहता।

उपर्युक्त सक्षमता के प्रश्न के अतिरिक्त, अधिकतर सदस्य आँकड़े इकट्ठे करने, भिन्न-भिन्न हितों के व्यक्तियों से परामर्श करने, प्रस्तुत विषयों का सिंहावलोकन करने तथा परिसीमाओं एवं प्रसाधनों को ध्यान में रखकर एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण विधेयक का प्रारूप तैयार करने के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। विभिन्न सरकारी काम-काज परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि विधेयक तैयार करके संसद भवन को भेजने से पहले मन्त्रालयों में परस्पर सलाह मशविरा तथा सान्निध्य अत्यन्त आवश्यक होता है। ये सब करना आम सदस्यों के बस की बात नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है, कि संसद में जो विधेयक सरकार की ओर से प्रेषित किया जाता है, वह शीघ्रतापूर्वक पारित हो जाता है और सदस्यों को अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने तक का अवसर नहीं मिलता।

इन सब तत्वों के आधार पर कोई भी कह सकता है कि यद्यपि भारत में संसदीय प्रकार की सरकार है, पर वह केवल कहने भर को है। संसद की सभी क्षमताएँ वास्तव में, मन्त्रिमण्डल के अधिकार में आ पहुँची हैं, जिसके अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होते हैं।

अध्याय 11

मौलिक अधिकार
(Fundamental Rights)

आधुनिक सभ्यता में वेहतर एवं अधिक सन्तुष्ट जीवन के लिए कुछ अधिकारों को मौलिक माना जाता है और जनता उसके लिए सदैव एवं सर्वत्र माँग व संघर्ष करती रही है। इंग्लैण्ड की जनता ने अपने राजा जॉन (King John) को मैग्ना कार्टा नामक (स्वतन्त्रता का) महान् माँग-पत्र (Magna Carta the, great charter of liberty) स्वीकार करने पर वाध्य किया और यद्यपि वह मूलत: एक सामन्ती (feudal) माँग-पत्र था, पर उसने राजाओं के एकतन्त्रवाद (absolutism) को भेद कर उस पर संविधानवाद और जनता के अधिकारों की विजय का श्रीगणेश किया। 4 जुलाई, 1776 को फ़िलैडेल्फिया (अमरीका) 'कान्टिनेन्टल कांग्रेस' (Continental Congress) ने "स्वाधीनता की घोषणा" का जो प्रस्ताव पारित किया, उसके कुछ अंश इस प्रकार थे :

"हम इन तथ्यों को स्वयं-सिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्य जन्म से समान हैं तथा उनके सृष्टा ने उन्हें अनन्य अधिकार प्रदान किये हैं। जीवन, स्वाधीनता एवं प्रसन्नता की चाह उन्हीं अधिकारों में गिने जाते हैं।

"कि इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरकारें वनाई जाती हैं, जिन्हें अपनी प्रजा की सहमति से न्यायोचित सत्ता प्राप्त होती है, कि जब किसी सरकार द्वारा इन उद्देश्यों का हनन होता हो तो जनता को उसे पलट देने या उसे समाप्त करके उसके स्थान पर नई सरकार स्थापित करने तथा उसकी बुनियाद ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित करने व उसकी सत्ता को इस प्रकार संगठित करने का अधिकार होता है जिससे उन्हें अधिकतम सुरक्षा एवं प्रसन्नता प्राप्त होने की आशा हो···"

फ्रांस की जनता ने 1789 में अपनी "मानव अधिकारों की घोषणा" (Declaration of the Rights of Man) में सामानता (equality), स्वतन्त्रता (liberty) और भ्रातृभावना (fraternity) पर जोर दिया। फ्रांस की क्रांति की देखा-देखी यूरोप के अनेक देशों में क्रान्तिपूर्ण संघर्ष हुए जिन्होंने अपने-अपने राजाओं के एकतन्त्रवाद को समाप्त करके ही दम लिया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जब "लीग ऑफ़

नेशन्ज" (League of Nations) नामक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया तो उसके प्रसंविदा (Covenant) की धारा 23(क) में यह निर्दिष्ट किया गया कि उसके सदस्य देश "पुरुषों, स्त्रियों व बच्चों के लिए न्याय एवं मानवीयता की दृष्टि से उचित परिस्थितियाँ स्थापित करने के प्रयत्न करेंगे···और उस उद्देश्य के लिए आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करेंगे व उसे बनाये रखेंगे।"

सितम्बर 1939 में जब यूरोप में एक ओर प्रजातन्त्रीय देशों तथा दूसरी ओर फ़ासिस्ट घड़े के देशों में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया तो अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट (Franklin D. Roosevelt) को यह आशंका हुई कि प्रजातन्त्रीय देश युद्ध हार जायेंगे। उन्होंने 6 जनवरी, 1941 को कांग्रेस के समक्ष भाषण करते हुए "चार प्रकार की स्वतन्त्रता"—संसार में सर्वत्र भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, आराधना की स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता, तथा भय से स्वतन्त्रता—का सिद्धान्त निरूपित किया और कांग्रेस (अमरीकी संसद) से "प्रजातन्त्र का शस्त्रागार" (arsenal of democracy) बनने का अनुरोध किया। संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्य-पत्र के प्रथम अध्याय में दिये गए मुख्य उद्देश्यों में से एक मानव अधिकारों तथा सभी के लिए वंश, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किये बिना मौलिक स्वतन्त्रताओं का सम्मान स्थापित एवं प्रोत्साहित करना था। उद्देश्य-पत्र की धारा 68 में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद को मानवीय अधिकारों की प्रगति के लिए आयोग स्थापित करने का आदेश दिया गया था। इसी प्रकार, धारा 76 में कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय निक्षिप्ति पद्धति (International Trusteeship System) के मूल अभिलक्ष्यों में से एक मानव अधिकारों तथा सभी के लिए मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति आदर की भावना को प्रोत्साहन देना है। 1945 में जब संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य-पत्र की रचना की गई तो प्रस्ताव किये गए कि मानव अधिकारों सम्बन्धी एक अन्तर्राष्ट्रीय विधेयक तैयार किया जाये, किन्तु यह कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित होने के बाद ही आरम्भ किया जा सका। मानव अधिकारों पर 1946 में एक आयोग स्थापित किया गया। उसने मानव अधिकारों की घोषणा का जो प्रारूप तैयार किया, उसे महासभा द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को स्वीकृति दी गई। यह घोषणा 30 धाराओं पर आधारित थी जिसमें नागरिक एवं राजनीतिक तथा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दोनों प्रकार के मानव अधिकार शामिल थे।

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)

धाराएँ 1 व 2 सामान्य धाराएँ थीं जिनमें बताया गया था कि सभी मानव, मर्यादा और अधिकारों की दृष्टि से जन्मजात स्वतन्त्र होते हैं और उन्हें किसी प्रकार के वंश, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य विचारधारा, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्गम, सम्पत्ति, जन्म अथवा अन्य स्तर के भेद रहित, इस घोषणा में प्रदत्त सभी अधिकारों

एवं स्वतन्त्रताओं के उपभोग का अधिकार होता है। 'घोषणा' की धारा 3 से 21 तक में गिनाये गए नागरिक व राजनीतिक अधिकारों में : किसी व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा का अधिकार, गुलामी और अधिसेविता (servitude) से स्वतन्त्रता, यातना या नृशंसता से स्वतन्त्रता, अमानवीय अथवा अवक्तामक (degrading) व्यवहार या दण्ड से स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष एक व्यक्ति समझा जाने का अधिकार, कानून द्वारा समान प्रतिरक्षण, प्रभावी न्यायिक उपचार का अधिकार, एकपक्षीय वन्दीकरण कारावास अथवा प्रवास से स्वतन्त्रता, एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा मामले की उचित जांच एवं सार्वजनिक सुनवाई का अधिकार, दोषी साबित न होने तक निर्दोष माना जाने का अधिकार, एकान्तता, परिवार, घर या पत्राचार में एक-पक्षीय हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता, भ्रमण की स्वतन्त्रता, शरण पाने या देने का अधिकार एक राष्ट्रीयता का अधिकार, विवाह करने व परिवार स्थापित करने का अधिकार, सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार, विचारों, अन्तर्भावना तथा धर्म की स्वतन्त्रता, मत एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन व एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, प्रशासन में भाग लेने का अधिकार तथा सार्वजनिक सेवाओं के उपभोग के समान अधिकार सम्मिलित थे।

धारा 22 से 27 में आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित थे, जिनमें सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, काम करने का अधिकार, आराम करने व अवकाश बिताने का अधिकार, स्वास्थ्य एवं स्वस्थ रहने के अनुकूल जीवन-स्तर का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा जन समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार शामिल थे। धारा 28 से 30 में यह स्वीकार किया गया था कि सभी को ऐसी सामाजिक व अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति के अनुसरण का अधिकार है जिसके द्वारा 'घोषणा' में निर्दिष्ट अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की पूर्णतः प्राप्ति हो सके। मानव समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व गिनाये गये थे।

भारत में मानव अधिकारों के प्रति संघर्ष (Struggle for Human Rights in India)

अन्य देशों की जनता के ही समान भारतवासियों ने भी अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी कि ब्रिटिश सरकार पर जनता की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में सुधार करने के उपाय करने के लिए दबाव डाला जा सके। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में बाल गंगाधर तिलक इत्यादि महानुभावों ने घोषणा की : "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" अन्य अनेक नेता भी देश को विदेशी पंजे से मुक्ति दिलाना अपना धर्म समझते थे। 1919 के भारत सरकार अधिनियम से असन्तुष्ट होकर मोतीलाल नेहरू ने सुझाव दिया कि भारत का संविधान बनाने के लिए भारतीयों की एक संविधान सभा

बनाई जाये। मई 1928 में कांग्रेस ने उन्हीं के नेतृत्व में जो समिति भारत के नये संविधान के सिद्धान्त निश्चित करने के लिए नियुक्त की उसने अपनी रिपोर्ट में कहा, "संविधान में एक अधिकारों की घोषणा शामिल की जानी चाहिए, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त धर्म और अन्तर्विवेक की भी पूर्ण स्वतन्त्रता हो।" दिसम्बर 1929 में कांग्रेस ने लाहौर में भारत की "पूर्ण स्वाधीनता" का प्रस्ताव पारित किया। 1933 में उसने एक "मौलिक अधिकारों" सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया, जिसे प्रत्येक अधिवेशन में दोहराया जाता था।

1935 के भारत सरकार अधिनियम को ब्रिटिश सरकार संविधानवाद की दशा में, भारत की महान् प्रगति बताती थी पर उसमें मौलिक अधिकारों का कोई प्रावधान नहीं था। किन्तु लन्दन की सरकार ने गवर्नर-जनरल को जो "आदेश-पत्र" दिया, उसमें यह निर्दिष्ट किया गया था कि "जो मामले सीधे गवर्नर-जनरल व उनकी परिषद को सौंपे गये हैं, उनका प्रशासन हमारी प्रजा की इच्छा से तालमेल रख कर किया जाये···।" 1939 में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा और ग्रेट ब्रिटेन उसमें बुरी तरह उलझ गया। भारत में संविधान तन्त्र निलम्बित कर दिया गया और भारतीय जनता की राष्ट्रीयता की महत्वाकाँक्षाओं का गला घोंट दिया गया। जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्य समिति ने "भारत छोड़ो" (Quit India) प्रस्ताव पारित किया, और उसके अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा स्वीकृत किये जाने से पहले कांग्रेस के सभी अग्रणी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया तथा जनता में घोर आतंक फैला दिया गया। 1945 में युद्ध समाप्त होने पर भारत की स्वतन्त्रता का प्रश्न पुनः उठाया गया और पर्याप्त विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद के पश्चात् दिसम्बर 1946 में एक संविधान सभा स्थापित की गई। इस विधान सभा ने अपना कार्य 1949 में पूर्ण किया और उसने जो संविधान तैयार किया, उसकी प्रस्तावना में अनुपत्रित किया गया कि भारत का प्रभुत्वसम्पन्न प्रजातन्त्रीय गणराज्य अपने सभी नागरिकों के लिए निम्न व्यवस्था करेगा :

न्याय—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक;

स्वाधीनता—विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और आराधना की;

समानता—स्तर एवं अवसरों की, तथा उन सभी में प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए भ्रातृत्व का प्रसार करेगा।

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार
(Fundamental Rights in the Indian Constitution)

भारतीय संविधान के रचयिताओं में से अनेकों ने देश के स्वाधीनता संघर्ष में अग्रणी रह कर कार्य किया था। अतः उन्होंने उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान के तीसरे भाग अर्थात धाराओं 12 से 35 में मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रावधान किए।

ये अधिकार जनता बनाम राज्य हैं। पदनाम 'राज्य' (state) के परिभाषिक अर्थ पर्याप्त रूप से विशाल रखे गये हैं। धारा 12 में इस पदनाम की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"......" प्रसंग की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 'राज्य' में भारत सरकार एवं भारतीय संसद, सभी राज्यों के विधानमण्डल तथा भारत की प्रादेशिक सीमा के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण आधीन सभी स्थानीय एवं अन्य प्राधिकारी सम्मिलित होते हैं।" 'अन्य प्राधिकारियों' से तात्पर्य है—सरकार का कोई विभाग, प्रत्येक ऐसी प्राधिकारी निकाय जिसे ऐसे नियम व उपनियम इत्यादि बनाने का अधिकार प्राप्त हो जो कानून के अनुरूप प्रवर्तित होते हैं। किन्तु किसी ऐसी असांविधिक निकाय को 'राज्य' नहीं माना जायेगा जिसे विनियम बनाने का अधिकार तो है पर इसके बनाए हुए विनियमों को कानून का प्राधिकार प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार, धारा 13 में पदनाम "कानून अथवा विधि" के परिवर्द्धित अर्थ इस प्रकार बताये गए हैं—"प्रसंग का अन्य तात्पर्य न होने पर 'विधि' का अर्थ ऐसा कोई भी अध्यादेश, आदेश, उप-विधि, नियम, विनियम अधिसूचना, प्रथा या परम्परा है जो भारत की सीमा के भीतर विधि के समान प्रवर्तित होता हो......" उसी धारा में प्रचलित विधि का अर्थ "वह विधि" बताया गया है "जो संविधान लागू किये जाने से पूर्व भारत की सीमा के भीतर किसी विधानमण्डल अथवा सक्षम प्राधिकारी द्वारा बनाये गए हों पर तब तक निरस्त न कर दिये जा चुके हों।" इस धारा में इस निर्दिष्टि द्वारा मौलिक अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया गया है कि संविधान प्रवर्तित किया जाने से पूर्व भारत में जो भी विधि प्रचलित थी, वह यदि मौलिक अधिकारों के प्रतिकूल होंगे तो प्रतिकूलता की मर्यादा के अनुसार (to the extent of such inconsistency) प्रभावशून्य माने जायेंगे। राज्य को ऐसी कोई विधि बनाने की क्षमता नहीं दी गई है जो मौलिक अधिकारों को छीनता हो या क्षीण करता हो। यदि राज्य इस उपबन्ध की अवहेलनापूर्वक कोई विधि पारित करे तो वह इस अवहेलना के अनुरूप प्रभावशून्य होगा। धारा 13 सहित संविधान का तीसरा भाग, सारे का सारा, भावी प्रवर्तन का है, अतः संविधान प्रवर्तित किये जाने के समय जो विधि प्रचलित थी तथा उनमें से जो संविधान के तीसरे भाग के प्रावधानों के प्रतिकूल पड़ती थी, वह संविधान प्रवर्तित होने के समय से ही प्रभावशून्य होते हैं। अतः संविधान प्रवर्तित होने से पूर्व किया गया ऐसा कोई भी कृत्य जो उस समय प्रचलित विधि के अनुसार वैध था, संविधान आरम्भ होने के बाद इस आधार पर विवाद का विषय नहीं बनाया जा सकता कि उससे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता था। तदपि ऐसे किसी कृत्य का कुछ प्रभाव संविधान आरम्भ होने के पश्चात भी शेष हो तो वह प्रभाव निरस्त एवं अप्रवर्तनीय माना जायेगा। प्रतिकूलता की मर्यादा (extent of inconsistency) से सर्वोच्च न्यायालय ने यह तात्पर्य निकाला कि जब भी किसी संविधि (statute) को किसी न्यायालय में असंवैधानिकता के आधार पर चुनौती दी जाये तो उस संविधि के केवल उन्हीं प्रावधानों

को प्रभावशून्य घोषित किया जाता है जिनके प्रति आपत्ति उठाई गई थी, सारी संविधि नहीं। इस पर "विच्छेदनीयता का सिद्धान्त" (Doctrine of Severability) लागू होता है अर्थात जब किसी संविधि के किसी भाग को असंवैधानिक घोषित किया जाये तथा वह अंश शेष संविधि से पृथक किया जा सकता हो तो न्यायालय केवल उसी भाग को प्रभावशून्य घोषित करता है। समस्त विधि संवैधानिक मानी जाती है तथा यदि कोई व्यक्ति किसी विधि की संवैधानिकता को चुनौती दे तो अपना मत प्रमाणित करने का भार उसी व्यक्ति पर होगा। **चिरंजीत लाल बनाम भारत सरकार** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 1950 में यह निर्णय दिया था कि केवल वही व्यक्ति किसी विधि की संवैधानिकता को चुनौती दे सकता है जिसके अधिकार सीधे प्रभावित होते हों। किसी विधि को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जाने पर, देश के सभी अन्य न्यायालयों द्वारा उसे प्रभावशून्य मानना अनिवार्य होता है। किन्तु यदि विधानमण्डल नयी विधि पारित कर दे अथवा उसी विधि में संशोधन करके उसकी असंवैधानिकता दूर कर दे तो न्यायालय उसे पुनः मान्यता देंगे।

समानता का अधिकार, धारा 14 (Right to Equality, Article 14)

संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों में प्रथम समानता का अधिकार है, जो धारा 14 से 18 में वर्णित है। धारा 14 में कहा गया है कि "भारत की सीमा के भीतर, राज्य किसी व्यक्ति को कानून की समानता अथवा कानून द्वारा समान संरक्षण से वंचित्त नहीं करेगा।" इस धारा के तत्वों की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समय-समय पर दिये गये निर्णयों द्वारा विस्तृत व्याख्या की गई है। सर्वोच्च न्यायालय के मतानुसार पदनाम "राज्य" से उसी तात्पर्य का बोध होना चाहिए जोकि धारा 12 में प्रयुक्त किया गया है तथा विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का ऐसा प्रत्येक कार्य, जिससे धारा 14 की अवहेलना होती हो, प्रभावशून्य होगा। "कानून में समानता" का यह अर्थ है कि सभी नागरिकों के प्रति एक ही प्रकार की विधि, न्यायालय एवं कार्य-विधि प्रयुक्त हों तथा धन, स्तर (status) या पद के आधार पर कोई भेद-नीति न अपनाई जाये। "कानून द्वारा समान संरक्षा" का यह अर्थ लगाया जाता है कि समान परिस्थितियों में प्रत्येक नागरिक के साथ समान व्यवहार किया जाये, चाहे वह सुविधायें प्रदान करने के संदर्भ में हो अथवा विधि द्वारा लगाये गए दायित्वों के सन्दर्भ में। किन्तु इन शब्दों का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक अधिनियमन का सर्वव्यापी प्रवर्तन हो।

हो सकता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति हों जिनकी आवश्यकताएँ, प्रकृति एवं परिस्थि-तियाँ अन्य व्यक्तियों से भिन्न हों तथा उन्हें भिन्न व्यवहार की आवश्यकता हो। **बम्बई राज्य बनाम बलसारा** के वाद में "विधि द्वारा समान संरक्षण" का यह आशय नहीं है कि राज्य को "भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए व्यक्तियों के वर्गीकरण" का अधिकार नहीं है क्योंकि राज्य को भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से निपटना होता

है जिनकी भिन्न-भिन्न समस्याएँ होती हैं अथवा जो भिन्न-भिन्न समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं ।[1] किन्तु यह वर्गीकरण युक्तिसंगत होना चाहिए और इन दो कसौटियों पर खरा उतरना चाहिए : (क) वर्गीकरण स्वेच्छिक नहीं होना चाहिए तथा वह किसी वास्तविक एवं ठोस कारण पर आधारित होना चाहिए तथा (ख) उस विधि द्वारा जिस उद्देश्य की प्राप्ति परिलक्षित हो, विशिष्टीकरण का उससे तर्कसंगत सम्बन्ध हो ।

"कानून में समानता" और "कानून द्वारा समान संरक्षण" शब्द केवल सामान्य प्रकार के हैं तथा उन्हें संविधान के ही अन्य प्रावधानों की अपेक्षा सहित पढ़ना चाहिए । उदाहरणतः अन्य देशों के कूटनीतिज्ञों को अनेक प्रतिरक्षाएं (immunities) दी जाती हैं । धारा 361 में यह निर्दिष्ट कर के कि उन्हें "अपने पद की क्षमताओं एव कर्तव्यों के प्रवर्तन एवं परिपालन के कारण अथवा अपनी क्षमताओं और कर्तव्यों के पालन में किये गये या कराये गये किसी कृत्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तर नहीं देना होगा ।" धारा 15 में निर्दिष्ट है कि राज्य किसी व्यक्ति के साथ धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान इत्यादि के कारण भेदनीति नहीं अपनायेगा, पर उसी धारा के तीसरे अनुच्छेद में यह प्रावधान है कि उपरोक्त निर्दिष्टि से "राज्य द्वारा स्त्रियों व बच्चों सम्बन्धी विशेष प्रावधान करने पर कोई रोक नहीं होगी ।" इसी प्रकार, धारा 15 के चौथे अनुच्छेद में निर्दिष्ट है कि धारा 15(1) के प्रावधानों से "राज्य द्वारा किन्हीं सामाजिक व शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के उत्थान के लिए विशेष प्रावधान करने पर रोक नहीं लगती ।"

विधायिका द्वारा वर्गीकरण, परिनियमों (statutes) में उन व्यक्तियों या वस्तुओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनके प्रति उसके प्रावधान प्रवर्तित किये जाने अभीष्ट हों, अथवा जिन व्यक्तियों या पदार्थों के प्रति उसके प्रावधान प्रवर्तित किये जाने हों, उनके चयन के लिए सिद्धान्त व नीति निर्धारित करके तथा सरकार या

[1]**बम्बई राज्य बनाम बलसारा** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया : यदि कोई विधि किसी स्पष्ट-परिभाषित वर्ग के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाये तो यह गलत न होगा और उस पर इस आधार पर समान संरक्षण न देने की आपत्ति नहीं की जा सकती कि उसका अन्य व्यक्तियो के प्रति कोई उपयोग नहीं है ।" **सखवन्त बनाम उड़ीसा राज्य** के वाद में (1955) सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "यह आवश्यक नहीं कि किसी एक उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बनाई गई विधि सर्वांगपूर्ण हो । यह निश्चित करना विधायिका का कर्तव्य है कि. वह किन-किन वर्गों के प्रति उपयुक्त होगा, तथा किसी प्रकार बनाई गई विधि को केवल इस आधार पर पक्षपातपूर्ण (Discriminatory) तथा धारा 14 के विरुद्ध नहीं माना जायेगा कि उसके द्वारा कतिपय अन्य ऐसे वर्गों को संरक्षण प्राप्त नहीं होता जो समान स्थिति में थे ।" **विश्वम्भर बनाम उड़ीसा राज्य** तथा **रामचन्द्र बनाम उड़ीसा राज्य** के वादों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि धारा 14 से "विधायिका द्वारा कोई सुधार धीरे-धीरे लाने पर रोक नहीं है अर्थात स्थिति की आवश्यकता के अनुसार विधान को कतिपय ऐसे संस्थानों या उद्देश्यों के प्रति प्रयुक्त किया जा सकता है जो साझे अथवा विशेष क्षेत्रों से सम्बन्धित हों ।"

प्रशासनिक प्राधिकारियों को तदनुसार चयन करने का प्राधिकार सौंपने के द्वारा किया जा सकता है। अनेक मामलों में न्यायालयों ने यह निर्णय दिया है कि जो कानून कार्यपालिका को विशेष व्यवहार के लिए मामलों का चयन करने अथवा उसके प्रवर्तन से छूट देने का प्राधिकार प्रदान करता है, पर ऐसी भेदनीति के प्रति कोई सिद्धान्त, नीति या मानक स्थिर नहीं करता, वह स्वयं ही भेदनीतिपूर्ण है।

धारा14 केवल मूल (substantial) कानूनों द्वारा ही नहीं अपितु प्रविधिक कानूनों द्वारा भी "समान संरक्षण" की गारण्टी देती है। अनेक मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि जब किसी कानून द्वारा किन्हीं मुकद्दमों की विशेष न्यायालयों द्वारा अथवा किसी विशेष कार्य-विधि द्वारा सुनवाई का आदेश दिया जाये जो सामान्य कार्य-विधि से सारत: भिन्न हो, तथा उससे अभियुक्ति के हित या सुविधा इत्यादि पर प्रतिकूल पभाव प्रड़ता हो तो उससे धारा 14 की अवहेलना होती है। सर्वोच्च न्यायालय का यह भी मत रहा है कि धारा 14 के उल्लंघन के आधार पर केवल वही व्यक्ति किसी विधान की वैधता को चुनौती दे सकता है जिसे किसी भेदनीतिपूर्ण विधान (discriminatory legislation) से हानि पहुँची हो। **सग़ीर अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** (1955) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने दृढ़ मत व्यक्त किया कि यद्यपि धारा 14 न्यायपालिका के कृत्यों सहित, राज्य के सभी कृत्यों पर प्रवर्तित होती है तदपि वह निर्णयों की समानता की गारण्टी नहीं करती। न्यायालय द्वारा प्रत्येक मामले का निर्णय आवश्यक रूप से तथ्यों एवं परिस्थितियों के अनुसार करना होता है। जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि भेदनीति "जानबूझ कर तथा उद्देश्य-पूर्वक" की गई थी, किसी कृत्य के बाह्य रूप से विधि का असमान उपयोग प्रतीत होने पर भी उसे कानून की समान संरक्षा न देना नहीं माना जायेगा। धारा 14 में यह निर्दिष्ट किया गया है कि राज्य को समान स्थितियों में पड़े हुए दो व्यक्तियों के मामलों में भिन्नता नहीं बरतनी चाहिए। **सग़ीर अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य दो व्यक्तियों में भेदनीति का व्यवहार नहीं कर सकता, पर वह जब ऐसा सौदा अथवा व्यापार करे जो सामान्य व्यक्तियों के लिए खुला हो तो राज्य स्वयं अपने पक्ष में भेदनीति का व्यवहार कर सकता है। न्यायिक मत यह था कि धारा 14 राज्य का वही दर्जा नहीं हो जाता जो किसी सामान्य व्यक्ति का होता है। **बाबू राव बनाम बम्बई हाउसिंग बोर्ड** के वाद में सरकार, स्थानीय अधिकरण अथवा सरकार द्वारा प्रचालित हाउसिंग बोर्ड को किराया अधिनियम से जो विमुक्ति प्राप्त थी, उसे वैध माना गया क्योंकि सरकार का कोई मुनाफे का उद्देश्य नहीं था।

धारा 14 के सम्बन्ध में निर्णय विधि से उत्पन्न सिद्धान्त (Principles Emerging out of Case Law in Regard to Article 14)

अनेक मामलों में, जिनमें किसी विधि विशेष को " विधि द्वारा समान संरक्षण" के

प्रतिकूल एवं भेदनीतिपूर्ण बताकर चुनौती दी गई, सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 14 के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित किये हैं :

(1) कि प्रत्येक अधिनियमन को सदैव संवैधानिक माना जाना चाहिए क्योंकि विधायिकाएँ अपने प्रजाजनों की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझती एवं पहचानती हैं, कि उनके द्वारा बनाई गई विधि उन समस्याओं के प्रति हैं जो अनुभव से स्पष्ट होती हैं, तथा उसकी भेदनीति उचित कारणों पर आधारित है।

(2) कि किसी वर्गीकरण को एक-पक्षीय तथा अतर्कसंगत सिद्ध करने की ज़िम्मेदारी उस व्यक्ति की है, जो यह कहता है कि किसी विधि से समान संरक्षण की गारण्टी की अवहेलना होती है।

(3) कि संवैधानिकता की मान्यता को सिद्ध करने के लिए सरकार सामान्य जानकारी, सामान्य आश्रय तथा अधिनियमन के समय के इतिहास एवं परिस्थितियों को ध्यान में रख सकती है।

(4) वर्गीकरण करते समय विधायिका, व्यक्तियों के किसी वर्ग या समूह की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रख सकती है।

(5) जब किसी कानून के प्रावधान किसी एक व्यक्ति, पदार्थ या अनेक व्यक्तियों या पदार्थों के विरुद्ध प्रणीत हों पर उस वर्गीकरण के लिए कोई तर्कसंगत आधार न प्रतीत होता हो अथवा वर्तमान परिस्थितियों से भी ऐसे किसी आधार का निश्चय न किया जा सकता हो तो न्यायालय उसे स्पष्ट भेदनीति बता कर निरस्त कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ है कि यह निश्चित करना न्यायालय का काम है कि कोई वर्गीकरण तर्कसंगत है अथवा नहीं।

धर्म, वंश, जाति, लिंग, अथवा जन्म-स्थान के आधार पर भेदनीति की मनाही, धारा 15 (Prohibition of Discrimination on Grounds of Religion, Race, Caste, Sex or Place of Birth, Article 15)

धारा 15, 16, 17, और 18 में समानता के अधिकार की गारण्टी के अन्य प्रावधान भी है। धारा 15(1) में उपबन्ध है कि राज्य 'केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग अथवा जन्म-स्थान इत्यादि के आधार पर किसी नागरिक के प्रति भेद नहीं करेगा।" अनुच्छेद (2) में कहा गया है कि किसी भी नागरिक को "केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग अथवा जन्म-स्थान इत्यादि के आधार पर (क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में जाने या (ख) ऐसे कुँओं, तालाबों, नहाने के घाटों, सड़कों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों के उपयोग से वंचित नहीं किया जायेगा जिन्हें पूर्णतः या आंशिक रूप से राज्य के धन से चलाया जा रहा हो या सामान्य जनता को समर्पित कर दिया गया हो। किन्तु इस धारा के प्रावधानों से राज्य द्वारा स्त्रियों व बच्चों के प्रति तथा जनता के किन्हीं सामाजिक व शैक्षिक दृष्टिकोण से पिछड़े

वर्गों की उन्नति के प्रति या अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के उत्थान के प्रति विशेष प्रावधान करने पर कोई रोक नहीं आयेगी।"[2]

'भेदनीति' का सामान्य अर्थ किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के विषय में उनके विरुद्ध या पक्ष में असाधारण व्यवहार करने की व्यवस्था करना है। किन्तु धारा 15 में जो मनाही की गई है, वह मुख्यत: किसी व्यक्ति के किसी विशेष धर्म, जाति, वंश, लिंग, जन्म-स्थान इत्यादि से सम्बन्धित होने के कारण की जाने वाली भेदनीति है। अन्य कारणों से की जाने वाली भेदनीति इस धारा से प्रभावित नहीं होती। उदाहरणतया निवास स्थान के कारण की जाने वाली भेदनीति की मनाही नहीं है। धारा 12 में पदनाम राज्य का अर्थ पर्याप्त विस्तार से समझाया गया है। अत: म्यूनिसिपल कमेटियों तथा अन्य निकायों इत्यादि सभी प्रतिनिधि एवं स्थानीय निकायों को, जो उस धारा के अभिप्राय की मर्यादा के भीतर प्राधिकार का उपभोग करती हैं, भेदनीति का व्यवहार करने से मना किया गया है। किन्तु **मद्रास विश्वविद्यालय बनाम** शान्ता के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि धारा 15 केवल उन्हीं संस्थापनों पर लागू होती है जो राज्य द्वारा चलाये जाते हैं, राज्य से सहायता पाने वाले संस्थानों पर नहीं।

धारा 15 के उपर्युक्त अनुच्छेद (1) का प्रभाव क्षेत्र विशाल है तथा नागरिकों के अधिकारों सम्बन्धी राज्य के सभी कृत्यों को प्रभावित करता है, चाहे वह नागरिक हों या राजनीतिक। इसके अतिरिक्त इस धारा द्वारा प्रदत्त अधिकार प्रत्येक नागरिक का पृथक रूप से अपना अधिकार होता है, जोकि उसके अधिकारों के मामले में भेदनीति न अपनाने की गारण्टी होती है।

अनुच्छेद (2) के खण्ड (क) में दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, तथा मनोरंजन के स्थानों में जाने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है, पर यह आवश्यक नहीं कि वे सब संस्थान राज्य द्वारा चलाये जा रहे हों। यदि कुएँ, तालाब, नहाने के घाट, सड़कें और अन्य सार्वजनिक स्थान सामान्य जनता के उपयोग के लिए खुले हों तो किसी को उनके उपयोग से रोका नहीं जा सकता। यह आवश्यक नहीं कि ये स्थान पूर्णत: या अंशत: राज्य द्वारा चलाये जा रहे हों। इस प्रकार गाँव के कुँओं और मन्दिरों के उपयोग पर अछूतों के लिए कोई प्रतिबन्ध लगाना संवैधानिक दृष्टिकोण से अवैध है।

सार्वजनिक नौकरियों में अवसरों की समानता, धारा 16 (Equality of Opportunity in Matters of Public Employment, Article 16)

धारा 16 में समानता के अधिकार की और अधिक गारण्टी की गई है। इस धारा

[2]यह अनुच्छेद (अनुच्छेद 4) धारा 15 में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा जोड़ा गया था। इस संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि **मद्रास राज्य बनाम चम्पकम** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि धारा 29 (2) धारा 46 से नियन्त्रित नहीं है तथा शैक्षणिक संस्थाओं से प्रवेश दिये जाने के सम्बन्ध में संविधान द्वारा पिछड़े वर्गों के हितों की रक्षा करना **अभिप्रेत नहीं है।**

के अनुच्छेद (1) में प्रावधान है कि सरकारी नौकरियों एवं नियुक्तियों में सभी नागरिकों को समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। अनुच्छेद (2) में वर्णित है कि किसी भी नागरिक को केवल धर्म, वंश, जाति या लिंग, कुल, जन्म-स्थान, निवास-स्थान इत्यादि के कारण किसी सरकारी नौकरी पर नियुक्त किये जाने से वंचित नहीं किया जाना चाहिए और न ही उसके प्रति उपर्युक्त कारणों से भेद किया जाना चाहिए। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय भी दिया है कि सरकारों को नौकरी के अनेकों प्रत्याशियों में से चुनने का अधिकार नहीं है। विशेष पदों पर नियुक्ति के लिए नियोजन अधिकारी कुछ विशेष शर्तें निर्धारित कर सकते है। अनुच्छेद (3) में प्रावधान है कि संसद को किसी राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश के भीतर किसी स्थानीय या अन्य अधिकरण या किसी राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश की सरकार के अधीन नियुक्ति के लिए किसी एक या अनेक प्रकार की नौकरियों के सम्बन्ध में, नियुक्ति से पूर्व उस राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश में निवास सम्बन्धी उपबन्ध निर्धारित करने का अधिकार है। राज्य को किन्हीं पिछड़े वर्ग के नागरिकों के लिए, जिनके बारे में उसका अनुमान हो कि उन्हें राज्य की नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, पद आरक्षित करने का भी अधिकार है। धारा 16 के अनुच्छेद (5) में यह भी निर्दिष्ट किया गया है किसी धर्म या साम्प्रदायिक संस्थान से सम्बन्धित पदों को उसी धर्म या सम्प्रदाय के व्यक्तियों के लिए भी आरक्षित किया जा सकता है।

सुखनन्दन बनाम बिहार राज्य के वाद में उच्च न्यायालय ने 'नियुक्ति' (appointment) एवं 'भर्ती' (employment) शब्दों में भेद निरूपित किया। नियुक्ति का अर्थ किसी पद पर नियुक्ति बताया गया जिसमें अवधि, कार्यकाल, वेतन, दायित्व एवं कर्तव्यों का निर्धारण भी गर्भित होता है। किन्तु भर्ती में ये सब तत्त्व न होकर अनुबन्ध सहित मज़दूरी या किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए अस्थाई भर्ती का तात्पर्य बताया गया।

छुआछूत की समाप्ति, धारा 17 (Abolition of Untouchability, Article 17)

समानता के अधिकार की और अधिक गारण्टी संविधान की धारा 17 में की गई जिसके द्वारा 'छुआछूत' की पूर्णतः मनाही कर दी गई। उस धारा में निर्दिष्ट किया गया कि "छुआछूत" के कारण किसी को अनिवार्यतः अयोग्य समझना विधि द्वारा दण्डनीय अपराध समझा जाना चाहिए। 1955 में संसद ने छुआछूत (अपराध) अधिनियम पारित किया जो सारे भारत में प्रवर्तित होता है। छुआछूत की परिभाषा बताने के बाद अधिनियम द्वारा सामाजिक एवं धार्मिक अयोग्यताएँ प्रवर्तित करने पर दण्ड का विधान किया गया। अस्पतालों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों तथा सार्वजनिक पूजा स्थलों में प्रवेश न करने देने के प्रति भी दण्ड निर्धारित किए गए। माल बेचने से इन्कार करने या सेवा करने से इन्कार करने के प्रति भी दण्ड निर्धारित किए गए।

उपाधियों की समाप्ति, धारा 18 (Abolition of Titles, Articles 18)

समानता के अधिकार की और अधिक गारण्टी संविधान की धारा 18 में की गई है। इस धारा के निम्नलिखित प्रावधान हैं : (1) राज्य द्वारा सैनिक या शैक्षणिक विशिष्टता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाधि प्रदान नहीं की जायेगी, (2) भारत का कोई भी नागरिक किसी विदेशी राज्य से किसी प्रकार की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा, (3) कोई भी व्यक्ति, जो भारत का नागरिक नहीं है, जब तक वह राज्य के आधीन किसी वैतनिक या निक्षिप्ति पद पर नियुक्त हो, राष्ट्रपति की अनुमति के विना किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता, (4) कोई भी व्यक्ति जो राज्य के आधीन किसी वैतनिक या निक्षिप्त पद पर नियुक्त हो, राष्ट्रपति की अनुमति के विना किसी विदेशी राज्य से किसी प्रकार की भेंट, वेतन या पद स्वीकार नहीं करेगा।

स्वतन्त्रता का अधिकार, धारा 19 (Right to Freedom, Article 19)

धारा 19 (1) द्वारा भारत के नागरिकों को (भारत में रहने वाले विदेशी नागरिकों को नहीं) निम्नलिखित सात स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं: (क) भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता; (ख) शान्तिपूर्वक तथा हथियारों के विना एकत्रित होने की स्वतन्त्रता; (ग) संगठन या संस्थाएँ बनाने की स्वतन्त्रता; (घ) सारे भारत में स्वच्छन्द विचरण की स्वतन्त्रता; (ङ) भारत की सीमा के भीतर चाहे जहाँ रहने व बसने की स्वतन्त्रता (च) सम्पत्ति के अधिग्रहण करने, रखने व बेचने की स्वतन्त्रता; तथा (छ) कोई भी पेशा करने या कोई भी काम, वाणिज्य अथवा व्यापार करने की स्वतन्त्रता।

ये स्वतन्त्रताएँ पूर्णत: स्वैच्छिक या पूर्णतः निरंकुश नहीं हैं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो मानव समाज में पूर्णत: अव्यवस्था एवं अराजकता फैल जाये। निरंकुश स्वतन्त्रता से स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। संविधान के रचयिता इससे अनभिज्ञ नहीं थे, अत: उन्होंने धारा 19 के अनुच्छेद (2) से (6) में इन स्वतन्त्रताओं पर राज्य द्वारा रखे जा सकने वाले अंकुश निर्धारित किए हैं, जिनका क्रमिक अध्ययन आगे किया जा रहा है।

भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech and Expression)

भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से यह तात्पर्य है कि भारत के नागरिक सोचने तथा अपने विचार प्रकट करने, अपने मत का प्रचार एवं प्रसार करने, अपने विचारों को लिखने व छापने तथा अपने लेखन-कार्य को प्रकाशित एवं प्रसारित करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस से यह भी तात्पर्य है कि वे सामाजिक एवं राजनीतिक मामलों में कोई भी आस्था, विचारधारा, सिद्धान्त या मत रख सकते हैं। इस स्वतन्त्रता से अल्पसंख्यक समुदायों तथा वामपंथियों को सहमत न होने, तथा बहस एवं विवेचना करने का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता पूर्णत: ऐच्छिक या निरंकुश नहीं हैं। धारा 19 के अनुच्छेद (2) में वर्णित है कि भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

से राज्य द्वारा राज्य की सुरक्षा बनाये रखने, अन्य देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने, शालीनता या नैतिकता के हित में अथवा न्यायालय की मर्यादा भंग करने, किसी की मान-हानि करने अथवा अपराध करने की प्रेरणा देने के प्रतिकार में तर्कसंगत अंकुश लगाने के दृष्टिकोण से इन स्वतन्त्रताओं को मर्यादित करने के लिए विधि बनाने अथवा ऐसी किसी प्रचलित विधि के प्रवर्तन में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। **रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री ने 1950 में निर्णय दिया कि 'लोक सुरक्षा' एवं 'लोक व्यवस्था' के नाम पर किसी नागरिक की भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित नहीं की जा सकती। जब तक राज्य की सुरक्षा को हानि पहुँचाने या उसका तख्ता पलटने का प्रयत्न न किया गया हो, उसकी स्वतन्त्रता कम करने सम्बन्धी कोई विधान करना न्यायोचित नहीं होगा। इस विनिर्णय (ruling) के आधार पर कुछ उच्च न्यायालयों ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि जनता में अपराग (disaffection) फैलाने अथवा 'राजद्रोह' के लिए उकसाने अथवा सरकार के प्रति 'बुरे विचार' फैलाने को, बोलने की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं माना जा सकता तथा उन्हें रोकने के लिए सरकार द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों को तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।[3] सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्युक्त कठिनाई के प्रतिकार के लिए संसद ने संविधान में 1951 के (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधन किया और "अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों" के आगे "लोक व्यवस्था" जोड़ दिया। अक्तूबर 1963 में संविधान (सोलहवाँ संशोधन) अधिनियम पारित किया तथा "राज्य की सुरक्षा" शब्दों के पूर्व "भारत की प्रभुत्वसंपन्नता व अखण्डता" शब्द जोड़ दिये गए। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि 1962 के भारत-चीन सीमा युद्ध के पश्चात भारतीय साम्यवादी दल के कुछ सदस्य, नम्बूदरीपाद, ज्योति बसु और सुन्दरैया इत्यादि के नेतृत्व में साम्यवादी चीन के साथ समैक्य की बातें करने लगे थे और देश की प्रादेशिक अखण्डता को क्षति पहुँचाने जैसा प्रचार कर रहे थे।

[3]यहाँ इसके दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। मद्रास राज्य ने मद्रास लोक व्यवस्था परिरक्षण अधिनियम, 1949 के आधीन बम्बई से मुद्रित व प्रकाशित साप्ताहिक पत्र **'दि क्रास रोड्ज़'** के अपने राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध का उद्देश्य लोक सुरक्षा निश्चित करना तथा लोक-व्यवस्था का परिरक्षण बताया गया। जब इस आदेश को न्यायालय में चुनौती दी गई तो उच्च न्यायालय ने इसे विखण्डित कर दिया तथा निर्णय दिया कि विखण्डित अधिनियम धारा 19 के अनुच्छेद (2) के प्रावधान के परिक्षेत्र में नहीं आता। इसी प्रकार, दिल्ली के उच्च आयुक्त ने एक साप्ताहिक **'दि आर्गेनाइज़र'** के मुद्रक व प्रकाशक की "जाँच के लिए···सरकारी साधनों से प्राप्त या समाचार एजेन्सियों—प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया, यूनाइटेड प्रेस ऑफ़ इण्डिया, और युनाईटेड प्रेस ऑफ़ अमरीका—द्वारा दी गई सामग्री के अतिरिक्त सभी साम्प्रदायिकतावादी सामग्री तथा पाकिस्तान सम्बन्धी सभी फोटो, व्यंग्य-चित्र सहित समाचारों एवं विचारों को प्रान्तीय प्रेस अधिकारी को प्रेषित करने···" का आदेश दिया। इस आदेश को उपर्युक्त अनुच्छेद के प्रतिकूल बता कर विखण्डित कर दिया गया।

बिना हथियारों के तथा शान्तिपूर्वक एकत्र होने की स्वतन्त्रता(Freedom to Assemble Peaceably and Without Arms)—भाषण व विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में एकत्र होने की स्वतन्त्रता अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, या सांस्कृतिक उद्देश्य से एकत्रित होने की स्वतन्त्रता अनिवार्यतः सम्मिलित है। ऐसा एकत्रण किसी सभा भवन में, किसी आराधना व धर्म स्थान के प्रागंण में, खुले मैदान में, अथवा किसी निजी भवन के भीतर उसके स्वामी की अनुमति से हो सकता है। इस अधिकार से जुलूस निकालने, प्रदर्शन आयोजित करने तथा सार्वजनिक सभा करने का भी तात्पर्य होता है। किन्तु इसकी तीन सीमाएँ भी होती हैं। प्रथम, एकत्रण शान्तिपूर्ण होना चाहिए। दूसरे, जो व्यक्ति एकत्र हों, उनके पास हथियार नहीं होने चाहिए। तीसरे, राज्य को भारत की प्रभुत्वसंपन्नता एवं अखण्डता के दृष्टिकोण से तथा लोक व्यवस्था के हित में इस अधिकार के उपयोग पर तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार होता है। इस उद्देश्य से, संविधान प्रवर्तित होने से पूर्व बनाई गई कोई भी विधि, जो उस समय भी परिचालन में थी, वैध घोषित की गई। जिस एकत्रण से जनता की शान्ति भंग होने की आशंका हो अथवा जो इसी उद्देश्य से संगठित किया गया हो, उस पर आरम्भ में ही रोक लगाई जा सकती है। भारतीय दण्डविधान संहिता की धारा 144 के आधीन पाँच या पाँच से अधिक व्यक्तियों का एकत्रित होना अवैध करार दिया जा सकता है, यदि वे (क) किसी सम्पत्ति पर बलात् अधिकार करने के लिए, (ख) दण्डनीय अतिक्रमण करने के लिए, (ग) किसी कानून या आदेश के पालन में बाधा डालने के लिए, या (घ) दण्डनीय प्रकार से शक्ति प्रदर्शन करके सरकार को डराने का प्रयत्न करने के लिए एकत्र हुए हों। संसद भवन इत्यादि विशिष्ट क्षेत्रों में एकत्र होने पर पहले से रोक लगायी जा सकती है। इसी प्रकार यदि प्रदर्शनों या जुलूस इत्यादि से हिंसा तथा सरकारी या निजी सम्पत्ति अथवा सार्वजनिक या निजी शान्ति की क्षति या विनाश की आशंका हो तो उन पर भी रोक लगाई जा सकती है। किन्तु राज्य द्वारा एकत्रित होने के अधिकार पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध का न्यायिक पुनरीक्षण कराया जा सकता है। जब भी किसी ऐसी विधि, या आदेश को इस अधिकार के विपरीत बता कर न्यायालय में चुनौती दी जाये, तो न्यायालय उसकी तर्कसंगतता की जाँच कर सकता है।

1857 की क्राँति के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता को निरस्त्र कर दिया था। स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में, विशेषतः कांग्रेस दल ने यह माँग की कि जनता को हथियार रखने व लेकर चलने का अधिकार दिया जाये। इसकी ओर इंगित करते हुए संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने तर्क किया कि अब देश स्वतन्त्र हो गया है और नया संविधान बनाया जा रहा है, अतः जनता का हथियार रखने का अधिकार स्वीकार किया जाना चाहिए। किन्तु संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने कहा कि कांग्रेस ने यह माँग जिन परिस्थितियों में की थी, वे अब विद्यमान नहीं हैं। उनका कहना था कि स्वतन्त्र भारत में तो जनता को हथियार

रखने का अधिकार नहीं वल्कि यह उसका कर्तव्य होना चाहिए।[4]

संगठन अथवा यूनियन बनाने की स्वतन्त्रता (Freedom to Form Associations or Unions)—धारा 19 द्वारा प्रदत्त एक और स्वतन्त्रता संगठन या यूनियन बनाने की स्वतन्त्रता है। मानव एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। अपने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसे अपने ही जैसे लक्ष्यों व उद्देश्यों वाले अन्य व्यक्तियों के साथ मिलना होता है। जनता की इस चेष्टा को संविधान के रचयिताओं ने पहचाना और उसे उनका मूल अधिकार माना। इसी प्रकार कामगारों व किसानों को, जो दीर्घकाल से पूंजीपतियों तथा पूंजीवादियों के हाथों सताये जा रहे थे, और जिन्हें अपनी शिकायतों के समाधान के लिए संगठित होने तक की अनुमति नहीं दी जाती थी, यूनियन बनाने व संगठित होने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है। इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि कोई व्यक्ति नया संगठन बना सकता है, पहले से विद्यमान संगठन का सदस्य बन सकता है, किसी संगठन का सदस्य बनने से इनकार कर सकता है तथा संगठन बनाया जाने के बाद उसे भंग कर सकता है।

अन्य स्वतन्त्रताओं की तरह यह स्वतन्त्रता भी ऐच्छिक एवं असीम नहीं है। कोई वर्तमान विधि अथवा संविधान आरम्भ होने के बाद संसद द्वारा बनाई गई विधि, जिसके द्वारा भारत की प्रभुत्वसंपन्नता व अखण्डता या सार्वजनिक व्यवस्था या नैतिकता के हित में इस अधिकार पर तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगाये जायें, वैध होगा। सरकार का बलपूर्वक या षड्यन्त्र द्वारा तख्ता उलटने के उद्देश्य से या जनता में अनैतिकता फैलाने के उद्देश्य से बनाये गए किसी भी संगठन को अवैध घोषित किया जा सकता है तथा उसकी सभी गतिविधियों को समाप्त या परिसीमित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक नागरिक को इस स्वतन्त्रता का उसी प्रकार तथा उसी सीमा तक उपभोग करने का अधिकार नहीं होता। उदाहरणतया प्रशासनिक सेवा (civil service rules) नियमों के अन्तर्गत, सरकारी कर्मचारियों को ऐसे संगठन बनाने या पहले से वर्तमान संगठन के सदस्य बनने के अधिकार से वंचित किया जा सकता है, जिनका उद्देश्य सरकार को ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य करने के लिए दबाव डालना हो, जो उसके विचार में सार्वजनिक हित में या सम्भव या क्रियात्मक नहीं होंगे।

मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संगठन या यूनियन बनाने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना सरकार या उसके अधिकारियों के "आत्मनिष्ठ विश्वास" (subjective satisfaction) पर आधारित नहीं होना चाहिए तथा प्रतिबन्ध लगाने के आधार न्यायिक जाँच के योग्य होने चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि केवल अत्यन्त विशिष्ट मामलों

[4]विस्तृत अध्ययन के लिए देखो, Constituent Assembly, *Debates*, vol. vii, p. 780.

में ही न्यायपालिका ऐसे प्रतिबन्धों के प्रति स्वीकृति प्रदान करे क्योंकि कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले ऐसे कृत्यों से धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में गम्भीर प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं।

भारत की सीमा में स्वच्छन्द विचरण की स्वतन्त्रता (Freedom to move freely throughout the territory of India)—विचरण की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि कोई नागरिक व्यापार, वाणिज्य, नौकरी, तीर्थयात्रा या सैर-सपाटे के लिए देश के किसी भी भाग में बेरोकटोक जा सकता है। वह रेल, सड़क, वायुमार्ग अथवा किसी भी परिवहन साधन से यात्रा कर सकता है। वास्तव में इस स्वतन्त्रता में अड़चन डालने से अन्य स्वतन्त्रताएँ निरर्थक हो जाती हैं। किन्तु यह स्वतन्त्रता भी पूर्णतः ऐच्छिक नहीं है। धारा 19 के अनुच्छेद (5) में निर्दिष्ट है कि सामान्य जनता के हित में अथवा किसी जन-जाति के अधिकारों की रक्षा के लिए किसी व्यक्ति के विचरण पर तर्कसंगत रोक लगाई जा सकती है। राज्य की सुरक्षा के हित में, या सैनिक कारणों से या सरकारी प्रतिष्ठानों, परियोजनाओं तथा फैक्ट्रियों इत्यादि की सुरक्षा के लिए किसी "प्रतिबन्धित क्षेत्र" या "संरक्षित क्षेत्र" में किसी भी नागरिक के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने पदनाम "राज्य की सुरक्षा" का अर्थ, न केवल बाहरी आक्रमण से सुरक्षा बल्कि आन्तरिक उपद्रवों या साम्प्रदायिक उपद्रवों या राजनीतिक प्रकार या राजनीतिक उद्देश्य के हिंसापूर्ण आन्दोलनों से सुरक्षा भी स्वीकार किया है। 1950 में दिल्ली राज्य (दिल्ली के ज़िला मजिस्ट्रेट) ने हिन्दू महा सभा के एक नेता नारायण भास्कर खरे को दिल्ली से इसलिए चले जाने का आदेश दिया कि उसकी गतिविधियाँ साम्प्रदायिक प्रकार की प्रतीत होती थीं तथा उनसे राज्य की शान्ति को खतरा प्रतीत होता था। एक बार भारत सरकार ने शेख मुहम्मद अब्दुल्ला को दिल्ली स्थित एक बंगले में क़ैद कर दिया और उन्हें उसके प्रांगण से बाहर जाने की मनाही कर दी। अनेकों बार संघीय सरकार को देश के विभिन्न भागों से अपनी शिकायतें सुनाने के लिए प्रदर्शन करने या जुलूस निकालने के लिए, अनेक लोगों के दिल्ली में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है। कभी-कभी विपक्षी दलों के नेताओं को भी किसी विशेष राज्य या नगर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जाती। प्रकट में यह सब राज्य की सुरक्षा की रक्षा के लिए ही किया जाता है।

बिहार लोक व्यवस्था परिरक्षण अधिनियम, 1950 में व्यक्तियों के अधिकतम एक वर्ष तक नज़रबन्दी की व्यवस्था की गई थी। इस अधिनियम में नज़रबन्द व्यक्ति को राज्य के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करने का कोई अवसर प्रदान नहीं किया गया था। इस्माइल नामक एक व्यक्ति को बिहार सरकार द्वारा इस अधिनियम के अन्तर्गत नज़रबन्द कर दिया गया। उसने इस अधिनियम को बिहार उच्च न्यायालय में चुनौती दी। उच्च न्यायालय ने अधिनियम के विचाराधीन प्रावधानों को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि नज़रबन्द व्यक्ति को किसी तटस्थ प्राधिकारी के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर नहीं दिया गया था। विचरण की स्वतन्त्रता तथा उस

पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न अनेक मामलों में उच्च न्यायालयों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और उन्होंने सदैव यही दृष्टिकोण अपनाया कि प्रतिबन्ध तर्कसंगत होने चाहिए। नारायण भास्कर खरे ने अपने दिल्ली से निकाले जाने के आदेश के प्रति सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका प्रस्तुत की, पर न्यायालय ने दिल्ली के ज़िला मजिस्ट्रेट के आदेश को इन आधार पर वैध बताया कि इस मामले में राज्य का सन्तुष्ट होना ही पर्याप्त था और उसके न्यायिक पुनरीक्षण की आवश्यकता नहीं थी।

भारतीय सीमा के भीतर किसी भी भाग में रहने व बसने का अधिकार (Freedom to reside and settle in any part of the indian territory)—संविधान में केवल विचरण की ही स्वतन्त्रता नहीं अपितु भारत की सीमा के भीतर किसी भी भाग में रहने व बसने की भी स्वतन्त्रता दी गई है। इसमें भी सामान्य व्यवस्था के हित में अथवा अनुसूचित जन-जातियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। इस प्रावधान का लाभ उठा कर संघीय सरकार अनेक अवसरों पर भारतीय नागरिकों को जासूसी, निष्ठाहीनता, तथा ऐसे ही अन्य अपराधों के कारण देश से बाहर निकाल देती है। **इब्राहीम वज़ीर बनाम बम्बई राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार के सामर्थ्य में पर्याप्त कमी दर दी और यह मत प्रकट किया कि भारतीय नागरिकों को सामान्यत: बिना पर्याप्त कारणों के अपनी मातृभूमि में रहने के अधिकार से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिए।

एक भारतीय नागरिक ने बिना वैध अनुमति पत्र के अनुमति पत्र के पाकिस्तान से भारत में प्रवेश किया। भारत सरकार ने उसे पाकिस्तान से आगमन (नियन्त्रण) अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत पाकिस्तान भेज दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त आधार पर ही सरकार के कृत्य को अवैध ठहराया कि किसी भारतीय नागरिक को अपनी मातृभूमि में बसने से वञ्जित नहीं किया जाना चाहिए। 1923 के वेश्यावृत्ति निरोध अधिनियम के प्रवर्तन में बम्बई सरकार ने एक वेश्या शान्ताबाई को उसके निवास स्थान से निकाल बाहर किया और उसे नगर से बाहर जा कर रहने का आदेश दिया। सरकार ने यह कार्रवाई शान्ताबाई को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर दिये बिना ही कर डाली। उसने सरकारी कार्रवाई की वैधता को चुनौती दी। बम्बई उच्च न्यायालय ने सरकार की कार्रवाई को इस आधार पर निरस्त कर दिया कि उसने शान्ताबाई की बात नहीं सुनी थी। इसी प्रकार के एक अन्य मामले में कौशल्या को स्त्रियों व बच्चों के अनैतिकता निरोध अधिनियम, 1956 के आधीन नगर की एक गुंजान आबादी में अपने घर से निकल जाने का आदेश दिया गया। इस आदेश को उचित माना गया क्योंकि वह पर्याप्त सुनवाई एवं जाँच के बाद दिया गया था। धारा 352 के आधीन, राष्ट्रीय संकट की स्थिति में किसी विशेष क्षेत्र में रहने के अधिकार में कटौती की जा सकती है।

सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने की स्वतन्त्रता (Freedom to acquire, hold and dispose of property)—संविधान की धारा 19 के अनुच्छेद (1) (च) द्वारा

भारतीय नागरिकों को सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा वेचने का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार के विषय क्षेत्र पर सर्वोच्च न्यायालय में अनेक वार विचार किया गया, और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि केवल प्राकृतिक व्यक्तियों का ही अधिकार संरक्षित होता है, किसी मठ, मन्दिर, अथवा संस्थान इत्यादि न्यायशास्त्र सम्बन्धी व्यक्तियों का नहीं। यह भी कहा गया है कि "प्राप्त करने" का अर्थ सम्पत्ति का स्वामी वनना है, और सम्पत्ति वैध उपायों से प्राप्त की जानी चाहिए। धारा 19 (1) (च) के आधीन कोई चोर या अनधिकार पूर्वक ग्रहण करने वाला संरक्षण का दावा नहीं कर सकता। "रखने" का अर्थ है, सम्पत्ति को अपने पास रखना तथा उसके लाभ का फल उठाना जो उसके स्वामित्व से सामान्यत: उपलब्ध हों। "वेचने" से तात्पर्य है, सम्पत्ति को वेच डालना अन्यथा नामांकित कर देना। इस धारा का तात्पर्य ऐसी सम्पत्ति से है जिसे प्राप्त किया जा सके, कब्जे में लिया जा सके तथा वेचा जा सके अर्थात भवन, भूमि सिक्योरिटियाँ, व्यापार-संस्थानों के शेयर, फ़र्नीचर, मशीनरी तथा संयंत्र इत्यादि।

यह अधिकार भी प्रतिबन्धों से मुक्त नहीं है। धारा 19 के अनुच्छेद (5) में वर्णित है कि सामान्य जनता के हित में या किसी जन-जाति के हितों की रक्षा के लिए युक्ति-संगत प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। धाराओं 31, 31 क, 31 ख, और 31 ग में सम्पत्ति के अधिकार, उस पर प्रतिबन्ध, तथा नागरिकों की सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाने या किसी नागरिक को उसकी सम्पत्ति से वञ्चित करने इत्यादि के सम्बन्ध में और प्रावधान किये गए हैं, जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है। **के० के० कोचुनी** (K.K. Kochuni) **बनाम मद्रास राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि यद्यपि धारा 19 (1) (च) के आधीन सम्पत्ति के अधिकार पर सामान्य जनता के हित में प्रतिबन्ध लगता है, यह आवश्यक नहीं कि उस प्रतिबन्ध से देश की सारी जनता को लाभ पहुँचे। प्रतिबन्ध, जनता के एक वर्ग, या व्यक्तियों के किसी विशेष समुदाय या वर्ग के हित में भी लगाए जा सकते हैं, जैसेकि कामगार, किसान या पट्टेदार। **शाम दासनी बनाम भारत सरकार** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि धारा 19 (1) (च) द्वारा नागरिकों की राज्य की कार्रवाई से रक्षा होती है। किसी एकल व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा इस अधिकार का अतिक्रमण इस धारा के परिक्षेत्र में नहीं आता। यह भी कहा गया है कि कुछ परिस्थितियों में, जिस विधि द्वारा कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से वञ्चित होता हो, "तर्कसंगत प्रतिबन्ध" कहला सकता है।[5]

कोई भी पेशा करने या कोई भी वाणिज्य व्यापार अथवा काम करने की स्वतन्त्रता (Freedom to practice any profession or to carry on

[5]सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि वैंकिंग कम्पनीज़ (अधिग्रहण तथा संस्थानी हस्तांतरण) अधि-नियम, 1969 "अवैध तथा असंवैधानिक" है क्योंकि उससे अन्य वातों के साथ-साथ धारा 19 (1) (च) की अवहेलना होती है।

any occupation, trade or business)—संविधान में भारत के नागरिकों को कोई भी आजीविका चलाने अथवा कोई भी काम, वाणिज्य या व्यापार करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। किन्तु उसमें राज्य को सामान्य जनता के हित में इस अधिकार पर युक्तिसंगत प्रतिबन्ध लगाने के अधिकार से वंचित नहीं किया गया है। राज्य इस सम्बन्ध में भी विधि बना सकता है—(i) कोई पेशा करने अथवा आजीविका चलाने के लिए कोई वाणिज्य या व्यापार करने के लिए व्यावसायिक या तकनीकी योग्यता व अर्हता, अथवा (ii) राज्य या उसके स्वामित्व या नियन्त्रण आधीन किसी निगम द्वारा कोई वाणिज्य, व्यापार, उद्योग या सेवा चलाना जिसके लिए जनता को वही काम करने से पूर्णतः या अंशतः मनाही की जाये।

मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य के वाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश, मलिक ने निर्णय दिया था, "यथोचित प्रतिबन्ध" का अर्थ पूर्ण रोक लगा देना भी हो सकता है। यदि लोक नीति, नैतिकता या सामान्य हित के लिए राज्य किसी वाणिज्य या व्यवसाय पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाये तो वह वैध होगा। संविधान लागू किये जाने के बाद अनेक राज्यों के विधान मण्डलों तथा संसद द्वारा ऐसे अधिनियम बनाये गए जिनसे सड़क परिवहन, वायु परिवहन, जीवन बीमा, कोयला खानों, बैंक, व्यापार इत्यादि उद्योगों को सरकारी नियन्त्रण में सौंपा जा सके। इन अधिनियमों की वैधता को जब भी सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई तो न्यायपालिका का रवैया उन अधिनियमों को वैध एवं संवैधानिक ठहराने का रहा अर्थात न्यायपालिका राष्ट्रीयकरण का समर्थन करती रही है। किन्तु जब भी किसी अधिनियम में भेदनीति का प्रवर्तन पाया गया, न्यायालयों ने उसे असंवैधानिक घोषित करने में भी संकोच नहीं किया। 1951 से पूर्व राज्य के लिए किसी व्यापार में अपने एकाधिकार को "तर्कसंगत प्रतिबन्ध" सिद्ध करना अनिवार्य होता था किन्तु 1951 में प्रथम संविधान संशोधन द्वारा धारा 19 के छठे अनुच्छेद को पुनः रचा गया। उसके बाद राज्य के लिए उपर्युक्त औचित्य सिद्ध करना आवश्यक नहीं रहा। उसके बाद से राज्य द्वारा किसी व्यवसाय पर पूर्ण या आंशिक एकाधिकार स्थापित कर लेने या किसी नागरिक से स्पर्धा करने के प्रति, धारा 19(1) (6) के प्रवर्तन में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। 1956 में **रामचन्द्र बनाम उड़ीसा राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यदि राज्य द्वारा एकाधिकार स्थापित करना समाज के अधिक हित में हो तो किसी भी व्यक्ति के अधिकार को राज्य के अधिकार से निम्न माना जायेगा। धारा 19 के अनुच्छेद (6) में संशोधन करके (1951 के प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा) न्यायालयों को ऐसी विधि की तर्कसंगतता की जाँच करने से प्रतिबाधित कर दिया गया, जिसके द्वारा नागरिकों को कोई व्यापार या व्यवसाय करने से वंचित करके उनका एकाधिकार राज्य अथवा उसके या उसके द्वारा नियन्त्रित किसी निगम को सौंपा गया हो। तदपि इस संशोधन से न्यायालयों का किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा एकाधिकार

स्थापित करने व अन्य व्यक्तियों को उस व्यापार इत्यादि से वंचित करने के लिए लगाये गए प्रतिबन्ध की तर्कसंगतता की जाँच करने का अधिकार समाप्त नहीं किया गया। ऐसी परिस्थिति में अर्थात जब किसी एक या अनेक व्यक्तियों के लिए प्रतिबन्ध लगा कर अन्य व्यक्तियों को वंचित किया गया हो तो उसकी तर्कसंगतता की जाँच उस व्यापार या व्यवसाय से सम्बन्धित परिस्थितियों के संदर्भ में की जायेगी। उदाहरणतया, कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनकी अनुमति प्रत्येक नागरिक को नहीं दी जा सकती क्योंकि उनका समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसे कि सभी व्यक्तियों को मदिरा का व्यापार करने की अनुमति नहीं दी जा सकती और यदि राज्य कतिपय विशिष्ट नागरिकों के हित में एकाधिकार स्थापित करे तो उसे अन्य व्यक्तियों के अधिकार पर अतर्कसंगत प्रतिबन्ध नहीं माना जा सकता। यदि निरापद वस्तुओं के व्यापार के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार स्थापित किया जाये (जैसेकि फल, कपड़े, पुस्तकें, सब्जियाँ इत्यादि) तो उनके विक्रय पर लगाई गई पाबन्दी के प्रति आपत्ति उठाई जा सकती है और कुछ व्यक्तियों के हित में एकाधिकार स्थापित करने की तर्कसंगतता की जाँच की जा सकती है।

अपराधों के कारण दोषी ठहराये जाने के सम्बन्ध में संरक्षण (Protection in Respect of Conviction for Offences)

संविधान की धारा 20 में अपराधों के कारण दोषी ठहराये जाने के सम्बन्ध में संरक्षण का वर्णन किया गया है। उसके निम्नलिखित प्रावधान हैं :

(1) किसी भी व्यक्ति को प्रचलित विधि के उल्लंघन (जिसे अपराध बताया गया हो) के अतिरिक्त किसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जायेगा, और न ही उसे अपराध करने के समय प्रचलित विधि के अन्तर्गत निर्धारित दण्ड से अधिक दण्ड दिया जायेगा।

(2) किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक से अधिक बार अभियोग लगा कर दण्डित नहीं किया जायेगा।

(3) जिस व्यक्ति पर किसी अपराध का दोष लगाया गया हो उसे स्वयं अपने ही विरुद्ध साक्षी होने के लिए मजबूर नहीं किया जायेगा।

इस धारा के प्रावधानों की व्याख्या तथा विश्लेषण बाद में न्यायालयों द्वारा किया गया। पहले अनुच्छेद का यह अर्थ लगाया गया कि भारत में विधायिका **कार्योत्तर** (post facto) दण्ड विधान नहीं कर सकती अर्थात किसी कृत्य को प्रथम बार दण्डनीय घोषित करके उसे पूर्वापेक्षी (retrospective) प्रवर्तन प्रदान नहीं कर सकती। दूसरे, किसी अपराध के लिए उसके किये जाने के समय जो दण्ड निर्धारित था, उससे अधिक दण्ड नहीं दिया जा सकता। तीसरे, इस अनुच्छेद में, कार्योत्तर विधान द्वारा दोषी ठहराने एवं दण्ड देने की मनाही थी, अभियोग चलाने की नहीं। इसके अतिरिक्त केवल न्यायिक दण्ड की मनाही थी, राज्य द्वारा अन्य प्रकार के दण्ड देने या

अयोग्यता प्रशस्त करने के प्रति नहीं। **प्रह्लाद बनाम बम्बई राज्य** तथा **रमेशचन्द्र बनाम बम्बई राज्य** के वादों में बम्बई उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "दोषी ठहराया गया" और 'अपराध" शब्दों से तात्पर्य है कि धारा 20 का अनुच्छेद (1) "निवारक नजरबन्दी" या "निष्कासन आदेश" के प्रति प्रवर्तित नहीं होता।

धारा 20 के दूसरे अनुच्छेद का यह तात्पर्य निकाला गया कि किसी व्यक्ति पर एक अपराध के लिए अभियोग चलाने व दण्ड देने के दोनों कार्य किये जा चुके हों तो उस पर पुनः अभियोग नहीं चलाया जा सकता, किन्तु यदि केवल अभियोग चलाया गया हो और दण्ड न दिया गया हो तो पुनः अभियोग चला कर दण्ड दिया जा सकता है। दूसरे अभियोग में भी वह दोष होना चाहिए, जो प्रथम बार अभियोग का विषय तत्त्व था। इसके अतिरिक्त "अभियोग चलाने" व "दण्ड देने" का यह तात्पर्य है कि कार्रवाई किसी न्यायालय या न्यायिक अधिकरण में होनी चाहिए। 'दण्ड' से तात्पर्य है—किसी न्यायालय द्वारा दिया गया दण्ड, ऐसी अन्य प्रशस्तियाँ इत्यादि नहीं जो किसी कार्यकारी प्राधिकारी द्वारा की गई हों जो किसी विनियम के अन्तर्गत किसी प्रकार की अनुशासनिक कार्रवाई करने के लिए सक्षम हो।

धारा 20 के तीसरे अनुच्छेद से सर्वोच्च न्यायालय ने यह तात्पर्य निकाला कि उससे प्राप्त होने वाले संरक्षण किसी न्यायालय में होने वाली दण्डनीय कार्रवाई के सम्बन्ध में हैं, दीवानी कार्रवाई के सम्बन्ध में नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने "व्यक्ति" का अर्थ यह बताया कि वह निगमों पर भी लागू होता है। यद्यपि इस अनुच्छेद में प्रावधान है कि किसी को, जब उस पर कोई अपराध लगाया जाये, स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता पर सर्वोच्च न्यायालय ने इसका यह अर्थ निर्धारित किया कि कोई व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी जबरदस्ती, बल प्रयोग या धमकी के बिना अपने द्वारा किया गया अपराध स्वीकार कर सकता है, पर वह चाहे तो बाद में मुकर भी सकता है। साक्षी का अर्थ केवल मौखिक ही नहीं वरन् अभिलिखित साक्ष्य भी बताया गया। अनुच्छेद (3) के प्रावधान तब तक प्रयुक्त नहीं होते जब तक किसी अभियुक्त को स्वयं अपने आप को दोषी ठहराने के लिए बाध्य न किया गया हो।

जीवन और वैयक्तिक स्वतन्त्रता को संरक्षण, धारा 21 (Protection to Life and Personal Liberty, Article 21)

धारा 21 में प्रावधान है कि "विधि द्वारा स्थापित कार्य-विधि के अनुसार के अतिरिक्त" किसी व्यक्ति को उसके जीवन या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालयों ने इसका यह अर्थ लगाया कि जीवित रहने तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार विशुद्ध नहीं है तथा "विधि द्वारा स्थापित कार्य-विधि के अनुसरण द्वारा" किसी नागरिक को इन अधिकारों से वञ्चित भी किया जा सकता है। विधि का अर्थ "एक निश्चित" एवं "राज्य द्वारा निर्मित" विधि बताया गया है, कोई

प्राकृतिक न्याय के नियमों से उत्पन्न होने वाली विधि नहीं। **गोपालन् बनाम मद्रास राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 1950 में निर्णय दिया कि किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनने से पूर्व "विधि द्वारा स्थापित कार्य-विधि" का अनुसरण अवश्य किया जाना चाहिए तथा उसका ऐसा उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए जिससे उस व्यक्ति को हानि पहुँचती हो। उसी वाद में न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि धारा 21 में प्रदत्त 'व्यक्तिगत स्वाधीनता' से तात्पर्य किसी व्यक्ति को कारागार में डालकर अथवा अन्यथा शारीरिक रूप से प्रतिबन्धित करना है। "विधि द्वारा स्थापित कार्य विधि" से यह तात्पर्य निकाला गया कि संसद को कार्य विधि में परिवर्तन करने का अधिकार होता है और यदि ऐसा परिवर्तन किया जाये और जब भी किया जाये, परिवर्तित कार्य विधि ही विधि द्वारा स्थापित कार्य-विधि हो जाती है। संसद द्वारा पुनः स्थापित कार्य विधि की तर्कसंगतता के प्रश्न की जाँच न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती। **मकबूल हुसैन बनाम बम्बई राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यदि किसी सरकारी कर्मचारी को अपने पदेन कर्तव्य के पालन में (in the discharge of his official duties) किसी व्यक्ति की वैयक्तिक स्वाधीनता छीनने का आदेश दिया जाये तो उसे यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वह "विधि द्वारा स्थापित कार्य-विधि" का दृढ़ता एवं अनुशासनपूर्वक पालन कर रहा है।

कुछ मामलों में वन्दी बनाये जाने व रोक रखे जाने से संरक्षा, धारा 22 (Protection against Arrest and Detention in Certain Cases, Article 22)

धारा 22 में कुछ मामलों में वन्दी बनाये जाने तथा रोक रखे जाने के प्रति संरक्षा निर्धारित की गई है, तथा जब किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया गया हो तथा उसे सार्वजनिक रूप से मुकदमा चलाये बिना वन्दीगृह में रखा जाना हो तो उसके प्रति संरक्षा निर्धारित की गई है। इस प्रकार धारा 21 द्वारा छोड़े गये कार्य को धारा 22 पूरा करती है। उसके निम्नलिखित प्रावधान हैं :

(1) जिस व्यक्ति को बन्दी बनाया गया हो उसे यथाशीघ्र बन्दी बनाये जाने का कारण बताये बिना वन्दी गृह में नहीं रखा जायेगा और न ही उसे अपनी इच्छानुसार वकील से परामर्श करने व अपना बचाव कराने के अधिकार से वंचित किया जायेगा।

(2) जिस व्यक्ति को बन्दी बना कर वन्दी गृह में रखा जाये, उसे, वन्दी बनाये जाने के स्थान से दण्डाधिकारी के न्यायालय तक ले जाये जाने में जो समय लगे, उसके अतिरिक्त चौबीस घण्टे की अवधि के भीतर निकटतम दण्डाधिकारी (Magistrate) के सम्मुख प्रस्तुत किया जायेगा तथा किसी दण्डाधिकारी के प्राधिकार के बिना किसी व्यक्ति को इस से अधिक अवधि के लिए वन्दीगृह में नहीं रखा जायेगा।

(3) अनुच्छेद (1) व (2) के प्रावधान निम्नलिखित पर लागू नहीं होंगे—

(क) किसी ऐसे व्यक्ति पर जो उस समय कोई अन्यदेशीय शत्रु हो, या

(ख) किसी ऐसे व्यक्ति पर जिसे किसी निवारक नज़रबन्दी। कानून के अन्तर्गत

वन्दी बनाया गया हो ।

(4) निवारक नज़रबन्दी सम्बन्धी किसी भी विधि द्वारा किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक अवधि के लिए वन्दी रखने का प्रावधान नहीं किया जायेगा, किन्तु निम्नलिखित अपवाद विद्यमान हैं—

(क) किसी ऐसे व्यक्तियों के सलाहकार मण्डल ने जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हों अथवा तत्सम्बन्धी अर्हता रखते हों, तीन मास की उपर्युक्त अवधि समाप्त होने से पूर्व सूचित किया हो कि उनके विचार में इस प्रकार रोक रखे जाने के पर्याप्त कारण विद्यमान हैं, किन्तु इस उप-अनुच्छेद के किसी भी प्रावधान से अनुच्छेद (7) के उप-अनुच्छेद (ख) के आधीन संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा निर्धारित अधिकतम अवधि से अधिक के लिए वन्दीगृह में रखे जाने का प्राधिकार प्राप्त नहीं होता, या

(ख) उस व्यक्ति को अनुच्छेद 7 के उप अनुच्छेद (क) व (ख) के आधीन संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के प्रावधान के अनुसार वन्दी बनाया गया हो ।

(5) जब किसी व्यक्ति को किसी ऐसे आदेश के पालन में वन्दी बनाया गया हो जिसमें निवारक नज़रबन्दी की व्यवस्था विद्यमान हो तो आदेश देने वाला प्राधिकारी यथाशीघ्र उस व्यक्ति को वह आदेश देने का आधार बतायेगा तथा आदेश के प्रति विरोध-प्रदर्शन करने का शीघ्रतम अवसर प्रदान करेगा ।

(6) अनुच्छेद (5) के किसी भी प्रावधान से उपर्युक्त आदेश देने वाले अधिकारी को ऐसे तथ्यों का वर्णन करने के लिए वाध्य नहीं होना पड़ेगा, जिन्हें बताना उस प्राधिकारी के विचार में लोक हित के विरुद्ध होगा ।

(7) संसद, विधि द्वारा निम्नलिखित निर्धारित कर सकती है—

(क) ऐसी परिस्थितियाँ तथा मामलों की श्रेणियाँ जिनमें किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक अवधि के लिए, किसी निवारक नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत अनुच्छेद (4) (क) के प्रावधानानुसार सलाहकार मण्डल की सलाह लिए बिना रोक रखा जा सके;

(ख) अधिकतम अवधि जिसके लिए किसी व्यक्ति को किसी भी श्रेणी के मामले यां मामलों में किसी निवारक नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत वन्दीगृह में रखा जा सकता हो, तथा

(ग) अनुच्छेद (4) (क) के आधीन की जाने वाली जाँचों में सलाहकार मण्डल द्वारा अनुकरण की जाने वाली कार्य-विधि ।

इस प्रकार वन्दी बना कर रोके रखे जाने के सम्बन्ध में धारा 22 द्वारा तीन अधिकारों की गारण्टी की गई है—उसके वन्दी बनाये जाने का कारण सूचित किये जाने का अधिकार ; अपनी पसन्द के वकील से परामर्श करने तथा बचाव कराने का अधिकार तथा वन्दी बनाए जाने के चौबीस घंटों के भीतर दण्डाधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत किया जाने का अधिकार । किन्तु ये अधिकार किसी विदेशी शत्रु को नहीं दिये

जाते तथा निवारक नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत बन्दी बनाये गए व्यक्ति के प्रति भी लागू नहीं होते। अनुच्छेद (1) व (2) की न्यायालयों द्वारा समय-समय पर विचारार्थ प्रस्तुत किये गए मामलों में और अधिक व्याख्या की गई है। "आधार बताये जाने के अधिकार" का यह अर्थ बताया गया कि बन्दी बनाने वाले प्राधिकार द्वारा बन्दी को उसके अपराध का पूरा विवरण बताना आवश्यक नहीं है, किन्तु बन्दी बनाये गये व्यक्ति को इतने पर्याप्त विवरण अवश्य बताये जाने चाहिए कि वह यह समझ सके कि उसे क्यों पकड़ा गया है तथा अपनी ज़मानत के लिए प्रार्थनापत्र दे सके या उच्च न्यायालय में **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** याचिका प्रस्तुत कर सके। गिरफ़्तारी का आधार बताया जाने पर बन्दी अपने अभियोग की सुनवाई के लिए समय पर अपना बचाव भी तैयार कर सकेगा।

"वकील से परामर्श करने के अधिकार" से यह तात्पर्य लगाया जाता है कि बन्दी को अपनी गिरफ़्तारी के क्षण से ही अपनी पसन्द के वकील से परामर्श करने का अधिकार होगा, तथा "वह अपने वकील से इस प्रकार परामर्श करने का अधिकारी होगा कि पुलिस न सुन सके, चाहे यह सब उसे पुलिस की उपस्थिति में ही करना पड़े।" "वकील द्वारा बचाव कराने के अधिकार" से यह तात्पर्य है कि बन्दी को राज्य द्वारा वकील प्रदान नहीं किया जायेगा पर वकील करने का केवल अवसर प्रदान किया जायेगा।

"निकटतम दण्डाधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने के अधिकार" से तात्पर्य "ऐसे दण्डाधिकारी" के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना है "जो न्यायिक रूप में कार्य कर रहा हो।" यदि किसी बन्दी को यात्रा के समय के अतिरिक्त 24 घण्टे के भीतर दण्डाधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत न किया जाये तो वह तुरन्त छोड़ दिया जाने का अधिकारी होता है। "यथाशीघ्र" से तात्पर्य हर मामले में "तर्कसंगत" समय के भीतर होता है। न्यायालयों ने स्पष्ट किया है कि हर मामले में किसी भी निश्चित अवधि को "तर्कसंगत" निर्धारित नहीं किया जा सकता।

निवारक नज़रबन्दी अधिनियम, 1950
(Preventive Detention Act, 1950)

धारा 22 के अनुच्छेद (4) (5) और (6) में निवारक नज़रबन्दी सम्बन्धी वर्णन है। निवारक नज़रबन्दी से क्या तात्पर्य है? दुर्गादास वसु ने अपनी पुस्तक *Shorter Constitution of India* में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है: "निवारक नज़रबन्दी का अर्थ किसी व्यक्ति को बिना सुनवाई के ऐसी परिस्थितियों में बन्दी करना है जब प्राधिकारी के अधिकार में जो साक्ष्य है वह बन्दी के विरुद्ध वैध दोषारोपण करने या विधिक रूप से सिद्ध करके उसे दण्डित कराने के लिए पर्याप्त न हो पर फिर भी उसे बन्दी गृह में रखने के लिए पर्याप्त हो। "दण्डात्मक नज़रबन्दी" का

उद्देश्य किसी व्यक्ति को उसके कृत्यों के लिए दण्ड देना है पर "निवारक नज़रबन्दी" का उद्देश्य उसे ऐसा कोई कृत्य करने से रोकना होता है जो प्रथम सूची के नवें इन्द-राज तथा तीसरी सूची के तीसरे इन्दराज में आता हो।[6] निवारक नज़रबन्दी का उद्देश्य किसी व्यक्ति को केवल एक विशिष्ट प्रकार के कृत्य करने से रोकना ही नहीं अपितु उसे एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति से रोकना भी होता है। कोई अपराध सिद्ध नहीं किया जाता और न ही कोई दोष लगाया जाता है। नज़रबन्दी का औचित्य केवल संदेह होता है, जिसे तर्कसंगत सम्भवता भी कह सकते हैं, दण्डनीय अभिशस्ति या दोष सिद्धि नहीं, जो केवल वैध साक्ष्य द्वारा ही की जा सकती है।

वसु ने आगे कहा है कि "संविधान की धारा 21 के कारण कार्यकारी प्राधिकारी द्वारा विधि के प्राधिकार के बिना किसी की निवारक नज़रबन्दी का आदेश नहीं दिया जा सकता। साथ ही, वह आदेश विधि में निर्दिष्ट कार्य-विधि के अनुसार होना भी अनिवार्य है। विधि भी वैध होनी चाहिए, अर्थात वह उसे बनाने वाली विधायिका की विधायक क्षमता के भीतर हो।" वसु ने लिखा है कि "धारा 22 में स्वयं विधायिका के निवारक नज़रबन्दी कानून अधिनियमित करने की क्षमता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं। ये प्रतिबन्ध इस प्रकार हैं :

(1) निवारक नज़रबन्दी सम्बन्धी कोई भी विधि, तीन मास की अवधि समाप्त होने से पूर्व सलाहकार मण्डल द्वारा यह परामर्श दिये गए बिना कि उसके विचार में अधिक समय तक नज़रबन्द रखने के लिए पर्याप्त कारण विद्यमान हैं, तीन मास से अधिक की नज़रबन्दी का प्रावधान नहीं कर सकता (अनुच्छेद 4 क)।

(2) यद्यपि संसद को विधि द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ तथा मामलों की ऐसी श्रेणियाँ निर्धारित करने का अधिकार है जिनमें किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक अवधि के लिए सलाहकार मण्डल की राय लिए बिना नज़रबन्द किया जा सकता है तथा संसद किसी व्यक्ति की नज़रबन्दी की अधिकतम अवधि निर्धारित कर सकती है, पर कार्यकारी प्राधिकारी निर्धारित अवधि से अधिक समय के लिए नज़रबन्दी का प्राधिकार नहीं दे सकता।

(3) कार्यकारी प्राधिकारी पर स्वैच्छिक कार्य-विधि का अनुसरण करने से अंकुश रखने के लिए सलाहकार मण्डल के अनुसरण के लिए कार्य-विधि संसद द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए।

(4) निवारक नज़रबन्दी अधिनियम के अन्तर्गत पकड़े गए व्यक्ति को यथाशीघ्र यह सूचना पाने का अधिकार होता है कि उसे किस आधार पर बन्दी बनाया गया है।

[6]विधायक सूची प्रथम के इन्दराज 9 में प्रतिरक्षा, विदेशी सम्बन्धों, अथवा भारत की सुरक्षा से सम्बन्धित कारणों से निवारक नज़रबन्दी का वर्णन है। विधायक सूची तृतीय के इन्दराज 3 में किसी राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था बनाये रखने अथवा जनता के लिए अनिवार्य आपूर्ति एवं सेवाएँ बनाये रखने सम्बन्धी कारणों से निवारक नज़रबन्दी का वर्णन है।

वन्दीवास की अवधि कितनी भी हो, उसे अपनी गिरफ़्तारी के प्रति अभिवेदन करने का भी अधिकार होता है ।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णित अनेक मामलों में यह धारणा व्यक्त की गई है कि न्यायालय "निवारक नज़रबन्दी" का प्रावधान करने वाले अधिनियम की यह देखने के लिए जाँच कर सकता है कि वह उन परिस्थितियों अर्थात भारत की सुरक्षा, किसी राज्य की सुरक्षा, या लोक व्यवस्था के परिरक्षण इत्यादि के अनुरूप है अथवा नहीं। यदि कोई नज़रवन्दी आदेश गूढ़ मंतव्य सहित अर्थात संविधान में वर्णित कारणों के अतिरिक्त दिया गया हो तो उसे निरस्त किया जा सकता है ।

संविधान के रचयिताओं ने "निवारक नजरबन्दी" का प्रावधान इसलिए किया कि राष्ट्र विरोधी एवं समाज विरोधी तत्त्वों पर निगरानी रखी जा सके ताकि देश की कठोर-लब्ध स्वाधीनता पर आँच न आने पाये। डा० अम्बेडकर ने 15 सितम्बर, 1949 को "निवारक नज़रबन्दी" के समर्थन में संविधान सभा को संबोधित करते हुए कहा कि ऐसे मामले हो सकते हैं, जब "सार्वजनिक व्यवस्था या देश की सुरक्षा व्यवस्था को नष्ट करने के प्रयत्न किये जाएँ," और ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण सामने आ सकते हैं "जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहुत उतावले होते हैं तथा असंवैधानिक उपाय अपनाने लगते हैं।" उन्होंने आगे कहा : "यदि हम सभी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शुद्ध संवैधानिक तरीके अपनायें तो शायद स्थिति कुछ भिन्न होती और निवारक नज़रबन्दी की आवश्यकता ही न पड़ती ।" 1950 में संसद ने हैदराबाद, पश्चिम बंगाल और मद्रास राज्यों में भारतीय साम्यवादियों की आतंकवादी गतिविधियों को समाप्त करने के लिए निवारक नज़रबन्दी अधिनियम पारित किया। साम्यवादी दल के नेता ए० के० गोपालन ने, जिन्हें संविधान प्रवर्तित होने से भी पहले मद्रास लोक व्यवस्था परिरक्षण अधिनियम, 1947 के अन्तर्गत गिरफ़्तार किया गया था तथा जिन्हें संविधान प्रवर्तित होने के बाद निवारक नज़रबन्दी अधिनियम के अन्तर्गत बन्दीगृह में ही रहने दिया गया, निवारक नज़रबन्दी अधिनियम की वैधता को चुनौती दी । उन्होंने बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका प्रस्तुत करते हुए आपत्ति की कि उनकी नज़रबन्दी संविधान की धाराओं 19, 21 और 22 के अन्तर्गत उनके मूल अधिकारों का हनन करती है। सर्वोच्च न्यायालय की 6 न्यायाधीशों की विशेष संविधान पीठ ने निवारक नज़रबन्दी अधिनियम की वैधता स्वीकार की पर उस अधिनियम की धारा 14 के निरस्त कर दिया। इस धारा में किसी व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने का कारण बताने अथवा नज़रबन्द व्यक्ति द्वारा न्यायालय में प्रस्तुत किए गए अभिवेदन के प्रकटीकरण की मनाही थी। अन्य न्यायाधीशों ने निवारक नज़रबन्दी अधिनियम को संसद की विधायक क्षमता के संदर्भ में उचित ठहराया पर मुख्य न्यायाधीश कानिया (Kania) तथा न्यायाधीश महाजन एवं मुखर्जी ने मत प्रकट किया कि "निवारक नज़रबन्दी" विधि प्रजातन्त्रीय संविधानों के प्रतिकूल हैं तथा प्रजातन्त्रीय देशों में उनका कोई स्थान नहीं है। **राम-कृष्ण भारद्वाज बनाम दिल्ली राज्य** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश

पातंजलि शास्त्री ने कहा : "निवारक नजरबन्दी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भीषण आघात है तथा सत्ता के अनुचित उपयोग के प्रति संविधान में जो ऐसे क्षुद्र सुरक्षा के उपाय निर्धारित किये हैं, न्यायालय को उन्हें दृढ़तापूर्वक ध्यान में रखना व प्रवर्तित कराना चाहिए।"

बाद के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय नित्य ऐसे मामलों का निपटारा करता रहा जिनमें "निवारक नजरबन्दी" की वैधता को चुनौती दी जाती थी और संसद न्यायालय द्वारा उठाई गई आपत्तियों के समाधान के लिए निवारक नजरबन्दी अधिनियम में परिवर्तन करती रही। इस अधिनियम को लगभग बीस वर्षों तक पुन: स्थापित किया जाता रहा और इसे लगभग स्थायी प्रकार से रखा गया। विपक्षी दलों ने अनेक बार यह दोष लगाया है कि संघीय सरकार द्वारा निवारक नज़रबन्दी अधिनियम का उपयोग अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने तथा अपने आलोचकों को समाप्त करने के लिए किया जाता है।

आन्तरिक सुरक्षा परिरक्षण अधिनियम, 1971 (Maintenance of Internal Security Act, 1971)

बंगला देश के संकट के कारण उत्पन्न होने वाली नियम-व्यवस्था की आन्तरिक समस्याओं तथा नक्सलवादियों एवं अन्य समाज-विरोधी तत्त्वों की गतिविधियों से निपटने के लिए संसद ने 1971 में आन्तरिक सुरक्षा परिरक्षण अधिनियम पारित किया जिसे आन्तरिक सुरक्षा कानून (आंसुका अथवा MISA) भी कहते हैं। उसके बाद केन्द्र सरकार के निर्देशानुसार राज्य सरकारों ने देश भर में हज़ारों व्यक्तियों को इस अधिनियम के आधीन बन्दी बना लिया। पश्चिम बंगाल सरकार के एक कर्मचारी, शम्भूनाथ सरकार को ज़िला मजिस्ट्रेट की आज्ञा से 29 जनवरी, 1972 को पकड़ कर हुगली जेल में रखा गया था। उसने सर्वोच्च न्यायालय में एक रिट याचिका प्रेषित करके आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की धारा 17 (क) की संविधानिक वैधता को चुनौती दी।[7] इस धारा में किसी भी व्यक्ति को, आपात्-स्थिति के प्रवर्तन की अवधि में पकड़ कर बिना किसी सलाहकार मण्डल से परामर्श लिए 21 महीने तक रोक रखा जा सकता है। कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश जे० एम० शेलट के नेतृत्व में 7 न्यायाधीशों की एक विशेष न्यायपीठ ने 19 अप्रैल, 1973 को निर्णय दिया कि आंतरिक सुरक्षा अधिनियम की धारा 17 (क) "बुरा कानून" (bad law) है क्योंकि यह संविधान की धारा 22 के अनुच्छेद 7 (क) में निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। शम्भूनाथ सरकार

[7]पहले सरकार को छः अन्य सरकारी कर्मचारियों सहित सार्वजनिक व्यवस्था के प्रति आपत्तिजनक गतिविधियों के आरोप में पकड़ कर मुकद्दमा चलाया गया था पर पुलिस की अन्तिम रिपोर्ट प्राप्त होने पर उसे जिला मजिस्ट्रेट ने मुक्त कर दिया। फिर उसे आंतरिक सुरक्षा अधिनियम के आधीन पकड़ कर हुगली जेल में रखा गया था।

की रिट याचिका स्वीकार कर के उसे तुरन्त मुक्त करने का आदेश दिया गया।

वाद में सरकार ने आं०सु०अ० में से उस धारा को निकाल दिया जिसे न्यायालय ने असंवैधानिक बताया था, पर उसे एक अध्यादेश के रूप में पुन: लागू कर दिया। उस अध्यादेश की धारा 31 के निम्नलिखित प्रावधान थे : केन्द्र सरकार अथवा राज्य सरकार—(क) जब किसी व्यक्ति (चाहे वह किसी अन्य देश का नागरिक हो) के सम्बन्ध में विश्वास करती हो कि उसे किसी भी प्रकार के ऐसे कृत्य करने से रोकने के लिए जो (i) भारत की प्रतिरक्षा, अन्य देशों से भारत के सम्बन्धों, अथवा भारत की सुरक्षा के प्रति, या (ii) राज्य की सुरक्षा वा सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के प्रति, या (iii) जनता के लिए अनिवार्य वस्तुओं एवं सेवाओं की आपूर्ति के प्रति···हानिप्रद हों, यदि आवश्यक हो तो उस व्यक्ति को वन्दी बनाकर रखने का आदेश दे सकती है। इस प्रावधान की आड़ में, राज्य सरकारों ने हज़ारों व्यक्तियों को पकड़ कर जेलों में वन्द कर दिया, जिनमें अनेक विपक्षी दलों के कार्यकर्त्ता थे। सितम्बर 1974 में ज़ारी किए गए एक अध्यादेश द्वारा, तस्कर व्यापारियों, जमाखोरों तथा विदेशी मुद्रा का घोटाला करने वालों पर भी आं०सु०अ० के प्रावधान लागू कर दिये गए। पश्चिम बंगाल के दो नज़रबन्दों ने आं०सु०अ० की वैधता को पुन: चुनौती दी। उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने मुख्य न्यायाधीश अजित नाथ रे के नेतृत्व में आं० सु० अ० को उचित ठहराते हुए रिट याचिकाएँ रद्द कर दी। किन्तु बाद में भी जब राज्य सरकारों ने सैकड़ों तस्कर व्यापारियों एवं जमाखोरों को पकड़ा तो उनमें से कुछ ने अपनी नजरबन्दी को चुनौती दी और न्यायालय में बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएँ प्रेषित कीं। उच्चतम न्यायालय तथा बम्बई, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, अहमदाबाद, और दिल्ली के उच्च न्यायालयों ने कुछ को मुक्त करने तथा शेष को वन्दी बनाये रखने के आदेश दिये। मुख्यत: तीन प्रकार के मामलों में मुक्ति के आदेश दिए गए। प्रथम वह जिनमें वन्दीकरण आदेश में वर्णित आरोप "सारहीन" थे तथा उनका संदिग्ध व्यक्ति की वर्तमान गतिविधियों से "निकट सम्बन्ध नहीं" था। दूसरे, जब नज़रबन्द करने वाले अधिकारियों ने आरोपों की सूची तैयार करने में लापरवाही की, अर्थात तथाकथित अपराध का विवरण मौजूद नहीं था और आदेश "निरर्थक" सिद्ध हुआ। तीसरे, जब नज़रबन्दी का आदेश देने वाले अधिकारी ने, जो सामान्यत: ज़िला मजिस्ट्रेट होता था, अपने सम्मुख प्रस्तुत किये गए मामले पर "स्वयं विचार किए विना" या "यन्त्रवत" नज़रबन्दी आदेश पर हस्ताक्षर कर दिये थे।

एक बार उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि आं०सु०अ० के अन्तर्गत दिया गया नज़रवन्दी आदेश यदि संविधान की धारा 22 के अनुसार लोक व्यवस्था के परिरक्षण की वजाय नियम एवं व्यवस्था के परिरक्षण के लिए दिया गया हो तो वह वैध नहीं होगा। एक अन्य मामले में यह निर्णय दिया गया कि यदि ज़िला मजिस्ट्रेट द्वारा किए गये आदेश की पुष्टि करने से पूर्व राज्य सरकार ने नज़रबन्द व्यक्ति के प्रतिवेदन पर विचार न किया हो तो नज़रबन्दी आदेश को अवैध माना जायेगा। एक अन्य

मामले में यह साबित होने पर कि नज़रबन्दी प्राधिकारी ने अपनी "आत्मिक तसल्ली" किये बिना आदेश दिया था, नज़रबन्दी को अवैध माना गया। एक नज़रबन्द व्यक्ति ने शिकायत की और उच्चतम न्यायालय में यह सिद्ध कर दिया कि उसे जो नज़रबन्दी के आधार बताये गए थे वे ऐसी भाषा में थे जिसे वह समझता नहीं था, अतः वह अपनी नज़रबन्दी के विरुद्ध ज़ोरदार प्रतिवेदन नहीं कर सका। उसे भी उच्चतम न्यायालय द्वारा मुक्त कर दिया गया। पश्चिम बंगाल के मिदनापुर ज़िले के एक नज़रबन्द व्यक्ति की बन्दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus) याचिका स्वीकार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय के चार न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने निर्णय दिया कि यदि नज़रबन्द व्यक्ति ने कोई प्रतिवेदन किया हो तो ज़िला मजिस्ट्रेट के आदेश की पुष्टि करने से पूर्व उस प्रतिवेदन पर विचार कर लेना आवश्यक है। राज्य सरकार ने ज़िला मजिस्ट्रेट के आदेश की पुष्टि करने के बाद उसके प्रतिवेदन पर विचार करके 'अस्वीकार' किया था, आं. सु. अ. के प्रावधान के अनुसार, पहले नहीं; अतः नज़रबन्दी अवैध मानी गयी।

9 अप्रैल, 1974 को पटना के ज़िला मजिस्ट्रेट ने अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के सैक्रेट्री और बिहार छात्र संघर्ष समिति के विख्यात कार्यकर्त्ता रामबहादुर राय को 'लोक व्यवस्था के प्रति हानिकारक कार्य करने से रोकने के लिए' आं. सु. अ. के अधीन बन्दी बनाया। बन्दीकरण आदेश में यह वर्णित था कि श्री राय बिहार के विद्यार्थियों द्वारा एक प्रस्ताव पास कराने में सहायक हुए थे जिसमें "गुजरात जैसा आन्दोलन" करने का आह्वान किया गया था। इसका तात्पर्य राज्य के प्रशासन का कार्य ठप्प कराना तथा असेम्बली, सचिवालय, मन्त्रियों और अधिकारियों का घिराव करना था। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में एक छात्र आन्दोलन चलाने के लिए एक समिति के सदस्य भी बन गए थे। श्री राय ने नज़रबन्दी आदेश को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी। न्यायालय ने नज़रबन्दी आदेश को रद्द कर दिया और कहा कि उसमें जो नज़रबन्दी के कारण बताये गए हैं, वे निरर्थक हैं और उनसे लोक व्यवस्था को कोई हानि नहीं पहुँचती। न्यायालय ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि "शान्तिपूर्ण विरोध-प्रदर्शन और विपरीत विचार प्रकट करना प्रजातन्त्र के शक्तिशाली हथियार हैं, तथा कानूनी ढंग से अपनी तकलीफ़ एवं शिकायत सुनाने के लिए संगठन बनाना, संविधान की धारा 19 (1) क, ख, और ग के अधीन भाषण व अभिव्यक्ति, तथा हथियारों के बिना शान्तिपूर्वक एकत्रित होने का संवैधानिक अधिकार है।" पटना के अधिकारियों ने अंग्रेज़ी भाषा के शब्द "आन्दोलन" (agitation) की जो संकीर्ण व्याख्या की थी, न्यायालय ने उस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि स्वयं भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष ने देखा है, आन्दोलन अनिवार्यतः हिंसक नहीं होता।[8]

[8]स्मरणीय है कि जो आन्दोलन जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में किया जा रहा था और कांग्रेसी र साम्यवादी नेताओं ने जो प्रति-आन्दोलन चला रखा था, उसके प्रति सरकार के रवैये में बड़ा अन्तर ा। 4 नवम्बर, 1974 को पटना में आयोजित एक रैली में सरकार ने बाधा डालने के प्रयत्न किए।

12 फरवरी, 1975 को उच्चतम न्यायालय ने मगन गोप की मुक्ति का आदेश दिया जिसे पश्चिम बंगाल सरकार ने तस्कर व्यापार के लिए गिरफ़्तार किया था। न्यायालय ने कहा कि तस्कर व्यापार का आं. सु. अ. से कोई सम्बन्ध नहीं है। तस्कर व्यापार तो अनिवार्यत: गुप्त कृत्य होता है, जबकि लोक व्यवस्था का मुख्य शब्द ही **लोक** अथवा सार्वजनिक है। एक अन्य मामले में न्यायालय ने आं. सु. अ. की धारा 15 के अधीन "मानवतापूर्ण" कार्रवाई करने का परामर्श दिया और कहा कि "हम आशा करते हैं कि आं. सु. अ. की धारा 15 में जो मानवता सम्बन्धी आदेश दिए गये हैं, वे केवल कानून की किताबों में ही लिखे नहीं रह जायेंगे वरन् सरकार उनका उपयोग ऐसे व्यक्तियों को शनै: शनै: समाज में आत्मसात करा कर मानवता सिखाने में करेगी जो अन्य मानवों को लाल आँखें दिखाते हैं, उनसे घृणा करते हैं तथा उन्हें डराते-धमकाते हैं।"

सरकार द्वारा आं. सु. अ. के नज़रबन्दियों का न्यायालय में जाने का अधिकार निलम्बित (Government Suspends MISA Detenus Right to Move the Courts)

उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों द्वारा अनेक नज़रबन्दियों की पूर्णत: तकनीकी प्राविधिक आधार पर रिहाई से तंग आ कर संघीय सरकार ने 16 नवम्बर 1974 को एक कठोर कदम उठाकर तस्कर व्यापारियों एवं आं. सु. अ. में नज़रबन्द किये गए विदेशी मुद्रा के तस्करों को न्यायालय में जाने के मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया। इसके लिए संविधान की धारा 359 के अनुसार एक राष्ट्रपति-आदेश निकाला गया। इस आदेश द्वारा संविधान की धाराओं 14 व 21 तथा धारा 22 के अनुच्छेद 4, 5, 6 एवं 7 द्वारा प्रदत्त अधिकार संक्षिप्त कर दिए गये। नज़रबन्द व्यक्तियों की सभी याचिकाएँ, जो उस समय न्यायालय के विचाराधीन थीं, निलम्बित कर दी गईं तथा जिन व्यक्तियों को रिहा किया जा चुका था, उन्हें पुन: गिरफ़्तार करने के आदेश दिए गए।

उपर्युक्त आदेश लागू किये जाने के बाद भी दिल्ली उच्च न्यायालय ने दो नज़रबन्दों, दयाकिशन और हरबन्स लाल की रिहाई का आदेश दिया जिन्हें 21 नवम्बर, 1974 को दिल्ली के ज़िला मजिस्ट्रेट के आदेश से आं. सु. अ. के अन्तर्गत गिरफ़्तार किया गया था। सरकार की ओर से एक प्राथमिक आपत्ति उठाई गई कि राष्ट्रपति का आदेश ज़ारी हो चुकने के कारण वर्तमान याचिकाएँ, जिनमें धाराओं 14, 21 व 22

जयप्रकाश नारायण के अनुयायियों को पीटा गया, अपमानित किया गया तथा कुछ को आं. सु. अ. के अन्तर्गत गिरफ़्तार कर लिया गया। किन्तु 11 नवम्बर को कांग्रेस और 14 नवम्बर को साम्यवादी दल ने जो रैलियां आयोजित कीं, उन्हें प्रोत्साहन एवं समर्थन प्रदान किये गए, जबकि साम्यवादी दल की रैली पूर्णत: शान्तिपूर्ण भी नहीं थी।

द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को कार्यान्वित करने की प्रार्थना की गई है, इस समय निर्णीत नहीं की जा सकतीं। निर्णय न्यायमूर्ति एम०आर०ए० अन्सारी ने दिया। उन्होंने 22 नवम्बर, 1974 को उपर्युक्त तर्क को अस्वीकृत करते हुए कहा कि राष्ट्रपति के आदेश से उच्च न्यायालय का यह जाँच करने का अधिकार कुंठित नहीं हो जाता कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कार्रवाई करते समय आं. सु. अ. का तो उल्लंघन नहीं हुआ है और किसी व्यक्ति को इस आधार पर **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** याचिका प्रेषित करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता कि उसकी नज़रबन्दी का आदेश बदनीयती से अथवा अधिकारों (सत्ता) के मिथ्या उपयोग द्वारा दिया गया था। न्यायाधीश ने कहा कि किसी व्यक्ति की गैर-कानूनी गिरफ़्तारी को राष्ट्रपति के आदेश द्वारा कानूनी नहीं बनाया जा सकता, तथा नज़रबन्दी के आदेश की वैधता की "जाँच की जा सकती है।"[9]

आं. सु. अ. अध्यादेश की अवधि दिसम्बर 1974 के तीसरे सप्ताह में समाप्त होनी थी। अत: 19 दिसम्बर को उसके स्थान पर एक नया विधान 'विदेशी मुद्रा परिरक्षण तथा तस्कर व्यापार निवारक अधिनियम' लागू किया गया। जिन व्यक्तियों को आं.सु.अ. के अन्तर्गत तस्कर व्यापार अथवा विदेशी मुद्रा विनियमों के आधीन गिरफ़्तार किया गया था और जिन्हें नए विधान के आधीन भी हिरासत में रखना था, उनकी नज़रबन्दी को वैध ठहराने के लिए राष्ट्रपति ने 25 दिसम्बर को पुन: आदेश ज़ारी किया ताकि वे न्यायालयों की शरण न लेने पायें। नया आदेश आपात् स्थिति की समाप्ति तक अथवा छ: महीने तक, जो भी अवधि पहले पूरी हो, क्रियान्वित होना था। इस आदेश द्वारा धारा 14, 21 तथा धारा 22 के अनुच्छेद 4, 5, 6 और 7 के अन्तर्गत न्यायालयों के विचाराधीन सभी मूल अधिकारों को लागू करने सम्बन्धी मामले निलम्बित कर दिये गए। किन्तु इस आदेश के पुन: ज़ारी किए जाने से उस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जो एक मास पूर्व दयाकिशन और हरबंसलाल की याचिकाओं की सुनवाई के समय दिल्ली उच्च न्यायालय ने अपनाई थी। अपितु वह स्थिति उच्चतम न्यायालय द्वारा 27 जनवरी, 1975 को पन्ना जादव के मामले में रिहाई का आदेश देकर और भी पुष्ट कर दी गई, जिसे 2 फरवरी, 1974 को आं. सु. अ. के अधीन गिरफ़्तार किया गया था। उच्चतम न्यायालय के तीन जजों के न्यायासन ने यह निर्णय दिया कि गिरफ़्तार करने वाले प्राधिकारी ने अभियाची को, जिस पर ताँबे के तार चुराने का दोष लगाया गया था, उसके अपराध सम्बन्धी मूल तथ्य नहीं बताये थे, जिससे संविधान की धारा 22(5) के आदेशात्मक प्रावधान का उल्लंघन हुआ है। उसी दिन उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के एक अन्य न्यायासन ने पश्चिम बंगाल के दीनाजपुर ज़िले के तुलशी रवीदास की बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका की सुनवाई के समय कहा कि सरकार को उन अधिकारियों के प्रति "कड़ी कार्रवाई" करनी

[9]निर्णय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखो *The Hindustan Times*, 23 नवम्बर, 1974, पृष्ठ 5.

चाहिए, जिनके द्वारा नज़रबन्दी आदेश तैयार करने में की गई लापरवाही के कारण न्यायालय को "खतरनाक अपराधियों की भी रिहाई के आदेश देने पर विवश होना पड़ता है।"

केन्द्र सरकार को उच्चतम न्यायालय की उपर्युक्त टीका-टिप्पणी बहुत बुरी लगी और उसने आं. सु. अ. में और अधिक परिवर्तन करने का विचार किया, पर विपक्षी दलों ने इसका कड़ा विरोध किया। लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker) ने सरकार को इस उद्देश्य से विधेयक न लाने की सलाह दी जो मान ली गई और मई 1975 में यह विचार छोड़ दिया गया। 26 जून को राष्ट्रपति ने देश भर में आपात्-स्थिति की घोषणा कर दी। उसके तीन दिन बाद राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी किया जो आं. सु. अ. में परिवर्तन करने के लिए रचा गया था। मूल अधिनियम में यह प्रावधान था कि किसी व्यक्ति को जिन कारणों से नज़रबन्द किया गया हो वे उसे नज़रबन्दी के कुछ ही दिन के भीतर बता दिये जाने चाहिए, पर अध्यादेश द्वारा यह प्रावधान समाप्त कर दिया गया। अब नज़रबन्द करने वाले अधिकारी द्वारा केवल यह घोषित करना अनिवार्य रह गया कि आपात्-स्थिति से निपटने के लिए अमुक व्यक्ति को नज़रबन्द करना आवश्यक है तथा नज़रबन्दी आदेश की एक प्रति नज़रबन्द व्यक्ति को देना आवश्यक करार दिया गया।

जब उपर्युक्त घोषणा किसी राज्य सरकार से कम प्राधिकारी द्वारा दी गई हो तो घोषणा के 15 दिन के भीतर उस पर राज्य सरकार द्वारा पुनर्विचार किया जाना आवश्यक था और यदि इस प्रकार पुनर्विचार के बाद राज्य सरकार द्वारा उस की पुष्टि न कर दी जाये तो वह घोषणा प्रभावरहित हो जाती थी। इस प्रश्न पर कि उस व्यक्ति की नज़रबन्दी ज़ारी रहेगी अथवा नहीं, तत्सम्बन्धी सरकार द्वारा नज़रबन्दी की तिथि से चार महीने के भीतर पुनर्विचार किया जाना था, तथा उसके बाद उस पर अधिकतम चार महीने के अन्तराल के बाद पुनर्विचार करना आवश्यक करार दिया गया।

इस प्रकार पुनर्विचार करने, अथवा अवलोकन या पुनर्विलोकन करने में, सम्बन्धित अधिकारी या सरकार, यदि अन्याय करना लोक हित के प्रतिकूल समझे, तो अपने पास उपलब्ध सूचना तथा अन्य सामग्री के आधार पर, उस व्यक्ति को तथ्यों का ब्यौरा दिये बिना तथा प्रतिवेदन करने का अवसर दिए बिना, कार्य कर सकता (सकती) है। इस अध्यादेश द्वारा मूल अधिनियम (आं. सु. अ.) में एक नया प्रावधान जोड़ दिया गया जिसके द्वारा संशोधित प्रावधान आपात्-स्थिति के कार्य काल में, पर अधिकतम 12 महीने की अवधि तक प्रभावी रहने थे।

अध्यादेश का एक अन्य प्रावधान यह था कि एक नज़रबन्दी आदेश की समाप्ति पर उसी व्यक्ति के प्रति दूसरा आदेश देने पर कोई रोक नहीं थी। जिस व्यक्ति को आं. सु. अ. के अधीन नज़रबन्द किया गया हो, उसे ज़मानत पर, ज़मानत मुचल्के पर अथवा अन्य प्रकार से रिहा नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रपति ने 16 जुलाई, 1975 को आं. सु. अ. में दूसरी बार संशोधन करने के लिए

एक और अध्यादेश जारी किया । पहले संशोधन अध्यादेश में यह निर्दिष्ट किया गया था कि "प्राकृतिक न्याय सम्बन्धी नियमों के अधीन" नज़रबन्द व्यक्तियों को नज़रबन्दी के आदेश के विरुद्ध कोई राहत उपलब्ध नहीं थी, तथा अधिकतम एक वर्ष की अवधि के लिए उन्हें नज़रबन्दी का कारण भी नहीं बताया जाना था । नये अध्यादेश फलस्वरूप नज़रबन्द व्यक्ति न तो इस आधार पर राहत पाने के लिए न्यायालय में याचिका दे सकते हैं कि उन्हें कोई कारण नहीं बताया गया, और न ही इस धारणा के आधार पर कि उनकी नज़रबन्दी से "प्राकृतिक न्याय के नियमों," अथवा "राष्ट्रीय" वा "सामान्य विधि" का उल्लंघन हुआ है । एक अन्य महत्त्वपूर्ण संशोधन यह था कि अपराधी प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 80 से 86 तक के प्रावधान, जो सम्पत्ति कुर्क करने के सम्बन्ध में थे, ऐसे व्यक्ति पर भी लागू होने योग्य घोषित कर दिए गए जिसके प्रति नज़रबन्दी आदेश ज़ारी किया गया पर जिसने स्वयं को अधिकारियों के हवाले नहीं किया हो, अथवा भाग गया हो, या छिप गया हो । ऐसी स्थिति में तत्सम्बन्धी सरकार, जहाँ वह व्यक्ति सामान्यतः रहता था, उस स्थान के क्षेत्राधिकारी प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट अथवा महानगरीय मजिस्ट्रेट को प्रतिवेदन करेगी, और अपराधी प्रक्रिया संहिता के उपर्युक्त प्रावधान लागू किए जायेंगे । तीसरा प्रावधान यह था कि जब किसी राज्य की सरकार या उसके अधीनस्थ अधिकारी द्वारा नज़रबन्दी आदेश दिया जाये तो राज्य सरकार द्वारा, बीस दिन के भीतर, उस आदेश के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को प्रतिवेदन भेजना अनिवार्य था ।

आं. सु. अ. की धारा 16 (क) में संशोधन करके विशेष मूल अधिनियम की धाराओं 8 से 12 तक को प्रचलन-शून्य कर दिया गया ।

इन धाराओं में क्रमशः नज़रबन्दी आदेश का आधार बताने, सलाहकार मण्डल स्थापित करने, सलाहकार मण्डल से परामर्श करने, सलाहकार मण्डल की कार्य-विधि तथा सलाहकार मण्डल की रिपोर्ट पर की जाने वाली कार्रवाई सम्बन्धी प्रावधान थे ।

मूल आं. सु. अ. में नज़रबन्द किए गए व्यक्तियों को अधिकतम एक वर्ष की अवधि के लिए इन अधिकारों के प्रवर्तन से वंचित कर दिया गया । इस अध्यादेश की एक विचित्र विशेषता यह भी थी कि इस के अन्तर्गत विदेशियों को भी नज़रबन्द किया जा सकता था और वे किसी भी प्राकृतिक क़ानून या वैयक्तिक कानून के अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार की माँग नहीं कर सकते थे ।

केन्द्रीय गृह मन्त्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी ने उपरोक्त दोनों अध्यादेशों के स्थान पर, 23 जुलाई, 1975 को एक नया विधेयक, आन्तरिक सुरक्षा परिरक्षण (द्वितीय संशोधन) विधेयक, लोक सभा में प्रस्तुत किया । विधेयक के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विवरण में बताया गया था कि राष्ट्रपति द्वारा 25 जून, 1975 को आपात्-स्थिति की घोषणा की जाने के फलस्वरूप, सरकार के लिए राष्ट्र की सुरक्षा के हित में 'जिसे आन्तरिक उपद्रवों से खतरा विद्यमान था,' निवारक उपाय करने के लिए कुछ अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता थी । उन्होंने कहा कि देश में कुछ राजनीतिक दलों,

संगठनों एवं समाज-विरोधी तत्वों ने असाधारण स्थिति उत्पन्न कर दी थी, उनकी गतिविधियों के कारण लोक जीवन में हिंसा पैठ गई थी। वे गैर-संवैधानिक तरीकों से सत्ता हथियाने की फ़िक्र में थे। इस विधेयक को संसद ने 19 जुलाई को पारित कर दिया। इसके शीघ्र बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई और वह देश का एक नया कानून बन गया।

शोषण के विरुद्ध अधिकार, धारा 23 (Right Against Exploitation, Article 23)

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व **बेगार** की कुप्रथा विद्यमान थी। इस पद्धति में कामगारों से बिना मज़दूरी दिए अथवा बहुत ही कम मज़दूरी देकर बलात् काम कराया जाता था। वैसे तो यह प्रथा देश के सभी भागों में प्रचलित थी पर रजवाड़ों में, जहाँ सामन्तशाही का बोलबाला था, **बेगार** का रिवाज अधिक था। अनेक धर्म-स्थानों में **देवदासी** प्रथा विद्यमान थी (इस प्रथा के अनुसार स्त्रियों को देवताओं, मूर्तियों तथा धार्मिक संस्थानों को समर्पित कर दिया जाता था, और धर्म-गुरु उनसे अनैतिक कर्म कराते थे)। संविधान के रचयिताओं ने इन प्रथाओं को अमानुषिक मानकर संविधान की धारा 23 में निर्दिष्ट किया कि मानव पणन (traffic in human beings) और **बेगार** व बलात् मज़दूरी कराने की अन्य प्रथाएँ अवैध हैं तथा इस प्रावधान का उल्लंघन विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध होगा। वास्तव में, मानव पणन का अर्थ स्त्रियों और बच्चों का व्यापार था। यद्यपि इससे संविधान की धारा 29 द्वारा प्रदत्त वाणिज्य एवं व्यवसाय की गारंटी प्रभावित होती थी, तो भी इसे बन्द कर दिया गया। न्यायालयों ने व्यवस्था दी कि यदि कोई व्यक्ति अतिरिक्त मज़दूरी तथा अन्य उजरत के बदले स्वेच्छा से अतिरिक्त काम करने का अनुबन्ध स्वीकार करे तो उससे मूल अधिकार का हनन नहीं होगा। यह संवैधानिक गारंटी एकल व्यक्तियों तथा संस्थाओं के प्रति थी। धारा 23 के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट किया गया था कि राज्य सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए अनिवार्य सेवा ले सकता है, पर इस प्रकार अनिवार्य सेवा लेते समय राज्य केवल धर्म, वंश, जाति व वर्ग इत्यादि के आधार पर कोई मतभेद नहीं कर सकता। सर्वोच्च न्यायालय ने "सार्वजनिक उद्देश्य" से तात्पर्य, न केवल सैनिक या आरक्षी सेवा अपितु सामाजिक उद्देश्यों के लिए अन्य सेवाएँ भी बताया।

फैक्टरियों इत्यादि में बच्चों के नियोजन की मनाही, धारा 24 (Prohibition of Employment of Children in Factories etc., Article 24)

बच्चों को असुरक्षापूर्ण एवं अस्वच्छ काम की स्थितियों में व्याप्त कठिनाइयों से बचाने के लिए संविधान की धारा 24 में निर्दिष्ट किया गया है कि 14 वर्ष से कम आयु के किसी भी बच्चे को किसी फैक्टरी, खान या अन्य जोखिमपूर्ण कार्यों में नहीं लगाया जाना चाहिए। बच्चों व स्त्रियों के शोषण के प्रति संविधान में उपरोक्त मनाही

किये जाने के वाद, यद्यपि संविधान प्रवर्तित होते अव 25 वर्ष से अधिक समय वीत गया है, देश के विभिन्न भागों में यह शोषण प्रथा अव भी प्रचलित है ।

धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, धारा 25 (Right to Freedom of Religion, Article 25)

धारा 25 में अन्तर्विवेक और धर्म की गारण्टी की गई है तथा निर्दिष्ट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को धर्म में आस्था रखने, धर्म पर आचरण करने तथा धर्म का प्रचार करने का अधिकार होना चाहिए । यह स्वतन्त्रता देशी एवं विदेशी सभी नागरिकों को प्रदान की गई है । किन्तु निम्नलिखित आधार पर इस स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है :

(i) सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता एवं स्वास्थ्य;

(ii) किसी ऐसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य सर्वजातीय गतिविधि को नियमित करने के लिए जो धर्म कार्यों से सम्बन्धित हो; तथा

(iii) समाज कल्याण तथा सुधार या सार्वजनिक प्रकार के हिन्दू धर्म-स्थानों को सभी वर्ग एवं श्रेणियों के हिन्दुओं के लिए खोलना ।

इस प्रकार धर्म की स्वतन्त्रता सार्वजनिक शान्ति के उपबन्ध सहित होती है और सर्वोच्च न्यायालय ने इससे **रामजी लाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** के मामले में यह तात्पर्य वताया है कि एक धर्म के अनुयायी यदि वास्तविक इच्छापूर्वक किसी अन्य धर्म के अनुयायियों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना चाहें तो उन्हें ऐसा नहीं करने दिया जा सकता ।"आस्था रखने, आचरण करने तथा प्रचार करने" से यह तात्पर्य लगाया जाता है कि किसी धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्ति को उसके सिद्धान्तों पर केवल स्वयं अमल करने का ही नहीं अपितु अन्य व्यक्तियों में भी उन सिद्धान्तों का प्रचार करने का अधिकार होता है तथा वह अपनी श्रद्धा को निजी एवं सार्वजनिक अर्चना द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है । "समाज सुधार" से उन अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों में सुधार करने का तात्पर्य लगाया जाता है जिनसे देश की सामूहिक उन्नति में वाधा पड़ती हो ।

कृपाण धारण करना तथा साथ रखना सिक्ख धर्म में श्रद्धा का अंग माना गया है । अनुच्छेद 2 (ख) में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ स्वयं संविधान में ही, सिख, जैन एवं वौद्ध धर्म के अनुयायी माना गया है तथा हिन्दू धर्म संस्थानों से तात्पर्य सिख, वौद्ध एवं जैन धर्म स्थान भी माना गया है ।

धर्म एवं अन्तर्विवेक की स्वतन्त्रता को एक मूल अधिकार माना गया है क्योंकि हिन्दुओं के अतिरिक्त, जो देश की कुल आवादी के 85% के लगभग हैं, कतिपय अन्य छोटे-छोटे पद महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक-मुस्लिम, पारसी, ईसाई, यहूदी एवं सिख इत्यादि भी हैं और उनके धार्मिक संस्थानों एवं धर्म भावनाओं को संवैधानिक गारण्टी देना अत्यन्त आवश्यक माना गया है । संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने तर्क दिया कि इस से स्वतन्त्रता के प्रावधान में धर्म-निरपेक्षता की संकल्पना (concept of secularism)

(जो संविधान की प्रमुख विशेषताओं में से एक है) नकारी जायेगी। किन्तु अनेक अन्य सदस्यों ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि धार्मिक स्वतन्त्रता और धर्म-निरपेक्षता कोई विरोधोक्तियाँ नहीं हैं। डॉ० अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि धर्म निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं है कि जनता की धार्मिक भावनाओं को गिनती में न लिया जाये वल्कि इससे केवल यह तात्पर्य है कि संसद को जनता पर कोई विशेष धर्म थोपने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार, हरि विष्णु, कामथ ने कहा है कि धर्म-निरपेक्षता की संकल्पना का यह अर्थ नहीं है कि राज्य धर्म-विरोधी या धर्म-हीन हो जाये वरन् इससे केवल यह तात्पर्य है कि भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदायों के व्यक्तियों को अपने-अपने धर्म पर दृढ़ रहने तथा अन्य व्यक्तियों में उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता हो।

धार्मिक संस्थानों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता, धारा 26 (Freedom to Manage Religious Institutions, Article 25)

धर्म एवं अन्तर्विवेक की स्वतन्त्रता की कए सहवर्ती धर्म सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता की संविधान की धारा 26 में गारंटी की गई है। उस धारा में यह प्रावधान है कि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय व उसके भाग को (क) धार्मिक एवं दान सम्बन्धी उद्देश्यों से संस्थान स्थापित एवं परिरक्षित करने, (ख) अपने धर्म सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था करने, (ग) चल व अचल सम्पत्ति रखने व प्राप्त करने, और (घ) इस सम्पत्ति पर विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होना चाहिए। इस स्वतन्त्रता पर केवल एक प्रतिबन्ध, लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के हितों के सम्बन्ध में अवश्य है। व्यवस्था अथवा प्रबन्ध की स्वतन्त्रता का अर्थ अपने-अपने धर्म के विषय में यह निश्चित करने का अधिकार बताया गया है कि उसके पालन के लिए क्या-क्या संस्कार एवं अनुपालन अनिवार्य हैं तथा उसकी आय एवं सम्पत्ति के उपयोग को किस प्रकार तथा किन उद्देश्यों के लिए प्रवर्तित किया जाना है। सम्पत्ति के प्रशासन के अधिकार से सम्पत्ति रखने, प्राप्त करने एवं बेचने के अधिकार का तात्पर्य लगाया गया है। यह सब यथासमय विधायिका द्वारा पारित विधि के अनुसार किया जाना था। किन्तु विधायिका को ऐसी विधि पारित करने की क्षमता प्राप्त नहीं थी जिसके द्वारा उपर्युक्त प्रशासन का अधिकार धर्म-सम्प्रदाय से छीन कर किसी अन्य अथवा धर्म-निरपेक्ष प्राधिकारी को सौंपा जा सकता हो। "राज्य द्वारा नियमन" से यह तात्पर्य था कि राज्य ऐसे मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जो मुख्यतः धार्मिक प्रकार के हों। इस मुद्दे पर सर्वोच्च न्यायालय ने **रतिलाल बनाम बम्बई राज्य** के वाद में निर्णय दिया था।

किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों की अदायगी से स्वतन्त्रता, धारा 27 (Freedom as to Payment of Taxes for Promotion of any

Particular Religion, Article 27)

धारा 27 में प्रावधान है कि जिस आय को किसी विशेष धर्म या धर्म-सम्प्रदाय की उन्नति या परिरक्षण सम्बन्धी खर्चों में व्यय किया जाना हो, उस पर कोई कर देने के लिये किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। यह धर्म-निरपेक्ष की भावना के अनुरूप है तदपि राज्य को धार्मिक संस्थानों के धर्म निरपेक्ष प्रशासन के नियमन में व्यय किये गए धन की आपूर्ति के लिये शुल्क लगाने का अधिकार है।

कुछ शैक्षिक संस्थानों में धार्मिक प्रवचनों या धार्मिक पूजा में उपस्थित होने सम्बन्धी स्वतन्त्रता, धारा 28 (Freedom as to Attendance at Religious Instructions or Religious Worship in certain Educational Institutions)

भारतीय प्रजातन्त्र की धर्म निरपेक्षता पर बल देने के लिए संविधान की धारा 28 में निर्दिष्ट किया गया है कि पूर्णतः राज्य के खर्चे पर चलने वाले किसी भी शिक्षा संस्थान में कोई भी धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। किन्तु यह मनाही ऐसे शैक्षिक संस्थानों पर लागू नहीं होती जो राज्य द्वारा प्रशासित हों, पर किसी ऐसे धर्मादि या निक्षेप स्थापित किये गये हों जिसमें यह वांछित हो कि ऐसे संस्थान में धर्म शिक्षा अवश्य दी जाये। धारा 28 के अनुच्छेद (3) में यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि जो शिक्षा-संस्थान राज्य से मान्यता प्राप्त हों अथवा राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त करते हों उनमें पढ़ने वाले किसी भी व्यक्ति को उसकी सहमति, और यदि वह अवयस्क हो तो उसके संरक्षकों की सहमति के बिना उस संस्थान में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने अथवा उस शिक्षा-संस्थान के भवन या उससे सम्बद्ध किसी अन्य भवन में की जा रही पूजा में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता इस सन्दर्भ में केवल धार्मिक शिक्षा पर मनाही लागू होती है, किन्हीं धार्मिक सिद्धान्तों से विघटित नैतिक शिक्षा पर नहीं।

सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार, धारा 29 (Cultural and Educational Rights, Article 29)

अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए संविधान के रचयिताओं ने धारा 29 में निर्दिष्ट किया कि भारतीय प्रदेश या उसके किसी भाग में बसने वाले नागरिकों को, जिनकी अपनी स्पष्ट भाषा, लिपि और संस्कृति हो, उसके परिरक्षण का अधिकार होना चाहिए। इससे यह तात्पर्य है कि राज्य द्वारा किसी सांस्कृतिक अल्प सम्प्रदाय पर उसकी संस्कृति से भिन्न संस्कृति नहीं थोपी जानी चाहिए। इस अनुच्छेद के प्रावधान का यह भी तात्पर्य है कि राज्य का भारतीय नागरिकों की सांस्कृतिक अनन्यता की रक्षा सम्बन्धी कर्तव्य केवल देश के भीतर है।

धारा 29 के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट है कि किसी भी नागरिक को किसी राज्य

द्वारा परिरक्षित या सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थान में केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक के कारण प्रविष्ट करने से इनकार नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद (1) द्वारा "नागरिकों के वर्ग" को रक्षण प्राप्त होता है पर अनुच्छेद (2) द्वारा एकल नागरिकों को रक्षण प्राप्त होता है। "केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक के कारण" से सर्वोच्च न्यायालय ने यह तात्पर्य निकाला है कि शैक्षिक संस्थान इनके अतिरिक्त अन्य कारणों के आधार पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं अर्थात आयु, शारीरिक उपयोगिता, तोड़-फोड़ करने वाले संस्थानों से पृथकत्व, तथा शैक्षिक अर्हता इत्यादि। इसके अतिरिक्त धारा 15 के अनुच्छेद (4) के अन्तर्गत राज्य को पिछड़े वर्गों के नागरिकों या अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के लिए न्यूनतम स्थान आरक्षित करने का अधिकार है। 'लिंग' तथा 'जन्म स्थान' शब्द धारा 15 के अनुच्छेद (1) में सम्मिलित थे, पर उन्हें धारा 29 में छोड़ दिया गया। इससे यह तात्पर्य है कि राज्य द्वारा पूर्णत: परिरक्षित अथवा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थानों में इनके आधार पर प्रवेश देने से इन्कार किया जा सकता है अर्थात राज्य किसी शिक्षा संस्थान को केवल मनुष्यों या स्त्रियों के लिए परिरक्षण या सहायता दे सकता है। **जोसेफ़ वनाम केरल राज्य** के वाद में शिक्षा संस्थानों में किसी विशिष्ट क्षेत्र के निवासियों के लिए स्थानों का आरक्षण उचित ठहराया गया।

यह निश्चित करने के लिए कि जो शिक्षा संस्थान ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय द्वारा चलाये जाते हैं और राज्य से अनुदान प्राप्त करते हैं, उन्हें पूर्णत: केवल उसी समुदाय के व्यक्तियों के लिए परिरक्षित न किया जाये, संविधान के रचयिताओं ने धारा 337 के दूसरे परन्तुक में यह निर्दिष्ट किया कि ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय के हित के लिए स्थापित किसी भी शिक्षा संस्थान को, यदि उस संस्थान के वार्षिक प्रवेशों में से न्यूनतम 40 प्रतिशत प्रवेश आंग्ल-भारतीय समुदाय के अतिरिक्त अन्य समुदायों के लिए उपलब्ध नहीं किये जायेंगे, तो कोई आर्थिक सहायता राज्य द्वारा नहीं दी जायेगी।

अल्पसंख्यकों का शिक्षा सस्थान स्थापित करने व प्रशासित करने का अधिकार, धारा 30 (Right of Minorities to Establish and Administer Educational Institutions, Article 30)

धारा 30 में अल्पसंख्यकों को अपनी पसन्द के शैक्षिक संस्थान स्थापित एवं प्रशासित करने के अधिकार की गारण्टी दी गई है। उस धारा के अनुच्छेद (2) में निर्दिष्ट है कि राज्य को शैक्षिक संस्थानों को अनुदान स्वीकृत करते समय किसी संस्थान के साथ इस आधार पर भेद-नीति का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए कि वह धर्म या भाषा के कारण किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा प्रबन्धित है।

"शैक्षिक संस्थान स्थापित व प्रशासित करने" के अधिकार से यह तात्पर्य है कि कोई अल्पसंख्यक समुदाय अपने समुदाय के बच्चों को अपनी भाषा में शिक्षा दे सकता है। यद्यपि संविधान की धारा 343 में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाया गया

है, तथा धारा 351 में केन्द्र सरकार को हिन्दी भाषा की उन्नति एवं प्रसार के लिए निर्देश दिया गया है ताकि भारत की एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हो, तो भी उसे उपर्युक्त संस्थानों पर थोपा नहीं जा सकता। यह अधिकार संविधान प्रवर्तित होने से पूर्व स्थापित किये गए संस्थानों के प्रति भी लागू होता है। इस धारा का लाभ प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित संस्थान को यह सिद्ध करना होगा कि वह किसी धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित किया गया है।

अल्पसंख्यकों के इस अधिकार की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अनेक मामलों में पुष्टि की गई है। 26 अप्रैल, 1974 को गुजरात विश्वविद्यालय अधिनियम के मामले में इसकी पुनः पुष्टि की गई। अहमदाबाद सेण्ट ज़ेवियर कालिज सोसाइटी तथा अल्पसंख्यकों के अन्य शिक्षा संस्थाओं ने, जो गुजरात विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र में आते थे, सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिकाएँ प्रेषित करके 1949 के उपर्युक्त अधिनियम के 1973 में संशोधित रूप की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी। न्यायालय ने व्यवस्था दी कि अधिनियम की विचाराधीन धाराएँ, जिनके द्वारा विश्वविद्यालय से संवद्ध कालेजों के कतिपय व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारों को नियमित व प्रतिबंधित करने का प्रयत्न किया गया है, भाषायी एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित व प्रशासित संस्थानों के प्रति लागू नहीं होतीं।

क्या धारा 30 में प्रदत्त अधिकार निरपेक्ष है? इस प्रश्न का उत्तर सर्वोच्च न्यायालय ने केरल शिक्षा विधेयक का अन्वेषण करते समय दिया है, जो राष्ट्रपति द्वारा परामर्श के लिये भेजा गया था। न्यायालय ने व्यवस्था दी कि वह अधिकार परिसीमा रहित नहीं है, तथा स्वयं अधिकार में ही अनेक परिसीमाएँ निहित हैं। 'प्रशासन' करने के अधिकार का अर्थ 'कुशासन' करने का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त, किसी अल्पसंख्यक संस्थान को मान्यता प्रदान करने से पूर्व, राज्य, अध्यापकों के गुणों, स्वच्छता के स्तर एवं अनुशासन परिरक्षण इत्यादि अनेक विनियम निर्धारित कर सकता है।

धारा 30 के अनुच्छेद (2) से सर्वोच्च न्यायालय ने यह तात्पर्य बताया कि कोई अल्पसंख्यक संस्थान संविधान की धारा 337 से बाहर राज्य की सहायता पाने के अधिकार की माँग नहीं कर सकता, पर राज्य भी उसके उपर्युक्त सहायता पाने के अधिकार पर ऐसी शर्तें नहीं लगा सकता जिनसे वह संस्थान धारा 30 में प्रदत्त अपने अधिकार से वंचित हो जाये। धारा 30 में प्रदत्त अधिकार धारा 29 के अनुच्छेद (1) में प्रदत्त अधिकार का संपूरक है क्योंकि कोई अल्पसंख्यक समुदाय अपनी भाषा, लिपि एवं संस्कृति की केवल तभी रक्षा कर सकती है जब उसके निजी शिक्षा संस्थान हों।

1971 में जब केन्द्रीय सरकार ने संविधान की धारा 31 में प्रदत्त संपत्ति के अधिकार में समूल परिवर्तन के उद्देश्य से पच्चीसवां संविधान संशोधन पास कराया तो धारा 30 द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रदत्त अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस संशोधन अधिनियम के एक परन्तुक में यह स्पष्ट किया गया कि "धारा 30 के अनुच्छेद (1)

में वर्णित किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित एवं प्रशासित शिक्षा संस्थान की सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण सम्बन्धी कोई विधि निर्माण करते समय राज्य यह निश्चित करेगा कि उस विधि के अधीन अथवा द्वारा सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिये जो राशि निश्चित व निर्दिष्ट की जाये, वह उस अनुच्छेद में प्रदत्त अधिकार को समाप्त या प्रतिबन्धित न करती हो।

सम्पत्ति का अधिकार
(Right to Property)

संविधान की धारा 31 में सम्पत्ति के अधिकार का वर्णन है। इस धारा के प्रथम अनुच्छेद में निर्दिष्ट है कि "विधि के प्राधिकार" के बिना किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद (2) में बताया गया है कि कोई भी चल या अचल सम्पत्ति, जिसमें किसी व्यापारिक या औद्योगिक संस्थान की स्वामी किसी कम्पनी के हित भी सम्मिलित हैं, किसी भी विधि के अन्तर्गत—जिसमें सम्पत्ति को कब्जे में लेने या उसका अधिग्रहण सम्बन्धी प्रावधान किये गए हों—तब तक कब्जे में ली या अधिगृहीत नहीं की जा सकती, जब तक उस विधि में कब्जे में ली गई या अधिगृहीत सम्पत्ति के मुआवज़े की व्यवस्था न की गई हो और या तो मुआवज़े की राशि निर्धारित की गई हो या वे सिद्धान्त निरूपित किये गए हों जिनके अनुसार मुआवज़ा निश्चित किया एवं दिया जाना होगा। उपर्युक्त उद्देश्य के लिए किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनायी गयी कोई विधि "प्रभावी नहीं होगी, जब तक कि उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया जाने के बाद, राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो गई हो।" यदि संविधान आरम्भ होने के समय किसी राज्य की विधायिका में विचाराधीन कोई विधेयक, उस विधायिका द्वारा पारित किया जाने के बाद, राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित किया गया हो तथा इस पर उनकी सहमति प्राप्त हो गई हो तो संविधान के प्रावधान कुछ भी हों, इस प्रकार स्वीकृति प्राप्त किसी विधि को न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति का विषय नहीं बनाया जा सकता कि उससे अनुच्छेद (2) के प्रावधानों का उल्लंघन होता है।

अनुच्छेद (5) में निर्दिष्ट है कि कोई वर्तमान विधि, जो **संविधान प्रवर्तित होने से 18 मास पूर्व** पारित की गयी हो, किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति का विषय नहीं बनायी जा सकती कि उससे अनुच्छेद (2) का उल्लंघन होता है, अर्थात् इस आधार पर कि उस विधि में मुआवज़ा देने सम्बन्धी प्रावधान नहीं किया गया था। अनुच्छेद (5) में यह भी निर्दिष्ट किया गया कि अनुच्छेद (2) का कोई भी प्रावधान किसी भी ऐसे विधि के प्रावधान को प्रभावित नहीं करेगा, जो राज्य द्वारा **संविधान प्रवर्तित होने के बाद** (i) कोई भी कर या प्रशस्ति (पैनेल्टी) लगाने के उद्देश्य से, अथवा (ii) सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था करने अथवा जीवन या सम्पत्ति को

खतरा रोकने, अथवा (iii) किसी ऐसे करार के पालन के लिए जो भारत सरकार किसी विदेशी सरकार से ऐसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में करे जिसे विधिवत निष्क्रान्त सम्पत्ति घोषित किया गया हो।

अनुच्छेद (6) में निर्दिष्ट किया गया है कि संविधान प्रारम्भ होने से अधिकतम 18 मास पूर्व पारित किये हुए राज्य की किसी भी विधि को संविधान आरम्भ होने के बाद तीन महीने के अन्दर राष्ट्रपति को, उनके द्वारा सत्यापन के लिए प्रेषित किया जाना चाहिए, और यदि राष्ट्रपति उसे सत्यापित कर दें तो उसे किसी भी न्यायालय में इस आधार पर विवाद का विषय नहीं बनाया जा सकता कि उससे अनुच्छेद (2) के प्रावधानों का उल्लंघन होता है, विशेषत: इस आधार पर कि उसमें राज्य द्वारा सार्वजनिक उद्देश्य के लिए अधिगृहीत सम्पत्ति के मुआवज़े की अदायगी सम्बन्धी प्रावधान नहीं है।

धारा 19 (1) (च) के अधीन सम्पत्ति के अधिकार तथा धारा 31 के अधीन सम्पत्ति के प्रति अधिकार में अन्तर [Distinction between Right of Property under Article 19 (f) and Right to Property under Article 31]

धारा 31 के अन्तर्गत सम्पत्ति के अधिकार की विवेचना करने से पहले इस धारा के अधीन सम्पत्ति के अधिकार तथा धारा 19 (1) (च) के अधीन सम्पत्ति के प्रति अधिकार स्पष्ट करना उचित होगा। यह अन्तर संविधान में स्पष्ट नहीं किया गया है पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत कुछ मामलों में समझाया गया है। **बम्बई राज्य बनाम भैण्जी मुंजी** (1955) के वाद में न्यायाधीश ने कहा, "धारा 19 (1) (च) और धारा 31 के विषय भिन्न-भिन्न हैं तथा परिच्छेद भी भिन्न हैं। इनमें कुछ भी परस्परव्यापी नहीं है। धारा 19 (1) (च) को अनुच्छेद 5 के साथ पढ़ने से ऐसी संपत्ति की धारणा होती है जिसका उपभोग किया जा सकता हो तथा जिस पर अधिकार प्रवर्तित किये जा सकते हों क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद (5)[10] में प्रत्याशित तर्कसंगत प्रतिबन्ध को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। यदि प्राप्त करने, रखने व बेचने के लिए कोई सम्पत्ति न हो तो उसे प्राप्त करने, परिरक्षित करने तथा बेचने सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते, क्योंकि अनुच्छेद (5) में उन अधिकारों के प्रवर्तन पर तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगाना प्रत्याशित है। इसलिए इस धारा में सम्पत्ति

[10]धारा 19 के अनुच्छेद(5) में निर्दिष्ट किया गया है कि सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने व बेचने सम्बन्धी अधिकार से, जहाँ तक वह सामान्य जनता के हित में अथवा किसी अनुसूचित जन-जातियों के हित की रक्षा के हित में सम्पत्ति के अधिकार के प्रवर्तन पर युक्ति संगत प्रतिबन्ध लगाता है अथवा राज्य को ऐसे प्रतिबन्ध लगाने से रोकता है, किसी प्रचलित विधि का परिचालन प्रभावित नहीं होना चाहिए।

विद्यमान होने की अभिधारणा है जिसके प्रति अधिकारों का उपयोग किया जा सके।"

इसी प्रकार, **द्वारकादास श्रीनिवास बनाम दि शोलापुर स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी** के वाद में (1951) बम्बई उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि धारा 19 (1)(च) में भारतीय नागरिकों को जो सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने के अधिकार की गारण्टी की गई है, वह केवल उन व्यक्तियों के प्रति प्रयुक्त किया जा सकता है जिनकी सम्पत्ति धारा 31 के अन्तर्गत ले न ली गई हो। यदि किसी नागरिक को धारा 31 के अधीन सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया हो, तो उसके द्वारा धारा 19 के अधीन सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का प्रश्न उठने की सम्भावना ही नहीं हो सकती। एक अन्य वाद में न्यायमूर्ति सुब्बाराव ने इन दोनों धाराओं में अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया, "धारा 31 (1) को नकारात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। इसका यह प्रभाव हो सकता है कि इसमें एक मूल अधिकार घोषित है कि किसी कार्यकारी कृत्य द्वारा किसी को संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता, किन्तु यह स्पष्ट रूप से या अनिवार्य आशय द्वारा ही, विधि को संविधान की धारा 19 (1) (च) में निरूपित परिसीमा से बाहर नहीं ले जाता। धारा 31 (1) की विधि एक वैध विधि होनी चाहिये और वैध होने के लिए उसे अन्य मूल अधिकारों के समान होना चाहिए।" इस प्रकार, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि जिस विधि से किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित किया जाता है, उसे जब तक आम जनता के हित में या अनुसूचित जन-जातियों के हितों की रक्षा के लिए युक्तिसंगत प्रतिबन्ध न माना जा सकता हो, अनुचित विधि माना जायेगा। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश महाजन ने स्पष्ट किया कि धारा 31 (1) और धारा 19 (1) (च) परस्पर सम्बन्धित नहीं थीं। जब किसी परिनियम में सम्पत्ति से वंचित करने का अभिप्राय हो, उसकी धारा 19 (1) (च) के अधीन वैधता जाँचने का प्रश्न ही नहीं उठता। धारा 19(1) (च) के प्रावधान केवल तभी आकर्षित होते हैं जब किसी परिनियम द्वारा सम्पत्ति के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया जाये। दोनों धाराओं में अन्तर को अधिक स्पष्ट करते हुए न्यायाधीश महाजन ने कहा कि एक ओर जहाँ धारा 19 (1) (च) के अधीन अधिकार की माँग केवल नागरिकों द्वारा की जा सकती है, धारा 31 के अधीन अधिकार सभी नागरिकों एवं विदेशियों को समान रूप से उपलब्ध हैं।

पदनाम 'सम्पत्ति' की धारा 19 (1) (च) में कोई परिभाषा नहीं की गई थी, अतः सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने उसके उदारतापूर्वक विशाल अर्थ किए। उन्होंने इससे न केवल चल व अचल सम्पत्ति का ही तात्पर्य बताया वरन् पेटेन्ट, कापीराईट, और भाड़ा-पट्टा इत्यादि गौण अधिकारों का भी तात्पर्य बताया। इस प्रकार, प्रत्येक एवं किसी भी वस्तु के वे सभी हित सम्मिलित हैं जिन पर विधि अनुसार किसी का स्वामित्व हो सकता है अर्थात् सभी प्रकार की सम्पत्ति—चाहे वह किसी भी रूप में

हो तथा सम्पत्ति में सभी हित—चाहे वह किसी भी रूप में हों। किन्तु सम्पत्ति से तात्पर्य केवल वह सम्पत्ति है जो वैध रूप से प्राप्त करने व रखने योग्य हो। उदाहरणतया, चुरायी हुई सम्पत्ति को धारा 19 (1) (च) के अधीन कोई संरक्षण उपलब्ध नहीं होता।

धारा 31 में संशोधन (Amendments of Article 31)

सम्पत्ति से "वंचित करने" तथा राज्य द्वारा अधिकृत "सम्पत्ति का मुआवज़ा देने" के प्रश्नों पर संविधान के आरम्भ से ही मुकद्दमेबाज़ी होने लगी थी। बिहार के बड़े-बड़े ज़मींदारों ने, जिनकी भूमियाँ बिहार भूमि-सुधार अधिनियम, 1950 के आधीन ले ली गई थीं, पटना उच्च न्यायालय में उस अधिनियम को चुनौती दी और उस न्यायालय ने सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि विचाराधीन अधिनियम अवैध था। उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय ने यू० पी० ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियम को वैध ठहराया, और उसी प्रकार मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालय ने मध्य प्रदेश स्वामित्व अधिकार (भू-सम्पदा, महल, संक्रामित भूमियाँ) अधिनियम, 1950 को वैध ठहराया। किन्तु प्रभावित ज़मींदार इसे सर्वोच्च न्यायालय में ले गए। संघीय सरकार को आशंका हुई कि यदि सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें धारा 31(2) के अधीन सम्पत्ति सम्बन्धी मूल अधिकारों के विरुद्ध ठहरा दिया तो उससे बड़ी संख्या में जनता प्रभावित होगी। अतः उसने प्रथम (संविधान संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया और संविधान में धाराएँ 31-क, 31 ख जोड़ीं। धारा 31 क भू-सम्पदाओं के अधिग्रहण सम्बन्धी क़ानूनों की रक्षा के लिए रची गयी थी और इसे न केवल धारा 31 के बाद जोड़ दिया गया अपितु इसे भूतलक्षी प्रभाव देकर सदैव से जुड़ी हुई माना गया। इसके निम्नलिखित प्रावधान थे :

"इस भाग के उपर्युक्त प्रावधानों के उपबन्धों को ध्यान में न रखते हुए, कोई भी ऐसी विधि जिसमें राज्य द्वारा किसी भू-सम्पदा या भू-सम्पदा में अधिकारों के अधिग्रहण की व्यवस्था हो, अथवा किन्हीं ऐसे अधिकारों की समाप्ति या उनमें परिवर्तन की व्यवस्था हो इस आधार पर अवैध नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, धारा 19 व धारा 31 में प्रदत्त किन्हीं अधिकारों के असंगत है अथवा उनमें से किसी अधिकार को छीनता है अथवा कम करता है।

किन्तु जब वह विधि किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनाया गयी विधि हो तो यदि उस विधि को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किया जाने के पश्चात्, राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त न हो गई हो···तो इस धारा के प्रावधान वैध नहीं माने जायेंगे।"

संविधान में धारा 31 क जोड़ने का उद्देश्य "न्यायालयों के हस्तक्षेप के बिना ज़मींदारियों के अधिग्रहण या स्थायी बन्दोबस्त की समाप्ति को वैध ठहराना" था। इस धारा का यह तात्पर्य था कि (भूत या भविष्यत) कोई भी विधि जिससे किसी

भू-सम्पदा के स्वामी या हितधारी के अधिकारों पर प्रभाव पड़ता हो, इस आधार पर प्रभाव शून्य नहीं होना चाहिए कि वह संविधान के भाग तीन में प्रदत्त किसी मूल अधिकार से मेल नहीं खाता। इसका यह अर्थ हुआ कि ऐसे किसी विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि मुआवज़े की व्यवस्था नहीं की गई है, अथवा कोई सार्वजनिक उद्देश्य नहीं है अथवा वह भाग तीन के अन्य प्रावधानों का उल्लंघन करता है।"

धारा 31 ख के निम्नलिखित प्रावधान थे : "धारा 31 क के प्रावधानों की सामान्यता की प्रतिकूलता के बिना नवीं सूची में निर्दिष्ट कोई भी अधिनियम अथवा विनियम अथवा उसका कोई प्रावधान इस आधार पर प्रभाव शून्य नहीं घोषित किया जायेगा और न ही उसे पहले से प्रभाव शून्य माना जायेगा कि वह अधिनियम, विनियम अथवा व्यवस्था इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार को क्षीण व समाप्त करती है तथा किसी निर्णय, डिक्री अथवा आदेश के अन्यथा होते हुए भी उपर्युक्त प्रत्येक अधिनियम एवं विनियम, किसी सक्षम विधायिका के उसे निरस्त या संशोधित करने के अधिकार को ध्यान में रखते हुए लागू होता रहेगा।" संविधान में इस धारा को, डी० डी० बसु के शब्दों में, "प्रचुर सावधानी" पूर्वक सम्मिलित किया गया ताकि संविधान की नवीं अनुसूची के कुछ अधिनियमों को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा **शक्ति बाह्य** घोषित न कर दिया जाये।

सम्पत्ति के अधिकार में संविधान (चौथे संशोधन) अधिनियम 1955 द्वारा पुनः संशोधन किया गया। इस अधिनियम द्वारा निम्नलिखित संशोधन किये गए :

(1) धारा 31 के अनुच्छेद (2) में संशोधन किया गया। संशोधित रूप इस प्रकार था :

"किसी सार्वजनिक उद्देश्य के लिए तथा ऐसे विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त, जिसमें इस प्रकार अर्जित व अधिगृहीत सम्पत्ति के मुआवज़े की व्यवस्था हो तथा या तो मुआवज़े की राशि निश्चित कर दी गई हो या उसके निर्धारण व भुगतान के सिद्धान्त एवं प्रक्रिया निरूपित कर दिये गए हों, किसी सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण नहीं किया जायेगा। ऐसी किसी विधि को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि उसमें निर्दिष्ट राशि पर्याप्त नहीं है।"

एक नया अनुच्छेद (2 क) जोड़ दिया गया, जो इस प्रकार था :

"जब किसी विधि में किसी सम्पत्ति के स्वामित्व अथवा परिरक्षण के अधिकार राज्य या उसके या उसके द्वारा नियन्त्रित किसी निगम को हस्तांतरित किये जाने की व्यवस्था न हो तो उससे किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से वंचित होना पड़ने पर भी उसमें भूमि के अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की व्यवस्था नहीं मानी जायेगी।"

अनुच्छेद (2) में संशोधन करने का उद्देश्य इस अनुच्छेद और अनुच्छेद में भेद स्पष्ट करना था, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने **पश्चिम बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल** तथा **द्वारका दास बनाम शोलापुर स्पिनिंग कम्पनी** के मुकद्दमों में व्यवस्था

दी थी कि दोनों अनुच्छेद एक ही विषय से सम्बन्धित हैं। अब यह निर्दिष्ट कर दिया गया कि "अर्जित" या "अधिगृहीत" संपत्ति के मुआवज़े की व्यवस्था जहाँ उसके लिए पारित विधि में अवश्य की जाती थी, मुआवज़े की मात्रा विधायिका द्वारा निश्चित की जानी थी और न्यायालयों को यह जाँचने का अधिकार नहीं था कि विधि में प्रदत्त मुआवज़े की राशि पर्याप्त है अथवा नहीं।

अनुच्छेद (2क) जोड़ने का उद्देश्य न्यायालयों को पदनाम "अर्जन" से कोई बृहत् दृष्टिकोण अपनाने से रोकना था, जैसाकि सर्वोच्च न्यायालय उपर्युक्त दो मामलों में कर चुका था।

धारा 31(क) में भी, जो संविधान में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा जोड़ी गई थी, संशोधन किया गया।

(क) उस धारा के अनुच्छेद (1) के स्थान पर निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ा गया और उसे सदैव से जोड़ा हुआ स्वीकार कर लिया गया—

"(1) धारा 13 में कुछ भी प्रावधान हो, ऐसा कोई विधि जिसमें निम्नलिखित व्यवस्था हो, इस आधार पर प्रभावशून्य नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार से मेल नहीं खाता, अथवा निम्नलिखित प्रकार के किसी अधिकार में कमी करता है या उसे समाप्त करता है—

(क) राज्य द्वारा या उसमें किन्हीं अधिकारों का अधिग्रहण या ऐसे किन्हीं अधिकारों की समाप्ति या उनमें सुधार, या

(ख) राज्य द्वारा सार्वजनिक हित में या सम्पत्ति की उचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से, सीमित समय के लिए किसी सम्पत्ति का प्रबन्ध अपने हाथ में लेना, या

(ग) सार्वजनिक हित में अथवा किसी निगम या किन्हीं निगमों की उचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से दो या अधिक निगमों का समामेलन, या

(घ) निगमों के प्रबन्ध अभिकर्ताओं, सचिवों, कोषाध्यक्षों, व्यवस्था निदेशकों, या प्रबन्धकों के किन्हीं अधिकारों या उनके हिस्सेदारों के किन्हीं मताधिकारों की समाप्ति या सुधार, या

(ङ) किसी खनिज वा खनिज तेल की खोज व शोध सम्बन्धी किसी समझौते, पट्टे, या लाइसेंस से उत्पन्न किसी अधिकार (व अधिकारों) की समाप्ति व सुधार अथवा ऐसे किसी समझौते या पट्टे की समयपूर्व समाप्ति या निरसन।

परन्तु जब उपर्युक्त विधि किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनाया गया विधि हो, इस धारा के प्रावधान उस पर लागू नहीं होंगे, जब तक कि उस विधि (law) को राष्ट्रपति की सहमति के लिए आरक्षित किया जाने के बाद, उनकी सहमति प्राप्त न हो गयी हो;" तथा

(ख) अनुच्छेद (2) में—

(i) उपअनुच्छेद (क) में, शब्द "अनुदान" के पश्चात शब्द "और मद्रास एवं ट्रावनकोर-कोचीन राज्यों में कोई भी जनमत अधिकार" जोड़ दिये जायेंगे और उन्हें

पहले से ही सदैव जुड़े माना जायेगा; और

(ii) उपअनुच्छेद (ख) में शब्द "पट्टाधारी" के बाद शब्द "रैयत या उपरैयत" जोड़ दिये जायेंगे और उन्हें पहले से ही सदैव जुड़े माना जायेगा।

इस संशोधन का उद्देश्य धाराओं 14, 19 और 31 में से केवल ज़मींदारी उन्मूलन सम्बन्धी विधि ही नहीं, अपितु कृषि एवं समाज कल्याण की ऐसी अनेक अन्य मदें भी पूर्णतः निकाल देना था जिनसे स्वामित्वाधिकार प्रभावित होते थे। धारा 31क के अतिरिक्त संशोधन सम्बन्धी उद्देश्यों व कारणों के विवरण में बताया गया था कि—

"आपको याद होगा कि ज़मींदारी उन्मूलन विधि, जिसका हमारे समाज कल्याण सम्बन्धी विधान कार्यक्रम में प्रथम स्थान था, प्रभावित हितों द्वारा धारा 14, 19 एवं 31 के सन्दर्भ में आलोचना का विषय बनाई गई तथा विलम्बकारी एवं अपव्ययजनक मुकद्दमेबाज़ी को समाप्त करने तथा इन विधियों को न्यायालयों में चुनौती न दी जा सकने योग्य बनाने के लिए संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा धाराएँ 31क, 31ख, तथा संविधान की नवीं अनुसूची अधिनियमित की गई थीं। उसके बाद अनेक न्यायिक निर्णयों में धाराओं 14, 19 एवं 31 की जो व्याख्या की गई, उनसे केन्द्र एवं राज्यों द्वारा अन्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण सामाजिक विधान को वांछित रूपरेखा के अनुसार ढालने में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं, जैसेकि—

(i) ज़मींदारियों तथा वास्तविक किसान एवं राज्य के बीच के अन्य बिचौलियों की समाप्ति का अधिकतर लक्ष्य पूरा हो चुका है। भूमि सुधार सम्बन्धी हमारा अगला लक्ष्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के स्वामित्व या क़ब्जे के लिए कृषि भूमि की सीमा निश्चित कर दी जाये। इस प्रकार निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक भूमि का निर्वर्तन कर दिया जाये तथा भू-स्वामियों और काश्तकारों के अधिकारों में और सुधार किये जायें।

(ii) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के हित में राज्य का देश के खनिज एवं तेल साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए, जिसमें विशेषतया अन्वेषण लाइसेंसों, खदान-पट्टों इत्यादि करारों को समाप्त करने या उनकी शर्तों, व अनुबन्धों में सुधार करने की क्षमता शामिल हो।

(iii) प्रायः किसी व्यावसायिक या औद्योगिक संस्थान या अन्य सम्पत्ति को लोकहित में अथवा उस संस्थान या सम्पत्ति की बेहतर व्यवस्था के लिए राज्य की व्यवस्था के अधीन लेना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, अस्थायी रूप से राज्य के प्रबन्ध सम्बन्धी विधि की संविधान द्वारा अनुमति दी जानी चाहिए।

(iv) प्रबन्ध अधिकरण प्रणाली की क्रमशः समाप्ति, राष्ट्रीय हित में दो या अधिक कम्पनियों के अनिवार्य समामेलन, किसी संस्थान को एक कम्पनी से निकालकर दूसरी को हस्तांतरित करना इत्यादि जो सुधार कम्पनी विधि में प्रत्याशित हैं, उन्हें ऐसा सुदृढ़ बनाया जाना चाहिए कि उन्हें चुनौती देना सम्भव न हो।

अतः विधेयक के अनुच्छेद 3 में प्रस्तावित है कि धारा 31क के परिक्षेत्र में वृद्धि

द्वारा अनिवार्य हित-विधि के उपर्युक्त वर्गो को संरक्षण दिया जाये।"

धारा 31क को, जो संविधान में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा जोड़ी गई थी, तथा संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित की गई थी, संविधान (सातवें संशोधन) अधिनियम 1964 द्वारा और संशोधित किया गया। इसकी आवश्यकता इसलिए उत्पन्न हुई कि 1961 में केरल भूमि सुधार अधिनियम तथा 1963 में मद्रास भूमि सुधार अधिनियम, जिनमें भूमिधारिता की सीमा निश्चित की गई थी, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिये गए। उस धारा के प्रथम अनुच्छेद में वर्तमान परन्तुक के बाद निम्नलिखित परन्तुक जोड़ दिया गया—

"यह भी उपबन्ध किया जाता है कि जब किसी विधि द्वारा किसी भू-सम्पदा के राज्य द्वारा अधिग्रहण का प्रावधान किया जाये और जब उसमें से कुछ भूमि पर किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं खेती की जाती हो तो किसी भी प्रचलित विधि के अन्तर्गत, जब तक उस भूमि या उस पर बने या उससे सम्बन्धित किसी भवन या संरचना के अधिग्रहण सम्बन्धी विधि में कम से कम तात्कालिक बाज़ार मूल्य पर आधारित दर से मुआवज़ा देने की व्यवस्था न हो, राज्य द्वारा उस भूमि के किसी ऐसे भाग या उस पर बने या उससे सम्बन्धित किसी भवन, संरचना इत्यादि पर अधिकार करना न्यायोचित नहीं होगा, जो उस व्यक्ति के प्रति लागू होने वाली अधिकतम भू-सीमा में आता हो।"

इस संशोधन के फलस्वरूप भूमि सुधार कार्यक्रम को और आगे बढ़ाया गया।

10 फरवरी, 1970 को सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकिंग कम्पनीज़ (संस्थानों का अर्जन व हस्तांतरण) अधिनियम, 1969 [Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Act, 1969] को 10 के विरोध में एक के बहुमत से अवैध एवं असंवैधानिक घोषित कर दिया क्योंकि उससे "विधि में समानता" (equality before law) सम्बन्धी धारा 14, "सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने व बेचने" सम्बन्धी धारा 19 (1)(च) और "सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन" सम्बन्धी धारा 31 का उल्लंघन होता था। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा लगाये गए सीमा के बन्धन से मुक्त होने के लिए संसद ने संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम पारित करके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में और परिवर्तन किये गए। संविधान की धारा 31 में—

(क) अनुच्छेद (2) के स्थान पर निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ दिया गया—

"(2) सार्वजनिक उद्देश्य के अतिरिक्त और ऐसे विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त जिस (विधि) के द्वारा उस राशि के बदले सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का अधिकार दिया गया हो, जो उस विधि द्वारा निश्चित की गई हो अथवा जो उस विधि में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित की जानी तथा उसी में निर्दिष्ट रीति से दी जानी हो, किसी सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण नहीं किया जायेगा। ऐसे किसी विधि के प्रति न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं उठाई जायेगी कि उपर्युक्त रीति से निश्चित की गई राशि पर्याप्त नहीं है अथवा पूरी राशि या उसका कुछ भाग नकद

राशि के रूप में दिया जा रहा है ।

किन्तु जब किसी ऐसे शिक्षा संस्थान की सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण सम्बन्धी विधि बनाया जाये तो धारा 30 के अनुच्छेद (1) में वर्णित किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा प्रशासित होता हो, तो राज्य ऐसी व्यवस्था करेगा कि उस विधि के अन्तर्गत या विधि द्वारा उस सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए जो राशि निश्चित या निर्दिष्ट की जाये, वह इतनी कम न हो कि उससे उस अनुच्छेद में दी गई गारण्टी न्यून व समाप्त हो जाती हो ।"

(ख) अनुच्छेद (2 क) के पश्चात निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ दिया गया—

"(2 ख) धारा 19 के अनुच्छेद (1) के उपअनुच्छेद (च) के किसी प्रावधान से अनुच्छेद (2) में वर्णित कोई विधि प्रभावित नहीं होगी ।"

"धारा 31 ख के पश्चात एक अन्य धारा जोड़ दी गई—31ग—धारा 13 के प्रावधानों को ध्यान में न रखते हुए कोई भी ऐसी विधि जिसके द्वारा धारा 39 के अनुच्छेद (ख) या (ग) में निर्दिष्ट सिद्धान्तों की प्राप्ति के लिए राज्य की नीति प्रवर्तित होती हो, इस आधार पर प्रभावशून्य नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, धारा 19 व धारा 31 द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार से मेल नहीं खाता, व उन अधिकारों को कम या समाप्त करता है तथा कोई भी ऐसा विधि जिसमें ऐसी घोषणा हो कि वह उपर्युक्त नीति को प्रवर्तित करने के लिए है, इस आधार पर किसी भी न्यायालय में विवाद का विषय नहीं बनाया जायेगा कि वह उपर्युक्त नीति को प्रवर्तित नहीं करता ।

किन्तु यदि ऐसा विधि (law) किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनाया गया हो तो जब तक उस विधि को राष्ट्रपति की सहमति के विचारार्थ आरक्षित किया जाने के बाद उनकी सहमति प्राप्त न हो गई हो, इस धारा के प्रावधान उसके प्रति प्रवर्तित नहीं होंगे ।"

संवैधानिक उपचार का अधिकार, धारा 34 (Right to Constitutional Remedies, Article 34)

संविधान की धारा 34 में संवैधानिक उपचारों का वर्णन है, अर्थात संविधान के भाग III में प्रदत्त अधिकारों की अवहेलना की स्थिति में जो उपचार उपलब्ध होते हैं, उनका वर्णन है । इस धारा के निम्नलिखित प्रावधान हैं—

(1) इस भाग में प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उचित प्रक्रिया द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की शरण लेने की गारण्टी दी गई है ।

(2) सर्वोच्च न्यायालय को इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिए निदेश, आदेश व रिट जारी करने का अधिकार होगा जिसमें बन्दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus), परमादेश (mandamus), निषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा, (quo-

warranto), और उत्प्रेषण लेख (certiorari) सम्बन्धी आदेश भी शामिल हैं।[11]

(3) अनुच्छेद (1) व (2) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को जो क्षमताएँ प्रदान की गई हैं, उनको प्रभावित किये बिना, संसद किसी भी अन्य न्यायालय को, अपने अधिकार क्षेत्र की स्थानीय परिसीमा के भीतर, अनुच्छेद (2) के अधीन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय अधिकारों के प्रवर्तन की क्षमता प्रदान कर सकता है।

(4) इस संविधान द्वारा अन्यथा प्रदत्त प्रक्रिया के अतिरिक्त, इस धारा में जिन अधिकारों की गारण्टी की गई है, वे निलम्बित नहीं किये जा सकेंगे।

इस धारा के प्रावधानों की व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन अनेक मामलों में की गई जो समय-समय पर उसके निर्णय के लिए सामने आये। **अमरसिंह बनाम राजस्थान** राज्य के मामले में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि धारा 32 के अधीन कार्रवाई में केवल मूल अधिकारों सम्बन्धी प्रश्न का ही निर्णय किया जा सकता है।

धारा 32 का लक्ष्य केवल मूल अधिकारों का प्रवर्तन मात्र है, चाहे उसकी आवश्यकता किसी कार्यपालिका आदेश के कारण उत्पन्न हो, चाहे विधायिका के विधान द्वारा।

संविधान की धारा 21 का, जिसमें "जीवन तथा वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की संरक्षा" सम्बन्धी प्रावधान हैं, सर्वोच्च न्यायालय ने यह तात्पर्य बताया कि जीवन और स्वातंत्र्य की संरक्षा की मांग केवल राज्य द्वारा की जाने वाली कार्रवाई के प्रति की जा सकती है। धारा 32 के परिक्षेत्र की मर्यादा समझाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने गोपाल दास **बनाम** भारतीय संघ के वाद में निर्णय दिया कि यदि किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति ने रोक रखा हो तो इस धारा के अन्तर्गत कोई याचिका प्रेषित नहीं की जा सकती।

भीका जी बनाम मध्य प्रदेश राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि जो कारण याचिका में विशिष्ट रूप से वर्णित नहीं है, सुनवाई के समय उसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

धारा 32 के अधीन याचिका सीधे सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जा सकती है। उसका पहले उच्च न्यायालय में प्रेषित किया जाना आवश्यक नहीं होता।

धारा 32 के अधीन केवल वही व्यक्ति याचिका दे सकता है, जिसके मूल अधिकार का हनन हुआ है। किन्तु **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** याचिका में केवल बन्दी ही नहीं अपितु कोई भी अन्य व्यक्ति, जो पूर्णतः असम्बद्ध व्यक्ति न हो, अवैध रूप से बन्दी बनाये गए व्यक्ति की मुक्ति के आदेश प्राप्त करने के लिए कार्रवाई कर सकता है।

धारा 19 के अधीन सम्पत्ति इत्यादि के जो अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त हैं, उनका दावा केवल नागरिक ही कर सकते हैं, इतर व्यक्ति नहीं।

[11]ये सभी आदेश इसी पुस्तक में "सर्वोच्च न्यायालय और न्यायिक पुनरीक्षा" अध्याय में विस्तारपूर्वक समझाये गए हैं।

संविधान-उपचार अधिकार स्वयं एक मूल अधिकार है, सर्वोच्च न्यायालय किसी अधिकार के प्रवर्तन के लिए प्रेषित याचिका को विचारार्थ स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता।

यदि विधायिका सर्वोच्च न्यायालय को धारा 32 के अन्तर्गत अपने क्षेत्राधिकार के प्रवर्तन से रोकने सम्बन्धी कानून बनाये तो वह विधि प्रभावशून्य होगा।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किसी याचिका को केवल इस आधार पर अस्वीकार नहीं किया जायेगा कि उचित रिट या निदेश के लिए प्रार्थना नहीं की गई है। ऐसी स्थिति में न्यायालय को उसकी आवश्यकता के अनुसार उचित आदेश देना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त, राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी अनेक प्रकार के (रिट) आदेश जारी करने का अधिकार होता है। उन्हें यह अधिकार संविधान की धारा 226 द्वारा प्राप्त होता है। इस धारा के अनुच्छेद (1) में बताया गया है कि धारा 32 के प्रावधानों को ध्यान में न रखते हुए प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार सम्बन्धी सारे प्रदेश में, किसी भी व्यक्ति या अधिकारी को, यथोचित स्थिति में उन प्रदेशों में स्थित सरकारों को भी, निदेश आदेश एवं रिट जारी करने का अधिकार होगा जिसमें भाग III में प्रदत्त किसी अधिकार के प्रवर्तन के लिए बन्दी-प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध, अधिकारपृच्छा, एवं उत्प्रेषण लेख इत्यादि सभी, अथवा उनमें से कोई एक हो सकती है।

कोचून्नी बनाम मद्रास राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने पुष्टि की कि किसी मूल अधिकार की संरक्षा के लिए चाहे कोई अन्य उपचार उपलब्ध हो, तो भी धारा 32 के अन्तर्गत रिट जारी करने पर रोक नहीं होगी।

मूल अधिकारों के सशस्त्र सेना सम्बन्धी प्रवर्तन में संसद का उनमें परिवर्तन करने का अधिकार, धारा 33 (Parliament's Power to Modify Fundamental Rights in their Application to Armed Forces)

संविधान की धारा 33 में बताया गया है कि संसद, विधि द्वारा निश्चित कर सकती है कि भाग III द्वारा प्रदत्त अधिकार, उनके सशस्त्र सेनाओं तथा लोक व्यवस्था के परिरक्षण के प्रति प्रवर्तन में किस सीमा तक परिसीमित व प्रतिबन्धित किए जा सकते हैं ताकि उनके द्वारा उचित कर्तव्य पालन तथा अनुशासन बनाये रखना निश्चित हो सके।

किसी क्षेत्र में मार्शल लॉ प्रवर्तित होने पर संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त अधिकारों पर प्रतिबन्ध, धारा 34 (Restriction on Rights Conferred by Part III while Martial Law was in Force in any Area, Article 34)

संविधान की धारा 34 में, देश के किसी भाग में मार्शल लॉ प्रवर्तित होने की स्थिति

में मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी प्रावधान हैं। यह धारा इस प्रकार है, "इस भाग के पूर्ववर्ती प्रावधानों को ध्यान में न रखते हुए, संसद, कानून द्वारा, संघीय सरकार व किसी राज्य की सेवा में रत किसी व्यक्ति की या किसी अन्य व्यक्ति की, भारत के किसी क्षेत्र में जहां मार्शल लॉ लगाया गया था, व्यवस्था के परिस्थापन अथवा परिरक्षण में उसके द्वारा किए गए किसी भी कृत्य के लिए क्षतिपूर्ति कर सकती है अथवा उसके प्रति दिए गए दण्ड के आदेश, दण्ड, अथवा ज़ब्ती इत्यादि जो मार्शल लॉ के अधीन किए गए हों, वैध ठहरा सकती है।"

मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Fundamental Rights)

यद्यपि भारतीय गणराज्य के जन्मदाताओं ने भारतीय नागरिकों के लिए कतिपय मूल अधिकारों की व्यवस्था की, पर वे जानते थे कि राष्ट्रों के जीवन में ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब जनता को उनके अधिकारों से जनता के ही हित में वञ्चित करना पड़ता है। अत: उन्होंने कुछ मूल अधिकारों पर यथोचित प्रतिबंध लगाए। जैसा कि राष्ट्रपति के अध्याय में बताया जा चुका है, धारा 352 में निर्दिष्ट है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो कि गम्भीर संकट विद्यमान है जिससे भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा को युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक विद्रोह के कारण खतरा उत्पन्न हो गया है तो वे आपात्-स्थिति घोषित कर सकते हैं। इस धारा के अधीन आपात-स्थिति की घोषणा होते ही, धारा 358 के प्रावधान स्वत: क्रियान्वित हो जाते हैं। उन प्रावधानों के अनुसार आपात् स्थिति की घोषणा होते ही धारा 19 में प्रदत्त मूल स्वतन्त्रताएँ आपात्-स्थिति की अवधि के लिए निलम्बित हो जायेंगी। इससे यह तात्पर्य है कि ऐसा कोई भी कार्यकारी आदेश या कोई भी विधान, जिससे वे स्वतन्त्रताएँ बाधित होती हों, न्यायालयों द्वारा इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जा सकता कि उससे संविधान द्वारा प्रतिभूत स्वतन्त्रता का हनन होता है। इस प्रकार यह धारा भारत रक्षा अधिनियम की न्यायिक परीक्षा से रक्षा करती है।

किन्तु धारा 352 के अधीन आपात्-स्थिति की घोषणा से धारा 359 के प्रावधान, जिनमें मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था है, स्वत: परिचालित नहीं होते। इस के निम्नलिखित प्रावधान हैं —

(1) जब आपात्-स्थिति की घोषणा प्रवर्तित हो रही हो, राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषित कर सकते हैं कि भाग III में प्रदत्त उन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए, जो आदेश में वर्णित होंगे, किसी भी न्यायालय की शरण लेने तथा उनके प्रवर्तन के लिए न्यायालय में चल रही सभी कार्रवाई, जितने समय वह घोषणा प्रवर्तनीय रहेगी, उतने समय के लिए अथवा आदेश में वर्णित समय के लिए निलम्बित रहेगी।

(2) उपर्युक्त प्रकार से दिया गया आदेश सारे भारत व उसके किसी भाग के लिए प्रवर्तित हो सकता है।

(3) अनुच्छेद (1) में दिया गया प्रत्येक आदेश, यथाशीघ्र संसद के प्रत्येक सदन में

प्रस्तुत किया जाएगा।

मुहम्मद याक़ूब इत्यादि के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि राष्ट्रपति के मूल अधिकारों के निलम्बन सम्बन्धी आदेश को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।[12]

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि आपात्-स्थिति की घोषणा के साथ-साथ धारा 359

[12]मामला इस प्रकार था कि एक अभियाची मुहम्मद याक़ूब को 11 नवम्बर, 1966 को जम्मू व कश्मीर सरकार के एक आदेश द्वारा वन्दी बनाकर भारत रक्षा अधिनियम 30(1) (ख) के अधीन रोक रखा गया। इस आदेश पर छः मास बाद पुनर्विचार किया गया, पर याक़ूब को पुनर्विचारक प्राधिकारी के सम्मुख अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर नहीं दिया गया। फलतः लाखनपाल के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए छः मास की प्रथम अवधि की समाप्ति पर याक़ूब का वन्दीकरण अवैध हो गया। इस कमी को दूर करने के लिए राज्य सरकार ने 11 नवम्बर, 1966 के मूल आदेश को निरस्त करके 3 अगस्त, 1967 को नया वन्दीकरण आदेश जारी किया। इस आदेश को अभियाची ने चुनौती नहीं दी क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा वाद में दिये गए एक निर्णय में लाखनपाल वाले मामले के विरुद्ध व्यवस्था दी गयी थी और दूसरे निर्णय द्वारा राज्य सरकार को पुराना आदेश समाप्त करके नया आदेश देने का अधिकार मिल गया था। किन्तु अभियाची का मुख्य दावा यह था कि 11 नवम्बर, 1962 को संशोधित धारा 359 के अधीन, राष्ट्रपति का 3 नवम्बर, 1959 का आदेश वैध नहीं था। उपर्युक्त आदेश द्वारा राष्ट्रपति ने घोषित किया था कि जितने समय तक धारा 359 के अधीन घोषित की गई आपात्-स्थिति प्रवर्तित होती रहेगी, धारा 14, 21 और 22 के अधीन मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिये किसी भी न्यायालय की शरण लेने का अधिकार निलम्बित रहेगा। यह दलील दी गई कि धारा 12 के अर्थ की मर्यादा में राष्ट्रपति एक प्राधिकारी होते है, अतः उनकी गणना "राज्य" (State) पदनाम के अर्थ में होनी चाहिए, और धारा 359 के अन्तर्गत ज़ारी किया गया आदेश धारा 13(2) के अर्थ में एक "विधि" माना जाना चाहिए। अतः राष्ट्रपति द्वारा धारा 359 के अधीन ज़ारी किये गए आदेश का मूल अधिकारों के सन्दर्भ में परीक्षण किये जाने की सम्भावना हो सकती थी। यह भी दलील दी गई कि धारा 359 के अधीन दिये गये आदेश को धारा 14 के अन्तर्गत चुनौती दी जा सकती है, अतः इस मामले में जो वन्दीकरण आदेश निकाला गया है इससे धारा 14 के प्रावधानों का उल्लंघन होता है, क्योंकि कुछ व्यक्तियों को भारत रक्षा अधिनियमों के अन्तर्गत वन्दीगृह में रखा जाना था, जबकि अन्यों को निवारक नज़रवन्दी कानून के अन्तर्गत रखा जाना था। निवारक नज़रवन्दी कानून के प्रावधान की अपेक्षा भारत रक्षा अधिनियम के प्रावधान बहुत कठोर थे।

मुहम्मद याक़ूब वगैरा की 21 याचिकाओं को ख़ारिज करते हुए, 10 नवम्बर, 1967 को भारत के मुख्य न्यायाधीश के० एन० वांचू ने निर्णय दिया कि आपात्-स्थिति में राष्ट्रपति को धारा 359 द्वारा मूल अधिकारों को निलम्बित करने के स्पष्ट अधिकार मिल जाते हैं, और धारा 359 में ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे राष्ट्रपति की मूल अधिकार निलम्बित करने की क्षमता में कमी आती हो, तथा धारा 13(2), एवं 359, एक ही संविधान के अंश होने के नाते, समान रूप से आधारित थे और दोनों प्रावधानों का समरूप अध्ययन किया जाना चाहिए ताकि धारा 359 के तात्पर्य का भी पालन हो और वह धारा 13(2) द्वारा नष्ट न हो जाये। उन्होंने पुष्टि की कि यद्यपि धारा 359 के अधीन आदेश को उसके वृहत् आशय में विधि माना जा सकता है पर उसे धारा 13(2) के अधीन विधि नहीं माना जा सकता, और धारा 359 के प्रवर्तन में दिये गए आदेश का उन्हीं मूल अधिकारों के सन्दर्भ में परीक्षण नहीं किया जा सकता, जिनका प्रवर्तन उसके द्वारा निलम्बित किया गया है।

भी तुरन्त क्रियान्वित की जाये । इसे 1962 में चीनी आक्रमण के समय प्रयुक्त किया गया किन्तु 1971 में बंगलादेश संकट तथा भारत की पाकिस्तान के साथ लड़ाई के समय उसे प्रयुक्त नहीं किया गया ।

संसद तथा मौलिक अधिकार
(Parliament and Fundamental Rights)

जैसाकि इस अध्याय के आरम्भ में बताया जा चुका है, संविधान के रचयिताओं ने भारत के संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था किसी उपहार के रूप में नहीं वरन् एक विश्वविख्यात कार्य-व्यापार (phenomenon) की मान्यता के रूप में की । संसार के किसी भी देश में जनता के अधिकार निर्बाध नहीं थे, अतः भारत में भी उन पर उचित प्रतिबन्ध रखा गया । देश के शासक लगभग गणराज्य की स्थापना के आरम्भ से ही अनुभव करते आ रहे थे कि वे प्रतिबन्ध पर्याप्त नहीं हैं, अतः उन्होंने उनमें से कुछ को सीमित एवं संकोचित करने के प्रयत्न आरम्भ किये । सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि संसद, जोकि कार्यपालिका के हाथों का उपक्रमण है, ऐसा कर सकती है अथवा नहीं । 1951 में शंकरी प्रसाद के वाद में प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम को चुनौती दी गई, जिसके द्वारा संविधान में धारा 31क व 31ख जोड़ी गई थीं । यह संशोधन धारा 364 के अधीन ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियमों को न्यायिक परीक्षा से बचाने के लिए किया गया था । उसमें न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद को संविधान के भाग III में संशोधन करने का इसलिए अधिकार है कि धारा 13 (2) में "विधि" से तात्पर्य संविधायक सत्ता के प्रवर्तन में बनाया गया संविधान-विधि (Constitutional Law) नहीं वरन् विधायक सत्ता के प्रवर्तन में बनाया गया विधि होता है । इस निर्णय से ऐसी धारणा स्थापित हुई कि धारा 13 (2) के अन्तर्गत "विधि" में संविधान विधि सम्मिलित नहीं होता ।

1961 में केरल भूमि सुधार अधिनियम और 1963 में मद्रास भूमि सुधार अधिनियम, जिनमें भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई थी, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिये गए । इन अधिनियमों की रक्षा के लिए संसद ने 1964 में सत्रहवाँ संविधान संशोधन अधिनियमित किया, जिसके द्वारा 43 सरकारी विधेयकों को नवीं अनुसची में एकत्रित कर दिया गया [नवीं अनुसूची प्रथम संविधान संशोधन (1951) द्वारा जोड़ी गई थी] ताकि उन्हें सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के बावजूद वैध रखा जा सके । इस संशोधन की वैधता को 1965 में सज्जन सिंह के मामले में चुनौती दी गई । इस वाद में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, जहाँ तक उसका भाग III द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार को समाप्त या संक्षिप्त करने से सम्बन्ध है, धारा 13 (2) में की गई मनाही की परिधि में आता है । धारा 13 (2) में प्रावधान था कि "राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनायेगा

जिससे इस भाग द्वारा प्रदत्त कोई अधिकार समाप्त या संक्षिप्त होता हो, तथा इस अनुच्छेद की अवहेलना सहित जो विधि बनायी जायेगी वह अवैध होगी।" इसे यूं भी कह सकते है कि अभियाचियों की यह दलील थी कि जिस विधि पर धारा 13(2) लागू होती है उसमें संसद की संविधान में संशोधन करने सम्बन्धी संविधायक सत्ता द्वारा पारित विधि भी सम्मिलित होती है अत: उसकी वैधता का परीक्षण स्वयं धारा 13 (2) द्वारा ही किया जा सकता है।

दूसरी ओर राज्य का यह रवैया था कि धारा 369 के अन्तर्गत संविधान का कोई भी भाग असंशोधनीय नहीं है। यह विश्वास प्रकट किया गया कि धारा 369 स्वयं एक संहिता है जिसमें ऐसी श्रेष्ठ सत्ता विद्यमान है जो संविधान में सर्वोत्कृष्ट है। राज्य की ओर से यह दलील पेश की गई कि संशोधन सत्ता पर कोई अंकुश नहीं है, अत: यदि संविधान संशोधन की उचित प्रक्रिया अपनाई गई हो तो उसे न्यायिक निर्णय का विषय नहीं बनाया जा सकता।

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय को धारा 13 (2) और धारा 368 के प्रावधानों का समन्वय स्थिर करने का कार्य सौंपा गया।

सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत निर्णय द्वारा इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया कि धारा 368 से संसद को मूल अधिकार वापस लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। न्यायालय ने निर्णय दिया कि धारा 368 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में मूल अधिकार वापस लेने का अधिकार भी सम्मिलित है तथा संशोधन करने का अधिकार इतना विशाल है कि इसका अर्थ "संशोधन" शब्द के साधारण (भाषायी) अर्थ द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकता और धारा 13 (2) में "विधि" शब्द के अर्थ में धारा 368 के अनुसार किया गया संविधान संशोधन सम्मिलित नहीं होता।

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय अपने उसी निश्चय पर दृढ़ रहा जो उसने **शंकरी प्रसाद** वाले मामले में किया था।

यह प्रश्न कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन का अधिकार है अथवा नहीं, तीसरी बार, **गोलक नाथ** के वाद में उत्पन्न हुआ। इस मामले में भाग III के प्रावधानों में संशोधन हो सकने के प्रश्न पर तीन भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गए। प्रथम, न्यायाधीश वाँचू तथा उनके चार सहयोगियों ने निर्णय दिया कि धारा 368 द्वारा संसद को संविधान में संशोधन का अधिकार प्रदान किया गया है तथा उस सम्बन्ध में कार्य-विधि निर्धारित की है। उन्होंने यह भी निर्णय दिया कि यह अधिकार मूल अधिकारों को सीमित करने या कम करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है तथा उस अधिकार के प्रवर्तन में किया जाने वाला कोई संविधान संशोधन धारा 13 (2) के अर्थ की परिसीमा में "विधि" नहीं कहलायेगी। इन न्यायाधीशों ने यह विचार व्यक्त किया कि जब धारा 13 (2) राज्य को ऐसी विधि बनाने की मनाही करता है जिससे भाग III में प्रदत्त अधिकार सीमित या संक्षिप्त होते हों तो उसका सम्बन्ध संसद तथा राज्यों की विधायिकाओं का प्रदत्त साधारण विधायक सत्ता से है तथा

धारा 368 में संविधान के संशोधन सम्बन्धी विधानकारी अधिकार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। दूसरे न्यायाधीश हिदायतुल्ला का विचार था कि धारा 368 द्वारा संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार दिया गया है तथा उसके लिए कार्य-विधि निर्दिष्ट की गई है। किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष भी प्रकट किया कि धारा 368 द्वारा प्रदत्त अधिकार, विधायक अधिकार है अतः उस पर धारा 13 (2) द्वारा निर्दिष्ट निषेध लागू होता है। न्यायाधीश महोदय ने सुझाया कि यदि संसद मूल अधिकारों को समाप्त करना चाहे तो उसे पहले धारा 368 में आवश्यक परिवर्तन करना होगा। उसके बाद वह उस संशोधन द्वारा प्राप्त अधिकार के प्रवर्तन द्वारा संघीय विधायक सूची के इन्दराज 97 के अधीन संविधान सभा बुलाने सम्बन्धी विधि पारित करके अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है। इस प्रकार बुलाये जाने के बाद संविधान सभा किसी भी या सभी मूल अधिकारों को समाप्त या संक्षिप्त कर सकती है तथा नया संविधान भी रच सकती है। तीसरे, मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव और उनके चार साथियों का यह विचार था कि धारा 368 में केवल संविधान संशोधन की विधि बताई गई है और तत्सम्बन्धी अधिकार नहीं दिये गए हैं। यदि ऐसी आवश्यकता आ पड़े और संसद मूल अधिकारों को संक्षिप्त करना चाहे तो संसद की अवशिष्ट शक्तियों (धारा-97) पर निर्भर कर के नया संविधान बनाने या उसमें समूल परिवर्तन करने के लिए संविधान सभा का आह्वान किया जा सकता है। सुब्बाराव ने कहा कि उन्होंने जो संविधान संशोधन सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं वे केवल प्रयोगात्मक हैं, अन्तिम नहीं।

हिदायतुल्ला ने कुल मिला कर सुब्बाराव तथा उनके साथियों से सहमति प्रकट की। फलतः सर्वोच्च न्यायालय ने 6 के मुकाबले 5 के बहुमत से घोषित किया कि निर्णय की तिथि (27 फरवरी, 1967) से संसद को संविधान के भाग III के प्रावधानों में ऐसा संशोधन करने का अधिकार नहीं होगा जिससे उसमें स्थापित मूल अधिकार समाप्त या संक्षिप्त होते हों।

मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव का निर्णय मुख्यतः दो आधार तत्त्वों पर आधारित था। प्रथम यह कि अन्यायिक शक्ति पर, चाहे वह विधायक हो अथवा कार्यकारी, विश्वास नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि पिछले 17 वर्षों में संविधान 21 बार संशोधित किया जा चुका है और संसद ने देश में एकदलीय पद्धति चालू कर दी है, स्वतन्त्रता को पंगु बना दिया है, विधि शासन नष्ट कर दिया है, तथा संविधान की विचारधारा को भीषण आघात पहुँचाया है। उनका कहना था कि इस प्रवृत्ति को अवश्य रोका जाना चाहिए अन्यथा कोई महत्त्वाकांक्षी कार्यपालिका संसद को अपना उपकरण बना कर संविधान को नष्ट कर डालेगी।

मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव का दूसरा आधार-तत्त्व यह था कि व्यक्तियों के मूल अधिकारों का स्थान संविधान द्वारा प्रदत्त प्रत्येक शक्ति एवं सामर्थ्य से ऊपर है। उनका कहना था कि ये "आद्य अधिकार" हैं और संविधान में इनका "सर्वश्रेष्ठ"

स्थान है। संविधान उन पर केवल ऐसे प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति देता है, जो न्यायिक दृष्टिकोण से युक्तिसंगत पाये जायें। उन्होंने यह भी कहा कि संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मूल अधिकारों की रक्षा करना है। वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का संरक्षण जनता का सर्वोच्च हित है। न्यायाधीश महोदय ने याद दिलाया कि यदि कोई व्यक्ति अपने लिए कोई लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से स्वयं अपने किसी मूल अधिकार का परित्याग करने का प्रयत्न करे तो सतर्क न्यायालय को उसे ऐसे नहीं करने देना चाहिए क्योंकि उसके अधिकारों की स्वयं उस से भी रक्षा करने का कर्तव्य न्यायालय का है।

इस निर्णय का व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत स्वागत किया गया। महाराष्ट्र चैम्बर ऑफ़ कामर्स के प्रधान रामकृष्ण बजाज तथा कतिपय अन्य व्यक्तियों ने कहा कि जब भी सर्वोच्च न्यायालय या कोई उच्च न्यायालय किसी अधिनियम को निरस्त कर देता है, तभी संविधान संशोधन करने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि कांग्रेस के पास तदर्थ दो-तिहाई बहुमत विद्यमान है, "जिसके परिणामस्वरूप हमारे मूल अधिकारों की धज्जियाँ उड़ रही हैं। इसके अतिरिक्त, इनमें से अधिकतर संशोधन अव्यवहारिक विचारों पर आधारित हैं।" डा० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने, जो संविधान के रचयिताओं में से एक थे, कहा कि मूल अधिकार संविधान का प्रमुख आधार है और यदि कोई विपरीत दृष्टिकोण अपनाया गया तो उससे संविधान की विशेषता समाप्त हो जायेगी और उसका अर्थ मूल अधिकारों को संसद की दया पर छोड़ देना होगा।[13] बहुत से अन्य व्यक्तियों ने भी, जो संसद की बार-बार संविधान में संशोधन करने और मूल अधिकारों में रोड़ा अटकाने की प्रवृत्ति से तंग थे, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का स्वागत करते हुए उसे एक "ऐतिहासिक" निर्णय बताया और प्रसन्नता व्यक्त की कि अब केन्द्र में शासक दल अपने कठोर बहुमत का उपयोग ऐसे संशोधन पारित कराने में नहीं कर सकेगा जिनसे नागरिकों को अपनी संवैधानिक स्वतन्त्रताओं से वंचित होना पड़े।

किन्तु अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे जो संसद की मूल अधिकारों को संक्षिप्त करने की शक्ति में रुकावट पड़ने के विरुद्ध थे। उदाहरणतया, संसद सदस्य एन० सी० चैटर्जी ने राष्ट्रपति राधाकृष्णन को पत्र लिखा कि वे एक आदेश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से यह स्पष्ट करने के लिए कहें कि जब भी संविधान में कोई संशोधन करने की आवश्यकता उत्पन्न हो तो उसके लिए क्या संवैधानिक तन्त्र उपलब्ध है। चैटर्जी ने दलील दी कि यदि "संसद स्वयं किसी मूल अधिकार को समाप्त या संक्षिप्त नहीं कर सकती तो वह उसी काम के लिए एक अभिकर्त्ता (जैसाकि सुब्बाराव इत्यादि ने एक संविधान सभा बनाने का सुझाव दिया था) कैसे नियुक्त कर सकती है?" उन्होंने कहा कि किसी भी प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्र में संसद की, मूल अधिकारों सहित सभी संविधान संशो-

[13] *The Hindustan Times*, 5 March, 1967, p. 4.

धन की निर्बाध क्षमता से इन्कार नहीं किया जा सकता। कांग्रेस दल के कतिपय नए नेताओं अमृत नाहटा, चन्द्रजीत यादव और कृष्णकांत इत्यादि ने निराशा प्रकट करते हुए कहा कि सर्वोच्च न्यायालय ने गोलक नाथ वाले मामले में दिये गये अपने निर्णय से सरकार के कार्यपालिका एवं विधायिका घड़ों में परस्पर चुनौती की स्थिति उत्पन्न कर दी है, और इस निर्णय के कारण आगे प्रगति करना बहुत कठिन हो गया है। केन्द्रीय नेताओं को भी अपने काम में उपर्युक्त निर्णय के कारण बहुत कठिनाई होने लगी, पर उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को निरस्त कराने के लिए कुछ नहीं कहा और न ही कुछ किया।

किन्तु बैंक राष्ट्रीयकरण के वाद तथा भूतपूर्व नरेशों के भत्तों एवं सुविधाओं के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों से श्रीमती गांधी की सरकार को गम्भीर चिन्ता हुई और उन्होंने इन निर्णयों के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए संविधान में संशोधन करने का निश्चय किया। प्रधान मन्त्री ने राष्ट्रपति गिरि को लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराने का परामर्श दिया। इस निर्वाचन से पूर्व सत्तारूढ़ कांग्रेस ने अपनी निर्वाचन सम्बन्धी घोषणा में प्रसारित किया कि चुनाव जीतने के वाद वह अपनी समाजवादी एवं क्रान्तिवादी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक संशोधन करेगी। चुनाव में विजय प्राप्त करने के वाद श्रीमती गांधी की सरकार ने संसद में संविधान (चौवीसवाँ संशोधन) विधेयक पारित करा लिया। इस से संसद को संविधान के भाग III में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार गोलक नाथ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय का प्रभाव समाप्त हो गया।

केन्द्रीय इस्पात एवं खान मन्त्री मोहन कुमारमंगलम् तथा केन्द्रीय विधि मन्त्री गोखले इत्यादि कतिपय सरकारी प्रवक्ताओं ने ज़ोरदार शब्दों में कहा कि संसद एक सर्वश्रेष्ठ एवं प्रभुसत्तात्मक निकाय है और तीसरे अध्याय में संशोधन करने की क्षमता रखती है, कि न्यायालयों को परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं को समझना चाहिए, वर्तमान विचारधारा को ध्यान में रखना चाहिए तथा जनता की प्रतिनिधि निकाय के रूप में संसद को संवैधानिक मामलों में न्यायालयों के निर्णयों को निरस्त करने का अधिकार होना चाहिए। वे एक नया संविधान वनाने के लिए संविधान सभा का आयोजन करने अथवा वर्तमान संविधान में आवश्यक परिवर्तन करने के सुझाव से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि मौलिकता की दृष्टि से राज्य नीति के मार्गदर्शक सिद्धान्त, मूल अधिकारों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, और यदि अधिकार सिद्धान्तों के मार्ग में बाधक हों तो अधिकार कम कर देने होंगे।

स्वामी केशवानन्द भारती एवं कतिपय अन्य महानुभावों ने सर्वोच्च न्यायालय में याचिकाओं द्वारा चौवीसवें तथा पच्चीसवें संविधान संशोधन अधिनियमों की वैधता को चुनौती दी। प्रख्यात न्यायवादी एन०ए० पालखीवाला ने, जो संविधान विधि के विशेषज्ञ माने जाते हैं, इस वाद में बहस की तथा अनेक विधिक, सांविधिक, नैतिक एवं

नीतिक दलीलें पेश करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि संसद को मूल अधिकार वापस लेने का अधिकार नहीं है। उनका कहना था कि जनता के "आधारभूत अधिकार" केवल जनमत-संग्रह द्वारा परिवर्तित किये जा सकते हैं। किन्तु इस वाद की सुनवाई जिन 13 न्यायाधीशों ने की, उनमें से नौ ने गोलक नाथ वाद में दी गई व्यवस्था को निरस्त करते हुए, मूल अधिकारों सहित, संसद के संविधान संशोधन अधिकार को उचित ठहराया। इस निर्णय के अनुसार, "संविधान के मूल ढांचे" में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार न्यायालय ने यह मत स्थिर किया कि संसद "सर्वशक्तिमान" है।

सरकार ने इस निर्णय को जनता की जीत बताया। किन्तु उसे इसमें दी गई पांचवीं व्यवस्था कि "ऐसे किसी भी विधि को जिसमें ऐसी घोषणा सम्मिलित हो कि वह राज्य नीति के मार्गदर्शक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने की नीति को क्रियान्वित करने के लिए है किसी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जायेगी कि वह उस नीति को क्रियान्वित नहीं करता" अवैध है, उचित नहीं लगी। अप्रैल 1973 में ए० एन० रे को भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश नियुक्त किया गया और तीन वरिष्ट न्यायाधीशों को पीछे छोड़ दिया गया। यह असाधारण कृत्य, कदाचित सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को चेतावनी देने के उद्देश्य से किया गया कि यदि उन्होंने फिर कभी सरकार के काम में रुकावट डालने के प्रयत्न किये तो भारत के उच्चतम न्यायालय में स्वयं अपनी प्रगति के लिए बाधा उपस्थित करेंगे। अनेक प्रख्यात न्यायशास्त्रियों में इसकी तुरन्त प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने कहा कि मूल अधिकारों की रक्षा बिना स्वतन्त्र न्यायपालिका के नहीं हो सकती पर सरकार ने उन्हें यह कह कर चुप कर दिया कि न्यायाधीशों को जनता के आदर्शों की पूर्ति करनी चाहिए, तथा उसका उचित कारण के बिना मूल अधिकारों को विचलित करने का कोई अभिप्राय नहीं है।

1974 में सरकार ने मूल अधिकारों में पुनः हस्तक्षेप किया, जब सैकड़ों कथित तस्कर व्यापारियों, चोरबाज़ारियों तथा विदेशी मुद्रा का घोटाला करने वालों को केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने आन्तरिक सुरक्षा परिरक्षण अधिनियम के आधीन बन्दी बनाया। पर इनमें से अनेक को उपरोक्त आधार पर सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने मुक्त कर दिया और अन्यों की बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएं न्यायालयों में विचाराधीन थीं। सरकारी अधिकारियों को यह आशंका थी कि अन्य बहुत से बन्दियों को भी इसी प्रकार रिहा करना पड़ेगा। न्यायालयों को ऐसा करने से रोकने के लिए केन्द्र सरकार ने राष्ट्रपति को धारा 359 के अधीन आदेश ज़ारी कर के इस प्रकार बन्दियों का न्यायालय की शरण लेने का अधिकार निलम्बित करने का परामर्श दिया और राष्ट्रपति ने ऐसा आदेश 16 नवम्बर, 1974 को ज़ारी किया। इस आदेश से धारा 14 21 और धारा 22 के अनुच्छेद 4,5,6, और 7 द्वारा प्रदत्त अधिकार संक्षिप्त हो गए। जिन बन्दियों के पक्ष में याचिकाएँ न्यायालय के विचाराधीन थीं, वे सब निलम्बित कर दी गईं तथा जिन तस्कर व्यापारियों को छोड़ दिया गया

था उन्हें पुनः वन्दी वनाने के लिए नए आदेश जारी कर दिये गए। गृह मंत्री के ब्रह्मानन्द रेड्डी ने इस कार्रवाई को उचित ठहराते हुए कहा कि जब तस्कर व्यापार एवं ऐसी अन्य गतिविधियों को, जिनसे विदेशी मुद्रा की हानि होती है, रोकने की सार्वभौम इच्छा विद्यमान है तो सरकार के लिए सभी आवश्यक विधिक एवं सांविधिक उपाय करना अनिवार्य था।

विपक्षी नेताओं ने इस आदेश को "निर्दयतापूर्ण असंवैधानिक, तथा दुर्भावपूर्ण" बताया। साम्यवादी (मार्क्सवादी) नेता ज्योतिर्मय वसु ने प्रधान मन्त्री पर तानाशाही नेता बनने की इच्छुक होने का आरोप लगाते हुए कहा कि "अब प्रजातन्त्र कहाँ शेष रह गया है? सभी को आरक्षि एवं कार्यपालिका की दया पर रहना होगा। विधि शासन का तख्ता उलट दिया गया है और न्यायालय फालतू हो गए हैं।" जनसंघी नेता वाजपेयी, समाजवादी नेता मधु लिमये, तथा संगठन कांग्रेसी नेता एस०एन० मिश्रा ने विपक्ष द्वारा सर्वसम्मत विरोध के बावजूद यह आदेश जारी करने में की गई अशोभनीय जल्दबाजी के लिए गम्भीर चिन्ता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि बंगला देश युद्ध समाप्त होने के लगभग तीन वर्ष बाद भी आपात्-स्थिति जारी रखना "संविधान में घोटाला" है। उन्होंने इस आदेश को "नागरिकों की स्वाधीनता का नया अतिक्रमण" बताया।[14] राज्य सभा में भारतीय लोक दल के नेता रबी रे ने कहा "हमें: सरकार की ईमानदारी में विश्वास नहीं रह गया है।" साम्यवादी नेताओं ने भी राष्ट्रपति के आदेश के प्रति विरोध प्रकट किया। भारतीय समाचारपत्रों ने सम्पादकीय लेखों द्वारा सरकार की कार्रवाई के प्रति विरोध प्रकट किया। उदाहरणतया, 18 नवम्बर, 1974 के दि हिन्दुस्तान टाइम्स में कहा गया कि राष्ट्रपति का आदेश "देश की प्रजातन्त्रीय भावना को एक चुनौती" है तथा इससे "अत्यधिक राजनीतिक कठोरता" अभिव्यक्त होती है। सम्पादकीय में यह भी कहा गया कि आपात्-स्थिति (जिसकी आड़ में उपर्युक्त आदेश जारी किया गया) को विद्यमान रखने का कोई न्यायिक औचित्य नहीं है, और यदि भूतकाल में देश की सामान्य विधि के प्रवर्तन से तस्करी तथा अन्य सामाजिक व आर्थिक अपराध नहीं रोके जा सके तो उसका कारण केवल विधि के प्रवर्तन की राजनीतिक अनिच्छा थी। प्रबुद्ध वर्ग ने मौलिक अधिकारों के निलम्बन को कड़वाहट एवं शंकालू दृष्टि से देखा। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि देश को एकदलीय पद्धति एवं प्राधिकारवाद की ओर ले जाया जा रहा है।

[14]गृह मन्त्रालय के एक विवरण के अनुसार आन्तरिक सुरक्षा कानून (आं०सु०आ) के अधीन 7 मई, 1971 से 30 जून, 1974 तक 16,825 व्यक्तियों को वन्दी वनाया गया। इनमें से 1498 का विशिष्ट राजनीतिक सम्बन्ध था।

अध्याय 12

सर्वोच्च न्यायालय और न्यायिक पुनरीक्षा

(Supreme Court and Judicial Review)

जिन देशों में लोकतंत्रीय संविधान की प्रथा है, वहाँ संसद विधि निर्माण करती है तथा कार्यपालिका उसे प्रवर्तित करती है। किन्तु यही पर्याप्त नहीं होता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विधि (law) का उपयोग नहीं करता और उसे संसद द्वारा पारित रूप में स्वीकार नहीं करता। कुछ व्यक्ति विधि की अवज्ञा इसलिए करते हैं कि वे उसे अन्यायपूर्ण, अनुचित व कठोर समझते हैं तथा उनके विचार में उसमें संशोधन या परिवर्तन किया जाना चाहिए, अन्यथा उसे विखण्डित कर दिया जाना चाहिए। कुछ अन्य व्यक्ति अपनी अपराधी प्रवृत्ति के कारण विधि की अवहेलना करते हैं क्योंकि वे स्वभावतः अपराधी होते हैं। एक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का भी है, जो अनभिज्ञता के कारण विधि भंग करते हैं अन्यथा उनका विधि की अवहेलना या अवज्ञा का कोई अभिप्राय नहीं होता। विधि की अवज्ञा का कारण कुछ भी रहा हो, अपराध प्रमाणित हो जाने पर दण्ड दिया जाता है। राज्य का जो भाग यह कार्य करता है अर्थात अपराध प्रमाणित करने का कर्तव्य निभाता है, उसे न्यायपालिका कहते हैं। संगठित जन-समुदायों में न्यायपालिका की आवश्यकता सदैव अनुभव की जाती रही है और न्यायालयों की पद्धति सदैव विद्यमान रही है। आधुनिक भारत में ब्रिटिश सरकार ने न्यायालयों की एक सुसंगठित प्रणाली स्थापित की। भारत के आधुनिक संविधान के निर्माता भी, विशेषत: संघीय राज्य पद्धति में, जहाँ शासन सत्ता केन्द्रीय सरकार व उसकी घटक ईकाइयों में बंटी होने के कारण उनके सामर्थ्य एवं अधिकार की सीमा सम्बन्धी विवाद उत्पन्न होने की प्रचुर संभावना विद्यमान थी, न्यायपालिका की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझते थे। वे जानते थे कि केवल एक सुदृढ़, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका ही ऐसे विवादों को प्रभावी एवं निर्णायक ढंग से निपटा सकती है।

संविधान के चतुर्थ अध्याय की धाराओं 124 से 147 तक में सर्वोच्च न्यायालय स्थापित करने का प्रावधान किया गया, और भारतीय इतिहास में 26 जनवरी, 1950 को—जिस दिन स्वाधीन एवं स्वतंत्र भारत का संविधान लागू किया गया—सर्वोच्च न्यायालय का भी प्रादुर्भाव हुआ। 10 अक्तूबर, 1949 तक इंग्लैंड की प्रिवी कौंसिल की

न्यायिक समिति भारत के सर्वोच्च न्यायिक कार्य करती थी। उसके बाद भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अधीन संघीय अदालत स्थापित की गई, जो सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया जाने तक भारत की उच्चतम अपीलीय अदालत रही।

सर्वोच्च न्यायालय की रचना (Constitution of the Supreme Court)

धारा 124 में प्रावधान किया गया था कि सर्वोच्च न्यायालय के एक मुख्य न्यायाधीश तथा अधिकतम सात अन्य न्यायाधीश होंगे। किन्तु संसद को न्यायाधीशों की संख्या में विधिवत् वृद्धि करने का अधिकार था। 1956 में संसद ने इस अधिकार का उपयोग किया और सर्वोच्च न्यायालय (न्यायाधीश संख्या) अधिनियम पारित करके मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त, न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा कर 10 कर दी। 1960 में इस अधिनियम को संशोधित करके यह संख्या मुख्य न्यायाधीश सहित 14 कर दी गई। प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च एवं प्रान्तीय (राज्यों के) उच्च न्यायालयों के जिन न्यायाधीशों से वे परामर्श करना आवश्यक समझें, परामर्श करने के पश्चात की जाती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर आसीन रह सकते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of Judges)

किसी व्यक्ति के सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए निम्नलिखित अर्हताएँ आवश्यक होती हैं : (क) वह भारत का नागरिक हो, (ख) किसी एक उच्च न्यायालय का अथवा एक से अधिक उच्च न्यायालयों का निरन्तर न्यूनतम पांच वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो, (ग) किसी उच्च न्यायालय का अथवा एक से अधिक उच्च न्यायालयों का न्यूनतम 10 वर्ष तक निरंतर एडवोकेट रहा हो, अथवा (घ) राष्ट्रपति के विचार में विशिष्ट न्यायशास्त्री हो।

धारा 126 में "स्थानापन्न" मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति संबंधी प्रावधान है। जब मुख्य न्यायाधीश अवकाश अथवा किसी अन्य कारण से अपना कार्य न कर सकते हों तो राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से एक को स्थानापन्न मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करते हैं। धारा 127 में "तदर्थ" अथवा "विशेष" न्यायाधीश नियुक्त करने की व्यवस्था निर्दिष्ट की गई है। यदि किसी समय न्यायालय का सत्र आरम्भ करने या चालू रखने के लिए न्यायाधीशों की कार्यवाही संख्या (quorum) उपस्थित न हो तो मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्वानुमति लेकर तथा सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करके उस उच्च न्यायालय के किसी एक न्यायाधीश को, जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखते हों, आवश्यक अवधि के लिए सर्वोच्च न्यायालय के न्यायासन पर बैठने का आदेश दे सकते हैं।

धारा 128 में मुख्य न्यायाधीश के आग्रह और राष्ट्रपति की पूर्वानुमति पर अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायासन पर बैठने सम्बन्धी प्रावधान

हैं। ऐसे न्यायाधीश को देय भत्ते राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किये जाते हैं तथा उन्हें नियमित न्यायाधीश के समान विचाराधिकार, क्षमता एवं विशेषाधिकार अथवा रियायतें इत्यादि दिये जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का मुख्यालय (Seat of the Supreme Court)

सर्वोच्च न्यायालय का स्थायी कार्यालय नई दिल्ली में तदर्थ निर्मित एक विशेष भवन में स्थित है। किन्तु राष्ट्रपति की अनुमति सहित मुख्य न्यायाधीश द्वारा निर्णय करने पर उसका सत्र अन्य स्थानों पर भी किया जा सकता है।

न्यायाधीशों का वेतन (Salary of the Judges)

मुख्य न्यायाधीश को 5000 रुपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को 4000 रुपये मासिक वेतन दिया जाता है। प्रत्येक न्यायाधीश को कतिपय विशेष रियायतें, पैंशन व छुट्टी के अधिकार इत्यादि दिये जाते हैं जिनका निश्चय समय-समय पर संसद में विधिवत् किया जाता है। प्रत्येक न्यायाधीश को किराया रहित निवास दिया जाता है। उनके वेतन पर आय कर लगता है। राष्ट्रपति की तुलना में, जिनका वेतन 10,000 रुपये प्रति मास होता है, अथवा संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की भी तुलना में, जहाँ मुख्य न्यायधीश का वेतन 7,000 रुपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 5,500 रुपये मासिक होता था, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन बहुत अपर्याप्त है। इसे संविधान की दूसरी अनुसूची में निर्धारित किया गया था और बढ़ते हुए मूल्यों के दृष्टिकोण से, जहाँ अन्य सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गई है, न्यायाधीशों का वेतन वही रहा है। 1963 में सर्वोच्च न्यायालय की एक समिति ने सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन में 500 रुपये प्रतिमास की वृद्धि करने का सुझाव दिया था किन्तु सरकार ने इतनी कम वृद्धि का सुझाव भी अस्वीकार कर दिया। कुछ न्यायाधीशों को अपने वेतन में अपना दैनिक खर्च चलाना भी कठिन प्रतीत होता था, अतः उन्होंने त्यागपत्र दे दिये। इसके फलस्वरूप केवल यही नहीं कि वकालत पेशे के जिन सुयोग्य व्यक्तियों का धंधा अच्छा चल रहा था, उनका उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के प्रति आकर्षण समाप्त हो गया अपितु कतिपय न्यायाधीशों की स्वतंत्रता एवं न्यायनिष्ठा का स्तर भी गिर गया।

28 अक्तूबर, 1972 को सर्वोच्च न्यायाधीश एस०एम० सीकरी ने कहा कि न्यायाधीशों की पैंशन उनके वेतन के लगभग समान होनी चाहिए ताकि "उन्हें अवकाश ग्रहण के पश्चात् नौकरी अथवा पुनः वकालत पेशा करने की चिन्ता न करनी पड़े।" नई दिल्ली में आल इण्डिया टैक्स एडवोकेट्स एसोसियेशन (All India Tax Advocates Association) के चतुर्थ सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा : "कहते हैं कि सरकार ने जानबूझ कर यह नीति अपनाई है कि पैंशन न बढ़ाई जाये तथा सेवा

की शर्तों व परिस्थितियों में सुधार न किया जाए ताकि शनैः शनैः न्यायपालिका का मान एवं महत्त्व समाप्त हो जाये।" उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में कहा कि "सरकार की यह नीति न भी हो तो भी उसका प्रभाव तो यही है।"

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कम होने के कारण तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों में अनेक स्थान रिक्त होने के कारण 30 जून, 1974 के आँकड़ों के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में 12,895 तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों में 4,59,974 मामले विचाराधीन पड़े थे। अंग्रेजी भाषा की लोकोक्ति "Justice delayed is justice denied" के अनुरूप हज़ारों व्यक्ति, जिन्होंने अपने प्रति सरकार अथवा किन्हीं व्यक्तियों द्वारा किये गये अन्याय के विरुद्ध देश की उच्चतर न्यायपालिका से याचना की, लम्बी मुकद्दमेबाज़ी में फँस कर रह गये तथा उन्हें अपार व्यय, मानसिक पीड़ा तथा आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी (Officers and Servants of the Supreme Court)

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश द्वारा अथवा उनके निर्देश के अनुसार न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों या अधिकारियों द्वारा की जाती है (धारा 146,1)।

राष्ट्रपति को यह निर्धारित करने का अधिकार है कि कुछ विशिष्ट नियुक्तियाँ संघीय लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के बाद ही की जायें। न्यायालय के अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की सेवा की शर्तें मुख्य न्यायाधीश द्वारा अथवा उनके द्वारा इस उद्देश्य के लिए प्राधिकृत किसी अन्य न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा बनाये गए नियमों द्वारा निर्धारित की जाती है, पर उन पर संसद द्वारा बनायी गयी विधि प्रवर्तित होती है। वेतन, भत्तों, छुट्टी और पैंशन सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति लेना अनिवार्य होता है।

कार्यवाह संख्या (Quorum)

सर्वोच्च न्यायालय में खुली सुनवाई होती है और निर्णय भी सार्वजनिक रूप से सुनाये जाते हैं। जिस मामले में कोई विधि सम्बन्धी मार्मिक प्रश्न निहित हो, अर्थात संविधान की व्याख्या की जानी हो, अथवा धारा 143 (उच्च न्यायालय से परामर्श करने का राष्ट्रपति का अधिकार) के अधीन माँगी गई सम्मति पर विचार किया जाना हो, उनके निर्णय अथवा सुनवाई के लिए कम से कम पाँच न्यायाधीश बैठना आवश्यक होता है। अन्य मामले इससे कम न्यायाधीश संख्या अथवा खण्ड-न्यायालयों द्वारा सुने जाते हैं। सभी फैसले एवं मतोक्तियाँ मामले के सुनवाई के समय उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत के अनुसार घोषित किये जाते (जाती) हैं। जो न्यायाधीश सहमत न हों, वे भिन्न फैसला या मत (धारा 145 की उपधारा 5) दे सकते हैं। यदि धारा

132 के अतिरिक्त संविधान के चतुर्थ अध्याय के किसी प्रावधान के अनुसार किसी अपील की सुनवाई पाँच से कम न्यायाधीशों द्वारा की जा रही हो, पर न्यायालय समझे कि अपील में कोई ऐसी विधि सम्बन्धी मार्मिक प्रश्न विद्यमान है जिसमें संविधान की व्याख्या की जानी है, और अपील के निपटारे के लिए उस पर निश्चित निर्णय करना आवश्यक होगा तो उस प्रश्न को पाँच न्यायाधीशों के न्यायालय में प्रेषित किया जा सकता है। विधि सम्बन्धी प्रश्न पर निर्णय किए जाने के पश्चात उस अपील का निपटारा छोटा न्यायालय कर सकता है।

न्यायाधीशों की स्वतंत्रता, निष्पक्षता तथा निर्भयता (Independence, Impartiality and Fearlessness of Judges)

प्रजातंत्रीय शासन में न्यायाधीशों का स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं निर्भय होना "आवश्यक तत्व" माना गया है। 1701 के एक्ट ऑफ़ सैटलमैण्ट से पूर्व ब्रिटेन के उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीश "राजा की इच्छा रहने तक" अपने पद पर रह सकते थे, पर अब वे "अच्छा आचरण करने तक" अपने पद पर रह सकते हैं ताकि उनमें उपरोक्त गुण विद्यमान रहें। उन्हें अब केवल तभी हटाया जा सकता है, जब संसद के दोनों सदनों द्वारा राजा को लिखित रूप से निवेदन प्रेषित किया जाये। संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश आजीवन अपने पद पर आसीन रहते हैं तथा उन्हें "राजद्रोह, घूसखोरी अथवा अन्य गहन अपराधों या जघन्य कृत्यों" के आधार पर महाभियोग चलाकर ही अपदस्थ किया जा सकता है। किन्तु वे सत्तर वर्ष की आयु तथा दस वर्ष का सेवा काल पूरा कर चुकने के बाद अपने पद से अवकाश ग्रहण कर सकते हैं। कनाडा व आस्ट्रेलिया में न्यायाधीशों को केवल संसद द्वारा लिखित निवेदन किये जाने पर ही अपदस्थ किया जा सकता है।

यह निश्चित करने के लिए कि भारत में भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने कर्तव्यों का साहस एवं निर्भयतापूर्वक निर्वाह कर सकें तथा उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं तथा वेतन में कमी होने का डर न रहे, भारत के संविधान-निर्माताओं ने लगभग उसी प्रकार के प्रावधान किए। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को केवल राष्ट्रपति द्वारा "प्रमाणित दुराचरण या अक्षमता" के आधार पर अपदस्थ किया जा सकता है किन्तु उसके लिए संसद के प्रत्येक सदन की ओर से एक ही सत्र में लिखित निवेदन किया जाना आवश्यक है। ऐसे निवेदन को सदन के कुल सदस्यों के बहुमत का तथा उपस्थित मतदाता सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई भाग का समर्थन प्राप्त होना चाहिए (धारा 124 का अनुच्छेद 4)। उसी दिशा में एक प्रावधान यह भी है कि किसी न्यायाधीश द्वारा अपने पद से सम्बन्धित सरकारी कर्तव्यों के निर्वाह में किए गए आचरण के सम्बन्ध में संसद में चर्चा नहीं की जा सकती (धारा 12)। एक तीसरा प्रावधान यह है कि सेवा-निवृत्त होने के बाद सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश देश के किसी न्यायालय में वकालत इत्यादि नहीं कर सकता। यदि कोई न्यायाधीश स्वयं त्यागपत्र

दे दे तो भी उसे वकालत के पेशे की मनाही होती है। धारा 146 (3) में निर्दिष्ट किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय जिसमें न्यायालय के सभी अधिकारियों के लिए देय वेतन, भत्ते, एवं पेंशन सम्मिलित हैं—भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) में से पूरे किए जायेंगे। न्यायालय द्वारा ली गई फीस तथा अन्य आय की राशियाँ उसी निधि का भाग मानी जायेंगी।

कतिपय संसत्सदस्यों, ए०डी० मणि (स्वतन्त्र पार्टी) तथा भूपेश गुप्त (साम्यवादी) ने न्यायाधीशों पर न्यायालयों में उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार का आरोप लगाते हुए सुझाव दिया कि उनके लिए एक आचार-संहिता निर्धारित की जाए। पर श्रीमती इंदिरा गांधी की सरकार ने इस सुझाव को अस्वीकार करते हुए कहा कि इससे "न्यायाधीशों के विचार प्रभावित होंगे जिसके परिणामस्वरूप उनके न्याय की स्वतन्त्रता भी प्रभावित होगी।"

सर्वोच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय (Supreme Court to be a Court of Record)

संविधान की धारा 129 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय एक 'अभिलेख न्यायालय' होगा। अभिलेख न्यायालय उसे कहते हैं जिसके कृत्यों एवं न्यायिक कार्रवाईयों को स्थायी यादगार के लिए अभिलिखित किया जाता है और जिसे किसी भी न्यायालय में साक्ष्य के लिए प्रस्तुत करने पर चुनौती नहीं दी जाती। किसी न्यायालय को अभिलेख न्यायालय बनाया जाने पर उसे अपनी मानहानि के प्रति दण्ड देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः धारा 142 (2) में निर्धारित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय को "...अपनी मानहानि की जाँच का आदेश देने व उसके प्रति दण्ड देने का पूर्ण अधिकार है।" यह एक असाधारण प्रकार का अधिकार है पर सर्वोच्च न्यायालय जिस विधि-सत्ता की व्यवस्था करती है, उसके लिए यह परमावश्यक भी हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिकार का कई वार उपयोग किया जिनमें से ये दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं: (1) संघीय वित्त मंत्रालय के भूतपूर्व राज्य मन्त्री आर०के०खाडिलकर, तथा (2) केरल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री ई०एम०एस०नम्बूदरीपाद। 13 फरवरी, 1970 को **ब्लिट्ज़ नेशनल फोरम** द्वारा नई दिल्ली में बैंक राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए फैसले पर विचार करने के लिए एक संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें खाडिलकर ने जो टिप्पणी की, उसे अंग्रेजी के दैनिक पत्र **हिन्दुस्तान टाइम्स** में इस प्रकार प्रकाशित किया गया, "ऐसे निर्णयों से न्यायपालिका की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती तथा उच्चतम न्यायालय की ऐसी कार्रवाइयों से नक्सलवादियों को प्रोत्साहन मिलेगा, जिन्होंने समाजवाद लाने के संवैधानिक उपायों को अस्वीकार कर दिया है तथा इस फैसले का साधारण जनता द्वारा अधिकाधिक तिरस्कार किया जायेगा।" उन्होंने आगे कहा कि न्यायाधीश तटस्थता के उच्चासन पर विराजमान हैं, अतः उन्हें बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जन-सामान्य के हित में समाज का सुधार करने में सहायक होना चाहिए। एक संसत्सदस्य कृष्ण राव और

लैफ्टिनेंट-कर्नल एच०आर० पसरीचा ने न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत करते हुए दावा किया कि मन्त्री महोदय के भाषण से न्यायालय के सम्मान एवं प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है तथा इससे देश की न्याय-व्यवस्था के प्रति सारे जन-सामान्य का विश्वास कमज़ोर हो जायेगा। उन्होंने मन्त्री महोदय के विरुद्ध न्यायालय की मानहानि सम्बन्धी कार्रवाई करने की प्रार्थना की। सर्वोच्च न्यायालय को खाडिलकर द्वारा की गई तथाकथित आलोचना के कुछ अंश **प्रकट रूप से** "उचित आलोचना" की सीमा से अधिक प्रतीत हुए, अतः उन्हें 'कारण बताओ अधिसूचना' दी गई कि उनके विरुद्ध कार्रवाई क्यों न की जाए। उत्तर में खाडिलकर ने प्रमुख आरोप को अस्वीकार करते हुए कहा कि उन्हें न्यायालय की स्वतन्त्रता एवं प्रतिष्ठा में अटूट विश्वास है।

निर्णय सुनाते हुए मुख्य न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने कहा :

"हमें यह कहने पर विवश होना पड़ा है कि इस न्यायालय की उचित एवं संतुलित आलोचना के प्रति, चाहे वह कटु ही क्यों न हो, कार्रवाई नहीं की जा सकती। पर निर्णयों के अनुचित उद्देश्य बताना, अथवा न्यायालयों या न्यायाधीशों को घृणा एवं तिरस्कार का भाजन बनाने का प्रयत्न करना, अथवा न्यायालय के कर्तव्य-पालन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाधा डालना इत्यादि गम्भीर मानहानि के कृत्य हैं जिनकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए और न की जायेगी।[1]"

इन शब्दों के साथ मुख्य न्यायाधीश ने वाद को समाप्त घोषित कर दिया।

दूसरा वाद नम्बूदरीपाद द्वारा केरल उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में की गई अपील से उत्पन्न हुआ। नम्बूदरीपाद पर यह आरोप लगाया गया कि जब वे केरल के मुख्यमन्त्री थे, उन्होंने 9 नवम्बर, 1967 को एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि न्यायाधीशों में वर्गमूलक घृणा, हित एवं पक्षपात की भावना अत्यधिक है तथा इसी से उनका पथ प्रदर्शित होता है। यदि किसी समय वस्त्र-सज्जित धनिक एवं किसी अधनंगे अपढ़ व्यक्ति के बीच समान साक्ष्य उपलब्ध हों तो न्यायाधीश नैसर्गिक रूप से धनिकों के हित में रहते है। उन्होंने यह भी कहा कि न्यायपालिका की अभिरुचि कामगरों, किसानों एवं श्रमजीवियों के अन्य वर्गों के प्रतिपक्ष में रहती है तथा विधि एवं न्यायपद्धति अनिवार्यतः शोषक वर्ग का हितसाधन करती हैं।

एक एडवोकेट ने केरल उच्च न्यायालय से शिकायत की कि मुख्यमन्त्री ने जनता की दृष्टि में न्यायाधीशों की प्रतिष्ठा की हानि की है, अतः वे न्यायालय की मानहानि के दोषी हैं। उच्च न्यायालय ने 2-1 के बहुमत से निर्णय किया कि नम्बूदरीपाद ने न्यायालय की मानहानि की है और उन्हें 1000 रुपये के जुर्माने, तथा जुर्माना न चुकाने पर 1 मास की सादा कैद का दण्ड सुनाया।

नम्बूदरीपाद ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील की। वी०के० कृष्णामेनन, जो वामपंथी प्रवृत्ति के राजनीतिक व्यक्ति थे और सर्वोच्च न्यायालय के वकील थे, उनकी ओर से

[1]देखो *The Hindustan Times*, May 6, 1970, p. 4.

उपस्थित हुए । उन्होंने कहा कि संविधान की धारा 19 (1) (क) में जो भाषण एव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दी गई है, मानहानि की व्याख्या करते समय उसमें कटौती नहीं की जानी चाहिए, तथा नम्बूदरीपाद द्वारा की गई टिप्पणी पर उनके राजनीतिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर विचार किया जाना चाहिए। मुख्य न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने फैसला सुनाते हुए कहा कि यद्यपि धारा 19 (1) (क) के प्रावधान की छूट दी जानी चाहिए, पर उसी धारा के अनुच्छेद (2) के प्रावधान की अवहेलना नहीं की जा सकती । इस अनुच्छेद में यह निर्दिष्ट किया गया है कि भाषण की स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय न्यायालयों की मानहानि न की जाए । उन्होंने दण्ड की पुष्टि की, पर जुर्माने की राशि को घटा कर केवल 50 रुपये कर दिया ।

दिसम्बर 1972में अखिल भारतीय जनतन्त्र (प्रजातन्त्रवादी) दल के अध्यक्ष पी०एल० लखनपाल ने सर्वोच्च न्यायालय में इस्पात एवं खनिज मन्त्री मोहन कुमारमंगलम् तथा पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री एस०एस०रे० के विरुद्ध एक याचिका प्रेषित की कि उन्होंने 8 अक्टूबर, 1972 को अहमदाबाद में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा कि "कतिपय ऐसे व्यक्तियों की अंतरंग मण्डली की बजाय, जोकि घटनावश न्यायाधीश बन बैठे हों, जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा समाज का मार्ग प्रशस्त किया जाये, और कि न्यायाधीश जन-साधारण को सामान्य मात्र समझते हैं तथा स्वयं को सभी के हित का निर्णय करने योग्य बुद्धिमान समझते हैं ।" यह भाषण अंग्रेजी के समाचार-पत्र **हिन्दुस्तान टाइम्ज़्** में छपा था, अतः उसके सम्पादक बी०जी० वर्गीज़् को नोटिस दिया गया कि उनके विरुद्ध कार्रवाई क्यों न की जाए। रे एवं कुमारमंगलम् ने दोष स्वीकार नहीं किया और वर्गीज़ ने क्षमा याचना की, अतः आगे कार्रवाई नहीं की गई ।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ एवं अधिकार-क्षेत्र
(Jurisdiction and Powers of the Supreme Court)

मूल क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)

सर्वोच्च न्यायालय देश का अधिकतम सामर्थ्यपूर्ण न्यायालय है तथा न्यायपालिका में उसे उच्चतम स्थान प्राप्त है । संविधान की धारा 131 के अधीन उसे भारत सरकार व किसी एक या अधिक राज्य (राज्यों) के बीच, अथवा एक ओर भारत सरकार व एक या अधिक राज्य एवं दूसरी ओर अन्य एक या अधिक राज्यों के बीच अथवा यदि विवाद में कोई विधि या ऐसे तथ्य सम्बन्धी प्रश्न निहित हों जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व अथवा उसकी परिसीमा निर्भर करती हो, तो दो या अधिक राज्यों के बीच वाद की सुनवाई का अनन्य एवं मौलिक अधिकार है । संघीय सरकार एवं राज्य सरकारों को पृथक-पृथक प्रतिभासित निगम-निकाय व्यक्तित्व (quasi-corporate personality) प्रदान किया गया है, अतः वे परस्पर वाद-प्रतिवाद चला सकते हैं । उनके बीच दीवानी वाद हो सकता है अथवा संवैधानिक या सम्पत्ति

सम्बन्धी अधिकारों के कारण विवाद उठ खड़ा हो सकता है ।

संविधान की धारा 71 (1) के अधीन सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित अथवा उसके कारण उत्पन्न होने वाले विवादों के निर्णय करने का मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है तथा उसका निर्णय अन्तिम होता है । नवम्बर-दिसम्बर 1969 में वराह वैंकट गिरि के निर्वाचन को विपक्षी दलों के सदस्यों, अब्दुल ग़नी धर, शिवकृपाल सिंह तथा फूल सिंह द्वारा चुनौती दी गई, और सुनवाई के पश्चात सर्वोच्च न्यायालय ने उनके निर्वाचन को वैध ठहराया । इसी प्रकार, सितम्बर 1969 के अन्तिम चरण में एक संसत्सदस्य हरि विष्णु कामथ ने गोपालस्वरूप पाठक के उप-राष्ट्रपति चुने जाने को चुनौती दी और न्यायमूर्ति एस० एम० सीकरी ने उसे वैध घोषित किया ।

अपीलीय क्षेत्राधिकार
(Appellate Jurisdiction)

(क) संविधान सम्बन्धी वाद (Constitutional Cases)

कुछ मामलों में उच्च न्यायालयों द्वारा निर्णीत किए जाने के बाद सर्वोच्च न्यायालय को अपील की सुनवाई का क्षेत्राधिकार होता है । इनमें से पहला वर्ग संविधान सम्बन्धी मामलों का है । संविधान की धारा 132 (1) में प्रावधान किया गया है कि किसी भी दीवानी, फौजदारी अथवा अन्य प्रकार के वाद के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को केवल तभी अपील की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित किया जाए कि मामले में संविधान की व्याख्या सम्बन्धी विधि का महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है । यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र देने से इन्कार करे तो सर्वोच्च न्यायालय, यदि उसे विश्वास हो कि वाद में संविधान की व्याख्या सम्बन्धी विधि का महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है, अपील की विशिष्ट अनुमति दे सकता है । इस प्रकार, अनुमति मिल जाने के पश्चात उस वाद से सम्बन्धित कोई भी पक्ष सर्वोच्च न्यायालय में इस आधार पर अपील कर सकता है कि किसी ऐसे प्रश्न का निर्णय ठीक नहीं किया गया है, अथवा सर्वोच्च न्यायालय की अनुमति से किसी अन्य आधार पर भी अपील कर सकता है ।

यदि इस प्रकार अपील करने की विशेष अनुमति देने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को न दिया जाता तो भिन्न-भिन्न उच्च न्यायालय संविधान के प्रावधानों के विविध अथवा परस्पर विपरीत अर्थ निकाल कर पर्याप्त विडम्बना (confusion) उत्पन्न कर सकते थे ।

(ख) दीवानी वाद (Civil Cases)

सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार के वादों का दूसरा वर्ग दीवानी वादों का है । संविधान की धारा 133 में निर्धारित किया गया है कि उच्च न्यायालय द्वारा

दिये गए किसी निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश के फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय को अपील केवल तभी की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि : (क) विवादग्रस्त मामले की रक़म या उसका मूल्य पहले-पहल वाद प्रस्तुत किया जाने पर तथा अपील के समय जो मामला विवादग्रस्त है, उसकी रकम अथवा उसका मूल्य 20,000 रु० से कम नहीं है।[2] (ख) निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उतनी ही रकम या मूल्य की सम्पत्ति सम्बन्धी दावा निहित है। (ग) मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने के योग्य है, तथा जब निर्णय डिक्री या अन्तिम आदेश में निकटस्थ छोटी अदालत के निर्णय की पुष्टि की गई हो तो उच्च न्यायालय द्वारा यह अवश्य प्रमाणित किया जाना चाहिए कि इसमें कोई विधि सम्बन्धी ठोस प्रश्न निहित है।

उच्च न्यायालय द्वारा उपर्युक्त प्रमाणन के बाद भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपील की सुनवाई करना अनिवार्य नहीं होता। सर्वोच्च न्यायालय को देश के सभी न्याया-लयों के न्यायिक अधीक्षण का सामान्य अधिकार होता है तथा वह जाँच भी कर सकता है कि प्रमाणन उचित रूप से किया गया है अथवा नहीं और उसके लिए आवश्यक शर्त की पूर्ति की गई है अथवा नहीं। इस शर्त के अनुसार उच्च न्यायालय द्वारा अपने विवेक का उपयोग करना होता है, पर विवेक का उपयोग न्यायिक रूप से किया जाना चाहिए, सर्वोच्च न्यायालय ने यही देखना होता है कि ऐसा किया गया है अथवा नहीं।

(ग) फौजदारी मामले (Criminal Cases)

फौजदारी अभियोग भी सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार की परिधि में आते हैं। संविधान की धारा 134 में कहा गया है कि किसी उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्ड के फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय को केवल तभी अपील की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय ने (क) अपील पर किसी अभियुक्त को बरी करने का आदेश रद्द करके उसे प्राणदण्ड दिया हो; (ख) अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय से कोई अभियोग स्वयम् सुनवाई करने के लिए मंगवाकर अभियुक्त को दोषी पा कर प्राणदण्ड दिया हो; (ग) प्रमाणित किया हो कि अभियोग सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने योग्य है।

संविधान की धारा 134 की उपधारा (2) द्वारा संसद को अधिकार दिया गया था कि वह विधिवत् कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय को किसी उच्च न्यायालय द्वारा की गयी फौजदारी कार्रवाई के फलस्वरूप दिये गए किसी निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्ड के प्रति अपील स्वीकार करके सुनवाई करने का अधिकार प्रदान कर सकती

[2]1970 में संसद ने नागरिक (दीवानी) अपील विधेयक पारित करके धन सम्बन्धी सीमा एक लाख रुपये कर दी। पहले यह सीमा 50,000 रुपये तक बढ़ाई गई थी। यह इसलिए किया गया कि देश की सर्वोच्च न्यायिक निकाय में विचाराधीन मामले एवं दीवानी अपीलों की संख्या कम से कम रहे।

..ा का लाभ उठाते हुए लोक सभा ने 19 दिसम्बर, 1969 को एक ..ए० एन० मुल्ला का अपीलीय क्षेत्राधिकार में विस्तार करने सम्बन्धी .. पारित किया, जिसके पश्चात् अब प्रत्येक नागरिक सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सकता है, दण्ड की अवधि चाहे कितनी भी हो।

संविधान की धारा 134 के प्रावधानों के अनुसार फौजदारी अभियोगों में सर्वोच्च न्यायालय को दो प्रकार से अपील की जा सकती है—उच्च न्यायालय के प्रमाणन पर तथा प्रमाणन के बिना। इन प्रावधानों का तात्पर्य यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख दण्डनीय अभियोगों की कम से कम संख्या रहे ताकि देश का यह उच्चतम न्यायालय अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण मामलों के प्रति समय एवं ध्यान लगा सके। इन अभियोगों में भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालय से प्रमाणपत्र प्राप्त अभियोग को सुनवाई के लिए स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता। कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय का यह मत रहा है कि प्रमाणपत्र अनुचित रूप से तथा उचित कारणों के बिना दिया गया है और यह कहा है कि उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणन अधिकारों का उपयोग अत्यन्त विशिष्ट एवं अनन्य परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार भी व्यक्त किया कि सामान्यतः धारा 134(1) (ग) के अधीन प्रमाणपत्र केवल तभी दिया जाना चाहिए, जब कोई विधि सम्बन्धी प्रश्न निहित हो तथा सामान्यतः दण्ड अभियोगों में उच्च न्यायालय को ही अन्तिम अपीलीय न्यायालय होना चाहिए।[3]

सर्वोच्च न्यायालय का अपील की विशेष अनुमति देने का अधिकार
(Supreme Court's Power to Grant Special Leave to Appeal)

अपील की विशेष अनुमति देने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को बृहत् अधिकार दिये गए हैं। धारा 136 में निर्दिष्ट किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय को भारत की सीमा के भीतर किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गए किसी भी निर्णय, डिक्री, निर्धारण, दण्ड अथवा आदेश के प्रति अपने विवेकानुसार अपील की विशेष अनुमति देने का अधिकार है। यह अधिकार सशस्त्र सेना सम्बन्धी नियम के अधीन अथवा उसके द्वारा संगठित किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किये

[3]See *Sunder Singh v. State of U.P. Case*, A.I.R., 1956, S.C. 411. Also see *Nār Singh v. State of U.P.*, A.I.R., 1954, S.C. 257.

एक हत्या के अभियोग में बाबू एवं तीन अन्य व्यक्तियों की अपील खारिज करते हुए न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने 19 जनवरी, 1965 को कहा कि उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र धारा 134(1) (ग) की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि सर्वोच्च न्यायालय कोई साधारण न्यायालय नहीं है तथा उच्च न्यायालयों को अपने विवेकाधिकार का उपयोग "यदा-कदा एवं बहुत विचारपूर्वक ही" करना चाहिए। देखो *The Hindustan Times*, 20, January 1965, p. 6.

गए फैसले पर लागू नहीं होता। किन्तु यह प्रावधान किसी भी न्यायाधिकरण द्वारा किये गए निर्धारण या आदेश पर लागू होता है। **भारत बैंक बनाम भारत बैंक के कर्मचारियों** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय किया था कि वह किसी औद्योगिक अधिकरण द्वारा किये गए निर्धारण के विरुद्ध अपील की विशेष अनुमति दे सकता है। **दुर्गाशंकर बनाम रघुराज सिंह** के वाद में उसने फैसला किया कि निर्वाचन अधिकरण के निर्णय के विरुद्ध अपील की विशेष अनुमति दी जा सकती है। इसी प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय ने **ढाकेश्वरी काटन मिल्स लिमिटेड बनाम आयकर आयुक्त पश्चिम बंगाल** के वाद में अपील की विशेष अनुमति प्रदान की। सर्वोच्च न्यायालय ने निष्क्रान्त सम्पत्ति के कस्टोडियन एवं रेलवे रेट ट्रिब्युनल इत्यादि अनेक प्रतिभासित न्यायिक निकायों के आदेशों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई की। इन मामलों में सर्वोच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण रहा है कि यद्यपि ये न्यायाधिकरण न्यायालय नहीं हैं पर, फिर भी, ये प्रतिभासित रूप से न्यायिक कार्य करते हैं। तदपि, अपील की विशेष अनुमति केवल यदा-कदा ही, केवल ऐसे मामलों में दी गई जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने न्याय के हित में उचित समझा एवं जहाँ विशेष परिस्थिति विद्यमान थी।

वर्तमान विधि के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय संघीय न्यायालय के अधिकारों एवं क्षेत्राधिकार का उपयोग करता है (Supreme Court Exercises Jurisdiction and Powers of Federal Court under Existing Law)

संविधान की धारा 135 में निर्धारित किया गया है कि जब तक संसद विधि-निर्माण द्वारा अन्य प्रावधान न करे, सर्वोच्च न्यायालय प्रत्येक ऐसे मामले के प्रति क्षेत्राधिकार एवं सामर्थ्य का उपभोग करेगा, जिस पर धारा 133 या 134 के प्रावधान लागू न होते हों तथा वर्तमान विधि के अन्तर्गत संविधान लागू होने से तुरन्त पहले संघीय न्यायालय को उस मामले के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार एवं सामर्थ्य उपलब्ध रहे हों। यह प्रावधान उन व्यक्तियों के हितों की रक्षा के लिए किया गया जो वर्तमान संविधान लागू होने से तुरन्त पहले संघीय न्यायालय में अपील के अधिकारी थे। कालान्तर में सर्वोच्च न्यायालय ने निश्चित किया कि धारा 135 केवल उन मामलों के प्रति लागू होती है, जो 26 जनवरी, 1950 से पूर्व प्रेषित किये गए थे पर संविधान लागू होने तक निपटाये नहीं जा सके थे।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अधीन संघीय न्यायालय किसी दीवानी मामले में केवल 10,000 रुपये तक की राशि के मामलों की सुनवाई कर सकता था, पर धारा 133 के अनुच्छेद (1) (क) के अधीन सर्वोच्च न्यायालय दीवानी वाद को केवल तभी सुनवाई के लिए स्वीकार कर सकता है जब वाद की राशि कम से कम 20,000 रुपये हो। धारा 135 सर्वोच्च न्यायालय को 10,000 रुपये तक के केवल ऐसे वाद निपटाने के लिए बनाई गई थी, जो 26 जनवरी, 1950 से पहले प्रेषित किये जा चुके थे। अतः यह प्रावधान केवल अस्थायी (transitory) था।

परामर्श क्षेत्राधिकार
(Advisory Jurisdiction)

सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श देने का क्षेत्राधिकार है। संविधान की धारा 143 (1) में निर्दिष्ट किया गया है कि किसी समय यदि राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि विधि अथवा तथ्य सम्बन्धी कोई ऐसा प्रश्न उठ खड़ा हुआ है या होने की सम्भावना है, जिसकी प्रकृति एवं सार्वजनिक महत्त्व के कारण उसके विषय में सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श लेना हितकर होगा, तो वे उस प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय के विचारार्थ भेज सकते हैं। न्यायालय उस पर यथावश्यक सुनवाई के पश्चात् राष्ट्रपति को अपना मत प्रतिवेदित कर सकता है। उसी धारा के अनुच्छेद (2) के अनुसार राष्ट्रपति किसी भी ऐसे मामले को सर्वोच्च न्यायालय के विचारार्थ भेज सकते हैं, जो धारा 131 के अनुसार उनके क्षेत्राधिकार में नहीं था। न्यायालय को यथावश्यक सुनवाई के पश्चात उस पर अपना मत प्रतिवेदित करना होता है।

यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के लिए धारा 143 अनुच्छेद (2) के अन्तर्गत पूछे गए प्रश्न पर अपना मत प्रतिवेदित करना अनिवार्य होगा, पर अनुच्छेद (1) के अन्तर्गत पूछे गए प्रश्न पर इस प्रकार की अनिवार्यता लागू नहीं होगी क्योंकि अनुच्छेद (1) में शब्द "कर सकता है" प्रयुक्त किये गए हैं पर अनुच्छेद (2) में "करना होता है" प्रयुक्त किये गए हैं। इसके अतिरिक्त केरल शिक्षा विधेयक, 1957 के सम्बन्ध में मुख्य न्यायाधीश दास ने विचार व्यक्त किया था कि किसी विशेष मामले में उचित कारणों से, सर्वोच्च न्यायालय किसी प्रश्न पर अपना मत देने से इन्कार कर सकता है। यदि लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या उसके किसी सदस्य की दुर्व्यवहार के कारण अपने पद से हटाने की आवश्यकता प्रतीत हो तो राष्ट्रपति द्वारा उसके लिए सर्वोच्च न्यायालय का मत प्राप्त करना अनिवार्य होता है और सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की धारा 145 में निर्धारित कार्य विधि के अनुसार आवश्यक जाँच [धारा 317(1)] करके अपना मत अवश्य देना होता है।

विधिक सिद्धान्त (legal theory) में सर्वोच्च न्यायालय का मत केवल परामर्शक होता है और राष्ट्रपति उस पर आचरण के लिए बाध्य नहीं होते, किन्तु वास्तविक व्यवहार में, गम्भीर मतभेद के प्रश्नों पर उसके मत में अत्यन्त बाध्यतापूर्ण शक्ति होती है, तथा विधिक दृष्टिकोण से वही अन्तिम प्रामाणिक शब्द होते हैं। यदि किन्हीं राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से सर्वोच्च न्यायालय का मत स्वीकार न किया जा सकता हो, तो भी उसका बहुत आदर व सम्मान होता है। सार्वजनिक भावना उत्तेजित होने पर भी सर्वोच्च न्यायालय को उसके द्वारा प्रघोषित किसी मत के लिये सामान्य आलोचना या राजनीतिक मतभेद का भाजन नहीं बनाया जा सकता।

सर्वोच्च न्यायालय का मत केवल तभी माँगा जाना चाहिए, जब वास्तविक मतभेद विद्यमान हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय तथा आस्ट्रेलिया में उच्च

न्यायालय गौण विधिक अथवा काल्पनिक प्रश्नों पर विचार व्यक्त नहीं करते। किन्तु इंग्लैण्ड में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सम्राट द्वारा भेजे गए प्रत्येक प्रश्न पर अपना परामर्श दे।

वर्तमान संविधान लागू होने के समय से राष्ट्रपति ने अनेक बार सर्वोच्च न्यायालय का मत प्राप्त किया है—केरल शिक्षा विधेयक, 1957, दिल्ली राज्य विधि अधिनियम 1912 तथा विदेशी राज्य से घिरे इलाकों के आदान-प्रदान (वेरुवारी संघ) सम्बन्धी भारत-पाक समझौता, 1969, अजमेर-मेरवाड़ा (विधि के प्रवर्तन का क्षेत्र-विस्तारण) अधिनियम, 1947 तथा भाग 'ग' राज्य (विधि) अधिनियम, 1950। उत्तर प्रदेश विधान सभा और इलाहाबाद उच्च न्यायालय के बीच क्षेत्राधिकार सम्बन्ध मतभेद, जिसके कारण गम्भीर संवैधानिक संकट उठ खड़ा हुआ था, राष्ट्रपति द्वारा धारा 143 के अन्तर्गत हल ढूंढने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को भेजा गया था।[4] मई 1974

[4]See A. I. R., 1958, S. C. 956, p. 964. Also see V. N. Shukla, *Constitution of India*, 3rd edition, 1960, p. 226.

संक्षेप में यह घटना इस प्रकार थी कि विधान सभा ने भारतीय समाजवादी दल के एक सदस्य केशव सिंह के विरुद्ध सदन की मर्यादा भंग करने के आरोप में गिरफ्तारी के वारंट जारी किये थे क्योंकि उसने एक इश्तिहार '**नरसिंह पाण्डे के काले कारनामों का भण्डाफोड़**' शीर्षक से प्रकाशित करके वितरित किया था जिसमें विधान सभासद श्री पाण्डे के विरुद्ध अपमानजनक दोषारोपण का आरोप था। इस वारंट पर आचरण करते हुए सदन के मार्शल ने केशव सिंह को गोरखपुर में गिरफ्तार करके 14 मार्च, 1964 को विधान सभा में प्रस्तुत किया। सदन के अध्यक्ष के प्रश्न पूछने पर केशव सिंह ने उत्तर देने से इन्कार कर दिया, जिससे उसने सदन के प्रति अनादर व्यक्त किया। इस पर मुख्य-मन्त्री सुचेता कृपलानी ने केशव सिंह को सदन की फटकार सुनने के लिए उपस्थित न होकर सदन का निरादर प्रकट करने के आरोप में 7 दिन के कारावास का दंड देने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे सदन ने पारित कर दिया (मार्च 14)।

उस पर केशव सिंह ने अपने एडवोकेट वी० सोलोमन द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ शाखा में एक याचिका प्रस्तुत करके उपर्युक्त दण्ड की वैधता को चुनौती दी। उसकी याचिका विचाराधीन रखी गई। स्पीकर को नोटिस जारी कर दिया गया और केशव सिंह की याचिका की सुनवाई होने तक उसे छोड़ दिये जाने का आदेश दिया गया। विधान सभा ने 21 मार्च को एक प्रस्ताव पारित किया कि जिन दो न्यायाधीशों ने केशव सिंह की याचिका विचारार्थ स्वीकार की, उन्होंने तथा एडवोकेट सोलोमन ने सदन का अपमान किया है अतः केशव सिंह को तुरन्त वन्दी बना कर अपने कारावास की शेष अवधि के लिए लखनऊ की डिस्ट्रिक्ट जेल में रखा जाये, और दोनों न्यायाधीशों को वन्दी बना कर सदन में प्रस्तुत किया जाये। इस प्रस्ताव के अनुसार स्पीकर ने 23 मार्च को दोनों न्यायाधीशों तथा एडवोकेट की गिरफ्तारी के वारंट जारी कर दिये।

उसी दिन दोनों न्यायाधीशों ने उच्च न्यायालय में, धारा 226 के अन्तर्गत याचिका दी और उच्च न्यायालय के 28 न्यायाधीशों की एक बैठक द्वारा स्पीकर को नोटिस देकर न्यायाधीशों की गिरफ्तारी के वारण्ट जारी करने से रुकने का आदेश दिया गया। 25 मार्च को उच्च न्यायालय द्वारा सोलोमन की भी एक याचिका स्वीकार की जिसमें स्पीकर को 21 मार्च का प्रस्ताव क्रियान्वित करने से रोकने की प्रार्थना की गई थी और यह भी प्रार्थना की गई थी कि सदन के स्पीकर पर न्यायालय की मान-हानि का अभियोग लगाया जाये। उच्च न्यायालय ने स्पीकर को, यदि जारी कर दिया हो तो, वारण्ट

में राष्ट्रपति ने इस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श की माँग की कि 24 अगस्त, 1974 से पूर्व जो राष्ट्रपति का निर्वाचन होना था, वह गुजरात असेम्बली भंग रहते हुए भी हो सकता है अथवा नहीं।

सर्वोच्च न्यायालय की परिमितताएँ (Limitations upon the Supreme Court)

एक ओर जहाँ संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को विशाल एवं विस्तृत क्षेत्राधिकार प्रदान किये गए हैं, दूसरी ओर उस पर कुछ परिमितताएँ भी निर्धारित की गई हैं। किसी ऐसी संधि, करार, संविदा, नियुक्ति, सनद इत्यादि के प्रावधानों से उत्पन्न विवाद

के कार्यान्वयन से रुकने का आदेश दिया, तथा उत्तर-प्रदेश सरकार तथा सदन के मार्शल को उस वारण्ट पर अमल न करने का आदेश दिया।

25 मार्च को विधान सभा ने एक प्रस्ताव पारित किया कि गिरफ़्तारी के वारण्ट वापस ले लिए गए हैं, पर दोनों न्यायाधीशों को सदन की विशेषाधिकार समिति के सम्मुख उपस्थित होकर सदन के अपमान के आरोप का उत्तर देना होगा। अगले दिन न्यायाधीशों ने उच्च न्यायालय में और याचिकाएँ प्रेषित कर के पिछले दिन के विधान सभा प्रस्ताव को रद्द करने की माँग की। इन याचिकाओं की सुनवाई के लिए 27 मार्च की तिथि निश्चित कर दी गई।

जिस दिन ये याचिकाएँ प्रेषित की गईं (26 मार्च), उसी दिन राष्ट्रपति ने धारा 143 के अधीन, निम्नलिखित पाँच प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय की राय के लिए भेजे :

(1) क्या दोनों न्यायाधीशों द्वारा केशव सिंह की वह याचिका सुनवाई के लिए स्वीकार करना जिसमें उसे विधान सभा द्वारा उसका अपमान करने के आरोप में दिये गए कारावास के दण्ड की वैधता को चुनौती दी गई थी, और केशव सिंह को ज़मानत पर छोड़ना, उनकी क्षमता में था ?

(2) क्या केशव सिंह के याचिका प्रस्तुत करने, सोलोमन के वह याचिका उच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने के, तथा दोनों न्यायाधीशों के वह याचिका सुनवाई के लिए स्वीकार करने तथा केशव सिंह को ज़मानत पर छोड़ने का आदेश देने से, विधान सभा का अपमान हुआ ?

(3) क्या सदन द्वारा दोनों न्यायाधीशों एवं एडवोकेट की गिरफ़्तारी का आदेश देना तथा अपनी मानहानि के लिए उनसे सफाई माँगना विधान सभा की क्षमता में था ?

(4) क्या इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूरी बैठक द्वारा दोनों न्यायाधीशों की याचिका की सुनवाई करना तथा स्पीकर को विधान सभा के आदेश को क्रियान्वित न करने का आदेश देना, उनकी क्षमता में था ?

(5) क्या कोई उच्च न्यायालय का न्यायाधीश जब कोई ऐसी याचिका सुनवाई के लिए स्वीकार करे या उसका निपटारा करे, जिसमें प्रेषक ने उस पर विधान मंडल द्वारा अपनी मानहानि अथवा अन्य विशेषाधिकारों या प्रतिरक्षिति इत्यादि की मर्यादा भंग करने के लिये उसे दिये गए दण्ड को चुनौती दी हो, तो वह विधानमंडल की मानहानि का दोषी माना जायेगा ?

सर्वोच्च न्यायालय ने परामर्श दिया कि जब किसी ऐसे व्यक्ति पर सदन की मानहानि का आरोप हो, जो विधान सभा का सदस्य नहीं है, तो उच्च न्यायालय ऐसी याचिका की सुनवाई कर सकता है जिसमें विधानमंडल के आदेश को चुनौती दी गई हो।

न्यायालय ने यह निर्णय भी दिया कि जिस न्यायाधीश ने ऐसी याचिका पर कोई आदेश दिया उसने विधानमंडल की मानहानि नहीं की।

को, जो संविधान प्रवर्तित होने से पूर्व तय की गई हो और उसके पश्चात् भी प्रचलित रही हो, इस न्यायालय द्वारा विचार के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता । धारा 262(2) के प्रावधान के अनुसार संसद विधि द्वारा घोषित कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या अन्य किसी न्यायालय को अन्तर्राज्यीय नदियों के या नदी घाटियों के पानी के उपयोग, वितरण व नियंत्रण सम्बन्धी विवादों के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार नहीं होगा । इसी प्रकार धारा 363(1) में निर्दिष्ट किया गया है कि किसी भी ऐसी सन्धि, करार, नियुक्ति, सनद, या इसी प्रकार के अन्य प्रलेखों से उत्पन्न होने वाले विवादों पर सर्वोच्च न्यायालय व किसी भी अन्य न्यायालय का क्षेत्राधिकार नहीं होगा जो 26 जनवरी, 1950 से पूर्व किसी भारतीय राज्य के शासक द्वारा किये गए या क्रियान्वित किये गये हों तथा जिनमें भारतीय उपनिवेश की सरकार व उसकी कोई पूर्ववर्ती सरकार एक पक्ष के रूप में रही हो तथा जो उस तिथि (26 जनवरी, 1950) से प्रचालित रहे हों । धारा 33 के अधीन संसद संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त अधिकारों को सशत्र सेनाओं के प्रति अथवा सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने की प्रभारी सेना के प्रति प्रवर्तन में प्रतिबन्धित या रद्द कर सकती है तथा सर्वोच्च न्यायालय उन अधिकारों को वापस दिलाने के लिये कोई रिट, निदेश या आदेश ज़ारी नहीं कर सकता तथा ऐसे किसी प्रतिबन्ध या रद्द करने के आदेश की जाँच नहीं कर सकता ।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार (Enlargement of Supreme Court Jurisdiction)

धारा 138 (1) द्वारा संसद को संघीय सूची के किसी भी विषय के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को अतिरिक्त क्षेत्राधिकार एवं क्षमता प्रदान करने का अधिकार दिया गया है । यह क्षेत्राधिकार मौलिक भी हो सकता है और अपीलीय भी । उदाहरणतया संसद सर्वोच्च न्यायालय को भारत सरकार तथा किसी भी अन्य देश की सरकार के साथ की गई सन्धियों, विशेषत: प्रत्यर्पण संधि (extradition treaty) से उत्पन्न होने वाले मामलों के निर्णय करने का अधिकार दे सकती है ।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि सभी न्यायालयों के लिए अनिवार्यत: प्रवर्तनीय (Law Declared by Supreme Court Binding on All Courts)

संविधान की धारा 141 में निर्धारित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत की सीमा के भीतर सभी न्यायालयों द्वारा अनिवार्यत: प्रवर्तनीय होता है । किन्तु यह प्रावधान सर्वोच्च न्यायालय पर लागू नहीं होता क्योंकि यदि वह पहले किए गए निर्णय को त्रुटिपूर्ण समझता हो अथवा वह सामान्य लोकहित के प्रतिकूल प्रतीत हो तो उसे अपने पूर्व-निर्णय को संशोधित या रद्द करने का अधिकार अवश्य होगा । इस विषय पर भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एस०आर०दास ने बंगाल इम्यू-

निटि कम्पनी बनाम बिहार राज्य के वाद में निर्णय दिया था।[5] इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के जिस निर्णय में विधि का कोई महत्त्वपूर्ण विषय सिद्ध होता है वह सभी अधीनस्थ न्यायालयों के लिए अनिवार्यत: अनुकरणीय होता है पर जिन फैसलों में कोई बात केवल सामान्य रूप से कही गई हो, वे इतने अधिक प्रभावी रूप से अनुकरणीय नहीं होते, पर उनका सम्मान करना आवश्यक होता है। किसी मामले के निर्णय में भाग लेते समय कोई न्यायाधीश कोई मत व्यक्त कर सकता है, पर हो सकता है कि वह मत अन्तिम निर्णय में सम्मिलित न हो। ऐसी स्थिति में वह मत अनिवार्यत: अनुकरणीय नहीं होगा।

सर्वोच्च न्यायालय की डिक्रियों व आदेशों को लागू करने तथा विवृत्ति के आदेश (Enforcement of Decrees and of Orders Supreme Court and Orders as to Discovery)

अपने विचाराधीन अभियोगों व अन्य मामलों के न्याय के लिए सर्वोच्च न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार एवं सामर्थ्य के प्रवर्तन में यथावश्यक आदेश या डिक्री पारित कर सकता है, जोकि सारे देश में प्रवर्तनीय होते हैं। सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी व्यक्ति को बुलाकर उपस्थित कराने, किन्हीं प्रलेखों इत्यादि को विवृत्त या प्रस्तुत (discovery or production) कराने एवं अपनी मानहानि के आरोप की जाँच कराने व सज़ा देने का पूर्ण अधिकार है।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णयों व आदेशों का पुनरीक्षण (Review of Judgements or Orders by the Supreme Court)

संविधान के निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए आदेशों व निर्णयों का स्वयं उसी के द्वारा पुनरीक्षण का प्रावधान किया है (धारा 137)। यह अधिकार प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति या संघीय न्यायालय को नहीं होता था, पर सर्वोच्च न्यायालय तीन परिस्थितियों में ऐसा कर सकता है : (i) किसी नए तथ्य या महत्त्वपूर्ण साक्ष्य के प्रकाश में आने पर, (ii) किसी स्पष्ट अशुद्धी अथवा त्रुटि इत्यादि के प्रकट होने पर, तथा (iii) किसी भी अन्य पर्याप्त कारण से। सर्वोच्च न्यायालय को को यह अधिकार इस लिए दिया गया गया है कि वह किसी भी निर्णय को, जो ग़लत निकले, ठीक कर सके। पुनरीक्षण, मूलत: जितने न्यायाधीशों की बैठक द्वारा निर्णय दिया गया हो, उससे अधिक न्यायाधीशों की बैठक द्वारा किया जाता है। गोलक नाथ (1967) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय में संकरी प्रसाद व सज्जन सिह के मामलों में दिया गया स्वयं अपना निर्णय पुनरीक्षण करके निरसित कर दिया। संकरी प्रसाद के मामले में प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम की वैधता को चुनौती दी गई थी

[5]विस्तृत वृत्तान्त के लिए देखो, A.I.R., 1955, S.C. 631, p, 672.

जिसके द्वारा धारा 31 के बाद धाराएँ 31क व 31ख जोड़ी गई थीं तथा न्यायालय ने निर्णय दिया था कि संसद को संविधान के भाग III को संशोधित करने का अधिकार है। न्यायालय की धारणा यह थी कि धारा 13(2) में शब्द "विधि" का अर्थ विधायक अधिकारों (legislative powers) द्वारा बनाई गई विधि से है, संविधायक अधिकारों (constituent powers) द्वारा बनाए गए संविधान विधि (constitutional law) से नहीं। निर्णय दिया गया कि धारा 368 में संविधायक शक्ति प्रदत्त है जोकि सर्वोच्च एवं प्रभुसत्तात्मक है तथा उस पर धारा 13(2) प्रवर्तनीय नहीं है जिसमें मूल अधिकार छीनने या संकीर्ण करने के आशय के साधारण विधि बनाने की मनाही की गई है।

सज्जन सिंह के मामले में, सत्रहवें संविधान (संशोधन) अधिनियम को, जिससे धारा 13, 14 व 31 पर आक्षेप होता था और पंजाब के भूमि पट्टा सुरक्षा अधिनियम तथा मैसूर के भूमि सुधार अधिनियम की संरक्षा होती थी, चुनौती दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत द्वारा निर्णय दिया कि धारा 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति में मूल अधिकारों को छीन लेने का अधिकार भी सम्मिलित है, कि संशोधन का अधिकार बहुत विस्तृत अधिकार है जिसका परिक्षेत्र "संशोधन" शब्द के शब्दार्थ मात्र से कहीं अधिक है, तथा जिसमें धारा 368 के अन्तर्गत किया गया संविधान संशोधन सम्मिलित नहीं होता।

किन्तु गोलक नाथ वाले मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि संसद को उस तिथि से संविधान के तीसरे भाग को संशोधित करने का कोई अधिकार नहीं था। संसद का संविधान में संशोधन करने का अधिकार तो स्वीकार किया गया पर कहा गया कि संविधान को इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता कि मूल अधिकार ही छीन लिए जायें या क्षीण कर दिए जाएं। अत: न्यायालय ने फैसला दिया कि जहाँ तक धारा 13 (2) में प्रदत्त मूल अधिकारों को छीनने वा क्षीण करने का प्रश्न है, सत्रहवाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम प्रभावशून्य है। इस निर्णय को इसके घोषित किए जाने की तिथि, अर्थात 27 फरवरी, 1967 से प्रवर्तित करने का आदेश दिया गया, अतः प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संविधान (संशोधन) अधिनियम वैध बने रहे।

मूल अधिकार प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय का रिट आदेश जारी करने का अधिकार (Supreme Court's Power to Issue Writs to Enforce Fundamental Rights)

सर्वोच्च न्यायालय का एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक अधिकार भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना है। संविधान के तीसरे भाग की धाराओं 14 से 31 तक में विविध अधिकारों को सूचीबद्ध किया गया है और उसी भाग की धारा 32 में उन अधिकारों को प्रवर्तित करने के उपाय बताए गए हैं। अनुच्छेद (1) में सर्वोच्च न्यायालय में याचिका देने का अधिकार दिया गया है और खण्ड धारा (2)

में निर्दिष्ट किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय को **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** (habeas corpus), **परमादेश या परमलेख** (mandamus), **प्रतिषेध** (prohibition), **अधिकार पृच्छा** (quo warranto), तथा **उत्प्रेषण** (certiorari), सहित जो भी रिट किसी प्रदत्त अधिकार को प्रवर्तित कराने के लिए उचित हो तत्सम्बन्धी आदेश या निदेश देने का अधिकार होना चाहिए।[6] अनुच्छेद (4) में निर्दिष्ट किया गया है कि धारा 33 में बताई गई रीति के अतिरिक्त, जिसमें "भाग III में प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन का संकट की स्थिति में निलम्बन" का पार्श्व शीर्षक दिया गया है, सर्वोच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार निलम्बित नहीं किया जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय धारा 32 के अनुच्छेद (2) के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य के लिए निदेश,

[6]बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (writ of habeas corpus) "किसी जेलर...या अन्य व्यक्ति के लिए, रोके गए व्यक्ति को मुक्त करने का पर्याप्त आदेश है। यह उस समय जारी किया जाता है जब किसी व्यक्ति द्वारा प्रार्थना की जाए कि उसे विधि द्वारा निर्धारित कार्य-विधि अथवा पर्याप्त कारण के बिना कारावास में डाल दिया गया है। जेलर या अन्य प्राधिकारी को कारण बताने के लिए आदेश दिया जाता है, कि रोके गये व्यक्ति को मुक्त क्यों न कर दिया जाये और यदि सन्तोषजनक कारण न बताया जा सके तो उसे मुक्त करने का आदेश दे दिया जाता है।

परमलेख (writ of mandamus) आवेदनकर्त्ता को किसी सरकारी अधिकारी या उच्च कर्मचारी द्वारा अपना विधिक कर्तव्य पूरा करा कर, उस के वैध अधिकार या दावे की रक्षा प्रदान करने के लिए जारी किया जाता है। जब किसी सहकारी विभाग, न्यायाधिकरण, बोर्ड, अथवा वैधानिक या प्रशासनिक प्राधिकारी द्वारा अपना कर्तव्यपालन न करने के कारण आवेदनकर्ता को किसी प्रकार की हानि होती हो तो रिट द्वारा उपर्युक्त विभाग इत्यादि को अपने कर्तव्य पालन का आदेश दिया जाता है।

प्रतिषेध लेख (writ of prohibition) तब जारी किया जाता है, जब कोई प्रशासनिक प्राधिकारी जिसे प्रतिभासित न्यायिक क्षमता (quasi judicial power) प्राप्त हो अथवा कोई न्यायिक प्राधिकारी अपने अधिकार-क्षेत्र से बढ़ कर ऐसे अधिकारों का उपयोग करने का प्रयत्न करे जो वस्तुत: उसे प्राप्त न हो। रिट का यह प्रभाव होता है कि प्रतिवादी प्राधिकारी उस मामले में आगे कार्रवाई करने से रुक जाता है। ऐसा आदेश विचाराधीन मामले में अंतिम आदेश दिये जाने से पहले प्राप्त कर लेना होता है।

अधिकार पृच्छा लेख (writ of quo warranto) यह घोषित करने के लिए जारी किया जाता है कि प्रतिवादी जिस पद पर आसीन है अथवा जो सुविधा ले रहा है, उसका वास्तविक अधिकारी नहीं है। इस कार्रवाई में न्यायालय यह जाँच करता है कि प्रतिवादी अपने पद का अधिकारी है या नहीं, किन्तु वह पद कोई सरकारी पद अर्थात विधि द्वारा स्थापित पद होना चाहिए और उस पर नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा व किसी राज्य के गवर्नर द्वारा की गई होनी चाहिए। ऐसा आदेश केवल उसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिसे प्रतिवादी के कृत्य से व्यक्तिगत हानि हुई हो या होने की संभावना हो।

उत्प्रेषण लेख (writ of certiorari) किसी अधीनस्थ न्यायालय या प्रशासनिक प्राधिकारी द्वारा, जो प्रतिभासित न्यायिक क्षमता प्रवर्तित करता हो, की गई गलती या क्षेत्राधिकार के दुरुपयोग को ठीक करने के लिए जारी किया जाता है। जब कार्य-विधि अथवा क्षेत्राधिकार के विषय में कोई अवैधता या अनियमितता प्रत्यक्षत: सिद्ध हो जाये तो यह लेख (रिट) जारी किया जाता हैं। इसका यह प्रभाव होता है कि अवैध आदेश निरसित हो जाता है। अपने इस कृत्य द्वारा सर्वोच्च न्यायालय पुनरीक्षक की बजाय केवल अधीक्षण कार्य-भाग सम्पन्न करता है।

आदेश या किसी भी प्रकार का रिट जारी कर सकता है। किन्तु वह ऐसा तभी कर सकता है, जब संसद उसे विधि द्वारा यह क्षमता प्रदान करे (139)। सर्वोच्च न्यायालय अपने सामने चुनौती दिए जाने पर किसी भी ऐसे परिनियम, नियम, आदेश, या अधिसूचना को रद्द कर सकता है, जिसमें मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता हो।

सर्वोच्च न्यायालय तथा न्यायिक पुनरीक्षण
(Supreme Court and Judicial Review)

सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरीक्षण की क्षमता से उसकी शक्ति व महिमा का सर्वोत्तम परिचय प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय को सरकार के विधायक एवं कार्यकारी अंगों के आदेशों एवं कार्यों के पुनरीक्षण का अधिकार होता है तथा उनसे प्रभावित व्यक्ति द्वारा चुनौती दिये जाने पर यदि वे संविधान के अनुरूप न हों तो सर्वोच्च न्यायालय उन्हें प्रभावशून्य घोषित कर सकता है।[7] सर्वोच्च न्यायाल के इस अधिकार का यह भी अर्थ है कि यदि ये दोनों अंग कभी किसी प्रकार अपने उस प्राधिकार की सीमा का उल्लंघन करने का प्रयत्न करें जो—देश के मूल विधि—संविधान द्वारा उन्हें दिया गया है, तो उन्हें टोक कर उनकी परिमितता वता दी जाये। विधायक एवं प्राधिकारी परिसीमा को यथासंभव स्पष्ट शब्दों में परिभाषित करके लिपिबद्ध कर रखना भी आवश्यक करार दिया गया ताकि सर्वोच्च न्यायालय अपने उपरोक्त कर्त्तव्यपालन में किसी प्रकार की दुर्भावना या प्रतिकूलता का प्रवर्तन न कर सके। इसके लिए एक लिखित संविधान आवश्यक था जो दृढ़ भी हो, अर्थात् कार्यपालिका उसे विधान मण्डल के साथ मिलकर सुगमतापूर्वक परिवर्तित न कर सके। यदि ऐसा न होता तो संविधान सामयिक शासकों के हाथों की कठपुतली वन कर रह जाता और सर्वोच्च न्यायालय के लिए उसके प्रावधानों की रक्षा करना तथा यह निश्चित करना कि कार्यपालिका एवं विधानमण्डल के कार्य संविधान के अनुसार अनुज्ञेय (permissible) हैं अथवा नहीं, असंभव होता।

न्यायिक पुनरीक्षा की पद्धति उस देश में अधिक अच्छी रहती है, जहाँ संघीय संविधान हो क्योंकि वहाँ सरकारी सत्ता संघ एवं संघटक इकाइयों के वीच विभाजित रहती है तथा सर्वोच्च न्यायालय को उस सत्ता के प्रवर्तन सम्बन्धी विवाद निपटाने होते हैं। इस पद्धति के कारण मूल अधिकार निर्धारित करना भी आवश्यक होता है

[7]संविधान की धारा 226 में राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी भाग III में प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति निदेश, आदेश व लेख (रिट) जारी करने का अधिकार दिया गया है, जिसमें वन्दी प्रत्यक्षीकरण, परम लेख, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा एवं उत्प्रेषण, सभी लेख (रिट) सम्मिलित हैं। ऐसा लेख उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के प्रदेश की सीमाओं के भीतर ही जारी किया जा सकता है।

क्योंकि जब उन अधिकारों को छीना या कम किया जाये तो सर्वोच्च न्यायालय से उनकी रक्षा के लिए हस्तक्षेप करने का आग्रह किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय का कर्तव्य केवल यह देखना नहीं है कि सरकार अथवा राज्य के अंग अपने प्राधिकार की सीमा में रह कर कार्य करते हैं, वरन् उसे यह भी देखना होता है कि जनता ने संविधान के माध्यम से अपने लिए जो व्यवस्था की है वह उसका यथोचित उपभोग भी करती रहे।

अतः एक न्यायिक पुनरीक्षा पद्धति के निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व होंगे : लिखित सुदृढ़ संविधान, सत्ता के विभाजन सहित संघ प्रणाली, तथा मूल अधिकार।

ये सभी तत्त्व भारतीय संविधान में विद्यमान हैं पर इसमें कहीं भी "न्यायिक पुनरीक्षा" शब्द प्रयुक्त नहीं किये गए हैं, और न ही सर्वोच्च न्यायालय को इस दृष्टिकोण से कोई सीधा व स्पष्ट प्राधिकार दिया गया है। इस त्रुटि से कुछ व्यक्ति यह अर्थ निकालते हैं कि संविधान के विधाता सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे असाधारण अधिकार देना ही नहीं चाहते थे। किन्तु यह धारणा मिथ्या है। न्यायालय का यह प्राधिकार संविधान के अनेक प्रावधानों में अन्तर्मूर्त (inherent) है। उदाहरणतः धारा 13 में, जिसका पार्श्व शीर्षक "मूल अधिकारों से असंगत व अप्रतिष्ठाकारी विधि" है, निर्दिष्ट किया गया है कि संविधान के लागू होने से तुरन्त पहले तक भारत में जो विधि प्रवर्तित होते थे वे यदि संविधान के भाग III के असंगत हों तो असंगति की मात्रा के अनुसार प्रभावशून्य होंगे। उसी धारा के दूसरे अनुच्छेद में सरकार को ऐसा विधि निर्माण करने की मनाही की गई है जिसके द्वारा भाग III में प्रदत्त अधिकार छिनते या न्यून होते हों तथा निर्दिष्ट किया गया है कि यदि ऐसा कोई विधि बनाया जाये तो वह उपर्युक्त असंगति अथवा विपरीतता की मात्रा के अनुसार प्रभावशून्य होगा। खण्ड धारा (3) के अनुसार "विधि" की परिभाषा में ऐसे सभी अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, व्यवस्था, अधिसूचना, परम्परा एवं प्रथा इत्यादि सम्मिलित होंगे जो भारत में विधि के समान प्रयुक्त होते हों। इन सभी विषयों के सम्बन्ध में निर्णय करने की सामर्थ्य एवं क्षमता सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त किसी में नहीं हो सकती थी और न ही अब भी है। इसके अतिरिक्त धारा 246(2) में निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल को राज्य विधान सूची के प्रत्येक विषय पर विधि निर्माण करने का एकाधिकार होता है अर्थात यदि संकट या आपात्कालीन स्थिति के अतिरिक्त किसी समय केन्द्रीय संसद किसी राज्य सूची के विषय पर विधि बना दे तो वह प्रभावशून्य माना जाये। इसका निर्णय भी केवल सर्वोच्च न्यायालय ही कर सकता है।

धारा 251 में निर्दिष्ट है कि यदि राज्य सूची के किसी विषय पर धारा 249 (राष्ट्रीय हित में) के अधीन तथा धारा 250 (आपत्कालीन स्थिति में) केन्द्रीय संसद द्वारा विधि निर्माण किया जाये और वह उसी विषय पर केन्द्रीय संसद से पहले अथवा बाद में राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाए गए विधि के विपरीत हो तो राज्य विधानमण्डल

द्वारा बनाया गया विधि विपरीतता की परिसीमा तक प्रभावशून्य होगा। राज्य विधान-मंडल द्वारा बनाए गए कोई विधि किसी संसदीय विधि के विपरीत हैं अथवा नहीं, यह निर्णय करना सर्वोच्च न्यायालय का ही कर्तव्य है। इसी प्रकार धारा 254 में निर्दिष्ट है कि समवर्ती सूची के विषयों पर संसद द्वारा बनाए गए विधि तथा राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाए गए विधि में असंगति विद्यमान होने पर राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि केन्द्रीय संसद द्वारा बनाई गई विधि से विपरीतता की मात्रा के अनुसार प्रभावशून्य होंगे। इसका निर्णय भी सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार भारतीय शासन पद्धति के एक अंग के ही समान है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार को चुनौती
(Supreme Court's Power of Judicial Review Questioned)

गोलक नाथ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय (Supreme Court's Judgement in Golak Nath Case)

1950 से आरम्भ करके सर्वोच्च न्यायालय, संविधान की व्याख्या एवं केन्द्रीय संसद व राज्य विधान मंण्डलों द्वारा समय-समय पर बनाई गई विधि से सम्बन्धित सैकड़ों मामलों का निर्णय कर चुका है। उसने जब भी अपने न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार का उपयोग किया, उसे कभी चुनौती नहीं दी गई। किन्तु इसके द्वारा निर्णीत तीन मामलों—गोलक नाथ केस, बैंक राष्ट्रीयकरण केस, एवं प्रिवी पर्स केस—को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया और जनता द्वारा उनकी खूब आलोचना की गई। इनमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार को भी चुनौती दी गई। अतः इन मामलों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णयों पर पृथक्-पृथक् विचार करना उचित होगा।

गोलक नाथ केस—1950 से 1967 तक के वर्षों में भिन्न-भिन्न राज्यों के विधान मण्डलों ने देश भर में भूमि-सुधार कानून बना कर प्रवर्तित किये। ज़मींदारियों, इनाम तथा अन्य प्रकार के मध्यवर्ती सम्पत्ति-अधिकार (intermediate estates) समाप्त करके आसामियों को स्थायी अधिकार दे दिये गए, ग्रामों में भूमि की चकबन्दी कर दी गई, अधिकतम भूमि-धारिता निर्धारितकर दी गई तथा फालतू भूमि आसामियों को दे दी गई। यह सब सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1952 में संकरी प्रसाद के मामले में दिये गए निर्णय को उचित मानने के आधार पर किया गया अर्थात संसद को मौलिक अधिकारों में संशोधन का अधिकार है तथा सम्पत्ति सम्बन्धी अधिनियमों की इस आधार पर न्यायिक जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकती कि उनसे मौलिक अधिकारों का हनन होता है। इस निर्णय की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1965 में सज्जन सिंह वाले केस में पुनः पुष्टि की गई।

हैनरी गोलक नाथ का 30 जुलाई, 1953 को देहान्त हो गया। 1966 में उसके पुत्र, पुत्री एवं पौत्रियों ने सर्वोच्च न्यायालय में पंजाब राज्य एवं पंजाब के वित्त आयुक्त के विरुद्ध रिट याचिका प्रेषित की। वित्त आयुक्त ने जालंधर मण्डल के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश के पुनरीक्षण में 22 जनवरी, 1962 को यह निर्णय दिया था कि 1953 के दसवें पंजाब भूमि अधिकार सुरक्षा अविनियम के अन्तर्गत वादियों के पास 418 एकड़ तथा 9¼ इकाई भूमि फालतू है। वादियों ने आरोप लगाया कि इस अधिनियम के वे प्रावधान, जिनके द्वारा उपरोक्त भूमि को फालतू बताया गया था, प्रभावशून्य थे क्योंकि उनसे संविधान की धारा 19 के अनुच्छेद (च) व (छ) तथा धारा 14 में प्रदत्त उनके अधिकारों की अवहेलना होती है। अत: उन्होंने धारा 32 के अधीन रिट याचिका प्रस्तुत करते हुए यह आवेदन किया कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 तथा संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1964 द्वारा उनके मौलिक अधिकारों पर कुप्रभाव पड़ता है, अतः उन्हें अवैधानिक एवं अप्रवर्तनीय घोषित किया जाए तथा उपरोक्त अधिनियम के सम्बन्धित प्रावधानों को संविधान की धारा 14 व 19(1)(च) एवं (छ) के प्रतिकुल होने के कारण प्रभावशून्य घोषित किया जाए।

कतिपय अन्य वादियों ने 1966 की याचिकाएँ नं० 202 व 203 प्रेषित करते हुए धारा 32 के अधीन आवेदन किया कि मैसूर भूमि-सुधार अधिनियम, जिसके द्वारा भू-सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई है तथा फालतू भूमि का स्वामित्व आसामियों को प्रदान कर दिया गया है, संविधान की धाराओं 14, 19 व 31 का हनन करता है, अतः उसे अवैधानिक एवं प्रभावशून्य घोषित किया जाए।

पंजाब व मैसूर राज्यों ने अन्य बातों के साथ-साथ यह तर्क प्रस्तुत किया कि उपरोक्त अधिनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उनसे मौलिक अधिकारों का हनन होता है क्योंकि संविधान (सत्रहवाँ) संशोधन अधिनियम, 1964 द्वारा संविधान की धारा 31क को संशोधित करके तथा उसकी नवीं अनुसूची में उपरोक्त दोनों अधिनियमों को सम्मिलित करके उन्हें चुनौती से सुरक्षित बना दिया गया है।

वादियों ने सत्रहवें संशोधन की वैधानिकता को चुनौती दी, जिसकी सुनवाई के लिए मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव के नेतृत्व में ग्यारह न्यायाधीशों का एक विशेष न्यायासन स्थापित किया गया। याचिकाएँ रद्द कर दी गईं। किन्तु 27 फरवरी, 1967 को बहुमत-निर्णय सुनाते हुए न्यायाधीश के० सुब्बाराव ने (अपनी तथा न्यायाधीश जे० सी० शाह, एस० एम० सीकरी, जे० एम० शैलेट तथा सी० ए० वैद्यलिंगम् की ओर से) निर्णय दिया कि :

(1) संसद को संविधान में संशोधन करने की क्षमता धारा 368 से नहीं वरन् धाराओं 245, 246 व 248 से प्राप्त होती है। धारा 368 में केवल कार्य-विधि बताई गई है, जबकि संशोधन एक विधानकारी प्रक्रिया है।

(2) संविधान की धारा 13 के तात्पर्य के अन्तर्गत संशोधन एक 'विधि' है, अतः यदि उसके द्वारा भाग III में प्रदत्त (मौलिक अधिकार) अधिकारों का हनन या संक्षेप होता हो तो वह प्रभावशून्य होगा।

(3) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 तथा संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1964 से मौलिक अधिकारों का हनन होता है, पर वे इस न्यायालय द्वारा पहले दिये गए निर्णयों—संकरी प्रसाद केस 1952 तथा सज्जन सिंह केस 1965 के आधार पर वैध हैं।

(4) आपेक्षी प्रति व्यवस्था (doctrine of prospective over-ruling) के सिद्धान्त के प्रवर्तन द्वारा हमारा निर्णय केवल भविष्य में प्रवर्तित होगा, अतः उपरोक्त संशोधन वैध बने रहेंगे।

(5) हम घोषित करते हैं कि इस निर्णय की तिथि—27 फरवरी, 1967—से संसद को संविधान के भाग III के प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन करने का अधिकार नहीं होगा जिससे उसमें सुरक्षित मौलिक अधिकार छिनते या संक्षिप्त होते हों।[8]

(6) क्योंकि संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम यथावत् रहेगा, अतः दोनों विखण्डित अधिनियमों—पंजाब भूमि अधिकार सुरक्षा अधिनियम, 1953 व मैसूर भूमि संशोधन अधिनियम, 1962 के 1965 के अधिनियम XIV द्वारा संशोधित रूप—को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उनसे संविधान की धाराओं 13, 14 एवं 37 को आघात पहुँचता है।[9]

अपने प्रमुख निष्कर्ष के समर्थन में, कि संसद संविधान में ऐसे संशोधन नहीं कर सकती जिससे कोई मौलिक अधिकार छिनते या संक्षिप्त होते हों, मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने अपने निर्णय में तथा पदत्याग के पश्चात् अपने सार्वजनिक भाषणों इत्यादि में अनेक तर्क प्रस्तुत किये। इनमें से प्रथम यह तर्क था कि सत्रह वर्ष की अवधि में ही संविधान को इक्कीस बार संशोधित किया जा चुका है, तथा संसद ने देश में एकतन्त्रीय पद्धति आरम्भ कर दी है, जिससे स्वतन्त्रता पंगु हो गई है, विधान के अनुसार शासन नहीं होता तथा संविधान की विचार-पद्धति नष्ट हो गई है।

[8]देश के कृषि-भूमि सम्बन्धी ढाँचे में विविध कानूनों के आधार पर आमूल परिवर्तन किये गए थे। न्यायाधीशों ने कहा कि "यदि अब हम अपने निर्णयों को किसी पूर्व-तिथि से प्रवर्तित करायें तो उससे हमारे देश में अव्यवस्था फैल जायेगी तथा स्थिति खराब हो जायेगी। यदि हम यह निर्णय दें कि उपरोक्त परिणामों के कारण संसद को मौलिक अधिकार छीनने का अधिकार है तो ऐसा समय भी आ सकता है जब हम शनैः-शनैः, पर अनायास रूप से एकतन्त्रीय शासन के अधीन हो जायें। देखो *All India Reporter*, Supreme Court Acts Journal, Vol. 54, 1967, pp. 1665-6.

[9]इस केस के विस्तृत अध्ययन के लिए उसी पुस्तक में पृष्ठ 1643-1742 देखो। Institute of Parliamentary Studies का *Parliament and Constitutional Amendments* (National Publishing House, 1970) pp. 1-2 भी देखो।

सुब्बाराव का मत था कि "भविष्य में कोई भी मेधावी प्रधानमन्त्री, जिसे आवश्यक बहुमत प्राप्त हो, सारे मौलिक अधिकार छीनकर तानाशाह बन सकता है।" उनका कहना था कि इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जब किसी शक्तिशाली नेता ने "संसद को ही संविधान का विनाश करने के लिए प्रयुक्त किया।" न्यायाधीश सुब्बाराव ने यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि देश की "उच्चतर न्यायपालिका" को संविधान, मौलिक अधिकारों तथा विधानानुसार शासन का पुनरुद्धार करना चाहिए।

अपने निर्णय के समर्थन में सुब्बाराव ने दूसरा तर्क यह दिया कि संविधानकारी अधिकार एवं संशोधन अधिकार में अन्तर है। उन्होंने कहा कि संविधानकारी अधिकार तो जनता द्वारा प्रदत अधिकार है, जिसने संविधान सभा निर्वाचित की और उसे संविधान बनाने या उसमें परिवर्तन करने का काम सौंपा, पर संविधान सभा "उस संविधानकारी अधिकार को संविधान के आधीन बनाये गए किसी संस्थान को नहीं सौंप सकती।" संशोधन का अधिकार संसद को है पर वह इसका उपयोग केवल संविधान की परिसीमा के भीतर ही कर सकती है तथा उसमें सुरक्षित कतिपय अध्यायों तथा नीतियों में परिवर्तन नहीं कर सकती। न्यायमूर्ति राव ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब तक सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्णय विद्यमान है, संसद उससे बंधी हुई है पर यदि सरकार को आपत्ति है तो वह एक अन्य वाद प्रस्तुत करके उसके औचित्य को चुनौती देकर सर्वोच्च न्यायालय को अन्य दृष्टिकोण अपनाने के लिए राज़ी कर सकती है। यदि न्यायालय अपने दृष्टिकोण पर दृढ़ रहे तो सरकार संविधान की धारा 248 एवं सूची नं० 1 की मद 97 के अन्तर्गत जनमत संग्रह द्वारा जनता से निर्णय ले सकती है, कि सर्वोच्च न्यायालय ने संसद का जो अधिकार अस्वीकार कर दिया है, वह संसद को दिया जाये अथवा नहीं, और यदि हाँ तो क्या जनता सहमत होगी कि इस उद्देश्य के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा बुलायी जाये।[10]

सुब्बाराव का तीसरा तर्क यह था कि मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के "जन्म

[10]सुब्बाराव ने यह दृष्टिकोण Fundamental Rights Front के राष्ट्रीय सम्मेलन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए व्यक्त किया, जिसमें देश के विभिन्न भागों से लगभग 200 प्रतिनिधि आये थे। देखो *The Times of India*, New Delhi, 31 August, 1970। स्वतंत्र दल के अध्यक्ष एवं महासचिव क्रमशः एन० जी० रंगा और आर० सी० कपूर ने राव के दृष्टिकोण का समर्थन किया। इसी उद्धरण में, एक विख्यात वकील एन० ए० पालखीवाला ने कहा कि यदि मौलिक अधिकारों की अवहेलना की गई तो वह संविधान का "रूप विगाड़ने" और उसकी स्वाधीन प्रजातंत्र की आधारभूत परिकल्पना को "दूषित करने" के समान होगा। *Parliament and Constitutional Amendments*, pp. 19-27 भी देखो। विस्तृत अध्ययन के लिए एस० एन० रे की पुस्तक *Judicial Review and Fundamental Rights* (Eastern Law House, Calcutta, 1974) देखो।

सिद्ध अधिकार" होते हैं और संविधान में "सर्वश्रेष्ठ" होते हैं। उनकी रक्षा करना सर्वोच्च न्यायालय का कर्तव्य होता है। निस्सन्देह, संविधान उन पर प्रतिबंध लगाने की अनुमति देता है पर सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह यह देखे कि जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे उचित एवं न्यायसंगत है अथवा नहीं। राव ने आगे कहा कि यदि कोई व्यक्ति किसी मुकदमे में लाभ उठाने के लिए अपने मौलिक अधिकारों का परित्याग करना चाहे, तो भी, सतर्क न्यायालय को उसे ऐसा नहीं करने देना चाहिए क्योंकि स्वयं उसके विरुद्ध भी उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा करना न्यायालय का कर्तव्य है।

न्यायमूर्ति राव ने यह भी कहा कि भारतीय राजनीतिक पद्धति में संसद नहीं, संविधान सर्वश्रेष्ठ है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति चार्ल्स ह्यूजिज़ (Crles Hughes) ने एक बार कहा था कि संविधान की सही व्याख्या न्यायाधीश कर सकते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की जनता द्वारा आलोचना (Public Criticism of the Supreme Court Judgement)

गोलकनाथ वाद में सुब्बाराव के निर्णय तथा उसमें समर्थन में दिये गये तर्क के प्रति इस दृष्टिकोण के विरोधों में तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई। लोक सभा के एक प्रजा सोशलिस्ट सदस्य नाथ पै ने 7 अप्रैल, 1967 को संविधान (संशोधन) विधेयक, 1967 (धारा 368 का संशोधन) प्रस्तुत किया। उस प्रस्तावित विधेयक के संलग्न उद्देश्य एवं कारण इस प्रकार थे: "हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने आई० सी० गोलक नाथ व उनके साथी बनाम पंजाब राज्य इत्यादि के वाद में जो निर्णय दिया है, उससे संसद की मौलिक अधिकारों विषयक धाराओं में संशोधन करने की क्षमता के सम्बन्ध में शंका एवं भ्रांति उत्पन्न हो गई है। यह प्रश्न संसद की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में मौलिक महत्त्व का है। इस सर्वश्रेष्ठता में संसद का मौलिक अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार एवं प्राधिकार भी सम्मिलित है। जिस प्रकार संसद यह अधिकार प्रदान कर सकती है, उसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में वह उसमें परिवर्तन भी कर सकती है। प्रस्तुत विधेयक द्वारा इसकी पुष्टि करने तथा उपर्युक्त निर्णय के कारण उत्पन्न शंकाओं के समाधान का प्रयत्न किया जा रहा है।"

विधेयक पर बहस करते हुए नाथ पै ने कहा कि यदि न्यायालय का निर्णय यथावत् रहने दिया गया तो संसद का प्राधिकार शनैः-शनैः समाप्त हो जायेगा और वह जनता की इच्छा के श्रेष्ठतम उपकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकेगी। विधेयक पर लोक सभा के कई अधिवेशनों में बहस हुई, पर उस पर कोई अन्तिम कार्रवाई नहीं की गई।

इस बीच, कांग्रेस दल के कतिपय युवा राजनीतिज्ञ, जो संसद के संविधान-संशोधन अधिकार के पक्ष में थे, सर्वोच्च न्यायालय व संसद में सीधी टक्कर की बात करने

लगे। चन्द्रजीत यादव ने कहा कि यदि सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णय को (गोलक नाथ वाद में) नहीं वदलता तो सीधी टक्कर अनिवार्य है। अमृत नाहटा ने उनका समर्थन करते हुए कहा कि "यदि सर्वोच्च न्यायालय टकराव चाहता है, तो उसे मिलेगा।" तत्कालीन कांग्रेस सचिव, कृष्णकान्त ने कहा जो संविधान सामाजिक परिवर्तनों की गति में वाधक होगा वह टिक नहीं सकता। उनका कहना था कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने प्रगति में वड़ी कठिनाई उत्पन्न कर दी है तथा यह अत्यन्त आवश्यक है कि संविधान में संशोधन किया जाये। इन व्यक्तियों ने न्यायाधीशों को अपदस्थ करने तक की चर्चा की।

अनेक विधि-वेत्ता भी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के आलोचकों में थे, पर उनका रवैया इतना कठोर नहीं था। भारत के एक भूतपूर्व सर्वोच्च न्यायाधीश एस० के० दास ने "वुद्धिमत्ता एवं सामान्य वुद्धि" के नाम पर सुझाव दिया कि संसद को सर्वोच्च न्यायालय से अपने निर्णय को वदलने का आग्रह करना चाहिए। अटॉर्नी-जनरल नीरेन डे ने **गोलक नाथ वाद** में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को मिथ्या वताते हुए वल दिया कि संसद को संविधान के संशोधन का अधिकार है। उनका कहना था कि जनता की आर्थिक स्वाधीनता भी मौलिक अधिकारों के समान ही आधारभूत है। विहार के एडवोकेट-जनरल एल० एन० सिंहा ने परामर्श दिया कि संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1 की मद 97 के अन्तर्गत संसद को एक कानून वना कर घोषित कर देना चाहिए कि वर्तमान संसद को अगले सत्र में संविधान की धारा 368 एवं 13(2) के संशोधन का भी अधिकार होगा, तथा उस सत्र में संसद एक संविधान सभा के रूप में भी कार्य करेगी।

एक अन्य विधि-वेत्ता एस० सी० अग्रवाल का विचार था कि संविधान का कोई भी भाग "अटल" नहीं है तथा मौलिक अधिकार कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं हैं वल्कि वे सामाजिक व राजनीतिक सम्वन्धों के कारण उत्पन्न होते हैं जिनमें समय के साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि संविधान की धाराओं 14 व 19 को समाप्त कर दिया जाये ताकि नागरिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में सम्पत्ति को कोई विशेष प्रतिरक्षा उपलब्ध न रहे। इलाहावाद उच्च न्यायालय के एक भूतपूर्व न्यायाधीश ए०एन० मुल्ला का विचार था कि जनता ने कांग्रेस को संविधान में संशोधन करने के प्रश्न पर—लोक सभा में दो-तिहाई बहुमत के परिणाम तक—शासन-आदेश दिया हुआ है, अतः संसद को संविधान सभा ही समझना चाहिए। ए० एस० आर० चारी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया कि धाराओं 368 व 13 में संशोधन किया जाना चाहिए और कहा कि सर्वोच्च न्यायालय ने जानवूझ कर देश में हो रहे "क्रान्तिपूर्ण कायापलट" में वाधा डालने का प्रयत्न किया है। सी० एम० स्टीफन (C.M. Stephen) का विचार था कि सर्वोच्च न्यायालय को साधारण वहुमत द्वारा सारे कानूनों को समाप्त नहीं करने दिया जाना चाहिए।

वी० आर० शुक्ल, डी० पी० सिंह, आर० के० गर्ग, हैनरी आस्टिन, भगवान दास,

वी० एस० मूर्ति और रघुनाथ रेड्डी का भी यही दृष्टिकोण था कि धाराओं 368 व 13 में संशोधन किया जाना चाहिए और संसद को उनमें संशोधन करने का अधिकार है।

बैंक राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी पर्स वादों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय (Supreme Court's Judgement in Bank Nationalisation and Privy Purses Cases)

सर्वोच्च न्यायालय न तो जनता की आलोचना से विचलित हुआ और न ही उसने विधि वेत्ताओं तथा राजनीतिज्ञों के सुझावों की ओर ध्यान दिया अपितु वह अपना कार्य करता रहा। 10 फरवरी, 1970 को उसने 10 के प्रति 1 के बहुमत से बैंकिंग कम्पनीज़ (संस्थानों के अधि ग्रहण एवं हस्तांतरण) अधिनियम को, जिस के द्वारा 14 अग्रणी व्यापारी बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था, अवैध व असंवैधानिक घोषित कर दिया। न्यायालय का दृष्टिकोण था कि इस अधिनियम से "विधि के सम्मुख समानता" सम्बन्धी धारा 14, "सम्पत्ति के अधिग्रहण, रक्षण एवं हस्तांतरण के अधिकार" सम्बन्धी धारा 19(1)(च) तथा "सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण" सम्बन्धी धारा 31 का अतिक्रमण होता है। **भूतपूर्व नरेशों के विधि एवं निजी अधिकारों** के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 15 दिसम्बर, 1970 को निर्णय देकर राष्ट्रपति के 16 सितम्बर, 1970 के उस आदेश को निरसित कर दिया जिसमें भूतपूर्व नरेशों की मान्यता समाप्त कर दी गई थी और यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि धारा 366(22) में राष्ट्रपति को जो अधिकार दिये गये हैं, वे उन्हें एक "अकस्मात आदेश" द्वारा सभी नरेशों की मान्यता वापस लेने का सामर्थ्य प्रदान नहीं करते। बहुमत निर्णय द्वारा ग्वालियर, उदयपुर, नाभा, नालागढ़, कच्छ, धरंगाध्रा, पटना, और बनारस के महाराजाओं की रिट याचिकाएं खर्चे सहित स्वीकार कर ली गई।

लोक सभा के लिए मध्यावधि चुनाव (Mid-term Poll for Lok Sabha)

उपर्युक्त दोनों मामलों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों से देश के राजनीतिक एवं सरकारी हलकों में बड़ी बेचैनी फैली। संयुक्त सोशलिस्ट नेता मधु लिमये के नेतृत्व में कतिपय संसत्सदस्य न्यायाधीशों की (विशेषतः जिन्होंने बैंक राष्ट्रीयकरण वाद का निर्णय किया था), अपदस्थता की बात करने लगे।[11] प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा

[11]संसत्सदस्यों की चेष्टा के प्रतिरोध में सर्वोच्च न्यायालय के लगभग 100 वकीलों ने, जिनमें एम० सी० छागला, सरजू प्रसाद, राजस्थान उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, तथा उच्च न्यायालयों के भूतपूर्व न्यायाधीश पी० चटर्जी, वी० एम० तारकुण्डे तथा एस० सी० मंचन्दा भी थे, एक लिखित वक्तव्य द्वारा घोषणा की कि वे न्यायाधीशों को अपदस्थ करने की प्रक्रिया का मुकाबला करेंगे। बार कौंसिल ऑफ़ इण्डिया ने "तीव्र असहमति" प्रकट करते हुए कहा कि "अपदस्थता की चर्चा से न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ेगी।"

गांधी को अपने "समाजवादी" एवं "नवीनतावादी" कार्यक्रम में बाधा प्रतीत हुई, अतः उन्होंने राष्ट्रपति गिरि को लोक सभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने का परामर्श दिया ताकि वे गोलक नाथ, बैंक राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी पर्स के वादों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के कारण, जिन प्रश्नों पर संविधान में संशोधन करना आवश्यक हो गया था, उनके बारे में जनता का आदेश प्राप्त कर सकें। राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री के परामर्श पर अक्षरशः आचरण किया और उसके फलस्वरूप मार्च 1971 में जो निर्वाचन हुए, उनमें श्रीमती इन्दिरा गांधी की कांग्रेस को 352 स्थान प्राप्त हुए।

संसद में 24, 25 एवं 26वाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम पारित [Parliament Passes 24th, 25th and 26th Constitution (Amendment) Acts]

लोकसभा में प्रबल बहुमत प्राप्त करने के बाद श्रीमती गांधी ने संसद में 24 वाँ, तथा 26 वाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम पारित करा लिया। इन विधेयकों का विस्तृत वर्णन "संविधान के संशोधन की समस्याएँ नामक अध्याय में किया गया है पर यहाँ केवल इतना बता देना उचित होगा कि ये संशोधन-विधेयक सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये तीनों निर्णयों का प्रभाव समाप्त करने के लिए बनाये गये थे।[12]

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आंतरिक सुरक्षा कानून की धारा 17 (क) का निरसन (Supreme Court Strikes Down Section 17(A) of the MISA)

19 अप्रैल, 1973 को सर्वोच्च न्यायालय ने आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 की धारा 17(क) को निरसित कर दिया, जिसमें यह प्रावधान था कि आपात्-स्थिति के प्रवर्तन काल में किसी भी व्यक्ति को बिना किसी सलाहकार मंडल से परामर्श किये 21 मास तक बन्दी बना कर रखा जा सकता है।

न्यायालय ने कहा कि धारा 17(क) विधि द्वारा अमान्य है क्योंकि यह संविधान की धारा 22 के अनुच्छेद 7(क) में निर्दिष्ट वाँछाओं की पूर्ति नहीं करती। विशेष रूप से गठित सात न्यायाधीशों के न्यायालय के सर्व सम्मत निर्णय द्वारा, जिसे कार्य-

[12]जुलाई, 1971 को प्रकाशित अपनी पुस्तक *The Bank Nationalisation Case and Constitution* में अपने "निजी" विचार प्रकट करते हुए संघीय विधि सचिव आर० एस० घई ने परामर्श दिया कि गोलकनाथ एवं प्रिवी पर्स के वादों के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के उपचार के लिए दो कार्य किये जाने चाहिए प्रथम यह कि संविधान के तीसरे अध्याय का संशोधन अधिक "कठोर एवं यथार्थ" बनाया जाये, जिसके लिए संविधान में संशोधन के लिए निर्दिष्ट बहुमत के स्थान पर संसद में अपेक्षाकृत अधिक बहुमत का प्रावधान करना होगा। दूसरे, धारा 368 को इस प्रकार संशोधित किया जाये कि संसद को अपनी सामान्य विधानकारी शक्ति की बजाय अपनी संविधानकारी शक्ति के उपयोग द्वारा संविधान के किसी भी प्रावधान के संशोधन का अधिकार प्राप्त हो। घई ने लिखा कि ऐसा करने से संविधान के तीसरे अध्याय के किसी भी प्रावधान में संशोधन किया जा सकेगा।

वाहक मुख्य न्यायाधीश जे० एम० शैलेट ने घोषित किया, न्यायालय ने शम्भूनाथ सरकार की रिट याचिका स्वीकार करते हुए आदेश दिया कि उसे तुरन्त मुक्त कर दिया जाये। इस निर्णय से लगभग 1700 अन्य व्यक्ति भी प्रभावित हुए जिन्हें उसी अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाया गया था। साथ ही केन्द्रीय सरकार को सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के कारण बड़ी चिन्ता हुई।

सर्वोच्च न्यायालय ने गोलक नाथ वाद में निर्णय बदला (Supreme Court Reverses Ruling in Golak Nath Case)

24वें एवं 26वें संविधान (संशोधन) अधिनियन को सर्वोच्च न्यायालय में केरल के एक धर्मगुरु केशवानन्द भारती ने अनेक आधारों पर चुनौती दी।

इसकी सुनवाई 69 दिन तक चली, जोकि सर्वोच्च न्यायालय के इतिहास में अब तक की दीर्घतम सुनवाई की अवधि है। वादी के वकील एन०ए० पालखीवाला ने 33 दिन तक अपने तर्क प्रस्तुत किये, केरल सरकार के वकील एच०एम० सीरवाई (H.M Seervai) ने 22 दिन, अटॉर्नी-जनरल नीरेन डे ने 10 दिन, मुख्य कानूनी सलाहकार लालनारायण सिंह ने डेढ़ दिन तथा बीच में आने वाले अन्य व्यक्तियों के वकीलों ने भी डेढ़ दिन तक बहस में भाग लिया। अनेक राज्य सरकारों सहित विविध पक्षों ने कुल मिला कर 93 वकीलों की सेवाएँ लीं। इस वाद के कारण एक ट्रक भर अभिलेख इकट्ठे हो गए। इसे सुनवाई के लिए 11 अगस्त, 1972 को स्वीकार किया गया, 31 अक्तूबर को सुनवाई आरम्भ हुई और 23 मार्च, 1973 को बहस समाप्त हुई। निर्णय 24 अप्रैल, 1973 को दिया गया।

जिन 13 न्यायाधीशों ने इस वाद की सुनवाई की, उनमें से 9 ने गोलक नाथ वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को पलट दिया[13] तथा संसद के संविधान संशोधन सम्बन्धी अधिकार को पुनः स्थापित कर दिया। जिसमें मौलिक अधिकारों में संशोधन भी सम्मिलित थे, किन्तु संविधान की "आधारभूत रूपरेखा" में संशोधन करने का अधिकार नहीं माना गया। इस प्रकार, न्यायालय फिर पुरानी स्थिति पर आ गया कि संसद "सर्वशक्तिमान" है। नौ न्यायाधीशों के बहुमत का दृष्टिकोण था कि (1) गोलक नाथ वाद का निर्णय निरस्त किया जाता है, (2) धारा 368 से संसद को संविधान की आधारभूत रूपरेखा में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, (3) संविधान (24वाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 वैध है, (4) संविधान का धारा 2 (क) और 2(ख) (25वाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 वैध है, (5) संविधान (25वाँ

[13]इन नौ न्यायाधीशों के नाम इस प्रकार थे : एस० एम० सीकरी, जे० एम० शैलेट, के० एस० हैग्डे, ए० एन० ग्रोवर, वी० जगमोहन रेड्डी, डी० जी० पालेकर, एच० आर० खन्ना, ए० के० मुखर्जी, तथा वाई० वी० चन्द्रचूड़। जिन चार न्यायाधीशों ने इस निर्णय पर हस्ताक्षर नहीं किये, उनके नाम थे : अजित नाथ रे, के० के० मैथ्यू, एम० एच० बेग तथा एस० एन० द्विवेदी।

संशोधन) अधिनियम, 1971 के तीसरी धारा का प्रथम भाग वैध है। दूसरा भाग अर्थात् "और ऐसे किसी विधि को जिसमें यह घोषणा की गई हो कि वह उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए है किसी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उससे वह नीति कार्यान्वित नहीं होती" अवैध है, (6) संविधान (29वाँ संशोधन) अधिनियम, 1971 वैध है।

राष्ट्रपति गिरि द्वारा रे की मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति (President Giri Appoints Ray as Chief Justice)

केन्द्र सरकार खुश थी कि सर्वोच्च न्यायालय ने उसके दृष्टिकोण को उचित प्रमाणित कर दिया था। तदपि वह पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं थी क्योंकि न्यायालय के इस निर्णय से कि संसद संविधान की आधारभूत रूपरेखा में परिवर्तन नहीं कर सकती, उसके मन में यह शंका उत्पन्न हो रही थी कि उसकी उन्नति के पथ पर प्रगति में अब भी बाधा डाली जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की धारा 17(क) के निरसन से सरकार को यह विश्वास हो गया कि सर्वोच्च न्यायालय अब भी पर्याप्त 'गड़बड़' कर सकता है। प्रधानमन्त्री के निकट विश्वासी तथा सलाहाकार ऐसी न्यायपालिका चाहते थे, जो उन्हीं की विचार एवं कार्य-शैली का अनुसरण करे। ऐसा प्रतीत होता है कि मोहन कुमारमंगलम् जैसे व्यक्तियों ने, जो केन्द्रीय सरकार में मन्त्री थे और जिन्हें लोग भूतपूर्व साम्यवादी समझते थे, प्रधानमन्त्री को समझा-बुझा कर राष्ट्रपति गिरि को यह परामर्श देने के लिए सहमत कर लिया था कि तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों को छोड़ कर ए० एन० रे को भारत का मुख्य न्यायाधीशों बनाया जाये। यह एक अभूतपूर्व कृत्य था और ऐसा प्रतीत होता था कि यह देश के उच्चतम न्यायालय का रंगरूप एवं दृष्टिकोण परिवर्तित करने के लिए किया गया है। गिरि के बिना नानुनच किये प्रधानमन्त्री की बात मान ली। जिन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की अवहेलना की गई थी—न्यायमूर्ति ए० एन० ग्रोवर, के० एस० हैग्डे, तथा जे० एम० शैलेट उन्होंने विरोध स्वरूप त्यागपत्र दे दिये।

सरकार के कृत्य की सार्वजनिकआलोचना (Public Criticism of Government's Step)

जो व्यक्ति तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों को छोड़ कर रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने के परिणाम एवं तात्पर्य को समझते थे, उन्होंने सरकार के इस कृत्य की तीव्र निन्दा की। सबसे प्रथम विपक्षी दलों ने प्रतिक्रिया दिखाई।

26 अप्रैल, 1973 को सारे विपक्षी दलों ने लोक सभा में वराह वैंकट गिरि के इस कृत्य को "गम्भीर संवैधानिक अनौचित्य" बताते हुए खूब वावेला किया किन्तु उनकी इस लड़ाई में भारतीय साम्यवादी दल और साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) द्वारा साथ न दिया जाना सब को खटक रहा था। एक वरिष्ट वकील (सर्वोच्च न्यायालय)

एवं संसत्सदस्य फ्रैंक ऐन्थनी ने इसे एक "सुनियोजित राजनीतिक विप्लव" बताया। उन्होंने नई दिल्ली के रोट्री क्लब में भाषण करते हुए कहा, "इस राजनीतिक विप्लव का तात्पर्य न्यायपालिका को यह स्पष्ट कर देना है कि यदि इन न्यायाधीशों के समान किसी न्यायाधीश ने संविधान संशोधन के प्रश्न पर सरकारी नीति का अनुकरण न कर के स्वतन्त्रता दिखाने का प्रयत्न किया तो उसकी इसी प्रकार दुर्गति होती।" एक अन्य संसत्सदस्य मधु लिमये ने कहा कि हैग्डे की वरिष्ठता की उपेक्षा केवल उनके इस अपराध के लिए की गई कि उन्होंने निर्वाचन वाले वाद में प्रधानमन्त्री के विरुद्ध निर्णय दिया था।

13 मई को विपक्षी नेताओं के एक शिष्टमण्डल ने राष्ट्रपति वराह वेंकट गिरि से भेंट की और उनसे आग्रह किया कि सर्वोच्च न्यायालय में जो चार न्यायाधीशों के रिक्त स्थान हैं, उन्हें ऐसे व्यक्तियों द्वारा भरा जाये जिनमें "योग्यता हो तथा जिनको कुछ न्यायिक तजुर्बा भी हो।" उन्होंने कहा कि तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा के कारण जनता का जो न्यायपालिका पर से विश्वास उठ गया है उसकी पुन: स्थापना के लिए कम से कम इतना करना तो आवश्यक ही है।[14]

राज्य सभा में साढ़े पाँच घण्टे की वहस में विपक्षी सदस्यों ने सरकार से यह बताने का आग्रह किया कि रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने में किन मानदण्डों का उपयोग किया गया है। संगठन कांग्रेस के अध्यक्ष सादिक अली ने सरकार पर आरोप लगाया कि वह प्रजातन्त्र की रक्षा के साधनों का अप्रजातन्त्रीय हितों की सिद्धि में उपयोग कर रही है।"[15]

सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन ने 26 अप्रैल को एक प्रस्ताव[16] पास कर के सरकार के इस कृत्य की "घोर निन्दा" की। उसमें कहा गया कि "यह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व तटस्थता पर एवं सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा पर बड़ा धृष्टतापूर्ण एवं अन्यायपूर्ण कुठाराघात है..." (It is a blatant and outrageous attempt at undermining the independence and impartiality of the judiciary and lowering the prestige and dignity of the Supreme Court...")

प्रस्ताव में आगे कहा गया : "इस संगठन को पूर्ण विश्वास है कि यह कृत्य शुद्ध राजनीतिक कृत्य है तथा यदि इस नियुक्ति के समय एवं ढंग की ओर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि यह सर्वथा अनुचित है।" (The association is convinced that the action is purely political one and has no relation whatsoever to merits of the appointment, more so when one considers the timing and the manner of the appointment.)

[14]*The Hindustan Times*, 14 मई, 1973, पृष्ठ 1।
[15]*Ibid.*, 13 मई, 1973, पृष्ठ 1।
[16]यह प्रस्ताव भूतपूर्व विदेश मन्त्री एम० सी० छागला ने प्रस्तुत किया था।

3 मई को इस संगठन ने सरकार के "न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नष्ट करने के प्रयत्न" के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय का बाईकाट कर दिया और उसका काम-काज ठप्प हो गया। 2 मई को बार एसोसिएशन ऑफ़ इण्डिया ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि सरकार का कृत्य शुद्ध राजनीतिक कृत्य है, तथा उसका इस नियुक्ति के मापदण्ड से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।" दिल्ली बम्बई, मद्रास, इलाहाबाद, पटना, कलकत्ता, जम्मू-कश्मीर एवं चंडीगढ़ उच्च न्यायालयों के वकीलों ने भी अपने विरोध प्रकट किये।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के वकीलों की एक बैठक में न्यायमूर्ति शैलेट, न्यायमूर्ति हैग्डे, एवं न्यायमूर्ति ग्रोवर जिन्दावाद, इन्दिरा गांधी मुर्दावाद तथा "इन्दिरा गांधी की तानाशाही का नाश हो" के नारे लगाये गये। जनपदीय न्यायालयों में भी वकीलों ने 'न्यायपालिका की जड़ खोदने' की तीव्र निन्दा की। 12 अगस्त को नई दिल्ली में एक अखिल भारतीय वकील सम्मेलन में सरकार से उस नीति के परित्याग की माँग की गई जिसका अनुसरण करके उसने सर्वोच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा की। सम्मेलन द्वारा यह भी माँग की गई कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति पाँच वरिष्ठ (मुख्य न्यायाधीश सहित) न्यायाधीशों, तथा बार द्वारा नामांकित दो ऐडवोकेटों की एक समिति की संस्तुति के आधार पर की जाया करे।[17]

वरिष्ठता-उपेक्षित तीन न्यायाधीशों में से एक, के० एस० हैग्डे (K. S. Hegde), ने श्रीमती गांधी, संघीय विधि मन्त्री गोखले एवं इस्पात मन्त्री मोहन कुमारमंगलम् पर आरोप लगाया कि इन सब व्यक्तियों ने उन्हें अपदस्थ करने की योजना बनाई क्योंकि उन्होंने निर्वाचन वाद में प्रधानमंत्री के विरुद्ध निर्णय दिया था। उन्होंने कहा कि अमरीका के महाशक्तिशाली राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवैल्ट (Franklin D. Roosevelt) ने भी जब सीनेट न्यायिक समिति ने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अपदस्थ नहीं किया था। उस समिति ने कहा कि जो राष्ट्रपति अपनी सुधार की योजनाएँ प्रवर्तित करने के लिए एक चापलूस प्रकार की न्यायपालिका रखना चाहता हो, वह शीघ्र ही चापलूस कांग्रेस की भी माँग करेगा। सर्वोच्च न्यायालय के दो भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीशों जे०सी० शाह तथा एम० हिदायतुल्ला ने सरकार की कार्रवाई के लिए उसकी घोर निन्दा की तथा जिन तीन न्यायाधीशों ने सर्वोच्च न्यायालय से त्यागपत्र दिये थे, उनकी योग्यता एवं कर्मनिष्ठा की प्रशंसा की।

जे० एम० शैलेट (वरिष्ठता-उपेक्षित न्यायाधीशों में से एक) ने सरकार के कृत्य के को "प्रजातन्त्र पर भीषण प्रहार" बताया। उन्होंने कहा कि वरिष्ठता की उपेक्षा का सीधा परिणाम यह होगा कि न्यायाधीशों का परस्पर-विश्वास समाप्त हो कर वे एक-

[17] *The Hindustan Times*, 13 अगस्त, 1973, पृ० 10।

दूसरे के प्रति शंकालू हो जायेंगे। प्रत्येक न्यायाधीश यह प्रयत्न करेगा कि वह सरकार की चापलूसी करके जैसे-तैसे अपने से वरिष्ठ न्यायाधीशों से आगे निकल जाये। ऐसी परिस्थिति में कोई न्यायाधीश, चाहे वह कितना भी ईमानदार एवं कार्य-कुशल क्यों न हो, जब भी सरकार के पक्ष में निर्णय देगा, उस पर संदेह किया जायेगा।

एस० एम० सीकरी ने भी, जो दो ही दिन पूर्व मुख्य न्यायाधीश (उच्चतम न्यायालय) के पद से सेवा-निवृत्त हुए थे, इसी तरह की भावना व्यक्त की। एक पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने कहा, "ऐसा प्रतीत होता है कि इस निर्णय में कूटनीति का हाथ है। मुझे इससे बहुत मानसिक पीड़ा हो रही है।" संविधायक विधि के एक जाने-माने वकील एन० ए० पालकीवाला ने रे को मुख्य न्यायाधीश के पद पर आसीन करने के दिन को "भारत की न्यायपालिका के इतिहास का एक कलंकपूर्ण दिवस" बताया। बम्बई के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एम० सी० छागला ने, जिन्हें उच्च न्यायालय के प्रथम भारतीय न्यायाधीश होने का श्रेय प्राप्त है, कहा कि सरकार का निर्णय "न्यायालय की स्वतन्त्रता को समाप्त करने का स्पष्ट प्रयत्न है।"[18] भारत के भूतपूर्व उच्चतम न्यायाधीश जे० सी० शाह, गुजरात उच्च न्यायालय में भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० टी० देसाई, तथा बम्बई उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश वी० एम० तारकुण्डे ने एक संयुक्त वक्तव्य में कहा, "इस अनुचित कृत्य से न्यायपालिका की बड़ी हानि होगी जिसका प्रभाव बहुत समय तक विद्यमान रहेगा। हमारे स्वतन्त्र समाज के इतिहास में यह सबसे मनहूस दिन है।" संसद के शीत अधिवेशन (नवम्बर-दिसम्बर 1973) के प्रथम दिन जनसंघी नेता अटलबिहारी वाजपेयी ने एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें यह निर्दिष्ट कराने का प्रयत्न किया गया था कि सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही अनिवार्य रूप से भारत का उच्चतम न्यायाधीश नियुक्त किया जाए, किन्तु वह 30 नवम्बर को 82 मतों से गिर गया। दिल्ली के एक पत्रकार लखनपाल सहित पांच व्यक्तियों ने दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिकाएँ प्रेपित कीं कि श्री रे की नियुक्ति के विरुद्ध अधिकार पृच्छा आदेश (writ of quo warranto) जारी किया जाये। उनका तर्क यह था कि श्री रे की नियुक्ति से संविधान की धारा 124 (2) के प्रावधान का उल्लंघन हुआ है क्योंकि उसमें जो परामर्श की आदेशात्मक व्यवस्था है, उस पर आचरण नहीं किया गया तथा उस धारा में जो वरिष्ठता सम्बन्धी नियम निबद्ध है, उसका पालन नहीं किया गया। यह भी कहा गया कि यह नियुक्ति राजनीति-अभिप्रेरित एवं दुराशयपूर्ण है तथा उसका अभिप्राय न्यायपालिका का मूलोच्छेदन है। इन याचिकाओं के प्रतिवादी भारत संघ, श्रीमती गांधी, संघीय विधि मन्त्री गोखले तथा ए० एन० रे० थे। इन याचिकाओं को उच्च न्यायालय ने 15

[18] 12 अगस्त, 1973 को अखिल भारतीय वकील सम्मेलन में भाषण करते हुए श्री छागला ने कहा, "तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा करना न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर पूर्व-निश्चित, नपा-तुला भीषण प्रहार है।" *The Hindustan Times*, 13 अगस्त, 1973, पृष्ठ 5.

फरवरी, 1974 को अस्वीकार कर दिया।

सरकार द्वारा रे की नियुक्ति की प्रतिरक्षा (Government Defends Ray's Appointment)

सरकार ने विपक्षी दलों, वकील संस्थान (वार एसोसिएशन) तथा देश के अत्यन्त विख्यात न्यायवादियों की आलोचना की तनिक भी चिन्ता न की और श्री रे को भारत का उच्चतम न्यायाधीश नियुक्त करने के अपने कृत्य का पृष्ठपोषण करती रही। 1 मई को मई दिवस की रैली में भापण करते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा कि अव तक न्याय सम्भव नहीं था तथा रे को नया मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने में सरकार ने, 1958 में जो विधि आयोग स्थापित किया गया था, उसके परामर्श पर आचरण किया है कि मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने में केवल वरिष्ठता ही एकमात्र मानदण्ड नहीं होना चाहिए। चार दिन वाद प्रधानमन्त्री ने कहा कि न्यायाधीशों को भी जनता की आशाओं की पूर्ति करनी चाहिए। उन्होंने इन आरोपों का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया कि वे जनता की आज़ादी छीनने की योजना बना रहीं हैं, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नष्ट करना चाहती हैं, पत्रकारों का मुँह बन्द करना चाहती हैं तथा संसदीय प्राधिकार को समूल नष्ट कर देना चाहती हैं। उन्होंने कहा कि जिन व्यक्तियों की आशाओं पर पानी फिर गया है तथा राजनीतिक आकांक्षाएँ धूल में मिल गई हैं, वे ऐसी वातें करते हैं कि उनकी बुद्धि पर निराशाजनक आश्चर्य होता है।[19] सरकार के कृत्य के लिए किसी प्रकार की सफाई प्रस्तुत करने के प्रयत्न की वजाय मोहन कुमारमंगलम् ने कहा कि तीनों न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा इसलिए की गई है कि सरकार ऐसे व्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश वनाना चाहती थी जो न्यायपालिका एवं संसद के "टकराव" को रोकने में हमारी सहायता करे—जो देश में हो रहे परिवर्तन को समझ सके और जो "न्यायालय में हमारी सहायता करे।"

उन्होंने कहा, 'जो सरकार प्रगतिशील सामाजिक आर्थिक सुधार की नीति का अनुसरण करने को उत्सुक है, उसके दृष्टिकोण से जो वस्तु अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाने वाले व्यक्ति की न्यायिक सुदृढ़ता तथा विधि सम्बन्धी तजुर्बा नहीं है। उन्होंने अब्राहम लिंकन के शब्द दोहराते हुए कहा कि ऐसे व्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करना चाहिए "जिसके विचार सरकार को ज्ञात हों।" कुमारमंगलम् ने आगे कहा कि सरकार को न्यायासन पर ऐसा व्यक्ति चाहिए "जो आगे की ओर देखता हो, भूतकाल की ओर नहीं। प्रजातन्त्र का यह अर्थ नहीं है कि अ-राजनीतिक व्यक्तियों को न्यायालय की अध्यक्षता करने के लिए न्यायाधीश नियुक्त कर दिया जाए। हम केवल उन्हें ही नियुक्त करना चाहते हैं जो संसद को जनता की

[19] *The Hindustan Times*, 5 मई, 1973, पृ० 1.

प्रतिनिधि मानते हैं।"[20]

संघीय विधि मन्त्री एच० आर० गोखले ने कहा कि श्री रे की नियुक्ति में कोई राजनीतिक अभिसन्धि नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि यदि न्यायाधीश उन बातों को ही न समझें जिनके कारण लाखों-करोड़ों व्यक्तियों ने पहले से अधिक उत्तम जीवन-यापन करने का प्रयत्न किया, तो उच्चतम न्यायालय का कुछ भी लाभ न होगा। गोखले ने यह भी कहा कि सरकार उन व्यक्तियों को न्यायाधीश बनाना चाहती है जो सरकारी नीति के मार्ग-निर्देशक सिद्धान्तों सहित (directive principles of state policy) संविधान के प्रति दृढ़-प्रतिज्ञ हों। नेहरू के उद्धरण से गोखले ने कहा कि "सर्वोच्च न्यायालय को संसद की प्रभुत्व सम्पन्नता सम्बन्धी न्याय करने का अधिकार नहीं हो सकता।"[21] केन्द्रीय गृहमन्त्री उमाशंकर दीक्षित ने कहा कि रे को मुख्यमन्त्री नियुक्त करने का उद्देश्य न्यायालय के सम्मान में कमी करना नहीं वरन् जनता को स्वतन्त्र एवं उचित न्याय उपलब्ध कराना है। पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री सिद्धार्थ शंकर रे ने कहा कि सरकार ने मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति में इन तत्त्वों को ध्यान में रखा है—योग्यता, प्रशासनिक अनुभव, ईमानदारी एवं दृढ़ता। उन्होंने कहा कि साथ ही व्यक्ति की वयस, शीघ्र सेवा निवृत्त होने की सम्भावना, स्वास्थ्य तथा किसी बल विशेष की बजाय जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार सामाजिक तत्त्वज्ञान के प्रति निष्ठा को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि यह कहना कि सरकार को तो केवल रबड़ की छाप लगाने का प्राधिकार है तथा उसे अपनी आँख मींच कर व कान मूंद कर केवल वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मामूली काम की तरह मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करना चाहिए, पूर्णतः असंगत, अबुद्धिमत्तापूर्ण तथा तर्कहीन होगा।[22]

[20]जिन कारणों से सरकार ने श्री रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया, उनके विस्तृत अध्ययन के लिए देखो कुमारमंगलम् की पुस्तक *Judicial Appointments*, जो उनकी विमान-दुर्घटना में मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई थी।

[21]गोखले इस दृष्टिकोण से सहमत थे कि न्यायाधीश स्वतन्त्र हों। किन्तु उनका यह विचार था कि स्वतन्त्रता का अर्थ संविधान की ठीक-ठीक समीक्षा करना है, वैयक्तिक दृष्टिकोण एवं विचारधारा थोपना नहीं। एक बार उन्होंने कहा, "संविधान की समीक्षा करते समय ज्यों ही कोई न्यायाधीश अपने निजी तत्त्वज्ञान का उपयोग करेगा, मैं उसे स्वतन्त्र नहीं मानूँगा।"

[22]सिद्धार्थ शंकर रे ने कहा कि स्वयं न्यायमूर्ति ग्रोवर पंजाब व हरियाणा उच्च न्यायालय के 2 न्यायाधीशों तथा अन्य उच्च न्यायालयों के 38 न्यायाधीशों की वरिष्ठता का अतिक्रमण करके सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बने थे।

तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा में जो अनेक प्रश्न विद्यमान थे, उनके अध्ययन के लिए देखो—ए० आर० अन्तुले की पुस्तक *Appointment of a Chief Justice*, जोकि पापुलर प्रकाशन, बम्बई द्वारा प्रकाशित की गई है; तथा के० एस० हेग्डे की पुस्तक, *Crisis in Indian Judiciary*, सिन्धु पब्लिकेशन्स द्वारा प्रकाशित।

पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की वरिष्ठता की उपेक्षा
(Punjab-Haryana High Court Judge is Superseded)

सर्वोच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा से उत्पन्न जन-आलोचना अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि हरियाणा व पंजाब के कांग्रेसी मुख्य-मन्त्रियों ने अपने संयुक्त न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने में भी ऐसा ही कृत्य किया। उस न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश प्रेम पण्डित (Prem Pandit) की उपेक्षा करके 11 मई, 1974 को उनसे पाँच वर्ष कनिष्ठ रणजीत सिंह नरूला को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर दिया गया। न्यायमूर्ति पण्डित ने अपनी वरिष्ठता की उपेक्षा के बाद कार्य करना अपमानजनक समझा और राष्ट्रपति गिरि को अपना त्यागपत्र भेज दिया। पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय बार एसोसियेशन के भूतपूर्व अध्यक्ष सी० एल० लाखनपाल ने कहा कि न्यायपालिका की दृढ़ता पर यह दूसरा प्रहार है। उन्होंने कहा कि यदि इस प्रकार वरिष्ठता की उपेक्षा करना विशेष स्थिति की बजाय नित्य नियम की बात हो जायेगा तो अच्छा तो यह होगा कि न्याया-लयों को समाप्त ही कर दिया जाये और न्याय का ढोंग रचाना छोड़ दिया जाये। उसी उच्च न्यायालय के एक अन्य न्यायाधीश डी० सी० महाजन ने, जो उसी दिन (11 मई) सेवा-निवृत्त हुए थे, चण्डीगढ़ में कुछ व्यक्तियों के समक्ष कहा कि स्वतन्त्रता का दिखावा करने की बजाय रूस के समान तानाशाही रखना अधिक उचित होगा। सुप्रीम कोर्ट बार एसोसियेशन तथा दिल्ली हाई कोर्ट बार एसोसिएशन ने इस बार पुनः वरिष्ठता की उपेक्षा की निन्दा की और कहा कि सर्वोच्च न्यायालय के न्याया-धीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा के फलस्वरूप वकीलों ने जो विरोध प्रस्तुत किया था, उसकी तनिक भी परवाह नहीं की है। उच्च न्यायालय के अनेक अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशों, वकील संघ (बार) के सदस्यों, विश्वविद्यालय के अध्यापकों, प्रतिष्ठित नागरिकों तथा विख्यात पत्रकारों ने न्यायमूर्ति पण्डित द्वारा त्यागपत्र दिये जाने के "साहसपूर्ण" कृत्य के लिए उन्हें बधाई दी तथा "आबद्ध" न्यायपालिका की विचार-धारा की तीव्र आलोचना की। सभी वक्ताओं ने कहा कि शासक दल न्यायाधीशों पर संविधान के तत्त्व-दर्शन की बजाय अपनी ही तत्त्व-नीति का अनुसरण करने के लिए दबाव डाल रहा है।[23]

कुछ विचार एवं समालोचना (A Few Observations and Comments)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की वरिष्ठता के अतिक्रमण के फलस्वरूप कांग्रेस दल के समर्थकों तथा कतिपय "वामपंथी" एवं "प्रगतिशील" कूटनीतिज्ञों ने अनेक नए व्यंग्यात्मक नारे गढ़ लिए। इनमें से कुछ थे: "वचनबद्ध न्यायपालिका (committed judiciary)", "चापलूस न्यायाधीश (servile judges)", "कूटनीतिज्ञ ही

[23]*The Times of India*, 8 सितम्बर, 1974, पृ० 5.

न्यायाधीशों के स्वामी हैं (politicians are the masters of judges)", "न्यायाधीशों के निर्णय जनमत के अनुरूप होने चाहिए" तथा "संविधान अथवा न्यायालय कोई भी संसद एवं कार्यपालिका की इच्छा का उल्लंघन नहीं कर सकेगा।" इस वातावरण में सारे देश में यही भावना व्याप्त थी कि सर्वोच्च न्यायालय अब सरकार के इंगित पर नाचेगा तथा ऐसे निर्णय दिया करेगा जो सरकार को अच्छे लगें। वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय ने कतिपय ऐसे निर्णय दिये भी। उदाहरणतया, **श्री मीनाक्षी मिल्ज़** तथा अन्य धागा उत्पादकों की रिट याचिका के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने टैक्सटाइल कमिश्नर की 13 मार्च की उन दो विज्ञप्तियों को उचित ठहराया, जिसमें रूई के उत्पादन, वितरण तथा मूल्य पर नियन्त्रण लगाने का आदेश दिया गया था। निर्णय मुख्य न्यायाधीश रे के नेतृत्व में एक संविधान न्यायालय ने दिया। न्यायालय ने फैसला दिया कि कीमतों को बढ़ने न देने के प्रयत्न में सरकार कीमतों को ऐसे नियन्त्रित कर सकती है कि किसी पदार्थ का उत्पादन करने वाली कम्पनी अथवा उस पदार्थ सम्बन्धी व्यापार करने वाले व्यापारिक संस्थानों को मूल्य नियन्त्रण लागू किये जाने के फलस्वरूप "कुछ समय तक कथित हानि" उठानी पड़े।

यह निर्णय देने में सर्वोच्च न्यायालय ने **प्रीमियर आटोमोबाईल** वाद (जो मोटर कार मूल्य नियन्त्रण वाद के नाम से भी प्रसिद्ध है) में निर्दिष्ट सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया, जिसमें एक अन्य संविधान न्यायासन ने यह निर्णय दिया था कि मूल्य निर्धारण की धारणा के अनुसरण में "सभी तत्त्वों को" ध्यान में रखना चाहिए ताकि उपभोक्ता के साथ न्याय हो तथा उत्पादनकर्त्ता को भी उचित मुनाफा उपलब्ध रहे "जिसके बिना कोई भी व्यक्ति वस्तु-निर्माण का कार्य नहीं करेगा।" सर्वोच्च न्यायालय का अब यह मत था कि मूल्य नियन्त्रण आदेश की प्रमुख धारणा यह थी कि उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएँ "उचित दर पर तथा समान मात्रा में" उपलब्ध कराई जायें। न्यायालय ने कहा कि यह ठीक है कि उत्पादनकर्त्ता को उसके उत्पादन व्यवसाय से ही उखड़ने पर विवश नहीं किया जाना चाहिए पर उसे यह अस्थायी हानि "उसी प्रकार उठानी पड़ सकती है जिस प्रकार वह व्यापार में आर्थिक उतार-चढ़ाव के कारण हानि सहन करता है।"

उच्चतम न्यायालय ने सरकार को प्रसन्न करने के लिए एक और निर्णय 20 दिसम्बर, 1973 को दिया। इस बहुमत-निर्णय द्वारा निर्दिष्ट किया गया कि संविधान की धारा 22(7) के अधीन सरकार का ऐसा कोई दायित्व नहीं है कि वह किसी व्यक्ति को निवारक नज़रबन्दी कानून के अधीन कारावास में रखने की अधिकतम अवधि निर्धारित करे। पाँच सदस्यीय संविधान न्यायासन ने यह भी निर्णय दिया कि अधिकतम अवधि आपात्स्थिति की अवधि के सन्दर्भ से भी निश्चित की जा सकती है।

यह न्यायासन पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा नज़रबन्द किये गए कुछ व्यक्तियों की रिट याचिकाओं की सुनवाई कर रहा था। इन व्यक्तियों की नज़रबन्दी का यह

आधार था कि आदेश में उनकी नज़रबन्दी की अवधि "नज़रबन्दी की तिथि से 12 मास की अवधि समाप्त होने तक अथवा भारत प्रतिरक्षा अधिनियम समाप्त होने तक (जो भी बाद में हो) ।" ये आदेश आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत पारित एवं भारत प्रतिरक्षा अधिनियम द्वारा संशोधित किये गए थे। आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की मूल धारा 13 में अधिकतम 12 मास की नज़रबन्दी निर्धारित की गई थी। भारत प्रतिरक्षा अधिनियम द्वारा इस प्रावधान के स्थान पर "नज़रबन्दी की तिथि से 12 मास की अवधि समाप्त होने तक अथवा अधिनियम समाप्त होने तक (जो भी बाद में हो)" की नज़रबन्दी निर्धारित कर दी गई। नज़रबन्दों ने अपनी नज़रबन्दी को इस आधार पर चुनौती दी कि बाद वाले संशोधन से उसकी अवधि अनिश्चित कर दी गई थी, अतः वह उनके मौलिक अधिकारों का हनन करती थी।

तदपि, उपर्युक्त एवं कतिपय अन्य फैसलों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उच्चतम न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों ने अपनी स्वतन्त्रता, निर्भयता एवं दृढ़ता का परित्याग कर दिया था। 1974-75 में उन्होंने अनेक ऐसे निर्णय दिये जो केन्द्र या राज्य सरकारों की कार्यपालिका के पक्ष में नहीं थे। उदाहरणतया, राज्य सरकारों ने अनेक कथित तस्कर व्यापारियों को आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत नज़रबन्द किया, पर उच्च न्यायालयों ने उनमें से बहुत से व्यक्तियों को इस आधार पर मुक्त करा दिया कि उनकी नज़रबन्दी के लिए जो कारण बताये गए थे वे आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की परिधि में नहीं आते थे अथवा स्पष्ट नहीं थे। अनेक फैसलों में सर्वोच्च न्यायालय ने आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की संवैधानिक वैधता स्थिर रखते हुए भी कार्यपालिका को उसके अनुचित प्रवर्तन के लिए फटकारा तथा उस सम्बन्ध में स्वयं मार्गदर्शक रूपरेखा प्रस्तुत की। 16 नवम्बर, 1974 को राष्ट्रपति ने संविधान की धारा 359(1) के अधीन एक आदेश निकाल कर किसी व्यक्ति द्वारा धाराओं 14, 21 तथा धारा 22 के अनुच्छेद (4), (5), (6) एवं (7) से प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन में अपनी नज़रबन्दी के विरुद्ध न्यायालय में जाने का अधिकार निलम्बित कर दिया। जब दया किशन और हरबंस लाल की याचिकाएँ, जिन्हें आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की धारा 3(1)(ग) और 3(2) के अन्तर्गत दिल्ली में नज़रबन्द किया गया था, 21 नवम्बर को दिल्ली उच्च न्यायालय में सुनवाई के लिए प्रस्तुत की गईं तो सरकार की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि राष्ट्रपति के आदेश को ध्यान में रखते हुए इन याचिकाओं की सुनवाई नहीं की जा सकती। किन्तु न्यायालय ने निर्णय दिया कि उस आदेश के रहते हुए भी नज़रबन्दी कानून की वैधता के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है।

इसी प्रकार, न्यायालय ने विधान सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों की अनेक याचिकाएँ रद्द कीं जिनमें उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के निर्वाचन को चुनौती दी थी। सर्वोच्च न्यायालय ने एक कांग्रेसी सदस्य अमरनाथ चावला का संसद के लिए निर्वाचन अवैध घोषित कर दिया और कांग्रेस की तीव्र आलोचना की। यह चुनाव याचिका अमर-

नाथ चावला के प्रतिद्वन्द्वी कँवरलाल गुप्त ने प्रस्तुत की थी।

इस प्रकार देश की जनता को, जो अब यह समझने लगी थी कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के दिन बीत गए हैं, पुन: यह विश्वास होने लगा कि न्यायाधीश अपने पद की गरिमा की रक्षा करने के लिए पर्याप्त योग्यता रखते हैं तथा उन्हें विधान के अनुसार शासन करने के लिए उचित प्रशिक्षण प्राप्त है।

सर्वोच्च न्यायालय के तीन वरिष्ठतम न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा करने के साथ-साथ श्रीमती गांधी एवं अन्य सरकारी प्रवक्ताओं ने इस आधार पर अपने कृत्य का औचित्य ठहराया था कि अब तक सर्वोच्च न्यायालय जनता के साथ न्याय नहीं करता था। पर यह समझना कठिन था कि सरकार यह स्थिति 23 वर्षों तक कैसे सहन करती रही। इस प्रकार, बीते युग को ठीक करने के साथ भी सरकार ने यह नहीं बताया कि जब न्यायालय में पहुँचना इतना खर्चीला व पेचीदा काम है तो जनता वहाँ तक कैसे पहुँचेगी तथा आगे से उन्हें न्याय कैसे मिला करेगा। सरकार ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि 1959 में विधि आयोग ने यह सुझाव दिया था कि यह आवश्यक नहीं है कि वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही सर्वोच्च न्यायाधीश बनाया जाये। यदि सरकार को यह सुझाव बुद्धि मत्तापूर्ण प्रतीत होता था तो उसने इतने वर्षों तक यह उदाहरण व परम्परा क्यों विद्यमान रहने दी कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर की जाए। विश्वास नहीं होता था कि अब तक जो व्यक्ति मुख्य न्यायाधीश नियुक्त हुए, वे सब योग्य थे, पर शैलट, हेग्डे और ग्रोवर अकस्मात् ही अयोग्य हो गए।

सरकार की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि जनता की प्रभुसत्ता शक्ति संसद में निहित है, अत: जनता का हित समझने तथा यह निर्णय करने का अधिकार, कि 'क्या उच्चतम न्यायालय द्वारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधियों को समाप्त किया जाने से जनता की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति में बाधा पड़ती है ?' केवल संसद को है। यदि इस दृष्टिकोण को उचित माना जाय तो न्यायिक पुनरीक्षा की धारणा, जो भारतीय राजनीतिक पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है, पूर्णत: निरर्थक हो जायेगी। यदि केवल तर्क के लिए भी यह मान लिया जाये कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण उन्नति का उपाय था और उसे असंवैधानिक ठहरा कर सर्वोच्च न्यायालय ने जनता की बड़ी हानि की, तो यह प्रश्न उठता है कि केन्द्र एवं राज्यों में सरकार ने आम जनता की स्थिति सुधारने के लिए क्या किया, विशेषत: जब विधान सभाओं में उसे तीव्र बहुमत प्राप्त था। राष्ट्रपति गिरि ने भी, जो राज्य के संवैधानिक प्रधान थे, यह शिकायत की कि श्रीमती गांधी ने जिस महान बहुमत की माँग की थी वह उन्हें मिला, पर उसे पा कर भी वे अपने फायदों के अनुसार काम करके नहीं दिखा सकीं। अकुशल व भ्रष्टाचारी अधिकारी-तन्त्र, सूखा, बाढ़ इत्यादि प्राकृतिक आपदाएँ, दायित्वहीन और कुसंगठित विपक्षी दल, और विदेशी शक्तियों के प्रपंच इत्यादि अनेक ऐसे तत्त्व थे जो शासक दल द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले

प्रयत्नों में बाधक थे, पर सरकार को अपने सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति लाने के कार्य-क्रम में सर्वोच्च न्यायालय भी बाधक प्रतीत होता था। प्रस्तुत संदर्भ में इन तथ्यों की गहन समीक्षा करना असंगत प्रतीत होगा।

केन्द्रीय मन्त्रीगण कुमारमंगलम् एवं गोखले इत्यादि सरकारी प्रवक्ताओं का कहना था कि जनता के लिए राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्त (directive priniciples of state policy) मौलिक अधिकारों (जिनकी रक्षा सर्वोच्च न्यायालय करता है) के समान ही मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु राष्ट्रीयकृत उद्योग, जिनमें वर्तमान सर-कार की अत्यधिक रुचि प्रतीत होती है, उन निदेशी सिद्धान्तों की सूची में नहीं आते। इसके विपरीत संविधान की धारा 39 (ख) में यह निर्दिष्ट है कि सरकार अपनी नीति का लक्ष्य "जनता के भौतिक साधनों के स्वामित्व व नियंत्रण का सामान्य हित में वितरण" बनायेगी। भौतिक साधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण का वितरण राष्ट्रीय-करण के एकदम विपरीत है, जिसका अर्थ स्वामित्व एवं नियन्त्रण को सरकार के हाथों में केन्द्रित करना है। जितना अधिक राष्ट्रीयकरण होगा, उतना ही अधिक अफसर-शाही चलेगी, जबकि स्वतंत्रता के बाद की अफसरशाही द्वारा निभाई गई भूमिका सर्वविदित है।

इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा कोई निर्णय नहीं किया जिससे उसने किसी प्रकार भी सरकार द्वारा, जनता के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की व्यवस्था करने, बेरोज़गारी, बुढ़ापे, बीमारी तथा विकलांगता की स्थिति में उन्हें काम, शिक्षा, एवं सरकारी सहायता दी जाने, औद्योगिक, कृषि अथवा अन्य सभी कामगारों के लिए उचित जीवन-स्तर की व्यवस्था करने तथा संविधान के प्रवर्तन से 10 वर्ष की अवधि के भीतर सभी बच्चों के लिए निशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने में अड़चन पड़ती हो। सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे सरकार द्वारा समाज के कमज़ोर वर्ग, विशेषतः अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों, की शिक्षा सम्बन्धी एवं आर्थिक विकास में बाधा पड़ती हो, पोषण व सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों में रुकावट आती हो, आधुनिक व वैज्ञानिक आधार पर कृषि एवं पशुपालन में कठिनाई आती हो अथवा अन्य निदेशी सिद्धान्तों का प्रवर्तन ठीक प्रकार न हो पाता हो। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय, मुख्यतः, संविधान की धारा 14 के अन्तर्गत समानता के अधिकार, धारा 19 में प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकार, धारा 21 में प्रदत्त जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के अधिकार, धारा 22 में प्रदत्त गिरफ्तारी व नज़रबन्दी से रक्षा के अधिकार तथा धारा 31 में प्रदत्त सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित होते हैं तथा उसके एक भी निर्णय द्वारा राज्य नीति के निदेशी सिद्धांतों के प्रवर्तन में बाधा नहीं पड़ी। सरकार द्वारा इन सिद्धान्तों को प्रवर्तित न करने का कारण सदैव उसकी अनिच्छा, अयोग्यता, अथवा साधनहीनता रही है। सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार के तत्सम्बन्धी प्रयत्नों में कभी बाधा नहीं डाली।

अध्याय 13

भारतीय संविधान एवं राजनीति में गवर्नर का स्थान

(The Governor in Indian Constitution and Politics)

जिस प्रकार संघीय सरकार की कार्यकारी क्षमता राष्ट्रपति को सौंपी गई, उसी प्रकार राज्य की कार्यकारी क्षमता गवर्नर के हाथों में दी गई। इस क्षमता का वे संघीय कार्यकारी क्षमता के ही समान उपयोग करते थे, अर्थात् "सीधे अथवा संविधन के अनुसार अपने मातहत अफसरों के माध्यम से (धारा 154, 1)। जब संविधान सभा में राज्यों के प्रावधान नियुक्त करने की विधि का प्रश्न सामने आया तो उस की प्रान्तीय संविधान मसौदा समिति (Provincial Constitution Drafting Committee) ने सुझाव दिया कि प्रत्येक राज्य का प्रधान वहाँ की जनता द्वारा निर्वाचित किया जाये। किन्तु जब इस पर संविधान सभा में बहस की गई तो यह निष्कर्ष निकाला गया कि एक साथ जनता द्वारा निर्वाचित गवर्नर तथा विधान मण्डल के प्रति उत्तर-दायी मुख्यमन्त्री विद्यमान होने से परस्पर संघर्ष उत्पन्न होने की आशंका रहेगी। इसके अतिरिक्त, 1947-49 की अवधि में प्रशासन व्यवस्था के अनुभव से संविधान के रचियताओं को यह तथ्य भली भाँति समझ में आ गया था कि भारत में विघटन-कारी शक्तियाँ काफी प्रबल हैं देश की एकता, संगठन एवं सुरक्षा बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसके लिए गवर्नर द्वारा संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच एक संवैधानिक सेतु के रूप में कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यह निर्णय किया गया कि गवर्नर की नियुक्ति संघीय कार्यकारिणी द्वारा की जाये तथा उन्हें अपदस्थ करने की क्षमता भी उसी प्राधिकारी को हो।[1]

उपरोक्त निर्णय का व्यावहारिक प्रभाव यह हुआ कि गवर्नर की नियुक्ति गृह-मन्त्री के परामर्श सहित प्रधानमन्त्री द्वारा की जाने लगी। तथापि गवर्नर की नियुक्ति

[1]देखो प्रधानमन्त्री नेहरू का भाषण, Constituent Assembly, *Debates*, Vol. VIII, p. 455.

करते समय तत्सम्बन्धी राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श करने की प्रथा भी विकसित हो गई। किन्तु इस प्रथा का सदैव एवं सभी परिस्थितियों में अनिवार्यत: प्रवर्तन नहीं किया जाता था।

उदाहरणत: श्री प्रकाश तथा कुमारास्वामी राजा की नियुक्ति के समय क्रमश: मद्रास व उड़ीसा के मुख्यमन्त्रियों से परामर्श नहीं किया गया।[2] परामर्श न किए जाने पर कोई विशेष रोष प्रकट नहीं किया जाता था और परामर्श करने पर भी सामान्यत : प्रस्तावित नाम का विरोध नहीं किया जाता था। यह स्थिति जवाहरलाल नेहरू के जीवन-काल में रही क्योंकि वे अत्यधिक प्रभावशाली थे और किसी की उनका विरोध करने की हिम्मत नहीं होती थी। इसका एक यह भी कारण था कि अधिकतर राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी और कांग्रेसी मुख्यमन्त्री प्रत्येक मनोनीत गवर्नर को मौन रूप से स्वीकार कर लेते थे। उनके देहान्त के बाद और विशेषत: चौथे आम चुनाव के बाद की अवधि में अन्य दलों की सरकारों वाले राज्यों के मुख्यमन्त्री, इस मामले में परामर्श न किया जाने पर, बुरा मानने लगे।

मार्च 1969 में पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी ने गवर्नर धर्मवीर को यह कह कर वापस बुलाये जाने की माँग की कि वे मन्त्रि परिषद के सहयोग से प्रशासन चलाने के योग्य नहीं हैं, किन्तु गृह मंत्री वाई० बी० चह्वाण ने इस माँग को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि संघीय सरकार राज्य सरकारों के "आदेशानुसार" मुख्य मन्त्री नियुक्त करने का "अनुचित उदाहरण" स्थापित नहीं करना चाहती। यद्यपि गवर्नर धर्मवीर को बाद में वापस बुला लिया गया, पर केन्द्रीय सरकार ने ऐसा प्रकट किया कि उन्हें इसलिए वापस नहीं बुलाया गया कि पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री ऐसा चाहते थे वरन् वहाँ की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के कारण ऐसा करना आवश्यक हो गया था।

गवर्नर पद के लिए आवश्यक शर्तें (Conditions of Governor's Office)

गवर्नर नियुक्त होने के लिए किसी व्यक्ति का भारत का नागरिक होना तथा 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुकना आवश्यक निर्धारित किया गया। वह संसद के किसी भी सदन का अथवा किसी राज्य की विधान सभा का सदस्य नहीं हो सकता और यदि ऐसे किसी व्यक्ति को गवर्नर नियुक्त कर दिया जाये तो उसे गवर्नर का पद ग्रहण करने के दिन से ही उपरोक्त सदस्यता का परित्याग करना आवश्यक होता है। वह ऐसे कोई पद स्वीकार नहीं कर सकता जिससे उसे आर्थिक लाभ होता हो। गवर्नर को बिना किराया दिये सरकारी निवासस्थान का उपयोग करने का अधिकार होता है। संवि-

[2]देखो के० वी० राव का लेख "The Governor at Work" in *The Journal of the Society for the Study of State Govts.*, Vol. I, July-September 1968, No. 3, p. 90.

धान की धारा 158 की उपधारा (3) में निर्धारित किया गया है कि गवर्नर को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते एवं वैयक्तिक अधिकार संसद द्वारा विधिवत् निर्धारित किये जायेंगे; जब तक यह निर्धारण न हो, उन्हें संविधान की दूसरी अनुसूची में निर्धारित वेतन, भत्ते इत्यादि दिये जायें। उस अनुसूची के भाग क (1) में उनके लिए 5,500 रुपये का स्थिर वेतन निर्धारित किया गया था तथा उसकी अन्य उपधाराओं में यह निर्दिष्ट किया गया था कि गवर्नर को वही भत्ते और वैयक्तिक अधिकार दिये जायें, जो "संविधान प्रवर्तित होने के तुरन्त पहले" उस प्रान्त के गवर्नर को दिये जाते थे। गवर्नर का वेतन एवं भत्ते उनके कार्यकाल में कम नहीं किये जा सकते। धारा 159 में वह शपथ निर्धारित की गई जो प्रत्येक गवर्नर अथवा गवर्नर का कार्य सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को पदग्रहण करने से पहले, उस राज्य के मुख्य न्यायाधीश व उनकी अनुपस्थिति में उस न्यायालय के जो भी वरिष्ठतम जज उपस्थित हों, उनकी उपस्थिति में ग्रहण करनी होती है। इस शपथ द्वारा गवर्नर पर संविधान एवं विधि को बनाये रखने, उसकी रक्षा करने, तथा अतिक्रमण न होने देने, तथा अपनी पूर्ण योग्यतानुसार वहाँ की जनता की सेवा करने का दायित्व आ जाता है।

गवर्नर की संरक्षा (Protection of Governor)

संविधान की धारा 361 में गवर्नर की उनके विरुद्ध न्यायालय में कार्रवाई से रक्षा की गई है। इस धारा के अनुच्छेद (1) में निर्धारित किया गया है कि गवर्नर को अपने पद के अनुसार अपनी क्षमता का उपयोग करने या अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करने, अथवा उसी सम्बन्ध में कोई कार्य करने या कराने की व्यवस्था करने के प्रति किसी न्यायालय में उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। अनुच्छेद (2) के अनुसार गवर्नर के कार्यकाल में उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई फौजदारी मुक़द्दमा नहीं चलाया जा सकता। अनुच्छेद (3) द्वारा न्यायालयों को गवर्नर के कार्यकाल में उनके विरुद्ध बन्दी बनाने या कारागार में डालने का कोई भी आदेश जारी करने की मनाही की गई है। यदि गवर्नर के विरुद्ध उनके द्वारा अपने पद पर नियुक्त होने से पहले या बाद से वैयक्तिक रूप से किये गए अथवा करने के लिए प्रत्याशित किसी कार्य के लिए ऐसा वाद चलना प्रत्याशित हो जिसमें उनसे अनुतोष (relief) की माँग की जाए, तो वाद आरम्भ करने से पहले उन्हें दो मास का स्पष्ट नोटिस देना या उनके कार्यालय में पहुँचाना अनिवार्य होता है जिसमें वादी का नाम, पता एवं अनुतोष की मात्रा स्पष्ट की गई हो।

मन्त्रि परिषद द्वारा गवर्नर को सहायता एवं परामर्श (Council of Ministers to Aid and Advice the Governor)

राज्य की कार्यकारी सत्ता गवर्नर में निहित होती है और "इस संविधान के अधीन जो कार्य भाग उन्होंने स्वयं अपने विवेकानुसार करने हैं, उनकी परिसीमा के अतिरिक्त," उन्हें अपनी कार्यकारी सत्ता का प्रवर्तन मन्त्रि परिषद के 'परामर्श' एवं सहायता से

करना होता है (धारा 163, 1)। इन कार्य भागों की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई और उसी धारा के अनुच्छेद (2) में उनकी परिसीमा लगभग असीम रहने दी गई। उसमें निर्दिष्ट किया गया है कि यदि किसी समय यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि कोई मामला ऐसा है अथवा नहीं, जिसमें गवर्नर को अपने विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए, तो वह जो **निर्णय अपने विवेक से**[3] करें वह अन्तिम माना जाय। गवर्नर द्वारा किए गए किसी कृत्य को यह कह कर विवाद का विषय न बनाया जाय कि उसे अपने विवेक से कार्य करना चाहिए था (अथवा नहीं चाहिए था)। धारा 164 में और अधिक निर्धारण कर के निर्दिष्ट किया गया कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति गवर्नर द्वारा की जाए तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी मुख्यमन्त्री के परामर्श के अनुसार गवर्नर द्वारा की जाए तथा मन्त्रीगण "गवर्नर की इच्छा रहने तक" अपने पद पर आसीन रहें। धारा 167 के अनुसार मुख्यमन्त्री के लिए–(क) राज्य के प्रशासन सम्बन्धी मामलों तथा विधि-निर्माण सम्बन्धी प्रस्ताव विषयक सभी निर्णयों की सूचना गवर्नर को देना, (ख) गवर्नर को राज्य के प्रशासन सम्बन्धी मामलों एवं विधि-निर्माण प्रस्तावों के विषय में, वह सभी सूचना देना जो वे माँगें, तथा (ग) 'यदि गवर्नर चाहें तो ऐसा कोई भी निर्णय, जो किसी एक मन्त्री ने किया हो, पर परिषद ने उस पर विचार न किया हो, पर मन्त्रिपरिषद के विचारार्थ प्रस्तुत करना आवश्यक निर्धारित किया गया है।

गवर्नर तथा राज्य विधान मण्डल की संरचना (Governor and the Composition of State Legislature)

संविधान द्वारा गवर्नर को राज्य विधान मण्डल का एक अंग बनाया गया तथा उन्हें उसकी संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। धारा 333 के अनुसार, यदि उनके विचार में ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय को विधान सभा में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ हो तथा अतिरिक्त प्रतिनिधित्व की आवश्यकता हो तो वे उस समुदाय के कुछ व्यक्तियों को मनोनीत कर सकते हैं। इस प्रावधान को संविधान के 23 वें संशोधन अधिनियम, 1969 द्वारा संशोधित करके निर्धारित कर दिया गया कि आगे से राज्यों के गवर्नरों को प्रत्येक राज्य विधान मण्डल के लिए केवल एक ऐंग्लो-इण्डियन व्यक्ति नामांकित करने का अधिकार रहेगा।

जिन राज्यों में दो सदन–विधान सभा और विधान परिषद–हों, उनमें परिषद के कुछ सदस्य गवर्नर द्वारा नामांकित किए जाते हैं। इसके लिए ऐसे व्यक्ति लिए जाते हैं जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन, और समाज सेवा इत्यादि के क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान अथवा अनुभव हो। धारा 192 में निर्दिष्ट किया गया है कि यदि किसी समय ऐसा प्रश्न उठ खड़ा हो कि अमुक व्यक्ति में धारा 191 में निर्धारित सभी अर्हताएँ हैं अथवा नहीं तो उस पर गवर्नर का निर्णय लिया जाए, जोकि अन्तिम होगा। किन्तु गव-

[3]काले अक्षरों में मुद्रित शब्द लेखक के हैं।

र्नर को पहले चुनाव आयोग से परामर्श करके तदनुसार निर्णय करना होता है। सभा के अध्यक्ष का पद रिक्त होने पर उनका कार्य उपाध्यक्ष करते हैं, पर यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो तो गवर्नर चाहे जिस सभासद को अध्यक्ष का कर्त्तव्य पूरा करने के लिए नियुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार, यदि किसी समय व किसी भी कारण से विधान परिषद के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष दोनों के ही स्थान रिक्त हों तो गवर्नर किसी भी परिषद सदस्य को उनके स्थान पर कार्य करने के लिए नियुक्त करते हैं। विधान सभा अथवा परिषद के सचिवालयों में कर्मचारियों की भर्ती व सेवा की शर्तो सम्बन्धी नियम व उपनियम विधान मण्डल द्वारा विधि के रूप में बनाए जाते हैं, पर यदि आवश्यक हो तो गवर्नर स्पीकर या अध्यक्ष से परामर्श करके क्रमश: विधान सभा अथवा विधान परिषद के सचिवालय कर्मचारियों के लिए नियम या उपनियम इत्यादि बना सकते हैं।

गवर्नर तथा राज्य विधान मण्डलों द्वारा कर्त्तव्य-पालन (Governor and the Functioning of State Legislature)

राज्य विधान मण्डल के कर्त्तव्य पालन में गवर्नर को महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है। धारा 174 में निदिष्ट किया गया है कि गवर्नर समय-समय पर अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार उचित समय एवं स्थान पर, राज्य की विधान सभा को अथवा जहाँ विधान सभा एवं विधान परिषद दोनों सदन हों वहाँ प्रत्येक सदन को, अधिवेशन करने का आह्वान करें। किन्तु ध्यान रहे कि विगत अधिवेशन की अन्तिम बैठक एवं आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक की नियत तिथि के बीच छ: मास का अन्तर न पड़ने पाये। वे समय-समय पर सदन या दोनों सदनों का सत्रावसान भी कर सकते हैं तथा सभा को भंग भी कर सकते हैं। विधान सभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् प्रथम अधिवेशन के आरम्भ में तथा प्रत्येक वर्ष प्रथम अधिवेशन के आरम्भ में गवर्नर विधान सभा को, अथवा जिस राज्य में विधान परिषद भी हो, वहाँ दोनों सदनों की संयुक्त बैठक को सम्बोधित करके उनके आह्वान का कारण समझाते हैं। गवर्नर को अपनी इच्छानुसार चाहे जब विधान सभा एवं विधान परिषद को सामूहिक अथवा पृथकरूप से सम्बोधित करने का भी अधिकार होता है और इसके लिए वे उनके सदस्यों को उपस्थित होने का आदेश दे सकते हैं। वे किसी विधान मण्डल में विचाराधीन विधेयक के सन्दर्भ में अथवा अन्यथा भी, विधान सभा या विधान परिषद अथवा दोनों सदनों को सन्देश भेज सकते हैं जिसके प्राप्त होने पर सम्बन्धित सदन या सदनों द्वारा उस पर यथाशीघ्र कार्रवाई करना अनिवार्य होता है।

गवर्नर द्वारा विधेयकों की स्वीकृति (Governor and Assent to Bill)

गवर्नर राज्य में विधायक प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी होते हैं। यद्यपि सभी विधेयक विधानसभा द्वारा पारित किए जाते हैं और जहाँ विधान परिषद भी हो, उस राज्य में दोनों सदनों द्वारा संविधान की धारा 196, 197 व 198 में निर्धारित कार्य-विधि

के अनुसार पारित किए जाते हैं पर कोई भी विधेयक, जब तक उस पर गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय, राज्य का अधिनियम नहीं बन सकता। कोई भी विधेयक गर्वनरको प्रेषित किया जाने पर, वे निम्नलिखित चार मार्गों में से कोई एक अपना सकते हैं: (1) वे विधेयक के प्रति स्वीकृति प्रदान कर सकते हैं; (2) स्वीकृति देने से इन्कार कर सकते है; (3) विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक सकते हैं; अथवा (4) यदि वह वित्त विधेयक न हो तो उसे सदन को लौटा कर साथ ही उस पर या उसके किसी विशिष्ट अंग पर, विशेषत: उनके सन्देश में सुझाए गए किसी संशोधन पर, विचार करने का आग्रह कर सकते हैं। विधेयक के लौटाए जाने पर सदन या सदनों को उस पर तदनुसार विचार करना होता है। उसी विधेयक को संशोधन सहित अथवा संशोधन के बिना दोबारा पारित करके गवर्नर को प्रेषित किए जाने पर स्वीकृति से इन्कार नहीं किया जा सकता। उस स्थिति में गवर्नर या तो विधेयक के प्रति स्वीकृति प्रदान करेंगे अथवा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक लेंगे। यदि विधान मण्डल कोई ऐसा विधेयक पारित कर दे, जो गवर्नर के मतानुसार विधि रूप में प्रवर्तित होने पर उच्च न्यायालय की क्षमता पर ऐसा कुप्रभाव डालेगा जिससे उसे संविधान द्वारा प्रदत्त मान कम होने की आशंका हो, तो वे उस विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक सकते हैं। यह प्रावधान उच्च न्यायालय की निष्पक्षता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करने तथा उस राज्य विधान मण्डल एवं मन्त्रि परिषद की मनमानी से सुरक्षित रखने के लिए किया गया है। जिस विधेयक को सभा के अध्यक्ष ने वित्त विधेयक प्रमाणित कर दिया हो, गवर्नर को उसके प्रति अपनी सहमति रोकने का अधिकार नहीं होता। वित्त विधेयक की परिभाषा संविधान की धारा 199 में बताई गई है।

गवर्नर, प्रत्येक वित्त वर्ष के सम्बन्ध में विधान मण्डल के सम्मुख "वार्षिक वित्तीय विवरणिका" अर्थात बजट प्रस्तुत कराते हैं। गवर्नर द्वारा सिफारिश के बिना खर्चे की कोई माँग प्रस्तुत नहीं की जा सकती तथा उनकी सिफारिश के बिना कोई वित्त विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

गवर्नर की विधानकारी क्षमता (Legislative Powers of the Governor)

गवर्नर को विधायक प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी होने के अतिरिक्त, कतिपय विधानकारी क्षमताएँ भी होती हैं। धारा 213 में निर्दिष्ट किया गया है कि किसी समय जब किसी राज्य की विधान सभा का अधिवेशन न हो रहा हो, तथा जिस राज्य में विधान परिषद हो, वहाँ की विधान परिषद का भी अधिवेशन न हो रहा हो और गवर्नर को विश्वास हो कि तत्कालीन परिस्थिति से निपटने के लिए तुरन्त कार्रवाई करना आवश्यक है तो वे समय की आवश्यकतानुसार अध्यादेश जारी कर सकते हैं। ऐसे प्रत्येक अध्यादेश की वही शक्ति एवं प्रभाव होते हैं जो विधान मण्डल द्वारा पारित अधिनियम पर गवर्नर की स्वीकृति मिल जाने के बाद उस विधेयक के होते हैं। किन्तु अध्यादेश को विधान सभा में तथा यदि परिषद हो तो विधान परिषद में भी प्रस्तुत

करना अनिवार्य होता है। यदि विधान मण्डल का सत्र पुनः आरम्भ होने के बाद छः सप्ताह की अवधि के भीतर उसे विधानमण्डल द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता तो वह छः सप्ताह की अवधि बीतने पर निष्क्रिय हो जाता है। अध्यादेश को गवर्नर चाहे जब वापस ले सकते हैं। यदि किसी अध्यादेश में ऐसा प्रावधान किया जाए जो गवर्नर की स्वीकृति द्वारा विधान मण्डल के अधिनियम के रूप में प्रस्तुत किए जाने पर वैध न हो सकता हो तो वह प्रभावशून्य होगा। गवर्नर को राष्ट्रपति की अनुमति लिए बिना ऐसा कोई अध्यादेश प्रवर्तित नहीं करना चाहिए, यदि—(क) वही प्रावधान करने के लिए विधान मण्डल में विधेयक प्रस्तुत करने से पहले राष्ट्रपति की स्वीकृति लेना आवश्यक हो, या (ख) गवर्नर उन्हीं प्रावधानों वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए रोक रखना आवश्यक समझें, या (ग) संविधान के अन्तर्गत, यदि उन्हीं प्रावधानों सहित राज्य विधान मण्डल द्वारा प्रस्तुत किया गया विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक रखा जाने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुए बिना अवैध हो।

समवर्ती विधान सूची में दिये गये किसी भी विषय के सम्बन्ध में केन्द्रीय संसद एवं राज्य विधान मण्डल दोनों ही विधि-निर्माण कर सकते हैं। किन्तु संविधान की धारा 254(1) में निर्दिष्ट किया गया है कि यदि समवर्ती विधान सूची में दिये गए किसी विषय के सम्बन्ध में किसी राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाये गए विधि का प्रावधान, संसद द्वारा बनाई गई विधि अथवा प्रचलित विधि के किसी प्रावधान के विपरीत हो तो राज्य विधान मण्डल द्वारा निर्मित विधि विपरीतत्व की परिसीमा तक प्रभावशून्य होगा। किन्तु यदि ऐसी कोई विधि राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक रखी गई हो और उनकी स्वीकृति प्राप्त हो गई हो तो वह तत्सम्बन्धित राज्य में प्रचलित हो जायगा। गवर्नर के अध्यादेश के प्रति भी वही सिद्धान्त लागू होता है अर्थात् वह केवल तभी वैध हो सकता है, जब वह राष्ट्रपति के निर्देश पर अथवा राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति द्वारा प्रवर्तित किया गया हो।

गवर्नर की क्षमा दान सम्बन्धी क्षमता (Power of Governor to Grant Pardons)

धारा 161 में गवर्नर की कतिपय अर्ध न्यायिक प्रकार की क्षमताएँ प्रदान की गई हैं। इसके अनुसार गवर्नर को राज्य की कार्यकारी क्षमता के मामलों से सम्बन्धित किसी विधि के अधीन किसी अपराध के लिए दण्डित किये गए व्यक्ति को क्षमा, मोहलत, निलम्बन अथवा मुक्ति प्रदान करने अथवा दण्ड को निलम्बित, क्षमा अथवा कम करने का अधिकार होता है।

गवर्नर के नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार (Governor's Power of Appointments)

मुख्यमन्त्री नियुक्त करने तथा मुख्यमन्त्री के परामर्श पर अन्य मन्त्री नियुक्त करने

के अतिरिक्त गवर्नर एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता वाले व्यक्ति को, राज्य का ऐडवोकेट-जनरल नियुक्त करते हैं, जो राज्य को सभी विधि सम्बन्धी मामलों पर परामर्श देते हैं तथा उन्हें समय-समय पर गवर्नर द्वारा सौंपे गए अन्य विधि सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते हैं। उनका कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर करता है तथा उनका पारिश्रमिक भी गवर्नर द्वारा निश्चित किया जाता है। गवर्नर, राज्य सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति भी करते हैं। वे आयोग भी सदस्य-संख्या तथा उनकी सेवा की शर्तें निश्चित करते हैं तथा आयोग के अमले की संख्या और उनकी सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में प्रावधान निर्धारित करते हैं।

गवर्नर एक संवैधानिक प्रधान
(Governor as Constitutional Head)

उपरोक्त सभी प्रावधानों के संकलित अध्ययन से ऐसा प्रतीत होगा कि गवर्नर ही वास्तविक कार्यकारी होते हैं तथा उनका स्थान न्यूनाधिक रूप से ब्रिटिश राज्य के गवर्नर के समान होता है और यदि वे चाहें तो निरंकुश शासक बन सकते हैं। किन्तु संविधान के निर्माताओं की गवर्नर पद के लिए ऐसी धारणा नहीं थी। संविधान की प्रारूप समिति (Constitution Drafting Committee) के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर का विचार था कि गवर्नर के अधिकार या क्षमता तो क्या, कोई कार्याङ्ग भी नहीं हैं, केवल "कर्त्तव्य" हैं। उनके कथनानुसार गवर्नर के मुख्यत: केवल दो "कर्त्तव्य" थे : (1) मन्त्रिमण्डल को उसके पद पर बनाए रखना तथा उचित समय पर अपने तत्सम्बन्धी विवेकनिर्णय का सदुपयोग करना, तथा (2) मन्त्रिमण्डल को उचित सलाह देना, यथासमय चेतावनी देना, तथा उसे विकल्प सुझाकर पुनर्विचार का आग्रह करना। उनका कहना था कि गवर्नर, मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार, कार्य करने के लिए बाध्य होते हैं।[4] के० एम० मुन्शी ने संविधान सभा में कहा था कि गवर्नर को मन्त्रिमण्डल के निर्णयों को रद्द करने का कोई अधिकार नहीं है तथा उन्हें वही दर्जा प्राप्त है, जो इंग्लैंड के राजा या रानी को होता है।[5] पी० एस० देशमुख तथा टी० टी० कृष्णमाचारी का मत था कि "गवर्नर एक संवैधानिक प्रधान हैं, जिन्हें प्रशासन में वास्तविक रूप से हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होता।"[6] अनेक अन्य व्यक्तियों का भी यही दृष्टिकोण था।

इस विचारधारा को लेकर संविधान के निर्माताओं ने मन्त्रिपरिषद को "सामू-

[4]Constituent Assembly *Debates*, Vol. VIII, pp. 546-47.
[5]*Ibid.*, p. 541.
[6]*Ibid.*, p. 433.

हिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी" बनाया (धारा 164,2), **गवर्नर के प्रति नहीं।** इस प्रकार, उन्होंने ब्रिटिश नमूने पर एक उत्तरदायी प्रकार की सरकार स्थापित की जिसमें राज्य का प्रधान एक संवैधानिक कठपुतला मात्र होता है, सत्ता का वास्तविक आगार नहीं। इसका अधिक स्पष्ट अर्थ होगा कि गवर्नर को अपनी सभी सामर्थ्यों का प्रवर्तन तथा कर्त्तव्यों का पालन मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद की "सहायता एवं परामर्श" से करना होता है। पहले तीन आम चुनावों के 15 वर्षों में यह दृष्टिकोण प्रवर्तित होता रहा और भारतीय संघ के विभिन्न राज्य उस पर आचरण करते रहे। मुख्यमन्त्री की सलाह को स्वीकार किया जाता रहा तथा मन्त्रिपरिषद के निर्णयों पर बिना मीन-मेख निकाले आचरण किया जाता रहा। राज्य सरकारों के मन्त्री गवर्नर को केन्द्र के साथ एक संयोजक कड़ी तक के रूप में प्रयुक्त करने की भी चिन्ता नहीं करते थे और केन्द्रीय मन्त्रालयों से सीधे पत्राचार करते थे। राज्य के विश्वविद्यालयों सम्बन्धी मामलों में भी—गवर्नर जिनके कुलपति होते थे—मुख्यमन्त्रियों तथा शिक्षा मन्त्रियों का आग्रह होता था कि गवर्नर उनकी सलाह के अनुसार कार्य करें।

उपरोक्त अवधि (1950-67) में गवर्नरों को इतने कम अधिकार होते थे कि उनमें से कुछ तो अपने भाग्य को कोसते थे और कहते थे कि उनका पद पूर्णतः निष्फल है। डा० के० वी० राव ने अपने लेख "The Governor at Work" में उत्तर प्रदेश की गवर्नर सरोजिनी नायडू के हवाले से कहा कि वे अपने आपको "सोने के पिंजरे की चिड़िया" समझती थीं, और डा० पट्टाभि सीतारमैया के हवाले से कहा कि उन्हें "राष्ट्रपति को पाक्षिक प्रतिवेदन" प्रेषित करने के अतिरिक्त कोई सरकारी कामकाज नहीं करना पड़ता था। डा० राव ने यह भी लिखा है कि मुख्यमन्त्री प्रायः गवर्नरों को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे और जब गवर्नरों ने नेहरू से शिकायत की तो उन्होंने भी उनके पत्रों का केवल यही उत्तर दिया कि "उन्हें शिकायत नहीं करनी चाहिए।"[7]

गवर्नरों को संवैधानिक कठपुतलों के रूप में कार्य क्यों करना पड़ता था (Why Governor Acted as Constitutional Figure-head)—यह धारणा कि गवर्नर केवल एक संवैधानिक कठपुतलामात्र था, सत्य प्रमाणित हुई और 1950-67 की अवधि में सारे देश में प्रवर्तित होती रही। इसके मुख्यतः तीन कारण थे : पहला यह कि नया संविधान प्रवर्तित होने के पश्चात् जब प्रथम आम चुनावों के फलस्वरूप राज्यों की सरकारें बनाई गईं तो राज्य स्तर पर चोटी के कांग्रेसी नेताओं ने मुख्य-

[7]See *The Journal of the Society for the Study of State Governments*, Vol. I, जुलाई-सितम्बर 1968, नं० 3 पृष्ठ 93. डा० राव ने लिखा है कि जब नेहरू से स्पष्टतया प्रश्न किया गया कि गवर्नरों के कार्यभाग क्या हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया"...लोगों का स्वागत करना और उन्हें खुश कर देना" (to entertain the people and make them feel pleased).

मन्त्री पद संभाल लिए तथा केवल द्वितीय श्रेणी के नेताओं को गवर्नर अर्थात् राज्यपाल बनाया गया। उदाहरणतया, गोविन्दवल्लभ पन्त उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री बने, विधानचन्द्र राय पश्चिम बंगाल के तथा डा० श्रीकृष्ण सिन्हा बिहार के। इन राज्यों में जो व्यक्ति गवर्नर नियुक्त किये गये वे यद्यपि प्रतिभाशाली व्यक्ति थे पर उनके समान प्रख्यात नहीं थे। दूसरा कारण यह था कि पहले तीनों आम चुनावों की अवधि में, केन्द्र में तथा अधिकतर राज्यों में, कांग्रेस का जोर था और कभी भी कोई संवैधानिक संकट उठ खड़ा होने पर उसे कांग्रेस हाई कमान के निर्देशन में सुलझा लिया जाता था। एक मन्त्रिमण्डल के अपदस्थ होने पर दूसरा मन्त्रिमण्डल स्थापित करने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। केरल के अतिरिक्त, जहाँ 1956, 1959 व 1964 में, अर्थात् तीन बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा, अन्य राज्यों में से केवल निम्नलिखित में एक-एक बार लागू करना पड़ा था अर्थात् पंजाब में 1951 में, पैप्सू में 1953 में, आन्ध्र में 1954 में, ट्रावनकोर-कोचीन में 1956 में तथा उड़ीसा में 1961 में। गवर्नरों द्वारा 1950-67 की अवधि में संवैधानिक कठपुतले के रूप में कार्य करने का तीसरा कारण यह था कि वे राष्ट्रपति के संकेत पर कार्य करते थे, जो स्वयं उन्हीं के समान थे। प्रधानमन्त्री एवं राष्ट्रपति में भी किसी प्रश्न को लेकर मतभेद होने पर राष्ट्रपति के दृष्टिकोण की बजाय प्रधानमन्त्री की इच्छा ही प्रबल सिद्ध होती थी।

गवर्नरों द्वारा अपने अधिकारों का विवेकानुसार प्रवर्तन (Governors Exercise their Powers in Discretion)

चौथे आम चुनाव के बाद राजनीतिक स्थिति में अन्तर पड़ गया। सात राज्यों में कांग्रेस दल के हाथों से बहुमत का समर्थन छिन गया जिनमें से छः राज्यों में 12, 13 तक विपक्षी दलों ने मिलकर शासन-तन्त्र संभालने के लिए संयुक्त मोर्चे स्थापित कर लिए। इन दलों का एकमात्र संयोजक तत्त्व कांग्रेस का विरोध एवं सत्ता हथियाने का प्रयत्न था। इन दलों में न तो कोई सैद्धान्तिक लगाव था और न ही समान विचारो वाले दलों में भी परस्पर विलय करके दो या तीन दलीय पद्धति स्थापित करने की इच्छा थी। चुनावों के पहले या बाद, जितने भी संयुक्त दल बने, वे सब अपनी-अपनी सुविधा के प्रति चिन्तित थे और स्पष्ट रूप से सत्ता व पद हथियाने के लिए संघर्ष करते थे। उन्हें सरकार में कोई भाग मिलने की आशा समाप्त अथवा क्षीण होते ही उसकी कतिपय घटक इकाइयाँ समर्थन वापस ले लेती थीं, जिसके फलस्वरूप संयुक्त मोर्चा टूट कर मन्त्रिमण्डल भंग हो जाता था। मार्च 1967 से मार्च 1972 तक की अवधि में विभिन्न राज्यों में सरकार लगभग 25 बार अपदस्थ हुई तथा लगभग 15 बार राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राज्य विधान सभाओं के पाँचवें आम चुनावों के

पूर्वसंध्या को सात राज्यों में केन्द्रीय शासन विद्यमान था।[8] इस अवधि में राजनीतिक दल बदलना रोज़ की बात हो गई थी तथा राज्य विधान सभाओं के सदस्य बार-बार वस्त्र बदलने के समान राजनीतिक दलीय आस्था बदलते थे। इस प्रकार की दल-बदलू राजनीतिक परिस्थिति में न तो कोई मुख्यमंत्री हो सकता था और न ही कोई स्थायी मन्त्रिपरिषद हो सकती थी। विधान सभा के प्रति मन्त्रि परिषद के "सामूहिक उत्तरदायित्व" का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसके परिणामस्वरूप धारा 161(1) का यह प्रावधान कि गवर्नर अपने कार्यभाग मन्त्रिपरिषद की "सहायता एवं परामर्श" से पूरे करेंगे, अप्रवर्तनीय हो गया।

संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने डा० अम्बेडकर तथा अन्य व्यक्तियों के इस दृष्टिकोण से मतभेद प्रकट किया था कि गवर्नर के लिए मन्त्रिपरिषद की "सहायता व परामर्श" स्वीकार करना अनिवार्य है। उदाहरणतः, अल्लदी कृष्णास्वामी का मत था कि गवर्नर को यदा-कदा अपने "विशेषाधिकारों" का प्रयोग करना पड़ सकता है।[9] ठाकुर दास भार्गव का कहना था कि गवर्नर को "कठपुतली या खिलौना मात्र" बनाना ठीक नहीं होगा। उनका कहना था कि गवर्नर के अधिकार "विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण" होने चाहिए।[10] कुछ सदस्यों का विचार था कि गवर्नर को "राज्यों की स्वायत्तता तथा राष्ट्रपति और भारत सरकार के मध्य एक आवश्यक कड़ी" की भूमिका निभानी चाहिए।[11] एक सदस्य का विचार था कि केन्द्र सरकार की नीतियों का "सभी राज्यों द्वारा अनुकरण किया जाना चाहिए" और इसके लिए गवर्नर एक मध्यवर्त्ती एजन्सी के रूप में कार्य करें।[12] एक अन्य सदस्य के मतानुसार राष्ट्रपति पर सारे देश की समृद्धि, सुरक्षा एवं स्थायित्व का उत्तरदायित्व था और वे इसकी पूर्ति राज्यों के गवर्नरों के माध्यम से कर सकते थे।

चौथे आम चुनावों से पहले के युग में गवर्नर का जो पद अत्यन्त महत्त्वहीन हो गया था, राज्यों की नई राजनीतिक स्थिति के परिवेश में उसका महत्त्व चमक उठा और गवर्नर वास्तविक रूप से राज्यों के कार्यकारी अधिकारी बन गए। उन्होंने धारा 163 के द्वितीय प्रावधान का लाभ उठाते हुए अपने विवेकानुसार संवैधानिक अधिकारों का उपयोग करना आरम्भ कर दिया।[13]

मुख्यतः अ-राज्यीय क्षेत्रों में गवर्नरों के कई ऐसे विशेष कार्य-भाग एवं दायित्व थे

[8]ये राज्य बिहार, गुजरात, पंजाब, मैसूर, मणिपुर, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल थे।
[9]Constituent Assembly, *Debates*, Vol. VIII, p. 432.
[10]*Ibid.*, p. 496.
[11]*Ibid.*, p. 535.
[12]*Ibid.*, pp. 494-95.
[13]यह प्रावधान इस प्रकार है :
"यदि किसी समय यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि कोई मामला ऐसा है या नहीं जिसमें गवर्नर को विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए तो गवर्नर जो निर्णय अपने विवेक से करें, वह अन्तिम माना जाय तथा गवर्नर द्वारा किये गए किसी कृत्य को यह कह कर विवाद का विषय न बनाया जाय कि गवर्नर को अपने विवेक से कार्य नहीं करना चाहिए था।"

जिनकी पूर्ति में वे राज्यों के राजनीतिक स्थायित्व के दिनों में भी, यदि मुख्यमन्त्री व मन्त्रिपरिषद की सलाह केन्द्र सरकार के निर्देशों से विपरीत या भिन्न हो तो, उसकी अवहेलना कर सकते हैं। ये कार्यभाग संविधान के भाग XI में वर्णित हैं। उस भाग की धारा 256 में निर्दिष्ट किया गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी सत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाय कि संसद द्वारा बनाई गई विधि का पालन होता रहे। धारा 257(1) में निर्दिष्ट किया गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी सत्ता को इस प्रकार प्रयुक्त किया जाये कि उससे भारतीय संघ की कार्यकारी सत्ता के प्रवर्तन में बाधा अथवा प्रतिकूल प्रभाव न पड़े, तथा संघ की कार्यकारी सत्ता व क्षेत्र किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत हो जो उस उद्देश्य के लिए भारत सरकार को आवश्यक प्रतीत होते हों। धारा 258(1) के प्रावधान के अनुसार राष्ट्रपति, किसी सरकार की सहमति से उस सरकार या उसके अधिकारियों को संघीय कार्यकारी सत्ता के किसी भी मामले के सम्बन्ध में, कोई भी कार्यभाग बिना शर्त या आवश्यक शर्त सहित सौंप सकते हैं।

धारा 200 के अनुसार भी गवर्नर अपने विवेकानुसार कार्य कर सकते हैं। उसमें प्रावधान है कि गवर्नर किसी भी राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक कर रख सकते हैं। स्पष्टतः एवं सामान्यतः, मन्त्रिपरिषद, राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक से, सहमत होती है और गवर्नर को उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक रखने का परामर्श नहीं देती। अतः विधेयक को इस प्रकार रोक रखने का निर्णय स्वयं गवर्नर अपने विवेकानुसार करते हैं।

राज्यों में मिली-जुली राजनीति के कारण कई अन्य मामलों में भी गवर्नरों की विवेक सत्ता का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया। उनमें से एक मुख्यमन्त्री की नियुक्ति था।

जब तक विधान सभा में एक राजनीतिक दल का स्पष्ट बहुमत रहा और वह अपना नेता चुनने के योग्य रहा; गवर्नर के विवेक की प्रयुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु जब दो या तीन राजनीतिक दलों या गठबन्धनों ने बहुमत के समर्थन का दावा करते हुए मन्त्रिमण्डल बनाने के अधिकार का दावा किया तो गवर्नर को **अपने विवेकानुसार** यह निर्णय करने का अवसर मिला कि वे किसे मुख्यमंत्री बनाकर सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें। इसके कई उदाहरण हैं, जिनमें से प्रथम राजस्थान था। वहाँ कांग्रेस विधायक दल के नेता मोहनलाल सुखाड़िया तथा डूंगरपुर के महारवाल लक्ष्मण सिंह ने, जिन्हें स्वतंत्र दल, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ और जनता इंडिपैंडेन्ट्स के संयुक्त मोर्चे ने अपना नेता चुना था, मुख्यमन्त्री नियुक्त किये जाने तथा सरकार बनाने के अधिकार की माँग की, पर गवर्नर सम्पूर्णानन्द ने मोहनलाल सुखाड़िया को चुना। उनके इस निर्णय का यह कारण बताया गया कि उनका विचार था कि लक्ष्मण सिंह स्थायी सरकार नहीं बना सकेंगे। सुखाड़िया राज्य का प्रशासन नहीं चला सके और आम चुनावों के केवल एक मास बाद वहाँ (13 मार्च से) राष्ट्रपति शासन लागू

हो गया। सुखाड़िया और लक्ष्मण सिंह ने पुनः बहुमत के समर्थन के दावे किये, पर राज्य के गवर्नर हुकम सिंह ने पुनः सुखाड़िया का दावा स्वीकार किया क्योंकि विधान सभा के कुछ सदस्य दल बदल कर कांग्रेस में जा मिले और उसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो गया। इसी प्रकार पंजाब में अकाली दल के एक घड़े के नेता गुरनाम सिंह तथा दूसरे घड़े के नेता प्रकाशसिंह बादल ने मार्च 1970 में मुख्यमन्त्री पद के लिए अधिकार जताया, पर गवर्नर डी० सी० पावटे ने प्रकाश सिंह बादल का दावा अधिक सुदृढ़ माना। उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रांति दल के नेता तथा सत्ताधारी कांग्रेस के कृपापात्र, चरण सिंह, तथा विपक्षी कांग्रेस, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, और जनसंघी विधान सभासदों द्वारा सर्वसम्मति से निर्वाचित नेता गिरधारीलाल ने पृथक-पृथक बहुमत के समर्थन का दावा किया पर गवर्नर बी० गोपाल रेड्डी ने गिरधारीलाल को न चुन कर मुख्यमन्त्री पद के लिए चरण सिंह को चुना।

बिहार में 18 दिसम्बर, 1970 को दारोगा राय मंत्रिमण्डल के विलय के बाद संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष कर्पूरी ठाकुर जिन्हें विपक्षी कांग्रेस, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी द्वारा नेता चुना गया था तथा लोकतांत्रिक कांग्रेस नेता व कई अन्य दलों के कृपापात्र भोला पास्वान शास्त्री, इन दोनों ने दावा किया कि बहुमत उनके साथ है, पर गवर्नर ने ठाकुर को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया, शास्त्री को नहीं और उन्हें मुख्यमंत्री नियुक्त किया।

1 मार्च, 1073 को कांग्रेस विधायक दल की नेता श्रीमती नन्दिनी सतपथी ने मुख्यमन्त्री पद से इसलिए त्यागपत्र दिया कि उसके दल के कतिपय विधान सभा सदस्य भूतपूर्व मुख्यमन्त्री बीजू पटनायक के प्रगति दल में जा मिले थे। पटनायक ने बहुमत के समर्थन का दावा किया और नया मन्त्रिमण्डल बनाने का अधिकार जताया, पर गवर्नर बी० डी० जत्ती ने राष्ट्रपति शासन स्थापित करने का परामर्श देने का निर्णय किया। इसी प्रकार, जब जून 1973 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री त्रिपाठी ने स्पष्ट बहुमत का समर्थन उपलब्ध होते हुए भी गवर्नर को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया तो गवर्नर ने विपक्षी दलों द्वारा वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाये जाने की संभावना पर विचार नहीं किया वरन् राष्ट्रपति शासन स्थापित करने की सिफारिश की।

दूसरा प्रश्न, जिस पर गवर्नर अपने विवेकानुसार अधिकारों का उपयोग करते हैं, विधान सभा का अधिवेशन बुलाने, सत्रावसाथ करने अथवा विधान मण्डल के दोनों सदनों का सत्रावसान करने तथा विधान सभा को भंग करने के सम्बन्ध में है। राज्यों में राजनीतिक स्थायित्व के दिनों में इस अधिकार का प्रयोग मुख्यमन्त्रियों के परामर्श पर किया जाता है, पर मिली-जुली सरकार की राजनीति के दिनों में जब कोई मुख्यमंत्री अपने समर्थकों के दल-बदल के कारण अथवा अपने संयुक्त मोर्चे की किन्हीं घटक ईकाइयों द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के कारण बहुमत का समर्थन खो बैठता है तो उसे सत्तारूढ़ बने रहने का लालच सवार हो जाता है जिसके लिए वह अपनी खोई हुई स्थिति अर्थात् बहुमत का समर्थन पुनः प्राप्त करने के लिए अन्य दलों के साथ

धूर्तता करने लगता है। यदि कोई मुख्यमन्त्री विधान सभा के सत्रावसान के शीघ्र बाद बहुमत का समर्थन खो बैठे तो वह लगभग छः मास तक अपने पद से चिपके रह सकता है, क्योंकि संविधान की धारा 174 (1) में निर्दिष्ट किया गया है कि विधान सभा के एक अधिवेशन के अन्तिम दिवस तथा अगले अधिवेशन के लिए नियत तिथियों के प्रथम दिवस में छः मास या उससे अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए।

मुख्यमन्त्री को ऐसा करने से रोकने के लिए कई बार गवर्नर उन्हें शीघ्रतम यह निश्चित करने के लिए विधान सभा का अधिवेशन बुलाने को कहते हैं कि उन्हें उसका विश्वास प्राप्त है अथवा नहीं, तथा यदि मुख्यमंत्री उसमें आनाकानी करता है तो गवर्नर उसे अपने विवेकानुसार पद्च्युत करके उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति नियुक्त करता है। ऐसा पहले पहल पश्चिम बंगाल में हुआ। प्रफुल्लचन्द्र घोष (स्वतंत्र) तथा विधान सभा के 17 अन्य सदस्यों द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के कारण ऐसा प्रतीत होने लगा कि अजय मुखर्जी की सरकार को बहुमत का समर्थन समाप्त हो गया है। गवर्नर धर्मवीर ने मुख्यमंत्री को उनकी शक्ति की परीक्षा के लिए अधिकतम 23 नवम्बर, 1967 तक विधान सभा का अधिवेशन बुलाने का आदेश दिया, पर मुख्यमन्त्री सदन की बैठक कुछ दिन पूर्व न करने देने पर अडिग रहे। इस पर गवर्नर ने अजय के मन्त्रिमण्डल को पद्च्युत कर दिया तथा प्रफुल्लचन्द्र घोष को मुख्यमंत्री नियुक्त किया।

उत्तर प्रदेश में लगभग ऐसी ही परिस्थितियों में गवर्नर ने भिन्न कार्रवाई की। कांग्रेस दल में अचानक फूट पड़ने के बाद श्रीमती गांधी के समर्थक कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों के एक दल ने, जिसके नेता कमलापति त्रिपाठी थे, कांग्रेस विधायक दल का परित्याग करके चरण सिंह के नेतृत्व में भारतीय क्रांति दल के साथ एक गठबन्धन स्थापित कर लिया। इन सदस्यों में सात मन्त्री थे, और उन्होंने भी अपने पदों का त्याग कर दिया जिससे चन्द्रभान गुप्ता का मन्त्रिमण्डल अल्पमत में रह गया। त्रिपाठी और चरण सिंह दोनों ने गवर्नर से विधान सभा की शीघ्र बैठक बुलाने का आग्रह किया ताकि यह जाना जा सके कि मुख्यमन्त्री को बहुमत का समर्थन प्राप्त है अथवा नहीं। पर गवर्नर ने उनकी माँग अस्वीकार करते हुए यह उत्तर दिया कि जब किसी को बहुमत का समर्थन उपलब्ध न रहे तो उसे पुनः अपनी स्थिति सुधारने के के लिए कुछ समय दिया जाना चाहिए। अधिवेशन की तिथि में परिवर्तन नहीं किया गया।

जून 1973 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया और विधान सभा के भंग करने की बजाय, उसकी दैनिक प्रक्रियाएँ रोक दी गईं। उसी वर्ष नवम्बर में कांग्रेस दल के नेता बहुगुणा ने एक नया मन्त्रिमण्डल बनाया पर उसके शपथ ग्रहण कर चुकने के बाद भी गवर्नर ने विधान सभा का अधिवेशन नहीं बुलाया। संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता मधु लिमये ने गवर्नर पर संविधान की अवहेलना का आरोप लगाया क्योंकि उन्होंने छः मास की अवधि के भीतर अधिवेशन नहीं बुलाया था।

लिमये का कहना था कि विधान सभा की बैठक 15 नवम्बर तक हो जानी चाहिए थी क्योंकि धारा 174(1) में निर्दिष्ट है कि "विधान सभा के विगत अधिवेशन के अन्तिम दिन तथा आगामी अधिवेशन के प्रथम दिन की निश्चित तिथि में छः मास का अन्तर नहीं होना चाहिए। विधान सभा की पिछली अन्तिम बैठक 15 मई को हुई थी। किन्तु केन्द्रीय विधि मन्त्री गोखले ने इस आरोप का खण्डन करते हुए कहा कि धारा 356 के अधीन घोषणा पत्र जारी करके राष्ट्रपति ने घोषित कर दिया था कि उत्तर प्रदेश विधान सभा के कार्य संसद पूरे करेगी तथा उसी घोषणापत्र द्वारा धारा 174 (1) को भी निलंबित कर दिया गया था। राष्ट्रपति को इसका अधिकार धारा 356 (1) (ग) से प्राप्त होता है जिसमें यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति, घोषणा द्वारा ऐसे एकरूप एवं महत्वपूर्ण प्रावधान निर्धारित कर सकते हैं, जो उन्हें घोषणा के परि-लक्ष्यों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक प्रतीत होते हों, जिसमें राज्य की किसी निकाय या प्राधिकार से सम्बन्धित इस संविधान के किन्हीं प्रावधानों के पूर्ण व आंशिक क्रियान्वन के स्थगन सम्बन्धी प्रावधान भी हैं। गोखले का तर्क था कि इन परिस्थि-तियों में निलम्बन की अवधि को धारा 174 (1) के अधीन निर्धारित छः मास की अवधि में नहीं गिना जाना चाहिए।

गवर्नर राष्ट्रपति को यह सिफारिश भेजने में भी अपने विवेक से काम लेते हैं कि राज्य में संवैधानिक तन्त्र शक्तिरहित हो गया है, अतः धारा 356 के अधीन राज्य का शासन केन्द्र को अपने हाथों में ले लेना चाहिए। यह कई बार हुआ। उदाहरणतः पश्चिम बंगाल में गवर्नर धर्मवीर ने फरवरी 1968 के तीसरे सप्ताह में निष्कर्ष निकाला कि न तो प्रोग्रेसिव डैकोक्रेटिक फ्रण्ट के नेता डा० प्रफुल्लचन्द्र घोष, और न ही संयुक्त मोर्चे के नेता अजय मुखर्जी, मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थे। उन्होंने दोनों के दावों की अवहेलना करते हुए राष्ट्रपति का शासन लागू करने की सिफारिश की और वही किया गया। राजस्थान में जब कांग्रेस विधायक दल के नेता मोहनलाल सुखाड़िया ने चौथे आम चुनावों के पश्चात् मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए गवर्नर का निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया तो गवर्नर ने संयुक्त मोर्चे के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह को, जो अधिकतर विधान सभा सदस्यों के समर्थन का दावा करते थे, मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित नहीं किया वरन् राज्य का प्रशासन केन्द्र द्वारा अपने हाथों में लिए जाने की सिफारिश की। पंजाब में जब नवम्बर 1967 के अन्तिम सप्ताह में मुख्यमन्त्री गुरनाम सिंह बहुमत का समर्थन खो बैठे और गवर्नर को विधान सभा भंग करने, राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने तथा नये चुनाव कराने का परामर्श दिया तो गवर्नर ने कहा कि नये चुनाव कराना "व्यर्थ रुपया बहाना" है। उन्होंने संयुक्त पंजाब जनता पार्टी के नेता लछमन सिंह गिल को नई सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। इसके बाद अगस्त 1968 में गवर्नर पावटे इस परिणाम पर पहुँचे कि न तो कांग्रेस विधायक दल के नेता राड़ेवाला (ज्ञान सिंह) और न ही विपक्षी नेता गुरनाम सिंह राज्य को एक स्थायी मन्त्रिमण्डल दे सकेंगे और उन्होंने राष्ट्रपति का

शासन लागू करने की सिफारिश की। इसी प्रकार, उत्तर प्रदेश में जब गवर्नर रेड्डी ने देखा कि न तो कांग्रेस विधायक दल के नेता चन्द्रभान गुप्ता और न ही संयुक्त विधायक दल के नेता हरीश चन्द्र स्थायी मन्त्रिमण्डल बना सकेंगे तो उन्होंने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की, जो 15 अप्रैल, 1968 को लागू कर दिया गया। मार्च, 1973 में जब श्रीमती नन्दिनी सत्पथी ने गवर्नर को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दिया तो गवर्नर ने सीधे राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की।

उसी महीने गवर्नर बी० के० नेहरू की सिफारिश पर मणिपुर में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया क्योंकि अलीमुद्दीन के नेतृत्व में गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया था। यद्यपि गवर्नर ने विधान सभा को केवल निलम्बित करने का परामर्श दिया था, पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने राष्ट्रपति को उसे भंग कर देने का परामर्श दिया। इसके पाँच कारण थे। पहला यह कि उड़ीसा व मणिपुर दोनों राज्यों में समान परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। दोनों राज्यों में सरकार को दल-बदल के कारण अपदस्थ होना पड़ा था। दूसरे, विपक्ष ने जो सरकार बनानी थी, वह भी, जैसाकि स्वयं गवर्नर का विचार था, स्थायी नहीं हो सकती थी। तीसरे, मणिपुर के एक सीमावर्ती राज्य होने के कारण वहाँ अस्थिरता होना विशेष रूप से अवांछनीय एवं अन्देशे की स्थिति होती। मुख्यमंत्री ने विधान सभा भवन में हराये जाने से पूर्व स्वयं विधान सभा भंग करने की माँग की थी। पाँचवें, मणिपुर एक ऐसा राज्य था जिसमें वर्षों से राजनीतिक दल-बदल होते चले आ रहे थे और जनता की विचारधारा दलबदलू नीति के विरुद्ध होने के कारण, उसे कम करना आवश्यक था।

यह उन कतिपय उदाहरणों में से एक है जिनमें राष्ट्रपति का शासन लागू किये जाने का विपक्षी दलों ने स्वागत किया। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि यदि उन्हें सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाता तो सरकार दल-बदल को बढ़ावा देना आरम्भ कर देती। क्योंकि सरकार ने शासक दल से दल-बदल के कारण उड़ीसा विधान सभा भंग कर दी थी, वह मणिपुर में अन्य कार्रवाई को न्यायसंगत प्रमाणित नहीं कर सकती थी।

मार्च 1969 के आरम्भ में पश्चिम बंगाल की घटनाओं ने एक नई प्रथा निर्धारित की कि गवर्नर द्वारा विधान मण्डल को दिये जाने वाले अपने औपचारिक अभिभाषण में से ऐसे अंश छोड़ देना राजनीतिक एवं संवैधानिक रूप से न्यायसंगत था यद्यपि यह अभिभाषण, संवैधानिक परम्परा के अनुसार, मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किया जाता था।

गवर्नरों के आचरण की आलोचना (Governors' Conduct Evokes Criticism)

गवर्नरों द्वारा अपने संवैधानिक अधिकारों का विवेकानुसार उपयोग गम्भीर आलोचना का विषय बन गया। यह आलोचना अधिकतर गैर-कांग्रेसी दलों के नेताओं द्वारा

आरम्भ की जाती थी क्योंकि गवर्नर द्वारा विशेष स्थितियों में की जाने वाली कार्रवाईयों से बहुधा उनकी आशाओं पर पानी फिर जाता था। गवर्नर धर्मवीर के यह आग्रह करने पर कि यह जाँचने के लिए विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र बुलाया जाय कि अजय मुखर्जी को बहुमत का समर्थन प्राप्त है अथवा नहीं, मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी ने 17 नवम्बर, 1967 को राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन से प्रार्थना की कि निम्नलिखित संवैधानिक प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय की राय ली जाये :

(1) क्या एक गवर्नर विधान सभा का निर्णय प्राप्त किये बिना मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

(2) क्या वह ऐसा अपनी व्यक्तिगत राय (विवेक) से कर सकता है।

(3) क्या वह विधान सभा का सत्र बुलाने सम्बन्धी मुख्यमन्त्री की सलाह की अवहेलना कर सकता है ।

(4) क्या वह इस आधार पर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है कि मुख्यमन्त्री द्वारा उनकी सलाह न मानने से संविधान की अवहेलना हुई है।

(5) क्या मुख्यमन्त्री द्वारा विधान सभा का सत्र शीघ्र बुलाने सम्बन्धी गवर्नर की सलाह न मानने के फलस्वरूप गवर्नर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर सकता है।

(6) क्या गवर्नर, जब विधान सभा में शक्ति परीक्षा होने वाली हो, मन्त्रिमण्डल के परामर्श की अवहेलना कर सकता है।

(7) क्या वह अपनी व्यक्तिगत धारणा के आधार पर कि मन्त्रिमण्डल को विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है, मन्त्रिमण्डल की विधान सभा भंग करने सम्बन्धी सलाह की अवहेलना कर सकता है।

संघीय सरकार ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि इन प्रश्नों को सर्वोच्च न्यायालय में ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके विचारानुसार इस मामले की प्रशासनिक स्तर पर तथा संसद में पर्याप्त जाँच हो चुकी है।[14] ऐसा दृष्टिकोण अपनाने का कदाचित यह कारण था कि केन्द्र में जो कांग्रेसी नेता राज्य कर रहे थे, वे ऐसे प्रश्नों पर न्यायिक निकाय का निर्णय लेना उचित नहीं मानते थे-जो पूर्णत: राजनीतिक प्रकार के थे। गोलक नाथ वाले मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् वे ऐसा अनुभव करने लगे थे कि न्यायालय सरकार के प्राधिकार को सीमित करने की योजना बना रही है, जो उन्हें कदापि सह्य नहीं था।

कारण कुछ भी रहा हो, केन्द्र द्वारा मुखर्जी के आग्रह पर कार्रवाई से इन्कार तथा

[14]कालान्तर में मार्च 1969 में जनसंघ के अध्यक्ष श्री वाजपेयी ने माँग की कि राष्ट्रपति को संविधान की धारा 143 के अन्तर्गत गवर्नरों के विवेकाधिकारों के प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श लेना चाहिए "क्योंकि वे बड़ी भ्रांतिमूलक हैं।" देखो *The Hindustan Times*, March 31, 1969, p. 6.

गवर्नरों द्वारा अपने संवैधानिक अधिकारों के निरन्तर अपने विवेकानुसार प्रयोग के कारण वहुत आलोचना होने लगी। इस आलोचना का तत्त्व यह था कि गवर्नर अपने संवैधानिक अधिकारों का उपयोग न तो अपने विवेक से कर रहे थे और न अपनी व्यक्तिगत राय के अनुसार वरन् प्रधानमन्त्री के आदेश के अनुसार कर रहे थे जोकि अपने तथा अपने दल के हितों की उन्नति के लिए गवर्नर के पद का दुरुपयोग कर रही थीं। आलोचकों का यह भी कहना था कि गवर्नरों के निर्णय, विशेषत: नवम्वर 1967 में पश्चिमी वंगाल में तथा सितम्वर 1970 में उत्तर प्रदेश में, दवाव के कारण लिए गये थे। फरवरी 1970 में अनेक संसत्सदस्यों ने राष्ट्रपति गिरि को एक ज्ञापन प्रेषित किया जिसमें आरोप लगाया गया था कि विहार के गवर्नर द्वारा विपक्षी कांग्रेस, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी द्वारा वनाये गए संयुक्त विधायक दल के नेता को सरकार वनाने के लिए आमन्त्रित करने से आनाकानी करने का यह अर्थ है कि वे श्रीमती इन्दिरा गाधी के दवाय में है कि उनके ही हितानुसार मन्त्रिमण्डल वनाया जाय। उन्होंने इन चालों को "संविधान का नाश" तथा "संवैधानिक प्रक्रिया को भाड़े का टट्टू वनाना" वताया।[15] नई दिल्ली में एक विचारगोष्ठी में वोलते हुए, जिसकी अध्यक्षता लोक सभा के स्पीकर गुरुवख्श सिह ढिल्लों कर रहे थे, तथा जिसमें प्रधान-मन्त्री इन्दिरा गांधी, केन्द्रीय मन्त्रीगण, तथा कुछ राज्यों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, उड़ीसा के संसत्सदस्य पी० के० देव ने कहा कि भिन्न-भिन्न राज्यों के गवर्नर अपने-अपने राज्यों में केन्द्र-स्थित शासक दल के हितों के अनुरूप पृथक-पृथक नीति एवं सिद्धान्त अपनाते हैं।

केरल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री नम्बूदरीपाद तथा अनेक अन्य व्यक्तियों का विचार था कि जो व्यक्ति गवर्नर नियुक्त किये जाते हैं वे या तो कांग्रेस दल के नेता या इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते हैं, अर्थात् न तो प्रथम वर्ग के व्यक्ति, जो पहले राजनीति में भाग लेते थे, "राजनीति और दलों से अछूते रह सकते हैं।" और न ही दूसरे वर्ग के व्यक्ति "जिन्होंने ब्रिटिश एवं कांग्रेस, दोनों की समानराजभक्तिपूर्वक सेवा की," निष्प-पक्षतापूर्वक एवं निस्वार्थ भाव से निर्णय कर सकते हैं।[16]

उपरोक्त एवं अनेक अन्य आलोचकों का विचार था कि जब तक गवर्नरों की नियुक्ति की विधि में परिवर्तन नहीं किया जाता; राज्यों के ये प्रशासनाध्यक्ष केन्द्र के दवाव-पूर्ण प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। एक मार्क्सवादी नेता एम० वासवपुन्या (M. Basavapuniah) तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेता सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी ने प्रस्तावित किया कि गवर्नरों की नियुक्ति राज्य सरकारों के परामर्श से की जाये और उसकी संसद द्वारा पुष्टि कराई जाना अनिवार्य कर दिया जाये।[17] लोक सभा में विपक्षी

[15] *Ibid.*, February 16, 1970, p. 1. Also see *Ibid.*, November 25, 1970, p. 3.

[16] उन्होंने मार्क्सवादी दल के पत्र '**देशाभिमानी**' में अपने हस्ताक्षर सहित एक सम्पादकीय लिखा।

[17] केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रशासनिक सुधार आयोग ने जो प्रतिवेदन 19 जून 1969 को केन्द्र सरकार को प्रेषित किया, उसमें कहा गया था कि गवर्नर की नियुक्ति के सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री से परामर्श करने की प्रथा उत्तम रहेगी।

कांग्रेस के नेता डा० रामसुभग सिंह ने 29 नवम्बर, 1970 को कहा कि गवर्नरों की नियुक्ति स्वयं राष्ट्रपति द्वारा, एक निष्पक्ष सलाहकारों की परिषद की सहायता से, की जाये। दिल्ली स्थित संविधान एवं संसदीय शिक्षा संस्थान के कार्याध्यक्ष डा० एल० एम० सिंघवी ने भी इसी प्रकार का सुझाव देते हुए कि गवर्नरों की नियुक्ति के लिए एक राष्ट्रपति आयोग हो, जिसका एक सदस्य समूचे विपक्ष की ओर से, गवर्नर नियुक्त करने के विशिष्ट उद्देश्य से निर्वाचित प्रतिनिधि हो।

नम्बूदरीपाद इत्यादि कतिपय आमूल सुधारवादियों (radicals) का कहना था कि गवर्नर के पद का कोई लाभ नहीं है और उसे समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि यह केन्द्र के राजनीति रूपी रथ का एक "अतिरिक्त पहिया" मात्र रह गया है। एक वार तो डा० रामसुभग सिंह ने गवर्नरों के मन्त्रिमण्डल स्थापित करने व उसे अपदस्थ करने के अधिकारों पर रोक लगाने के लिए संसद में एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत करने तक का विचार किया। उनका कहना था कि यह विधेयक "गवर्नरों के व्यवहार में औचित्य" स्थापित कराने के लिए परिलक्षित होगा।[18]

राष्ट्रपति द्वारा गवर्नरों के अधिकारों की जाँच करने व उनके लिए निदेशक सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए आयोग की नियुक्ति (President Appoints Committee to Examine Governor's Powers and to Draw Guidelines for them)

दिनोंदिन बढ़ते हुए आरोप व आलोचना के बीच 12-13 दिसम्बर, 1969 को गवर्नर अपने वार्षिक सम्मेलन के लिए दिल्ली में एकत्रित हुए। उनके विचार-विमर्श के फलस्वरूप यह आम राय सामने आयी कि राजनीतिक गठबन्धनों के इस युग में गवर्नरों का प्रमुख कार्य राज्यों में स्थायी सरकार की व्यवस्था करना है, जिसकी पूर्ति के लिए उन्हें अपने संवैधानिक एवं विवेक अधिकारों का पूर्ण उपयोग करना चाहिए। उत्तर प्रदेश में चरण सिंह त्रिपाठी गठबन्धन से भयभीत होकर मुख्यमन्त्री चन्द्रभान गुप्ता ने विधानसभा का अधिवेशन बुलाने से इन्कार कर दिया था,[19] उसके सन्दर्भ में उन्होंने निश्चित किया कि जो मुख्यमन्त्री विधान सभा के पटल पर अल्पमत में रह जाने के कारण अधिवेशन बुलाने से इन्कार करे, उसे संविधान की धारा 174 (1) द्वारा प्राप्त इस संरक्षण से वंचित कर दिया जाना चाहिए कि विधान मण्डल का अधिवेशन वर्ष में केवल दो बार हो।

1970 में कांग्रेस दल के विग्रह के पश्चात् राष्ट्रपति गिरि की भी आलोचना की गई। उदाहरणतया, 4 नवम्बर को डा० रामसुभग सिंह ने कहा कि एक ओर जहाँ राष्ट्रपति गिरि ने "यह जानने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया" कि श्रीमती गांधी को

[18] *Ibid.*, November 5, 1970, p.6.
[19] पश्चिम बंगाल तथा अन्य राज्यों में भी ऐसी घटनाएं हुई थीं।

संसद में बहुमत प्राप्त है अथवा नहीं, दूसरी ओर उन्होंने गवर्नर रेड्डी के परामर्श पर उत्तर प्रदेश में चरण सिंह मन्त्रिमण्डल को विधान सभा में बहुमत का समर्थन उपलब्ध होते हुए भी तुरन्त पदच्युत कर दिया था। इन प्रवृत्तियों से दुखी हो कर तथा यह सोचते हुए कि राष्ट्रपति एवं गवर्नरों को इन प्रतिरोधों से पृथक रहना चाहिए, 20 नवम्बर 1970 को गवर्नरों के दो-दिवसीय सम्मेलन के उद्घाटन-भाषण में राष्ट्रपति गिरि ने जोर देकर कहा कि गवर्नरों द्वारा मन्त्रि परिषद नियुक्त करने, विधान सभा का अधिवेशन बुलाने व भंग करने तथा वैधानिक तन्त्र बिगड़ जाने सम्बन्धी अधिकारों का उपयोग अत्यन्त उद्देश्यपूर्वक एवं निष्पक्षतापूर्वक किया जाना चाहिए। उन्होंने कश्मीर के गवर्नर भगवान सहाय के नेतृत्व में इन प्रश्नों से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधानों का अध्ययन करने तथा यह निश्चित करने के लिए कि इन समस्याओं से निपटने के लिए क्या मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रशस्त किये जायें, पांच गवर्नरों की एक समिति नियुक्त की।[20]

इस समिति के सदस्यों ने विभिन्न दलों के अनेक राजनीतिज्ञों और लोकप्रिय नेताओं से पूछताछ की और 10 महीने तक जाँच करते रहे। उन्होंने अक्तूबर 1971 में राष्ट्रपति को अपना 73 पृष्ठ का प्रतिवेदन प्रेषित किया, जिसमें उन्होंने गवर्नरों के लिए कठोर मार्गदर्शक सिद्धान्त निरूपित करने के विचार से असहमति प्रकट की। उन्होंने इसे असंवैधानिक बताते हुए तर्क प्रस्तुत किया कि संविधान के अधीन किसी भी अधिकारी को गवर्नर को निर्देश देने अथवा उनके मार्गदर्शन के लिए कोई नियम, संहिता इत्यादि बनाने के अधिकार नहीं दिये गये हैं। इस समिति ने यह विचार व्यक्त किया कि गवर्नरों के एक नियमावली में आबद्ध रहने की बजाय, विधायकों एवं राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिक अनुशासन के अधिकाधिक पालन से प्रजातन्त्र की जड़ें खोखली होने से रुक सकेंगी और प्रशासन में स्थायित्व आ सकेगा।

समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि मुख्यमन्त्री द्वारा विधान सभा का सामना करने से इन्कार करने से प्रत्यक्षत: यही अर्थ लगाया जा सकता है कि उन्हें अब विधान मण्डल का विश्वास उपलब्ध नहीं है, अत: ऐसी स्थिति में गवर्नर का मुख्यमन्त्री व उनके मन्त्रि परिषद को पद्च्युत कर देना अधिकारपूर्ण कृत्य होगा। समिति ने यह भी इंगित किया कि ऐसी परम्परा विकसित की जानी चाहिए कि विधान मण्डल के किसी निर्वाचित सदस्य को ही मुख्यमन्त्री बनाया जाये क्योंकि नामांकित सदस्य को जनता का विश्वास उपलब्ध नहीं होता। संसदीय पद्धति में सरकार का उत्तरदायित्व किसी ऐसे व्यक्ति को नेता बना कर नहीं सौंपा जाना चाहिए, जो विधान मण्डल का निर्वाचित सदस्य न हो। यदि किसी अनिर्वाचित व्यक्ति को नेता बना भी दिया जाये तो

[20]इस समिति के अन्य सदस्य थे, उत्तर प्रदेश के गवर्नर डा० बी० गोपाल रेड्डी, केरल के गवर्नर एम० बी० विश्वनाथन, महाराष्ट्र के गवर्नर अली यावर जंग, तथा पश्चिम बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर एस० एस० धवन।

उसे यथासंभव अतिशीघ्र निर्वाचन के लिये खड़े होना चाहिए और यदि निर्वाचित न हो पाये तो उसे तुरन्त पदत्याग कर देना चाहिए।

मुख्यमन्त्री नियुक्त किया जाने वाले व्यक्ति के औपचारिक निर्वाचन का प्रश्न उस घटना के सन्दर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया, जिसमें उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री टी०एन० सिंह को औपचारिक रूप से निर्वाचित हुए विना संयुक्त विधायक दल (SVD) का नेता "चुन" लिया गया था। उनके शपथ ग्रहण के पश्चात् भी संयुक्त विधायक दल के भागीदार उन्हें अपना नेता निर्वाचित करने के इच्छुक नही थे जिससे यह धारणा उत्पन्न होती थी कि सिंह के समर्थकों ने विधान सभा में बहुमत के समर्थन का जो दावा किया था, वास्तव में उन्हें वह उपलब्ध नहीं था।

केवल मुख्यमन्त्री नियुक्त करने तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति को उठा रखने की प्रथा को भी इस समिति ने "स्पष्ट रूप से असंवैधानिक" बताया और कहा कि मुख्यमन्त्री द्वारा पदग्रहण कर लेने के पश्चात् अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में देर नहीं करनी चाहिए।

समिति ने यह भी कहा कि जब भी सरकार को बहुमत के समर्थन के प्रति "तर्कसंगत सन्देह" विद्यमान हो, उसे मिटाने के लिए यथासंभव शीघ्र विधान सभा का अधिवेशन बुलाया जाना चाहिए।

प्रतिवेदन में आगे यह भी कहा गया कि मिली-जुली सरकार में मुख्यमन्त्री "गवर्नर को इस प्रकार मन्त्री नियुक्त करने व अपदस्थ करने का परामर्श देने के अधिकार की माँग नहीं कर सकते जिससे गठबन्धन टूट जाये और तिस पर भी स्वयं मुख्यमन्त्री बने रहने के अधिकार की माँग करें।" प्रतिवेदन में कहा गया था : "यह स्पष्ट है कि वह (मुख्यमंत्री) गठबन्धन के प्रतिनिधि मन्त्रियों को अपदस्थ करने के लिए गठबन्धन नहीं तोड़ सकता और तिस पर भी स्वयं यह अपने पद पर आसीन नहीं रह सकता।"

समिति का विचार यह था कि यदि किसी मिली-जुली सरकार के कुछ मन्त्री, जो किसी विशेष गुट या दल से सम्बद्ध हो, मुख्यमन्त्री से मतभेद के कारण स्वयं पदत्याग करें, तो मुख्यमन्त्री द्वारा पदत्याग करना अनिवार्य नहीं होगा। किन्तु यदि उनके पद त्याग करने से विधान सभा में मुख्यमंत्री को बहुमत का समर्थन उपलब्ध न रहने की आशंका हो तो उनसे यह आशा की जानी चाहिए कि वे गवर्नर को यह परामर्श देकर कि यथाशीघ्र विधान सभा का अधिवेशन कर के उसका निर्णय प्राप्त किया जाये, अपनी निरन्तर शक्ति का प्रदर्शन करें।

समिति को विश्वास था कि जिस क्षेत्र में गवर्नर के लिए मन्त्रि परिषद के परामर्श पर आचरण करना अनिवार्य हो, वहाँ भी "यह आवश्यक नहीं है कि गवर्नर द्वारा मुख्यमन्त्री का परामर्श तुरन्त स्वचालित रूप से स्वीकार किया जाये।" इससे यह तात्पर्य था कि गवर्नर एवं मुख्यमन्त्री में परस्पर विचार-विनिमय तो होना ही चाहिए, साथ ही, "यदि गवर्नर किसी प्रस्तावित कार्रवाई के प्रति अपनी सभी आपत्तियाँ बता कर मन्त्रिमण्डल में पुनर्विचार का आग्रह करें तो उनका यह कार्य अनुचित न होगा।"

प्रतिवेदन में स्वीकार किया गया कि अन्ततः गवर्नर को मन्त्रिमण्डल का परामर्श स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा।

समिति ने सुझाव दिया कि गवर्नरों को इन सभी प्रश्नों के सम्बन्ध में अच्छी परम्पराएँ विकसित करने में सहायता देने के लिए राष्ट्रपति भवन के सचिवालय में एक विशेष विभाग खोला जाना चाहिए, जहाँ सभी राज्यों की समय-समय पर होने वाली राजनीतिक एवं संवैधानिक घटनाओं की अधिकृत सूचना संकलित करके उपलब्ध की जाये।

इस प्रतिवेदन पर 26 नवम्बर, 1971 को गवर्नरों के वार्षिक सम्मेलन में बहस हुई। राष्ट्रपति ने इन सभी गवर्नरों के बुद्धि-चातुर्य का "एकत्रित भण्डार" बताते हुए समिति के सभी निर्णयों को उचित बताया। गवर्नरों के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त निर्धारित करने का विचार छोड़ दिया गया और आशा व्यक्त की गई कि अच्छी परम्पराएँ विकसित होंगी और उन पर सम्मान एवं गरिमासहित आचरण किया जायेगा।

पाँचवें आम चुनावों के पश्चात् जब अधिकतर राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों में पुनः कांग्रेस दल की सरकारें स्थापित हो गईं तो गवर्नरों के विवेकाधिकारों सम्बन्धी सभी मतभेद स्वयमेव समाप्त हो गए। पुनः मजबूत सरकारें स्थापित हो गईं तथा भारत की राजनीति में गवर्नर पहले तीन आम चुनावों के युग के ही समान पुनः शक्ति व महत्त्वहीन हो गए।

उत्तर प्रदेश व उड़ीसा की घटनाएं—गवर्नरों के आचरण की पुनः आलोचना (Development in U.P. and Orissa—Criticism of Governors' Conduct Again)

1973 में उत्तर प्रदेश व उड़ीसा में संवैधानिक संकट के कारण गवर्नरों के आचरण की पुनः आलोचना होने लगी। उत्तर प्रदेश में मुख्यमन्त्री कमलापति त्रिपाठी ने जून में अपना त्यागपत्र गवर्नर को दिया और उन्होंने विरोधी दलों द्वारा सरकार बनाये जाने की संभावना पर विचार अथवा जाँच किये बिना राष्ट्रपति से केन्द्रीय शासन लागू करने की सिफारिश कर दी। इसके लिए उनकी आलोचना की गई कि राष्ट्रपति शासन द्वारा जो संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाता है, गवर्नर ने उसे टालने का प्रयत्न नहीं किया। जब नवम्बर 1973 में त्रिपाठी ने पुनः मन्त्रिमण्डल बनाया तो गवर्नर द्वारा धारा 174(1) के प्रावधान के अनुसार असेम्बली का अधिवेशन छः मास के भीतर न बुलाये जाने के लिए उनकी आलोचना की गई।

उड़ीसा का संकट अधिक संकीर्ण था। वहाँ की मुख्यमन्त्री श्रीमती नन्दिनी सत्पथी को अपने दल के सदस्यों द्वारा दल-बदल लेने के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। प्रगति दल के नेता बीजू पटनायक ने बहुमत के समर्थन का दावा किया और गवर्नर से उन्हें मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर देने का निवेदन किया। किन्तु गवर्नर ने उनका

दावा अस्वीकार करके धारा 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफ़ारिश की। विपक्षी दलों ने इसके लिए उनकी तीव्र आलोचना की और इसके अतिरिक्त, राज्य के 74 विधान सभा सदस्यों ने गवर्नर के आचरण की संवैधानिक वैधता को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय में रिट याचिका प्रेषित कर दी। मुख्य न्यायाधीश जी० के० मिश्रा ने रिट याचिका को खारिज करते हुए अपने निर्णय में प्रजातन्त्रीय प्रक्रियाओं में परम्पराओं के महत्त्व का उल्लेख किया तथा गवर्नर बी० डी० जत्ती द्वारा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने के ढंग की आलोचना की। उन्होंने स्वीकार किया कि ग्रेट ब्रिटेन में जो परम्पराएँ प्रचलित हैं, भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार करते समय उन्हें किसी लिखित आदेशपत्र में सम्मिलित नहीं किया गया था, पर "एक गौण विश्वास" अवश्य था कि इस देश में संसदीय पद्धति के परिचालन में उन परम्पराओं का अनुकरण किया जायेगा। गवर्नर ने "मन्त्रिमण्डल बनाने के मामले में ब्रिटेन में प्रचलित परम्परा का सम्मान नहीं किया।" मिश्रा (न्यायाधीश) ने आगे कहा कि "जब मन्त्रिमण्डल भंग हो गया तो गवर्नर को चाहिए था कि विपक्ष के नेता को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए कहते। तब यह कहना उनका दायित्व होता कि वे मन्त्रिमन्डल बनाने के योग्य हैं अथवा नहीं।" "गवर्नर के स्वयं ये कहने से कि विपक्षी नेता को 140 के सदन में से 70 का समर्थन प्राप्त है, विपक्षी नेता का यह दावा सिद्ध हो जाता है कि उन्हें सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त है। यदि यह भी माना जाय कि गवर्नर के समर्थन की ठीक-ठीक जाँच करना चाहते थे तो उन्हें विपक्षी दलों के नेता को सदन के अधिवेशन के समय शक्ति परीक्षा का आदेश देना चाहिए था।" मुख्य न्यायाधीश ने पश्चिम बंगाल के गवर्नर धर्मवीर का उदाहरण दिया, जब 1967 में उन्होंने अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल को इसलिए पदच्युत कर दिया था कि वे पराजय के डर से सदन में शक्ति-परीक्षा नहीं कराना चाहते थे और प्रफुल्लचन्द्र घोष को मन्त्रिमण्डल बनाने का आदेश दिया था।[21]

इस निर्णय का विपक्षी दलों द्वारा अपनी जीत तथा शासक दल की "नैतिक पराजय" के रूप में स्वागत किया गया। साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) के संसत्सदस्य निरेन घोष ने कहा कि राज्यों और विधान मण्डलों के अधिकारों, क्षमताओं एवं स्वायत्तता को केन्द्र ने गवर्नर के पद के माध्यम से लगभग समाप्त कर दिया था। उन्होंने गवर्नर का पद समाप्त कर दिए जाने की माँग की, जो "शासक दल द्वारा सदैव सत्तारूढ़ रहने का हथियार बना लिया गया था।" विपक्षी कांग्रेस के नेता एस० एन० मिश्र ने कहा कि उड़ीसा उच्च न्यायालय के निर्णय ने गवर्नर के अस्तित्व का तर्क समाप्त कर दिया है। उन्होंने जत्ती को पदच्युत किये जाने की माँग की। प्रजा सोशलिस्ट दल के नेता मधु लिमये ने मिश्र की माँग का समर्थन किया। तदपि केन्द्र सरकार अडिग रही और कहा कि यह कहना अनुचित है कि गवर्नर का पद फालतू

[21] *Ibid.*, No vember 1, 1973, p. 6.

हो गया है ।

विहार के गवर्नर का अपने मन्त्रिमण्डल एवं उच्च अधिकारियों को भ्रष्ट बताना—वापस बुलाये जाने की माँग (Bihar Governor Calls his Ministers/High Officials Corrupt—Demand for his Recall)

अक्तूवर 1973 के आरम्भ में विहार के गवर्नर आर० डी० भण्डारे ने गवर्नर के पद को और अधिक विस्तीर्ण कर दिया। उन्होंने अपने नागपुर व वम्वई के दौरे के समय सार्वजनिक सभाओं में विहार के मन्त्रियों तथा उच्च सरकारी अधिकारियों पर आरोप लगाये और यहाँ तक कह डाला कि उन्होंने राष्ट्रपति से विहार में केन्द्र का शासन लागू करने की सिफारिश की है। उनके कथनों से देश भर में सनसनी फैल गई और प्रेस तथा राजनीतिज्ञों सभी ने उनके आचरण को असंवैधानिक वताया। 14 अक्तूवर को पटना वापस पहुँचने पर वे प्रतिवेदित कथनों से मुकर गए। हवाई अड्डे पर संवाददाताओं से वातचीत करते हुए उन्होंने कहा, "जव राज्य में एक विधिवत निर्वाचित सरकार कार्य कर रही है तो मैं राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफ़ारिश क्यों करता ? मैं कोई तानाशाह नहीं हूँ वरन् एक राज्य का संवैधानिक प्रधान हूँ। मेरा कर्त्तव्य विधान सभा में वहुमत-युक्त लोकप्रिय सरकार की सहायता करना तथा जव भी वह ग़लती करे उसे सचेत करना है।" साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि "यदि लोकआयुक्त (Lok Ayukt) ने कभी किसी मन्त्री को मिथ्याचार का दोषी पाया, तो मैं उन्हें वर्खास्त करने से नहीं हिचकूंगा।" भण्डारे ने यह भी कहा : "गलती करने पर मैं उन्हें सचेत कर सकता हूँ। गवर्नर के रूप में मैं द्वेष नहीं कर सकता।"

इन नकारोक्तियों से शासक दल एवं साम्यवादी दल, जो अत्यन्त आक्रोश में थे, तनिक भी शान्त नहीं हो सके। विहार कांग्रेस विधायक दल के नेता श्रीकान्त झा ने माँग की कि भण्डारे को "वापस वुलाया जाना चाहिए क्योंकि उनके यहाँ वने रहने से केवल प्रशासन को ही कठिनाई नहीं होगी वरन् राज्य की जनता के मौलिक हित कुण्ठित हो जायेंगे।" उन्होंने कहा, "वास्तव में यह वड़े दुख की वात है कि एक राज्य का प्रधान ऐसी वातें करे, जो केवल असंवैधानिक ही नहीं वरन् उनकी अयोग्यता की परिचायक हों।" भण्डारे के कथन को उन्होंने "गम्भीर राजनीतिक अनौच्त्यि" वताया। कदाचित वे पहले गवर्नर थे जिन्होंने स्वयं अपनी सरकार की सार्वजनिक रूप से निन्दा की और खिल्ली उड़ाई। साम्यवादी दल की विहार शाखा ने माँग की कि "विहार सरकार अपने विशेष गुप्तचर विभाग द्वारा एकत्रित किये गए सभी प्रतिवेदन लोक आयुक्त एवं राष्ट्रपति के हवाले करे ताकि उनकी जाँच करके उनका मूल्यांकन किया जा सके।" साम्यवादी दल ने आगे कहा कि उसे, "जैसा कि विहार गवर्नर द्वारा उनके नागपुर में दिये गए भाषण से विदित होता है, उनकी निर्लज्जता पर अत्यन्त खेद है।"

यद्यपि संघीय सरकार ने भण्डारे के प्रतिवेदित भाषणों व उनकी नकारोक्तियों पर कोई कार्रवाई नहीं की, पर राष्ट्रपति गिरि ने 23 नवम्बर, 1973 को गवर्नरों के वार्षिक सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए उन्हें याद दिलाया कि वे अपनी मन्त्रिपरिषद के साथ अपने सम्बन्धों में तथा संविधान के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह में "एक विशेष सीमा तक गौण" कृत्य अवश्य करते है। राष्ट्रपति ने कहा कि उन्हें प्रेस व जनता के सम्मुख अपने विचार खुलकर प्रकट नहीं करने चाहिए। यद्यपि गिरि ने किसी विशिष्ट गवर्नर का नामोल्लेख नहीं किया, पर उनके कथन से भण्डारे द्वारा किये गए सार्वजनिक कथनों की अस्वीकृति स्पष्ट प्रतीत होती थी। गवर्नरों से अपने-अपने मन्त्रिपरिषदों के लिए "बुद्धिमान व चतुर सलाहकार" होने का आग्रह करते हुए उन्होंने कहा कि उनके द्वारा संविधान के लिखित निर्धारणों एवं गौण भावनाओं के अनुसार उचित कार्य परिचालन पर वहुत कुछ निर्भर करता है। गवर्नर और मन्त्रिपरिषद परस्पर स्पर्धापूर्वक कार्य नहीं करते। उन्हें निकट सहयोग, समन्वय तथा पूर्ण पारस्परिक विश्वास एवं भरोसे से कार्य करना होता है। गवर्नर और मन्त्रिपरिषद में परस्पर विचार-विनिमय की पर्याप्त गुंजाइश होती है, पर अन्ततः गवर्नर को मन्त्रिपरिषद की सलाह माननी होती है।

किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिये जाने की स्थिति में गवर्नर के कार्यभाग का उल्लेख करते हुए राष्ट्रपति ने कहा कि यह समझना ठीक न होगा कि गवर्नर उस समय केवल एक कार्यवाहक सरकार चलाते हैं। राज्य का प्रशासन-तन्त्र यथावत् रहता है और उसके कुशल परिचालन के लिए गवर्नर को सीधे स्वयं उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है। गिरि ने हाल में दिये गए उड़ीसा उच्च न्यायालय के निर्णय का भी अप्रत्यक्ष उल्लेख किया जिसमें गवर्नर द्वारा राज्य विधान सभा भंग करने के कृत्य को चुनौती दी गई थी। उन्होंने कहा कि गवर्नर को अपने उत्तम निर्णय के अनुसार, संवैधानिक सरकार की परम्पराएँ वनाये रखने के अपने उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए कार्य करना होता है। संसदीय पद्धति में, जहाँ लिखित संविधान मौजूद हो, परम्पराओं का भी अपना स्थान होता है। किन्तु किसी भी सम्मुख प्रश्न पर उपस्थित परिस्थितियों की अवहेलना करके केवल परम्परा पर भरोसा करना केवल असंगत ही नहीं वरन् भ्रमात्मक भी होगा।

सरकार द्वारा त्यागपत्र दिये जाने पर सम्राट् (या सम्राज्ञी) द्वारा विपक्ष से परामर्श करने की ब्रिटिश प्रथा का उल्लेख करते हुए राष्ट्रपति ने कहा कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलीय पद्धति दो दलों के सिद्धान्त पर आधारित है। जब विपक्ष को सरकार वनाने के लिए आमन्त्रित किया जाता है तो न उसके प्रतिनिधित्व पर और न ही लोक सभा में उसके वहुमत-समर्थन पर सन्देह होता है। ग्रेट ब्रिटेन में जो प्रथा प्रचलित है, वह दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रधान मन्त्री का चयन सम्राट् या साम्राज्ञी का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व होता है तथा प्रधान मन्त्री द्वारा पद ग्रहण करने के लिए यह शर्त पूर्व निवद्ध होती है कि उन्हें लोक सभा में जिस दल या गठ-

बन्धन का बहुमत होगा, उसका समर्थन उपलब्ध रखना होगा।

एक अन्य विरोधात्मक प्रश्न का उल्लेख करते हुए राष्ट्रपति गिरि ने कहा कि गवर्नर को केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में एक संयोजक शक्ति के रूप में कार्य करना चाहिए और स्वयं राजनीतिक दल के द्वन्द्व से परे रहना चाहिए।

संघीय कार्यपालिका के प्रधान की ओर से राज्यों के प्रधानों को दिये गए ये निर्देश उनके द्वारा समय-समय पर उत्पन्न होने वाले मतभेदपूर्ण प्रश्नों के निपटारे के लिए पर्याप्त रूप से मार्गदर्शक प्रतीत होते थे।

मूल्यांकन (An Appraisal)

गवर्नर का पद 1950 से 1966 तक सार्वजनिक मतभेदों से अछूता रहने के बाद चौथे आम चुनावों के पश्चात् गठबन्धन की राजनीति का युग आरम्भ होने पर अत्यन्त विरोधात्मक हो गया। किसी भी विशेष परिस्थिति में, चाहे गवर्नर का निर्णय कितना भी वैध एवं निष्पक्षतापूर्ण क्यों न हो, जिस दल या दलों को गवर्नर के कृत्यों से लाभ होता था, वे उसके निर्णय की सराहना करते थे और जिन्हें इस राजनीतिक खेल में हार खानी पड़ती थी, वे उसके कटु आलोचक बन जाते थे। यद्यपि उनका पद राजनीतिक प्रकार का होने के कारण गवर्नरों के लिए न्यायाधीशों के समान निष्पक्षतापूर्वक कार्य करना कठिन था तो भी विभिन्न राज्यों में उनका आचरण पूर्णतः असंदिग्ध नहीं था। कभी-कभी वे एक-सी संवैधानिक परिस्थितियों में भिन्न निर्णय करते थे, जिससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता था कि वे शासक दल अर्थात् कांग्रेस के राजनीतिक हितों की रक्षा करने या प्रगति में सहयोग देने के लिए केन्द्र के दबाव में कार्य करते हैं। पिछले कई मामलों के अतिरिक्त जनवरी-फरवरी, 1974 में गुजरात में भी एक घटना हुई। मूल्यवृद्धि विरोधी आन्दोलन के आवेश में, जिसके फलस्वरूप दूर-दूर तक हिंसा एवं अव्यवस्था भड़क उठी थी, राज्य की सेना के सुपुर्द कर दिया गया और नागरिक प्रशासन लगभग ठप्प हो गया। सारे गुजरात में माँग की जा रही थी कि चिमनभाई पटेल का मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे और विधान सभा भंग की जाये। किन्तु गवर्नर विश्वनाथन सारी घटनाओं को चुपचाप देखते रहे और संवैधानिक तन्त्र बिगड़ जाने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को कोई प्रतिवेदन नहीं भेजा। इसका प्रत्यक्ष कारण यह प्रतीत होता है कि विधान सभा में कांग्रेस दल का बहुमत था और कांग्रेस हाई कमान जनता की आर्थिक कठिनाइयों तथा कांग्रेस राज की अलोकप्रियता के कारण निर्वाचन के चक्कर से बचना चाहती थी। गवर्नर ने अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को केवल तब भेजा, जब केन्द्रीय विधि मन्त्री गोखले ने राज्य की राजधानी का दौरा करके यह निष्कर्ष प्रकट किया कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। राज्य में बहुत मार-काट तथा सरकारी एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की बहुत क्षति होने के बाद ही राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। ऐसे अनेक अन्य उदाहरण हैं, पर यहाँ उनका वर्णन करना असंगत प्रतीत होगा।

अध्याय 14

भारत में नौकरशाही
(Bureaucracy in India)

संसार के अन्य सभी देशों के समान भारत की केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों की भी पाँच शाखाएँ हैं : निर्वाचक मण्डल (the electorate), विधायिका (the legislature), कार्यपालिका (the executive), न्यायपालिका (the judiciary), और प्रशासन (the administration)। निर्वाचक मण्डल विधानकारी निकायों के लिए अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करता है और राजनायकों द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किए गए भाँति-भाँति के प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करता है। विधायिका निर्वाचक मण्डल द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को ध्यान में रख कर कानून बनाती है और कार्यपालिका (मन्त्रिपरिषद और प्रधान मन्त्री) का चयन करती है। कार्यपालिका, विधायिका द्वारा बनाये गए कानूनों को क्रियान्वित करती है और उसके कार्यों में उसका मार्गदर्शन करती है। न्यायपालिका का कार्य शंका उत्पन्न होने पर कानून की ठीक-ठीक व्याख्या करना तथा उसे भंग करने वालों को उचित दण्ड देना होता है। इस प्रकार, सरकार की इन चार शाखाओं का उद्देश्य स्पष्ट है। पाँचवीं शाखा अर्थात् प्रशासन, जिसे लोक सेवा भी कहते हैं, शेष चारों शाखाओं के सभी कार्य करती है। यह कार्यपालिका के सीधे नियन्त्रण में होती है और इसका कार्य राज्य की दैनिक चर्या निपटाना अर्थात् कानून लागू करना, समाज सेवाओं का निदेशन करना तथा रेल मन्त्रालय व परिवहन एवं संचार मंत्रालय इत्यादि बड़े-बड़े व्यावसायिक संगठनों का परिचालन करना होता है। प्रशासन सेवा के कर्त्तव्य को सही रूप में समझने के लिए सरकार की अन्य शाखाओं की परिसीमाओं का अध्ययन करना आवश्यक होगा। उदाहरणतया, विधान मण्डलों द्वारा जो कानून बनाए जाते हैं, उनके पास न तो उन्हें कार्यान्वित कराने का समय होता है और न हो उपयुक्त साधन होते हैं। उनके पास अत्यन्त पेचीदा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित तथ्यों व आँकड़ों को, उनके विस्तृत विश्लेषण सहित, समझने के लिए पर्याप्त समय नहीं होता जिसके बिना कभी भी कोई प्रभावशाली नीति अथवा योजना नहीं बनाई जा सकती। उनके द्वारा प्रस्तुत विधेयकों को जिन समस्याओं एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनका उन्हें कोई विशिष्ट

ज्ञान नहीं होता। इन सभी मामलों में उन्हें स्थायी अधिकारियों के अनुभव और जानकारी पर निर्भर करना पड़ता है। सरकार की अन्य तीन शाखाओं पर भी यही बात लागू होती है। पाँचवीं शाखा अर्थात् उन स्थायी अधिकारियों पर, जिन्हें प्रशासक कहा जाता है, निर्भर करने के कारण प्राय: यही कहा जाता है कि ये अधिकारी ही देश के वास्तविक शासक हैं। अंग्रेजी भाषा में प्रशासन सेवा को "व्यूरो क्रेसी" (bureaucracy) कहते हैं, जो दो शब्दों, व्यूरो (bureau) एवं क्रेसी (cracy) का यौगिक रूप है। व्यूरो का अर्थ 'विभाग' और 'क्रेसी' का अर्थ 'सरकार' है। इस प्रकार व्यूरोक्रेसी का सम्मिलित अर्थ 'विभागीय अधिकारियों की सरकार' हुआ। अत: प्रशासन सेवा (व्यूरोक्रेसी) की भूमिका के अध्ययन का वास्तविक अर्थ प्रशासन सेवा बल्कि उच्चतर प्रशासन सेवा की भूमिका का अध्ययन करना होता है।

प्रशासन सेवा क्या है (What is the Civil Service ?)

प्रत्येक प्रणाली की सरकार के लिए प्रशासन सेवा की उपर्युक्त उपादेयता से यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि प्रशासन सेवा क्या है ? अथवा किन व्यक्तियों के समूह को प्रशासन सेवा कहते हैं ? प्रशासन सेवा सभी श्रेणियों के तथा सभी प्रकार के कार्यों में लगे व्यक्तियों में से लिए गए व्यक्तियों का एक समूह होता है और उनमें केवल एक यह सर्वनिष्ठ तत्त्व होता है कि उन्हें संसद द्वारा जुटाए गए धन से वेतन दिया जाता है। यद्यपि न्यायाधीशों, सशस्त्र सेना के सदस्यों, संसद सदस्यों, मन्त्रियों, राज्यों के प्रधानों तथा अनेक अन्य पदों का वेतन संसद द्वारा जुटाए गए धन में से दिया जाता है तदपि वे सभी प्रशासनिक सेवा के अंग नहीं होते। प्रशासन (अथवा प्रशासनिक) सेवा में केवल उन्हीं व्यक्तियों की गणना होती है, जो असैनिक एवं नागरिक कार्यों के लिए नियुक्त किये जाते हैं। आज की लोक कल्याण राज्य प्रणाली में सरकार को अपने नागरिकों के जन्म से भी पहले उनके हित की चिन्ता आरम्भ होती है। ग्रेट ब्रिटेन में प्रशासनिक सेवा के कार्यों के बारे में टी० ए० क्रिचले (T. A. Critchley) ने अपनी पुस्तक *The Civil Service Today* में लिखा है : "खाद्य मन्त्रालय हमारी माताओं को अतिरिक्त राशन प्रदान करता है और व्यवसाय मण्डल उन्हें अभी तक अतिरिक्त कपड़े के कूपन देता रहा है। जब हम इस संसार में आते हैं तो स्वास्थ्य मन्त्रालय की प्रसूती सेवा हमारे सुगमतापूर्वक अवतरण की व्यवस्था करती है। महापंजीयक (Registrar General) तुरन्त हमारे व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान करते हैं और हमें जन्म का प्रमाणपत्र प्रदान करते हैं। हमारे शैशव और बाल-अवस्था में स्वास्थ्य मन्त्रालय एवं शिक्षा मन्त्रालय हमारी अदृश्य दैवी माताओं के समान कार्य करते हैं। हमारे स्कूली जीवन में प्रमुख भाग शिक्षा मन्त्रालय का होता है। हमारे शिक्षकों का उचित प्रशिक्षण, उनके द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का प्रकार, स्कूल में दिए जाने वाले आहार का स्तर और यदि हम किसी दूरस्थ ग्रामीण प्रदेश में रहते हों तो सम्भवत:

स्कूल ले जाने के लिए परिवहन व्यवस्था—ये सब शिक्षा मन्त्रालय की ही कार्य-कुशलता पर निर्भर करते हैं। हमें श्रम मन्त्रालय और राष्ट्रीय सेवाओं के मार्गदर्शन द्वारा रोजगार मिलता है। राष्ट्रीय बीमा मन्त्रालय तत्परतापूर्वक हमारे बीमे के चन्दे की याद दिलाता है। जब हम बीमार पड़ जाते हैं तो हमें उसी चन्दे का लाभ प्राप्त होता है और अर्ध-सरकारी डाक्टर तक से इलाज प्राप्त होता है। ये प्रशासन सेवा द्वारा चलाये जाने वाले कुछ थोड़े से कार्य हैं, पर उनकी वास्तविक गिनती इनसे बीसियों गुना अधिक होगी।"

अन्य देशों में भी प्रशासन सेवा के अनेक कार्यभाग होते हैं।

प्रशासन सेवा के कार्यभाग (Functions of the Civil Service)

स्थूल रूप से प्रशासन सेवा के चार प्रमुख कार्य होते हैं। इसका सर्वप्रथम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने सरकारी संस्थानों के प्रचालन के विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कार्यनीति निर्धारित करने में मन्त्री की सहायता करना होता है। जनता के जो प्रतिनिधि कानून बनाने वाले निकायों के लिए निर्वाचित होते हैं और उनमें से जो व्यक्ति मन्त्री बनते हैं, उनके पास न तो इतना समय एवं क्षमता होती है और न ही उन्हें जीवन के अत्यधिक जटिल सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं का विशिष्ट ज्ञान होता है। इसके बिना कोई सर्वांगपूर्ण नीति अथवा योजना नहीं बनाई जा सकती। **निर्वाचन से तुरन्त पूर्व** वे जनता से अनेक वादे करते हैं और लोगों को अपनी योजनाएँ समझाते, और **चुनाव के बाद** उनकी मन्शा उन वादों को पूरा करने तथा कार्यक्रमों को लागू करने की होती है। किन्तु इसके लिए उन्हें स्थायी अधिकारियों की जानकारी एवं तजुर्बे पर निर्भर करना पड़ता है, जो सूचना एवं आवश्यक आँकड़े एकत्र करते हैं तथा प्रस्तावित योजना या कार्यक्रम की हर पहलू से जाँच करते हैं। ये अधिकारी मंत्री के माँगने पर अपनी सलाह देते हैं, अथवा जब उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि मन्त्री द्वारा अपनायी गयी नीति से सरकार को कठिनाई में पड़ना होगा तो वे स्वयं भी उन्हें सलाह दे सकते हैं। वे मन्त्री को नम्रतापूर्वक समझा सकते हैं कि उनके कार्यक्रम की कुछ मदें बेतुकी हैं और वे अव्यवहारिक सिद्ध होंगी तथा अमुक अन्य मदों में अत्यधिक खर्चा हो जायेगा। किन्तु नीति निर्धारण की अन्तिम ज़िम्मेदारी मन्त्री की ही होती है जिसे जनता की आलोचना का उत्तर देना पड़ता है और इस्तीफा तक देना पड़ सकता है। अतः सरकारी अफसर को अपनी सलाह मानने के लिए जोर नहीं देना होता। उसका कर्त्तव्य एक सच्चे सलाहकार का है और यदि उसकी सलाह नहीं मानी जाती तो उसे चुपचाप मन्त्री का निर्णय स्वीकार कर लेना होता है।

प्रशासन सेवा का दूसरा कार्यभाग विधायक एवं कार्यकारी अधिकारियों के निर्णयों को कार्यान्वित करना होता है। विधान मण्डल प्रत्येक सत्र में अनेक अधिनियम पारित करता है और मन्त्री प्रति वर्ष अनगिनत आदेश जारी करते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी उन्हें क्रियान्वित करने की स्थिति में नहीं होता। यह कार्य प्रशासन अधिकारी

अर्थात् सरकारी अफसरों द्वारा किया जाता है। इसे वे जितनी ईमानदारी, तत्परता एवं कुशलतापूर्वक करते हैं, उसी से सरकार के बढ़िया वा घटियापन का स्तर आँका जाता है और उसी में राष्ट्र की मजबूती प्रतिबिम्बित होती है।

प्रशासन सेवा का तीसरा कार्यभाग विभागीय विधि बनाना है। वर्तमान शताब्दी में सभी राज्य लोक कल्याणकारी राज्य हैं, अर्थात् उनका कर्त्तव्य केवल नियम व्यवस्था बनाए रखना एवं जनता से कर वसूल करना ही नहीं है अपितु वे जनता की सभी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखते हैं। इसीलिए विधायिका को अपने प्रत्येक सत्र में अनेक कानून पारित करने होते हैं क्योंकि आवश्यक कानून द्वारा अधिकार प्राप्त किए बिना सरकार की कार्यपालिका शाखा व्यवहारिक रूप से लोक कल्याण का कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। विधायिका के पास राज्य की अत्यधिक जटिल समस्याओं पर सभी विधेयक पूरे विवरण सहित पारित करने का न तो समय होता है और न ही उसकी इतनी क्षमता होती है। अत: वह केवल उनकी स्थूल रूपरेखा एवं प्रमुख सिद्धान्त ही पारित करती है और उसकी तफसील बनाने तथा स्थूल रूपरेखा को विस्तृत रूप देने का कार्य विभागीय अधिकारियों के लिए छोड़ दिया जाता है। इसे प्रत्यायोजित विधान (delegated legislation) कहते हैं।

प्रशासन सेवा का चौथा कार्यभाग प्रशासन के अबाध रूप में चलते रहने की व्यवस्था करना होता है। विधान मण्डलों के सदस्य बदलते रहते हैं और मन्त्रियों के पदों का कार्यकाल भी अनिश्चित होता है (विशेषत: भारत जैसे देश में जहाँ अनेक राजनीतिक दल हैं)। आज जिस दल की सरकार है, कल उससे पूर्णत: भिन्न राजनीतिक विचारों की सरकार बन सकती है जिसके कार्यक्रम भी पूर्णत: भिन्न होंगे, पर प्रशासनिक अधिकारियों पर इन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न ही पड़ना चाहिए। उन्हें किसी भेदभाव के बिना प्रत्येक सरकार की सेवा करनी होती है और वही निष्ठा एवं विश्वस्तता बनाए रखनी होती है। ऐसे अवसर भी आते हैं, जब किसी भी राजनीतिक दल की सरकार नहीं होती और न तो मन्त्रिपरिषद होती है और न ही विधायिका। ऐसे समय पर राज्याध्यक्ष सारे अधिकार अपने हाथों में लेकर प्रशासन का कार्य सलाहकारों की एक आन्तरिक निकाय की सहायता से करते हैं। प्रशासन सेवा का यह कर्त्तव्य चौथे आम चुनावों के बाद अधिक उजागर हुआ, जब सात राज्यों में गैर-कांग्रेसी दलों ने संयुक्त मोर्चा सरकारें बनाई, पर अपने आन्तरिक झगड़ों के कारण सत्तारूढ़ नहीं रह सकीं तथा राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। कुछ राज्यों में तो ऐसा अनेक बार हुआ। राष्ट्रपति शासन की उन अवधियों में उन राज्यों में प्रशासनिक तन्त्र चलते रहे और जनता की जो सेवा किसी दल की सरकार द्वारा की जाती थी, वह की जाती रही। राजनीतिक अस्थिरता के इन अन्तरालों में यदि प्रशासन सेवा विद्यमान न हो तो अनुमान लगाया जा सकता है कि उस स्थिति में जनता की क्या दशा होती।

प्रशासन अधिकारी और मन्त्री के परस्पर सम्बन्ध (Relations between the Civil Servant and the Minister)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देश के राजकाज में प्रशासनिक सेवा महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसे पद के अनुसार गौरव भी प्रदान किया जाये। प्रशासन अधिकारियों द्वारा चलायी जाने वाली सरकार में अनेक अवगुण भी होते हैं। प्रशासन अधिकारी सेवक के रूप में बहुत अच्छा होगा, पर स्वामी के रूप में वह अत्यधिक बुरा होता है। संसदीय प्रणाली की सरकार जनता के अत्यधिक हित में तभी कार्य करती है जब वह दोनों तत्त्वों, लोकतन्त्रीय एवं नौकरशाही, प्रशासनिक एवं राजनीतिक तथा विशेषज्ञ एवं नवोदित, के सामंजस्य से कार्य करे। लोकतन्त्रीय, राजनीतिक एवं नवोदित तत्त्व मन्त्री में होता है, जबकि प्रशासनिक नौकरशाही एवं विशेषज्ञ तत्त्व प्रशासन अधिकारी में होता है। इन दोनों के गुणों एवं योग्यता के स्तर में बहुत अन्तर होता है। मन्त्री का दृष्टिकोण विशाल होता है तथा मस्तिष्क में नये विचार ग्रहण करने की शक्ति होती है। यह जिन व्यक्तियों का प्रतिनिधि है और सदैव जिनके सम्पर्क में रहता है, उनकी समस्याओं को समझता है तथा उनकी क़द्र करता है। उसे अपने दल द्वारा निर्वाचन के समय जनता से किये गए वादे याद होते हैं और वह यह भी जनता है कि यदि वे वादे पूरे न किये गए तो अगले चुनाव में उसके दल के हाथों से सत्ता छिन सकती है। अत: उसका हित इसी में होता है कि ऐसी नीतियाँ निर्धारित की जायें जिनसे वे वादे पूरे हो सकने की आशा हो। दूसरी ओर, सरकारी अधिकारी अधिकतर समय सचिवालय में अपने कार्यालय में काम करताहै। जो समस्याएँ उनके सम्मुख प्रस्तुत होती हैं, दिनप्रतिदिन उन्हें निपटाता है। अपने विभाग के कार्यों का तजुर्बा ग्रहण करता है और इन सबके माध्यम से उसमें अपने विभाग के कार्य-संचालन में अधिकाधिक सुधार करने की जाँच विकसित हो जाती है। किन्तु उसने जनता से कोई वादे नहीं किए होते अत: उसे कोई कार्यक्रम बनाने तथा उसे प्रवर्तित करने की कोई जल्दी नहीं होती। मन्त्री, जिसे कार्यक्रम बनाने व क्रियान्वित करने होते हैं, उसे विस्तृत सूचना, अन्य सामग्री एवं आँकड़ों के लिए प्रशासनिक अधिकारी पर निर्भर करना पड़ता है। मन्त्री को आवश्यक सूचना-सामग्री जुटाते समय प्रशासनिक अधिकारी उसे अपनी निजी सलाह भी दे सकता है और उसे सम्भावित परिणामों से आगाह कर सकता है अर्थात् मन्त्री जो नीति प्रवर्तित करना चाहता है, उसके भले-बुरे परिणामों की पूर्व सूचना दे सकता है। मन्त्री द्वारा उसकी सलाह मानी जाती है अथवा नहीं, इसकी उसे चिन्ता नहीं करनी होती। यदि प्रशासनिक अधिकारी ऐसा आग्रह करे कि मन्त्री द्वारा उसकी नीति अवश्य ही मानी जाए तो यह उसके प्राधिकार का अतिक्रमण होगा।

मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित कर दिए जाने के बाद उसका क्रियान्वयन प्रशासनिक अधिकारी के हाथों में छोड़ दिया जाता है। जिस प्रकार मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित किए जाने में प्रशासनिक अधिकारी को अपने दृष्टिकोण की स्वीकृति का आग्रह नहीं

करना होता, उसी प्रकार मन्त्री को उस नीति के क्रियान्वयन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मन्त्री अपनी नीति के ठीक-ठीक प्रवर्तन का विश्वास प्राप्त करने के लिए आवश्यक निगरानी रख सकता है, पर यह निरन्तर छिद्रान्वेषण के रूप में नहीं होना चाहिए। यदि कोई मन्त्री ऐसा करे तो वह उसके प्राधिकार का अतिक्रमण होगा। मन्त्री एवं सरकारी अधिकारी दोनों ही जनता की सेवा करना चाहते हैं पर वे वह सेवा तभी उचित रूप से कर पायेंगे, जब वे अपने-अपने कार्य की प्रकृति को भली भाँति समझेंगे। प्रशासन की कुशलता एवं प्रशासन की उत्तमता इसी पर निर्भर करती है।

आगे के अनुच्छेदों में भारत में प्रशासनिक सेवा के कार्यों एवं विशेषताओं की इसी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में विवेचना की जायेगी।

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व प्रशासन सेवा
(Civil Service in India before Independence)

भारत में इस समय प्रशासनिक सेवा का जो रूप है वह थोड़े-बहुत परिवर्तन सहित उसी प्रशासनिक यंत्र एवं संयंत्र का रूपान्तर मात्र है, जो हमारे ब्रिटिश शासकों ने एक बहुत ही भिन्न उद्देश्य के लिए एक भिन्न समय पर रचा था। अतः स्वतन्त्रता के बाद के युग में उसकी भूमिका एवं कार्यों को समझने के लिए उसकी ब्रिटिशकालीन प्रकृति एवं प्रकार को समझना आवश्यक होगा। विदेशी **स्वामियों** को भारतीय राष्ट्र के व्यापक कायापलट अथवा भारतीय जनता के कल्याण एवं उत्थान की कोई चिन्ता नहीं थी। उन्हें भारत में सामाजिक, शैक्षणिक और वैज्ञानिक क्रान्ति लाने में जो थोड़ी बहुत रुचि थी वह भारतीय जनता की उस प्रतिकूल प्रतिक्रिया के कारण समाप्त हो गई जिसका स्पष्ट प्रदर्शन 1857 के विद्रोह में हुआ। उसके बाद अंग्रेज़ सरकार ने भारतीय जनता की आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के अनुसार प्रगति की चिन्ता करना छोड़ कर अपना वास्ता केवल नियम-व्यवस्था बनाए रखने तथा करों की वसूली से रखना शुरू कर दिया। जो थोड़ी-बहुत नवीनता लाई गई, वह औपनिवेशिक साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा उसकी जड़ें मज़बूत करने के लिए थी।

प्रशासन सेवा भी उसी लक्ष्य की पूर्ति के दृष्टिकोण से संगठित की गई थी। सचिवालय एवं ज़िला प्रशासनों में सभी उच्चतर पदों पर अंग्रेज नियुक्त किये गए ताकि अक्षुण्ण राजभक्ति एवं कर्त्तव्यनिष्ठा बनी रहे और शिक्षित भारतीयों को यथासम्भव उच्च सरकारी पदों से दूर रखा गया। 1833 के राज्यादेश द्वारा सभी वर्ग के भारतीयों को "वंश, जाति अथवा धर्म के किसी भी भेद के बिना" सरकारी पदों के लिए उपयुक्त घोषित किए जाने तथा प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा भारतीय प्रशासन सेवा में भारतीयों को प्रवेश पाने की अनुमति दिए जाने के बाद भी बहुत ही कम व्यक्ति उसमें लिए गए। जो व्यक्ति लिए भी गए, वे अपने प्रशिक्षण एवं स्वभाव के कारण ब्रिटिश शासन, ब्रिटिश संस्कृति और ब्रिटिश विचारधारा के महान समर्थक बन गए। उन्हें "प्रजा"

के प्रति किसी प्रकार के उत्तरदायित्व अथवा ज़िम्मेदारी का कोई खयाल तक नहीं था। प्रशासन सेवा के निम्न वर्ग को अपनी नौकरियों में केवल अपनी रोटी-रोज़ी की फ़िक्र थी और वे अपने अफसरों को खुश रखने में ही अपनी भलाई समझते थे। इस प्रकार सारे प्रशासनिक तन्त्र का केवल एक ही लक्ष्य था—जनता पर कठोरतापूर्वक शासन चला कर ब्रिटिश द्वीपसमूह को अधिकाधिक समृद्ध बनाना। इसी कारण लायड जार्ज ने भारतीय प्रशासन सेवा को ब्रिटिश साम्राज्य का लौह-ढाँचा बताया। उसके विपरीत सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा कि 'इण्डियन सिविल सर्विस' न भारतीय है, न नागरिक और न ही इसमें सेवा का तत्त्व है। इसकी भर्ती एवं प्रशिक्षण में जो कार्यविधि अपनाई जाती थी, उसका प्रमुख लक्ष्य प्रशासनिक अधिकारियों में हकूमत चलाने की भावना भरना तथा उन्हें "देशी" जनता से बिल्कुल भिन्न वर्ग का बना देना होता था। अंग्रेज़ों में यह भावना भर्ती के समय नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती थी और भारतीयों में इसे प्रशिक्षण द्वारा कूट-कूट कर भर दिया जाता था।

नए शासक और उनके नए लक्ष्य (New Rulers and Their New Goals)

अंग्रेज़ों ने अपने जिस स्वार्थ के लिए प्रशासनिक सेवा का गठन किया था, वह उसने खूब पूरा किया पर उससे भारतीय जनता के हृदय में एक घृणा की भावना व्याप्त हो गई। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में प्रशासनिक प्रणाली में सुधारकरने की माँग की जाने लगी और जब उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई तो कांग्रेस के नेतृत्व में, केवल प्रशासनिक सेवा की ही नहीं[2] अपितु विदेशी शासन की ही समाप्ति की, माँग की जाने लगी। यह चरम लक्ष्य 1947 के अगस्त में पूरा हुआ और देश की राजसत्ता भारतीय हाथों में सौंप दी गई। किन्तु वह भारत के स्वातन्त्र्य-संघर्ष का अन्त नहीं बल्कि अन्तिम कार्यों का आरम्भ था—क्योंकि अभी जनता का आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान करना शेष था। भारत के नए शासकों ने अपनी दृष्टि इस लक्ष्य पर केन्द्रित की और उसे आंशिक रूप से संविधान के प्राक्कथन एवं राज्य नीति के मार्ग निर्देशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) के अध्याय में अंकित कर दिया। यह लक्ष्य समाजवाद के माध्यम से प्राप्त किया जाना था, पर समाजवाद की परिभाषा करना सरल नहीं था क्योंकि भिन्न-भिन्न विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों ने समय-समय पर इसके भिन्न अर्थ लगाए हैं। स्थूल रूप से इसकी परिभाषा इस प्रकार बताई जा सकती है—ऐसी प्रणाली जिसमें उत्पादन के साधन भूमि, पूँजी, कच्चे माल इत्यादि पर सरकार का स्वामित्व व नियन्त्रण होता है और उनका लोक-कल्याण के लिए उपयोग किया जाता है। सामाजिक क्रान्ति लाने के तरीकों के सम्बन्ध में भी मतभेद था। कुछ व्यक्ति इसे संसदीय साधनों के माध्यम से लाने के हक में थे, पर ऐसे भी अनेक व्यक्ति थे जो इसे वर्ग-संघर्ष एवं सशस्त्र क्रान्ति द्वारा लाने के इच्छुक थे। भारत की अन्य देशों से भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के कारण भारत के शासकों ने समाजवाद एवं उसे स्थापित करने की

अपनी अलग परिपाटी चलाई। उन्होंने इसका नाम "समाजवादी समाज" (socialist pattern of society) रखना अधिक उचित समझा और उसे एक लक्ष्य के रूप में संविधान के अनुसार संचलित संसद के माध्यम से प्राप्त करने का निश्चय किया।

भारतीय संविधान में प्रशासन सेवाएँ (Civil Services in the Constitution of India)

संविधान के निर्माण के समय संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि सामाजिक-आर्थिक उन्नति के नए लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रशासनिक तन्त्र में आमूल परिवर्तन करने होंगे। किन्तु यह कार्य अत्यन्त बड़ा प्रतीत हुआ और निश्चय किया गया कि उस समय शासन तन्त्र को छेड़ना उपयुक्त नहीं होगा तथापि "केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी सेवाएँ" शीर्षक के अधीन संविधान के भाग चौदह में प्रशासनिक सेवाओं के पुनर्गठन का प्रावधान कर दिया गया। धारा 309 में निर्दिष्ट किया गया कि केन्द्र एवं राज्यों के कार्यों से सम्बन्धित सेवाओं एवं पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती एवं सेवा की शर्तों को उपयुक्त विधान मण्डलीय अधिनियमों द्वारा नियमित किया जाये। धारा 310 में निर्दिष्ट किया गया कि जो प्रशासनिक कर्मचारी केन्द्र सरकार के किसी पद पर नियुक्त होंगे अथवा अखिल भारतीय सेवा के सदस्य होंगे, वे राष्ट्रपति की इच्छा रहने तक ही अपने पद पर रह सकेंगे। जो व्यक्ति किसी राज्य के अधीन पदों पर नियुक्त होंगे और किसी राज्य की सेवा के सदस्य होंगे, वे अपने पद पर गवर्नर की इच्छा रहने तक बने रह सकेंगे। धारा 311 के अनुसार प्रशासनिक कर्मचारी को जिस प्राधिकारी द्वारा नियुक्त किया गया था, उससे अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत अथवा अपदस्थ नहीं किया जायेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रशासन कर्मचारी को ऐसी जाँच किये बिना, जिसमें उसे अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूरा अवसर दिया जाये, पदच्युत अथवा पदावनत नहीं किया जायेगा। ये प्रावधान सेवाकाल सुरक्षित करने के दृष्टिकोण से किये गए। संविधान में केन्द्र एवं राज्यों के लिए प्रशासनिक कर्मचारी भर्ती करने के लिए लोक सेवा आयोग स्थापित करने की भी व्यवस्था की गई और संसद को राज्य सेवाएँ स्थापित करने तथा राज्यों के विधान मण्डलों को राज्य सेवाएँ स्थापित करने के भी अधिकार दिये गए। संविधान लागू होने से पूर्व भारत के लिए राज्य सचिव द्वारा नियुक्त किये गए इण्डियन सिविल सर्विस के सभी अधिकारियों को मान्यता एवं सेवा का अनुरक्षण प्रदान किया गया।

प्रशासनिक तन्त्र के पुनर्गठन पर बल (Emphasis on the Reorganisation of Administrative Machinery)

नया संविधान लागू होने के शीघ्र बाद केन्द्रीय सरकार ने भारतीय क्रान्ति का दूसरा चरण अर्थात सामाजिक-आर्थिक न्याय लाने के उपाय करने आरम्भ किये। 28 फरवरी,

1950 को वित्त मन्त्री जॉन मथाई (John Mathai) ने घोषित किया कि सरकार ने छः प्रमुख कार्यों के लिए योजना आयोग स्थापित करने का निश्चय किया। ये कार्य इस प्रकार थे : (1) देश के तकनीकी जानकर व्यक्तियों सहित, मानवीय साधनों, सामग्रियों एवं पूँजी का उचित अनुमान लगाना तथा जो साधन राष्ट्र की आवश्यकताओं से कम प्रतीत हों, उनके प्रवर्धन की सम्भावनाओं की खोज करना ; (2) इन साधनों के अत्यधिक प्रभावशाली उपयोग की योजना बनाना ; (3) इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए प्राथमिकताएँ स्थिर करना और उसके चरण निश्चित करना तथा तदानुसार साधन आवण्टित करना; (4) आर्थिक विकास में बाधा डालने वाले तत्त्वों को उजागर करना तथा योजना के सफलतापूर्वक निष्पादन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ निर्धारित करना; (5) योजना के प्रत्येक चरण को लागू करने के लिए आवश्यक तन्त्र का प्रकार निश्चित करना; (6) समय-समय पर तब तक की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा आवश्यक समंजन (adjustments) की सिफ़ारिश करना। योजना का केन्द्रीय अभिलक्ष्य जीवन का स्तर ऊँचा करना तथा जनता के लिए अधिक समृद्ध एवं अधिक विविधतापूर्ण जीवन-यापन करने की व्यवस्था करना बताया गया।

आयोग ने यह भी संकेत किया कि योजना में निर्दिष्ट कार्यों की पूर्ति के लिए प्रशासनिक तंत्र की कार्यविधि और संगठन में अनेक परिवर्तन करने होंगे तथा निम्नलिखित कार्यों के लिए अतिरिक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होगी : (क) आर्थिक नीति एवं प्रशासन के क्षेत्रों में कार्य; (ख) सरकारी औद्योगिक संस्थानों का प्रबन्ध; (ग) जिला विकास कार्यक्रमों, भूमि सुधार और खाद्य सामग्री जुटाने व सम्भरण इत्यादि सम्बन्धी कार्य। योजना को सफलतापूर्वक परिचालित करने के लिए आयोग ने लोक प्रशासन में से सभी प्रकार के भ्रष्टाचार को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया और उसके लिए निम्नलिखित सिफारिशें कीं : (1) भ्रष्टाचार सम्बन्धी वर्तमान कानूनों को ऐसे मामलों पर भी लागू किया जाये जिसमें किसी सरकारी कर्मचारी के निकट सम्बन्धी शीघ्रतापूर्वक धनी हो गए हों, (2) सरकारी कर्मचारियों के लिए प्रतिवर्ष उनके या उनके निकट सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त की गई चल व अचल सम्पत्ति का विवरण देना अनिवार्य कर दिया जाये, (3) संदिग्ध ईमानदारी वाले अधिकारियों को ऐसे पदों पर नियुक्त न किया जाये, जहाँ इनके मनमाने कार्य करने की गुँजाइश हो, तथा (4) केन्द्रीय सरकार के पुलिस संस्थान को केवल केन्द्र में किये जाने वाले अपराधों की ही नहीं अपितु राज्यों में किये जाने वाले महत्त्वपूर्ण अपराधों की भी जाँच के लिए लैस किया जाये।

योजना आयोग ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि (1) उच्च शिक्षा योजनाओं एवं विशेष अनुभव वाले व्यक्तियों को प्रशासनिक सेवा में लिया जाये, (2) कनिष्ठ (junior) अधिकारियों के कुछ भाग को उनके सेवा काल के आरम्भ में ही चुनकर उन्हें आर्थिक क्षेत्र में विस्तृत प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, (3) वरिष्ठ (senior) पदों के लिए अन्य क्षेत्रों अर्थात् विश्वविद्यालयों, बैंकों, वित्त एवं उद्योग इत्यादि के विशेष

जानकार एवं अनुभवी व्यक्तियों की यथावश्यक सेवाएँ प्राप्त की जानी चाहिए।

पाँचों पंचवर्षीय योजनाओं में आयोग ने इसी बात पर बल दिया कि प्रशासन तंत्र के सुधार की गति में वृद्धि किये बिना योजनाओं के अभिलक्ष्यों की पूर्ति नहीं होगी। पॉल ऐपलबाई (Paul Appleby), गोपालस्वामी आयंगार, ए० डी० गोरवाला (A. D. Gorwala), और टी० टी० कृष्णमाचारी ने अपने प्रतिवेदनों में पुनर्गठन की रूपरेखाएँ बताईं, पर उनमें से किसी पर भी आचरण नहीं किया गया। जनवरी 1966 में सरकार ने प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) स्थापित किया। इसके विचारार्थ विषयों में केन्द्रीय सरकार के तंत्र और उसकी कार्य विधियाँ, योजना तंत्र के सभी स्तर, केन्द्र-राज्य सम्बन्ध, वित्त, अर्थ एवं कार्मिक प्रशासन और जनता की शिकायतें दूर करना इत्यादि विषय थे। आयोग ने इन विषयों पर बीस प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। सरकार ने इन प्रतिवेदनों के अध्ययन एवं जाँच के लिए गृह मन्त्रालय में "कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग" (Department of Personnal and Administrative Reforms) के नाम से एक अलग विभाग खोल दिया। इनमें से सात पर तो बहुत दिनों तक बिल्कुल भी विचार नहीं किया जा सका। शेष 13 पर थोड़ी-बहुत कार्रवाई आरम्भ की गई, पर मुख्य सिफारिशों पर जाँच पूरी नहीं हो पाई। राज्यों के प्रशासन के सम्बन्ध में जो सिफारिशें की गईं, उनमें से अधिकतर के बारे में सरकार ने केवल यही कहा कि उन्हें क्रियान्यवन के लिए सम्बन्धित राज्यों को भेज दिया गया है। यद्यपि अधिकतर राज्यों में कांग्रेस की सरकारें थीं, केन्द्र ने उन सरकारों से प्रशासन सुधार आयोग की सिफारिशों पर विचार करने व उन्हें लागू करने का आग्रह करना उचित नहीं समझा। पर केन्द्र सरकार ने प्रशासन सुधार आयोग की सिफारिशों के आधार पर प्रशासन को मज़बूत बनाने के प्रश्न पर गम्भीर विचार करने के लिए सचिवों की एक समिति नियुक्त की। कालान्तर में तत्कालीन योजना-मन्त्री मोहन धारिया ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि जब सरकारी अफ़सरों द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट का निर्णय करने के लिए भी सरकारी अफ़सर ही बैठे हों तो उनसे किसी फल की आशा करना बेकार है, अत: उन्होंने मन्त्रियों की एक समिति गठित करने का सुझाव दिया। प्रधान मन्त्री ने यह समिति जनवरी 1973 में नियुक्त की और उसे छ: महीने के भीतर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया। ऐसा बताया गया कि सरकार पाँचवीं पंचवर्षीय योजना आरम्भ करने से पूर्व प्रशासनिक तंत्र में आवश्यक फेरबदल करना चाहती है। योजना आरम्भ की जा चुकी है, पर प्रशासन में कोई विशेष सुधार अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुए।

आर्थिक संकट का दोष अधिकारी वर्ग पर (Bureaucracy Blamed for Economic Crisis)

भारत सरकार के उच्च अधिकारियों ने भारत में समानता पर आधारित समाज स्थापित करने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय किये। उन्होंने बैंकिंग, कोयला

खानों, जीवन बीमा, सामान्य बीमा, इस्पात, रासायनिक पदार्थ एवं उर्वरकों इत्यादि सम्बन्धी अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने तकनीकी, औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी विकास के लिए विदेशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरणों से अनेक सन्धियाँ व समझौते किये। उन्होंने सामाजिक-आर्थिक उन्नति में रुकावट दूर करने के लिए संविधान में भी यथावश्यक सुधार किये। उपभोक्ता वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था को मज़बूत बनाने के लिए उन्होंने कन्ट्रोल एवं 'कोटा' पद्धतियों का सहारा लिया। अमीर और ग़रीब का अन्तर मिटाने के लिए राज्य सरकारों को भूमि की अधिकतम सीमा निश्चित करने सम्बन्धी कानून बनाने का निर्देश दिया गया। जनता की गरीबी और कठिनाइयाँ दूर करने के और भी अनेक उपाय किये गए।

किन्तु इन सब प्रयत्नों के परिणाम अत्यन्त खेदजनक, पीड़ादायक एवं अत्यधिक निराशाजनक हुए। अजित रॉय ने अपनी पुस्तक *Economics and Politics of Garibi Hatao* में लिखा है कि 1966-67 और 1969-70 के वर्षों में बड़े-बड़े व्यापार संस्थानों के पूँजी-पावने में 30 से 70 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप धन के वितरण की बजाय उसका केन्द्रीकरण हो गया; भूमि सुधार कानूनों से किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ; और 1961-70 के दशक में औद्योगिक कामगारों के वेतन में, जहाँ 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई, कीमतों में 78 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप वस्तुतः वेतन कम हो गए। 18 जुलाई, 1974 को वाई० बी० चह्वाण ने स्वीकार किया कि राष्ट्रीयकृत बैंकों ने बहुत कम उन्नति की है। अन्य राष्ट्रीयकृत संस्थानों का भी लाभ अभी सामान्य जनता तक नहीं पहुँच पाया है। स्वयं सरकार ने यह स्वीकार किया है कि चवालीस प्रतिशत जनता अभी तक गरीबी की सीमा रेखा से नीचे अर्थात् भूखों मरने के बिल्कुल निकट जीवन-यापन कर रही है। नई तरह के अमीरों अर्थात् चोरबाज़ारियों, कर चोरों, मुनाफ़ाखोरों, तस्कर व्यापारियों और विदेशी मुद्रा तस्करों का एक नया वर्ग उदित हुआ है जो सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के नए आयाम स्थापित कर रहा है। शासक वर्ग कुछ भी कहे, पर यह सत्य है कि सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का कहीं पता नहीं है और देश की अर्थ-व्यवस्था काबू से बाहर हो गई है।

अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ने के लिए शासक वर्ग ने 'शतरंज के मोहरों' की तलाश की, जिनमें से एक वर्ग सरकारी अफ़सरों का था। 16 नवम्बर, 1969 को कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में भाषण करते हुए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा कि प्रशासनिक तंत्र देश की प्रगति के 'मार्ग का रोड़ा' (stumbling block) है। चन्द्रशेखर, मोहन धारिया एवं कुछ अन्य नेताओं ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को प्रस्तुत किये गए अपने "मूलभूत आर्थिक विषयों" (basic economic issues) सम्बन्धी नोट में शिकायत की कि भारतीय प्रशासनिक सेवा अपने कठोर नेतृत्व एवं उच्चवर्गीय भेदभाव के कारण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाई है तथा एक ऐसी प्रशासनिक श्रेणी तैयार करने

की अत्यन्त आवश्यकता है, जो राष्ट्रीय अभिलक्ष्यों के लिए कृतसंकल्प हों और सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हों। अप्रैल 1974 में कांग्रेसी संसदीय दल के कुछ सदस्यों ने "वर्तमान" आर्थिक संकट के लिए "सरकारी अफ़सरों" को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि प्रगतिशील नीतियाँ लागू करने के लिए "आमूल चूल" परिवर्तन करना होगा। दल के दो सदस्यों वरनीवर दास एवं वी० पी० साठे का यह कहना था कि आई० सी० एस० (ICS) और आई० ए० एस० (IAS) अफसरों पर अत्याधिक निर्भर करने से देश की प्रगति अवरुद्ध हो गई है। कुछ समय वाद ये व्यक्ति और प्रधान मन्त्री यह माँग करने लगे कि सरकारी अफ़सरों को शासक वर्ग की नीतियों एवं विचारधारा के प्रति कृतसंकल्प (committed) होना चाहिए और इस प्रकार कृतसंकल्प हुए बिना सरकार की नीतियाँ एवं आदर्श लागू नहीं किये जा सकते। श्रीमती गांधी का कहना था कि वे ऐसे अधिकारी पसन्द करती हैं, जो भली भाँति सोच कर हमारी उन्नति के लिए आवश्यक नीतियों को उचित रूप से लागू कर सकें। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश प्रणाली का अनुसरण करने से, जहाँ सरकारी अफसरों को यह चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती कि देश में कौन-सा दल सत्तारूढ़ है, देश लकीर का फकीर हो कर रह जायेगा।

अपनी पुस्तक *Red Tape and White Cap* में एक भूतपूर्व रक्षा सचिव पी० वी० आर० राव (P. V. R. Rao) ने प्रधान मन्त्री एवं अनेक अन्य नेताओं द्वारा प्रस्तुत किये गए इस सिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया कि प्रशासन केवल तभी सुधर सकता है, जब सरकारी सेवाओं में केवल वही व्यक्ति विद्यमान हों जो सरकार की नीतियों के प्रति कृतसंकल्प हों। उन्होंने कहा यह कार्यपालिका के कर्मचारी वर्ग के सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य—अपने सीमित क्षेत्र में रह कर राजनीतिक वर्ग पर अंकुश का काम करना—के प्रतिकूल होगा। उन्होंने कहा कि यह कर्त्तव्य, प्रशासक के सामान्यतः जाने-माने कर्त्तव्य—प्रशासन की निरन्तरता बनाये रखना और सिद्धहस्तता की व्यवस्था करना—से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राव का कहना था कि अब ऐसा समय आ गया है कि सामाजिक एवं आर्थिक असमानताएँ दूर करने के लिए सरकार प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों में अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगी है। ऐसे समय में यदि सरकारी अधिकारियों को सरकार के नीतियों की प्रति कृतसंकल्प होना पड़ा तो प्रत्येक नागरिक के हितों की रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व समाप्त हो जायेगा। अनेक भूतपूर्व मन्त्रियों, विपक्षी नेताओं, भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों, पत्रकारों और प्रतिष्ठित जनों ने भी प्रधान मन्त्री के 'कृतसंकल्प सरकारी अफ़सरों' (committed bureaucracy) की वार्ता की आलोचना की। यह आपत्ति की गई कि यदि प्रशासन सेवा कांग्रेस की ही विचारधारा के प्रति कृतसंकल्प होती, केन्द्र में तथा अधिकतर राज्यों में कांग्रेस की ही सरकारें थीं, तो उड़ीसा में स्वतंत्र पार्टी द्वारा सरकार बनाने के समय और द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (DMK) द्वारा तमिलनाडु में, अकाली दल द्वारा पंजाब में तथा केरल एवं पश्चिमी बंगाल में संयुक्त मोर्चो द्वारा सरकार बनाने के परिणामस्वरूप अधिक-

तर समय गड़बड़ ही मची रहती। ये दल इन राज्यों में एक दिन भी काम न कर पाते। यदि कृतसंकल्पता का सिद्धान्त लागू किया तो कुछ लोगों के मतानुसार "कार्यकुशलता के स्थान पर सरपरस्ती का ही प्रधानत्व रहना" (to replace efficiency with patronage)"। यद्यपि प्रशासनिक संयन्त्र में सुधार करना व उसे उन्नत बनाना आवश्यक था, पर विचारधारा सम्बन्धी बन्धन को किसी विकास कार्यक्रम का अंग नहीं माना जा सकता था। प्रशासनिक सेवा के लिए केवल एक ही संकल्प की धारणा की जा सकती थी और वह था लोकहित की भावना तथा संविधान की प्रस्तावना में दिये गये उसके मूलभूत वायदों में आधारभूत विश्वास।

यह भी कहा गया कि यदि प्रशासन सेवा के कारण काम में रुकावट पड़ती है तो वह मन्त्रियों द्वारा निरंतर छेड़छाड़ (pinpricking) करने के कारण, अस्पष्ट नीति के कारण, सरकारी अधिकारियों एवं जनता में उचित संपर्क न होने के कारण, पुरानी, घिसी-पिटी कार्यविधियों के कारण होता था, और कुछ इसलिए होता था कि प्रशासनिक अधिकारी ब्रिटिश शासन काल की परम्पराओं से ओतप्रोत थे और उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण कुशल प्रशासनिक अधिकारी की आवश्यकताओं से बहुत कम पड़ते थे। आगे कहा गया कि दलीय विचारधारा के प्रति वचनबद्ध होने की माँग करने से न केवल मन्त्रियों एवं सरकारी अफ़सरों के बीच का सम्बन्ध समाप्त हो जायेगा, प्रत्युत वह देश की लोकतांत्रिक प्रणाली के प्रतिकूल होगा तथा अव्यवहारिक भी सिद्ध होगा। इस ओर ध्यान दिलाया गया कि किसी दल की विचारधारा के प्रति वचनबद्ध या कृतसंकल्प न होने से सरकार द्वारा अपनी नीतियों का अनुसरण करने में कोई बाधा नहीं पड़ती। उदाहरणतया, हो सकता है कि कुछ सरकारी अफसरों को बैंक राष्ट्रीयकरण की नीति उचित न प्रतीत हुई हो, पर सरकार द्वारा पक्का निर्णय कर लेने के बाद उसके क्रियान्वयन में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वास्तव में, शासक दल के नेता जब अपनी नीतियों में असफल होते हैं तो दूसरों के सिर दोष मढ़ने के प्रयत्न करते हैं और कह देते हैं कि सरकारी अधिकारियों के कृतसंकल्प न होने के कारण उनकी परियोजनाएँ सफल नहीं हो पातीं।

शासक दल के नेताओं के अतिरिक्त, समय-समय पर विपक्षी दलों के नेताओं, पत्रकारों, प्रतिष्ठित प्रजाजनों और आम जनता द्वारा भी यही कहा जाता है कि शासक दल की दोषपूर्ण नीतियाँ और राजनीतिज्ञों के भ्रष्टाचार और बेईमानी से तो भारत की सामाजिक-आर्थिक उन्नति में रुकावट पड़ती ही है, पर सरकारी अधिकारी भी उसके लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं।

आर्थिक मन्दी के लिए प्रशासनिक अधिकारियों को ज़िम्मेदार ठहराए जाने के कारण (Why Bureaucracy has been Blamed for Economic Sluggishness)

भारत में आर्थिक मन्दी के लिए किसी हद तक प्रशासनिक सेवा को भी उत्तरदायी

ठहराया गया। इसके कुछ कारण इस प्रकार थे—

(1) प्रशासन और उसके काम करने के पुराने एवं घिसे-पिटे तरीके,

(2) भारतीय सार्वजनिक सेवाओं अर्थात् आई० सी० एफ० और आई० ए० एस० की उच्चवर्गीय प्रकृति,

(3) सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार और घूसखोरी का अत्यधिक प्रचार,

(4) सरकारी विभागों के नित्य के कामों में मन्त्रियों का हस्तक्षेप और उसके परिणामस्वरूप सरकारी कमचारियों में व्याप्त दब्बूपन अर्थात् मनोबल का ह्रास, तथा

(5) सरकारी कामकाज में सामान्यता एवं विशिष्टता का प्रतिरोध और सरकारी अफ़सरों में व्याप्त असंतुष्टि।

उपर्युक्त कारणों की अलग-अलग विवेचना इस प्रकार की जा सकती है।

प्रशासन और उनके काम करने के पुराने एवं घिसे-पिटे तरीके (Obsolete Administrative Set-up and Procedures)

भारत में शासन-तन्त्र सामान्य प्रशासक के पुराने तरीकों पर आधारित है। सचिवालय, नीति आयोजन स्तर एवं ज़िलों के सभी उच्चतम पदों पर आई० सी० एस० एवं आई० ए० एस० अधिकारी आरूढ़ हैं। अपने प्रशिक्षण और स्वभाव के कारण ये अधिकारी समाजवाद लाने के योग्य नहीं थे। अनेक व्यापारी संस्थानों अर्थात् बैंकों, बीमा कम्पनियों, इस्पात कारखानों, रासायनिक खाद कारखानों, रसायन एवं वस्त्र उद्योगों इत्यादि का राष्ट्रीकरण कर दिया गया तथा अनेक आई० सी० एस० व आई० ए० एस० अधिकारियों को उनके चैयरमैन, व्यवस्था निदेशक और निदेशक बनाकर डेपुटेशन (deputation) पर भेजा गया। इन व्यक्तियों को न तो आवश्यक व्यापारिक ज्ञान था और न ही वे व्यापार संस्थान के परिचालन का आवश्यक ज्ञान रखते थे। उनमें ऐसे संस्थानों का प्रशासन चलाने के लिए पर्याप्त व्यवस्थापन योग्यता की भी कमी थी। इन अधिकारियों में कल्पना, शक्ति नहीं थी और वे इन संस्थानों का परिचालन सरकारी विभागों के समान चलाने का प्रयत्न करते थे। इसका यह परिणाम हुआ कि अनेक राष्ट्रीयकृत संस्थानों को भारी नुकसान उठाना पड़ा और वे राष्ट्र के लिए लाभ कर की बजाय हानिकर साबित हुए। इस प्रकार, राष्ट्रीकरण का सारा उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया।

सरकारी अधिकारी व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु उनके काम करने के तरीके और कार्यविधि भी टेढ़े-मेढ़े, अविचारपूर्ण, असामयिक और पेचीदा होते थे। इन कार्यविधियों में निर्णय लेने में विलम्ब, फ़ाइलों का मेज़ों पर इधर-उधर चक्कर काटना और सचिवालय की लाल फ़ीताशाही शामिल थे। कम महत्त्व के प्रश्न को भी कम-से-कम पाँच-छ: मेज़ों पर घूमना पड़ता था और यदि वह प्रश्न किसी बड़े महत्त्व का हो तो अन्तिम निर्णय करने से पूर्व उसे अन्य पाँच-छ: अधिकारियों के हाथों में से गुज़रना

पड़ता था। लाल फ़ीताशाही और निर्णय लेने में सुस्ती इतनी अधिक थी कि व्यापारी संस्थानों के समान राज्यों की सरकारों को भी केन्द्रीय सचिवालय में अपनी फ़ाइलों का पीछा करने के लिए नई दिल्ली में अपने सम्पर्क अधिकारी रखने पड़ते थे। प्रत्येक राज्य का नई दिल्ली में एक 'भवन' होता था जिसमें अपने कुछ अधिकारी रहते थे। राज्यों के अधिकारियों को एक कठिनाई यह भी होती थी कि वे शीघ्र कार्रवाई कराने के लिए घूस नहीं दे सकते थे। क्योंकि सरकारी कर्मचारी होने के कारण वे उसका हिसाब नहीं रख सकते थे, सरकारी अधिकारी दफ़्तरों में जनता के मामलों का निपटारा इस प्रकार करते थे जैसेकि वे लोहे अथवा काठ के बने पुतलों के मामले निपटा रहे हों, हाड़-माँस के बने इनसानों के नहीं। यदि कोई व्यक्ति मौत से जूझ रहा हो तो भी उनकी कार्यविधि में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। जनता, जिसे देश की स्वामिनी होना चाहिए था, अपनी फ़ाइल पर शीघ्र कार्रवाई कराने के लिए सरकारी कर्मचारी की खुशामद करती थी, उससे अपीलें करती थी और सब तरह की चिरौरियाँ करती थी। इस प्रकार देश में कार्यविधि अत्यन्त जटिल एवं टेढ़ी-मेढ़ी थी।

सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार एवं रिश्वत का बोलबाला (Bribery and Corruption among Civil Servants)

कार्यविधि सम्बन्धी विलम्ब, अकुशलता और अधिकारवाद के कारण प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी का बोलबाला हो गया। जिन विभागों का जनता से सीधा वास्ता पड़ता था, उनमें भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी को सबसे अधिक स्थान मिला। इनमें से कुछ विभागों के नाम इस प्रकार हैं—पुलिस, आयकर, बिक्री कर, उत्पादन कर, सीमा शुल्क, जेलें, कचहरियाँ, रेलवे, आयात-निर्यात, सार्वजनिक निर्माण और खाद्य एवं उपभोक्ता आपूर्ति इत्यादि। सरकार ने जो 'मिश्रित' अर्थव्यवस्था की नीति अपनाई, उसका तात्पर्य कण्ट्रोल, कोटा निर्धारण, लाइसेंस, राशन, मूल्य नियंत्रण और आयात-निर्यात के लिए परमिट जारी करना था और इन सबसे भ्रष्टाचार का परिपोषण होता था। भ्रष्टाचार के अन्य केन्द्र, म्यूनिसिपल कार्पोरेशन, विकास खण्ड और पंचायतें थीं। कुछ मामलों में जनता द्वारा करवाने के इच्छित कार्य की दर तक निर्धारित होती थी और अन्य मामलों में जिस सरकारी कर्मचारी के हाथ में वह काम होता था उसमें तथा जनता में अर्थात् जिस व्यक्ति का वह काम होता था, दाम तय कर लिया जाता था। चोरबाजारियों, ठेकेदारों, तस्करों, कर वंचकों, मिलावट करने वालों और विदेशी मुद्रा का घोटाला करने वालों का पूरा समूह घूसखोरी और सरकारी कर्मचारियों को अवैध धन दिये जाने के कारण पनप रहा था। इन सबको मिलाकर देश की एक दोहरी अर्थव्यवस्था बन गई थी और देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद में जो आर्थिक कठिनाई व्याप्त हुई, उनमें इनका प्रमुख हाथ था। सरकारी कर्मचारियों में घूसखोरी इतनी अधिक फैल गई कि विशेषत: विपक्षी दलों के राजनयिक, सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों और सर्वसाधारण द्वारा उसकी कटु

आम चर्चा की जाती थी। सरकार ने इस प्रश्न पर विचार करके इसका निर्णय करने के लिए संथानम् समिति (Santhanam Committee) नियुक्त की। उस समिति के प्रतिवेदन के कुछ अंग इस प्रकार थे—

"हमें अनेक गवाहों ने बताया कि सभी ठेकों, खरीदों, बिक्रियों तथा सरकार के साथ नियमित व्यवहार में सम्बन्धित व्यक्ति, सरकारी कर्मचारियों को एक निश्चित प्रतिशत देते हैं और यह राशि तत्सम्बन्धी अधिकारियों में परस्पर निश्चित अनुपात में बाँट ली जाती है। हमें बताया गया कि सार्वजनिक निर्माण विभाग के लिए किये जाने वाले निर्माण कार्यों में सामान्यत: सात से ग्यारह प्रतिशत तक इस प्रकार चुकाया जाता है जिसे कार्यकारी अभियन्ता से लेकर सभी अधीनस्थ कर्मचारियों में वितरित किया जाता है और कभी-कभी तो अधीक्षक अभियन्ता तक को उसमें से अंश मिलता है।

"दूसरी पंचवर्षीय योजना में निर्माण एवं क्रय पर कुल व्यय लगभग 2,800 करोड़ रुपये हुआ...यदि यह माना जाये कि उपर्युक्त भ्रष्टाचारी व्यापार में केवल 5 प्रतिशत दिया गया होगा तो भी सरकारी वित्त पर इसका भार लगभग 140 करोड़ रुपये हुआ।

"रेल विभाग में निर्माण एवं खरीद के अतिरिक्त वैगनों के आवण्टन और पार्सलों के लदान, विशेषत: जल्दी गलने-सड़ने वाले पदार्थों, में भी इसी प्रकार का व्यवहार चलता है।

"हमें बताया गया कि भ्रष्टाचार और सत्यनिष्ठा की कमी, कोटा, प्रमाण पत्र, अनिवार्यता पत्र, लाइसेंस प्राप्त करने तथा उनके उपयोग में भी खूब प्रचलित है।

"सभी जानते हैं कि चोरी किये गए कर का कुछ भाग निर्धारण अधिकारियों सहित सभी के हिस्से में आता है। इस प्रथा के प्रभाव और भी व्यापक हैं। इस प्रकार चोरी किया गया कर काले धन के रूप में रखा जाता है और उसे जिन कामों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, उनमें सरकारी कर्मचारियों को भ्रष्टाचारी बनाना प्रमुख है।"

संथानम् समिति ने आगे कहा :

"जहाँ भी सत्ता और विवेकाधिकार होता है, उसके दुरुपयोग की सम्भावना विद्यमान होती है, और जब वह सत्ता और विवेकाधिकार किसी वस्तु की कमी और कण्ट्रोल के संदर्भ में तथा सरकारी धन व्यय करने के दबाव में प्रयुक्त किये जाने हों तो यह सम्भावना और भी अधिक होती है।

"यद्यपि हमने इस विषय में सीधी पूछताछ नहीं की, पर हमें अनेक ज़िम्मेदार व्यक्तियों एवं सतर्कता विभाग एवं विशेष पुलिस संस्थापन इत्यादि ने बताया कि न्यायपालिका में निम्न स्तर पर सारे देश में भ्रष्टाचार विद्यमान है और कहीं-कहीं वह उच्च स्तरों में भी है।

"बड़े खेद का विषय है कि कुछ विश्वविद्यालयों में छात्रों के प्रवेश, लैक्चरारों और प्रोफ़ेसरों की भर्ती और विश्वविद्यालय की निधि सम्बन्धी व्यवस्था अत्यन्त असन्तोष-

प्रद स्थिति में है।"

सन्थानम् समिति ने सरकारी सेवाओं में से भ्रष्टाचार के उन्मूलन की आवश्यकता पर बल दिया ताकि सामाजिक-आर्थिक प्रजातन्त्र (socio-economic democracy) का लक्ष्य प्राप्त हो सके, जो राजनीतिक लोकतन्त्र की आधारशिला है; और समय-समय पर भारत की जनता से जो वादे किये गए हैं, उन्हें पूरा किया जा सके।

मंत्रियों और राजनीतिज्ञों द्वारा दैनिक कामकाज में हस्तक्षेप (Interference of Ministers-Politicians in the day to day Administration)

मन्त्रियों और राजनीतिज्ञों, विशेषकर शासक दल के सदस्यों द्वारा, सरकारी विभागों के दैनिक कामकाज में दखल देने से भी, प्रशासनिक कर्मचारी आर्थिक-सामाजिक न्याय के नए युग में प्रवेश करने के अयोग्य ठहराये गए। इसी अध्याय में पहले बताया जा चुका है कि संसदीय प्रकार की सरकार में शासन-तन्त्र तभी कुशलतापूर्वक एवं सुगमतापूर्वक कार्य कर सकता है, जब मन्त्री नीति को स्पष्ट रूप से निर्धारित करें और उसे लागू करने का काम प्रशासनिक कर्मचारियों के हाथों में छोड़ दें। किन्तु दुर्भाग्यवश भारत में मन्त्रीगण केन्द्र में तथा राज्यों में दोनों ही जगह सार्वजनिक प्रशासन के अनिवार्य तत्त्वों से अनभिज्ञ थे और अपनी सत्ता व प्राधिकार की सीमा और परिक्षेत्र को नहीं समझते थे, अतः वे अपने विभागों के नित्य प्रति कार्यों में भी हस्तक्षेप करने लगे। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल और उसके प्रत्येक विभाग का अपना-अपना कृपाक्षेत्र होता था और लाइसेंस, पर्मिट, कोटे और ठेके देते समय मन्त्रिगण अपने रिश्तेदारों, प्रशंसकों, दल के सदस्यों और मित्रों को लाभ पहुँचाते थे। अनेक मन्त्री स्वयं बहुत अमीर बन गए और अपनी आय के स्तर से बहुत अधिक धन इकट्ठा कर लिया। संसद सदस्य और राज्य विधान मण्डलों के सदस्य, मन्त्रियों के माध्यम से वही काम करते थे और मंत्री, संसद सदस्य एवं लोक सभा सदस्य प्रशासनिक कर्मचारियों के माध्यम से करते थे। प्रशासनिक कर्मचारी सदैव उनकी इच्छा पूरी करने के लिए लालायित एवं उत्सुक रहते थे क्योंकि उससे स्वयं उन्हें भी लाभ होता था। राजनीतिज्ञों में भ्रष्टाचार, जनता के लिए रोज की गरमागरम बहस का विषय बन गया और अनेक मुख्य मन्त्रियों व मन्त्रियों के विरुद्ध जाँच की माँगें प्रस्तुत की गईं। अधिकतर मामलों में इन माँगों को केन्द्र सरकार ने रद्द कर दिया क्योंकि वे अपने साथियों को जनता की दृष्टि में नंगा नहीं करना चाहते थे। इस मौन सहानुभूति से मन्त्रालयों और प्रशासनिक सेवाओं में काम करने वाले बेईमान एवं भ्रष्टाचारी व्यक्तियों को और प्रोत्साहन मिला।

मन्त्रियों द्वारा विभागों की दैनिक परिचर्या में हस्तक्षेप और संसदसदस्यों एवं विधान सभा सदस्यों द्वारा अपने प्रभाव को बहुधा समाज विरोधी तत्त्वों, कर वंचकों, तस्करों, जमाखोरों और अन्य प्रकार के अपराधियों के पक्ष में प्रयोग करने से प्रशास-

निक सेवाओं के मनोबल का ह्रास होता था। प्रशासनिक अधिकारी का एक प्रमुख कर्त्तव्य मन्त्री को अपनी सलाह निडरतापूर्वक, उद्देश्य-लक्षी ढंग से और स्वतन्त्रता-पूर्वक देना था। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं होता था। इसके विपरीत वे बेचारे रसोइयों के समान अपने राजनीतिक स्वामी के प्रत्येक कृत्य और आदेश से सहमत होने को तत्पर रहते थे। वे सत्ता-उन्मत्त राजनीतिज्ञों के दरबारी विदूषकों और कवियों के समान थे और उन्हें वही सलाह देते थे जिसके स्वीकार होने की आशा होती थी। कुछ अधिक उच्च अधिकारी ऐसे भी थे जो अपने कर्त्तव्यों को निडरतापूर्वक एवं स्व-तन्त्रतापूर्वक करते थे, पर अधिकतर अधिकारी व कर्मचारी मन्त्रियों के ही सुर में सुर मिलाते थे। वे जनता के सम्मुख सिंह जैसी गर्जना करते थे पर मन्त्री के सामने लोमड़ी के समान कतराते थे। मन्त्री यह नहीं समझते थे कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने का सबसे अधिक प्रभविशाली माध्यम मन्त्री ही होता है और भारत में प्रशासनिक अधिकारियों ने मन्त्रियों को यह तथ्य समझाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। फलतः मन्त्री एवं प्रशासनिक अधिकारी के सम्बन्ध कभी स्पष्ट नहीं हो पाये जिससे नवीन भारत के निर्माताओं के चरम उद्देश्य-लक्ष्यों की जड़ें खोखली होने लगीं।

प्रशासनिक अधिकारियों में निराशा एवं असन्तोष (Frustration and Dissatisfaction among Civil Servants)

प्रशासनिक अधिकारियों में व्याप्त निराशा और असन्तोष के कारण वे सामाजिक-आर्थिक क्रांति लाने की दिशा में कोई सराहनीय योगदान नहीं कर सके। इसके अनेक कारण थे। प्रथम तो यह कि प्रशासनिक अधिकारी जनता की आलोचना के सन्दर्भ में स्वयं को असहाय एवं अरक्षित अनुभव करते थे। संसद, प्रेस अथवा सार्वजनिक मंच पर जब भी सरकारी अधिकारियों की आलोचना हुई, बहुत ही कम ऐसे मन्त्री थे जिन्होंने अपने अधीनस्थों की प्रतिरक्षा का साहस किया हो। इसके विपरीत मन्त्री बजाय अपने अमले की सहायता करने के सारी ज़िम्मेदारी उसी के सिर मढ़ कर अपना पीछा छुड़ाने की ताक में रहते थे। उदाहरणतया, जब 1974 में संसद के शीत अधिवेशन में कुछ विपक्षी नेताओं ने आरोप लगाया कि जब ललित नारायण मिश्र विदेश-व्यापार मंत्री थे, उन्होंने कुछ अनुचित लाभ प्राप्त कर के पाण्डिचेरी की एक फ़र्म को अवैध रूप से आयात लाइसेन्स दिया था, तो मिश्रा ने यह बहाना बनाया कि उनके विशेष सचिव ने उनसे यन्त्रवत ऐसा करवा दिया। सरकारी जाँच अधिकरणों, केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (CBI) इत्यादि से किसी भी असन्तुष्ट व्यक्ति अथवा राजनीतिज्ञ द्वारा लगाये गए आरोपों के परिणामस्वरूप, प्रशासनिक कर्मचारियों को जो परेशानी उठानी पड़ती है, वह भी उनकी असन्तुष्टि का कारण थी। कभी-कभी गुमनाम चिट्ठियों अथवा अनर्गल दोषारोपण के कारण ही जाँच आरम्भ कर दी जाती थी, जिस से प्रशासनिक अधिकारियों को निर्णय लेने में और भी अधिक सावधान रहना होता

था। सभी बड़े एवं छोटे मामलों में, निर्णयों और विवाद की परिस्थितियों को आगे से आगे प्रेषित किया जाता था और अधिकतर वे प्रधान मन्त्री के सचिवालय तक जा पहुँचते थे। परिचालन पद-शृंखला के अधिकतर तत्त्व अर्थात् केन्द्रीय मन्त्री, सचिव, राज्य सरकारें तथा सार्वजनिक संस्थाओं के व्यवस्थापक सभी किसी न किसी हद तक निर्णय कर लेने के दायित्व से कतराते थे।

प्रशासनिक सेवाओं में मनोबल कम होने का एक अन्य कारण यह था कि कार्य-कुशलता और ईमानदारी को यदा-कदा ही उचित पारितोषिक मिलता था और किसी की योग्यता का उद्देश्य-लक्षी मूल्यांकन नहीं होता था वरन् 'बुरे' व 'भले' से समान व्यवहार होता था। असन्तुष्टि का एक और कारण यह था कि काम करने की स्वतन्त्रता नहीं थी और प्रशासनिक अधिकारी जिस कार्य पर नियत होते थे, उसमें उन्हें राजनीतिक हस्तक्षेप का भय बना रहता था इससे उनका काम करने का उत्साह ठण्डा पड़ जाता था। प्रशासनिक अधिकारियों में एक यह धारणा भी विद्यमान थी कि पदों पर नियुक्तियाँ, पदोन्नतियाँ और स्थानान्तरण दृढ़ सिद्धान्तों पर नहीं किये जाते और न ही किसी व्यक्ति की योग्यता एवं कार्य-कुशलता का उद्देश्य-लक्षी मूल्यांकन किया जाता था। असन्तुष्टि का अधिकतर कारण प्रशासनिक अधिकारियों की सरकार से प्राप्त होने वाले कम वेतन एवं भत्ते थे। कुलदीप माथुर ने 176 राज्य स्तर के प्रशासकों से साक्षात्कार किया (96 सामान्य और 80 तकनीकी) और पाया कि यदि उन्हें पुन: जीवन आरम्भ करने का अवसर मिला तो वे कदापि सरकारी सेवा में भर्ती नहीं होंगे।[3]

सामान्यता बनाम विशिष्टता प्रतिरोध (Generalist versus Specialist Controversy)

प्रशासनिक सेवा को देश की सामाजिक-आर्थिक उन्नति में योगदान न करने देने का अन्तिम पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण प्रशासनिक अधिकारियों की परस्पर कलह था। यह मुख्यत: सामान्य एवं विशिष्ट ज्ञान रखने वाले प्रशासकों के बीच होता था। हमें ब्रिटिश सरकार से सामान्य ज्ञान रखने वाले अर्थात् आई० सी० एस० (ICS) अधिकारियों का प्रशासन उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। इन सामान्य ज्ञानियों का प्रभुत्व लगभग 25 वर्ष तक विद्यमान रहा, पर 1970 वाले दशक में विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति, अर्थात् डाक्टर, इंजीनियर और वैज्ञानिक इत्यादि इस पर आपत्ति करने लगे। उनके संगठन और समाज अपना पक्ष दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करने लगे। 1973 के अन्त में अखिल भारतीय अभियन्ता सेवा संगठनों के महासंघ ने सरकार द्वारा तीसरे वेतन आयोग की बहुमत रिपोर्ट को पूर्णत: स्वीकार करने के प्रति गहरा रोष प्रकट किया और प्रधान मन्त्री को चेतावनी दी कि यदि आई० ए० एस० अफसरों और

[3]For details see Kuldeep Mathur, "Crisis of Distrust-Dissatisfaction in the Civil Service," *The Hindustan Times*, March 24, 1974, p. 1.

अभियन्ता सेवाओं के बीच का अन्तर शीघ्र समाप्त नहीं किया गया तो पाँचवीं योजना लागू नहीं हो पायेगी अथवा उसमें गम्भीर रूप से बाधा पड़ेगी।

अगले महीने, उपर्युक्त संघ ने प्रधान मन्त्री के निवास तक तथा अनेक राज्यों की राजधानियों में, भारतीय प्रशासन सेवा के समान स्तर की माँग तथा तकनीकी विभागों में उच्चतम पदों पर तकनीकी अधिकारियों को नियुक्त किये जाने की माँग के समर्थन के लिए मौन यात्राएँ आयोजित कीं। हिमाचल प्रदेश के आई० ए० एस० अधिकारियों के इस सुझाव को कि उन्हें ज़िलों में काम करने वाले तकनीकी अधिकारियों की गुप्त रिपोर्ट लिखने का अधिकार दिया जाये, अभियन्ता संगठनों ने तकनीकी अधिकारियों को तंग करने व बदनाम करने का प्रयत्न बताया एवं उसकी कटु आलोचना की। उत्तर प्रदेश के बिजली इंजीनियरों की एक संस्था, अभियन्ता संघ, ने इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड के प्रति लगभग युद्ध ही छेड़ दिया, जिसमें अधिकतर सामान्य अधिकारी थे। उन्होंने दीवारों पर चिपकाये गए विज्ञापनों, पर्चों, वक्तव्यों और इश्तिहारों द्वारा बोर्ड पर अपने मामलों का मनचाहे ढंग से निरवर्तन करने का आरोप लगाया। एक बार तो उन्होंने हड़ताल भी कर दी और देश के इस सबसे बड़े राज्य को अंधकारमग्न कर दिया। उनकी हड़ताल अनेक दक्षिणी राज्यों में भी जा पहुँची और देश की अर्थव्यवस्था पर भारी संकट उपस्थित हो गया।

उसी वर्ष सितम्बर में दिल्ली के पाँचों बड़े अस्पतालों के 1,500 डाक्टरों ने महाराष्ट्र के हड़ताली डाक्टरों की सहानुभूति में हड़ताल कर दी, जिसके कारण अनेक रोगियों को बेहद परेशानी उठानी पड़ी।

अप्रैल 1974 के प्रथम सप्ताह में केन्द्रीय अभियन्ता सेवा महासंघ ने प्रधान मन्त्री द्वारा 1967 में रुड़की विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में दिये गये भाषण को दफ़न करने का निर्णय किया (जिसमें तकनीकी अधिकारियों के लिए आशाएँ और उच्च आदर्श दर्शाये गए थे)। इससे उनका तात्पर्य केन्द्रीय प्रथम श्रेणी की सेवाओं के वेतन मान सम्बन्धी निर्णय के प्रति विरोध प्रदर्शित करना था। उन्होंने आई० ए० एस० का "अधिकार" समाप्त करने के लिए और भी गहन संघर्ष करने का निश्चय किया।

विशेषज्ञ इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे कि किसी मशीन बनाने अथवा कार बनाने के कारखाने या बाँध परियोजना की व्यवस्था करने के लिए एक आई० ए० एस० अथवा पी० सी० एस० अफसर अधिक उपयुक्त था और इंजीनियर का काम केवल तकनीकी विभाग की देखभाल करना था। तकनीकी अधिकारियों का कहना था कि आई० ए० एस० अफसर को सेना के मण्डल की कमान के लिए क्यों नहीं भेज दिया जाता, जहाँ अलग-अलग युद्धरत इकाइयों की कमान तो सैनिक ही करते हैं। उनका कहना था कि **गरीबी हटाओ** का नारा एक युद्ध के निनाद के समान था और युद्ध को न केवल सैनिक ही लड़ सकते हैं प्रत्युत वही उसका निदेशन भी कर सकते हैं। वही जानते हैं कि कौन-सी लड़ाई कब और किन हथियारों द्वारा लड़ी जानी है। विशेषज्ञों ने यह भी तर्क प्रस्तुत किया कि जबकि केवल 30 प्रतिशत आई० ए० एस०

अधिकारी शैक्षिक दृष्टिकोण से प्रथम श्रेणी के थे, केन्द्रीय अभियन्ता सेवा के लिए चुने जाने वाले अधिकारियों में से 80 प्रतिशत प्रथम श्रेणी के थे। तो भी सरकारी विभागों में और निर्माण, स्वास्थ्य और परिवार नियोजन और उद्योग ऊर्जा इत्यादि विशिष्ट ज्ञान सम्बन्धी विभागों में भी सभी उच्च पद आइ० ए० एस० अफ़सरों के लिए परिरक्षित किये जाते थे और पद परम्परा में डाक्टरों और इंजीनियरों को बहुत निम्न कोटि में रखा जाता था। विशेषज्ञों की दलील थी कि कुछ वेतन और अधिकार का प्रश्न इतना प्रबल नहीं था जितना सेवाओं के कुल मनोबल का था और मनोबल का प्रशासन की कार्य-क्षमता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता था। जब कोई मेधावी औषध अथवा अभियन्ता स्नातक स्वयं को वेतन एवं अधिकार दोनों ही प्रकार से एक आई०ए०एस० अफ़सर से बहुत निम्न स्तर पर रखा पाता था तो उसका उत्साह ठण्डा पड़ जाता था और उसे अपने काम में आनन्द आना बन्द हो जाता था। विशेषज्ञों ने यह भी दलील दी कि ब्रिटिश राज में सामान्य ज्ञानियों के अधिकार से देश की उचित सेवा हो सकती थी क्योंकि उन विदेशी शासकों को केवल नियम व्यवस्था बना कर रखने की चिन्ता थी, पर स्वतन्त्र भारत तो गरीबी को समाप्त करने और सामाजिक आर्थिक क्रान्ति लाने में संलग्न है, अत: अब उससे काम नहीं चलेगा। उन्होंने बताया कि ग्रेट ब्रिटेन के अतिरिक्त सभी देशों में विशेषज्ञों को अपने-अपने क्षेत्र में उच्चता प्रदान की जाती है। सोवियत संघ में यदि शासन द्वारा नहीं तो कर्म द्वारा, मन्त्रियों तक को विशेषज्ञता प्राप्त करनी होती है। अमरीका में कोई भी सामान्य नहीं होता, बस सभी विशेषज्ञ होते हैं। यदि कोई विशेषज्ञ अपने क्षेत्र में उन्नति को कुण्ठित पाये तो वह किसी अन्य क्षेत्र में विशेषज्ञता ग्रहण करके आगे बढ़ सकता है।

तकनीकी विशेषज्ञों को खेद था कि आई० ए० एस० अफ़सर और डाक्टर या इंजीनियर में समानता लाने के सिद्धान्त को प्रशासनिक सुधार आयोग, राष्ट्रपति व प्रधान मंत्री द्वारा बार-बार घोषित किये गए नीति उद्घोषों, मन्त्रिमण्डलीय प्रस्तावों, योजना परिपत्रों में दिए गए मार्ग-निर्देशों, कांग्रेस के चुनाव उद्देश्यपत्रों, संसद के दोनों सदनों की एक राय और समाचारपत्रों के अत्यधिक समर्थन के बावजूद इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है।

संघीय सरकार के उच्च अधिकारियों ने यह तो स्वीकार किया कि इंजीनियरों, डाक्टरों एवं अन्य विशेषज्ञों को वेतन, सम्मान और सेवा की अन्य शर्तों के दृष्टिकोण से उनका हक़ मिलना चाहिए, पर उनकी आई० ए० एस० अफ़सरों से समानता को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया। उनका दृष्टिकोण यह था कि प्रशासक का कार्य एक तकनीकी विशेषज्ञ की अपेक्षा भिन्न होता है, अत: दोनों को समान स्तर प्रदान नहीं किया जाना चाहिए। उनके विचार में उनके स्वभाव और प्रशिक्षण में पर्याप्त भिन्नता विद्यमान थी। केन्द्रीय सरकार के नेताओं ने यह तर्क भी स्वीकार नहीं किया कि सामान्य प्रशासक केवल एक शुष्क प्रशासनिक प्राधिकारी बन जाता है। उनका तर्क था कि यदि विशेषज्ञों को भी सचिवालय में जिम्मेदारी के पद पर लगा दिया जाए तो उसमें भी

वही विशेषताएँ आ जायेंगी । 28 अक्तूबर, 1973 को प्रधान मन्त्री ने कहा कि "जब भी कोई सामान्य अथवा विशिष्ट ज्ञानी व्यक्ति सरकारी कार्य-प्रणाली के अंग बनते हैं तो वे सभी, कुछ-कुछ सरकारी अफ़सरों के समान व्यवहार करने लगते हैं । उन्होंने कहा कि प्रशासन में नई व्यवस्था का सुझाव देते समय और किफायत के नये तरीके बताते समय विशेषज्ञों में तकनीशियनों के समान तेजी नहीं होती । प्रधान मन्त्री का कहना था कि "मानव सुलभ त्रुटियाँ मनोमालिन्य, नफरत, द्वेष और तंगदिली तो दोनों में ही विद्यमान रहती हैं, जोकि विशेषज्ञों के नेतृत्व में चलाये जाने वाले नए संस्थानों में भी कुछ कम नहीं हैं ।" श्रीमती गांधी ने आगे कहा कि देश को अधिकारियों की नहीं प्रत्युत सकुशल और रचनात्मक कार्य करने वाले मानवों की आवश्यकता है, जिन्हें आधुनिक व्यवस्था-कार्यों की गहरी सूझ-बूझ हो तथा वे जिस समाज-व्यवस्था में रह रहे हैं, उसकी उन्हें खूब समझ हो ।

उच्चतर प्रशासनिक सेवा का उच्चवर्गीय स्वभाव (Elitist Character of Higher Civil Service)

प्रशासनिक सेवा द्वारा भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास में सन्तोषजनक योगदान न कर पाने का एक कारण उसका उच्चवर्गीय स्वभाव था । ब्रिटिश राज के आरम्भ में भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य सामान्य पृष्ठभूमि के युवकों में से चुने जाते थे । उदार दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जाती थी और चुनाव एक प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा किया जाता था, जो बहुत कठोर होता था और जिसके लिए बहुत उच्च कोटि की शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता होती थी । भर्ती के बाद उन्हें जो प्रशिक्षण दिया जाता था, उसके द्वारा उन्हें स्वयं को जनता से भिन्न वर्ग का समझना सिखाया जाता था, क्योंकि उन्हें जनता पर शासन करना होता था । आई० सी० एस० अधिकारी सभी महत्त्वपूर्ण पद पर आरूढ़ होते थे और वे "बड़े साहब" के समान व्यवहार करते थे । अधिकारियों के इस वर्ग से विदेशी शासकों का तात्पर्य भली भाँति सिद्ध होता था । किन्तु जब भारत स्वतन्त्र हो गया और सामाजिक एवं आर्थिक विकास के नए कीर्तिमान स्थापित किये गए तो आई० सी० एस० अधिकारी अपने कर्त्तव्यों के योग्य सिद्ध नहीं हो सके । केन्द्रीय लोक सेवा आयोग द्वारा भारतीय प्रशासन सेवा (IAS) के लिए अधिकारियों की भर्ती करते समय भी इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया । इन्हें भी प्रतियोगिता परीक्षा के ही आधार पर भर्ती किया जाता था । प्रत्याशियों के लिए तीन अनिवार्य प्रश्न-पत्र हल करना आवश्यक होता था अर्थात् अंग्रेज़ी, सामान्य ज्ञान और निबन्ध । जो व्यक्ति आई० ए० एस० अथवा विदेश सेवा के लिए परीक्षा देते थे, उन्हें तीन निम्न अर्थात् ऑनर्स स्तर के और दो प्रश्न-पत्र एम० ए० स्तर के देने होते थे । प्रत्याशियों को अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार विषय चुनने की विशाल छूट दी जाती थी किन्तु अधिक संख्या में प्रत्याशी उदार कला एवं सामाजिक ज्ञान के विषय ही चुनते थे । लिखित परीक्षा के आधार

पर सीमित संस्था में प्रत्याशियों को साक्षात्कार के लिए बुलाया जाता था। साक्षात्कार एक चयन-मण्डल द्वारा किया जाता था जिसके सदस्य कुछ शिक्षाविद और कुछ आई० सी० एस० के सदस्य होते थे। कुछ ही वर्ष पूर्व तक साक्षात्कार के निश्चित न्यूनतम अंक प्राप्त करना अन्तिम चयन के लिए अनिवार्य होता था। इस कार्यविधि में मुख्य कठिनाई यह थी कि अधिक ज़ोर अंग्रेज़ी भाषा पर दिया जाता था जिसके लिए किसी नागरिक, अंग्रेज़ी माध्यम अथवा पब्लिक स्कूल की पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती थी। साक्षात्कार भी अंग्रेज़ी में ही होता था जिसके लिए पर्याप्त सामाजिक संतुलन की आवश्यकता होती थी। ग्रामीण क्षेत्रों और निम्न मध्यवर्ग के बहुत ही कम प्रत्याशी उच्चतर प्रशासनिक सेवा में जा पाते थे। प्रो० डब्ल्यू० एच० मौरिस जोन्स (Prof. W.H. Morris Johans) की पुस्तक *The Government and Politics of India* में जुटाए गए आँकड़ों के अनुसार, कुछ वर्षों में भर्ती किए गए 350 व्यक्तियों में से 200 सरकारी अधिकारियों के पुत्र थे और 100 अन्य प्रत्याशी वेतनभोगी वर्ग के थे। उनमें से लगभग 100 ने भारत में या विदेशों में पब्लिक स्कूल शिक्षा प्राप्त की थी। केवल 15 प्रतिशत प्रत्याक्षी ग्रामीण क्षेत्रों में आए थे। कुछ विशिष्ट विश्वविद्यालयों और पुराने प्रतिष्ठित महाविद्यालयों को अन्यों की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त थी। 15 अक्तूबर, 1975 को प्रकाशित संघीय लोक सेवा आयोग के एक प्रतिवेदन के अनुसार 39 विश्वविद्यालयों का एक भी प्रत्याशी नहीं चुना गया और अधिकतर प्रत्याशी 12 विश्वविद्यालयों के भर्ती हुए, जिनमें दिल्ली विश्वविद्यालय अग्रणी था।[4]

जिन चन्द व्यक्तियों को चुना जाता था, उन्हें मसूरी स्थित राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी में प्रशिक्षण के दौरान अपनी श्रेष्ठता और वर्गीय विशिष्टता के प्रति जागरूक बना दिया जाता था। उसके बाद उन्हें जो वेतन, भत्ते, व्यक्तिगत सुविधाएँ, प्राथमिकताएँ, सत्ता और अन्य आय होती हैं, उसके कारण उनसे सभी को सभी जगह ईर्ष्या होती थी। आत्माभिमान और साहबी उनकी आदत बन जाती थी और अधिकार प्रदर्शित करना उनका स्वभाव बन जाता था। वे देश की सर्वसाधारण जनता के साथ बहुत कम समानता का व्यवहार करते थे और जिन व्यक्तियों पर उनके द्वारा राज्य करना लक्षित होता था, उनके सुख-दुख की बहुत कम चिन्ता करते थे।

भारतीय संविधान की धारा 335 में यह प्रावधान किया गया था कि संघ अथवा

[4]6 फरवरी, 1976 के *The Hindustan Times* में प्रकाशित संघीय लोक सेवा आयोग के अध्ययन के अनुसार आई० ए० एस०, आई० एफ० एस० और उनसे सम्बन्धित अन्य सेवाएँ पहले से अधिक विशाल उद्देश्यीय होती जा रही थीं। हाल के वर्षों में जो प्रत्याशी प्रतियोगिता परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए, उनमें से अधिकतर मध्य अथवा निम्न आय वर्ग के थे। तीनों वर्गों के कुल चुने गए व्यक्तियों में पब्लिक स्कूल पृष्ठभूमि के कुल 20-22 प्रतिशत व्यक्ति थे। इसके विपरीत 69·70 प्रतिशत ग्रामर स्कूल पृष्ठभूमि के थे (इस परिभाषा में राज्यों के शिक्षा मण्डलों से संलग्न सरकारी एवं अन्य स्कूल आते थे)। तीनों वर्गों में उच्च आय वर्ग से 1972 में कुल 17 प्रतिशत और 1974 में 9 प्रतिशत प्रत्याशी आये।

राज्यों के मामलों से सम्बन्धित सेवाओं और पदों पर नियुक्ति करते समय प्रशासन की कार्यकुशलता बनाये रखने को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के सदस्यों के भी दावों को ध्यान में रखा जाये। इस पर आचरण करते हुए संघीय सरकार ने इन समुदायों के लिए अखिल भारतीय सेवाओं में लगभग 25 प्रतिशत पद आरक्षित करने का प्रावधान किया और प्रतिवर्ष उनके सदस्य चुने जाते रहे। इस वर्ग के अधिकारी अपने चुने जाने के कुछ समय बाद तक अपने जातीय व्यक्तियों के प्रति कुछ उत्साह दिखाते थे, पर वे कुछ वर्ष उन पदों पर रह चुकने के बाद वह उत्साह खो देते थे और अपने पिछड़े व पद-दलित भाइयों की अपेक्षा अपने पेशे के साथियों से मिल कर चलने लगते थे।

केन्द्र द्वारा प्रशासन में सुधार के प्रयत्न (Centre Endeavours to Cleanse the Administration)

1974 से 1975 के पूर्वार्ध तक देश में बहुत उथल-पुथल मची। विराट् प्रदर्शन के रूप में हिंसक आन्दोलन, सभाएँ और जुलूस नित्यप्रति की घटनाएँ बन गईं। विपक्षी दलों ने सत्तारूढ़ दल पर अनेक आरोप लगाये जिनमें से एक यह था कि वह भ्रष्टाचारी अकुशल सरकारी अधिकारियों को सामाजिक-आर्थिक विकास की सभी योजनाओं और कार्यक्रमों को कुण्ठित करने की अनुमति दे रहा है। केन्द्रीय सरकार ने स्थिति को पूर्णत: काबू से बाहर न होने देने के लिए 26 जून, 1975 को देश भर में आपात्-स्थिति की घोषणा की और उसकी आड़ में अनेक उपाय किये। प्रशासनिक सेवा की बहुत समय से आलोचना होती आ रही थी, अत: केन्द्र एवं राज्यों में प्रशासन तन्त्र को स्वच्छ करने के अनेक श्रृंखलाबद्ध उपाय किये गए। अक्तूबर के आरम्भ में यह घोषणा की गई कि यदि किसी नागरिक को किसी सरकारी अधिकारी के प्रति सच्ची शिकायत हो तो वह सरकार से बेधड़क सम्पर्क कर सकता है और उसका नाम गोपनीय रखा जायेगा। किन्तु सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह गुमनाम चिट्ठियों पर कोई कार्रवाई नहीं करेगी क्योंकि पहले यह देखा जा चुका है कि कर-वंचक, तस्कर और जले-भुने अधीनस्थ कर्मचारी ईमानदार अधिकारियों से बदला निकालने के लिए बड़े अफ़सरों पर अनर्गल एवं निराधार दोषारोषण करते हैं और वे अफ़सर स्वयं सुरक्षित रहने के उद्देश्य से ज़िम्मेदारी से जी चुराते हैं और जो निर्णय लेना उनके अधिकारमें होता है, उससे भी कतराते हैं। यह निर्णय किया गया कि झूठी और द्वेषपूर्ण शिकायत करने वालों के विरुद्ध दण्डनीय कार्रवाई की जाये।

यह निर्णय करते समय कि भ्रष्टाचारी और बेईमान तत्त्वों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जायेगी, इस बात पर भी बल दिया गया निर्णय लेने में गलती करने तथा कपटपूर्ण कृत्यों में भेद अवश्य रखा जायेगा। कपटपूर्ण कृत्य न होने पर यदि किसी अधिकारी की गलती भी साबित होगी तो उसे पूर्ण प्रतिरक्षण दिया जायेगा।

सरकार ने प्रशासन को भ्रष्टाचार और कुनबापरस्ती से स्वच्छ करने के लिए

तीसरा यह उपाय किया कि 50-55 वर्ष की आयु-वर्ग या जो तीस वर्ष का सेवा-काल पूरा कर चुके थे, उन कर्मचारियों के मामलों का पुनरीक्षण किया गया कि उन्हें सेवा में रखा जाये अथवा नहीं। इस निर्णय पर आचरण करते हुए अकेले केन्द्रीय सरकार ने सितम्बर 1975 के अन्त तक 50,439 कर्मचारियों के मामलों का पुनरीक्षण किया। इस जाँच के परिणामस्वरूप 39 अधिकारियों की पदावनति कर दी गई तथा 1952 को स्थायी रूप से सेवा-निवृत्त कर दिया गया, जिसमें 10 प्रथम श्रेणी के और 45 द्वितीय श्रेणी के अधिकारी भी थे। अखिल भारतीय सेवाओं में 400 आई० ए० एस०, 153 आई० पी० एस०, एवं 154 वन सेवा अधिकारियों के मामलों का पुनरीक्षण किया गया और 7 आई० ए० एस०, 8 आई० पी० एस० एवं 3 वन सेवा अधिकारियों को समय से पूर्व सेवा-निवृत्त करने के आदेश पारित किये गए। राज्य सरकारों ने भी ऐसी ही कार्रवाई की।

केन्द्रीय जाँच ब्यूरो ने ऐसे सरकारी कर्मचारियों की सूचियाँ तैयार कीं जिनकी निष्ठा संदिग्ध थी और जिनके मामलों का उनके विभागों द्वारा पुनरीक्षण करना व उसकी देखरेख करना सम्भव नहीं था। प्रशासन को परिणाम-लक्षी बनाने के दृष्टिकोण से यह निर्णय किया गया कि उच्चस्तरीय पदों पर नियुक्ति केवल योग्यता एवं पात्रता के आधार पर की जाये। अधिकारियों के मूल्यांकन की प्रणाली में सुधार करके उसे प्रतिपादन-लक्षी (performance oriented) बनाया गया, और प्रत्येक कर्मचारी का मूल्यांकन पूर्व निश्चित मापदण्ड और आदर्श के अनुसार करने का निश्चय किया गया। वार्षिक गोपनीय मूल्य-निर्धारण प्रतिवेदन लिखने की पद्धति में भी परिवर्तन किया गया। कर्मचारियों के सेवाकाल में पदोन्नति इत्यादि को उत्तम परिणाम प्राप्त करने के दृष्टिकोण से वैज्ञानिक आधार पर पुनर्व्यवस्थित किया गया और नियोजन सम्बन्धी नीतियों को प्रशिक्षण के कार्यक्रम से सम्बन्धित कर दिया गया।[5] केन्द्र एवं राज्यों में सरकारों ने उस दिशा में अनेक कदम उठाए और सरकारी विभागों, अधिकरणों और निगमों के कार्य परिचालन में अनुशासन, ईमानदारी, समर्पण और तत्परता की एक नई भावना प्रतीत होने लगी। किन्तु यह कहना सम्भव न होगा कि यह सब भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बनने जा रहा है अथवा नहीं।

7 मई, 1976 को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने राज्यों के मुख्य सचिवों के एक सम्मेलन में भाषण करते हुए कहा कि समय-समय पर प्रशासनिक सुधार की समस्याओं की जाँच करने तथा आवश्यक उपाय सुझाने के लिए अनेक समितियाँ एवं आयोग नियुक्त करने के बावजूद प्रशासन तन्त्र में बहुत कम सुधार है।[6]

[5] *The Hindustan Times,* 3 अक्तूबर, 1975, पृ० 1.
[6] *The Times of India,* 8 मई, 1976, पृ० 1.

भाग दो

भारतीय राजनीति
(INDIAN POLITICS)

केरल
(Kerala)

केरल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता नम्बूदरीपाद ने एक संयुक्त मोर्चा सरकार बनाई जिसमें छ: वामपंथी दल और मुस्लिम लीग, जिन्होंने परस्पर मिलकर चुनाव लड़ा था, शामिल हुए। इन छः दलों के नाम ये थे—साम्यवादी दल (मार्क्सवादी), साम्यवादी दल, एस० एस० पी०, क्रान्तिकारी सोश्यलिस्ट पार्टी (के० एस० पी०)।[2] लेकिन इसके शीघ्र बाद संयुक्त मोर्चे में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं क्योंकि सरकार अपने चुनाव के समय दिये गये वचन, विशेषत: खाद्यान्न और प्रशासन से सम्बन्धित वायदे, पूरे करने में असफल रही। राशन की किस्म और मात्रा में भी सुधार नहीं हुआ तथा मुख्य मन्त्री अधीन पुलिस विभाग उन्हें कोई सुरक्षा प्रदान नहीं कर सका क्योंकि उनके विचार एवं नीतियाँ मार्क्सवादी दल से मेल नहीं खाती थीं। साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल ने लगभग 5,000 स्वयंसेवकों की एक गोपाल सेना तैयार की जिससे विभिन्न केन्द्रों में अर्ध-सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त किया और पुलिस के कामों—छापे मारना तलाशी लेना, और दुकानों में जमा अनाज को कब्जे में लेना इत्यादि—को अपने हाथ में लेने जैसे कार्य करने लगे। ये लोग दूसरे दलों के समर्थकों के साथ लड़ाई करते थे और शीघ्र ही वे गाँवों के राजनीतिक जीवन पर छा गए। इन्होंने प्रख्यात राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों की हत्या कर डाली, ज़मींदारों व उनके सेवकों के घरों को लूटा और कहीं-कहीं जला तक डाला। पुलिस पर से विश्वास उठ जाने और मार्क्सिस्ट स्वयंसेवकों की बढ़ती हुई हिंसक प्रवृत्ति के कारण दूसरे दलों ने भी आत्मरक्षा के लिए सेनाएँ संगठित करनी शुरू कीं। कांग्रेस व केरल कांग्रेस ने केरल के कुछ क्षेत्रों में संयुक्त रूप से परिसमितियाँ (नागरिक समितियाँ) स्थापित कीं।

12 सितम्बर, 1967 को संयुक्त पार्टी के नेता और वित्त मन्त्री पी० के० कुंजू ने आरोप लगाया कि सरकार की अनेक नीतियाँ वस्तुत: जनता के हित के लिए नहीं हैं। संयुक्त मोर्चे में शामिल किसी भी दल ने सत्ता खोने के डर से कठोर रुख नहीं अपनाया। लेकिन नवम्बर-दिसम्बर 1968 में सी० पी० एम० के स्वयंसेवकों की हिंसात्मक कार्रवाइयों के फलस्वरूप स्थिति बदलने लगी। इन दो महीनों में केरल के कुछ क्षेत्रों में, विशेषकर वाईनाड के पर्वतीय क्षेत्रों में चीन समर्थक अतिवादियों (केरल में इनके नेता नारायण व उनकी पुत्री अजिता थे) के नेतृत्व में गम्भीर उपद्रव हुए।

केरल कांग्रेस के विधायक ई० जॉन जेकब ने आरोप लगाया कि मार्क्सिस्ट केरल के कुछ क्षेत्रों को नक्सलवाड़ी बना देने का प्रयत्न कर रहे हैं। 6 जनवरी, 1969 को

[2]केरल में कांग्रेस को सबसे करारी हार खानी पड़ी। कुल 133 स्थानों में से उसे केवल 9 स्थान प्राप्त हुए। अन्य दलों की स्थिति इस प्रकार रही : सी० पी० आई० (मार्क्सवादी) 52, सी० पी० आई० 19, एस० एस० पी० 10, आर० एस० पी० 6, के० एस० पी० 1, मुस्लिम लीग 14, के० टी० पी० 2, स्वतन्त्र 6।

एस० एस० पी० एवं कुछ अन्य विपक्षी दलों के सदस्यों ने दो पुलिस स्टेशनों पर मार्क्सिस्टों द्वारा कथित आक्रमण की अदालती जाँच कराने का अनुरोध किया। संयुक्त मोर्चे की एक अन्य सदस्य-पार्टी आर० एस० पी० के आर० एस० ने उन्होंने घटनाओं की खुली जाँच कराने की माँग की, पर मुख्य मन्त्री ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया। संयुक्त मोर्चे के दलों के नेताओं ने विरोध किया और 15 मई, 1969 को कृषि मन्त्री एन० एन० गोविन्दनायर (सी० पी० आई०) ने सी० पी० एम० की गतिविधियों की खुली निन्दा की। कितने ही अन्य मुद्दों—सरकारी ज़मीन पर मार्क्सिस्टों द्वारा बड़ी संख्या में कब्ज़ा, औद्योगिक नीति सम्बन्धी मामलों पर विवाद (जिन्हें लेकर मार्क्सिस्ट मुख्य मन्त्री एवं सी० पी० आई० के उद्योग मन्त्री के बीच खुली झड़पें हुई थीं), श्रम मन्त्री के आशीर्वाद से मार्क्सिस्टों द्वारा श्रम संगठनों का विभाजन और मुस्लिम लीग द्वारा मलाबार को चौथा ज़िला बनाने की माँग इत्यादि—ने संयुक्त मोर्चे की सरकार पर गम्भीर रूप से बुरा असर डाला। विपक्षी दलों के मन्त्रियों पर सी० पी० एम० और सी० पी० आई० द्वारा भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गए। सी० पी० आई०, मुस्लिम लीग, आई० एस० पी० और आर० एस० पी० के 47 विधायकों ने विपक्षी दल के साथ मिल कर के० टी० पी० के स्वास्थ्य मन्त्री बी० वेलिंग्डन के विरुद्ध जाँच की माँग की और बदले में मार्क्सिस्टों ने सी० पी० आई०, मुस्लिम लीग, आर० एस० पी० और आई० एस० पी० के 6 मन्त्रियों के आचरणों की जाँच की माँग प्रस्तुत की। श्री नम्बूदरीपाद ने वेलिंग्डन सहित सी० पी० आई० और आई० एस० पी० के मन्त्रियों के विरुद्ध तो जाँच के आदेश दे दिये, लेकिन मार्क्सिस्ट मन्त्रियों के विरुद्ध जाँच आयोग बिठाने से इन्कार कर दिया। इनमें से 5 ने उसी दिन 17 अक्तूबर को त्यागपत्र दे दिया। सी० पी० आई०, आई० एस० पी०, आर० एस० पी० और मुस्लिम लीग के नेताओं ने मुख्य मन्त्री की कार्रवाई को "भ्रष्टाचार निरोध के बदले राजनीतिक बदला" बताया और घोषणा की कि संयुक्त मोर्चा टूट चुका है। श्री नम्बू-दरीपाद ने घोषणा की कि अविश्वास के प्रस्ताव पर अथवा किसी भी अन्य प्रस्ताव पर अपने विरुद्ध मतदान को वे उनमें विश्वास की कमी समझेंगे और तत्काल त्याग-पत्र दे देंगे। 24 अक्तूबर, 1969 को सदन ने सी० पी० आई० के सदस्य टी० ए० मजीद के एक प्रस्ताव को 60 के विरुद्ध 69 मतों (एक अनुपस्थित) से स्वीकार कर दिया जिसमें मुख्य मन्त्री को छोड़कर शेष सभी मन्त्रियों पर कथित भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच की माँग की गई थी।

राज्यपाल ने सी० पी० आई०, आई० एस० पी०, आर० एस० पी० और केरल कांग्रेस के नेताओं से पूछा कि क्या वे सरकार बनाने की स्थिति में हैं। कांग्रेस दल ने, यदि ये दल सरकार बनाएँ तो, समर्थन का वचन दिया।[3] इससे काम सरल हो गया और 1 नवम्बर, 1969 को सी० पी० आई० के सी० अच्युत मेनन के मुख्यमंत्रित्व में

[3]ध्यान रहे कि तब तक कांग्रेस में फूट पड़ चुकी थी।

नये मंत्रिमण्डल ने शपथ ली।

इसके शीघ्र बाद सी० पी० आई० प्रमुख मिली-जुली सरकार को उड़ा देने के अन्तिम उद्देश्य को लेकर सी० पी० एम० ने पूरे केरल में हिंसा और गड़बड़ी पैदा करनी शुरू की। उसने किसान सम्मेलन संगठित किये और किसानों को मुक्ति-संघर्ष के नाम पर कानून को अपने हाथ में ले लेने के लिए भड़काया। श्री नम्बूदरीपाद यह प्रचार करने लगे कि केरल भूमि-सुधार (संशोधन) विधेयक को लागू करने का मुख्य मंत्री का कोई इरादा नहीं है और सी० पी० एम० इसे जनता के स्तर पर लागू करेगी। इस विधेयक में पट्टेदारी प्रथा को समाप्त करने, भूमि की अधिकतम सीमा नियत करने, और फालतू भूमि को भूमिहीनों में बाँटने के फैसले किये गये थे और इसे अक्तूबर में स्वीकार किया गया था।[1] पहली नवम्बर को 'धोखा दिवस' के रूप में और पहली दिसम्बर को 'आन्दोलन दिवस' के रूप में मनाया गया और विधान सभा का अधिवेशन तत्काल बुलाने की माँग की गई। मार्क्सिस्ट कार्यकर्त्ताओं ने बड़े पैमाने पर हिंसात्मक हलचलें कीं और पुलिस ने लाठियाँ और गोलियाँ चलाईं। मार्क्सिस्टों ने 1 दिसम्बर को 'दमन विरोधी' दिवस के रूप में मनाया। सरकार ने अधिसूचना प्रसारित की कि भूमि सुधार विधेयक 1 जनवरी, 1970 को लागू कर दिया जायेगा। उसी दिन मार्क्सिस्टों ने राज्य के विभिन्न भागों में निजी और सरकारी ज़मीनों पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया और कुछ हिस्सों पर तार लगा लिए, मालिकों तथा गैर-मार्क्सिस्ट वर्गों द्वारा मुकाबले की कुछ घटनाएँ घटीं। गृह मंत्री सी० एच० मोहम्मद कोया ने घोषणा की कि यदि आन्दोलन चलता रहा तो पुलिस हस्तक्षेप करेगी। 4 जनवरी को एक मार्क्सिस्ट कार्यकर्त्ता ने कोया की जान लेने का असफल प्रयत्न किया। पाँच दिन बाद जब राज्यपाल विधान सभा में उद्घाटन-भाषण देने आये तो श्री नम्बूदरीपाद के नेतृत्व में मार्क्सिस्टों ने बहुत शोर-शराबा किया। 12 जनवरी को मार्क्सिस्टों ने विधान सभा में मुख्य मंत्री मेनन की उपस्थिति पर आपत्ति की। उनका यह कहना था कि मेनन अभी तक राज्य सभा के सदस्य हैं और उन्हें विधान सभा में प्रश्नों के उत्तर देने का कोई अधिकार नहीं है। मार्क्सिस्टों ने शोर मचाया कि श्री मेनन एक अल्पमत सरकार के नेता हैं, लेकिन 16 जनवरी को जब राज्यपाल के भाषण पर धन्यवाद का प्रस्ताव पेश हुआ तो उनका मंत्रिमण्डल बना रह गया और 55 के मुकाबले 73 मतों से प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। मार्क्सिस्टों का संशोधन-प्रस्ताव गिर गया।

यह समझ लेने के बाद कि मेनन मंत्रिमण्डल अब सुरक्षित है, मार्क्सिस्टों ने कम्युनिस्टों के एक आम हथियार का इस्तेमाल करते हुए विधान सभा की कार्रवाई में गतिरोध उत्पन्न करने की कोशिश की। उनका उद्देश्य सरकार को लोगों की नज़रों में इस आधार पर गिराना था कि वह उनकी दशा में कोई सुधार नहीं कर सकी है। 19 जनवरी को वे भूतपूर्व मार्क्सिस्ट मंत्री श्रीमती के० आर० गौरी की कार पर हुए

[1] दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 18 दिसम्बर, *1969*, पृष्ठ 8।

आक्रमण को रोकने में सरकार की कथित विफलता के विरोध में सदन छोड़कर चले गये। 10 दिन बाद मार्क्सिस्ट विधायकों ने विधान सभा में अभूतपूर्व शोर-शराबा किया। विधान सभा में सी० पी० एम० सदस्यों की अवरोधक एवं अनुशासनहीन गतिविधियाँ निरन्तर चलती रहीं और राज्यपाल ने 26 जून को सदन को भंग कर दिया। 4 अगस्त को अच्युत मेनन मंत्रिमण्डल के त्यागपत्र के साथ राज्य पर राष्ट्रपति का शासन लागू हो गया। 14 वर्षों में पाँचवीं बार केरल पर राष्ट्रपति शासन हुआ और मेनन मंत्रिमण्डल ग्यारहवाँ मंत्रिमण्डल था, जो अपनी कार्यविधि पूरी होने से पहले सत्ता छोड़ गया।

पाँचवीं बार का राष्ट्रपति शासन सबसे कम समय के लिए रहा। 17 सितम्बर, 1970 को राज्य में मतदान हुआ और स्थिति पूरी तरह उलट गई। दलों की स्थिति इस प्रकार थी :

दल	स्थानों की संख्या जिनके लिए चुनाव लड़ा	विजित स्थानों की संख्या
कांग्रेस पार्टी	56	32
सी० पी० एम० के नेतृत्व में मोर्चा	—	—
सी० पी० एम०	72	28
एस० एस० पी०	14	6
के० आई० पी०	4	2
के० एस० पी०	3	2
सी० पी० आई० के नेतृत्व में मोर्चा	—	—
सी० पी० आई०	31	16
मुस्लिम लीग	20	11
आर० एस० पी०	14	6
पी० एस० पी०	7	3
संगठन कांग्रेस के नेतृत्व में लोकतांत्रिक मोर्चा	—	—
संगठन कांग्रेस	39	—
केरल कांग्रेस	31	12
आई० एस० पी०	11	3
स्वतंत्र उम्मीदवार	92	12
जनसंघ	8	—
डी० एम० के०	6	—
स्वतंत्र पार्टी	2	—
क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी	6	—
वेट्टुवा महासभा	4	—

केरल कर्षक पार्टी	3	—
आर० पी० आई०	1	—
समाजवादी एकता केन्द्र	1	—
कुल जोड़	425	133

21 दलों और गुटों ने, जो मोटे रूप से तीन मोर्चों में संगठित थे, 133 क्षेत्रों के लिए चुनाव लड़ा। पहले मोर्चे का नेता सी० पी० एम० दल था और उसके साथी थे—एस० एस० पी०, के० एस० पी० और के० आई० पी०। इसने कुछ स्वतंत्र उम्मीदवारों को भी समर्थन दे कर खड़ा किया। इनमें कुछ वे व्यक्ति थे, जो संगठन कांग्रेस के प्रसिद्ध उम्मीदवार थे। दूसरे मोर्चे का नेता सी० पी० आई० दल था और इसके साथी आर० एस० पी०, पी० एस० पी० और मुस्लिम लीग थे और शासक कांग्रेस ने भी इसके साथ एक समझौता कर रखा था।[5] तीसरा मोर्चा संगठन कांग्रेस के नेतृत्व में बना था और इसमें केरल कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी, डी० एम० के० और आई० एस० पी० शामिल थे। इसने बहुत से स्वतंत्र उम्मीदवारों को भी समर्थन दिया था। रोचक बात है कि संगठन कांग्रेस ने 39 स्थानों के लिए चुनाव लड़ा लेकिन वह एक भी स्थान जीत नहीं सकी। शासक कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। सी० पी० एम० की शक्ति 1967 में 52 स्थानों से घटकर 28 रह गई और कई परम्परागत मार्क्सिस्ट गढ़ उसके हाथ से निकल गये। कुछ भूत-पूर्व सी० पी० एम० मंत्री भी हार गये। यद्यपि श्री नम्बूदरीपाद जीत गये पर उनका मताधिक्य 1967 में 12,000 से गिरकर 3,400 रह गया। सी० पी० आई की स्थिति लगभग स्थिर रही। 1967 में 19 स्थानों की जगह उसने 16 स्थान प्राप्त किये। अच्युत मेनन चुन लिए गये। केरल कांग्रेस ने अपनी स्थिति में सुधार किया। 1967 में 5 की जगह अब इसने 13 स्थान प्राप्त किये। तीनों मोर्चों में प्रत्येक ने कुछ स्था-नीय जोड़-तोड़ किये थे, जो उनकी पूरी सर्वमानित स्थिति के प्रतिकूल थे। उदाहरण के लिए, संगठन कांग्रेस के चेरियन पुत्थुपल्ली में शासक कांग्रेस के पक्ष में हट गये थे। ऐसा उन्होंने एक अन्य स्थान पर वैसा ही किये जाने के बदले में किया था, जिसका कोई फल नहीं निकला।

शासक कांग्रेस के अकेले सबसे बड़े दल के रूप में उभर आने और सी० पी० एम० की शक्ति के घटजाने के कुछ कारण थे। पहला, निश्चित रूप से, प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की लोकप्रियता था। जब 1957 में कम्युनिस्ट सत्तारूढ़ हुए तो उन्होंने

[5]अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पटना अधिवेशन में, जो 13-14 अक्तूबर, 1970 को हुआ था, अनेक प्रतिनिधियों ने दल द्वारा मुस्लिम लीग के साथ गठबन्धन करने के प्रति गहरा रोष प्रकट किया और दल के नेताओं पर "सिद्धान्तों सम्बन्धी समझौते करने" तथा दल का धर्म-निरपेक्ष रूप "बिगाड़ने" के आरोप लगाए। देखो, **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 15 अक्तूबर, 1970, पृष्ठ 1।

कुछ वचन दिये, जिनकी ओर युवक और आम जनता आकर्षित हुई लेकिन अधिकतर वचन पूरे नहीं किये गये और शीघ्र ही लोगों का भ्रम टूट गया। अब जनता के रुख में एक नया परिवर्तन हुआ। लेकिन इसी बीच अविभाजित कांग्रेस की प्रतिष्ठा गिर गई और 1967 में मार्क्सिस्ट फिर सत्तारूढ़ हो गये। लेकिन वे लोगों की आशाओं को पूरा नहीं कर सके और एक बार फिर मतदाताओं का भ्रम टूटा। वे जनता के लिए कुछ भी ठोस कार्य नहीं कर सके। इसके विपरीत कानून और व्यवस्था की हालत और भी खराब हो गई। बौखलाई हुई जनता को श्रीमती इन्दिरा गांधी अधिक क्रान्तिशील, समाजवादी और प्रगतिवादी प्रतीत होने लगीं। नयी पीढ़ी के मतदाताओं ने, जिनकी संख्या डेढ़ करोड़ थी, इस आशा में कि जो ये कहती हैं उसे पूरा करेंगी, उनके दल को मत दिया। शासक कांग्रेस की सफलता का दूसरा कारण था राज्य की राजनीति में नये खून का प्रवेश। अधिकतर निर्वाचित उम्मीदवार 40 से नीचे थे। इन निर्वाचितों में 5 युवक कांग्रेस के कार्यकर्त्ता थे जिनकी आयु 25 से 32 के बीच थी। केवल 60 व्यक्ति 40 से ऊपर थे। केरल में एक मजबून और सक्रिय युवक कांग्रेस दूसरा बड़ा लाभ सिद्ध हुआ।

4 अक्तूबर, 1970 को अच्युत मेनन ने 9 सदस्यों का अपना नया मंत्रिमण्डल बनाया। 3 मंत्री सी० पी० आई० से लिए गये, 2 आर० एस० पी० से, 2 मुस्लिम लीग से और 1 पी० एस० पी० से। शासक कांग्रेस ने बाहर से समर्थन का वचन दिया। इस प्रकार 2 महीनों का राष्ट्रपति शासन समाप्त हुआ। इस मंत्रिमण्डल को अक्तूबर 1975 तक पद पर रहना था। इसलिए मार्च 1972 में, जब अन्य 16 राज्यों में चुनाव हुआ, केरल में कोई चुनाव नहीं हुआ। 20 जुलाई, 1975 को संघीय सरकार ने संविधान की धारा 172 के अधीन विधान सभा की अवधि में छ: महीने की वृद्धि करने का निश्चय किया।

पश्चिमी बंगाल
(West Bengal)

पश्चिमी बंगाल में एक असंतुष्ट गुट, भ्रष्ट कांग्रेसी शासन को हटाने के दृढ़ उद्देश्य से, कांग्रेस से अलग हो गया था और इसने 15 जुलाई, 1966 को बंगला कांग्रेस बना ली थी। अजय मुखर्जी (पश्चिमी बंगाल सरकार में भूतपूर्व सिंचाई मंत्री), जिन्हें इसी वर्ष की 20 जनवरी को प्रदेश कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षता से हटा दिया गया था, इस नये दल के अध्यक्ष बन गये। 30 अगस्त, 1966 को अजय मुखर्जी और 13 अन्य वामपंथी दलों के नेताओं ने एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी करके कहा कि वे एक गैर-कांग्रेसी सरकार बनाने का लक्ष्य सामने रखकर एक सामान्य कार्यक्रम के आधार पर एक चुनाव समझौता करने की कोशिश भी करेंगे।

कांग्रेस ने कुल 280 में से 127 स्थान प्राप्त करके अधिकतम स्थान जीते लेकिन वह सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी। वामपंथी दलों ने, जिनके नाम स्वतंत्र सम-

र्थकों को मिलाकर 151 स्थान थे, 20 फरवरी, 1967 को एक संयुक्त मोर्चा अजय मुखर्जी के नेतृत्व में निर्मित कर लिया। पहली मार्च को 10 लाख लोगों से अधिक की एक विशाल जनसभा के सामने उन्होंने संयुक्त मोर्चे का 14 सूत्रीय न्यूनतम कार्यक्रम घोषित किया और अगले ही दिन संयुक्त मोर्चा सरकार बन गयी। लेकिन इसके शीघ्र बाद संयुक्त मोर्चे के दलों में औद्योगिक एवं कृषि संबंधी झगड़ों के निपटारे, खाद्य नीति तथा इनसे कानून एवं व्यवस्था पर आये खतरे को लेकर गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। दलों ने सामान्य कार्यक्रम रोक दिये। कम्युनिस्टों ने अपने निजी आदमियों को प्रमुख पदों पर लाने की कोशिश की। दल के सदस्यों को कानून और व्यवस्था की शक्तियों से ऊपर रखा और संयुक्त मोर्चे के अंग दक्षिणपंथी दलों की यह कहकर निन्दा करनी शुरू की कि देने के लिए कांग्रेस से भिन्न कुछ भी उनके पास नहीं है। प्रेस में छपे समाचार के अनुसार मुख्य मंत्री अजय मुखर्जी ने कांग्रेस दल के समर्थन से एक नया मंत्रिमण्डल बनाने के उद्देश्य से प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से गुप्त बातचीत शुरू कर दी। 12 अक्तूबर को उप-मुख्य मंत्री व सी०पी०एम० नेता ज्योति बसु ने आरोप लगाया कि केन्द्रीय सरकार, राज्यपाल धर्मवीर और राज्य के इंस्पेक्टर-जनरल पुलिस संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल को उलटने की गम्भीर साजिश में लगे हैं।

16 अक्तूबर को मुख्य मन्त्री ने त्यागपत्र देने की धमकी दी और कहा कि उनके त्यागपत्र देने के निम्न कारण हैं—औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्र में असंतोष, नक्सलबाड़ी विद्रोह के कारण अव्यवस्था में वृद्धि, और यह तथ्य कि "एक राजनीतिक दल का एक अंग खुले रूप से चीन को निमंत्रित कर रहा है ताकि वह एक सशस्त्र क्रान्ति लाने और पश्चिमी बंगाल में इसे शुरू करने में उसकी मदद करे"। सी० पी० एम० ने इस आरोप को कल्पित समाचारों पर आधारित एक बाजारू झूठ बताया। मुख्य मंत्री ने त्यागपत्र देने के अपने फैसले को बदल दिया। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि "उन्होंने 6 दिसम्बर, 1967 को संयुक्त मोर्चे के साथ गैर-कम्युनिस्ट दलों के नेताओं से एक खुली और उन्मुक्त बातचीत की थी और वे सभी संयुक्त मोर्चा सरकार का चलते रहना चाहते थे क्योंकि त्यागपत्र देने का फैसला पश्चिमी बंगाल के उन लोगों को विरोधी बना देगा जो संयुक्त मोर्चा सरकार का जारी रहना निश्चित रूप से चाहते हैं।"

2 नवम्बर को एक नया संकट पैदा हुआ। स्वतंत्र सदस्य डा० पी० सी० घोष ने, जो खाद्य पूर्ति और कृषि मन्त्री थे, संयुक्त मोर्चे को त्याग दिया और अपना त्यागपत्र राज्यपाल के सामने पेश किया। उन्होंने उन्हें बताया कि विधान सभा के 17 अन्य सदस्यों ने मुखर्जी मंत्रिमण्डल को समर्थन देना बंद करने का फैसला किया है। साथ छोड़ने वालों में 8 बी० के० डी० के, 3 प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के, 1 स्वतंत्र पार्टी का और 5 स्वतंत्र सदस्य थे। इनमें से 15 ने बाद में राज्यपाल को लिखा कि वे डा० घोष के नेतृत्व में एक नये मंत्रिमंडल को समर्थन देंगे। कांग्रेस विधानमण्डल दल के नेता के० एन० दासगुप्ता, जिनके हाथ में विधान सभा के 284 स्थानों में से 130 थे,

ने श्री धर्मवीर को लिखा कि उनका दल ऐसी सरकार को समर्थन देगा।

6 नवम्बर को राज्यपाल ने मुख्य मन्त्री से कहा कि वे यथाशीघ्र विधान सभा की बैठक बुलायें जिससे कि जाँचा जा सके यह उनके मन्त्रिमण्डल को बहुमत प्राप्त है या नहीं। मुख्यमन्त्री ने उत्तर दिया कि मन्त्री अन्य कार्यों में व्यस्त हैं और कुछ दलबदलू वापस संयुक्त मोर्चे में आ गए हैं। उन्होंने राज्यपाल से यह भी कहा कि विधान सभा की बैठक 18 दिसम्बर को बुलाई जायेगी। दलबदलुओं ने मुख्यमन्त्री के दावे से इन्कार किया और 10 नवम्बर को उन्होंने एक नया गुट बना लिया जिसका नाम प्रगतिशील लोकतांत्रिक मोर्चा रखा गया। श्री धर्मवीर ने श्री अजय को सलाह दी कि वे 23 नवम्बर से पहले ही विधान सभा की बैठक बुला लें लेकिन मुख्य मन्त्री ने इस सुझाव को ठुकरा दिया।

21 नवम्बर को श्री धर्मवीर ने अजय मुखर्जी से पूछा कि क्या वे विधान सभा की बैठक बुलाने की तिथि कम से कम कुछ दिन आगे बढ़ा देना चाहेंगे। लेकिन उन्होंने उत्तर दिया कि जब तक 23 नवम्बर को होने वाली मन्त्रिमण्डल की बैठक में इस मुद्दे पर विचार न कर लिया जाए वे कुछ नहीं कह सकते। उसी संध्या को धर्मवीर ने अजय मुखर्जी सरकार को बर्खास्त कर दिया और डा० पी० सी० घोष को नियुक्त कर दिया।

स्वतंत्र पार्टी को छोड़कर सभी गैर-कांग्रेसी दलों ने श्री धर्मवीर की इस कार्रवाई के संवैधानिक औचित्य पर उंगली उठायी। संयुक्त मोर्चे और वामपंथी ट्रेड यूनियन संघ, राष्ट्रीय संग्राम संघ ने एक आम हड़ताल की पुकार की और इसके फलस्वरूप कलकत्ता एवं अनेक जगहों और कस्बों में कामकाज ठप्प हो गया। इसके फलस्वरूप कलकत्ता में सेना के दस्ते आ जाने और नगर में तथा चारों ओर के औद्योगिक क्षेत्रों में 5 से अधिक लोगों की सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दिये जाने के बावजूद गम्भीर उपद्रव हुए।

डा० घोष की सिफ़ारिश पर राज्यपाल ने 29 नवम्बर को विधान सभा की बैठक बुलाई। संयुक्त मोर्चे के समर्थन से चुने गए स्वतंत्र सदस्य अध्यक्ष विजयकुमार बैनर्जी ने फैसला दिया कि मुखर्जी मन्त्रिमण्डल का बर्खास्त किया जाना असंवैधानिक था और विधान सभा को अनियमित ढंग से बुलाया गया है। उन्होंने विधान सभा की कार्रवाई अनिश्चित समय के लिए रोक दी और सदन से चले गए।[6] इसके बाद विधान सभा

[6]अध्यक्ष की कार्रवाई पर टिप्पणी करते हुए राज्यसभा के कानून विशेषज्ञ सदस्य एम० सी० सीतलवाड़ तथा लोक सभा के भूतपूर्व सचिव एवं राज्य सभा के तत्कालीन सदस्य एम० एन० कौल ने कहा कि राज्यपाल की कार्रवाई को असंवैधानिक करार देकर और विधान सभा को अनिश्चित काल के लिए रोककर अध्यक्ष ने अपनी शक्तियों के पार जाकर काम किया है। श्री सीतलवाड़ ने मत व्यक्त किया कि जब विधान सभा में कोरम न हो अथवा जब गड़बड़ी फैल जाय तभी अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह विधान सभा की कार्रवाई रोक दे और पश्चिमी बंगाल विधान सभा में वैसी कोई स्थिति नहीं थी। उन्होंने और कौल ने कहा कि संविधान के अनुसार राज्यपाल मुख्य मन्त्री को नियुक्त करता है और राज्यपाल द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति अथवा उनकी पदमुक्ति अन्तिम और कानून की सीमा से बाहर

में गड़बड़ी और शोर-शराबा हो गया।

जब दो घण्टे बाद विधानपरिषद् की बैठक शुरू हुई तो संयुक्त मोर्चे का एक सदस्य अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठ गया और कांग्रेस सदस्यों द्वारा उसे वहाँ से हटाने के प्रयासों का उसने मुकाबला किया। अध्यक्ष डा० प्रतापचन्द्र गुहा राय (कांग्रेस) ने अपनी कुर्सी के बराबर में खड़े होकर फैसला दिया कि डा० घोष का मन्त्रिमण्डल कानून के अनुसार निर्मित है। परिषद् में कांग्रेस का बहुमत था और उसने डा० घोष के मन्त्रिमण्डल में विश्वास प्रकट कर दिया।

30 नवम्बर को केन्द्रीय गृह मन्त्री वाई० बी० चह्वाण ने लोक सभा में अजय मुखर्जी मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करने की राज्यपाल की कार्रवाई को सही बताया और श्री घोष के मन्त्रिमण्डल को कानून-सम्मत घोषित किया।

4 दिसम्बर को डा० घोष ने अपने प्रगतिशील लोकतांत्रिक मोर्चे (पी० डी० एफ०) के कुछ और सदस्यों को लेकर मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया। कोई कांग्रेसी सरकार में शामिल नहीं हुआ लेकिन कांग्रेस दल ने पूरे समर्थन का वचन दिया।

श्री अजय मुखर्जी ने प्रधान मन्त्री को एक चेतावनी दी कि यदि "गैर-कानूनी घोष मन्त्रिमण्डल को नहीं हटाया गया और संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को फिर से स्थापित नहीं किया गया" तो संयुक्त मोर्चा 18 दिसम्बर को एक असहयोग आन्दोलन करेगा। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उनसे वैसा न करने की अपील की लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। आन्दोलन किया गया और बसों, ट्रामों और कारों को जलाने, पुलिस दलों पर बम फेंकने, प्रेस वालों को पीटने तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट करने की अनेकों हिंसापूर्ण घटनाएँ हुईं। पूरे राज्य से लगभग 3,000 व्यक्ति गिरफ़्तार किये गये और कानून एवं व्यवस्था की हालत बहुत खराब हो गई।

होती है। अध्यक्ष नहीं बल्कि सदन ही यह तय कर सकता है कि राज्यपाल की कार्रवाई संवैधानिक थी या नहीं। उन्होंने कहा कि विधान सभा को यह अधिकार है कि वह राज्यपाल द्वारा नियुक्त सरकार को उलट दे।

दूसरी ओर, एन० सी० चटर्जी ने अध्यक्ष की कार्रवाई को सही बताया। उन्होंने कहा कि राज्यपाल की शक्तियाँ केन्द्र में राष्ट्रपति की शक्तियों से अधिक नहीं हैं। जैसे राष्ट्रपति केन्द्र में मात्र एक संवैधानिक प्रमुख होता है, वैसे ही राज्य में राज्यपाल होता है। उनकी धारणा थी कि संविधान की धारा 164(1) के अन्तर्गत राज्यपाल की शक्ति को धारा 164(2) के साथ मिलाकर देखना चाहिए जिसके अनुसार मन्त्रिपरिषद् की विधान सभा के प्रति सामूहिक जिम्मेदारी है।

-दिल्ली विश्वविद्यालय की लॉ फैकल्टी के डीन प्रोफेसर पी० के० त्रिपाठी, स्वतंत्र नेता एन० जी० रंगा, जनसंघ के बलराज मधोक, पी० एस० पी० नेता श्री नाथपई तथा संसत्सदस्य एवं भूतपूर्व केंद्रीय विधि मन्त्री एस० के० सेन ने अध्यक्ष की कार्रवाई की निन्दा की और इसे विधानमण्डल की आवाज़ का घोटा जाना बताया क्योंकि इन प्रकार नये मन्त्रिमन्डल के प्रति समर्थन अथवा उसकी अस्वीकृति को उसे व्यक्त नहीं करने दिया गया। इन लोगों ने अपने मत अखिल भारतीय आकाशवाणी पर प्रसारित एक प्रश्नोत्तर में 29 नवम्बर, 1967 की रात को व्यक्त किये। विवरण के लिए देखिए **दि हिन्दुस्तान टाइम्स** 30 नवम्बर, 1976, पृष्ठ 16.

डा० घोष की इस अपील पर, कि यदि कांग्रेस दल के नेता मन्त्रिमण्डल में शामिल न हुए तो वे स्थिति पर नियंत्रण नहीं रख सकेंगे, कांग्रेस के केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने उन्हें विशेष स्थिति के रूप में[7] वैसा करने की अनुमति दे दी और 15 जनवरी, 1968 को उनमें से 6 ने मन्त्रियों के रूप में शपथ ले ली।

उसी दिन विधानपरिषद् के एक कांग्रेसी सदस्य आशुतोष घोष ने कहा कि विधान सभा में कांग्रेस एवं पी० डी० एफ० के 31 सदस्य, जिन्होंने संयुक्त मोर्चा मन्त्रि-मंडल के पतन के लिए और डा० घोष को मुख्य मन्त्री बनाने के लिए काम किया था, यह महसूस करते हैं कि नया मन्त्रिमण्डल बनाते समय उनके साथ न्याय नहीं किया गया है। उन्होंने राज्यपाल को लिखा कि वे मन्त्रिमन्डल को समर्थन देना बन्द कर रहे हैं। 4 फरवरी को श्री घोष को पश्चिमी बंगाल कांग्रेस कमेटी की सदस्यता से अलग कर दिया गया। 11 फरवरी को 11 अन्य असंतुष्ट जनों के साथ उन्होंने एक अन्य दल, भारतीय राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चा (INDF), बनाने की घोषणा की। शंकरदास बनर्जी इसके नेता बने और वे स्वयं उप-नेता।

संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने इस विग्रह का लाभ उठाया और आई० एन० डी० एफ० को समर्थन देते हुए राज्यपाल को तदनुकूल लिखा। आई० एन० डी० एफ० के नेता श्री बनर्जी ने राज्यपाल को पत्र लिखकर दावा किया कि उन्हें वैकल्पिक सरकार बनाने का हक है और उसने प्रार्थना की कि 14 फरवरी के लिए निश्चित विधान सभा की बैठक को स्थगित कर दिया जाए क्योंकि उनकी दृष्टि में बैठक बुलाना गैर-कानूनी है। उन्होंने यह भी निवेदन किया कि अध्यक्ष श्री बनर्जी के आदेश द्वारा 29 नवम्बर को उत्पन्न संवैधानिक गतिरोध के समाधान के लिए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाना चाहिए जिससे कि नई सरकार की स्थापना की जा सके।

लेकिन राज्यपाल ने कार्रवाई जारी रखी और विधान सभा की बैठक निश्चित तिथि को बुलाई गई। जब वे अध्यक्ष श्री बनर्जी और प्रधान गुहा राय के साथ अधि-वेशन के सामने बोलने के लिए गए तो उन्होंने देखा कि संयुक्त मोर्चे के सदस्य सर-कार-विरोधी नारे लगा रहे हैं, काले झंडे हिला रहे हैं और सभा-भवन के दरवाजे को रोके खड़े हैं। तब डा० घोष मन्त्रिमण्डल के कांग्रेसी समर्थकों ने एक बराबर के दरवाजे से उन्हें चुपके से अन्दर भेजा। परिषद् के प्रधान उनके साथ गए लेकिन अध्यक्ष बाहर ही छूट गए। जब राज्यपाल ने प्रवेश किया तो संयुक्त मोर्चे के सदस्यों ने उनकी कुर्सी और अध्यक्ष के मंच पर कब्ज़ा कर लिया। धर्मवीर मुख्य मन्त्री की कुर्सी पर खड़े हो गए और उन्होंने अपने भाषण की कुछ पंक्तियाँ पढ़ीं लेकिन उनकी आवाज़ संयुक्त मोर्चा सदस्यों की चीख-पुकार और कांग्रेस सदस्यों की तालियों में डूब

[7]27 फरवरी, 1976 को केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने यह फैसला किया था कि कांग्रेस का जहाँ पूर्ण-बहुमत नहीं है, ऐसे किसी भी राज्य में वह मिली-जुली सरकार में शामिल नहीं होगी लेकिन सदस्यों के दल में शामिल होने के लिए दरवाजा खुला रखा जाएगा।

गई और वे बिना अपना भाषण पूरा किये कक्ष से बाहर चले गए।

बाद में दोनों सदन अलग-अलग बैठे। अध्यक्ष ने घोषणा की कि 29 नवम्बर के अपने आदेश को बदलने का कोई कारण उनके पास नहीं है और विधान सभा अनिश्चित काल के लिए स्थगित है। परिषद् में जब प्रधान श्री राय कक्ष में पहुँचे तो उन्होंने अपनी कुर्सी पर संयुक्त मोर्चा सदस्यों को बैठे पाया। उन्होंने घोषणा की कि राज्यपाल दोनों सदनों के सामने भाषण दे चुके हैं और उनके भाषण की एक प्रति मेज़ पर रख दी गई है। लेकिन उनकी आवाज़ सदन के दोनों पक्षों की चीख-चिल्लाहट में डूब गई और उन्होंने 20 फरवरी तक के लिए परिषद् को स्थगित कर दिया।

यह महसूस करते हुए कि संविधान के अनुसार सरकार चलाई नहीं जा सकती, राज्यपाल श्री धर्मवीर ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। इसके फलस्वरूप नई दिल्ली में राजनीतिक एवं सरकारी गतिविधियाँ बहुत तेज़ हो गईं। प्रधान मन्त्री ने डा० पी० सी० घोष, अतुल्य घोष, पी० सी० सेन तथा अन्य नेताओं को बुलाया और मंत्रिमण्डल की एक मध्यरात्रि बैठक में राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय ले लिया गया। घोषणा जारी करने को कुछ समय के लिए टाल दिया गया जिससे डा० घोष अपने मन्त्रिमन्डल का त्यागपत्र राज्यपाल को दे सकें, जो उन्होंने 20 फरवरी, 1976 को दे दिया। राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और विधान सभा को भंग कर दिया गया।

यह आशंका करते हुए कि केन्द्र में शासक कांग्रेस दल राष्ट्रपति शासन को पाँचवें आम चुनाव के वर्ष 1972 तक न खींच ले जाए, सर्वश्री मधु लिमये, हीरेन मुखर्जी, एस० सी० सामन्त, डी० के० कुन्ते और मोहम्मद इस्माइल सहित 15 विरोधी संसद-सदस्यों ने प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिखकर शीघ्र चुनाव कराने की माँग की। उन्होंने राष्ट्रपति शासन को 'सामयिक' व्यवस्था बताया। मुख्य चुनाव आयुक्त ने घोषणा की कि विधान सभा के चुनाव 3 या 10 नवम्बर, 1968 को होंगे। अक्तूबर के पहले सप्ताह में राज्य के उत्तरी इलाकों में भारी बाढ़ें आईं और चट्टानें फिसलीं, अतः चुनावों को स्थगित कर देना पड़ा।

अन्त में, 9 फरवरी, 1969 को मतदान हुआ। कांग्रेस का मुकाबला एक होकर तथा मज़बूती के साथ करने के लिए लड़ने वाले 28 दलों में से 12 ने चुनाव से पहले एक संयुक्त मोर्चा निर्मित कर लिया। उनके नाम और जीते गए स्थानों की संख्या इस प्रकार है :

दल	स्थानों की संख्या जिनके लिए चुनाव लड़ा	विजित स्थानों की संख्या	1967 में स्थान
सी० पी० एम०	97	80	43
सी० पी० आई०	36	30	16

बंगला कांग्रेस	49	33	35
फॉरवर्ड ब्लाक	27	21	13
रिवाल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	17	12	5
संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी	14	9	7
सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर	8	7	2
गोरखा लीग	4	4	2
वर्कर्स पार्टी	2	2	1
रिवाल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया	2	2	—
फारवर्ड ब्लाक (मार्क्सिस्ट) बोल्शेविक पार्टी एवं अन्य	—	10	—
संयुक्त मोर्चे की कुल सदस्य संख्या	—	210	—

लोक सेवक दल के चार और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के चार सदस्यों ने संयुक्त मोर्चे के समर्थन से विजय पाई थी और चुनाव के बाद वे संयुक्त मोर्चे में मिल गए। इस प्रकार, संयुक्त मोर्चे की शक्ति 280 के सदन में 218 तक पहुँच गई।

शेष दलों में कांग्रेस ने 288 स्थानों के लिए चुनाव लड़ा था लेकिन 55 स्थान जीते, जबकि 1967 में उसकी शक्ति 127 थी। प्रगतिशील मुस्लिम लीग के पास 1967 में कोई स्थान नहीं था पर अब इसने 40 से चुनाव लड़ा और सिर्फ 3 स्थान जीते। 1967 के चुनावों के बाद बनी आई० एन० डी० एफ० ने 197 स्थानों पर मुकाबला किया, लेकिन केवल एक स्थान जीता। अनेक स्वतन्त्र उम्मीदवारों में से 3 जीते और वे संयुक्त मोर्चे से अलग रहे। इस प्रकार, पश्चिमी बंगाल विधान सभा में विरोधी दलों की कुल शक्ति 62 थी और संयुक्त मोर्चे को 156 का बहुमत प्राप्त था।

अखिल भारतीय स्तर के दो दलों जनसंघ और स्वतन्त्र—ने क्रमशः 50 एवं 4 स्थानों से चुनाव लड़े लेकिन 1 स्थान भी न जीत सके।

विजय प्राप्त करते ही संयुक्त मोर्चे के अंगभूत दलों ने मंत्रियों के विषयों के बंटवारे पर झगड़ना शुरू कर दिया। सी० पी० एम० ने दावा किया कि वह मोर्चे (3 स्वतन्त्र सदस्य भी इसमें आ मिले थे) में सबसे बड़ा दल है, इसलिए इसके नेता ज्योति बसु को ही मुख्य मन्त्री होना चाहिए। लेकिन यह कई दलों को स्वीकार नहीं था। दूसरा प्रस्ताव यह रखा गया कि अजय मुखर्जी को मुख्य मन्त्री बनाया जाये और बसु गृहमन्त्रालय लेकर उप-मुख्य मन्त्री बनें। इसे भी रद्द कर दिया गया। अब यह प्रस्ताव आया कि गृह विभाग को बाँट दिया जाये। मुखर्जी पुलिस ले लें और बसु आम प्रशासन। यह सी० पी० एम० को स्वीकार नहीं था। अन्त में एक फैसले पर

पहुँचा गया। सी० पी० एम० ने मुख्य मन्त्री बनने के अजय मुखर्जी के दावे को स्वीकार कर लिया और बंगला कांग्रेस ने पुलिस सहित पूरा गृह विभाग श्री बसु को ले लेने दिया।

25 फरवरी, 1969 को अजय मुखर्जी ने दूसरी बार संयुक्त मोर्चा सरकार बनाई और उसी दिन राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया।

राज्य सरकार ने केन्द्र से अनुरोध किया कि विधान सभा का बजट अधिवेशन शुरू होने से पहले राज्यपाल धर्मवीर को वापस बुला लिया जाए। लेकिन चह्वाण ने इस माँग को ठुकरा दिया। 6 मार्च को श्री धर्मवीर ने बजट अधिवेशन का उद्घाटन किया। लेकिन मन्त्रालय द्वारा तैयार किये गए भाषण में से वे दो अनुच्छेद छोड़ दिए, जिनमें 21 नवम्बर, 1967 को जनता द्वारा निर्वाचित संयुक्त मोर्चा सरकार को भंग कर देने के हठपूर्ण और असंवैधानिक तरीके का ज़िक्र किया गया था। इसके फलस्वरूप राज्यपाल और अजय मुखर्जी मन्त्रिमण्डल के बीच कटुता बढ़ गई। श्री धर्मवीर को वापस बुलाने की माँग को दोहराया गया। केन्द्र ने महसूस किया कि राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के बीच प्रिय संबन्ध होना राज्य प्रशासन को चलाने के लिए अनिवार्य है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि धर्मवीर और अजय मुखर्जी के बीच प्रिय सम्बन्ध अब सम्भव नहीं है, तब केन्द्र ने लंदन में भारतीय उच्चायुक्त एस०एस० धवन को पश्चिमी बंगाल का नया राज्यपाल नियुक्त कर दिया। श्री धवन[8] के आने से पूर्व इस बीच कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश दीप नारायण सिन्हा को 1 अप्रैल को कार्यवाहक राज्यपाल की शपथ दिलाई गई।

पहली संयुक्त मोर्चा सरकार के शासनकाल में सी० पी० एम० ने कानून-भंग, हिंसा और अराजकता का जो वातावरण कथित रूप में फैलाया था, उसे राष्ट्रपति शासन के दौरान भी दबाया नहीं जा सका और प्रमुख हिस्सेदार के रूप में सी० पी० एम० को लेकर आई प्रतिनिधि सरकार के शासन में हालत और भी खराब हो गई। वर्ग-संघर्ष और ताकत से क्रान्ति के सिद्धान्त का खुला प्रचार किया गया और देहातों में किसानों को भड़काया गया कि वे 1953 के पश्चिमी-बंगाल जमींदारी अधिग्रहण विधेयक द्वारा निश्चित अधिकतम सीमा से ऊपर जोतदारों द्वारा अधिकृत जमीनों पर कब्ज़ा कर लें। कितने ही जोतदारों के बंदूकों के लाइसेन्स रद्द कर दिए गये और सी० पी० एम० के अनुयायियों द्वारा किये जाने वाले घातक हमलों के सामने उन्हें सुरक्षा-रहित कर दिया गया। सी० पी० एम० कार्यकर्त्ता कब्ज़े में की गई ज़मीनों के बंटवारे को लेकर एस० एस० पी० के अनुयायियों से टकराये। उन्होंने उनके घर नष्ट कर दिये और दफ़्तरों पर हमला किया। किसानों के बड़े-बड़े प्रदर्शन संगठित किये गए जिनमें बमों और बंदूकों का खुला इस्तेमाल किया गया। नक्सलवादियों ने लगभग प्रतिदिन पद्धतिबद्ध तरीके से हिंसात्मक कार्रवाइयाँ कीं जिनमें स्त्रियों पर बलात्कार, अपने विरो-

[8]इन्होंने 19 सितम्बर, 1969 को पद भार गृहण किया।

धियों पर बमों और बन्दूकों से हमला, सम्पत्ति की लूट और उसका विनाश तथा दुकानों और शिक्षा संस्थाओं का जलाया जाना शामिल था । संयुक्त मोर्चे के अन्य सदस्यों के द्वारा लगाये गये आरोपों के अनुसार बसु ने पुलिस को निष्क्रिय और बेअसर बना दिया था ।

अपने को बेबस पाकर मुख्य मंत्री और बंगला कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने राज्य में अराजकता को खत्म करने के लिए एक सत्याग्रह 1 दिसम्बर, 1969 को शुरू किया। 28 दिसम्बर को अजय मुखर्जी और बंगला कांग्रेस के महा मंत्री सुशील के साथ 3000 से अधिक लोगों ने प्रचलित हिंसा के विरुद्ध जनता की आत्मा को जगाने के लिए अनशन प्रारम्भ किया । लगभग 20,CC0 पी० एस० पी० कार्यकर्त्ताओं ने भी अनशन किया लेकिन श्री बसु पर इन सबका कोई असर नहीं हुआ । उन्होंने सत्याग्रह को एक तमाशा बताया । जब सत्याग्रह समाप्त हो गया तो उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा, "शायद वे थक गये या उन्हें भूख लग आई है ।"[9] बंगला कांग्रेस के नेता सरकार को उलटने की बातें करने लगे ।

मुखर्जी-बसु के बीच तनातनी को तब एक नया आयाम मिल गया, जब श्री मुखर्जी ने मालदा ज़िले के बजोल पुलिस स्टेशन के थानेदार के स्थानान्तरण के उस आदेश को स्थगित कर दिया जिसे बसु ने जारी किया था । मुख्य मन्त्री ने गृह मन्त्रालय के उस आदेश को भी रद्द कर दिया जिसके अनुसार मालदा जिले में कुछ फ़ौजदारी मामलों को वापस ले लिया गया था । श्री बसु बहुत भड़के और उन्होंने मुख्य मंत्री की कार्रवाई के प्रति विरोध प्रकट किया ।[10] 21 जनवरी, 1970 को कुछ सी० पी० एम० समर्थक छात्र एक प्रतिनिधि मण्डल बनाकर विधान सभा में मुख्य मंत्री के कक्ष में उनसे मिले और वहाँ उन्होंने उनसे दुर्व्यवहार किया और पुलिस चुप खड़ी देखती रही ।[11] अधिकतर संयुक्त मोर्चा दलों तथा शासक कांग्रेस के एक के बाद दूसरे सदस्यों ने अजय मुखर्जी पर हुए हमले की निन्दा की लेकिन पूरी बहस के दौरान सी० पी० एम० के सदस्य चुप और तटस्थ बैठे रहे ।

जनवरी के अन्तिम सप्ताह में स्थानान्तरण आदेश को लेकर उठा मुखर्जी-बसु विवाद और अधिक गम्भीर हो गया । श्री मुखर्जी ने कहा कि मुख्य मन्त्री सबसे ऊँचा है और श्री बसु ने ज़ोर देकर कहा कि मुख्य मंत्री समानों में समान है और गृह मंत्री के मामलों में हस्तक्षेप करने का उसे कोई कानूनी हक नहीं है ।[12] अजय मुखर्जी ने फिर कहा कि मन्त्रिपरिषद् के प्रधान के रूप में उन्हें देख-रेख का अधिकार प्राप्त है ।[13] लेकिन ज्याति

[9] **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 29 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 11.

[10] वही 17 जनवरी 1970, पृष्ठ 1 तथा, वही 19 जनवरी, 1979, पृष्ठ 6.

[11] वही 22 जनवरी, 1970 पृष्ठ 1.

[12] वही 22, 23, 24 जनवरी, 1970 तथा 4 फरवरी, 1970.

[13] वही 10 फरवरी, 1970.

वसु ने उनके इस तर्क को मानने से फिर इन्कार कर दिया।[14] 4 फरवरी को मुख्य-मंत्री विधान सभा में बड़े ही पीड़ा भरे स्वर में बोले कि संयुक्त मोर्चा मंत्रि-मण्डल ने कितने ही ऐसे काम किए हैं, जो बर्बर और असभ्य हैं।[15] 13 फरवरी को 3 बंगला कांग्रेस मंत्रियों ने धमकी दी कि वे 20 फरवरी तक त्यागपत्र दे देंगे। तब लगा कि संयुक्त मोर्चे और उसके मंत्रिमण्डल पर असल संकट आ गया है।

यह महसूस करते हुए कि कानून और व्यवस्था की हालत असाध्य रूप से बिगड़ गई है और संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को चलाना अब सम्भव नहीं रहा है, मुख्य मंत्री श्री मुखर्जी ने 16 मार्च को राज्यपाल को अपना त्यागपत्र दे दिया। अगले दिन त्याग-पत्र के विरोध में सी० पी० एम० ने एक "बन्द" का आयोजन किया। इसमें जो हिंसात्मक उपद्रव हुए, उनमें 21 जानें गईं और उद्योग और यातायात ठप्प हो गया। उप-मुख्य मंत्री श्री वसु ने वैकल्पिक मंत्रिमण्डल बनाने का दावा किया। राज्यपाल श्री धवन ने सभी राजनीतिक दलों के नेताओं को पत्र लिखकर वे कारण जानने चाहे जिनकी वजह से ज्योति वसु को वैकल्पिक सरकार बनाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। 10 दलों ने, जिनके विधान सभा में 165 सदस्य थे, लिखा कि वे सिर्फ सी० पी०एम० द्वारा मंत्रिमण्डल बनाए जाने के विरुद्ध हैं। राज्यपाल ने राष्ट्रपति को सूचित किया कि राज्य में संवैधानिक तंत्र टूट चुका है। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सलाह पर चलकर राष्ट्रपति ने 19 मार्च, 1970 को पश्चिमी बंगाल में अपना शासन लागू किए जाने की घोषणा कर दी और इस प्रकार 13 मास की दूसरी संयुक्त मोर्चा सरकार का अन्त हो गया।

सी० पी० एम० को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों ने इस कदम का स्वागत किया, लोक सभा में विरोधी दल के नेता रामसुभग सिंह ने इसे अनिवार्य बताया। पी० एस० पी० नेता सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी ने कहा कि इसके सिवाय और कोई विकल्प नहीं था। एस० एस० पी० नेता मधु लिमये का विचार था कि यह अप्रत्याशित नहीं हुआ और दल के एक अन्य नेता राजनाराय ने कहा कि यह मार्क्सिस्टों के काले कारनामों का सीधा परिणाम है। स्वतन्त्र पार्टी के प्रधान मीनू मसानी इस से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने माँग की कि सी० पी० एम० और नक्सलवादियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए और राज्य में आपात्-स्थिति की घोषणा कर दी जानी चाहिए। सी० पी० आई० नेता डा० ज़ेड० ए० अहमद ने भी इसे अनिवार्य बताया।[16]

सी० पी० एम० के नेताओं ने बहुत आहत अनुभव किया। श्री वसु ने धमकी दी कि यदि विधान सभा के लिए नए चुनाव शीघ्र ही नहीं कराये गये तो वे जन-आन्दोलन

[14]वही, 12 फरवरी, 1970.

[15]वही, 6 फरवरी, 1970.

[16]कलकत्ता और राज्य में कारोबार करने वाली ब्रिटिश फर्मों को इससे बहुत सांत्वना मिली। देखिए, वही, 22 मार्च, 1970.

शुरू कर देंगे ।[17] एक महीने बाद उन्होंने भविष्यवाणी की कि यदि संयुक्त मोर्चा शासन के दौरान किसानों द्वारा कब्जे में ली गई जमीनों को उनसे वापस लिया गया तो राज्य में खून की होली खेली जाएगी ।[18] दूसरे सी० पी० एम० नेता पी० राममूर्ति ने राष्ट्रपति की कार्रवाई को एक लघु मोर्चा सरकार स्थापित करने का षड्यंत्र बताया ।

संघीय सरकार दृढ़ रही और उसने सी० पी० एम० की धमकियों और चेतावनियों के आगे झुकने से इन्कार कर दिया । विधान सभा को भंग करने के बदले उसे निलम्बित स्थिति में रखा गया । यह इस आशा में किया गया था कि कुछ समय बाद वैकल्पिक सरकार बन जाएगी । सी० पी० आई० ने 8 दलों का एक गठबंधन बनाया जिसमें सी० पी० आई०, फॉरवर्ड ब्लॉक, एस० एस० पी०, सोशलिस्ट सेन्टर, गोरखा लीग, रिवाल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी और पी० एस० पी० का एक वर्ग सम्मिलित थे । यह इस उद्देश्य से बनाया गया कि नई सरकार का निर्माण किया जा सके और सी० पी० एम० के नेतृत्व में बने 5 दलीय वामपंथी गठबन्धन को अलग रखा जा सके । लेकिन बंगला कांग्रेस और रिवाल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी ने सी० पी० आई० के नेतृत्व में बने इस गठबंधन में शामिल न होने का फैसला किया । यदि बंगला कांग्रेस गठबंधन में शामिल हो भी जाती, तब भी एक गैर-सी० पी० एम० सरकार का बनना सम्भव नहीं था क्योंकि फॉरवर्ड ब्लॉक सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर और सी०पी०आई० तक शासक कांग्रेस के साथ कोई समझौता करने अथवा मोर्चा बनाने के विरुद्ध थे । जन-शासन को वापस लाने के सभी अवसर चूक गए । 30 जुलाई को राज्यपाल ने 18 महीने पुरानी विधान सभा भंग कर दी ।

इसके बाद पश्चिमी बंगाल के राजनीतिक नेताओं ने विशेषकर सी० पी० एम० ने नए चुनाव जल्द-से-जल्द कराने के लिए आन्दोलन जारी रखा । 17 जुलाई, 1970 को सी० पी० एम० और सी० पी० आई० ने विधान सभा के लिए चुनाव की माँग के समर्थन में एक 'बंद' का आयोजन किया । लेकिन केन्द्र ने साफ़ कह दिया कि जब तक कानून और व्यवस्था की हालत में सुधार नहीं होगा, तब तक जन-शासन वापस नहीं लाया जायेगा । हिंसा और आतंक व्यापक बनता गया और विधान सभा के लिए चुनावों की माँग जब-तब की जाती रही । अंत में, केन्द्र झुका और 10 मार्च, 1971 को चुनाव हुए । मुकाबला करने वाले मुख्य पक्ष थे संयुक्त वामपंथी मोर्चा जिसमें सी० पी० एम०, रिवाल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, फॉरवर्ड ब्लॉक (मार्क्सिस्ट) वर्कर्स ग्रुप और बंगला कांग्रेस का एक टूटा हुआ वर्ग विप्लवी बंगला कांग्रेस तथा संयुक्त वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चा (यू० एल० डी० एफ०) जिसमें सी० पी० आई०, सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर, फॉरवर्ड ब्लॉक और गोरखा लीग शामिल थे । अन्य दलों में बंगला कांग्रेस, शासक कांग्रेस और संगठन कांग्रेस ने भी स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़े ।

[17]वही, 27 मार्च, 1970, पृष्ठ 5.
[18]वही, 23 अप्रैल, 1970, पृष्ठ 6.

राजस्थान
(Rajasthan)

राजस्थान में विधान सभा के कुल 184 स्थानों में से कांग्रेस ने 89 स्थान जीते थे और विरोधी दलों को 80 मिले थे। शेष 15 स्थान स्वतन्त्र उम्मीदवारों के पास गए थे जिनमें से 11 उस जनता पार्टी के सदस्य थे, जो कुछ ही सप्ताह पहले कांग्रेस से टूटकर अलग हो गई थी।

एक कांग्रेसी सदस्य दो चुनाव क्षेत्रों से जीता था और इस प्रकार इस दल की शक्ति घटकर 88 रह गई थी। चुनाव के फौरन बाद सरकार बनाने के प्रयास में दोनों पक्षों ने बहुमत प्राप्त करने के लिए काफी सदस्यों को अपनी ओर करने की कोशिश की। 25 फरवरी, 1967 को कांग्रेस ने घोषणा की कि उसने उन 4 स्वतन्त्र सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर लिया है जो जनता पार्टी के सदस्य नहीं थे, और इस प्रकार उसे संयुक्त विरोधी दलों और जनता स्वतन्त्रों (एक स्थान खाली था) के ऊपर एक का बहुमत प्राप्त हो गया है। 2 मार्च को एक कांग्रेसी सदस्य स्वतन्त्र पार्टी, एस०एस०पी०, जनसंघ और जनता स्वतन्त्रों द्वारा निर्मित संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गया। इस मोर्चे ने राजस्थान स्वतन्त्र पार्टी के प्रधान डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मण सिंह को अपना नेता चुना था। फलत: दोनों पक्षों के पास 91-91 स्थान हो गये और संतुलन एक कम्युनिस्ट सदस्य के हाथ में आ गया। कुछ दिन बाद वह भी संयुक्त मोर्चे में मिल गया और इस प्रकार उसे एक का बहुमत प्राप्त हो गया।

राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने कांग्रेस के नेता मोहनलाल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए इस आधार पर निमन्त्रित किया कि वे अकेले सबसे बड़े दल के नेता हैं। एक प्रेस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि उन्होंने स्वतन्त्र सदस्यों को गणना में नहीं लिया है क्योंकि इन लोगों की कोई निश्चित नीतियाँ नहीं हैं। ये अपने दिमाग बदलते रहते हैं और अक्सर दबाव में आ जाते हैं।

विरोधी दलों ने एक संयुक्त वक्तव्य देकर राज्यपाल की कार्रवाई के संवैधानिक औचित्य पर शंका प्रकट की और उस पर 'राजनीतिक पक्षपात'[19] का आरोप लगाया। उन्होंने राज्यपाल के निवास के सामने लगभग 50,000 लोगों का एक विरोध-प्रदर्शन आयोजित किया और जयपुर में दंगे और हिंसात्मक कांड हुए। 13 मार्च को श्री सुखाड़िया ने राज्यपाल को सूचना दी कि 'विरोधी दलों के आन्दोलनों के कारण कानून व व्यवस्था की हालत बिगड़ गयी है और वे सरकार बनाने की जिम्मेदारी लेना नहीं चाहते'। इस पर केन्द्र ने 13 मार्च, 1967 को चुनाव के एक महीने बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

15 मार्च को संयुक्त मोर्चे के सदस्य, जिनकी संख्या अब 93 थी, व्यक्तिगत

[19]कीसिंग का 'कन्टेम्परेरी आर्काइव्स' 1967-68, पृष्ठ 22081.

सी० पी० एम० और उसके साथियों को 108 स्थान मिले। इसके बाद शासक कांग्रेस को 105 मिले। दूसरे दलों ने इस प्रकार स्थान जीते : संगठन कांग्रेस 2, सी० पी० आई० 13, फॉरवर्ड ब्लॉक 3, पी० एस० पी० 3, एस० एस० पी० 1, बंगला कांग्रेस 3, जनसंघ 1, आर० एस० पी० 3, एस० यू० सी० 7, मुस्लिम लीग 7, आर० सी० पी० आई० 3, विप्लवी बंगला कांग्रेस 2, सी० पी० एम० के नेतृत्व में बने संयुक्त वामपंथी मोर्चे द्वारा समर्थित स्वतंत्र 2 तथा अन्य स्वतन्त्र 5। इस प्रकार कुल 274 स्थान भरे। 3 चुनाव क्षेत्रों में उम्मीदवारों की मृत्यु के कारण चुनाव रद्द करने पड़े।

शासक कांग्रेस और सी० पी० एम० के नेतृत्व में संयुक्त वामपंथी मोर्चा दोनों ने मिली-जुली सरकार बनाने के लिए अपने-अपने दावे पेश किये। लेकिन राज्यपाल धवन ने राष्ट्रपति शासन को समाप्त करने की सिफ़ारिश करने से तब तक के लिए इन्कार कर दिया, जब तक वे आश्वस्त न हो जायें कि दावेदारों का विधान सभा में पूर्ण बहुमत है। इसके फलस्वरूप पुनः गठजोड़ हुए। शासक कांग्रेस विधान सभा दल ने घोषणा की कि वह बंगला कांग्रेस नेता अजय मुखर्जी के नेतृत्व में बनी सरकार में शामिल होगा। इस पर संयुक्त वामपंथी मोर्चे के दलों के सिवाय विधान सभा के अन्य सभी दलों सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर, रिवाल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी और झारखंड पार्टी ने एक लोकतांत्रिक गठबन्धन निर्मित कर लिया और 2 अप्रैल को श्री मुखर्जी ने सरकार बना ली। लगभग 2 महीने बाद बंगला कांग्रेस के महासचिव सुशील धारा के नेतृत्व में दल के 5 विधायकों ने सरकार का त्याग कर दिया और स्वतंत्र गुट बना लिया। इस प्रकार, विधान सभा बराबर-बराबर बंट गई। 140 विधायक सरकार के पक्ष में थे और 140 विरोधी पक्ष में।

इसी बीच बंगला देश का संकट उपस्थित हो गया था और कुछ लाख शरणार्थी पश्चिमी बंगाल में घुस आये जिससे सभी प्रकार की समस्याएँ पैदा हो गईं। मुखर्जी ने अनुभव किया कि वे अब राज्य के प्रशासन को ठीक तरह नहीं चला सकते, इसलिए उन्होंने विधान सभा को भंग कर देने की सिफ़ारिश की और 25 जून को विधान सभा भंग कर दी गई। उनके मन्त्रालय ने तय किया कि एक कार्यकारी सरकार के रूप में भी पद पर न रहा जाये और 28 जून को त्यागपत्र दे दिया। अगले ही दिन राज्यपाल की सलाह पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। जब मार्च 1972 में पश्चिमी बंगाल में आम चुनाव हुए, वहाँ राष्ट्रपति शासन था। शासक कांग्रेस को विधान सभा के कुल 280 स्थानों में से 216 स्थान मिले और 20 मार्च को कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता सिद्धार्थशंकर रे ने मुख्यमन्त्री पद की शपथ ली। उन्होंने कानून एवं व्यवस्था की समस्या का दृढ़तापूर्वक सामना किया और पश्चिम बंगाल को मिली-जुली सरकारों के अभिशाप से राहत मिली।

राजस्थान
(Rajasthan)

राजस्थान में विधान सभा के कुल 184 स्थानों में से कांग्रेस ने 89 स्थान जीते थे और विरोधी दलों को 80 मिले थे। शेष 15 स्थान स्वतन्त्र उम्मीदवारों के पास गए थे जिनमें से 11 उस जनता पार्टी के सदस्य थे, जो कुछ ही सप्ताह पहले कांग्रेस से टूटकर अलग हो गई थी।

एक कांग्रेसी सदस्य दो चुनाव क्षेत्रों से जीता था और इस प्रकार इस दल की शक्ति घटकर 88 रह गई थी। चुनाव के फौरन बाद सरकार बनाने के प्रयास में दोनों पक्षों ने बहुमत प्राप्त करने के लिए काफी सदस्यों को अपनी ओर करने की कोशिश की। 25 फरवरी, 1967 को कांग्रेस ने घोषणा की कि उसने उन 4 स्वतन्त्र सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर लिया है जो जनता पार्टी के सदस्य नहीं थे, और इस प्रकार उसे संयुक्त विरोधी दलों और जनता स्वतन्त्रों (एक स्थान खाली था) के ऊपर एक का बहुमत प्राप्त हो गया है। 2 मार्च को एक कांग्रेसी सदस्य स्वतन्त्र पार्टी, एस०एस०पी०, जनसंघ और जनता स्वतन्त्रों द्वारा निर्मित संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गया। इस मोर्चे ने राजस्थान स्वतन्त्र पार्टी के प्रधान डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मण सिंह को अपना नेता चुना था। फलत: दोनों पक्षों के पास 91-91 स्थान हो गये और संतुलन एक कम्युनिस्ट सदस्य के हाथ में आ गया। कुछ दिन बाद वह भी संयुक्त मोर्चे में मिल गया और इस प्रकार उसे एक का बहुमत प्राप्त हो गया।

राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने कांग्रेस के नेता मोहनलाल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए इस आधार पर निमन्त्रित किया कि वे अकेले सबसे बड़े दल के नेता हैं। एक प्रेस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि उन्होंने स्वतन्त्र सदस्यों को गणना में नहीं लिया है क्योंकि इन लोगों की कोई निश्चित नीतियाँ नहीं हैं। ये अपने दिमाग बदलते रहते हैं और अक्सर दबाव में आ जाते हैं।

विरोधी दलों ने एक संयुक्त वक्तव्य देकर राज्यपाल की कार्रवाई के संवैधानिक औचित्य पर शंका प्रकट की और उस पर 'राजनीतिक पक्षपात'[19] का आरोप लगाया। उन्होंने राज्यपाल के निवास के सामने लगभग 50,000 लोगों का एक विरोध-प्रदर्शन आयोजित किया और जयपुर में दंगे और हिंसात्मक कांड हुए। 13 मार्च को श्री सुखाड़िया ने राज्यपाल को सूचना दी कि 'विरोधी दलों के आन्दोलनों के कारण कानून व व्यवस्था की हालत बिगड़ गयी है और वे सरकार बनाने की जिम्मेदारी लेना नहीं चाहते'। इस पर केन्द्र ने 13 मार्च, 1967 को चुनाव के एक महीने बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

15 मार्च को संयुक्त मोर्चे के सदस्य, जिनकी संख्या अब 93 थी, व्यक्तिगत

[19]कीसिंग का 'कन्टेम्परेरी आर्काइव्स' 1967-68, पृष्ठ 2208I.

रूप से नई दिल्ली में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के सामने पेश हुए। उन्होंने अपना बहुमत प्रदर्शित किया और सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत किया। उन्होंने माँग की कि राष्ट्रपति शासन को समाप्त किया जाये और राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द को हटाया जाये। 29 मार्च को लोक सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष सरदार हुकम सिंह ने नये राज्यपाल के रूप में शपथ ली। अप्रैल 1967 के दौरान संयुक्त मोर्चे ने फिर बहुमत खो दिया और 94 सदस्यों ने श्री सुखाड़िया को समर्थन का वचन दिया। महारावल लक्ष्मण सिंह 109 समर्थकों की सूची लेकर सामने आए। इनमें 21 नाम दोनों सूचियों में थे। सरदार हुकम सिंह ने इन सदस्यों से स्वयं भेंट की और इनसे लिखवा लिया कि वे किसके समर्थक हैं। इन सभी ने कांग्रेस को अपना समर्थन दिया और इस प्रकार तय हो गया कि 94 विधायक श्री सुखाड़िया के साथ हैं और 88 संयुक्त मोर्चा नेता लक्ष्मण सिंह के साथ। राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन समाप्त करने की सिफारिश की और 26 अप्रैल को वैसा कर दिया गया। 28 अप्रैल को श्री सुखाड़िया के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल ने शपथ ली और आरम्भिक धचकों के बाद कांग्रेस जम गई। श्री सुखाड़िया 8 जुलाई, 1971 तक पद पर रहे, जब उन्होंने बिना कोई कारण बताये त्यागपत्र दे दिया और विधिमन्त्री बरकतुल्ला खाँ ने अगले दिन नई कांग्रेस सरकार निर्मित की। इस सारी गड़बड़ी के दौरान विधान सभा निलम्बित रही। उसे भंग नहीं किया गया। इसके फलस्वरूप राजस्थान उन 16 राज्यों में से एक रहा जिनमें मार्च 1972 को नई विधान सभा के लिए आम चुनाव हुए। शासक कांग्रेस को 184 के सदन में 145 स्थान मिले और उसने वहाँ फिर सरकार बनाई। इस प्रकार, राजस्थान को भी मिली-जुली सरकारों के अभिशाप से राहत मिली और उनकी स्थिति अधिक स्थायी हो गई।

पंजाब
(Punjab)

भाषा के आधार पर पंजाब के राज्यों का पुनर्गठन किया गया था और पंजाब एवं हरियाणा के नये राज्य औपचारिक रूप से 1 नवम्बर, 1966 को अस्तित्व में आये थे। 31 अक्तूबर की अर्धरात्रि को राष्ट्रपति शासन समाप्त हुआ और दोनों ही राज्यों के नये मन्त्रिमण्डल ने 1 नवम्बर को शपथ ली। पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी के प्रधान ज्ञानी गुरमुख सिंह मुसाफिर मुख्य मन्त्री बने लेकिन कुछ ही समय बाद पंजाब कांग्रेस में फूट पैदा हो गई और एक गुट ने 1 जनवरी, 1967 को जनता कांग्रेस निर्मित कर ली। अकाली दल भी, जिसने 1962 का चुनाव एक दल के रूप में लड़ा था, दो गुटों में विभाजित हो गया। एक के नेता मास्टर तारा सिंह थे और दूसरे के संत फ़तह सिंह। चौथे आम चुनावों के समय दोनों गुटों ने अलग-अलग घोषणापत्र जारी किये। फलतः विधान सभा के 104 स्थानों के लिए हुए चुनावों का परिणाम दलों के

अनुसार इस प्रकार रहा : कांग्रेस 48, अकाली दल (फतह सिंह गुट) 24, अकाली दल (तारा सिंह गुट) 2, जनसंघ 9, सी० पी० आई० 5, सी० पी० एम० 3, रिपब्लिकन 3, एस०एस०पी० 1 और स्वतन्त्र 9। अब तक के कांग्रेस मन्त्रि मण्डल में मुख्य मन्त्री श्री मुसाफिर चुनाव हार गये और 14 मंत्री, राज्य मन्त्री और उप-मन्त्री भी पराजित हो गए। किसी दल अथवा दल-समूह ने बहुमत प्राप्त नहीं किया। पूर्ण बहुमत से कांग्रेस 5 कम रह गई और फतह सिंह गुट ने सी० पी० आई०, रिपब्लिकन और एस० एस० पी० के साथ जो गठबंधन बनाया, उसके पास केवल 33 स्थान रहे। कांग्रेस दल के नेताओं ने कुछ स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन से सरकार बनाने की कोशिश की लेकिन गैर-कांग्रेसी दलों के 47 सदस्यों और 9 स्वतन्त्रों में से 6 ने उनके प्रयत्नों को विफल कर दिया। उन्होंने पंजाब उच्च न्यायालय के सेव निवृत्त न्यायाधीश सरदार गुरनाम सिंह के नेतृत्व में एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। बाद में एक कांग्रेसी और एक स्वतन्त्र सदस्य भी संयुक्त मोर्चे में मिल गये और उसकी शक्ति बढ़कर 55 हो गई। 8 मार्च, 1967 को 4 मन्त्रियों और 4 उप-मन्त्रियों के साथ एक मिला-जुला मन्त्रि-मण्डल बना लिया गया।

एक महीने बाद 5 अप्रैल को सरकार को विधान सभा में उस समय हार खानी पड़ी, जब कांग्रेस ने राज्यपाल के भाषण पर संशोधन पेश करके खाद्यान्नों के सरकारी व्यापार और सचिवालय स्तर पर पंजाबी भाषा के प्रयोग की माँग की और वह 49 के विरुद्ध 53 मतों से स्वीकृत हो गई। संयुक्त मोर्चे के 4 सदस्यों और एक स्वतन्त्र ने विरोधी दल का साथ दिया। कांग्रेस नेता प्रबोधचन्द्र ने गुरनाम सिंह मंत्रि-मण्डल के त्यागपत्र की माँग की, लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया। उनकी यह धारणा थी कि राज्यपाल के भाषण पर हुआ मतदान मुक्त था और संयुक्त मोर्चे ने कोई सचेतक जारी नहीं किया था। यदि कुछ संयुक्त मोर्चा सदस्यों ने विरोधी दलों के साथ मत दिया है तो वैसा पंजाबी भाषा के प्रति उनके प्रेम के कारण ही हुआ है लेकिन विरोधी दल इससे संतुष्ट न हो सके और जब अगले दिन सदन की बैठक हुई तो श्री चन्द्र ने घोषणा की कि विरोधी दल कोई कार्रवाई नहीं होने देंगे। इसके बाद सदन में भारी गड़बड़ी और झगड़ा हुआ। मुख्य मन्त्री ने सदन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने का प्रस्ताव रखा जो स्वीकृत हो गया। इसके बाद कांग्रेस ने संयुक्त मोर्चा सरकार को सत्ता से हटाने के लिए दल-बदल को प्रोत्साहित किया। संयुक्त मोर्चे में बड़ी संख्या में 'कुछ नए' सदस्य थे और इनको शिकायत थी कि उन्हें उनका हक नहीं दिया गया। इन लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए विरोधी दल के नेता ज्ञान सिंह राड़ेवाला ने दल-बदलुओं की एक अल्पमत सरकार को समर्थन देने की पेशकश की, यदि स्वतन्त्र सदस्य महाराजा पटियाला इसके नेता बनें। लेकिन महाराजा ने अपनी अनिच्छा व्यक्त की। गुरनाम सिंह ने कांग्रेस के इस हथकंडे को गंदी चाल बताया और सी० पी० आई० नेता सत्यपाल डांग ने इसे उच्च स्तरीय कांग्रेस षड्यंत्र कहा। मई के पहले सप्ताह में विधान सभा के 5 कांग्रेसी सदस्य मन्त्रित्व का

वचन मिलने पर दल बदल कर संयुक्त मोर्चे में मिल गये और इस प्रकार कांग्रेस का विरोध काफी कमज़ोर पड़ गया। संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को गिराने की सभी कोशिशें बेकार गईं।

संयुक्त मोर्चे के मुख्य अंग अकाली दल (फतह सिंह गुट) के भीतर हुए व्यक्तियों के संघर्ष ने कांग्रेस के लक्ष्य को पूरा कर दिया। 23 मई को विधान सभा में 24 सदस्यीय अकाली दल के नेता हरचरण सिंह हुडयारा ने घोषणा की कि उनका गुट सरकार के अधिग्रहण विधेयक पर कांग्रेस विरोधी दल के साथ मत देगा और महाराजा पटियाला तथा कुछ अन्य स्वतन्त्र सदस्य भी वैसा ही करेंगे। अगले दिन प्रबोधचन्द्र ने एक अविश्वास प्रस्ताव पेश किया जो दो दिन की बहस के बाद 46 के मुकाबले 57 मतों से पराजित हो गया। 43 कांग्रेस सदस्यों के सिवाय सिर्फ श्री हुडयारा, उनके अकाली दल के साथी हज़ारा सिंह गिल और महाराजा पटियाला ने ही इस प्रस्ताव का समर्थन किया। श्री हुडयारा और श्री गिल को उसी दिन अनुशासन भंग के लिए 6 वर्षों के लिए दल से निकाल दिया गया। इसके फलस्वरूप दल में और अधिक फूट पड़ गई। 26 मई को चंडीगढ़ में हुए दल के एक सम्मेलन में शामिल 375 में से 200 सदस्यों ने संत फतह सिंह को अध्यक्ष पद से हटा दिया और उनके स्थान पर श्री हुडयारा को चुन लिया। पाँच दिन बाद दल की कार्यसमिति ने संत जी के नेतृत्व में पूरा विश्वास प्रकट किया और उन्हें पूरा अधिकार दिया कि वे विधान सभा के नेता के रूप में श्री हुडयारा के स्थान पर दूसरे नेता को नियुक्त करें। 22 नवम्बर, 1967 को विधान सभा का शरद्कालीन अधिवेशन शुरू हुआ और उसी दिन सिंचाई और बिजली मन्त्री लक्ष्मण सिंह गिल ने घोषणा की कि 15 अन्य सदस्यों के साथ उन्होंने शासक संयुक्त मोर्चे को छोड़ दिया है और संयुक्त पंजाब जनता पार्टी के नाम से एक नया दल बना लिया है। इस घटना ने गुरनाम सिंह को बहुमत के समर्थन से वंचित कर दिया और उन्होंने अपना त्यागपत्र राज्यपाल को दे दिया और उनसे अनुरोध किया कि वे विधान सभा को भंग कर दें और नये चुनाव करायें। उन्होंने राष्ट्रपति को पत्र लिखकर भी मध्यावधि चुनाव का अनुरोध किया। एक प्रेस वक्तव्य में गुरनाम सिंह ने आरोप लगाया कि कांग्रेस राजनीतिक भ्रष्टाचार का खेल खेल रही है और उच्च स्तरीय षड्यंत्र रच रही है।

राज्यपाल ने पदमुक्त मुख्य मन्त्री की सलाह मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि नये चुनावों का आदेश देना धन का अपव्यय करना ही होगा। उन्होंने लक्ष्मण सिंह गिल को, जिन्हें समर्थन देने का वचन कांग्रेस दल ने दिया था, एक नया मंत्रिमण्डल बनाने के लिए कहा और 27 नवम्बर को उन्होंने मुख्य मन्त्री के रूप में शपथ ली। जब 4 दिसम्बर को विधान सभा की बैठक शुरू हुई तो दक्षिणपंथी कम्युनिस्ट सत्यपाल डांग ने गिल मंत्रिमण्डल की वैधता में इस आधार पर संशय प्रकट किया कि राज्यपाल द्वारा गुरनाम सिंह की विधान सभा को भंग करने की सलाह को न मानना असंवैधानिक था। नई सरकार को बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है क्योंकि कांग्रेस और जनता

पार्टी के अलग-अलग नेता हैं और उनकी अलग-अलग नीतियाँ और कार्यक्रम हैं। लेकिन अध्यक्ष सरदार जोगिन्दर सिंह मान ने दोनों धारणाओं को अमान्य करार दिया।

श्री गिल की अल्पमत सरकार (उनके दल जनता पार्टी के पास विधान सभा के 104 स्थानों में से केवल 20 थे) की स्थापना ने पंजाब में एक तनावपूर्ण स्थिति पैदा कर दी। विरोधी दल साथ मिल गये और 21 जनवरी, 1968 को उन्होंने, दि स्टेटसमैन के शब्दों में, 'ऐसा विराट प्रदर्शन किया जैसा चंडीगढ़ ने पहले कभी नहीं देखा था'। गिल मन्त्रिमण्डल के प्रति क्या रुख अपनाया जाये, इसे लेकर कांग्रेस दल के भीतर मत-भेद पैदा हो गये थे। राष्ट्रीय नेतृत्व श्री गिल को समर्थन देते रहने के पक्ष में था। लेकिन पंजाब कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता श्री राड़ेवाला कांग्रेस सरकार बनाना चाहते थे। मुख्य मन्त्री श्री गिल ने यह आश्वासन देकर उन्हें शान्त किया कि सभी बड़ी नीतियों के बारे में उनसे परामर्श किया जायेगा। लेकिन इतने से श्री गिल को चैन नहीं मिला और उन्होंने कांग्रेस विधान मण्डल के भीतर एक ऐसा गुट तैयार करने का विचार किया जो पूरी तरह उनके पीछे हो। उन्होंने तय किया कि अध्यक्ष पद श्री मान के स्थान पर प्रबोध चन्द्र को दिया जाये। यह उद्देश्य मन में लेकर मुख्य मन्त्री के समर्थकों ने बजट पर विचार करने के लिए 6 मार्च, 1968 को बैठी विधान सभा में गड़बड़ी और अनुशासनहीनता के दृश्य प्रस्तुत किये। सरकार ने अध्यक्ष श्री मान के विरुद्ध दो प्रस्ताव पेश किये क्योंकि वे सदन की प्रतिष्ठा और उसकी शान को बनाये रखने में विफल हो गये थे। श्री मान ने उस दिन तो प्रस्तावों को ग्रहण कर लिया पर उन्होंने विरोधी दलों के नेताओं के साथ विचार-विमर्श किया और अगले दिन इन प्रस्तावों को अधिनियमित करार दे दिया क्योंकि इनके लिए 14 दिन का आवश्यक नोटिस नहीं दिया गया था। उन्होंने सदन को 2 महीनों के लिए स्थगित कर दिया क्योंकि सदन में गुंडागर्दी और क्रोधावेश था और कार्रवाई को आगे नहीं चलाया जा सकता था।

इससे अभूतपूर्व संवैधानिक संकट पैदा हो गया क्योंकि इन परिस्थितियों में बजट मार्च के अन्त तक स्वीकृत नहीं किया जा सकता था। पूरा प्रशासनिक तन्त्र 1 अप्रैल से आरम्भ होने वाले अगले वित्तीय वर्ष में धन के प्राप्त न रहने के कारण गम्भीर गड़बड़ी में पड़ सकता था। स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए और केन्द्रीय सरकार से प्रकटतः परामर्श करके राज्यपाल डी० सी० पावटे ने 11 मार्च को विधान सभा का सत्रावसान कर दिया। इस प्रकार, उन्होंने अधिवेशन की समाप्ति की और उसे फिर बुलाने का अधिकार अपने हाथ में रखा। 13 मार्च को उन्होंने एक अध्या-देश जारी किया जिसके अनुसार (क) यदि कोई वार्षिक वित्तीय लेखा सदन के सामने पेश किया जा चुका था तो सदन का सत्रावसान हो जाने के कारण उसका ह्रास नहीं होगा, और (ख) यदि कोई वित्तीय कार्रवाई शेष है तो सदन का स्थगन सदन के बहुमत से ही हो सकेगा। अगले दिन उन्होंने 18 मार्च को विधान सभा बुलाने के आदेश दिये। जब विधान सभा बैठी तो अध्यक्ष मान ने संकेत दिया कि सदन का

सत्रावसान करने वाला राज्यपाल का आदेश यद्यपि 11 मार्च का है लेकिन उसका मुद्रण 14-15 मार्च को हुआ है। 10 मार्च को वह डाक में डाला गया था और 18 मार्च को मिला है। अत: उनकी धारणा थी कि 18 मार्च ही आदेश के प्रकाशन की तिथि और इसी दिन सदन का सत्रावसान किया गया। इस आधार पर उन्होंने व्यवस्था दी कि 13 मार्च का अध्यादेश गैर-कानूनी था क्योंकि राज्यपाल सदन के अधिवेशन के दौरान अध्यादेश जारी नहीं कर सकते और सदन को बुलाने का आदेश भी गैर-कानूनी है क्योंकि जब यह आदेश जारी हुआ तब तक सदन का सत्रावसान नहीं हुआ था और राज्यपाल को सदन के स्थगन के बाद उसे फिर से बुलाने का कोई अधिकार नहीं है। अध्यक्ष ने सदन को फिर स्थगित कर दिया और कक्ष से चले गये। इसके बाद पूरी तरह गड़बड़ी फैल गयी। विरोधी सदस्यों ने अध्यक्ष के मंच पर कब्ज़ा कर लिया लेकिन उन्हें बलपूर्वक भवन से बाहर निकाल दिया गया। इस बारे में अलग-अलग सूचनाएँ हैं कि उन्हें वास्तव में किसने बाहर निकाला—पुलिस ने, सुरक्षा अधिकारियों ने, अथवा बाहर वालों ने। कांग्रेस और जनता पार्टी के सदस्यों ने सदन का नियंत्रण अपने हाथों में लिया और उपाध्यक्ष बलदेव सिंह कुर्सी पर बैठ गये। 15 मिनट की कार्रवाई के बाद उन्होंने अधिग्रहण विधेयक को स्वीकृत घोषित किया और अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव ग्रहण करने के बाद उन्होंने सदन को 5 अप्रैल तक के लिए स्थगित कर दिया। उन्होंने धारा 199 के अधीन विधेयक का आवश्यक प्रमाणन भी किया और उसे विधानपरिषद को भेज दिया।

गुरनाम सिंह के नेतृत्व में विरोधी दलों ने राज्य के उच्च न्यायालय में 'रिट' अर्जियाँ दाखिल कीं और पंजाब विधान मण्डल (वित्तीय कार्यों से सम्बन्धित पद्धति के नियम) अध्यादेश, 1968 का हवाला देकर 18 मार्च को पंजाब विधान सभा की बैठक की कार्रवाई को चुनौती दी जिसमें बजट और दो पंजाब अधिग्रहण विधेयक स्वीकार किये गए थे और अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। 10 मई, 1968 को उच्च न्यायालय की एक विशेष 'बेंच' ने एकमत से दोनों अधिग्रहण विधेयकों को संविधान से बाहर और गैर-कानूनी घोषित किया। अदालत ने एक के विरुद्ध 4 के बहुमत से (मुख्य-न्यायाधीश असहमत थे) यह भी व्यवस्था दी कि राज्यपाल द्वारा जारी किया गया अध्यादेश संविधान-विरुद्ध था।

राज्य सरकार ने उच्च न्यायालय से अपील की कि उसके आदेश पर कार्रवाई स्थगित की जाये पर उसे अस्वीकार कर दिया गया। पर अदालत ने संविधान की धारा 132 और 133(1C) के अधीन उच्चतम न्यायालय को अपील करने की प्रार्थना स्वीकार कर ली। एक विशेष रूप से गठित उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक बैंच ने 21 मई को दोनों अधिग्रहण विधेयकों को गैर-कानूनी घोषित करने वाले उच्च न्यायालय के आदेशों पर कार्रवाई स्थगित कर दी। इस व्यवस्था का प्रभाव यह हुआ कि राज्य सभा संचित निधि (Consolidated Fund) से आवश्यक राशि लेने में तथा जब तक उसकी अपील पर निर्णय हो, कर-संग्रह करने में समर्थ हो गई। अदालत ने यह भी

व्यवस्था दी कि स्थगन आदेश किसी भी रूप में स्थिति का अपने विवेक के अनुसार हल निकालने के विधान मण्डल के अधिकार को कम नहीं करता। अदालत के आदेश के बाद सरकार ने 20 मई को बैठी विधान सभा के सामने 6 महीने के लिए एक 'वोट ऑन अकाउन्ट बजट' पेश करने का प्रस्ताव त्याग दिया और 22 मई को विधान सभा अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गई। 30 जुलाई को उच्चतम न्यायालय ने एकमत से व्यवस्था दी कि 18 मार्च को स्वीकृत अधिग्रहण विधेयक संवैधानिक रूप से सही थे और इस प्रकार उच्च न्यायालय का आदेश उलट दिया गया।

21 अगस्त, 1968 को कांग्रेस अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा ने घोषणा की कि पंजाब विधान सभा में उनके दल के 43 सदस्य आगे से लक्ष्मन सिंह गिल की अल्प-मत सरकार को समर्थन नहीं देंगे और उसी दिन मुख्य मन्त्री ने राज्यपाल को अपना त्यागपत्र दे दिया। यह अनुभव करके कि न तो कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता श्री राड़ेवाला और न ही विरोधी नेता गुरनाम सिंह राज्य को एक स्थायी सरकार दे सकते हैं, राज्यपाल श्री पावटे ने राष्ट्रपति के शासन की सिफारिश कर दी। 23 अगस्त को राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन ने विधान सभा को भंग कर दिया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

गुटबाजी की राजनीति से तंग आकर अकाली दल के दोनों गुट 7 अक्तूबर, 1968 को एक दल के रूप में मिल गये। इसका परिणाम यह हुआ कि जब 9 फरवरी, 1969 को मध्यावधि चुनाव हुए तो उसने विधान सभा में अकेले सबसे बड़े दल के रूप में कांग्रेस का स्थान ले लिया। गुरनाम सिंह को नेता चुना गया और एक छोटे हिस्सेदार के रूप में जनसंघ का समर्थन लेकर उन्होंने 17 फरवरी को नया मन्त्रिमण्डल बनाया। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट सदस्यों ने उन्हें संकटकालीन और शर्त से बंधा समर्थन देने का वचन दिया। आने वाले महीनों में गुरनाम मन्त्रिमण्डल की स्थिति और भी मज़बूत हो गयी। 10 कांग्रेस सदस्य, और 3 स्वतंत्र अकाली दल में मिल गये। विधान सभा में जनता पार्टी के अकेले प्रतिनिधि लक्ष्मन सिंह गिल की 26 अप्रैल को मृत्यु हो गई और उनके स्थान के लिए हुए चुनाव में अकाली उम्मीदवार जीता। इस प्रकार दल की शक्ति बढ़कर 57 (अध्यक्ष समेत) हो गई और उसे पूर्ण बहुमत मिल गया।

लेकिन यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही। अकाली दल के भीतर मतभेद पैदा हो गये। जनवरी 1970 में संत फतह सिंह ने चंडीगढ़ के मामले को लेकर अनशन किया। तारा सिंह के भूतपूर्व समर्थकों ने आरोप लगाया कि ऐसा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और दल में तानाशाही स्थिति प्राप्त करने के लिए किया गया है। अकाली दल की युद्धनीति को लेकर भी मतभेद पनपे। संत फतह सिंह 7 सदस्यीय जनसंघ गुट के साथ गठजोड़ जारी रखने के पक्ष में थे, जबकि गुरनाम सिंह का प्रस्ताव था कि 28 सदस्यों के श्रीमती गांधी के गुट के साथ मेल किया जाये। जब राज्य सभा के लिए द्विवर्षीय चुनावों, जिनमें कि राज्य विधान मण्डलों द्वारा सदस्य चुने जाते हैं, का मामला पेश

हुआ तो उनके संबंध टूटने की सीमा तक पहुँच गये। संत फतह सिंह ने दल के औपचारिक उम्मीदवारों के रूप में 2 उम्मीदवार चुने लेकिन दल को वरिष्ठ उपाध्यक्ष और संसदीय बोर्ड के प्रधान भूपिंदर सिंह ने स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में अपने कागज दाखिल कर दिये। कहा जाता है कि वे तारा सिंह के भूतपूर्व समर्थक थे। उन्होंने दो सरकारी उम्मीदवारों में से 1 को हरा दिया। यद्यपि गुरनाम सिंह ने संत जी के उम्मीदवार को अपना समर्थन दिया था पर उनके अनुयायियों ने आरोप लगाया कि मुख्य मन्त्री के प्रोत्साहन पर ही भूपिंदर उम्मीदवार बने थे और उन्होंने शासक कांग्रेस के सदस्यों के साथ एक गुप्त समझौता किया था कि अपनी दूसरी पसन्द के मतों की सहायता से भूपिंदर को चुन लिया जाये। अपने आरोप के समर्थन में उन्होंने बताया कि कांग्रेसी उम्मीदवार को पहली पसन्द के 37 मत मिले हैं, जबकि विधान सभा में दल के केवल 25 सदस्य हैं।

इन मतभेदों का परिणाम यह हुआ कि संत के अनुयायी वित्त मंत्री बलवंत सिंह को 25 मार्च, 1970 को जब अध्यक्ष ने अधिग्रहण विधेयक पेश करने के लिए कहा, तो उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि उनके दल का आदेश है कि वे विधेयक को पेश न करें। मुख्य मंत्री गुरनाम सिंह ने वैसा स्वयं करने की अनुमति सदन से चाही लेकिन 22 के विरुद्ध 44 मतों से प्रस्ताव गिर गया। जनसंघ, मार्क्सिस्ट और 35 अकाली सदस्यों ने विरोध में मत दिया और प्रजा सोशलिस्ट, स्वतंत्र पार्टी, स्वतंत्र और 18 अकाली सदस्यों ने पक्ष में मत दिया। कांग्रेस और कम्युनिस्ट विधायक अलग रहे। इस हार के फौरन बाद ही अकाली विधानमण्डल दल ने, जिसके 47 सदस्य उपस्थित थे, गुरनाम सिंह को नेता पद से हटा दिया और विकास मंत्री श्री प्रकाश सिंह बादल को उनके स्थान पर चुन लिया।

विधान सभा में शासक कांग्रेस के नेता मेजर हरिन्द्र सिंह ने घोषणा की कि उनका दल गुरनाम सिंह को बिना शर्त समर्थन देगा। इस पर गुरनाम सिंह ने दावा किया कि बहुमत अब भी उनके साथ है। 28 अकाली सदस्य हैं, पी० एस० पी०, स्वतंत्र और एस० एस० पी० का एक-एक सदस्य उनके समर्थन में है। उन्होंने दावा किया कि 104 के सदन में, जिसकी वास्तविक शक्ति 103 है, उन्हें 54 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है और उन्होंने राज्यपाल श्री पावटे से कहा कि वे अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन करेंगे। उन्होंने कहा कि अधिग्रहण विधेयक को स्वीकार कराने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। श्री बादल ने भी अपना दावा पेश किया और राज्यपाल के सामने 54 समर्थकों की सूची पेश की। गुरनाम सिंह ने राज्यपाल को सलाह दी कि विधान सभा को भंग कर दिया जाए और नए चुनाव कराए जायें। लेकिन राज्यपाल ने उनकी सलाह मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह उनकी सरकार की हार के बाद दी गई थी। राज्यपाल ने सतर्क रहकर इन्तजार करने का रुख अपनाया। संत फतह सिंह ने राज्यपाल के रुख को अलोकतांत्रिक और सिद्धान्तहीन बताया और आरोप लगाया कि वे केन्द्रीय सरकार के साथ मिलकर चल रहे हैं जोकि गैर-कांग्रेसी

सरकारों को उलटने के षड्‌यन्त्र में लगी है। उन्होंने नई दिल्ली को चेतावनी दी कि यदि 'उसने उपरोक्त नीति हमारे स्पष्ट बहुमत के बावजूद जारी रखी तो उसे गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। राज्यपाल ने विभिन्न दलों के नेताओं से परामर्श किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सिर्फ बादल ही राज्य में एक स्थिर सरकार बना सकते हैं। उन्होंने गुरनाम सिंह से त्यागपत्र देने के लिए कहा, जो उन्होंने 20 मार्च, 1970 को दिया। अगले दिन श्री बादल के नेतृत्व में एक त्रिसदस्यीय मन्त्रिमण्डल ने शपथ ली। कुछ दिन बाद जनसंघ ने सरकार में शामिल होने का प्रस्ताव रखा और एक मिली-जुली सरकार बना ली गई।

बाद में गुरनाम सिंह के समर्थक 18 विधेयक संत गुट में मिल गए और बादल मंत्रि-मण्डल की स्थिति और भी मजबूत हो गई।

नवम्बर 1970 के तीसरे सप्ताह में विरोधी अकाली दलों—एक संत फतह सिंह का दूसरा गुरनाम सिंह का और तीसरा ज्ञान सिंह राड़ेवाला का—ने आपस में एकता लाने के लिए प्रयास किये और संत जी एवं गुरनाम सिंह ने एक संयुक्त घोषणा की कि उनके मतभेद दूर हो गए हैं और गलतफ़हमियाँ मिट गई हैं। गुरनाम सिंह गुट मूल संगठन में मिल गया और बादल मन्त्रिमण्डल को 104 के सदन में 55 सदस्यों का पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया। 20 दिसम्बर को 2 उपचुनाव अभी होने थे।[20]

लेकिन यह एकता अधिक देर तक नहीं रही और अकाली दल 27 सदस्यीय मंत्रि-मण्डल के आकार को लेकर फिर विभाजित हो गया। दल के 11 प्रमुख विधायकों ने आकार को कम करने की माँग की। उनका कहना था कि अकाली विधान मण्डल दल के 50 प्रतिशत सदस्य मन्त्री पदों पर हैं। जब वैसा नहीं हुआ तो 16 अकाली विधायकों ने बादल सरकार को समर्थन देना बन्द कर दिया और उसके पास सिर्फ 39 समर्थक रह गये।

13 जून, 1971 को उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। यह देखकर कि एक स्थिर मन्त्रि-मण्डल का बनना दल-बदल की चालों के कारण सम्भव नहीं है, राज्यपाल डी० सी० पावटे ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की, और वैसा 15 जून को कर दिया गया। जब मार्च 1972 में राज्य में आम चुनाव हुए, तब उस पर राष्ट्रपति शासन था। शासक कांग्रेस ने 104 के सदन में 66 स्थान प्राप्त किए और उसके विधान मण्डल दल के नेता ज्ञानी जैल सिंह ने 18 मार्च को मंत्रिमण्डल बनाया। राज्य को उसके बाद ही स्थायी मन्त्रिमण्डल नसीब हुआ।

[20] 102 सदस्यों के तत्कालीन सदन में अध्यक्ष को छोड़कर दलों की स्थिति इस प्रकार थी. अकाली दल 55, शासक कांग्रेस 28, जनसंघ 7, सी० पी० आई० 4, सी० पी० एम० 2, एस० एस० पी० 2, पी० एस० पी० 1, स्वतंत्र 2 (उपाध्यक्ष समेत)।

उड़ीसा
(Orissa)

उड़ीसा में 140 के सदन में स्वतंत्र पार्टी के पास 49 स्थान, कांग्रेस के पास 30, जन कांग्रेस (चुनाव के ठीक पहले असंतुष्ट कांग्रेसियों द्वारा निर्मित) 26, पी० एस० पी० 21, सी० पी० आई० 7, एस० एस० पी० 2, सी० पी० एम० 1 और स्वतंत्र 3 थे। एक चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवार की मृत्यु के कारण मतदान स्थगित कर दिया गया था।

8 मार्च, 1967 को स्वतंत्र पार्टी के नेता आर० एन० सिंहदेव ने जन कांग्रेस के समर्थन से उड़ीसा में एक मिली-जुली सरकार बनाई। इन दोनों दलों ने गठबन्धन करके चुनाव लड़े थे और 75 स्थानों का पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया था। क्योंकि यह कुल दो दलों की मिली-जुली सरकार थी और नीतियों एवं कार्यक्रमों पर मूल रूप से समझौता था, इसलिए सरकार तब तक पद पर रही, जब तक 1969 में कांग्रेस दल में विभाजन नहीं हो गया। विभाजन के बाद अधिकतर विधायकों ने शासक कांग्रेस को समर्थन दिया लेकिन राज्यसभा के लिए 25 मार्च, 1970 को हुए द्विवर्षीय चुनावों के समय एक संकट पैदा हो गया। भूतपूर्व मुख्य मन्त्री बीजू पटनायक ने शासक कांग्रेस के सरकारी उम्मीदवार के विरुद्ध अपना निजी उम्मीदवार खड़ा कर दिया। संगठन कांग्रेस के उम्मीदवार ने इन दोनों को ही हरा दिया। इस पर श्री पटनायक और उनके अनुयायियों ने शासक कांग्रेस को छोड़ दिया और उत्कल[21] कांग्रेस के नाम से एक नया दल बना लिया।

शासक कांग्रेस ने जन कांग्रेस को सिंहदेव सरकार से अलग करने की कोशिश की और वह इसमें सफल हो गई। जनवरी 1971 के आरम्भ में जन कांग्रेस ने इस आधार पर सरकार को छोड़ दिया कि स्वतंत्र पार्टी के मन्त्री भ्रष्टाचार से संलग्न हैं। राज्यपाल एस०एस० अंसारी ने श्री सिंहदेव को आदेश दिया कि वे विधान सभा के विश्वास का प्रस्ताव स्वीकार करायें। यह समझकर कि वैसा करना सम्भव नहीं होगा, मुख्य मन्त्री ने 9 जनवरी[22] को त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल ने विधान सभा के निलम्बन और राष्ट्रपति शासन के लागू किये जाने की सिफारिश की और वह 11 जनवरी को किया गया। जब वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाने के प्रयास विफल हो गए तो 23 जनवरी, 1971 को विधान सभा को भंग कर दिया गया।

नई विधान सभा के लिए लोक सभा के चुनावों के साथ 5 मार्च, 1971 को चुनाव हुए। परिणाम इस प्रकार रहे :

[21] उत्कल उड़ीसा का दूसरा नाम है।

[22] दि टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, 10 जनवरी, 1971, पृष्ठ 1।

दल	भंग के समय	मार्च 1971
शासक कांग्रेस	7	51
संगठन कांग्रेस	2	1
उत्कल कांग्रेस	32	23
स्वतंत्र पार्टी	50	36
पी० एस० पी०	21	4
सी० पी० आई०	7	4
सी० पी० एम०	1	2
झारखंड पार्टी	—	4
जन कांग्रेस	22	1
एस० एस० पी०	2	—
जनसंघ	—	—
स्वतंत्र	4	4

एक चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवार की मृत्यु के कारण मतदान नहीं हो सका।

किसी दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला, इसलिए सरकार बनाने के लिए मोल-तोल शुरू हो गये। शासक कांग्रेस के नेता हरेकृष्ण मेहताब ने उत्कल कांग्रेस को सलाह दी कि वे उनके दल में मिल जायें। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। उत्कल कांग्रेस ने शासक कांग्रेस के सामने प्रस्ताव रखा कि दोनों एक मिली-जुली सरकार बना लें लेकिन इसे शासक कांग्रेस ने ठुकरा दिया। इस पर उत्कल कांग्रेस ने स्वतंत्र पार्टी (36) और झारखंड पार्टी (4) के साथ गठबंधन किया और तीनों ने स्वतन्त्र सदस्य विश्वनाथ दास को अपना नेता चुन लिया। श्री दास उस समय न तो विधान सभा के सदस्य थे, न ही किसी दल के। 4 में से 3 स्वतन्त्र सदस्यों ने भी उन्हें समर्थन का वचन दिया। राज्यपाल ने उन्हें मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया और वैसा 3 अप्रैल को किया गया। मार्च 1972 में राज्य विधान सभाओं के लिए आम चुनावों के समय विश्वनाथ दास सत्ता पर सुरक्षित जमे थे और उस राज्य में कोई चुनाव नहीं हुआ।

1972 की गर्मियों में उत्कल कांग्रेस ने विश्वनाथ दास मन्त्रिमण्डल को समर्थन देना बन्द कर दिया और 9 जून को उसने शासक कांग्रेस में मिल जाने का फैसला किया। ऐसा हो जाने पर केन्द्रीय सरकार में एक मन्त्री श्रीमती नन्दिनी सत्पथी ने उड़ीसा में शासक कांग्रेस की सरकार बनाई। शीघ्र ही बीजू पटनायक और श्रीमती सत्पथी के बीच विरोध शुरू हो गया और उसी वर्ष (1972) उत्कल कांग्रेस को पुनर्जीवित कर लिया गया। अपने अनुयायियों के सामने बोलते हुए श्री पटनायक ने कहा, "श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के नेतृत्व में बनी उड़ीसा सरकार को तोड़ने के लिए लड़ाई

अब शुरू हो चुकी है।" कुछ सप्ताह बाद उन्होंने एक नया दल बना लिया जिसे "प्रगति पार्टी" कहा गया और श्रीमती सत्पथी के विरोधी दलों एवं स्वतन्त्र सदस्यों के साथ मोल-तोल शुरू हो गये। श्री पटनायक उद्योग मंत्री नीलमणी राउतरे से 28 फरवरी को मन्त्रिमण्डल में इस्तीफा दिलाने में सफल हो गये। उनके साथ 25 कांग्रेस विधायक भी प्रगति पार्टी में शामिल हो गये। दल-बदलुओं का आरोप था कि पिछले 5 महीनों के दौरान मुख्य मन्त्री एक छोटे गुट के द्वारा शासन चलाती रही हैं, आन्तरिक झगड़ों को पदा करती रही हैं और जनता से बहुत दूर हट गई हैं।

इस दल-बदल के फलस्वरूप सत्पथी मन्त्रिमण्डल ने बहुमत का समर्थन खो दिया और मुख्य मन्त्री ने अपनी एक महीने पुरानी सरकार का त्यागपत्र दे दिया। साथ ही, उन्होंने राज्यपाल बी० डी० जत्ती को सलाह दी कि वे विधान सभा को भंग कर दें और राष्ट्रपति को केन्द्र का शासन लागू करने का परामर्श दें। इसके कुछ घंटों के बीच श्री पटनायक राज्यपाल से मिले और उन्होंने वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाने का दावा किया। उन्होंने श्री जत्ती से कहा कि उनके दल को 140 के सदन में 72 का समर्थन प्राप्त है और 2 सी० पी० एम० झारखंड और 2 स्वतन्त्र विधायक भी उन्हें समर्थन दे रहे हैं। श्री पटनायक को सरकार बनाने का अवसर न देकर राज्यपाल ने राष्ट्रपति को सूचित किया कि राज्य का विधान तन्त्र नष्ट हो गया है। यह रिपोर्ट प्राप्त होते ही केन्द्र सरकार ने उड़ीसा में 3 मार्च से केन्द्रीय शासन लागू कर दिया।

राज्य में फरवरी 1974 के अन्तिम सप्ताह में मध्यावधि चुनाव कराये गए। इनमें प्रत्येक दल द्वारा प्राप्त स्थिति की तालिका इस प्रकार थी।

दल का नाम	जितने स्थानों पर चुनाव लड़ा	जितने स्थान जीते
कांग्रेस	135	69
साम्यवादी दल	14	7
साम्यवादी (मार्क्सवादी)	8	3
उत्कल कांग्रेस	95	35
समाजवादी दल	17	1
फ़ारवर्ड ब्लाक	3	—
जन कांग्रेस	42	1
स्वतन्त्र पार्टी	56	21
संगठन कांग्रेस	17	—
जनसंघ	13	—
जनता कृषक पार्टी	16	—
स्वतन्त्र	306	9
जोड़	722	146

एक चुनाव क्षेत्र के निर्वाचन को अस्वीकार कर दिया गया। साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ गठजोड़ कर लिया था, अतः उसने मन्त्रिमण्डल बनाने में कांग्रेस को सहयोग देने का प्रस्ताव किया। 2 मार्च, 1974 को श्रीमती नन्दिनी सत्पथी को सर्वसम्मति से कांग्रेस विधायक दल की नेता चुन लिया गया और उन्हें 6 मार्च को मुख्य मन्त्री के पद की शपथ दिलाई गयी। साम्यवादी दल मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित नहीं हुआ, पर उसने बाहर से समर्थन देने का वचन दिया। कतिपय स्वतन्त्र सदस्य भी कांग्रेस में शामिल हो गए। इस प्रकार, श्रीमती नन्दिनी सत्पथी की सत्ता सुरक्षित हो गई।

उत्तरप्रदेश
(Uttar Pradesh)

चौथे आम चुनावों के बाद उत्तर प्रदेश की स्थिति इस बात में राजस्थान से मिलती थी कि न कांग्रेस और न ही विरोधी दलों को पूर्ण बहुमत मिल सका। 425 स्थानों में से (इनमें से 2 उपचुनाव के लिए अस्थायी रूप से खाली थे) कांग्रेस को 198 स्थान मिले और विरोधी दलों को 188 तथा 37 स्वतन्त्र सदस्य थे। विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बना लिया और एक स्वतन्त्र सदस्य रामचन्द्र विकल को अपना नेता चुन लिया। 17 स्वतन्त्र सदस्यों और कांग्रेस में आ कर मिल जाने वाले 4 अन्यों के समर्थन से कांग्रेस विधान मण्डल के एकमत से निर्वाचित नेता चन्द्रभानु गुप्ता ने 14 मार्च, 1967 को सरकार बनाई।

सी० बी० गुप्ता को एकमत से इस समझौते के बाद चुना गया था कि वे 45 वर्ष पुराने यू० पी० राज्य कांग्रेस के नेता चरण सिंह को एक महत्त्वपूर्ण विषय देंगे। लेकिन मुख्य मन्त्री ने मन्त्रिमण्डल बनाते समय जो वस्तुतः उन्हें देना चाहा, उससे वे संतुष्ट नहीं हुए। इसलिए वे और विधान सभा में उनके 16 अनुयायी विरोधी पक्ष में शामिल हो गये। उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और जन कांग्रेस नामक नया दल बना लिया। उन्होंने विधान सभा में बयान दिया कि वे पीड़ापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चुनावों में हार होने के बाद भी कांग्रेस ने कोई सबक नहीं सीखा है और "सच्चे कांग्रेसियों के पास कांग्रेस को छोड़ने और बाहर रहकर जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहा।" 4 अन्य विधायक भी उन के दल में आ मिले। 1 अप्रैल, 1967 को जब सदन की बैठक राज्यपाल के भाषण पर धन्यवाद का प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए हुई तो प्रस्ताव पर विरोधी दलों का संशोधन 198 के मुकाबले 215 मतों से स्वीकृत हो गया। इस पर सी० बी० गुप्ता ने अपने मन्त्रिमण्डल को इस्तीफा दे दिया।

संयुक्त मोर्चे ने, जिससे पहले श्री विकल को अपना नेता चुना था, अब चरण सिंह को उनके स्थान पर चुन लिया। 3 अप्रैल को उन्होंने मुख्य मन्त्री के रूप में शपथ ली। इस प्रकार, चौथे आम चुनाव के बाद उत्तर प्रदेश का पहला मन्त्रिमण्डल कठिनाई से

कुल 3 सप्ताह चला।

संयुक्त मोर्चा अथवा संयुक्त विधायक दल (ए० वी० डी०) सरकार भी सहज रूप में नहीं चल सकी और 1967 के बाद के महीनों में और 1968 के आरम्भिक महीनों में उसके अनेक असमान तत्त्वों में झगड़े पैदा हो गये। 17 जुलाई के संयुक्त मोर्चे के 5 विधायकों ने त्यागपत्र दे दिया और एक नया दल, प्रगतिशील विधान मण्डल दल, बना लिया। उन्होंने घोषणा की कि उनका उद्देश्य सरकार को उलटना नहीं है बल्कि उसे मजबूर करना है कि वह 'श्रमिक वर्ग के लिए लाभकारी प्रगतिशील नीतियाँ अपनाये।' स्वतन्त्र पार्टी ने जून 1967 के आरम्भ में इज़राइल के विरुद्ध हुए युद्ध में अरब देशों को समर्थन देने के लिए केन्द्रीय सरकार की आलोचना की। अख्तर अली खाँ (चुंगी मन्त्री) और स्वतन्त्र पार्टी के 4 अन्य विधायकों ने त्यागपत्र दे दिया। स्वतन्त्र पार्टी संयुक्त मोर्चे का एक अंग थी। इससे प्रोत्साहित होकर कांग्रेस ने चरण सिंह सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा लेकिन वह 220 के मुकाबले 200 से गिर गया।

16 अगस्त को मुख्य मन्त्री ने एस० वी० डी० के भागीदारों को लिखा कि वे त्यागपत्र देने की सोच रहे हैं क्योंकि उनमें से कुछ उनकी नीतियों की खुली आलोचना कर रहे हैं और कुछ मन्त्री तो नीति सम्बन्धी मामलों पर भी उनसे सलाह नहीं लेते। इस पर संयुक्त मोर्चा दलों ने एक संगठन समिति निर्मित की जिसने उनके नेतृत्त्व में पूरा विश्वास प्रकट किया। उन्होंने मन्त्रियों एवं विधायकों के लिए एक आचरण संहिता भी बनाई। 6 अक्तूबर को स्वतन्त्र पार्टी संयुक्त मोर्चे से निकल गई और उसने घोषणा की कि सिवाय सरकार में रहने के उनके बीच प्रयोजन की कोई एकता नहीं है। 15 अक्तूबर को 7 एस० एस०पी० और सी० पी० आई० मन्त्रियों एवं उपमंत्रियों ने छोटी जोतों पर लगान न लगाने अथवा कम कर देने की उनकी माँग के स्वीकार न किये जाने के विरोध में सरकार से त्यागपत्र दे दिया। इस मामले पर समझौता हो जाने पर उन्होंने त्यागपत्र वापिस ले लिए। 22 नवम्बर को खाद्य एवं नागरिक सम्भरण मन्त्री झारखंड राय और उप-गृह मन्त्री रुस्तम सतीन (दोनों सी० पी० आई०) ने निवारक नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत नज़रबन्द किये गये कामगारों को तत्काल छोड़ दिये जाने और 1966 में हुए हिंसात्मक आन्दोलन के दौरान राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध बने सभी मुकदमों को वापस ले लेने की उनकी माँगों के पूरा न किये जाने के विरोध में त्यागपत्र दे दिया। 5 जनवरी, 1968 को 3 एस० एस० पी० मन्त्रियों—पी० एन० सिंह, आर० एस० वर्मा तथा एम० डी० विशारद—ने भी इस्तीफ़ा दे दिया और आरोप लगाया कि सरकार एस० वी० डी० के सामान्य कार्यक्रम को लागू करने में विफल रही है। जनसंघ और एस० एस० पी० ने दिसम्बर 1967 में केन्द्रीय सरकार की भाषा-नीति के विरुद्ध छात्रों द्वारा किये गये प्रदर्शनों को दबाने के लिए पुलिस के इस्तेमाल पर चरण सिंह की तीव्र आलोचना की।

संयुक्त मोर्चे की घटक इकाइयों द्वारा उनकी सरकार और उनकी नीतियों की

आलोचनाओं को दृष्टि में रखते हुए चरण सिंह ने 17 फरवरी, 1967 को लगभग 10 महीने तक सत्ता पर रहने के बाद राज्यपाल को त्यागपत्र दे दिया। मन्त्रिमण्डल ने प्रस्ताव स्वीकार करके सिफारिश की कि यदि एस० वी० डी० एकमत से एक नया नेता चुनने में विफल रहे तो मध्यावधि चुनाव कराये जायें।

4 दिन बाद एस० वी० डी० की आम बैठक ने चरण सिंह को ही दोबारा अपना नेता एकमत से चुन लिया लेकिन उन्होंने पद को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब बी० के० डी० के एक नेता धर्म सिंह को चुना गया लेकिन उन्होंने भी इन्कार कर दिया। अन्त में, श्री विकल को चुना गया लेकिन बी० के० डी०, पी० एस० पी०, स्वतन्त्र पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी और कुछ स्वतन्त्र सदस्यों ने तत्काल इसका विरोध किया और आरोप लगाया कि यह चुनाव जनसंघ ने जल्दबाजी में करा लिया है। यह देखकर कि संयुक्त मोर्चा एक सर्वमान्य नेता नहीं चुन पा रहा है, सी० बी० गुप्ता ने राज्यपाल को लिखा कि कांग्रेस को विधान सभा में बहुमत प्राप्त है और वह एक स्थिर सरकार बना सकती है।

राज्यपाल ने राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन को रिपोर्ट भेजी कि आपसी कलह और संदेहों के कारण एस० वी० डी० का नया नेता चुनने की कोशिश बेकार हो गई है और सी० बी० गुप्ता मुझे संतुष्ट नहीं कर सके हैं कि उन्हें सुविधाजनक बहुमत प्राप्त है। इस आशा में कि राजनीतिक संबंधों के पुनर्गठन से शायद एक स्थिर सरकार बना सकें, उन्होंने सिफारिश की कि राष्ट्रपति विधान सभा को भंग न करके सिर्फ निलम्बित कर दें। ऐसा 25 फरवरी, 1968 को कर दिया गया। 13 मार्च को एस० वी०डी० ने हरिश्चन्द्र सिंह को अपना नेता चुन लिया और उन्होंने सरकार बनाने का दावा पेश किया, पर सी० बी० गुप्ता ने मुकाबले का दावा प्रस्तुत किया। राज्यपाल संतुष्ट नहीं हो सके कि दोनों में से कोई भी सरकार बना सकता है। 10 अप्रैल को उन्होंने विधान सभा को भंग करने की सिफारिश राष्ट्रपति से की। कुछ एस० वी० डी० नेता राष्ट्रपति से मिले और उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि वे राज्यपाल की सलाह को स्वीकार न करें। उन्होंने दावा किया कि एस० वी० डी० मंत्रिमण्डल बनाने की स्थिति में है लेकिन श्रीमती गांधी ने डा० हुसैन को सलाह दी कि वे विधान सभा को भंग कर दें और नये चुनावों का आदेश दे दें। राष्ट्रपति ने 15 अप्रैल को घोषणा पर हस्ताक्षर किए और राज्य को केन्द्रीय शासन के अधीन ले आया गया।

22 मई को मुख्य चुनाव आयुक्त ने घोषणा की कि नये चुनाव फरवरी 1969 को होंगे। मतदान तदनुसार हुआ और 425 स्थानों का अन्तिम परिणाम इस प्रकार रहा।

दल	1969	1967
कांग्रेस	211	199
बी० के० डी०	99	—

जनसंघ	49	98
एस० एस० पी०	33	44
स्वतन्त्र पार्टी	5	12
सी० पी० आई०	4	14
पी० एस० पी०	3	11
रिपब्लिकन पार्टी	1	9
सी० पी० एम०	1	1
किसान मज़दूर पार्टी	1	—
स्वतन्त्र एवं अन्य[23]	18	37

4 स्वतन्त्र सदस्य चुनाव के वाद कांग्रेस में शामिल हो गये। सी० वी० गुप्ता दो चुनाव क्षेत्रों से जीते और उनका एक स्थान खाली हो गया। एक सफल कांग्रेसी उम्मीदवार की मृत्यु हो गयी और उसकी जगह भी खाली हो गई। उसके विधान मंडल दल ने सी० बी गुप्ता को फिर अपना नेता चुन लिया और 26 फरवरी, 1969 को उन्होंने नई सरकार बना ली।

दो खाली स्थानों के लिए 12 मई, 1969 को उपचुनाव हुए और वे दोनों कांग्रेस ने जीत लिए। इस प्रकार उसे पूर्ण बहुमत मिल गया। अक्तूबर-नवम्बर के दौरान कांग्रेस दल दो गुटों में बँट गया और सी० बी० गुप्ता संगठन कांग्रेस के साथ रहे। उप-मुख्य मन्त्री कमलापति त्रिपाठी श्रीमती गांधी के गुट में शामिल हुए। 20 नवम्बर को उन्होंने और प्रधान मन्त्री के समर्थक सात अन्यों ने त्यागपत्र दे दिया और वे और उनके अनुयायी विरोधी पक्ष में चले गये। उन्होंने चरण सिंह से बातचीत शुरू की जिन्हें 97 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। चरण सिंह ने अगले दिन नई दिल्ली में श्रीमती इन्दिरा गांधी से बातचीत की और लखनऊ लौटने पर उन्होंने शासक कांग्रेस के साथ मिलकर मिली-जुली सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा। 9 दिसम्बर को श्री त्रिपाठी ने घोषणा की कि शासक कांग्रेस और बी० के० डी० एक लोकप्रिय वैकल्पिक सरकार बनायेंगे।

शासक कांग्रेस, बी० के० डी० और कुछ अन्य विरोधी दलों ने राज्यपाल बी० गोपाल रेड्डी से प्रार्थना की कि मुख्य मन्त्री को बहुमत प्राप्त है या नहीं, यह जाँचने के लिए विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र ही बुलायें। लेकिन श्री रेड्डी ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया कि जब कोई बहुमत खो दे तो उसे फिर से पाने के लिए उसे कुछ समय दिया जाना चाहिए।[24] अधिवेशन तिथि, जो 11 फरवरी को तय की गई थी, बदली नहीं गई।

23 दिसम्बर, 1969 को शासक कांग्रेस की प्रदेश समिति की आम बैठक ने एक

[23]चुनाव 1969 में 15 के मुकाबले इस बार 24 दलों ने लड़े।

[24]दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 16 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 7।

प्रस्ताव पास करके अपने प्रधान श्री त्रिपाठी को अधिकार दिया कि वे अल्पमत[25] गुप्ता सरकार को हटाने के लिए तथा समान विचारों के दलों को साथ लेकर एक प्रगतिशील और लोकप्रिय वैकल्पिक सरकार बनाने के लिए कदम उठायें। 3 दिन बाद उत्तर प्रदेश बी० के० डी० की कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके तथा विधान सभा बुलाने से श्री रेड्डी द्वारा इन्कार किये जाने और निर्वाचित विधान सभा एवं जनता की परवाह न करके अल्पमत गुप्ता मन्त्रिमण्डल में विश्वास रखने के रुख की निन्दा की।[26]

इस बीच श्री त्रिपाठी और चरण सिंह के मध्य दिसम्बर 1969 और जनवरी 1970 के दौरान जो बातचीत चलती रही थी, वह संकट में पड़ गयी क्योंकि चरण सिंह ने ज़िद की कि शासक कांग्रेस बी० के० डी० की मिली-जुली सरकार के नेता वे ही होने चाहिए और इस प्रकार का वचन गुप्ता मन्त्रिमण्डल के पतन से पहले सार्वजनिक रूप से घोषणा करके दे दिया जाना चाहिए। शासक कांग्रेस ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थी।

इस स्थिति का लाभ उठाकर और शासक कांग्रेस को सत्ता पर न आने देने के लिए कृतसंकल्प मुख्य मन्त्री श्री गुप्ता ने चरण सिंह से बात चलाई। 9 फरवरी को संगठन कांग्रेस के विधायकों ने उन्हें अधिकार दिया कि वे इस आयोजन के लिए जिन शर्तों को उचित समझें, उन पर किसी भी राजनीतिक दल का सहयोग प्राप्त करें और जो चाहें कदम उठाएँ। अगले दिन एक आश्चर्यजनक बात हुई। श्री गुप्ता ने राज्यपाल को अपना त्यागपत्र दे दिया और उनसे अनुरोध किया कि वे चरण सिंह को सरकार बनाने के लिए निमन्त्रित करें। एस० एस० पी० और जनसंघ, जो इस बीच सी० बी० गुप्ता के निकट आ चुके थे, ने भी राज्यपाल को आश्वासन दिया कि यदि सिंह मंत्रिमण्डल बना तो वे उसे समर्थन देंगे। श्री गुप्ता की सलाह पर राज्यपाल ने 11 फरवरी के लिए निश्चित विधान सभा अधिवेशन को रद्द कर दिया।

लेकिन बी० के० डी०, संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी० और जनसंघ के बीच प्रस्तावित गठबंधन बनने से पहले ही टूट गया क्योंकि भागीदारों द्वारा संयुक्त रूप से बनाये गए आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकार करने से उन्होंने इन्कार कर दिया। श्री सिंह ने फिर शासक कांग्रेस से नई बातचीत शुरू कर दी और उन्होंने तथा श्री त्रिपाठी ने एक संयुक्त वक्तव्य जारी करके अपव्यय, देरी और भ्रष्टाचार से मुक्त एक स्वच्छ और कुशल प्रशासन देने का वचन दिया। संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी० और जनसंघ ने गिरधारीलाल (गुप्ता मंत्रिमण्डल में लोक सेवा मंत्री) को अपने गठबंधन का नेता चुना।[27] राज्यपाल श्री रेड्डी से प्रार्थना की कि वे सरकार बनाने के लिए

[25]वही, 24 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 1.
[26]वही, 27 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 3.
[27]स्वतन्त्र पार्टी भी इस गठबंधन में शामिल हो गई।

श्री लाल को निमंत्रित करें। उनका दावा था कि उन्हें संगठन कांग्रेस के 129, जनसंघ के 46 और एस० एस० पी० के 32 समेत 236 विधायकों का समर्थन प्राप्त है। चरण सिंह भी राज्यपाल से मिले और उन्होंने उन्हें बताया कि शासक कांग्रेस के 129 और बी० के० डी० के 99 सदस्यों समेत उन्हें 235 वधायकों का समर्थन प्राप्त है।

डा० रेड्डी ने श्री सिंह को सरकार बनाने के लिए कहा और मुख्य मन्त्री के रूप में उन्होंने तथा बी० के० डी० से लिए गए 7 मंत्रियों, 3 उपमन्त्रियों ने 17 फरवरी, 1970 को शपथ ली। संगठन कांग्रेस के अध्यक्ष एस० निजलिंगप्पा तथा एस० एस० पी० एवं जनसंघ के नेताओं ने राज्यपाल आचरण की कठोर आलोचना की। चरण सिंह को दल-बदलुओं का राजा बताते हुए और यह शिकायत करते हुए कि भारत के राजनीतिज्ञों ने ईमानदारी, चरित्र की दृढ़ता और राजनीतिक नैतिकता को खो दिया है, श्री निजलिंगप्पा ने आरोप लगाया कि राज्यपाल ने नई दिल्ली के दबाव में रह कर काम किया है।[28] उन्होंने कहा जो कुछ उत्तर प्रदेश में हुआ है, उस पर हर भारतीय को अपना सिर शर्म से झुका लेना चाहिए।

21 मार्च को विरोधी दलों ने सिंह मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध एक अविश्वास प्रस्ताव पेश किया। लेकिन वह 67 के बहुमत से गिर गया। 169 ने पक्ष में और 226 सदस्यों ने विरोध में मत दिए।

लेकिन शासक कांग्रेस और बी० के० डी० के बीच गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। सरकार बनाने के कुछ दिन बाद ही चरण सिंह ने राज्य की सभी निजी चीनी मिलों का राष्ट्रीयकरण करने की अपनी इच्छा की घोषणा की थी। इसका शासक कांग्रेस के मन्त्रियों ने, जो 21 अप्रैल को सरकार में शामिल हुए थे, विरोध किया। उन्होंने 5 अगस्त को राज्यपाल द्वारा जारी किये गए उस अध्यादेश का भी विरोध किया जिसमें सुरक्षा-कारणों से एक वर्ष तक के लिए लोगों को नजरबन्द रखने का अधिकार सरकार को दिया गया था। उन्होंने छात्रसंघों की अनिवार्य सदस्यता को समाप्त करने वाले उस दूसरे अध्यादेश का भी विरोध किया जिसको लेकर पूरे राज्य में छात्रों ने जोरदार आन्दोलन शुरू कर दिया था। बी० के० डी० के शासक कांग्रेस में मिल जाने के मामले को लेकर और गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। चरण सिंह 29 जून, 1970 को श्रीमती गांधी से मिले और बाद में उन्होंने कहा कि उन्होंने बी० के० डी० और शासन कांग्रेस के एकीकरण पर विचार किया है। बी० के० डी० की राष्ट्रीय कार्यसमिति के अधिकतर सदस्यों ने एकीकरण के प्रस्ताव पर अपना विरोध प्रकट किया। यह देख कर कि शासक कांग्रेस के साथ मिली-जुली सरकार ठीक नहीं चल रही है, मुख्य मन्त्री ने इस आशा में संगठन कांग्रेस, जनसंघ, एस० एस० पी० और स्वतन्त्र पार्टी से बातचीत शुरू की कि उनका सहयोग प्राप्त किया जा सके। बात श्री त्रिपाठी और उनके उन साथियों के कानों तक पहुँची जो मन्त्रियों के रूप में सिंह

[28]वही, 18 फरवरी, 1970, पृष्ठ 1.

सरकार में शामिल हो गये थे और अब अस्थिर थे। वे बी० के० डी० की चाल पर बहुत क्षुब्ध हुए और 7 अगस्त को घोषणा की कि सरकार उस नीति से हट रही है जिसका समर्थन शासक कांग्रेस अलोकप्रियता का खतरा उठाए बिना नहीं कर सकती। चरण सिंह ने शासक कांग्रेस की निन्दा की कि वह लगातार उनको काट कर रही है और अवांछित एवं ईर्ष्यापूर्ण आलोचना कर रही है। उन्होंने शासक कांग्रेस के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया कि सरकार को ठीक तरह से चलाने के लिए दोनों दलों की एक सहयोग समिति बनाई जाये।

28 अगस्त को बी० के० डी० ने अन्तिम रूप से तय किया कि शासक कांग्रेस के साथ न मिला जाये। सितम्बर के पहले सप्ताह में संसद में बी० के० डी० के सदस्यों ने राजाओं के विशेषाधिकारों एवं प्रिवी पर्स की समाप्ति के विरुद्ध मत दिया और इस प्रकार दोनों दलों के बीच की खाई और चौड़ी हो गई। 8 सितम्बर को श्री त्रिपाठी ने श्री सिंह को लिखा कि प्रिवी पर्स के प्रश्न पर बी० के० डी० के मतदान को ध्यान में रखते हुये उनकी सरकार को समर्थन देना शासक कांग्रेस के लिए अब सम्भव नहीं रहा। उन्होंने 30 सितम्बर का अधिवेशन बुलाने का अनुरोध मुख्य मन्त्री से किया जिससे कि महत्त्वपूर्ण नीति संबंधी मामलों का फैसला सदन में किया जा सके। मंत्रि-मण्डल ने 6 अक्तूबर, 1970 को विधान सभा का अधिवेशन बुलाने का फैसला किया।

24 सितम्बर को राज्य उस समय एक अभूतपूर्व संवैधानिक संकट में पड़ गया, जब मुख्य मन्त्री ने शासक कांग्रेस के 26 मन्त्रियों में से 13 को त्यागपत्र देने को कहा। जब उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया तो मुख्य मन्त्री ने राज्यपाल से उन्हें बर्खास्त करने का अनुरोध किया। उसी दिन शासक कांग्रेस ने सरकार को समर्थन देना बंद कर दिया। श्री रेड्डी को एक पत्र लिखकर श्री त्रिपाठी ने कहा कि चरण सिंह बहुमत खो चुके हैं और राज्यपाल उनकी सलाह मानने को बाध्य नहीं है। मुख्य मन्त्री को त्यागपत्र देने के लिए कहा जाना चाहिए। उनका तर्क था कि मिली-जुली सरकार जिस आधार पर टिकी हुई थी, वही समाप्त हो चुका है।[29] 26 सितम्बर को संगठन कांग्रेस, जनसंघ, एस० एस० पी० और स्वतन्त्र पार्टी के नेताओं ने राज्यपाल को लिखा कि उन्होंने चरण सिंह को समर्थन देने का फैसला किया है और इस प्रकार अब उनका बहुमत है। उन्होंने राज्यपाल से प्रार्थना की कि वे शासक कांग्रेस के मन्त्रियों को बर्खास्त कर दें। श्री रेड्डी को लिखे एक पत्र में चरण सिंह ने पुष्टि की कि उन्हें तीन दलों का समर्थन प्राप्त है और कहा कि शासक कांग्रेस के मन्त्रियों के विभागों को तत्काल वे अपने हाथ में ले रहे हैं। दोनों पक्ष राज्यपाल का झुकाव अपनी तरफ चाहते थे लेकिन राज्यपाल की संवैधानिक शक्तियों की एकदम विपरीत व्याख्या कर रहे थे। उन्होंने जोर देकर कहा कि यदि राज्यपाल ने, जैसा वे चाहते हैं, वैसा नहीं किया तो उनका यह कृत्य संविधान के प्रतिकूल होगा। शासक

[29]वही, 25 सितम्बर, 1970, पृष्ठ 1,

कांग्रेस के नेताओं का तर्क था कि जिस मुख्य मन्त्री ने बहुमत का समर्थन खो दिया है, उसकी सलाह मानने के लिए राज्यपाल बाध्य नहीं है। क्योंकि मंत्री राज्यपाल के अनुकूल रहने तक ही पद पर रहते हैं, इसलिए अपने मन को राज्य में एक संवैधानिक संकट पैदा करने वाले चरण सिंह की ओर से हटा लेना उनके संवैधानिक अधिकारों के भीतर है। यह भी संकेत दिया गया कि यदि राज्यपाल संविधान के अनुसार चलने में विफल रहे तो राष्ट्रपति धारा 356 के अधीन सिंह मंत्रिमण्डल को बर्खास्त कर सकते हैं। इस धारा में साफ निर्धारित है कि राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट प्राप्त करके अथवा उसके बिना भी राष्ट्रपति वैसा कर सकते हैं।

दूसरी ओर, बी० के० डी० के महा मन्त्री प्रकाशवीर शास्त्री का विचार था कि शक्ति-परीक्षा का सही स्थान विधान सभा है और राज्यपाल को मुख्य मन्त्री श्री सिंह की सलाह को स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि यदि राज्यपाल ने वैसा नहीं किया तो वे देश में लोकतंत्र को खतरे में डाल देंगे। श्री निजलिंगप्पा ने कहा कि यदि राज्यपाल ने दल के दबाव में आकर कार्य किया तो वे स्वस्थ परम्पराओं को भंग करेंगे। जनसंघ के अध्यक्ष श्री वाजपेयी ने राज्यपाल से अनुरोध किया कि वे केन्द्र के दबाव का मुकाबला करें और शासक कांग्रेस के मन्त्रियों को बर्खास्त कर दें।[30]

दोनों पक्षों से ऐसे जोरदार तर्कों के समक्ष श्री रेड्डी ने इस संवैधानिक समस्या के हल के लिए एटार्नी-जनरल नीरेन दे और राज्य के ऐडवोकेट-जनरल के० एल० मिश्र की सलाह ली। श्री दे ने सिफारिश की कि चरण सिंह से त्यागपत्र देने के लिए कहा जाना चाहिए और यदि वे वैसा न करें तो उन्हें बर्खास्त कर देना चाहिए। श्री मिश्र की सलाह का इन्तज़ार न करते हुए राज्यपाल श्री रेड्डी ने 28 सितम्बर को श्री सिंह से कहा कि वे त्यागपत्र दे दें। मुख्य मंत्री ने त्यागपत्र देने के लिए उन्हें कहने की, राज्यपाल के अधिकार को चुनौती दी और उन्हें सूचित किया कि श्री मिश्र का मत उनके पक्ष में है। उन्होंने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया।

देश के कुछ विख्यात संविधान विशेषज्ञों, जैसेकि एम० सी० सीतलवाड़, एम० सी० छागला और एक भूतपूर्व केन्द्रीय सालिसिटर-जनरल एस० वी० गुप्ता, ने श्री रेड्डी द्वारा अपनायी गई स्थिति की कठोर आलोचना की। इस आलोचना की परवाह न करते हुए राज्यपाल ने 29 सितम्बर को राष्ट्रपति वी० वी० गिरि को रिपोर्ट भेजकर विधान सभा को निलम्बित करने और राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी। राष्ट्रपति उस समय सरकारी दौरे पर सोवियत संघ गये हुए थे। केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने श्री रेड्डी की सिफारिशों को स्वीकार करने के केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के फैसले पर उनके हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए एक विशेष दूत विमान से वहां भेजा। चरण सिंह ने भी श्री गिरि को तार भेजा और दावा किया कि 'राष्ट्रपति शासन का प्रस्ताव

[30]वही, 26 सितम्बर, 1970, पृष्ठ 1 और 12.

करने वाली राज्यपाल की रिपोर्ट संवैधानिक धाराओं, पहले के निर्णयों, मानित व्यवहार तथा अपरिवर्तनीय तथ्यों का स्पष्ट भंग है।' उन्होंने उनसे अपील की 'कि आप भारत लौटने तक और तथ्यों को और सच्ची स्थिति को पूरी तरह जान लेने तक हस्ताक्षर न करें।' संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी०, जनसंघ, बी० के० डी० तथा स्वतंत्र पार्टी की सहयोग समिति ने एकमत से एक प्रस्ताव पास करके श्री गिरि से अनुरोध किया कि वे राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के संघ सरकार के परामर्श की उपेक्षा कर दें। उन्होंने चेतावनी दी कि ऐसा कदम एक विस्फोटक स्थिति पैदा कर देगा।

किन्तु राष्ट्रपति ने एक अक्तूबर को कीव में आदेश पर हस्ताक्षर कर दिये और उसके वापस नई दिल्ली लाये जाने के बाद अगले दिन उसे लागू कर दिया गया। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने केन्द्र के निर्णय को सही बताया लेकिन विरोधी दलों के नेताओं ने उसकी कठोर आलोचना की। अतीत में इन्दिरा गांधी का समर्थन करने वाले डी० एम० के०, पी० एस० पी० तथा मार्क्सिस्ट कम्युनिस्टों ने भी इस कदम की निन्दा की। 8 अक्तूबर को श्री गिरी के राजधानी लौट आने के शीघ्र बाद 8 विरोधी दलों के नेताओं ने उनके सामने एक स्मृति-पत्र पेश किया जिसमें उनसे अनुरोध किया कि वे उत्तर प्रदेश के राष्ट्रपति शासन को वापस ले लें अथवा इस मामले पर विचार करने के लिए लोक सभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाएँ। श्री रेड्डी के आचरण को 'अरक्षणीय, असंवैधानिक और आरजी' बताते हुए प्रस्ताव रखा कि भविष्य में राष्ट्रपति को केन्द्र से शासक दल के साथ-साथ विरोधी दलों से भी सलाह करने के बाद धारा 356 के अधीन कार्रवाई करनी चाहिए।[31] राष्ट्रपति ने समृति-पत्र पर तत्काल ध्यानपूर्वक विचार करने का वचन दिया।

राष्ट्रपति का शासन एक वास्तविकता बन गया और उत्तर प्रदेश के राजनीतिक दलों ने एक नई सरकार बनाने के उद्देश्य से पर्याप्त समर्थन पाने के लिए जोड़-तोड़ शुरू कर दी। 1 अक्तूबर को संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी०, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी एक संयुक्त विधायक दल (एस० वी० डी०) बनाने पर राजी हो गए, जोकि एक स्थिर मंत्रिमण्डल का आधार बन सके। 4 दिन बाद बी० के० डी० भी इसमें शामिल हो गई। एस० वी० डी० ने 425 सदस्यों की विधान सभा में 242 के समर्थन का दावा किया। इसमें मंत्रिमण्डल बनाने का अपना दावा फौरन ही राज्यपाल के सामने पेश किया। इसका कारण चरण सिंह और सी० बी० गुप्ता के बीच पुरानी प्रतिद्वन्द्विता था। दूसरे एस०एस० पी० ने चरण सिंह को मुख्य मंत्री के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। श्री सिंह ने नेतृत्त्व का अपना दावा वापस लेने का प्रस्ताव इस शर्त पर रखा कि श्री गुप्ता भी वैसा ही करें। श्री गुप्ता राजी हो गए और 10 अक्तू-

[31]वही 9 अक्तूबर, 1970, पृष्ठ 1.

बर को एस० वी० डी० ने एक मत से टी० एन० सिंह को अपना नेता चुन लिया।[33] श्री टी० एन० सिंह के चुने जाने के बाद पाँच एस० वी० डी० दलों ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि उन्हें मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाया जाये।

श्री त्रिपाठी ने एस० वी० डी० के दावे को चुनौती दी। उन्होंने अक्तूबर के पहले सप्ताह में एस० एस० पी० के साथ एक समाजवादी मोर्चा बनाने की कोशिश की थी लेकिन उस दल ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। इसके बिना भी शासक कांग्रेस के नेता का दावा था कि उन्हें 221 विधायकों का समर्थन प्राप्त है। जब एस० वी० डी० ने श्री रेड्डी को लिखा कि टी० एन० सिंह को मंत्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया जाये तो श्री त्रिपाठी ने एक स्मरण-पत्र भेजकर कहा कि एस० वी० डी० विधान सभा में मानित दल नहीं है और वह विधान सभा से बाहर कार्यरत नहीं है विधान सभा में शासक कांग्रेस ही अकेला सबसे बड़ा दल है और संसदीय लोकतन्त्र के सर्व-मानित एवं संस्थापित मानदण्डों के अनुसार उसे ही मंत्रिमण्डल बनाने का हक है

राज्यपाल ने श्री त्रिपाठी के मन्तव्य को अस्वीकार कर दिया और राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी कि टी० एन० सिंह का बहुमत है और उन्हें मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाया जाना चाहिए। श्री सिंह को निमंत्रित किया गया। 17 अक्तूबर, 1970 को उन्होंने मुख्य मंत्री पद की शपथ ली और अगले दिन 15 दिन पुराना राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया।

दो मंत्रियों—संगठन कांग्रेस के गिरधारी लाल और बी० के० डी० के वीरेन्द्र वर्मा—ने भी मुख्य मन्त्री के साथ-साथ पद एवं गोपनीयता की शपथ ली थी लेकिन पूरा मंत्रि मण्डल बनने में देर लग गई क्योंकि एस० वी० डी० दलों के बीच मंत्रित्व के लिए एक पागल प्रतियोगिता शुरू हो गई। काफी संघर्ष और खींचतान के बाद 2 मंत्रियों ने 4 नवम्बर को शपथ ली। उसके बाद 45 ने 11 नवम्बर, 2 ने 13 नवम्बर और 1 ने 18 नवम्बर को शपथ ली। इस प्रकार, कुल संख्या 53 तक पहुँच गई। यह आकार केन्द्र में अथवा किसी राज्य में भारत भर में पहले बने किसी भी मंत्रिमण्डल से बड़ा था।

टी० एन० सिंह मंत्रि मण्डल बनाते समय राज्य सभा के सदस्य नहीं थे और पद पर रहने के लिए उन्होंने 5 जनवरी, 1971 को मनिराम चुनाव क्षेत्र से एक उपचुनाव लड़ा। इसमें शासक कांग्रेस के उम्मीदवार से वे 17,137 के मुकाबले 33,230 मतों से हार गये। अपनी हार के बाद उन्होंने मुख्य मन्त्री पद से त्यागपत्र देना चाहा लेकिन बी० के० डी० के सिवाय सभी एस० वी० डी० दलों ने 27 जनवरी को तय किया कि उन्हें मार्च के पहले सप्ताह में होने वाले लोक सभा के मध्यावधि चुनावों तक पद पर

[32]श्री टी० एन० सिंह 1964-66 में स्वर्गीय शास्त्री जी की सरकार में उद्योग एवं संभरण मंत्रालय में केन्द्रीय राज्य मंत्री तथा 1966-67 में श्रीमती गांधी के मंत्रालय में लौह और इस्पात के मन्त्री रहे थे।

बने रहना चाहिए। 10 फरवरी को बी० के० डी० नेता वीरेन्द्र वर्मा ने अन्य सरकारी दलों से कहा कि यदि मुख्य मंत्री ने त्यागपत्र नहीं दिया तो उनका दल समर्थन देना बंद कर सकता है। पर समझौता हो गया और बी० के० डी० इस बात पर राज़ी हो गया कि लोक सभा के चुनावों के बाद तक के लिए यथास्थिति रखी जाये और उसके बाद स्थिति पर नये सिरे से विचार किया जाये।

लोक सभा के चुनाव में शासक कांग्रेस को भारी विजय प्राप्त हुई। उसने 85 में से 73 स्थान जीत लिए। इसके बाद तो टी० एन० सिंह के समर्थक 5 दलों में से विधायकों ने बड़ी संख्या में दल बदले और विधान सभा में शासक कांग्रेस की संख्या 16 मार्च, 1971 को 153 से बढ़कर 27 मार्च को 212 हो गई। 30 मार्च को राज्यपाल के भाषण पर उन्हें धन्यवाद के सरकारी प्रस्ताव पर पेश किया गया एक विरोधी पक्ष का संशोधन 184 के मुकाबले 229 मतों से स्वीकृत हो गया। 4 अप्रैल, 1971 को 7 व्यक्तियों के एक छोटे व ठोस शासक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने श्री त्रिपाठी के नेतृत्व में शपथ ली। जब राज्य विधान सभाओं के लिए पाँचवें आम चुनाव देश में हुए तब यही सरकार पद पर थी। उत्तर प्रदेश में कोई चुनाव नहीं हुआ क्योंकि फरवरी 1969 में निर्मित विधान सभा को संविधान के अनुसार 1974 तक चलना था।

1973 की गर्मियों के आरम्भ में प्रान्तीय सशस्त्र कान्स्टेबुलरी के एक वर्ग ने अपनी सेवा संबंधी स्थितियों से असंतुष्ट होकर लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों के एक वर्ग के साथ मिलकर विश्वविद्यालय के कुछ भवनों को जला डाला। जब पी० ए० सी० के लोगों को हथियार डालने के आदेश दिये गए तो उन्होंने उनका उल्लंघन किया और हिंसात्मक रुख ग्रहण कर लिया। राज्य सरकार ने व्यवस्था कायम करने और विद्रोहियों को दबाने के लिए सेना से सहायता ली। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और मंत्रिमण्डल के उनके साथियों ने अनुभव किया कि राज्य का प्रशासन गम्भीर स्थिति का हल निकालने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। इस शंका से कि कहीं उत्तर प्रदेश के कुछ अन्य नगरों में भी ऐसी ही स्थितियाँ पैदा न हो जायें और राज्य की स्थिरता खतरे में न पड़ जाये, संघीय अधिकारियों ने मुख्य मंत्री श्री त्रिपाठी को सलाह दी कि वे पद का त्याग कर दें और प्रशासन केन्द्र के हाथों में सौंप दें। राज्य में आम चुनाव 1974 के आरम्भ में होने थे और कांग्रेस की उच्च कमान यह नहीं चाहती थी कि दल की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। भारत की आन्तरिक राजनीति की दृष्टि से उत्तर प्रदेश एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्य है और कांग्रेस दल के यहाँ ह्रास का अर्थ दूसरे राज्यों में गम्भीर परिणामों का खतरा उठना था, इसलिए राष्ट्रपति शासन लागू करने का फैसला किया गया। विधायकों के बहुमत का समर्थन रहते हुए भी श्री त्रिपाठी ने 12 जून, 1973 को अपने मन्त्रिमण्डल का इस्तीफा दे दिया और राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने की सिफारिश की। राज्यपाल ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट की कि त्रिपाठी मंत्रिमण्डल संविधान की धाराओं के अनुसार राज्य का प्रशासन चलाने में असमर्थ है और कोई अन्य राजनीतिक दल एक समर्थ मंत्रिमण्डल बनाने की स्थिति में नहीं है। केन्द्र

ने तत्काल फैसला लिया और 13 जून को राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

संगठन कांग्रेस के नेता चन्द्रभानु गुप्त ने राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, और गवर्नर पर आरोप लगाये कि राष्ट्रपति शासन "नीचतापूर्ण एवं अप्रजातन्त्रीय" ढंग से लाया गया है। उन्होंने कहा कि यह बड़ी गम्भीर बात है कि राष्ट्रपति ने बिना सोचे-विचारे अपना शासन लागू कर दिया है। उन्होंने आरोप लगाया कि प्रधान मन्त्री अपना निजी प्रभाव बढ़ाने के लिए बे-सिरपैर की बातें कर रही हैं, और यदि उत्तर प्रदेश के दुर्भाग्य के लिए—वरन् सारे संसार के दुर्भाग्य के लिए—यदि कोई एक व्यक्ति उत्तरदायी है तो वह श्रीमती इन्दिरा गांधी है। गवर्नर के लिए श्री गुप्ता ने कहा कि यह "शर्म की बात" है कि विधान सभा में उनका घोषित बहुमत होते हुए भी उन्होंने त्रिपाठी के पद त्याग के निर्णय को स्थिर किया और राष्ट्रपति शासन में जो संविधान तंत्र टूटने की स्थिति निहित होती है, उसे टालने के अन्य क्रियात्मक उपायों पर विचार नहीं किया।[33]

27 अक्तूबर को त्रिपाठी ने गवर्नर अकबर अली खाँ को लिखा कि राष्ट्रपति-शासन के अन्तिम चार महीनों में नियम-व्यवस्था की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है, अतः अब समय आ गया कि जनता के हित में राष्ट्रपति शासन समाप्त करके लोकप्रिय सरकार स्थापित की जाए। इस सलाह का अधिक ठोस कारण यह प्रतीत होता था कि राज्य में 1974 में आम चुनाव होने थे और शायद कांग्रेस, जनता का निर्णय अपने पक्ष में प्राप्त करने के लिए अपनी सरकारी स्थिति का लाभ उठाना चाहती थी। 6 नवम्बर, 1973 को बहुगुणा के नेतृत्व में एक 35 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलायी गई और 148 दिन पुराना राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया। गवर्नर ने मंत्रि-मण्डल के पद ग्रहण के बाद भी विधान सभा का अधिवेशन नहीं बुलाया। विपक्षी दलों ने उन पर संविधान की अवहेलना करने का आरोप लगाया। उन्होंने गवर्नर का ध्यान संविधान की धारा 174 की ओर आकर्षित किया जिसमें यह निर्दिष्ट है कि एक अधिवेशन में विधान सभा की अन्तिम बैठक और नए अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच छः महीने नहीं बीतने चाहिए। उनके अनुसार विधान सभा की अन्तिम बैठक 15 मई को हुई थी, अतः उसे 15 मई को बुलाया जाना चाहिए था। किन्तु केन्द्र सरकार ने दलील की कि जितने समय के लिए विधान सभा निलम्बित रही, उसे छः मास की अवधि की गणना में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। कांग्रेस एवं विपक्षी दल चुनाव जीतने के लिए अपने-अपने जोड़-तोड़ करने लगे।

विधान सभा के 425 स्थानों के लिए 24 से 26 फरवरी को आम चुनाव हुए और विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार रही :

[33]**दि हिन्दुस्तान टाइम्स** 15 जून, 1973, पृष्ठ 5.

दल का नाम	जितने स्थानों के लिए चुनाव लड़ा	जितने स्थान जीते
कांग्रेस	403	215
संगठन कांग्रेस	388	10
भारतीय क्रांति दल	396	106
समाजवादी दल	226	5
साम्यवादी दल	40	16
साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)	36	2
मुस्लिम लीग	51	1
स्वतंत्र	211	1
एल० टी० एस०	63	—
अन्य	308	2
स्वतंत्र	116	5

कांग्रेस को शुद्ध बहुमत प्राप्त हुआ और साम्यवादी दल ने बाहर रह कर रचनात्मक समर्थन का वचन दिया। बहुगुणा को पुन: कांग्रेस विधायक दल का नेता चुन लिया गया और उन्हें 5 मार्च, 1974 को मुख्य मन्त्री पद की शपथ दिलाई गई।

बिहार
(Bihar)

बिहार में कांग्रेस ने 318 स्थानों में से 128 स्थान जीते थे और उसने सरकार बनाने से इन्कार कर दिया था। 5 मार्च, 1967 को महामाया प्रसाद सिन्हा ने गैर-कांग्रेसी दलों—जनसंघ, जन क्रांति दल (जे० के० डी०), एस० एस० पी०, पी० एस० पी० और सी० पी० आई०—को लेकर एक मिली-जुली सरकार बनाई। कुछ महीनों बाद 25 अगस्त को एक एस० एस० पी० मन्त्री बी० पी० मण्डल ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया और शोषित दल नाम से संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया, जो 150 के मुकाबले 163 मतों से स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता महेश प्रसाद सिन्हा को वैकल्पिक सरकार बनाने के लिए निमन्त्रित किया गया लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया और घोषणा की कि उनका दल श्री मन्डल द्वारा निर्मित सरकार का समर्थन करेगा। इस पर 1 फरवरी, 1968 को श्री मण्डल ने मुख्य मन्त्री पद की शपथ ली और उन्होंने एक नई सरकार बनाई। इस प्रकार, संयुक्त मोर्चा सरकार एक वर्ष भी नहीं चली। कुछ सप्ताह बाद एक भूतपूर्व मन्त्री भोला पासवान शास्त्री के नेतृत्व में 15 कांग्रेसी विधायकों ने श्री मण्डल के मन्त्रिमण्डल को समर्थन देना बन्द कर दिया। उन्होंने आरोप लगाया कि

शोषित दल का 'न कोई संविधान है, न सिद्धान्तवाद है, न कोई कार्यक्रम है और न कोई आचार संहिता है' और कांग्रेस से गठबन्धन में उसने केवल 'तुच्छ चालों और तात्कालिक लाभों' का ही विचार किया है और ऐसे कामों की सार्वजनिक मन पर क्या छाप पड़ती है, 'इसका मूल्यांकन करने में वह विफल रहा है।' इन विधायकों के दल-बदल से प्रोत्साहित होकर उस समय के विरोधी पक्ष संयुक्त मोर्चे ने मण्डल सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा, जो 18 मार्च, 1968 को 148 के विरुद्ध 165 मतों से स्वीकृत हुआ। श्री मण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। आम चुनावों के बाद 13 महीनों में बिहार में यह दूसरी सरकार का पतन हुआ। यह दूसरी सरकार कुल 47 दिन चली।

भोला पासवान शास्त्री ने विनोदानन्द झा (1961 से 1963 तक मुख्य मन्त्री) के समर्थन से एक नया दल लोकतांत्रिक कांग्रेस दल (एल० टी० सी० डी०) बना लिया और संयुक्त मोर्चे ने उन्हें अपना नेता चुन लिया। 22 मार्च को उन्होंने 3 सदस्यों का मन्त्रिमण्डल बनाया। जनसंघ और वामपंथी दलों ने कृषि नीतियों पर शास्त्री सरकार से एक समझौता किया और उनके कुछ नेता 1 मई, 1968 को मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए। उसी दिन कामाक्षा नारायण सिंह (रामगढ़ के राजा) के नेतृत्व में बी०के०डी० के 20 विधायकों में से 18 ने दल से त्यागपत्र दे दिया क्योंकि दल द्वारा मन्त्रिमण्डल में भाग न लिए जाने से वे असंतुष्ट थे। उन्होंने जनता पार्टी को पुनर्जीवित करने का फैसला किया। राजा को फौरन ही मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया और वे लोक सेवा मन्त्री बन गये। उनके भाई को भी वन विभाग का मन्त्री बना दिया गया। राजा उप-मुख्य मन्त्री बनना चाहते थे और इस प्रकार मुख्य मन्त्री श्री शास्त्री के साथ टक्कर में आए जो वैसा करने के लिए तैयार नहीं थे। राजा ने दल बदलने और सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखने की योजना बनानी शुरू की। इससे डरकर मुख्य मन्त्री ने राज्यपाल को लिखा कि वर्तमान स्थिति में किसी विशेष राजनीतिक दल को विधान सभा में साफ बहुमत प्राप्त नहीं है और रामगढ़ के राजा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ शर्तें मानने के लिए उन्हें दबा रहे हैं और राजा के रहते सरकार चलाना असम्भव है। उन्होंने बताया कि वह त्यागपत्र देने के लिए तैयार हैं।

श्री शास्त्री का पत्र मिलने पर राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता महेश प्रसाद सिन्हा को तत्काल मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया जिससे कि 30 जून के बाद के खर्चों को विधान सभा बिना देर किये स्वीकार कर सके। श्री सिन्हा ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया क्योंकि कांग्रेस उच्च कमान बिहार में कोई ऐसा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने के पक्ष में नहीं थी, जो रामगढ़ के राजा के समर्थन पर निर्भर करें। एक स्थिर मन्त्रिमण्डल बनना कठिन देखकर राज्यपाल श्री कानूनगो ने 27 जून को राष्ट्रपति से सिफारिश की कि राज्य सभा को भंग कर दिया जाये और केन्द्रीय शासन की घोषणा कर दी जाए। वैसा 29 जून, 1968 को कर दिया गया।

9 फरवरी, 1969 को मध्यावधि चुनाव हुए और 318 स्थानों में 317 (उम्मीदवार की मृत्यु के कारण एक चुनाव क्षेत्र में मतदान नहीं हो सका) के परिणाम इस प्रकार रहे :

दल	1969	1967
कांग्रेस	118	128
एस० एस० पी०	52	67
जनसंघ	34	26
सी० पी० आई०	25	24
पी० एस० पी०	17	18
जनता पार्टी	14	—
हुल झारखण्ड	10	—
लोकतांत्रिक कांग्रेस	9	—
बी० के० डी०	6	24
शोषित दल	6	—
स्वतंत्र पार्टी	3	4
सी० पी० एम०	3	4
फारवर्ड ब्लॉक	1	—
स्वतंत्र	19	23

जैसाकि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, कोई एक दल साफ बहुमत नहीं प्राप्त कर सका। जनसंघ और सी० पी०आई० के मूलभूत मतभेदों के कारण गैर-कांग्रेसी सरकार बनना लगभग असम्भव हो गया और एक मिली-जुली सरकार बनाना अनिवार्य हो गया। कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता हरिहर सिंह ने 162 विधायकों के समर्थन का दावा किया। इनमें बी० के० डी०, शोषित दल, हुल झारखण्ड, जनता पार्टी और स्वतंत्र पार्टी के सदस्य तथा 6 स्वतंत्र सदस्य शामिल थे। राज्यपाल ने उन्हें मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया और उन्होंने 26 फरवरी को मुख्य मंत्री पद की शपथ ली। (यह 27 फरवरी, 1967 को घोषित उस कांग्रेसी नीति के विपरीत था जिसके अनुसार कांग्रेस मिली-जुली सरकारों में हिस्सेदार नहीं बनेगी।)

सरकारी दल और कांग्रेस के भीतर के विरोधी गुट मन्त्रीपद और विषयों के वितरण के लिए झगड़ने लगे, फलतः मुख्य मन्त्री ने उन्हें बांटने से इन्कार कर दिया और एक महीने से अधिक तक मन्त्रिमण्डल के 33 सदस्यों में से 21 बिना किसी विभाग के रहे। मद्रास के हिन्दू ने 13 जून को लिखा, "कांग्रेस विधान मण्डल दल की बैठकें नियमित युद्ध-क्षेत्रों में बदल गईं। प्रशासन रुक गया और राज्य वित्तीय दिवालियेपन के कीचड़ में गहरे से गहरा धँसता जा रहा है। राज्य की कठिन समस्याओं की ओर ध्यान देने का समय कठिनाई से ही किसी सरकार के पास है क्योंकि वह इसी समस्या

में उलझी है कि वह पद पर कैसे बनी रह सकती है।[34]

इस शक्ति-संघर्ष का फल यह हुआ कि दो सरकारी दलों (शोषित दल और हुल झारखंड) ने 20 जून को बजट पर विरोधी पक्ष के साथ मत दिया और सरकार 143 के विरुद्ध 146 मतों से हार गई। उसी दिन हरिहर सिंह ने अपना इस्तीफा राज्यपाल को दे दिया। 22 जून को लोकतांत्रिक कांग्रेस के नेता भोला पासवान शास्त्री ने मुख्य मन्त्री पद की शपथ ली। बी० के० डी० और झारखंड पार्टी के नेता शास्त्री सरकार में शामिल हो गए, पर एस० एस० पी०, पी० एस० पी०, जनसंघ और सी० पी० आई० ने बाहर से समर्थन देने का वचन दिया। 30 जून को मुख्य मन्त्री ने कांग्रेस से दल-बदल कर आने वाले दो मुसलमान विधायकों को मन्त्रिमण्डल में ले लिया। जनसंघ गुट ने इसे नापसन्द किया और सरकार को समर्थन देना बंद कर दिया। श्री शास्त्री ने बहुमत खो दिया और त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने आरोप लगाया कि जनसंघ लगभग तानाशाही ढंग से चल रहा है और ईसाइयों एवं मुसलमानों के सरकार में लिए जाने का विरोध कर रहा है।

एक वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल का बनाया जाना उचित नहीं लगा और राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी। ऐसा 4 जुलाई, 1969 को किया गया। इस आशा में कि राज्य की राजनीतिक शक्तियों के बीच फिर से गठजोड़ होने पर शायद एक स्थिर सरकार बन सके और दोबारा मध्यावधि चुनाव न कराने पड़ें, विधान सभा को भंग न करके सिर्फ निलम्बित किया गया।

अक्तूबर-नवम्बर 1969 में कांग्रेस का विभाजन होने पर बिहार कांग्रेस विधान मण्डल दल में प्रधान मन्त्री के गुट ने हरिहर सिंह को नेता मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि वे निजलिंगप्पा और सिंडीकेट के निकट सरक गए थे और उसने दारोगा प्रसाद राय को अपना नेता चुना। श्री राय ने 71 कांग्रेसी विधायकों के समर्थन का दावा किया और राज्यपाल से कहा कि वे उन्हें एक मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर दें। एक 35 सूत्रीय सर्वमान्य न्यूनतम कार्यक्रम पर सी० पी० आई०, पी० एस० पी०, बी० के० डी०, शोषित दल और झारखंड पार्टी के साथ समझौता करके श्री राय ने राज्यपाल को 316 विधायकों में से 173 की सूची दी, जिन्होंने उन्हें समर्थन देने का वचन दिया था। चार दलों का संयुक्त विधायक दल (संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी०, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी) एक सर्वमान्य नेता चुनने में विफल रहा, इसलिए राज्यपाल ने मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए श्री राय को निमंत्रित किया और 16 फरवरी, 1970 को 3 व्यक्तियों के एक मिले-जुले मन्त्रिमण्डल ने शपथ ली। इसी दिन 7 महीने पुराना राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया।[35]

[34]विवरण के लिए देखिए दि हिन्दू, जून 13, 1969, पृष्ठ 3,

[35]गवर्नर की कारवाई की सर्व विधायक दलीय नेताओं ने कटु आलोचना की। देखो **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 17 फरवरी, 1970, पृष्ठ 1

यह सरकार भी बनने के दिन से ही संकट में पड़ गई। 26 मई, 1970 को लोकतांत्रिक कांग्रेस का गुट विभाजित हो गया। इसके 5 सदस्यों ने सरकार का समर्थन करते रहना तय किया, जबकि अन्य 4 भोला पासवान शास्त्री के नेतृत्व में एक स्वतंत्र गुट के रूप में विरोधी पक्ष में मिल गये। 24 जून को मिली-जुली सरकार का एक बड़ा हिस्सेदार पी० एस० पी० भी बँट गया और उसके 17 सदस्यों में से 7 ने एक अलग गुट बना लिया और घोषणा की कि यदि सरकार दल की नीतियों से हटी तो वे उसके विरुद्ध मत देंगे। मन्त्रिमण्डल के एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग बी० के० डी० के प्रतिनिधि ने चुनौती दी कि यदि स्वास्थ्य विषय उससे ले लिया गया तो दल मिली-जुली सरकार को त्याग देगा। झारखंड दल भी मन्त्रिमंडल में उसके प्रतिनिधियों को दिये गए विषयों को लेकर उतना ही नाराज़ था। उसने चेतावनी दी कि यदि छोटा नागपुर और सन्थाल परगना के जन-जाति क्षेत्रों के विकास के लिए एक स्वायत और साँविधिक बोर्ड तत्काल न बनाया गया तो वे श्री राय को अपना समर्थन देना बन्द कर देंगे।

मुख्य मन्त्री के दुर्भाग्य में और वृद्धि करते हुए शासक कांग्रेस के विधायकों के बीच गम्भीर झगड़े पैदा हो गये। 10 अक्तूबर, 1970 को उनके गुट ने श्री राय के स्थान पर नया नेता लाने के लिए आन्दोलन शुरू कर दिया। 11 दिन बाद मिली-जुली सरकार के 4 छोटे हिस्सेदारों ने भी माँग की कि एक पखवाड़े के भीतर श्री राय को मिली-जुली सरकार के हिस्सेदारों तथा स्वयं अपने विधान मण्डल दल का समर्थन प्राप्त करना चाहिए।[36]

इन घटनाओं से प्रोत्साहित होकर चार विरोधी दलों—संगठन कांग्रेस, एस० एस० पी०, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी—ने राय सरकार को उलटने का फैसला किया। 18 दिसम्बर को उन्होंने विधान सभा में एक अविश्वास प्रस्ताव पेश किया, जो 146 के मुकाबले 164 मतों से स्वीकार कर लिया गया। चार शासक कांग्रेसी विधायकों ने प्रस्ताव के पक्ष में मत दिये। श्री दारोगा राय ने अपने मन्त्रिमंडल का इस्तीफा पेश कर दिया और इस प्रकार चौथे आम चुनाव के बाद सातवाँ और मध्यावधि चुनावों के बाद तीसरा मन्त्रिमंडल हटा दिया गया।

एस० एस० पी० के प्रधान कर्पूरी ठाकुर ने, जिन्हें एस० बी० डी० के चार दलों का नेता चुन लिया गया था, दावा किया कि वे वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में हैं क्योंकि 171 विधायक उनके साथ हैं। भोला पासवान शास्त्री ने विरोधी दावा किया कि उनके साथ 167 विधायक हैं। राज्यपाल ने श्री ठाकुर को सरकार बनाने के लिए निमंत्रित किया और 22 दिसम्बर, 1970 को सरकार बनी। जब मन्त्रिमंडल की रचना पूरी हुई तो उसका आकार 52 तक पहुँच गया। किसी राज्य में इतने अधिक मन्त्री नहीं थे। फिर भी जिन लोगों को स्थान नहीं मिला, वे श्री ठाकुर की आलो-

[36]विवरण के लिए देखो दि हिन्दू 22 अक्तूबर, 1970, पृष्ठ 1.

चना करने लगे और उन्होंने सरकार को समर्थन देना बन्द कर दिया। शासक कांग्रेस सी० पी० आई०, पी० एस० पी०, बी० के० डी०, झारखण्ड पार्टी और हुल झारखण्ड पार्टी ने एक प्रकार का गठबन्धन, प्रगतिशील विधान मण्डल मोर्चा, बना लिया और सरकार को उलटने के लिए अविश्वास का प्रस्ताव लाने की बातचीत करने लगे। लेकिन ऐसा होने से पहले ही 1 जून, 1971 को श्री ठाकुर ने त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल को लिखे अपने त्यागपत्र में उन्होंने आरोप लगाया कि शासक कांग्रेस दल-बदल कराने के लिए भारी प्रयास कर रही है, और सिफारिश की कि विधान सभा को भंग कर दिया जाये और नये चुनाव कराये जायें। लेकिन राज्यपाल डी० के० बरुआ ने प्रगतिशील विधान मण्डल के मोर्चे के नेता भोला पासवान शास्त्री को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया। उन्होंने 2 जून, 1971 को तीसरी बार मुक्त मन्त्रीपद के लिए शपथ ली लेकिन मोर्चे के साथ फिर झगड़ पड़े और 27 दिसम्बर, 1971 को श्री शास्त्री ने अपने 216 दिन पुराने मन्त्रिमंडल का इस्तीफ़ा पेश कर दिया। दो दिन बाद विधान सभा को भंग कर दिया गया और राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने संविधान की धारा 356 के अधीन राज्य का प्रशासन अपने हाथ में लेने की घोषणा कर दी।

मार्च 1972 में राज्य में आम चुनाव हुए और कांग्रेस दल ने 318 में से 167 स्थान जीत कर स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। उसके विधायक दल ने केदार पाण्डे को अपना नेता चुना और उन्हें 19 मार्च को मुख्य मन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। राष्ट्रपति शासन उसी दिन समाप्त हो गया। कुछ महीने बाद उन्हें 105 विधान सभा सदस्यों और 23 विधान परिषद सदस्यों की माँग पर त्यागपत्र देना पड़ा। ये सभी सदस्य रेल, मन्त्री ललितनारायण मिश्र के गुट के थे। श्रीमती गांधी ने उनके स्थान पर श्री अब्दुल ग़फ़्फ़ार को नियुक्त किया। इस प्रकार, बिहार को भी एक स्थायी मन्त्रिमंडल प्राप्त हो ही गया। ग़फ़्फ़ूर सरकार 13 दिसम्बर, 1973 को बिहार बिक्री कर (संशोधन) विधेयक पर मतदान में 68 के विरुद्ध 53 मतों से हार गई, पर मुख्य मन्त्री ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि दो ही दिन पूर्व उनकी सरकार एक अविश्वास प्रस्ताव से सफलतापूर्वक बच चुकी है और इस मतदान से उन्हें थोड़ी परेशानी के अतिरिक्त कोई गम्भीर चिन्ता की बात नहीं है।

मध्य प्रदेश
(Madhya Pradesh)

मध्य प्रदेश को भी मिली-जुली सरकार की राजनीति का कुछ स्वाद लेना पड़ा। चौथे आम चुनावों में यहाँ कांग्रेस दल ने कुल 296 में से 167 स्थान प्राप्त किये थे।[37]

[37] अन्य दलों की स्थिति इस प्रकार थी : जनसंघ 18, स्वतंत्र पार्टी 7, सी० पी० आई० 1, एस० एस० पी० 10, पी० एस० पी० 9, अन्य 2 और स्वतंत्र 22।

वाद में 8 विरोधी पक्ष के विधायक दल वदल कर इसमें आ मिले और इसकी शक्ति 175 हो गई।

डी० पी० मिश्र को एकमत से कांग्रेस विधान मण्डल दल का नेता चुन लिया गया और उन्हें 7 मार्च को मुख्य मन्त्री नियुक्त किया गया। विरोधी दलों ने एक प्रकार का संयुक्त मोर्चा वना लिया जिससे कि जब भी सम्भव हो, कांग्रेस सरकार को उलटा जा सके। श्री मिश्र के 'तानाशाही शासन, जातिवाद, अकुशलता और भ्रष्टाचार' से तंग आकर 30 से अधिक कांग्रेसी विधायक दल वदल कर विरोधी संयुक्त मोर्चे में जा मिले और जब 19 जुलाई, 1967 को विधान सभा वजट पर विचार करने बैठी तो वे दूसरे पक्ष में जा बैठे। उसी दिन मुख्य मन्त्री ने प्रैस सम्मेलन में कहा कि राज्यपाल को उनका परामर्श है कि वे विधान सभा को भंग कर दें और मध्यावधि चुनावों का आदेश दे दें। ऐसा न हो जाये, इसलिए विरोधी संयुक्त मोर्चे का एक प्रतिनिधि मण्डल राष्ट्रपति डा० ज़ाकिर हुसैन से जा कर मिला और उसने उन्हें एक स्मरण-पत्र दिया जिसमें कहा गया कि विधान सभा में मोर्चे का वहुमत है और इसलिए उसे सरकार वनाने के लिए तत्काल बुलाया जाना चाहिए। 21 जुलाई को शिक्षा सम्वन्धी अनुमान को लेकर 137 के मुकावले 153 मतों से मिश्र सरकार पराजित हो गई। मुख्य मन्त्री ने उसी दिन मन्त्रिमण्डल का इस्तीफा दे दिना।[38]

राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने संयुक्त मोर्चे के नेता गोविन्दनारायण सिंह को नया मन्त्रिमण्डल वनाने के लिए निमंत्रित किया और 30 जुलाई को उन्हें मुख्य मन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। मन्त्रिमण्डल संयुक्त मोर्चे के सभी 5 अंगों जनसंघ, एस० एस० पी०, पी० एस० पी०, वी० के० डी०, तथा क्रान्तिकारी दल (ग्वालियर की विधवा महारानी राजमाता विजया राजे सिन्धिया का गुट) तथा कांग्रेसी दल-वदलुओं के गुट से लेकर वनाया गया।

28 अक्तूबर, 1967 को श्री मिश्र ने कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेतृत्व से त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर श्यामाचरण शुक्ल को चुना गया। उन्होंने शासक संयुक्त मोर्चे में फूट पैदा करने और एक अल्पमत सरकार स्थापित करने की नीति लागू करने का प्रयास किया। कुछ पी० एस० पी० विधायकों को साथ लेकर उन्होंने सिंह सरकार के विरुद्ध एक अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया लेकिन 30 मार्च, 1968 को 125 के मुकावले 163 मतों से गिर गया। आगामी महीनों में संयुक्त मोर्चे के हिस्सेदारों में मतभेद पैदा हो गये। सरकार के 2 एस० एस० पी० मन्त्रियों ने लगान समाप्त करने में विफल होने के विरुद्ध 22 अप्रैल को त्यागपत्र दे दिया। 4 दिन वाद जनसंघ के 7 मन्त्रियों

[38]पत्रों ने समाचार दिया कि जब मत विभाजन की घंटी वजी तो कुछ मन्त्री कांग्रेसी दल-वदलुओं को पक्ष में खींचने की कोशिश करने लगे। एक झगड़ा शुरू हो गया जिसमें घूँसे भी चले। दूसरी ओर कांग्रेसी विधायकों ने आरोप लगाया कि विपक्ष ने उनके दो सदस्यों को विपक्षी लावी की ओर खींचा।

और उप-मन्त्रियों ने कच्छ के रन पर पाकिस्तान के साथ भारत के झगड़े में दिये गये फैसले के विरुद्ध किये जाने वाले आन्दोलन में हिस्सा लेने के लिए त्यागपत्र दे दिया। एस० एस० पी० के केन्द्रीय नेताओं ने 11 जून को घोषणा की कि यदि लगान समाप्त करने सम्बन्धी प्रस्तावित अध्यादेश को लागू कर दिया जाये तो उनके दल के दो मंत्री त्यागपत्र वापस ले लेंगे। 1 जुलाई को जनसंघ के 7 मन्त्री, गोविन्दनारायण की सरकार में, फिर से शामिल हो गये लेकिन संयुक्त मोर्चा सरकार में मतभेद फिर उठ खड़े हुए और अन्त में 11 मार्च, 1969 को मुख्य मन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया।

15 दिन बाद कांग्रेस विधान मण्डल दल के नेता श्यामाचरण शुक्ल ने नई सरकार बनाई और अपने मन्त्रिमण्डल में विभिन्न प्रादेशिक एवं वर्गीय हितों को प्रतिनिधित्व दिया। इस प्रकार 3 संसदीय सचिवों समेत उनकी शक्ति 39 तक पहुँच गई। जब मन्त्रिमण्डल के बड़े आकार के लिए उनकी आलोचना की गई तो श्री शुक्ल ने कहा कि ऐसा उन्होंने दल-बदल को रोकने के लिए किया है। बाद में संघीय सरकार में एक उप-मन्त्री पी० सी० सेठी को उनके स्थान पर मुख्य मन्त्री नियुक्त किया गया।

मार्च 1972 में मध्य प्रदेश में पाँचवें आम चुनाव हुए और विधान सभा के कुल 296 स्थानों में शासक कांग्रेस ने 220 स्थान प्राप्त कर लिए। उसके विधान मण्डल दल के नेता श्री सेठी फिर मुख्य मन्त्री बने और राज्य को एक स्थिर मन्त्रि मण्डल मिल गया।

हरियाणा
(Haryana)

सरकारी तौर पर, पंजाब के भाषायी पुनर्गठन के फलस्वरूप, 1 नवम्बर, 1966 को हरियाणा राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। हरियाणा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष, भगवतदयाल शर्मा को सर्वसम्मति से कांग्रेसी विधायक दल का नेता चुना गया और उन्हें 31 अक्तूबर, 1966 की अर्द्धरात्रि को राष्ट्रपति का शासन समाप्त कर के नए राज्य का मुख्य मन्त्री बनाया गया। फरवरी 1967 में चुनाव हुए, जिनमें 81 सदस्यों की विधान सभा में भिन्न-भिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी : कांग्रेस 48, जनसंघ 12, स्वतन्त्र पार्टी 3, रिपब्लिकन पार्टी 2, स्वतन्त्र 16। भगवतदयाल शर्मा को पुनः नेता चुना गया और वे 10 मार्च को मुख्य मन्त्री बने।

राज्य कांग्रेस के भीतर जात-पाँत वाली धड़ेबन्दी के कारण चुनाव के लिए उम्मीदवारों के चयन में पहले ही बहुत प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो चुकी थी। जब शर्मा ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो उन पर केवल अपने समर्थकों को विभाग देने तथा दल के अन्य वरिष्ठ सदस्यों की अवहेलना करने के आरोप लगाये गए। उदाहरणतया, उन्होंने भूतपूर्व मन्त्रिमण्डल के एक प्रख्यात सदस्य चाँद राम को छोड़ दिया और विरोधी धड़े के कुल एक सदस्य रिज़क राम को मन्त्रिमण्डल में लिया। जब शर्मा ने अपने निजी

व्यक्ति को अध्यक्ष पद (स्पीकर) के लिए नामांकित करने का प्रयत्न किया तो 13 कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों ने विपक्षी दलों से मेल कर लिया और उनके विरुद्ध मत दिया। उन्होंने विरोधी धड़े के कांग्रेसी नेता राव वीरेन्द्र सिंह को अपना नेता चुना। जो कांग्रेसी विधान सभा सदस्य विपक्षी दलों से मिल गये थे, उन्होंने हरियाणा कांग्रेस नामक नया दल बना लिया। वे एक संयुक्त मोर्चा बना कर विधान सभा में अधिकतर स्थानों पर अपना दावा जताने लगे। रिजक राम ने भी मन्त्रिमण्डल का परित्याग कर दिया।

भगवतदयाल शर्मा ने जब यह देखा कि वे बहुमत का समर्थन खो बैठे हैं तो उन्होंने 22 मार्च को त्यागपत्र दे दिया। गवर्नर ने राव वीरेन्द्र सिंह को दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। उन्हें 24 मार्च को अपने पद की शपथ दिलाई गई। कुछ ही मास बाद मुख्य मन्त्री और कांग्रेसी नेता देवी लाल के बीच गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। देवी लाल का कहना था कि जनसंघ का संयुक्त मोर्चा सरकार के भीतर अत्यधिक प्रभाव है और राव की सरकार भ्रष्ट है। 15 जुलाई को देवी लाल ने दावा किया कि 81 विधान सभा सदस्यों में से 51 राव सरकार के विरुद्ध हैं। 30 अक्तूबर को एक उप-मन्त्री, मोहन लाल ठाकुर, त्यागपत्र दे कर पुनः कांग्रेस में शामिल हो गए। उनका कहना था कि संयुक्त मोर्चा सरकार के पास नीति नाम की कोई सार्थक वस्तु नहीं है। इस प्रकार, 79 (दो स्थान खाली) सदस्यों के सदन में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या केवल 39 रह गई, जबकि विपक्षी दलों की संख्या 40 (35 कांग्रेसी और 5 देवी लाल गुट) थी। 31 अक्तूबर को लाल गया ने भी, जो हाल में ही संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित हुए थे और संसदीय सचिव नियुक्त किये गए थे, दल बदल लिया। पर उसी दिन जब यह प्रतीत हुआ कि मन्त्रिमण्डल को तकनीकी रूप से अब भी मन्त्रि-मण्डल में रहने का अधिकार है, उन्होंने पुनः दल बदल लिया और संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित हो गए। 1 नवम्बर को गवर्नर ने कहा कि राव को सबसे बड़े एकल दल का समर्थन प्राप्त है।

5 नवम्बर को मुख्य मन्त्री ने घोषित किया कि वरिष्ठ स्तर के कई स्थान रिक्त हैं, जो वे ऐसे राजनीतिज्ञों को दे सकते हैं जिन्हें "यथोचित अर्हता प्राप्त हो" और यदि कांग्रेसी असेम्बली के अधिवेशन से पूर्व उनका शक्ति-प्रदर्शन चाहती हो तो उन्हें भरने की बात सोच सकते हैं। अगले दिन हीरानन्द आर्य दल बदल कर संयुक्त मोर्चे में जा मिले और उन्हें कृषि मन्त्री बना दिया गया। एक कांग्रेसी विधान सभा सदस्य राजेन्द्र सिंह भी संयुक्त मोर्चे में मिल गए और उन्हें भी मन्त्रि पद दिया गया। इस प्रकार, सरकार का पक्ष 41 के विपरीत 38 हो गया। 11 नवम्बर को हीरानन्द ने सरकार से अलग हो कर वक्तव्य दिया कि मैं तो मन्त्रिमण्डल में "केवल राव को एक पाठ पढ़ाने तथा उनके भ्रष्ट आचरण का भण्डाफोड़ करने" हेतु सम्मिलित हुआ था। उन्होंने कहा कि मुख्य मन्त्री ने उन्हें दल बदलने के लिए धन की थैली भेंट की थी। (यह आठ महीने में हीरानन्द का आठवाँ दल बदल था।)

17 नवम्बर, 1967 को देवी लाल ने घोषित किया कि उनके दल ने कांग्रेस में सम्मिलित होने का निश्चय किया है। 20 नवम्बर को एक जनसंघी विधान सभा सदस्य कांग्रेस में जा मिला और इस प्रकार उसने सरकार को बहुमत के समर्थन से वञ्चित कर दिया। अगले दिन राव मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करके विधान सभा को भंग कर दिया गया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। हरियाणा में 12 व 14 मई, 1968 को मध्यावधि चुनाव हुए और विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी : कांग्रेस 48, विशाल हरियाणा पार्टी 13, जनसंघ 7, स्वतन्त्र पार्टी 2, रिपब्लिकन पार्टी 1, भारतीय क्रान्ति दल 1 और स्वतन्त्र 9। 19 मई को बंसीलाल को कांग्रेसी विधायक दल का नेता चुन लिया गया और दो दिन बाद उन्हें मुख्य मन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। विपक्षी दलों ने विधान सभा में एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करके राव वीरेन्द्र सिंह को अपना नेता चुन लिया। 9 सितम्बर, 1968 को 6 विपक्षी विधायक कांग्रेस में आ मिले और विधान सभा में बंसीलाल की स्थिति और भी मजबूत हो गई।

किन्तु 9 दिसम्बर को 15 कांग्रेसी विधायकों ने, जो भगवतदयाल शर्मा के अनुयायी थे, दल का परित्याग कर दिया और संयुक्त मोर्चे में जा मिले। उनका कहना था कि उन्हें कांग्रेस का इसलिए परित्याग करना पड़ा कि बंसीलाल हरियाणा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद के लिए शर्मा का समर्थन करने के अपने वचन से मुकर गये हैं। अब संयुक्त मोर्चा दलों का कहना था कि उनकी सदस्य संख्या 42 हो गई है तथा उन्होंने बंसीलाल को हटाने की माँग की व उसके स्थान पर स्वयं मन्त्रिमण्डल बनाने का दावा किया। पर कुछ ही दिन बाद चार दल-बदलू पुनः कांग्रेस में लौट आये और उनके कुछ ही दिन बाद तीन और सदस्यों ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार, बार-बार दल बदलने की नीति से विधान सभा और सरकार के लिए काम करना कठिन हो गया और मुख्य मन्त्री की सिफारिश पर गवर्नर ने 21 जनवरी, 1972 को विधान सभा भंग कर दी। दो महीने बाद चुनाव किये गए। नई विधान सभा में दलों की सदस्य संख्या इस प्रकार थी : कांग्रेस 52, संगठन कांग्रेस 12, विशाल हरियाणा पार्टी 3, जनसंघ 2, आर्य सभा 1, स्वतन्त्र 11। कांग्रेस ने सर्वाधिक स्थान प्राप्त किये, अतः उसके नेता बंसीलाल 14 मार्च, 1972 को पुनः मुख्य मन्त्री बन गए। इस प्रकार, हरियाणा में मिली-जुली सरकारों का युग समाप्त हुआ।

मूल्यांकन (Appraisal)

पिछले पृष्ठों में 8 राज्यों की जिन राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उन्हें और राष्ट्रपति शासन के बार-बार लागू किये जाने को देख कर यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि मिली-जुली सरकारों का प्रयोग पूरी तरह विफल रहा है। कुछ मामलों में चुनाव से पहले राजनीतिक दलों के बीच हुए किसी प्रकार के गठबंधन अर्थात् संयुक्त मोर्चे के फलस्वरूप मिली-जुली सरकारें बनीं और कुछ मामलों में

चुनाव के बाद बने गठबन्धन के फलस्वरूप वैसा हुआ। लेकिन सभी मामलों में प्रेरणा इस निश्चय से मिली कि कांग्रेस दल को सरकार न बनाने दी जाये। मिली-जुली सरकार तब बनती है, जब एक बहुदलीय प्रणाली में कोई एक दल चुनावों में पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता और सरकार बनाने की स्थिति में नहीं होता। आमतौर से दक्षिणपंथी दलों अथवा वामपंथी दलों ने परस्पर गठजोड़ किया और मन्त्रिमण्डल बनाने का दावा किया और जब भी ऐसा हुआ, इस बात का अवसर रहा कि मंत्रिमण्डल यदि पूरी कार्यावधि तक नहीं तो कम से कम पर्याप्त लम्बे समय तक पद पर रहेगा। लेकिन भारतीय राज्यों में बनी मिली-जुली सरकारों में सभी प्रकार के दलों, दक्षिणपंथी, वामपंथी और केन्द्रस्थ ने गठजोड़ किये, उन्होंने अपने मतभेदों को भुलाया, समझौते किये, बहुत अधिक मोल-तोल किये और अनेकों मामलों में मन्त्रिमण्डल बनाने के सिवाय किसी बात पर राजी नहीं हुए। जिन मामलों में एक आम कार्यक्रम पर सहमति नहीं हो सकी, उनमें समझौते बहुत ही अस्थायी सिद्ध हुए।

मन्त्रिमण्डल की रचना के समय भारी संघर्ष और जोड़तोड़ हुए, दबाव डाले गए और उलटे दबाव डाले गये लेकिन एक बार यह काम हुआ तो जो गुट अथवा व्यक्ति पदों के टुकड़े पाने में विफल रहे, वे दल बदल कर दूसरे पक्ष में चले गए और सरकार को उलटने तथा दूसरी सरकार बनाने की तरकीबें सोचने लगे ताकि उन्हें कुछ मिल सके। इस प्रकार मिली-जुली सरकारें उन राजनीतिज्ञों का तमाशा बन गईं जो स्वार्थी, अवसरवादी, सत्ता के भूखे और अनैतिक थे और जिन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के सिवाय और कुछ नहीं दीखता था।

जब मिली-जुली सरकारें बनाने वालों की प्रकृति और उनका चरित्र ऐसा था तो यह स्वाभाविक ही है कि उनके द्वारा निर्मित सरकारें स्थिर न हों और वे अपने भविष्य के विषय में आश्वस्त न हों। जिन लोगों के वे प्रतिनिधि थे, उनके विषय में वे कठिनाई से ही सोच पाते थे और वे उनकी उन्नति के लिए योजनाएँ और नीतियाँ कठिनाई से ही बना पाते थे। इसके अतिरिक्त, कांग्रेसी कुशासन के विकल्प भी वे कठिनाई से ही बन पाते थे। अत्यधिक राजनीतिक संघर्ष और बार-बार की अस्थिर सरकारों ने प्रशासनिक तंत्र में गम्भीर अव्यवस्था पैदा कर दी। सरकारी नौकर, जो ईमानदारी और कुशलता से अपना कर्त्तव्य पूरा करने में पहले ही कोई रुचि नहीं रखते थे, अब सार्वजनिक हित की जो भी थोड़ी बहुत चिन्ता उनमें थी, उसे भी खो बैठे। वे अपने राजनीतिक मालिकों की गतिविधियों को एक ईर्ष्यापूर्ण मनोरंजन के साथ देखते थे और कुछ मामलों में उनके खेल में हिस्सेदार भी बन जाते थे।

राज्यों की अस्थिर सरकारों ने देश की सुरक्षा के लिए भी खतरा पैदा कर दिया और सीमा पार के शत्रु उस दिन का इन्तज़ार करने लगे, जब वे भारत में फैली

अव्यवस्था का लाभ उठा सकेंगे ।[39]

इन राज्यों में मिली-जुली सरकारों ने जो परिस्थितियां और हालतें पैदा कीं वे लोक सभा के मध्यावधि चुनावों के समय शासक कांग्रेस को सहज वरदान के रूप में मिलीं। वार-बार टूटने वाली सरकारों से तंग आकर लोगों ने केन्द्र में एक मजबूत और स्थिर सरकार की जरूरत को महसूस किया और इन्दिरा कांग्रेस को यह सोचकर मत दिया कि अकेली वही ऐसी सरकार बना सकती हैं। मार्च 1972 में 16 राज्यों और 2 केन्द्र शासित प्रदेशों में पाँचवें आम चुनावों के बाद वैसा ही हुआ।

[39]एन० सी० साहनी, कोलिशन पालिटिक्स इन इण्डिया, (न्यू एकेडेमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर, 1971), पृ० 30.

अध्याय 16

राजनीतिक दल-बदल
(Political Defections)

चौथे आम चुनावों के बाद भारत में राजनीतिक दल-बदल की अनेक घटनाएँ हुईं और राज्यों की राजनीति में यह सबसे खास चीज बन गया। यद्यपि दल बदल पहले भी होते थे पर इसकी इतनी अधिक आवृत्ति नहीं थी, और किसी के दल-बदलने से जनता का ध्यान भी उस ओर बहुत कम जाता था। साथ ही, इससे शासक दल अथवा दल बदलने वाले के भविष्य पर भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। इस कथन की सत्यता के सबूत में कहा जा सकता है कि चौथे आम चुनाव से पूर्व भारतीय राजनीति और शासन-व्यवस्था पर लिखने वाले किसी भी भारतीय अथवा विदेशी विद्वान ने इस विषय पर एक शब्द भी नहीं लिखा। वास्तव में, यह शब्द उनके प्रकाशनों में कहीं भी नहीं आया है। चौथे आम चुनाव के बाद राजनीतिक दल-बदल का विषय इतना महत्त्वपूर्ण बन गया कि राज्यों की विधान सभाओं में, संसद में, सार्वजनिक सभाओं में, दलों के मंचों पर तथा अकादमीय संस्थाओं में और यहाँ तक कि आम बातचीत तक में इस पर चर्चा की जाने लगी।

राजनीतिक दल-बदल की परिभाषा (Definition of Political Defection)

जिस व्यक्ति को किसी राजनीतिक दल का आरक्षित चुनाव चिन्ह लगा दिया गया हो और जो लोक सभा अथवा राज्य या संघीय प्रदेश की विधान सभा या विधान-परिषद का सदस्य चुन लिया गया हो, वह यदि अपने उस राजनीतिक दल से सम्बन्ध तोड़ ले और उसके प्रति निष्ठा का त्याग कर दे तो कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने दल बदल लिया है।

कोई अकेला सदस्य या सदस्यों का गुट पद के लालच में अथवा कोई अन्य लाभ पाने के लिए भी दल बदलता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई गुट अथवा राजनीतिक दल किसी सदस्य या उसके गुट को फुसला कर अपने साथ मिला लेता है ताकि वह स्वयं सरकार बनाने की माँग कर सके। इस प्रकार फुसलाने में जो व्यक्ति सबसे अधिक सक्रिय होता है, वही मुख्य मन्त्री पद का दावा करता है। दल के

प्रति निष्ठा वदल लेना और एक दल छोड़कर दूसरे में मिल जाना किसी भी संसदीय प्रणाली की सरकार के लिए कोई नई वात नहीं थी। लेकिन चौथे ग्राम चुनावों के वाद राज्यों की विधान सभाओं में इसका चलन वहुत ग्रधिक हो गया। इसके फलस्वरूप इस चिर-स्वीकृत प्रथा को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा और वह संसदीय शासन-प्रणाली के लिए आतंक वन गई। 1967 से पहले जो वात साधारण थी, अव वह भयानक प्रतीत होने लगी।

चौथे आम चुनावों के वाद राजनीतिक दल-वदल (Political Defections after Fourth General Elections)

मार्च 1967 से दिसम्बर 1967 तक की नौ महीने की छोटी-सी अवधि में हिमाचल प्रदेश और त्रिपुरा को छोड़ कर राज्य विधान सभाओं के कुल 3,447 सदस्यों में से 314 सदस्यों ने अर्थात् लगभग 9 प्रतिशत सदस्यों ने अपने दल वदले। कुछ निर्दलीय सदस्य किसी भी दल में शामिल हो गये। केरल, मद्रास, महाराष्ट्र, और नागालैण्ड में कोई दल-बदल नहीं हुआ। मैसूर, उड़ीसा तथा जम्मू-कश्मीर में यह संख्या नगण्य रही। अन्य राज्यों एवं संघीय प्रदेशों में बहुत अधिक दल-बदल हुआ। दल-वदल की सवसे अधिक घटनाएँ कांग्रेस के भीतर हुई और 125 से भी अधिक कांग्रेसियों ने दल-वदल किया। राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा दल बदलने के कारण हर महीने औसतन एक राज्य सरकार का पतन हुआ। नई दिल्ली में संवैधानिक एवं संसदीय अध्ययन के संस्थान के योजना निदेशक सुभाष कश्यप ने अप्रैल 1969 में *The Politics of Defection* शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें वताया गया था कि सभी राज्यों एवं संघीय प्रदेशों में कुल मिला कर लगभग 1,000 दल-बदल एवं पुनः दल-बदल की घटनाएँ हुईं। इनमें दल-बदलुओं की संख्या लगभग 550 थी। कुछ लोगों ने 5 बार तक दल बदले। एक विधायक के बारे में प्रसिद्ध है कि उसने केवल पाँच दिनों के लिए मंत्री बनने के लिए 5 बार दल बदले। लेखक ने वताया है कि दल-बदल की राजनीति के पहले साल के दौरान 115 दल-बदलुओं को कांग्रेस, कांग्रेस-समर्थित और गैर-कांग्रेसी सरकारों में मंत्रि-पद की गद्दियाँ प्राप्त हुईं।[1] अक्तूवर-नवम्वर 1970 में अकेले उत्तर प्रदेश में 42 विधायकों ने दल वदले। इनमें से 8 ने दो वार दल वदले। इस रोग पर नियन्त्रण नहीं किया जा सका और राज्यों में मिली-जुली सरकारों का प्रयोग पूर्ण रूप से असफल रहा।

दल-वदल के कारण (Causes of Defection)

दल-वदल के अनेक कारण थे। उनमें पहला और सवसे महत्त्वपूर्ण था पद की

[1]सुभाष सी० कश्यप, *The Politics of Defection* (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969), पृष्ठ 36-40.

महत्त्वाकांक्षा। स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय राजनीतिक जीवन की यह दुर्भाग्यपूर्ण लेकिन कठोर सच्चाई है कि राजनीतिज्ञ व्यक्ति सत्ता और सरकारी पदों के लिए लड़े और जोड़-तोड़ में जुटे। 1947 से 1967 तक की पूरी दो दशाब्दियों के बीच केन्द्र और अधिकतर राज्यों में कांग्रेस दल का शासन रहा। इस अवधि में यह बुराई सिर्फ कांग्रेसियों के बीच—अर्थात् जो सरकारी पद, अथवा मंत्रिपद प्राप्त कर सके और जो नहीं कर सके—रही। चौथे आम चुनाव के फलस्वरूप इस दल की शक्ति लोक सभा में और सात राज्य विधान सभाओं में काफी घट गई। यदि इस दल ने समान विचारों वाले दलों के साथ शासन में हिस्सा बँटाने और इन राज्यों में मिली-जुली सरकारें बनाने का फैसला किया होता, तो शायद सिद्धान्तशून्य राजनीतिज्ञों को दलबदली का अवसर ही न मिलता लेकिन 27 फरवरी, 1967 को कांग्रेस के केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने यह फैसला किया कि कांग्रेस को किसी भी ऐसे राज्य में, जिसमें पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, मिली-जुली सरकार में शामिल नहीं होना चाहिए तथा निर्दलीय सदस्यों के लिए कांग्रेस का द्वार खुला रखना चाहिए। यह निर्दलीय सदस्यों के लिए स्पष्ट एवं खुला निमन्त्रण था। वस्तुत: यह उन्हें अपनी निर्दलीयता का परित्याग करके कांग्रेस विधायक दल में शामिल होने का आमन्त्रण था ताकि वह सत्ता हथियाने के योग्य बन सके। दल में आने का ऐसा निश्चय किसी न किसी लालच पर ही किया जा सकता था। अप्रत्यक्ष रूप से यह छोटे दलों व गुटों के लिए भी कांग्रेस में शामिल होने का निमन्त्रण एवं प्रोत्साहन था। इस प्रकार, जब सबसे पुराने एवं मजबूत दल कांग्रेस ने रास्ता दिखा दिया तो अन्य दल भी वैसा ही करने लगे। जब कोई विधायक अपने दल में रहते हुए कोई सरकारी पद प्राप्त न कर पाता तो वह ऐसे अन्य दलों व गुटों की ओर देखने लगता था जिनको उसके दल बदल लेने से सरकार बनाने का अवसर मिल सकता हो। ऐसे व्यक्ति को पद देने का वादा किया जाता था और वह दल बदल लेता था।

दल-बदल का दूसरा कारण यह था कि एक मन्त्री और एक सामान्य विधायक के पद के वेतन में उनके स्तर तथा उनके पदों से मिलने वाले लाभों में भारी अन्तर होता है। जब भी किसी विधायक को मन्त्रिपद दिया जाता अथवा उसका वादा किया जाता, वह अपने उस दल को छोड़ने में नहीं हिचकिचाता था जिसके टिकट और चुनाव-चिह्न पर वह चुना गया था। सभी दल बदलने वाले विधायकों को मन्त्रिपद नहीं मिलता था, पर यदि उनके गुट या दल में से एक-दो व्यक्तियों को भी वह पद मिल जाता तो वे सन्तुष्ट हो जाते थे क्योंकि उस हालत में वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने के लिए अपने कब्जे में आये मन्त्रिपद या पदों का दुरुपयोग करते थे।

कुछ विधायक ऐसे भी थे जिनकी अपने मूल दल की नीतियों और उनके कार्यक्रमों में से आस्था उठ जाती और वे किसी अन्य दल के सिद्धान्तों को सचमुच ही पसन्द करने लगते, और यही उनके दल बदलने का कारण होता था। यह स्थिति एकदम न्यायसंगत एवं लोकतान्त्रिक थी लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत ही कम थे। अधिकतर

दल-बदलू व्यक्तिगत लाभ और पदलोलुपता द्वारा ही प्रेरित थे।

दलों में मजबूत एवं प्रखर नेतृत्व का अभाव, इन दलों में आन्तरिक झगड़ों एवं गुटबाजियों का होना तथा उपर्युक्त सात राज्यों की विधान सभाओं में बहुत मामूली और अस्थिर बहुमत का होना भी इस दल-बदल रूपी रोग के लिए जिम्मेदार बना।

एक अन्य तत्त्व ने भी दल-बदल को प्रोत्साहन दिया। वह था मतदाताओं की अपने प्रतिनिधियों द्वारा, विशेषकर उत्तर प्रदेश, हरियाणा और बिहार में, दल-बदल के ऐसे कृत्यों के प्रति लगभग पूर्ण उपेक्षा। औसत और प्रतिशत की गणना करके देखने से पता चलता है कि गुट बनाकर दल बदलने वालों ने कांग्रेस के सिवाय अन्य सभी संगठित राजनीतिक दलों की अपेक्षा अच्छी सफलता पाई। गुट बनाकर दल बदलने वालों ने उनके द्वारा लड़े गए चुनावों के 32 प्रतिशत स्थान जीते। इसके विपरीत, कांग्रेस, जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी ने क्रमश: 69 प्रतिशत, 6 प्रतिशत और 16 प्रतिशत स्थानों पर ही सफलता पाई। उत्तर प्रदेश में दल-बदल कर बना चरण सिंह का दल मध्यावधि चुनावों में राज्य विधान सभा में दूसरा सबसे बड़ा दल बनकर उभरा। बिहार में अधिकतर प्रमुख दल-बदलू फिर से चुन लिये गये। विधान सभा को अपने मतदाताओं का विश्वास खोने का कोई डर नहीं रहा और उन्होंने भविष्य सँवारने के लिए जितनी बार भी जरूरी हुआ, अपना दल बदला।

दल-बदल पर समिति (Committee on Defections)

राज्यों में संसदीय प्रणाली की संस्थाओं के लिए खतरा बनी दल-बदल की इस प्रथा के प्रति गहरी चिन्ता महसूस करते हुए लोक सभा में कांग्रेस (नई) दल के एक वरिष्ठ सदस्य वेंकट सुब्बय्या ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें उन्होंने सरकार से माँग की कि वह तत्काल राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों तथा संविधान-विशेषज्ञों की एक उच्चस्तरीय समिति नियुक्त करे, जो विधायकों द्वारा एक दल से दूसरे दल में जाने और संसद में अपनी जगह बार-बार बदलने की समस्या की हर कोण से परीक्षा करे और इस बारे में अपनी सिफारिशें दे। इन्दिरा गांधी की सरकार ने इस प्रस्ताव को अपना समर्थन दिया और 3 दिसम्बर, 1967 को लोक सभा ने इसे स्वीकार कर लिया। तीन महीने बाद एक समिति का संगठन किया गया जिसमें सदस्यों के रूप में ये व्यक्ति शामिल किये गए : वाई० बी० चव्हाण—केन्द्रीय गृह मंत्री, पी० गोविन्द मेनन—केन्द्रीय विधि मन्त्री, रामसुभग सिंह—केन्द्र में संसदीय कार्यों के मन्त्री, तथा बलराज मधोक (जनसंघ), मधु लिमये (संयुक्त समाजवादी दल), एस० एन० द्विवेदी (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी), भूपेश गुप्ता (दक्षिणपंथी साम्यवादी दल) और एन० जी० रंगा (स्वतन्त्र पार्टी)। सर्वश्री एन० सी० चटर्जी, एम० सी० सीतलवाड़ तथा सी०के० दफ़्तरी संवैधानिक विशेषज्ञों के रूप में समिति के सदस्य बनाये गए और एच० एन० कुंजरू और जयप्रकाश नारायण को सार्वजनिक कार्यकर्ता होने के नाते लिया गया।

दल-बदल पर गृह और विधि मन्त्रालयों की सिफारिशें (Home and Law Ministries Recommendations on Defections)

दल-बदल पर समिति संगठित करने से पहले दो केन्द्रीय मन्त्रालयों—गृह और विधि—ने दल-बदल के चलन पर दो अलग-अलग रिपोर्टें तैयार की थीं और इस बुराई को समाप्त करने के लिए कुछ सुझाव दिये थे। गृह मन्त्रालय की रिपोर्ट में प्रस्तावित किया गया था कि दल-बदल की अक्सर होने वाली घटनाओं पर प्रभावी रोक लगाने के उद्देश्य से प्रधान मन्त्री और मुख्य मन्त्रियों को क्रमशः लोक सभा और राज्य विधान सभाओं को भंग करने के अधिकार दिये जाने चाहिए जिससे दल-बदल को रोका जा सके। ऐसा वे न सिर्फ पूर्व-निश्चित स्थितियों में ही करें बल्कि सदन में उनका बहुमत होने पर भी कर सकें। इसका दूसरा बड़ा सुझाव यह था कि मंत्रि-परिषद का आकार सीमित होना चाहिए और दल बदलने वाले किसी भी विधायक को उसमें स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। तीसरा प्रस्ताव था कि कानून बनाकर अथवा परम्परा डालकर दल-बदलुओं को अन्य उच्च पदों से दूर रखा जाना चाहिए।

विधि मन्त्रालय ने कानूनी और संवैधानिक दृष्टि से इस मामले की जाँच की और अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया कि किसी राजनीतिक दल को छोड़कर चले आने की कीमत के रूप में आर्थिक लाभ अथवा लाभप्रद पद का पुरस्कार स्वीकार करने को एक दण्डनीय अपराध बना दिया जाना चाहिए। यह स्वतन्त्र सदस्यों पर भी लागू होना चाहिए। प्रस्ताव रखा गया कि इस प्रयोजन के लिए स्वीकृत कोई भी कानून संसद के दोनों सदनों के सदस्यों तथा राज्य विधान सभाओं के सदस्यों पर लागू होना चाहिए।

दल-बदल पर नियुक्त समिति की सिफारिशें (Recommendations of Committee on Defections)

दल-बदल पर नियुक्त समिति ने दोनों मन्त्रालयों की रिपोर्टों का अध्ययन किया, उनकी परीक्षा की और तब जनवरी 1969 में अपनी सिफारिशें पेश कीं।

पहली सिफारिश यह थी कि राजनीतिक दल-बदलुओं को कोई भी पद, जैसेकि मन्त्री, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष अथवा किसी सांविधिक निगम के अध्यक्ष का पद, दिये जाने र दल बदलने की तिथि से लेकर एक वर्ष तक रोक लगा दी जानी चाहिए।

दूसरी सिफारिश यह थी कि राज्य में मन्त्रिपरिषद का आकार, जहाँ द्विसदनीय विधान सभा हो वहाँ विधान सभा की सदस्य संख्या का दस प्रतिशत और जहाँ एक दनीय हो वहाँ उसका ग्यारह प्रतिशत निश्चित होना चाहिए। समिति की तीसरी सफारिश यह थी कि दल बदलने की तिथि से एक वर्ष तक के लिए दल-बदलुओं के मन्त्री निने पर रोक तब तक लगी रहनी चाहिए, जब तक त्यागपत्र देकर वे पुनः चुने ाकर न आ जायें।

दल-दबल पर विधेयक (Bill on Defections)

गृह मन्त्रालय ने एक विधेयक का मसीदा तैयार किया, जिसमें उपरोक्त सिफारिशों को शामिल किया गया और प्रधान मन्त्री ने विरोधी दलों के नेताओं से अपील की कि सभी दलों की मिली-जुली समिति द्वारा विकसित एक राष्ट्रीय एकमत पर आधारित इस विधेयक को वे समर्थन दें। लेकिन अक्तूबर-नवम्बर 1969 में कांग्रेस दल के भीतर एक दरार पड़ गई। डा० रामसुभग सिंह, जो दल-बदल पर बनी समिति के एक सदस्य थे, कांग्रेस (संगठन) की ओर चले गए और उन्होंने समिति की सिफारिशों पर अपनी स्थिति को बदल लिया। उन्होंने कहा कि ये सिफारिशें अब "पिछड़ी हुई" हो गई हैं क्योंकि देश की राजनीति में कुछ "नई प्रवृत्तियां" पैदा हो गई हैं। अगस्त 1969 में राष्ट्रपति के चुनाव के अवसर पर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी द्वारा प्रचारित, 'अपनी आत्मा की आवाज़' के अनुसार मत देने के सिद्धान्त का, और इस प्रकार दलीय अनुशासन को चुनौती दिये जाने की प्रवृत्ति का हवाला देते हुए डा० सिंह ने ज़ोर देकर कहा कि प्रस्तावित कानून को न सिर्फ सदस्यों द्वारा दलीय अनुशासन तोड़े जाने पर लागू किया जाना चाहिए बल्कि उन पर भी लागू किया जाना चाहिए जो 'आत्मा की आवाज के सिद्धान्त' का प्रचार करते हैं। जो लोग दल के प्रति अपनी निष्ठा को बदलते हैं, वे उतने ही अपराधी हैं जितने कि विधायक। कानून को उन स्वतंत्र सदस्यों को भी दण्ड देना चाहिए जो पद अथवा अन्य लाभ के लिए अपना रुख बदल लेते हैं। डा० सिंह ने विचार रखा कि सभी दलों को दल-बदलुओं को स्वीकार न करने की आचार-संहिता को स्वीकृति देनी चाहिए।

जनसंघ ने भी, समिति में जिसके प्रतिनिधि बलराज मधोक थे, इस मामले को दोबारा नये सिरे से उठाया। इसके अध्यक्ष अटलबिहारी वाजपेयी का विचार था कि एक दल-बदलू के मन्त्री बनने पर एक साल की रोक लगा देना मात्र काफी नहीं है। दल-बदलू के लिए सीधा रास्ता यह है कि वह त्यागपत्र दे और जनता का पुनः विश्वास प्राप्त करे।

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एस० एन० द्विवेदी भी समिति के सदस्य थे। उन्होंने वाजपेयी से सहमति प्रकट की। एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने प्रस्ताव रखा कि मतदाताओं को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वे दल-बदलू विधायकों को वापस बुला लें। कम्युनिस्ट पार्टी (मार्किस्ट) के नेता एम० राममूर्ति ने सुझाव दिया कि दल बदलू को विधान सभा की सदस्यता के अयोग्य घोषित किया जाना चाहिए और उसे नया चुनाव लड़ना चाहिए। उनका विचार था कि एक वर्ष की रोक की अवधि के बीच दल-बदलुओं को विभिन्न कामों में व्यस्त रखा जाना चाहिए। दंड हो तो वह निवारक होना चाहिए। भारतीय क्रांति दल के नेता प्रकाशवीर शास्त्री का मत था कि मन्त्री पद अथवा अन्य आकर्षक पद मात्र ही दल-बदल के कारण नहीं हो सकते। एक वर्ष के लिए नकद राशि भी दी जा सकती है, जिसके बाद दल-बदलू विभिन्न नियुक्तियों के योग्य हो ही जाता है। उन्होंने सुझाव रखा कि सभी राजनीतिक दलों को एक

संहिता स्वीकार करनी चाहिए और दल-बदलुओं को कम से कम तब तक अपने में नहीं मिलाना चाहिए, जब तक कि प्रस्तावित कानून स्वीकार न कर लिया जाए।

दल-बदल संबंधित विधेयक का त्याग (Proposed Bill on Defection is Abandoned)

प्रधान मन्त्री ने विधि मंत्रालय को आदेश दिया कि वह सुझावों की परीक्षा करे और उन्हें प्रस्तावित विधेयक में शामिल किए जाने के बारे में सिफारिशें दे। मन्त्रालय ने वैसा ही किया और इन प्रस्तावों में निहित कठिनाइयों की ओर संकेत किया। एक दल-बदलू को विधान सभा की सदस्यता के अयोग्य ठहरा दिये जाने के प्रस्ताव के बारे में यह कठिनाई महसूस की गई कि संविधान में अयोग्यता के लिए केवल व्यक्तिगत कारण निर्धारित किये गए हैं और राजनीतिक विश्वास अथवा संसर्ग इसकी सीमा में नहीं आते। दूसरी ओर, संविधान अभिव्यक्ति, मत और संसर्ग की दृष्टि से पूर्ण आत्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। मन्त्रिपरिषद के आकार को सीमित करने और दल-बदलुओं को उसमें शामिल न करने के प्रस्ताव के बारे में यह कठिनाई पायी गई कि संविधान ने ऐसी किसी सीमा की कल्पना नहीं की थी और कोई भी प्रतिबन्धक कानून उच्चतम न्यायालय द्वारा असंवैधानिक करार दिया जा सकता है। फिर संसद राज्यों के संदर्भ में ऐसा कोई विधेयक स्वीकार नहीं कर सकती और राज्य विधान सभाएँ इसके लिए तैयार होंगी, इसमें संदेह है। दल-बदलू विधायक को वापस बुला लेने का अधिकार तथा मतदाताओं को दिये जाने के सुझाव के विषय में यह कठिनाई महसूस की गई कि संविधान में विधायकों के पदों की कार्यविधि निर्धारित कर दी गई है और संविधान में संशोधन किये बिना उस अवधि से पहले किसी विधायक को वापस नहीं बुलाया जा सकता। सुझाव दिया गया था कि दल-बदलू विधायक को त्यागपत्र देने और मतदाताओं का पुनः विश्वास प्राप्त करने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए हर नव-निर्वाचित विधायक को एक तिथि-शून्य त्यागपत्र अपने दल के नेता के पास जमा कर देना चाहिए जिसका उसके द्वारा दल-बदल लिए जाने की स्थिति में इस्तेमाल किया जा सके। इसके बारे में यह कठिनाई पेश की गई कि संबंधित सदस्य किसी भी समय अध्यक्ष अथवा सभापति को अपना त्यागपत्र रद्द करने की सूचना दे सकता है।

कुछ क्षेत्रों में यह भी प्रस्तावित किया गया कि सभी राजनीतिक दलों का उनके उद्देश्यों और लक्ष्यों के आधार पर अनिवार्य पंजीकरण किया जाना चाहिए अथवा सिर्फ ऐसे दलों को ही चुनावों के लिए मान्यता दी जानी चाहिए जिनकी सदस्य संख्या मतदाताओं के एक निश्चित प्रतिशत तक पहुँच जाए और सभी उम्मीदवार ऐसे एक दल से सम्बन्ध रखने वाले ही होने चाहिए। यह प्रस्ताव भाषण और संसद की स्वतंत्रता के अधिकार को भंग करने वाला पाया गया। यह कहा गया कि संसद दलों के अनिवार्य पंजीकरण का कानून स्वीकार नहीं कर सकती।

विरोधी दलों से विधायक को समर्थन देने की प्रधान मन्त्री की अपील पर दलों ने प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। विरोधी नेताओं के सुझाव कठिनाइयों तथा संवैधानिक असंगतियों से पूर्ण पाये गये थे। यह कहा गया कि प्रस्तावित कानून संस्था अथवा संघ बनाने की स्वतंत्रता के मूलभूत अधिकार से सबंधित धारा 19 (1) (स), संसद की सदस्यता के लिए अयोग्यताओं से सम्बन्धित धारा 102 तथा राज्य की विधान सभा अथवा विधानपरिषद की सदस्यता के लिए अयोग्यताओं से सम्बन्धित धारा 191 की व्यवस्थाओं को भंग करेगी। ऐसी स्थिति में गृह मन्त्रालय ने विधेयक को संसद में पेश करने का विचार ही त्याग दिया।

राजनीतिक दल-बदल के लिए वैकल्पिक सुझाव (Alternative Suggestions to deal with Political Defections)

कारण चाहे कुछ भी रहे हों, कानून बनाकर राजनीतिक दल-बदल पर प्रतिबन्ध लागू करने में केन्द्र स्थित शासक दल एवं विरोधी दलों की असमर्थता ने जनता के मन में गहरी चिंता पैदा कर दी। जयप्रकाश नारायण ने दल-बदल को "मतदाताओं के साथ छल" बताया। नवम्बर 1971 के आरम्भ में भोपाल में सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं के एक सम्मेलन के सामने बोलते हुए उन्होंने आरोप लगाया कि राजनीतिक दल-बदल के खेल का प्रमुख लाभ नई कांग्रेस को पहुँचा है, इसलिए वह दल-बदल पर रोक लगाने वाला कानून बनाने के लिए राज़ी नहीं है। विकल्प के रूप में उन्होंने सुझाव दिया कि लोकतंत्र की रक्षा के लिए संस्थाएँ स्थापित की जायें जिससे दल-बदल के और मंत्रियों, विधायकों एवं राजनीतिक दलों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध एक मज़बूत जनमत तैयार किया जा सके। उन्होंने कहा कि इन संस्थाओं को चाहिए कि वे मतदाताओं को सही किस्म के उम्मीदवारों को मत देने की शिक्षा दें और उनका दिशा-निर्देशन करें।

एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जे० जे० सिंह ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और विचार रखा कि "ऐसी संस्थाएँ चुनाव के लिए खड़े होने वालों पर स्वस्थ प्रभाव डाल सकेंगी क्योंकि उस स्थिति में वे समझ लेंगे कि एक संगठन है जो उनके कारनामों को मतदाताओं के सामने रखेगा।" उनका विचार था कि नागरिकों की भागीदारी से विधायक अपने आचरण में अधिक सतर्क और कम स्वार्थी हो पायेंगे। **दि हिन्दुस्तान टाइम्स** के सम्पादक अजीत भट्टाचार्य ने "जड़ पर आघात" शीर्षक अपने लेख में प्रस्ताव रखा कि ऐसे अवसरवाद के विरुद्ध जनमत संगठित किया जाना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए "विधायकों और सार्वजनिक पदों के लिए उम्मीदवारों के कार्य विवरण मतदाताओं के सामने लगातार रखे जाते रहने चाहिए।" उनका मत था कि इस काम को लोकतंत्र की रक्षा के उद्देश्य के प्रति समर्पित एक निष्पक्ष निर्दलीय खोज संगठन सबसे अच्छी तरह कर सकता है। उन्होंने अमरीका की कुछ ऐसी ही संस्थाओं के नाम भी बताए जैसेकि Congressional Quarterly और न्यू जर्सी का Citizens Research Foundation of Princeton। ये संस्थाएँ अमरीकी कांग्रेस में जाने के आकांक्षी

लोगों की पृष्ठभूमि के बारे में सूचनाएँ एकत्र करती हैं और चुनावों के अवसर पर उन्हें मतदाताओं तक पहुँचाती हैं। श्री भट्टाचार्य ने सुझाव दिया कि "सार्वजनिक जीवन में इस पतन" को रोकने के लिए भारत में भी वैसी ही संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं।

पाँचवें आम चुनाव के बाद राजनीतिक दल-बदल (Political Defections after Fifth General Elections)

दल-बदल की राजनीति राज्यों में मिली-जुली सरकारों की राजनीति का ही एक परिणाम थी। मार्च 1971 में लोक सभा के चुनावों में और मार्च 1972 में राज्य विधान सभा के चुनावों में कांग्रेस की विजय ने यह आशा जगाई थी कि यह बुराई समाप्त कर दी जायेगी और राज्यों में स्थिर सरकारें बनेंगी। लेकिन यह आशा झूठी हो गई और दल-बदल की घटनाएँ घटीं। जनवरी 1973 के अन्त के आसपास समाचारपत्रों में एक खबर छपी कि उड़ीसा के तीन कांग्रेसी विधायकों ने मुख्य मन्त्री श्रीमती सत्पथी के पास 25,000 रुपये जमा कराये हैं जो उन्होंने विरोधी सूत्रों से प्राप्त किये बताये। ये उन्हें कांग्रेस दल छोड़ जाने के लिए दिये गये थे। फरवरी 1973 के तीसरे सप्ताह में 15 बिहारी विधायक दल बदलकर कांग्रेस में शामिल हो गये, जिसके फलस्वरूप 318 के सदन में उसकी सदस्य संख्या 167 से बढ़कर 182 हो गई। मार्च के मध्य में मणिपुर के 10 विधायकों ने मुहम्मद अलीमुद्दीन के नेतृत्व में निर्मित संयुक्त विधायक दल के मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया और 'प्रगतिशील स्वतन्त्र दल' के रूप में अपने को संगठित कर लिया। इन्होंने कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ गठजोड़ किया और इस प्रकार 59 सदस्यों की विधान सभा में 33 की सदस्य संख्या प्राप्त करके इनका गुट अकेला सबसे बड़ा दल बन गया। ऐसा होने पर अध्यक्ष ने विधान सभा को भंग कर दिया और बाद में राज्य में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया। इस प्रकार, संयुक्त विधायक दल का मन्त्रिमण्डल लगभग एक वर्ष तक रहा।

नवम्बर 1972 में एक भूतपूर्व मुख्य मन्त्री बीजू पटनायक द्वारा स्थापित और उस राज्य तक सीमित उत्कल कांग्रेस को पुनर्जीवित किया गया और उसी वर्ष की 9 जून को एक प्रस्ताव पास करके नई कांग्रेस में उसके मिल जाने के सुझाव को रद्द कर दिया गया। अपने अनुगामियों के सामने बोलते हुए श्री पटनायक ने कहा, "श्रीमती नन्दिनी सत्पथी की उड़ीसा सरकार को खत्म करने के लिए अब लड़ाई शुरू हो चुकी है।" कुछ सप्ताह के बाद उन्होंने 'प्रगति दल' के नाम से एक नया दल बना लिया और उन अन्य दलों और स्वतन्त्र सदस्यों के साथ मोल-भाव शुरू कर दिया जो सत्पथी मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध थे। वे उद्योग मन्त्री नीलमणि राउतरे से 28 फरवरी, 1973 को मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दिलाने में सफल हो गये। उनके साथ 25 कांग्रेसी विधायक प्रगति दल में शामिल हो गये। दल बदलने वालों ने आरोप लगाया कि पिछले 5 महीनों के दौरान मुख्य मन्त्री एक गुट के द्वारा शासन चलाती रही है, आन्तरिक तू-तू मैं-मैं को बढ़ावा देती रही हैं और जनता से बहुत दूर सरक आई हैं।

दल-बदल की इन घटनाओं के फलस्वरूप सत्पथी मन्त्रिमण्डल ने बहुमत का समर्थन खो दिया। 28 फरवरी को मुख्य मन्त्री ने 9 मास पुरानी अपनी सरकार का त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने राज्यपाल बी० डी० जत्ती को सलाह दी कि वे विधान सभा भंग कर दें। मुख्य मन्त्री के त्यागपत्र के बाद कुछ घन्टों के भीतर ही बीजू पटनायक ने राज्यपाल से भेंट की और एक वैकल्पिक सरकार बनाने का अपना दावा पेश किया। उन्होंने राज्यपाल से कहा कि उनके दल को 140 के सदन में 72 विधायकों का समर्थन प्राप्त है और दो कम्युनिस्ट (मार्किस्ट) के, दो झारखंड के और दो स्वतन्त्र विधायक भी उनके दल को समर्थन दे रहे हैं। श्री पटनायक के नेतृत्व में एक वैकल्पिक सरकार की संभावना की थाह लिए बिना ही राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी और 3 मार्च, 1973 को वैसा कर दिया।

दल-बदल विरोधी विधेयक लोक सभा में पेश किया गया (Anti-defection Bill Introduced in Lok Sabha)

यह देखकर कि दल-बदल का रोग फिर से शुरू हो गया है, 8 मार्च को पंजाब विधान सभा ने एक सर्वदलीय गैर-सरकारी प्रस्ताव एकमत से स्वीकार किया, जिसमें राज्य सरकार से कहा गया कि वह दल-बदल पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना केन्द्र से करे। 16 मई को संविधान (32 वाँ संशोधन) विधेयक, जो दल-बदल विरोधी विधेयक के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, लोक सभा में पेश किया। विधेयक में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया कि प्रधान मन्त्री और मुख्य मन्त्री अपने पद सम्भालने के दिन से 6 महीने की अवधि के बीच यदि क्रमशः लोक सभा एवं विधान सभा में चुने न जा सकें, तो उन्हें अपने पद छोड़ देने होंगे। विधेयक में यह भी निर्दिष्ट किया गया कि यदि संसद राज्य विधान सभा अथवा परिषद का कोई सदस्य, जिस राजनीतिक दल के टिकट पर चुना गया था उसे अपनी मर्जी से छोड़ दे तो वह, इन संस्थाओं की सदस्यता के अयोग्य ठहरा दिया जायेगा। यदि वह अपने दल के निर्देशों के विरुद्ध मत दे अथवा मतदान से बचे, तब भी यही परिणाम होगा। यह अयोग्यता संसद अथवा राज्य विधान मण्डल के उस सदस्य पर लागू नहीं होगी, जो दल में दरार पड़ने के बाद उस-से त्यागपत्र दे दे। जो विधायक मूल दल के टूट जाने के बाद उससे त्यागपत्र दे दे और मूल दल के सदस्यों के एक गुट लेकर एक अलग राजनीतिक दल संगठित कर ले, जिसे कि कानून अथवा अध्यक्ष अथवा सदन के सभापति मान्यता दे दें, वह विधा-यक भी इस अयोग्यता से छूट का दावा कर सकता है।

इस विधेयक को पेश करते हुए केन्द्रीय गृह मन्त्री उमाशंकर दीक्षित ने स्पष्ट किया कि राजनीतिक दल-बदल की समस्या को लेकर फैली व्यापक चिन्ता के फलस्वरूप 3 दिस-म्बर, 1967 को लोक सभा ने यह प्रस्ताव पास किया था कि इसकी छानबीन के लिए एक समिति संगठित की जाये। जब इस समिति की रिपोर्ट पर विचार हुआ तो मह-सूस किया गया कि—यह सिफारिश कि दल-बदलू को निश्चित अवधि के लिए विशेष

लाभप्रद पदों के अयोग्य घोषित कर दिया जाये—समस्या का एक उचित समाधान नहीं है। दल-बदलू को आगे के लिए विधान मण्डल की सदस्यता के अयोग्य ठहराने की दृष्टि से संविधान में संशोधन करना अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने कहा कि यह संशोधन विधेयक इसी लिए पेश किया गया है।

इस विधेयक की विपक्षी दलों ने पर्याप्त आलोचना की, जिनमें जनसंघ और साम्यवादी (मार्क्सवादी) के नाम प्रमुख हैं। लोकसभा ने लगभग आठ महीने तक विधेयक पर कोई आचरण नहीं किया। 1972 के शीत अधिवेशन में लोक सभा ने विधेयक को 60 सदस्यों की एक संयुक्त प्रवर समिति को सौंप दिया ताकि कुछ अधिक अच्छे प्रस्ताव एवं सुझाव सामने आयें तथा कोई एकमत स्थिर किया जा सके।

दल-बदल की और घटनाएँ (More Defections)

दल-बदल विरोधक विधेयक पर अभी विचार भी आरम्भ नहीं हुआ था, जब दल-बदल की और घटनाएँ होने लगीं। ऐसी एक घटना केन्द्रशासित प्रदेश पांडचेरी में हुई, जो 1954 में उस पर से फ्रांसीसी शासन समाप्त होने के बाद स्थापित हुआ था। दिसम्बर 1973 के अन्तिम सप्ताह में दो मन्त्रियों, एस० रामास्वामी (गृह) और डा० रामचन्द्रन (सार्वजनिक निर्माण), तथा एक विधायक एम० ओ० एच० फारूक मरीकार की द्रविड़ मुनेत्र कषगम सरकार का परित्याग कर के अन्ना द्रमुक में जा मिले। इससे 30 सदस्यों के सदन में सरकार की शक्ति 13 रह गई। मुख्य मन्त्री ने लेफ्टिनेन्ट गवर्नर छेदी लाल को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र प्रस्तुत किया तथा मन्त्रिमण्डल भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की।[2] लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर ने इस केन्द्रशासित प्रदेश में संविधान तन्त्र विगड़ जाने का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजा और पाण्डिचेरी को 3 जून, 1974 से केन्द्र के अधीन कर दिया गया। केन्द्रशासित प्रदेश अधिनियम, 1963 के अधीन विधान सभा भंग कर दी गई।

फरवरी 1974 में उत्तर प्रदेश में आम चुनाव हुए। इसकी पूर्व-सन्ध्या को दल-बदल और पुनः बदल की अनेक घटनाएँ हुईं। सैकड़ों कांग्रेसियों ने, जो भूतपूर्व विधान सभा के सदस्य रह चुके थे, दल बदल लिया। वे पुन: निर्वाचित होना चाहते थे, पर केन्द्र निर्वाचन समिति ने उन्हें दलीय टिकट नहीं दिये थे, अत: वे संगठन कांग्रेस में सम्मि-

[2]मरीकार ने अप्रैल 1967 में एक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाया था। लगभग दस महीने बाद स्थानीय कांग्रेस जनों से मतभेद होने के बाद उन्होने कांग्रेस छोड़ कर द्रमुक की सदस्यता ग्रहण कर ली थी। मार्च 1969 में द्रमुक साम्यवादी गठबन्धन को 18 स्थान प्राप्त हुए और उनका स्पष्ट बहुमत स्थिर हो गया। मरीकार ने द्रमुक-साम्यवादी मिले-जुले मन्त्रिमण्डल के प्रधान के रूप में पद ग्रहण किया। मार्च 1972 में साम्यवादी दल ने फ़ारूक मन्त्रिमण्डल के प्रति समर्थन वापस ले लिया, पर उसे दो स्वतन्त्र और एक कांग्रेसी समर्थन देते रहे। इससे उनकी कुल शक्ति स्पीकर सहित 16 बनी रही। विपक्षी दलों ने इसे बनावटी बहुमत बताया और पुन: जोर देकर कहा कि फ़ारूक सरकार को मार्च 1972 में ही, जब साम्यवादी दल ने अपना समर्थन वापिस लिया, इस्तीफा दे देना चाहिए था।

लित हो गए। अनेकों अन्य भूतपूर्व विधान सभा सदस्यों ने भी किसी न किसी दल का टिकट प्राप्त करने के लिए दल बदले। 8 मार्च, 1975 को एक मन्त्री, विधान सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) एवं उपाध्यक्ष तथा आठ अन्य विधायकों ने विजोल के यूनाईटिड डैमोक्रेटिक फ्रन्ट मन्त्रिमण्डल का परित्याग कर दिया और नागालैन्ड नेशनलिस्ट संगठन में सम्मिलित हो गए। इससे विजोल मन्त्रिमण्डल की सदस्यता 60 सदस्यों के सदन में 27 रह गई। उन्होंने उसी दिन अपनी सरकार का त्यागपत्र प्रेपित कर दिया तथा 10 मार्च को एन० एन० ओ० नेता जोन बोस्को जैसोकी के नेतृत्व में एक नये मन्त्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की। इस प्रकार, 26 फरवरी, 1974 को स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन से बना विजोल मन्त्रिमण्डल केवल 376 दिन चला। दस दिन बाद एन० ए० ओ० के दस सदस्यों ने, जिनमें तीन मन्त्री भी थे, दल बदल लिया और संयुक्त प्रजातान्त्रिक मोर्चे में जा मिले। इससे सरकारी पक्ष की सदस्य संख्या घट कर 27 रह गई और विधान सभा का कार्य लगभग असम्भव हो गया, जबकि उसका बजट अधिवेशन चल रहा था। गवर्नर एल० पी० सिंह ने केन्द्रीय शासन लागू करने की सिफारिश की और 22 मार्च को[3] वैसा कर दिया गया। इस प्रकार जैसोकी मन्त्रिमण्डल केवल दस दिन चला।

अनेक अन्य राज्य विधान सभाओं, नगर निगमों और अन्य स्थानीय निकायों में भी यदा-कदा दल बदलने की घटनाएँ होती रहती हैं। दल-बदल विरोधी विधेयक अभी संसद की कार्य सूची में ही है और अपने शुद्ध बहुमत के बावजूद कांग्रेस दलीय सरकार ने उसे पारित कराने का प्रयत्न नहीं किया है।

[3]संविधान आरम्भ होने के बाद से राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की यह 37 वीं घटना थी। नागालैण्ड 15 वाँ राज्य या केन्द्रशासित प्रदेश था, जहाँ केन्द्र का शासन हुआ। यह पहले पहल 1951 में पंजाब में लागू हुआ था।

अध्याय 17

भारत की राजनीति में भाषा
(Language in Indian Politics)

भारत एक विशाल देश है, जिसमें अनेक जातियों एवं संस्कृतियों के लोग बसते हैं और इन सबके भिन्न-भिन्न सामाजिक रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ प्रत्येक क्षेत्र की भिन्न-भिन्न भाषा और उच्चारण का ढंग है।[1] एक अंग्रेज़ विद्वान माइकेल ब्रीचर लिखते हैं कि भाषाओं की विविधता के कारण यहाँ कोई किसी की बात नहीं समझता था।[2] यही कारण है कि सदियों तक यह देश एक इकाई के रूप में प्रकट नहीं हो सका। ब्रिटिश संसद द्वारा 1833 का राजाज्ञा अधिनियम पारित किए जाने के बाद जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारी भारतीय जनता की शैक्षणिक प्रगति के विषय में सोचने लगे तो उनके सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि ऊँची शिक्षा के लिए प्रशिक्षण का माध्यम क्या होगा। गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद के विधि सदस्य लॉर्ड मैकॉले, जिन्हें भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति निर्धारित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था, समझते थे कि पाश्चात्य शिक्षा देने से भारत के ब्रिटिश शासकों को दफ़्तरों में काम करने के लिए सस्ते लिपिक स्थानीय रूप से मिल जाया करेंगे। उनका यह भी विचार था कि पाश्चात्य शिक्षा पाकर भारत के शिक्षित नवयुवकों में ब्रिटिश राज के प्रति स्वामीभक्ति की भावना जागृत होगी और इससे भारतीय एवं ब्रिटिश समुदायों को सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से निकट आने का अवसर प्राप्त होगा। पाश्चात्य शिक्षा का ज्ञान अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से दिया जाना स्वाभाविक ही था। 1858 में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किये गए, जिनमें पाश्चात्य दर्शन, इतिहास, विधि और साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा था।

[1] 1927 में प्रकाशित *The Linguistic Survey of India* के अनुसार भारत में 179 भाषाएँ थीं और 544 बोलियाँ थीं।

[2] माइकेल ब्रीचर की पुस्तक, *Succession in India : A Study in Decision-making*, (ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1966), पृष्ठ 151 देखिये।

दादाभाई नौरोजी का कहना था कि पाश्चात्य शिक्षा से भारतीय युवकों को 'नया प्रकाश' मिला और उससे भारत में गहन बौद्धिक रूपान्तरण हुआ। इससे शिक्षित भारतीयों के मन में राष्ट्रीयता एवं विदेशी प्रभुत्व से छुटकारा पाने के दृढ़ विचार उत्पन्न हुए। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ी भाषा ने एक अन्तर्क्षेत्रीय भाषा (लिंग्वा फ्रैंका) का काम किया जिससे देश के भिन्न-भिन्न सुदूर प्रान्तों के लोग एक-दूसरे के निकट आये। इससे संगठन एवं एकता की भावना जागृत हुई और कांग्रेस आन्दोलन के तत्वा-वधान में देश की स्वतन्त्रता की माँग उठाई गई, जो अन्तत: सफल हुई।

अंग्रेज़ी भाषा को शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में शिक्षा का माध्यम बनाने के अतिरिक्त, केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के दफ़्तरों, विधायक व म्युनिसिपल निकायों, अदालतों व्यापार व उद्योग, कूटनीति तथा विदेशी मामलों के कार्यों में भी सम्पर्क एवं काम-काज की भाषा के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। जो भी भारतीय इन क्षेत्रों में प्रगति करना चाहता था, उसे अंग्रेज़ी सीखने तथा उसमें पर्याप्त कुशलता प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती थी। इसका यह परिणाम हुआ कि भारत में एक ऐसा वर्ग विशिष्ट हो गया, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश में अंग्रेज़ी भाषा बनी रहने में अपना हित समझता था।

संविधान में राष्ट्रीय भाषा सम्बन्धी प्रावधान (Provision for National Language in the Constitution)

यद्यपि अंग्रेज़ी भाषा को भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था पर, फिर भी, वह जनता की भाषा नहीं बन सकी और भारतवासी अपनी-अपनी भाषाओं और बोलियों में ही वार्तालाप करते रहे। देश के स्वतन्त्र होने पर जब यहाँ के नेताओं के सामने संविधान बनाने का प्रश्न आया तो उन्होंने एक राष्ट्रभाषा निश्चित करने का काम भी हाथ में लिया। यह स्वाभाविक ही था एवं अनिवार्य भी कि उनके मन में किसी भारतीय भाषा को ही राष्ट्रभाषा बनाने का विचार आया। संविधान सभा की बहसों में आम राय हिन्दी के पक्ष में थी। इसका यह कारण नहीं था कि हिन्दी साहित्य अधिक समृद्ध था और अन्य भाषाओं का कम, वरन् यह कि यह भाषा अधिकतर क्षेत्रों एवं राज्यों में अधिकतर जनता की भाषा थी। संविधान के निर्माताओं ने धारा 343 में निर्दिष्ट किया कि (i) भारतीय संघ की सरकारी भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी, (ii) संविधान लागू होने के तुरन्त पूर्व जिन सरकारी कार्यों में हिन्दी प्रयुक्त होती थी, उनमें वह संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक इस्तेमाल होती रहेगी, और (iii) उस अवधि के बाद संसद ज़िन कार्यों में अंग्रेज़ी के प्रयोग की अनुमति देगी, वे कानून द्वारा निर्दिष्ट किये जायेंगे। धारा 344 (1) में निर्दिष्ट किया गया कि "संविधान लागू होने के बाद 5 वर्ष समाप्त होने पर, और उसके पश्चात् संविधान लागू होने के दस वर्ष बाद राष्ट्रपति एक आयोग नियुक्त करेंगे जिसका एक चेयरमैन होगा तथा आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं

के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि होंगे।" इस आयोग के ज़िम्मे राष्ट्रपति को निम्न-लिखित विषयों पर परामर्श देना होगा--(क) संघ के सरकारी काम-काज में हिन्दी का उत्तरोत्तर उपयोग, (ख) संघ के सभी या किन्हीं सरकारी कार्यों में अंग्रेज़ी के उपयोग पर पाबन्दी, (ग) धारा 348 में उल्लिखित सभी या किन्हीं उद्देश्यों के लिए उपयोग की जाने वाली भाषा, (घ) संघ के किसी एक या अनेक निर्दिष्ट कार्यों में प्रयुक्त करने के लिए अंकों की लिपि, और (ङ) संघ की सरकारी भाषा के विषय में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपा गया कोई भी अन्य मामला, और संघ एवं राज्यों अथवा राज्यों में परस्पर उपयोग में आने वाली भाषा के सम्बन्ध में कोई मामला।

धारा 344 के अनुच्छेद (3) में निर्दिष्ट था कि सिफ़ारिश करते समय आयोग, भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रगति का ध्यान रखेगा तथा सार्वजनिक सेवाओं के प्रति ग़ैर-हिन्दीभाषी क्षेत्रों में रहने वाली जनता की उचित माँगों व हितों का भी ध्यान रखेगा। उसी धारा के अनुच्छेद (4) में 30 सदस्यों की एक समिति बनाये जाने का प्रावधान था। इन सदस्यों में से 20 लोक सभा के सदस्य और 10 राज्य सभा के सदस्य होने अनिवार्य थे। इन सदस्यों को लोक सभा व राज्य सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से एकल स्थानान्तरणीय मत के आधार पर निर्वाचित किया जाना था। इस समिति का कर्त्तव्य अनुच्छेद (1) के आधीन गठित आयोग की सिफ़ारिशों पर विचार करना तथा राष्ट्रपति को उस पर अपना मत सूचित करना था।

संविधान में किसी राज्य की सरकारी भाषा या भाषाओं सम्बन्धी प्रावधान (Provision in the Constitution for Official Language or Languages of a State)

संविधान की धारा 345 में निर्दिष्ट था कि किसी राज्य की विधायिका उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी एक भाषा को या एक से अधिक भाषाओं को अथवा हिन्दी को राज्य के किसी भी उद्देश्य या सभी उद्देश्यों में प्रयुक्त होने के लिए विधिवत अंगीकार कर सकती है।

किन्तु जब तक उस राज्य की विधायिका विधिवत अन्य प्रावधान न करे, उस राज्य में अंग्रेज़ी उन सभी सरकारी कार्यों में प्रयुक्त होती रहेगी, जिनमें वह संविधान आरम्भ होने के तुरन्त पूर्व प्रयुक्त होती थी।

राज्यों में परस्पर अथवा किसी राज्य एवं संघ में संचार की सरकारी भाषा (Official Language for Communication between One State and Another or between a State and the Union)

संविधान की धारा 346 में निर्दिष्ट था कि भारतीय संघ में जिस भाषा को अभी कुछ समय तक प्रयोग करने की अनुमति दी गई है अर्थात् अंग्रेज़ी, वह सभी सरकारी

कार्यों के लिए राज्यों में परस्पर तथा एक राज्य एवं संघ में संचार की सरकारी भाषा रहेगी। इस धारा में यह परन्तुक भी था कि यदि दो या अधिक राज्य सहमत हों कि उनमें परस्पर संचार की भाषा हिन्दी हो तो वे हिन्दी का उपयोग कर सकेंगे।

धारा 347 में उल्लेख था कि यदि किसी राज्य की जनता का काफी बड़ा भाग राष्ट्रपति को यह इच्छा व्यक्त करे कि वह राज्य उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को मान्यता दे तो राष्ट्रपति निदेश दे सकते हैं कि उस भाषा को उस सारे राज्य में अथवा उसके कुछ विशिष्ट भाग में, निर्देश में उल्लिखित उद्देश्य के लिए, सरकारी तौर पर मान्यता दे सकते हैं।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों इत्यादि की भाषा (Language of the Supreme Court, High Courts, Etc.)

धारा 348 (1) में सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों इत्यादि की भाषा का उल्लेख है। इसमें निर्दिष्ट किया गया था कि यदि संसद ने अन्यथा कानून बनाकर निर्दिष्ट न कर दिया हो तो—(क) सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों में सारी कार्रवाई, तथा (ख) निम्नलिखित के प्रामाणिक पाठ—(i) संसद के किसी भवन में या किसी राज्य विधान सभा के भवन या भवनों में प्रस्तुत किये जाने वाले विधेयक या उनके संशोधन, (ii) संसद द्वारा या किसी राज्य के विधान मण्डल द्वारा पास किये गए अधिनियम अथवा राष्ट्रपति या किसी राज्य के गवर्नर द्वारा जारी किया गया अध्यादेश, तथा (iii) इस संविधान या संसद द्वारा बनाए गए किसी अन्य कानून के अन्तर्गत जारी किये गए सभी आदेश, नियम, विनियम और उपनियम अंग्रेज़ी भाषा में होंगे। अनुच्छेद (2) में यह भी प्रावधान था कि किसी राज्य के गवर्नर, राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति सहित, जब उच्च न्यायालय का मुख्यालय उसी राज्य के भीतर हो, हिन्दी भाषा अथवा उस राज्य के सरकारी काम-काज में प्रयुक्त होने वाली किसी अन्य भाषा के इस्तेमाल की अनुमति दे सकते हैं। किन्तु यह प्रावधान उच्च न्यायालय द्वारा दिये जाने वाले फ़ैसलों, डिक्रियों तथा आदेशों पर लागू नहीं होता।

धारा 349 में प्रावधान था कि संविधान लागू होने के बाद 15 वर्ष की अवधि के भीतर राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति के बिना संसद के किसी भी सदन में ऐसा कोई विधेयक या संशोधन नहीं लाया जा सकेगा जिसमें धारा 348 (1) में वर्णित किसी उद्देश्य के लिए प्रयुक्त होने वाली भाषा सम्बन्धी प्रावधान करना वांछित हो, और राष्ट्रपति, धारा 344 (1) के अधीन गठित आयोग की सिफ़ारिशों और धारा 344 (4) के अधीन गठित समिति की रिपोर्ट पर विचार किये बिना ऐसा विधेयक या संशोधन लाने की अनुमति नहीं देंगे।

शिकायतें दूर कराने के प्रतिवेदन की भाषा (Language to be Used in Representation for Redress of Grievances)

धारा 350 में निर्दिष्ट किया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिकायतें दूर करने के लिए भारतीय संघ या उसके किसी राज्य के किसी अधिकारी या प्राधिकारी को संघ या राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी भी भाषा में प्रतिवेदन कर सकता है। इसी धारा में 1956 के संविधान (सातवें संशोधन) अधिनियम द्वारा धारा 350 (क) जोड़ दी गई। धारा 350 (क) में यह प्रावधान किया गया कि प्रत्येक राज्य और प्रत्येक स्थानीय निकाय द्वारा ऐसे प्रयास किये जायेंगे कि भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्यकों को प्राथमिक स्तर तक शिक्षा मातृभाषा में दी जाये और राष्ट्रपति किसी भी राज्य द्वारा ऐसी सुविधाओं की व्यवस्था कराने के लिए यथोचित आदेश दे सकते हैं। भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए संविधान में जो सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं, उनके सम्बन्ध में शिकायतों की जाँच के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक अधिकारी नियुक्त किये जाने का भी प्रावधान किया गया। वह अधिकारी राष्ट्रपति के निदेशानुसार समय-समय पर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देता है और राष्ट्रपति उन्हें संसद के दोनों सदनों के सम्मुख रखवाने तथा तत्सम्बन्धी राज्यों को भिजवाने का प्रबन्ध करते हैं।

संविधान की धारा 351 में हिन्दी भाषा के विकास सम्बन्धी एक निदेश दिया गया है और निर्दिष्ट किया गया है कि संघीय सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा के विस्तार में सहायक हो तथा उसे इस प्रकार विकसित होने दिया जाये कि वह भारत की मिली-जुली संस्कृति के सभी तत्त्वों के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, और आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं एवं हिन्दुस्तानी भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के रूप, प्रकार और अर्थों को हिन्दी में इस प्रकार आत्मसात करने की व्यवस्था की जाये कि वह अपनी प्रतिभा खोये बिना एक समृद्ध भाषा बने। यथावश्यक संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में सम्मिलित करने का निदेश दिया गया।

सम्मिलित रूप से देखा जाये तो संविधान की धाराओं 343 से 351 तक के निम्नलिखित प्रावधान थे—(क) हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाया गया, (ख) संविधान लागू होने के 15 वर्ष तक की अवधि के लिए अंग्रेज़ी को सरकारी काम-काजकी भाषा रखने की अनुमति दी गई, और (ग) क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति एवं विकास सम्बन्धी निर्देश दिये गए।

सरकारी भाषा आयोग की नियुक्ति और उसकी सिफारिशें (Establishment of Official Language Commission—Its Recommendations)

धारा 344(1) के प्रावधान के प्रत्यावर्तन में राष्ट्रपति ने 1955 में एक सरकारी भाषा आयोग स्थापित किया, जिसका एक अध्यक्ष तथा 21 सदस्य थे। अध्यक्ष बी० जी० खेर थे और सदस्यों में विख्यात भाषाविदों एवं साहित्यिक व्यक्तियों को सम्मि-

लित किया गया। इस आयोग ने लगभग एक वर्ष तक खोजबीन एवं विचार-विमर्श करने के बाद राष्ट्रपति को जो प्रतिवेदन एवं सिफारिशें प्रेषित कीं, उन्हें राष्ट्रपति द्वारा 12 अगस्त, 1957 को अर्थात् प्रेषण के एक साल बाद प्रकाशित किया गया।

आयोग ने अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग में उत्तरोत्तर प्रगति करने की सिफारिश की, पर कहा कि "इस समय यह कहना कि 1965 तक अंग्रेज़ी के स्थान पर सामान्यत: हिन्दी को प्रतिस्थापित किया जा सकेगा, यह न तो सम्भव है और न ही आवश्यक क्योंकि यह इस अवधि में किये जाने वाले प्रयत्न पर निर्भर करेगा।" स्पष्टतया हिन्दी सारे भारत में सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है, अत: इसे अंग्रेज़ी के स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए ताकि यह भारत के अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में तथा देश के प्रशासन, सार्वजनिक जीवन और दैनिक काम-काज में भी प्रमुख स्थान प्राप्त कर सके। प्रतिवेदन में कहा गया कि यह सिफारिश इसलिए नहीं की जा रही कि अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ इससे कम विकसित हैं वरन् इसलिए की जा रही है कि अधिकतर लोग हिन्दी बोलते व समझते हैं।

प्रतिवेदन में यह भी सिफारिश की गई कि देश की प्रगति के किसी भी दृष्टिकोण से हिन्दी के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं है किन्तु भविष्य में इसे माध्यमिक स्कूलों में मुख्यत: "व्यापक अर्थ समझने के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाये," "साहित्यिक भाषा" के रूप में नहीं, यदि कोई छात्र इसे ऐच्छिक रूप से "साहित्यिक भाषा" के रूप में पढ़ना चाहे तो उसे इसकी छूट दी जाये। यद्यपि अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती के लिए हिन्दी जानना अनिवार्य घोषित करना आवश्यक हो, पर अखिल भारतीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं में तथा सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों में प्रयोग के लिए जब तक आवश्यक हो, अंग्रेज़ी को वैकल्पिक भाषा के रूप में बनाये रखा जा सकता है। किन्तु पूर्ण परिवर्तन के समय सभी सांविधिक ग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध होने चाहिएँ। राज्यों के विधि-निर्माण में, संसद में तथा कानूनी आदेशों एवं नियमों के जारी करने में भी इसी भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार क्षेत्रीय भाषाओं में भी अनुवाद उपलब्ध होने चाहिए।

आयोग ने यह भी सिफारिश की कि राज्य सरकारों के न्यायिक एवं प्रशासनिक कार्यों के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को रखा जा सकता है, पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अथवा केन्द्र के साथ पत्र-व्यवहार इत्यादि में हिन्दी का ही उपयोग किया जाये। आयोग ने कहा कि प्राथमिक शिक्षा क्षेत्रीय भाषा में हो, पर माध्यमिक स्तर की शिक्षा में हिन्दी को अनिवार्य घोषित किया जाना चाहिए। यह अनिवार्यता कब लागू की जाये, इसका निर्णय स्वयं उस राज्य द्वारा किया जाये।

आयोग की अन्य सिफारिशों में एक यह भी थी कि देश की चौदह प्रमुख भाषाओं के विकास के लिए एक राष्ट्रीय अकादमी स्थापित की जाये, जिसका मुख्यालय हैदराबाद में होना अधिक अच्छा रहेगा।

आयोग के दो सदस्य—डा० सुनीति कुमार चटर्जी और डा० पी० सुब्बारायन—इन सिफारिशों से सहमत नहीं थे, और उनका यह दृष्टिकोण था कि अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिस्थापित करने में जल्दी करने का परिणाम "अहिन्दीभाषी जनता पर हिन्दी थोपना" होगा और उससे सार्वजनिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। इन सदस्यों ने सुझाव दिया कि भिन्न-भिन्न राज्यों द्वारा हिन्दी स्वेच्छापूर्वक अंगीकार कर लिए जाने के बाद, उन्हें यह निर्णय स्वयं करने देना चाहिए कि वे इसे अन्य राज्यों की सरकारों तथा केन्द्र के साथ पत्र-व्यवहार में किस सीमा तक उपयोग में ला सकेंगे। इन दोनों का यह दृढ़ मत था कि जब तक सरकारी भाषा, अर्थात हिन्दी, पूर्णत: विकसित नहीं हो जाती, अंग्रेज़ी भाषा प्रयुक्त होती रहे।

भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन (Reorganization of States on Linguistic Basis)

सरकारी भाषा आयोग स्थापित करने से पहले संघीय सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया था जिसे भारतीय संघ की घटक इकाइयों के पुनर्गठन के आधार-सिद्धान्त निरूपित करने का कार्य सौंपा गया था। इसका नाम राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganization Commission) था। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन व सिफारिशें भारत सरकार को सितम्बर 1955 में प्रेषित कीं। इसके विचार-विमर्श के चार सिद्धान्त थे—(i) भारत की एकता व सुरक्षा का परिरक्षण तथा उसे मजबूत बनाना, (ii) भाषायी एवं सांस्कृतिक एकरूपता, (iii) वित्तीय, आर्थिक एवं प्रशासनिक दृष्टिकोण, तथा (iv) आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति सम्बन्धी योजनाओं का सफल क्रियान्वयन।

सभी संगत तथ्यों पर विचार करने के बाद राज्य पुनर्गठन आयोग ने सिफारिश की कि भारतीय संघ की घटक इकाइयों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया जाये अर्थात वही अथवा एक-सी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों का राज्य बना दिया जाये। इस सिफारिश के आधार पर संसद ने 1956 के अन्त में राज्य पुनर्गठन विधेयक पारित किया और राज्यों को भाषा के आधार पर पुनर्गठित कर दिया गया। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने, जो लार्ड माउन्टबेटन के पश्चात् भारत के गवनर-जनरल बने थे, इस कृत्य को "भयानक भूल" बताया। बाद की घटनाओं से देखने में आया कि उनका कहना ठीक था।[3]

[3]उनके विचारों के विस्तृत अध्ययन के लिए 7 मार्च, 1970 के **'स्वराज'** का पृष्ठ 1 देखो।

अहिन्दी भाषी राज्यों द्वारा भाषा आयोग की सिफारिशों का प्रतिरोध (Opposition of the Recommendations of the Language Commission from Non-Hindi Speaking States)

राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन से जनता को अपनी-अपनी भाषाओं के महत्त्व का ज्ञान हुआ और वे अनुभव करने लगे कि उन्हें हिन्दी की अपेक्षा अपनी निजी भाषा के अध्ययन या उन्नति से अधिक लाभ होगा। इस प्रकार, राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाने की बजाय उनके विचारों में क्षेत्रीय एवं भाषायी संकीर्णताएँ आ गई, अत: सरकारी भाषा आयोग की सिफारिशें प्रकाशित होने पर उनकी मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। एक ओर जहाँ हिन्दीभाषी राज्यों में उनका स्वागत किया गया, अहिन्दीभाषी राज्यों द्वारा उनके प्रति विरोध प्रकट किया गया।[4] 3 सितम्बर, 1957 को अहिन्दीभाषी राज्यों के 50 कांग्रेसी व गैर-कांग्रेसी संसत्सदस्यों ने प्रधान मन्त्री नेहरू को एक ज्ञापन दिया कि "1965 तक अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिस्थापित करने से शासन-तन्त्र को बहुत हानि पहुँचेगी।" उन्होंने सुझाव दिया कि यह प्रतिस्थापन 1990 तक स्थगित कर दिया जाये।[5] 3 जनवरी, 1958 को मद्रास सरकार ने केन्द्र सरकार से प्रार्थना की कि कानून में हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेज़ी के भी दीर्घ काल तक प्रयोग का प्रावधान किया जाये और इसमें सभी राज्यों की सहमति के बिना परिवर्तन न किया जाये।

पंजाब में अकाली दल ने हिन्दी को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और केवल पंजाबीभाषी राज्य (पंजाबी सूबा) बनाने के प्रति आन्दोलन छेड़ दिया। 16 नवम्बर, 1960 को पंजाब राज्य विधान सभा ने सरकारी भाषा विधेयक पारित किया, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी प्रावधान था कि ज़िला स्तर तक के सभी प्रशासनिक कार्यों में तथा जिलों या उनके भागों से राज्य के साथ पत्राचार में पंजाबीभाषी क्षेत्रों के लिए गुरुमुखी लिपि में पंजाबी तथा हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी सरकारी भाषा होगी। 22 सितम्बर, 1961 को पंजाब विधानमण्डल ने पंजाबी भाषा के विकास के लिए राज्य में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने सम्बन्धी विधेयक पारित किया। फलत: 24 जून, 1962 को पटियाला में पंजाबी यूनीवर्सिटी का उद्घाटन डा० राधाकृष्णन द्वारा कराया गया।

26 मार्च, 1958 को पश्चिम बंगाल विधान सभा ने **सर्वसम्मति** से प्रस्ताव पास किया कि पश्चिम बंगाल राज्य हिन्दी को सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार नहीं करेगा और अंग्रेज़ी को ही बनाये रखा जायेगा। 1961 में उसने एक सरकारी भाषा विधेयक पारित किया जिसमें अधिकतम 10 नवम्बर, 1963 तक अंग्रेज़ी के स्थान पर बंगाली को

[4] माईनर वीनर, *The Politics of Scarcity* (दि युनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, 1962), पृष्ठ 67-72.

[5] देखो, सीलिग एस हैरिसन की पुस्तक *India, The Most Dangerous Decade* (प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन, 1960), पृष्ठ 105-114.

सरकारी भाषा बनाने का प्रावधान किया गया (दार्जिलिंग, कुर्सियांग और कलीम पोंग सब-डिवीज़नों को छोड़ कर जहाँ नेपाली के भी प्रयोग की अनुमति दी गई)। किन्तु बाद में बंगाली भाषा आशुलिपिकों की कठिनाई तथा बंगाली लिपि की टाईप मशीनें उपलब्ध न होने के कारण राज्य सरकार ने उपर्युक्त सीमा में दो वर्ष की वृद्धि कर दी।

सरकारी भाषा आयोग की सिफारिशों के कारण असम राज्य में और भी गम्भीर स्थिति सामने आई। असम विधानमण्डल ने सरकारी भाषा विधेयक पारित किया जिसे 17 दिसम्बर, 1960 को गवर्नर की सहमति प्राप्त हो गई। इस विधेयक द्वारा हिन्दी व अंग्रेज़ी दोनों का परित्याग कर के घोषित किया गया कि राज्य की सरकारी भाषा **असमिया** होगी। असम में प्रवासी बंगालियों की संस्था **संग्राम परिषद** ने 19 मई, 1961 को एक अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया जिसका उद्देश्य बंगाली भाषा को असम की एक सरकारी भाषा के रूप में मान्यता दिलाना था। इस आन्दोलन को अनेक विपक्षी नेताओं और कांग्रेसी नेताओं का समर्थन प्राप्त था। असम के कछार जिले के प्रमुख नगर सिल्चर में, जहाँ बड़ी संख्या में बंगाली रहते थे, गम्भीर उपद्रव हुए जिसमें पुलिस को गोली चलानी पड़ी और 55 व्यक्ति हताहत हुए। इससे सारे कछार और पश्चिमी बंगाल में बहुत रोष फैला और हड़ताल की गई। कछार की गैर-बंगाली जनता के संगठन, **शान्ति परिषद**, ने संग्राम परिषद की माँग के प्रत्युत्तर में आन्दोलन किया। दोनों आन्दोलनों के समर्थकों में अनेक झड़पें हुईं और अनेक मकानों को आग लगा दी गई तथा दुकानों को लूट लिया गया। लगभग 58,000 बंगालियों ने असम में अपनी जान-माल के खतरे के डर से भाग कर पश्चिम बंगाल में शरण ली। बाद में असम व पश्चिम बंगाल की सरकारों में हुए एक समझौते के फलस्वरूप उनमें से अधिकतर अपने घरों को लौट गए। उन्हें सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से, साथ ही, वहाँ सरकारी भाषा (असमिया) के प्रयोग में रुकावट न पड़ने देने के उद्देश्य से असेम्बली ने 7 अक्तूबर, 1961 को एक और विधेयक पारित किया जिसके द्वारा दिसम्बर 1960 के सरकारी भाषा विधेयक में यथोचित सुधार किया गया।

प्रधान मन्त्री द्वारा गैर-हिन्दीभाषी राज्यों की आशंकाओं का खण्डन (Prime Minister Allays Fears of Non-Hindi Speaking States)

केन्द्र सरकार को देश के गैर-हिन्दीभाषी राज्यों की उपरोक्त घटनाओं के कारण बड़ी चिन्ता हुई। प्रधान मन्त्री नेहरू ने पहले 7 अगस्त को और फिर 4 सितम्बर, 1959 को संसद में घोषणा की कि "वैकल्पिक भाषा के रूप में" अंग्रेज़ी तब तक प्रयुक्त होती रहेगी, "जब तक जनता उसे चाहेगी" और अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिस्थापित करने का निर्णय हिन्दीभाषी जनता द्वारा नहीं बल्कि गैर-हिन्दीभाषी जनता द्वारा किया जायेगा। 1 अगस्त, 1960 को तत्कालीन केन्द्रीय गृहमन्त्री गोविन्द वल्लभ पंत ने घोषित किया कि सरकार सरकारी भाषा आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार

नहीं करेगी कि अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती के लिए हिन्दी को अनिवार्य कर दिया जाये।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन द्वारा तीन भाषायी सूत्र की सिफारिश (National Integration Conference Recommends Three-Language Formula)

जिस समय देश के विभिन्न भागों में भाषावाद फैल रहा था, साम्प्रदायिक एकता भी—जो 1954 से लगभग स्थिर थी—छिन्न-भिन्न हो गई और 3 अक्तूबर, 1961 को अलीगढ़ में गम्भीर हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव फूट पड़ा। अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी से आरम्भ हो करयह उपद्रव शीघ्र ही उत्तर प्रदेश, विहार, पश्चिम बंगाल, और मध्य प्रदेश के अनेक कस्बों में फैल गया। संघीय सरकार ने अनुभव किया कि विघटनकारी शक्तियाँ वहुमत प्रवल हैं तथा जोर पकड़ती जा रही हैं और उन्हें अधिक गम्भीर स्थिति में पहुँचने से पूर्व रोक देना चाहिए। अतः इस समस्या पर विचार करने के लिए प्रमुख राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों और वैज्ञानिकों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में बुलाया गया। यह सम्मेलन 28 सितम्बर, 1961 से 1 अक्तूबर, 1961 तक हुआ और इसे 'राष्ट्रीय एकता सम्मेलन' के नाम से पुकारा गया।

इस सम्मेलन में भाषा-समस्या पर भी विचार-विमर्श किया गया और सारे देश में माध्यमिक शिक्षा के लिए तीन भाषायी सूत्र स्वीकार करने की सिफारिश की गई। इस सूत्र में स्कूलों में तीन भाषाओं की अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान था—क्षेत्रीय भाषा व अंग्रेज़ी, साथ में अहिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी तथा हिन्दीभाषी क्षेत्रों में कोई एक अन्य क्षेत्रीय आधुनिक भाषा व अंग्रेज़ी'। इस सम्मेलन द्वारा यह भी सिफारिश की गई कि विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी भाषा के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाये और सारे भारत में प्रयोग के लिए एक "सम्पर्क भाषा" को बनाए रखा जाये। यह सम्पर्क भाषा अभी अंग्रेज़ी हो, जिसका स्थान अन्ततः हिन्दी द्वारा ले लिया जाये।

संसद द्वारा सरकारी भाषा विधेयक पारित (Parliament Passes the Official Language Bill)

संघीय सरकार के सम्मुख ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि अहिन्दीभाषी राज्यों द्वारा माँग की जा रही थी कि सरकारी कामकाज में तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाई के माध्यम के लिए या तो क्षेत्रीय भाषाओं को स्वीकार किया जाय या अंग्रेज़ी को ही चलने दिया जाये। साथ ही, सरकार को यह चिन्ता थी कि कहीं उत्तरोत्तर वढ़ता हुआ हिन्दी-विरोधी आन्दोलन हिंसक घटनाओं में न फूट पड़े जिससे देश की सुरक्षा व एकता को भी खतरा हो सकता था। अतः सरकारने अप्रैल 1963 में संसद में सरकारी भाषा विधेयक प्रस्तुत किया जिसके मुख्य प्रावधान निम्न प्रकार से थे :

(1) अंग्रेज़ी को 26 जनवरी, 1965 के वाद भी (जिस तारीख को, संविधान के

प्रावधान के अनुसार, उसके स्थान पर हिन्दी प्रतिस्थापित की जानी थी) उन सभी सरकारी कार्यों में—जिनमें वह उससे पहले प्रचलित थी—तथा संसद की कार्रवाई में हिन्दी के अतिरिक्त प्रयुक्त किया जाता रहेगा।

(2) जब किसी राज्य के विधानमण्डल ने विधायिका की कार्रवाई के लिए हिन्दी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा स्वीकार की हो तो हिन्दी एवं अंग्रेज़ी अनुवाद अवश्य प्रकाशित किया जाये।

(3) 1963 के बाद, राष्ट्रपति की पूर्वअनुमति से किसी राज्य के गवर्नर उस राज्य के उच्च न्यायालयों के फैसलों, आदेशों, या डिक्रियों के प्रकाशन के लिए हिन्दी या उस राज्य की सरकारी भाषा उपयोग की अनुमति दे सकते हैं किन्तु उसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित किया जायगा (संविधान में उच्च न्यायालय के सभी फैसलों को अंग्रेज़ी में जारी करने का प्रवाधान है)।

(4) राज्य के कानूनों और उच्च न्यायालय के निर्णयों को हिन्दी में अनुदित करने सम्बन्धी प्रावधान कश्मीर पर लागू नहीं होंगे।

कई दिन की जोरदार बहस के बाद यह विधेयक लोक सभा द्वारा 27 अप्रैल, 1963 को तथा राज्य सभा द्वारा 7 मई, 1963 को पास कर दिया गया।

हिन्दी केन्द्रीय सरकार की राजभाषा बनी (Hindi becomes Official *Language of the Union Government*)

धारा 143 के प्रावधानों के अनुसार अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को भारतीय संघ की सरकारी भाषा बना दिया गया और गृह मन्त्री गुलजारीलाल नन्दा ने घोषित किया कि हिन्दी के विकास एवं प्रचार तथा केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग के सभी उपाय किये जायेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि राजभाषा अधिनियम की भावना के अनुरूप हिन्दी का प्रचलन इस ढंग से बढ़ाया जायेगा कि जो व्यक्ति हिन्दी नहीं जानते, उन्हें कोई कठिनाई न होने पाये। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी लाने की रफ्तार लगभग वही रखी जाये जो अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में हिन्दी का ज्ञान बढ़ाने की रफ्तार हो।

हिन्दी-विरोधी आन्दोलन में तेज़ी (Anti-Hindi Agitation Intensifies)

राजभाषा विधेयक और नन्दा की घोषणा के फलस्वरूप मुख्यत: दक्षिणी राज्यों द्वारा बहुत विरोध प्रकट किया गया। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की केन्द्रीय परिषद ने 10 जून, 1963 को घोषित किया कि वह राजभाषा विधेयक के विरुद्ध "सीधी कार्रवाई" का आन्दोलन करेगी और "हिन्दी के साम्राज्यवाद" को आगे नहीं बढ़ने देगी (राज सभा विधेयक उस समय राष्ट्रपति की सहमति के लिए पड़ा था) और "दक्षिण की जनता को निम्न श्रेणी के नागरिक बना कर रखने के षड्यन्त्र को चकनाचूर कर देगी।" यह आन्दोलन नवम्बर में शुरू किया गया और दिसम्बर में भी चलता रहा।

संविधान के भाग xvii की प्रतियाँ, जिसमें राजभाषा सम्बन्धी प्रावधान हैं, खुलेआम जलाई गई और केन्द्रीय सरकार के मद्रास स्थित कार्यालयों पर धरने दिये गए। कई सौ प्रमुख सदस्य स्वेच्छापूर्वक जेल गए, पर उन्हें बाद में छोड़ दिया गया।[6]

इस घोषणा से कि 26 जनवरी, 1965 से हिन्दी राजभाषा होगी, विद्यार्थियों में भी बड़ा रोष फैला। उन्होंने तमिलनाडु छात्र हिन्दी-विरोधी परिषद बनाई और सारे प्रदेश में आन्दोलन छेड़ दिया। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर हिंसापूर्ण उपद्रव हुए और पुलिस की गोली से अनेक लोग मारे गये। बहुत-सी सरकारी व गैर-सरकारी सम्पत्ति लूट ली गई तथा हज़ारों व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया। पाँच युवकों ने मद्रास में अपने कपड़ों में आग लगा कर आत्मदाह किया।

दक्षिण के एक अन्य राज्य आन्ध्र प्रदेश में भी राजभाषा विधेयक के प्रति बड़ी कटुता विद्यमान थी। आन्ध्र के विधान मण्डल ने 6 जून, 1964 को एक विधेयक पारित करके 25 जनवरी, 1965 के बाद भी विधायक प्रक्रिया में अंग्रेज़ी का उपयोग जारी रखने का प्रावधान किया। राज्य में अनेक स्थानों पर विरोध सभाएँ और प्रदर्शन हुए। इसका प्रभाव मैसूर, केरल तथा पाण्डिचेरी के संघीय प्रदेश में भी हुआ, पर वहाँ इतने अधिक तीव्र आन्दोलन नहीं हुए।

पश्चिम बंगाल में सरकार ने घोषित किया कि कुछ और समय तक बंगाली और नेपाली के साथ-साथ अंग्रेज़ी भी राजभाषा बनी रहेगी।

11 फरवरी, 1965 को कलकत्ता में छात्रों ने उन पर हिन्दी "थोपने" के प्रति विरोध प्रकट किया। यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दी फिल्मों को दिखाने के प्रति भी रोष व्यक्त किया जिन्हें वे अन्यथा पसन्द करते थे। पश्चिम बंगाल के अन्य शहरों व कस्बों में भी आंदोलन हुए पर उसने कहीं भी हिंसात्मक रूप नहीं लिया।

प्रधान मन्त्री शास्त्री द्वारा नेहरू के आश्वासन की पुष्टि—राजभाषा अधिनियम में संशोधन (Prime Minister Shastri Reaffirms Nehru's Assurance—Official Language Act is Modified)

कलकत्ता में जिस दिन हिन्दी-विरोधी आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसी दिन प्रधान मन्त्री शास्त्री ने कामराज, निजलिंगप्पा[7], संजीवा रेड्डी और अतुल्य घोष के आग्रह पर आकाशवाणी से राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित करके भाषा के प्रश्न पर नेहरू के आश्वासन को दोहराया। उन्होंने कहा कि अंग्रेज़ी एक वैकल्पिक भाषा के रूप में तब तक बनी रहेगी, 'जब तक लोग उसे चाहेंगे,' और उसके लिए निर्णय हिन्दीभाषी जनता के बजाय अ-हिन्दीभाषी जनता द्वारा किया जायेगा। 22-23 फरवरी को कांग्रेस कार्य-

[6]विस्तृत अध्ययन के लिए देखो, माइकेल ब्रीचर, n. 1, पृष्ठ 156-57. कुलदीप नैयर की पुस्तक *Between the Lines* (एलाइड पब्लिशर्ज, बम्बई, 1969), पृष्ठ 56 भी देखो।

[7]कुलदीप नैयर से उद्धृत, वहीं पुस्तक।

समिति की एक बैठक के बाद, जिसमें राज्यों के मुख्य मन्त्री भी मौजूद थे, प्रधान मन्त्री ने घोषित किया कि नेहरू द्वारा दिये गए आश्वासन को कानूनी समर्थन प्रदान करने के लिए सरकार राजभाषा अधिनियम में संशोधन करने पर विचार करेगी। शास्त्री जी ने कहा कि एक "संपर्क भाषा" तो होनी ही चाहिए, पर वह भारतीय भाषा हो। ऐसा कोई काम नहीं किया जाएगा जिससे भारत की एकता को ठेस पहुँचे।

द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम और तमिलनाडु छात्र हिन्दी-विरोधी आन्दोलन परिषद ने अपने आन्दोलन उसी दिन समाप्त कर दिये। दिसम्बर 1967 में, राजभाषा अधिनियम (1963) में संशोधन का एक विधेयक पारित किया गया और नेहरू व शास्त्री के आश्वासन एक कानूनी प्रपत्र में शामिल कर दिये गए।

कोठारी आयोग द्वारा तीन भाषायी फार्मूले में संशोधन की सिफारिश

(Kothari Commission Recommends Modification of Three-Language Formula)

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन द्वारा 1961 में जो "तीन भाषायी फार्मूला" सुझाया गया था, उसे लागू करने की गति बहुत धीमी थी। अनेक अहिन्दीभाषी राज्यों द्वारा हिंदी को अनिवार्य घोषित नहीं किया गया और हिन्दीभाषी क्षेत्रों में बहुत कम स्कूलों ने कोई दूसरी भारतीय भाषा पढ़ानी शुरू की गई। इस प्रश्न के प्रति राज्यों की उदासीनता से सरकार को बड़ी चिन्ता हुई और केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री एम० सी० छागला ने अनुभव किया कि इस दिशा में आवश्यक प्रगति नहीं हुई है, अतः उन्होंने 12 मार्च, 1964 को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० डी० एस० कोठारी के नेतृत्त्व में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया जिसे भारत में शिक्षा के सभी पहलुओं पर विचार करके शिक्षा के राष्ट्रीय प्रारूप और सभी स्तरों पर शिक्षा के सर्वांगी विकास की नीति एवं आम सिद्धान्त निर्धारित करने सम्बन्धी परामर्श देने का काम सौंपा गया। प्रौढ़ शिक्षा, कानूनी शिक्षा एवं डाक्टरी शिक्षा इस आयोग के परिक्षेत्र से बाहर थे।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट जून 1966 में दी। उसने "तीन भाषायी फार्मूले" में एक संशोधन करके क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, अंग्रेजी या कोई अन्य आधुनिक भारतीय या यूरोपीय भाषा पढ़ाने का सुझाव दिया। कोठारी आयोग ने यह भी सिफारिश की कि विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रवर्तन का कार्य दस वर्ष की अवधि में पूरा कर लिया जाए, पर अखिल भारतीय शिक्षा संस्थानों में अंग्रेज़ी का प्रयोग जारी रहे। अन्ततः अंग्रेज़ी का स्थान कालान्तर में हिन्दी को देने की व्यवस्था की जाए।

राज्यों के शिक्षा संस्थानों में क्षेत्रीय भाषा—अखिल भारतीय संस्थानों में अंग्रेजी भाषा (Regional Language in State Institutions—English in All-India Institutions)

कोठारी आयोग की रिपोर्ट एवं सिफारिशों पर एक ओर संसत्सदस्यों की एक शिक्षा समिति ने तथा दूसरी ओर राज्यों के शिक्षा मन्त्रियों के एक सम्मेलन ने विचार किया। उन सबके विचारों में बहुत भिन्नता पाई गई और सहमति न हो सकी। नए शिक्षा मन्त्री त्रिगुण सेन ने 14 जुलाई, 1967 को लोक सभा में घोषित किया कि सरकार ने सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लिया है कि "सभी स्तरों पर सभी विषयों के लिए" क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम के रूप में लागू किया जाये। राज्यों के शिक्षा मन्त्रियों की एक बैठक इसके पाँच सप्ताह बाद हुई, जिसमें क्षेत्रीय भाषाओं को विश्वविद्यालय स्तर पर अंगीकार करने के औचित्य के प्रति संदेह व्यक्त किया गया। डा० सेन ने उनके संदेहों को अपने इस वक्तव्य द्वारा दूर किया कि क्षेत्रीय भाषाओं के प्रतिस्थापन में "विश्वविद्यालयों में, विषयों में, तथा प्रत्येक विश्वविद्यालय से संबंधित संस्थानों तक में यथावश्यक भिन्नता रखनी होगी।" उन्होंने कहा कि आधार यह होना चाहिए कि प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन से शिक्षा का स्तर सुधारने में सहायता मिले। उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ने की आवश्यकता पर भी बल दिया क्योंकि इससे "छात्रों को संसार के बढ़ते हुए ज्ञान तक सीधी पहुँच मिलती है।" उपकुलपतियों के एक सम्मेलन ने 13 सितम्बर, 1967 को डा०सेन के सभापतित्व में संकल्प किया कि स्नातक-पूर्व स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं का प्रतिस्थापन 5 से 10 वर्ष के भीतर पूर्ण किया जाये; अंग्रेज़ी के अध्ययन के महत्त्व को पूरी तरह समझ कर उसके अध्ययन की उचित व्यवस्था की जाये; अखिल भारतीय शिक्षा संस्थानों में अंग्रेज़ी का पढ़ाया जाना जारी रहे; बड़े-बड़े नगरों में, जहाँ अनेक भाषा बोलने वाले लोग बसते हैं, क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेज़ी का भी प्रयोग किया जाये; तथा विज्ञान, तकनीक, एवं चिकित्सा संस्थानों में स्नातकोत्तर एवं शोध-कार्य स्तर पर अंग्रेज़ी का उपयोग करना ही पड़ेगा क्योंकि विदेशी पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ अंग्रेज़ी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में ही उपलब्ध होंगी।[8] अत: इसी बात पर बल दिया जाता था कि या तो अंग्रेज़ी विद्यमान रहे या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति की जाये। हिन्दी के विस्तार पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

छागला का मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र—क्षेत्रीय भाषाओं का विरोध (Chagla Resigns from Ministry—Opposes Regional Languages)

31 अगस्त, 1967 को राज्यों के विधि मन्त्रियों के समक्ष भाषण करते हुए तत्कालीन उप-प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई ने विधि उद्देश्यों के लिए "यथासम्भव शीघ्र-

[8]देखो माइकेल ब्रेचर, n. 1, पृष्ठ 162-64।

तम" हिन्दी अथवा अन्य भाषाओं के उपयोग की आवश्यकता पर बल दिया तथा सलाह दी कि संसद के सभी अधिनियमों एवं कृत्यों का पाँच से दस वर्ष तक की अवधि में प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया जाना चाहिए।

उसी दिन एम० सी० छागला ने, जो उस समय विदेश मन्त्री थे, मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया। इन्दिरा गांधी को भेजे गए अपने पत्र में उन्होंने अपने त्यागपत्र का कारण यह बताया कि वे डा० सेन के सुझाव के अनुसार विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाएँ लागू करने के विरोधी थे। उन्होंने लिखा कि सरकार की शिक्षा नीति से "भारत की एकता को आघात पहुँच सकता है, और उनकी रक्षा करना हमारे लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।" श्रीमती गांधी को भेजे गए अपने पत्र में उन्होंने यह भी कहा कि देसाई के मतानुसार "उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालयों की भाषाएँ भिन्न होने से हमारी न्यायिक एकता पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो जाएगी।"

इसके कुछ सप्ताह बाद उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बा राव ने मद्रास में 2,000 से अधिक विधिवेत्ताओं, शिक्षाविदों तथा वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन में देसाई के न्यायालयों में हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाएँ लागू करने के सुझाव का खण्डन किया। अटार्नी-जनरल सी० के० दफ्तरी ने भी उच्च न्यायालयों एवं सर्वोच्च न्यायालय में क्षेत्रीय भाषाएँ लागू करने के सुझाव का ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया।

केन्द्रीय विधि मन्त्री द्वारा क्षेत्रीय भाषाएँ लागू करने को प्रोत्साहन (Union Law Minister Encourages Adoption of Regional Languages)

संघीय सरकार ने न तो छागला द्वारा अपने त्यागपत्र में प्रधान मन्त्री को भेजे गए विरोध की ओर विशेष ध्यान दिया और न ही सुब्बा राव एवं दफ़्तरी के कथनों की परवाह की बल्कि विधि मंत्री पी० गोविंदा मेनन ने 11 दिसम्बर, 1967 को राज्य सभा में वक्तव्य दिया कि यदि कोई राज्य अपने न्यायालयों तथा उच्च न्यायालय की कार्रवाई क्षेत्रीय भाषा में कराना चाहेगी तो संघीय सरकार उसमें बाधक नहीं होगी।

भाषा के प्रश्न पर पुनः उपद्रव (Disturbances on Language Question Again)

सरकार की भाषा-नीति से हिन्दी के समर्थकों एवं प्रतिरोधियों दोनों में ही बड़ा रोष फैला। पहले उत्तरी राज्यों उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र में अंग्रेज़ी-विरोधी प्रदर्शन व उपद्रव हुए और भीड़ ने, जिसमें अधिकतर छात्र होते थे, अराजकता एवं हिंसापूर्ण कृत्य किये। सरकारी सम्पत्ति की भी बहुत क्षति हुई।

18 दिसम्बर, 1967 को मद्रास राज्य में छात्रों ने हिन्दी विरोधी आन्दोलन आरंभ किये जो शीघ्र ही आन्ध्र और मैसूर तक जा पहुँचे। सरकारी और निजी सम्पत्ति पर आक्रमण के फलस्वरूप पुलिस को गोली चलानी पड़ी, लाठी चार्ज हुए और अश्रु गैस चलाई गई, जिसमें अनेक लोग हताहत हुए। 20 जनवरी, 1968 को उप-प्रधान मन्त्री

(मोरारजी देसाई) जब बंगलौर गए तो उनका स्वागत सारे शहर में हुए हिंसक प्रदर्शनों द्वारा किया गया। इसके तीन दिन बाद मद्रास विधान सभा के एक विशेष अधिवेशन में एकमत से एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें यह माँग की गई कि संविधान में संशोधन करके सभी चौदह क्षेत्रीय भाषाओं को संघ की राजभाषा बना दिया जाये और जब तक ऐसा नहीं हो जाता, अंग्रेज़ी ही भारत की राजभाषा बनी रहे; भाषा-नीति सम्बन्ध प्रस्ताव के क्रियान्वय को तुरन्त स्थगित कर दिया जाये तथा "भाषा-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव से उत्पन्न अन्याय" को समाप्त करने व भाषा की समस्या का हल ढूँढने के लिए एक राष्ट्रव्यापी सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया जाये। विधान सभा के प्रस्ताव में यह भी प्रावधान था कि मद्रास के विद्यालयों में केवल अंग्रेज़ी व तमिल भाषाएँ पढ़ाई जाएँ तथा हिन्दी को पाठ्यक्रम से बिलकुल निकाल दिया जाये। इस प्रस्ताव के आवेश में सरकार ने स्कूलों में हिन्दी पढ़ाना बन्द करने के आदेश दिये।

संघीय सरकार द्वारा तीन भाषायी सूत्र का पुन: अनुसरण (Union Government Reverts to Three-Language Formula)

उपर्युक्त आन्दोलनों और प्रति-आन्दोलनों से संघीय सरकार अपनी तीन भाषायी सूत्र लागू करने की नीति से विचलित नहीं हुई। नवम्बर 1970 के तत्कालीन शिक्षा मन्त्री वी० के० आर० वी० राव ने घोषित किया कि विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि सारे संसार में जो विलक्षण ज्ञान-वृद्धि हो रही है, भारत उससे अनभिज्ञ रहना सहन नहीं कर सकता, अत: अंतरिम अवधि में अंग्रेज़ी का अध्ययन बंद नहीं किया जा सकता।[9]

राष्ट्रीय एकता समिति द्वारा तीन भाषायी सूत्र पर दीर्घकालीन योजना का सुझाव (National Integration Panel Suggests Longterm Plan on Three Language Formula)

सन् 1973 में शिक्षा अनुसंधान और प्रशिक्षण सम्बन्धी राष्ट्रीय परिषद (नेशनल कौंसिल आफ़ ऐड्यूकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग) ने, जो सरकार द्वारा प्रायोजित था और जिसका व्यय भी सरकार उठाती थी, प्रख्यात इतिहासवेत्ता एस० गोपाल की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय एकता समिति गठित की। इस समिति ने सुझाव दिया कि केन्द्र सरकार 15 से 20 वर्ष तक अहिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी पढ़ाने तथा हिन्दीभाषी राज्यों में कोई अन्य आधुनिक भारतीय भाषा पढ़ाने की जिम्मेदारी ले; तीन भाषायी सूत्र को अधिक उग्रतापूर्वक लागू किया जाये; तथा राज्य सरकारें पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने तथा उन्हें सभी अल्पसंख्यकों को उचित मूल्य पर उपलब्ध कराने की ओर अधिक

[9] *The Hindustan Times*, 27 नवम्बर, 1970, पृष्ठ 6.

ध्यान दें।

भाषा समस्या के समाधान में विलम्ब (Language Issue still Eludes Solution)

राजभाषा आयोग स्थापित होने तथा उसकी सिफ़ारिशें प्रकाशित होने के समय से ही संघीय सरकार को भाषा की समस्या का सामना करना पड़ रहा था। बहुत सोच-विचार के बाद सरकार ने तीन भाषायी फार्मूला स्वीकार करने का निश्चय किया, जो इस प्रकार था: अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलाप के लिए तथा संसार के अधिक विकसित देशों से औषधि, तकनीकी, वैज्ञानिक एवं साहित्यिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंग्रेज़ी भाषा राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए हिन्दी भाषा ताकि एक राष्ट्रीय भाषा सर्वदेशीय भाषा बन सके और एक संपर्क भाषा का काम दे सके; तथा स्थानीय उद्देश्यों के लिए प्रादेशिक भाषाएँ ताकि प्रत्येक प्रदेश का सांस्कृतिक विकास एवं समृद्धि हो सके। ज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में, सरकारी एवं गैर-सरकारी नौकरियों में तथा अन्य पेशों में स्थान पाने के उपकरण के रूप में अंग्रेज़ी भाषा समृद्ध होती गई। अपनी संकीर्णता एवं प्रादेशिक निष्ठा के कारण प्रादेशिक भाषाएँ भी विकसित होती गईं और हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का स्तर प्राप्त न हो सका। संघीय सरकार के गृह मंत्रालय ने सरकारी दफ़तरों में इस भाषा का उपयोग बढ़ाने के लिए एक 'ज़ोरदार कार्यक्रम' आरम्भ करने का दावा किया, पर वह कार्यक्रम आरम्भिक स्तर पर ही असफल हो गया। सर्वोच्च न्यायालय एवं समय-समय पर स्थापित किए गए न्यायाधिकरणों में तो क्या, केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों एवं संसद में भी अधिकतर काम अंग्रेज़ी में ही होता रहा। उसे राजधानी एवं महानगरीय क्षेत्रों में तथा सम्भ्रान्त समाज की भाषा होने का गौरव प्राप्त होता रहा। यद्यपि सामान्य जनता को राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के नाम पर हिन्दी माध्यम अथवा प्रादेशिक भाषा माध्यम के स्कूलों में भेजने की सीख दी जाती रही, पर उच्च सरकारी अधिकारियों, मन्त्रियों, धनी व्यापारियों और समृद्ध मध्यम वर्ग तक के बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूलों में ही शिक्षा पाते रहे।

भावावेश एवं अनभिज्ञता के कारण लाखों बच्चे हिन्दी माध्यम अथवा प्रादेशिक भाषा माध्यम स्कूलों व कॉलेजों में शिक्षा पाते रहे, पर राज्य सरकारों ने उनके लिए उन भाषाओं में ज्ञान-सामग्री जुटाने के उचित प्रबन्ध नहीं किए। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा का स्तर बिल्कुल गिर गया। अहिन्दी भाषी राज्यों ने हिन्दी के प्रयोग एवं अध्ययन में वृद्धि के कोई सुहृद एवं गम्भीर प्रयत्न नहीं किये, अतः वह संपर्क भाषा के रूप में विकसित न हो सकी। द्विभाषी राज्यों और असम जैसे बहुभाषी राज्यों में भाषा का प्रश्न सजीव बना रहा और समय-समय पर हिंसक प्रदर्शन होते रहे तथा अव्यवस्था फैलती रही। अनेक अवसरों पर राजनीतिक दलों ने भाषायी समस्या से राजनीतिक लाभ उठाने के प्रयत्न किये। उदाहरणतया, जनसंघ और हिन्दू महासभा ने अनेकों बार हिन्दी भाषा के गुणों का बखान किया और मुस्लिम लीग तथा जमाते-इस्लामी

ने उर्दू की महानता का गुणगान किया पर राजनीतिक उपलब्धि के अवसर समाप्त होते ही ये दल अपनी प्रिय भाषा के विकास में रुचि लेना छोड़ देते हैं। इस प्रकार, देश की हज़ारों अन्य समस्याओं के साथ-साथ भाषा की समस्या का भी समाधान न हो सका। यद्यपि इस समस्या के समाधान के लिए अभी रक्तपात नहीं हुआ पर देश की बुद्धिमत्ता, ज्ञान, एकता व अखण्डता की जड़ें अवश्य हिली हैं। कई राज्यों व प्रदेशों में भाषायी अल्पसंख्यकों के साथ मारपीट एवं हिंसा का व्यवहार हुआ और बहुसंख्यक सम्प्रदाय ने माँग की कि केवल "धरती के पुत्रों को ही" अर्थात् केवल उन्हीं लोगों को जो प्रादेशिक भाषा बोलते हैं, सरकारी व गैर-सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए। उदाहरणतया, महाराष्ट्र में शिव सेना ने केरल एवं कर्नाटक-वासियों को इसलिए तंग किया और उनके साथ मारपीट की कि केरल-वासियों की भाषा मलयालम और कर्नाटक वालों की भाषा कन्नड़ थी। असम में बंगालियों और मारवाड़ियों को 'बाहर के व्यक्ति' बता कर अनेकों को राज्य छोड़ने पर बाध्य किया गया। अनेक अन्य राज्यों में भी भाषायी अल्पसंख्यकों को भी ऐसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ये प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय अखण्डता के सिद्धान्त के पूर्णतः प्रतिकूल थीं। सरकार को इनसे चिन्ता अवश्य हुई, पर उसने "धरती के पुत्रों" के सिद्धान्त के निराकरण के कोई प्रयत्न नहीं किये।[10]

हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के प्रयत्न (Efforts to Make Hindi an International Language)

जनवरी 1975 के दूसरे सप्ताह में नागपुर में एक पाँच-दिवसीय विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें अनेक देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दक्षिणी राज्यों से लगभग 400 प्रतिनिधि आये। सम्मेलन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ से हिन्दी को अपनी अधिकृत भाषा बनाने का आग्रह किया गया। 14 जनवरी को केन्द्रीय कृषि मन्त्री जगजीवन राम ने वर्धा में विश्व हिन्दी विद्यापीठ (International Hindi Academy) का शिलान्यास किया, जिसका उद्देश्य हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर से उठाकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचाना था। इस प्रकार हिन्दी के पृष्ठपोषक, जो उसे राष्ट्रीय भाषा बनाने में अभी तक सफल नहीं हो सके, उसे अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के प्रयास करने लगे। प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने हिन्दीवादियों को धीरे चलने की सलाह देते हुए कहा कि देश के प्रत्येक बच्चे को तीन भाषाएँ अवश्य सीखनी चाहिए—स्थानीय कार्यों के लिए मातृभाषा, अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए हिन्दी और अन्य देशों के साथ क्रियाकलाप के लिए अंग्रेज़ी।

[10]उसी में, 29 नवम्बर, 1973, पृष्ठ 4.

अध्याय 17

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता
(Communalism in Indian Politics)

जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में भारत "अनेकता में एकता" है। इसकी एकता केवल पाकिस्तान से 1965 व 1971 में लड़े गए दो युद्धों के समय प्रकट हुई, पर अनेकता तो इसके स्वतन्त्रता प्राप्ति व उसके बाद के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का वास्तविक तत्त्व एवं कठोर सत्य रहा है। स्वतन्त्रता से पूर्व की अनेकता एवं विविधता इन तथ्यों से प्रकट होती है : (1) यद्यपि कांग्रेस सारे देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रही थी, मुस्लिम लीग उसे दो भागों में विभाजित कराने का आन्दोलन कर रही थी। (2) यद्यपि अनेक सिख स्वातन्त्र्य संघर्ष के समर्थक थे, मास्टर तारा सिंह एवं उनके अनेक अनुयायी सिखों के लिये पृथक खालिस्तान की माँग कर रहे थे। (3) यद्यपि देशी राज्यों की जनता स्वातन्त्र्य संघर्ष में कांग्रेस के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चल रही थी, उनके नरेश स्वतन्त्र राज्यों के दर्जे की माँग कर रहे थे। उनमें से कुछ तो ब्रिटिश शासन जारी रखे जाने के पक्ष में थे। (4) यद्यपि महात्मा गांधी इत्यादि कांग्रेसी नेता सभी जातियों एवं वर्गों की एकता पर जोर दे रहे थे, डा० भीमराव अम्बेडकर व उनके सहयोगी "अछूतों" की पृथक इकाई स्थिर करके उनके लिये विशेष संरक्षा और हितरक्षा की व्यवस्था की माँग कर रहे थे।[1]

भारत के राजनीतिक मंच पर साम्प्रदायिक विग्रह हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव के रूप में उजागर होता रहता था। इतनी विविधता के बावजूद भारत अपने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य को पा सका, इसका कारण यह नहीं है कि "शत्रु" के सम्मुख कोई संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत किया गया, प्रत्युत इसका यह कारण था कि दूसरे महायुद्ध के फलस्वरूप "शत्रु" द्वारा अपनी जकड़ बनाये रखना असम्भव हो गया था। हिन्दुओं एवं मुसलमानों की साम्प्रदायिक शत्रुता का अत्यधिक कठोर हो जाना भी वस्तुतः एक कारण था।

स्वतन्त्रता के बाद भारत की अनेकता केन्द्र व राज्यों के बीच तनाव, साम्प्रदा-

[1]देखो जे० छिन्नादुराई की पुस्तक *The Choice Before India*, पृष्ठ 111-132.

यिकता, क्षेत्रीयता और भाषायी विवादों से उजागर होती थी। ये समस्याएँ देश के राजनीतिक जीवन पर छा गई तथा वर्तमान शासकों का ध्यान आकर्षित करके उनकी शक्ति को क्षीण करती रहीं। इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है और इन पर पृथक-पृथक रूप से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय (Religious Minority Communities)

भारत में अनेक सम्प्रदाय एवं धार्मिक मत विद्यमान थे, जिनमें प्रमुख स्थान हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों, ऐंग्लो-इण्डियनों, पारसियों, ज़ोरोस्ट्रियनों, बौद्धों और जनजातीय, धर्मों के अनुयायियों का था। हिन्दू बहुसंख्या में थे पर अन्य सभी सम्प्रदाय अल्पसंख्यक थे। इन सम्प्रदायों के अलग-अलग धर्म, भाषाएँ, परम्पराएँ, रीति रिवाज और आदतें थीं तथा कुछ के धर्म एवं सामाजिक रीतियों में कुछ मामलों में तीव्र मतभेद था। कुछ व्यक्ति, जो राष्ट्रीयता की भावना से अत्यधिक ओतप्रोत थे, उनका दृष्टिकोण था कि अंग्रेज़ शासकों ने भारतीय जनता को पृथक-पृथक समुदायों में इस प्रकार विभाजित कर दिया था कि वे परस्पर कभी एक न हो सकें ताकि ब्रिटिश शासन सदैव चलता रहे। चाहे पूर्णतः सत्य न हो पर इतिहास साक्षी है कि उन्होंने यहाँ के साम्प्रदायिक मतभेदों का समुचित लाभ उठाया। उन पर अधिक से अधिक यह आरोप लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपनी "फूट डाल कर राज्य करने" की नीति के परिचालन में साम्प्रदायिक मतभेद को मुख्यतः हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच की खाई को और चौड़ा किया। इस नीति का यह परिणाम हुआ कि मुस्लिम सम्प्रदाय ने जो मुस्लिम साम्प्रदायिकता प्रस्तुत की, वह कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीयता की भावना के एकदम विपरीत एवं प्रतिरोधात्मक थी। मुस्लिम लीग ने भारत के विभाजन की माँग की और कांग्रेसी नेताओं ने उसे मनाने के जितने भी प्रयत्न किये, सभी बेकार गये। अन्ततः गांधी सहित सभी कांग्रेसी नेताओं ने यह निर्णय किया कि मुसलमानों की साम्प्रदायिक आकांक्षा केवल पाकिस्तान बनाने से ही सन्तुष्ट होगी। उनका यह भी विचार था कि पाकिस्तान स्थापित होने के बाद भारत व पाकिस्तान शान्तिपूर्वक मिलजुल कर रह सकेंगे तथा साम्प्रदायिक शत्रुता समाप्त हो जायगी। शायद यह निर्णय उचित सिद्ध होता यदि सत्ता के हस्तांतरण से काफी पहले भारत से मुसलमानों एवं पाकिस्तान से हिन्दुओं के स्थानान्तरण का कार्यक्रम बना कर कार्यान्वित कर दिया जाता तथा विभाजन से उत्पन्न होने वाले अन्य मामलों पर भी पहले से समझौता कर लिया जाता। लेकिन कांग्रेस के चोटी के नेता इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि हिन्दू व मुसलमान दो भिन्न राष्ट्र हैं तथा राजगोपालाचार्य ने जनता के स्थानान्तरण का जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, उससे घृणा करते थे।[2] इसके अति-

[2]महात्मा गांधी एवं अन्य नेताओं का विचार था कि "दो राष्ट्रों" का सिद्धान्त कोई वास्तविक नहीं है। गांधी ने लिखा था कि "मैंने कहीं नहीं सुना कि दुनिया में जितने धर्म हों, उतने ही राष्ट्र

रिक्त, उन्हें सत्ता इतनी जल्दबाज़ी से हस्तांतरित कर दी गई थी कि इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया जा सका। अतः जब लाखों मुसलमान भारत से चले गये, उससे कई गुना को समझा कर भारत में ही रख लिया गया और उन्हें उनके जीवन, धर्म और सम्पत्ति की रक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया गया। यदि पाकिस्तान के शासक भी ऐसे ही नरम विचारों एवं विशालहृदयता का परिचय देते तथा हिन्दुओं को भी उसी प्रकार अपने घरों में इज्जत व सुरक्षापूर्वक रहने देने की व्यवस्था करते, तो अपनी-अपनी प्रादेशिक सीमाओं के भीतर दोनों देश तथा दोनों देशों—भारत व पाकिस्तान—में ये दोनों सम्प्रदाय शायद सुख-चैनपूर्वक मिल कर रह पाते। किन्तु ऐसा नहीं किया गया और लाखों हिन्दुओं को भारत आने पर बाध्य किया गया। उनकी सम्पत्ति को लूट लिया गया अथवा नष्ट कर दिया गया; उनके सगे-सम्बन्धियों को मार डाला गया या वे उनसे पृथक हो गए; तथा उनकी स्त्रियों की बेइज्ज़ती एवं दुर्गति की गई। भारत में ऐसे व्यक्तियों की संख्या विशाल थी और ऐसी परिस्थिति में देश के विभाजन के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। वस्तुतः वह यदि पहले से अधिक गम्भीर नहीं तो पहले के समान गम्भीर अवश्य बना रहा। यह तथ्य हिन्दू-मुस्लिम के बीच बार-बार होने वाले दंगों से सर्वविदित है।

अन्य अल्पसंख्यक समुदायों का मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में विचरण (Other Minorities Join National Mainstream)

थोड़े से सिखों के अतिरिक्त अन्य अल्पसंख्यक समुदायों ने, यद्यपि उनमें परस्पर अनेक भिन्नताएँ विद्यमान थीं, अपना भाग्य राष्ट्र के मुख्य प्रवाह से जोड़ लिया तथा उन्होंने कोई समस्या प्रस्तुत नहीं की। एंग्लो-इण्डियनों, पारसियों, और ज़ोरोस्ट्रियनों ने ब्रिटिश शासन काल में ही पाश्चात्य वेशभूषा संस्कृति, रिवाज, धर्म और जीवन-यापन के ढंग ग्रहण कर लिए थे और उन्हें सरकारी संरक्षण दिया जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नई सरकार ने भी उनके हितों की रक्षा की। उदाहरणतया, संविधान की धारा 331 में प्रावधान था कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो कि एंग्लो-इण्डियन सम्प्रदाय को लोक सभा में उसकी धारा 81 के अनुसार सामान्य रचना द्वारा उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, तो वे उस सम्प्रदाय के अधिकतम दो सदस्य लोक सभा के लिए नामाङ्कित कर सकते हैं। इसी प्रकार धारा 333 में राज्यों के गवर्नरों को राज्य विधान सभाओं के लिए वही अधिकार दिया गया है। यह प्रावधान मूलतः 10 वर्ष के लिए किया गया था। 1959 में इसे दस वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया तथा 1969 में इसे पुनः 1980 तक के लिए बढ़ा दिया गया। इस

होंगे।" गांधीजी की पुस्तक : *The Way to Communal Harmony* (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1963) के पृष्ठ 296 पर देखिए।

प्रकार, इन सम्प्रदायों को राजनीतिक सुरक्षा, आर्थिक स्थिरता एवं सांस्कृतिक संरक्षा उपलब्ध होने से उन्होंने देश की अखण्डता को चुनौती देने जैसा कोई कार्य नहीं किया। अपने ही समाज में पर्याप्त सामाजिक सम्बन्ध विद्यमान होने के फलस्वरूप वे अपनी ही दुनिया में बस गए तथा स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढाल लिया।

1971 में जब सरकार संसद में 24वें तथा 25वें संविधान संशोधन विधेयक पारित कराने के प्रयत्न कर रही थी, लोक सभा में ऐंग्लो-इण्डियन सम्प्रदाय के नामांकित प्रतिनिधि फ्रैंक संथनी ने आशंका व्यक्त की कि यदि वे विधेयक पारित हो गए तो अल्पसंख्यकों के हित कुण्ठित हो जाएंगे। किन्तु सरकार ने उनके हितों की निर्बाध संरक्षा का वचन दिया जिससे वे तथा अन्य अल्पसंख्यक सन्तुष्ट हो गए।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे (Hindu-Muslim Communal Riots)

स्वातन्त्र्य प्राप्ति के समय जो हृदय-विदारक हत्याकाण्ड हुआ, उसमें लाखों स्त्री, पुरुष एवं बच्चे मौत के घाट उतारे गए। इसके बाद 1954 से 1960 के वर्षों में शांति रही। लेकिन 1961 में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के हिन्दू और मुस्लिम छात्रों में दंगा हुआ, जो शीघ्र ही उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश के अनेक नगरों में फैल गया। 1962 व 1963 में साम्प्रदायिक दंगे कुछ कम हुए। 26 दिसम्बर, 1963 को हज़रत मुहम्मद की निशानी पवित्र बाल (मूह-ए-मुबारक) के बारे में समाचार छपा कि उसे हज़रतबल (श्रीनगर के निकट) की एक मस्जिद में से चुरा लिया गया है। इस पर कश्मीर के मुसलमानों ने हड़ताल की तथा विरोध-प्रदर्शन किये, हिंसा एवं अराजकता की अनेक घटनाएँ हुईं।[3] राज्य सरकार ने पवित्र अवशेष की सरगर्मी से तलाश की और उसे वापस मस्जिद में पहुँचा दिया गया। यद्यपि उसे उसके संरक्षकों ने पहचान लिया, पर कुछ कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं ने यह अफवाह फैला दी कि वह बाल असली नहीं है। वे जनता में निरन्तर हिंसा भड़काते रहे और सारे जनवरी 1964 में स्थिति तनावपूर्ण रही। विद्रोह की चिनगारियाँ पूर्वी पाकिस्तान के खुलना और जैसोर जनपदों तक पहुँची और वहाँ 200 हिन्दुओं की हत्या कर दी गई और उनके घर-द्वार लूट कर जला दिये गए। सैंकड़ों हिन्दू डर के मारे भाग कर पश्चिमी बंगाल आ गए। ढाका और उसके निकटवर्ती नगर नरायणगंज में और भी गम्भीर उपद्रव हुए और हज़ारों हिन्दुओं तथा जन-जातीय व्यक्तियों को शरणार्थियों के रूप में भाग कर भारत आना पड़ा। यह तांता चलता रहा और भारत सरकार द्वारा प्रकाशित उस समय के आँकड़ों के अनुसार जून के अन्त में यह संख्या 5,06,224 थी। इनमें 47,900 ईसाई और 20,000 बौद्ध भी शामिल थे। हिन्दू शरणार्थियों ने जो उत्पीड़न की गाथाएँ सुनाईं और उससे जो प्रचार हुआ, उसके फलस्वरूप कलकत्ता

[3]देखो जी० एस० भार्गव, *After Nehrus ; India's New Image*, पृष्ठ 205,

और पश्चिम बंगाल के अनेक ग्रामीण इलाकों में उपद्रव हुए इनमें अनेक व्यक्ति हताहत हुए। बिहार, उड़ीसा, और मध्य प्रदेश में भी गम्भीर उपद्रव एवं हिंसा की आग भड़की तथा सैंकड़ों व्यक्ति मारे गए।

भारत-पाकिस्तान युद्ध के वर्ष 1965, में भी शान्ति रही, पर 2 अक्तूबर, 1966 को वाशिम (महाराष्ट्र) में जब कुछ मुसलमानों ने एक गौ-संरक्षा सम्बन्धी जुलूस पर पथराव किया और पुलिस की गोली से 11 व्यक्ति मारे गए, तब पुनः दंगे हुए। 1967 में श्रीनगर में एक ब्राह्मण कन्या को मुसलमान बना कर एक मुसलमान के साथ उसका विवाह कर दिया गया, तब भी गम्भीर उपद्रव हुए। ब्राह्मण सम्प्रदाय ने उस लड़की के वापस किये जाने की माँग की मुसलमानों ने उसका प्रतिपक्षी आन्दोलन किया। इसके फलस्वरूप 24 से 27 अगस्त तक जो उपद्रव हुए, उनकी आग जम्मू तक फैल गई और अनेक व्यक्ति हताहत हुए। स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए सेना की सहायता लेनी पड़ी। उसी वर्ष 3 अक्तूबर को जब यह समाचार फैला कि कुरान के फटे हुए टुकड़े एक कॉलेज के संडास में पड़े पाये गए हैं, तो कुछ क्रुद्ध मुस्लिम विद्यार्थियों ने इस प्रकार कुरान को "गन्दा" किये जाने के विरोध में प्रदर्शन किया और पुलिस से भिड़ गए। इसके चार दिन बाद जनसंघ ने जम्मू में प्रदर्शन किया तथा हिंसा व उपद्रव की अनेक घटनाएँ हुईं।

बिहार में विपक्षी दलों की एक मिली-जुली सरकार थी। उसी के एक सदस्य, संयुक्त समाजवादी दल, ने प्रस्ताव किया कि बिहार में उर्दू को दूसरे नम्बर की सरकारी भाषा बना दिया जाये, पर उसी सरकार के एक अन्य घटक दल जनसंघ ने इसका विरोध किया। तब 24 से 28 अगस्त, 1968 तक राँची में भीषण साम्प्रदायिक उपद्रव हुए जिनमें कम से कम 158 व्यक्ति मारे गये, 160 व्यक्ति घायल हुए, और लगभग 1000 व्यक्ति गिरफ़्तार किये गए। शान्ति स्थापित करने के लिए सेना बुलानी पड़ी। 15 अक्तूबर को सूरसण्ड (बिहार) में और अधिक उपद्रव हुए जिनमें 30 व्यक्ति मारे गये।

1968 के दौरान उत्तर प्रदेश, असम और पश्चिम बंगाल में सब से अधिक साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। 18 जनवरी को मेरठ में कुछ हिन्दुओं ने मुसलमानों की एक राजनीतिक सभा पर आक्रमण किया, जिसमें 17 व्यक्ति मारे गए। 15 मार्च को इलाहाबाद में होली के त्यौहार पर दंगा हो गया जिसके फलस्वरूप 3 व्यक्ति मारे गए और अनेक घरों को लूट कर उनमें आग लगा दी गई। 2 मार्च को एक आवारा गाय को लेकर करीमगंज (असम) में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए, जिनमें 7 व्यक्ति मारे गए, 43 घायल हुए और 233 व्यक्ति बन्दी बनाए गए। 30 मार्च को तिनसुखिया में एक गाय के वध के प्रश्न पर दंगे आरम्भ हुए।

14 मार्च को कलकत्ता में एक हिन्दू व एक मुसलमान में परस्पर कहासुनी अथवा मारपीट हो गई, पर इसके फलस्वरूप दोनों धड़ों में गोली चली। इससे स्थिति इतनी खराब हो गई कि पुलिस को 'देखते ही गोली मारने' का आदेश देना पड़ा। लगभग

1000 व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया जिनमें से 400 के विरुद्ध स्पष्ट दोषारोपण थे। जून में औरंगाबाद में एक मुस्लिम नानबाई ने एक आवारा गाय को इसलिए मार डाला कि वह उनकी रोटियां खा जाना चाहती थी, तो और भी गम्भीर उपद्रव हुए। हिन्दुओं ने आक्रोश में आ कर उस नानबाई की दुकान को अस्तव्यस्त कर दिया, मुसलमानों की दुकानों को लूटा और उनमें से कुछ में आग लगा दी। तीन व्यक्ति पुलिस की गोली से मारे गए। एक नाई और उसके ग्राहक में तकरार हो गई, जो दूसरे सम्प्रदाय का था। इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक उपद्रव हो गया जिसमें 29 व्यक्ति मारे गए और लगभग 150 मकान, जिनमें एक सिनेमा भी था, जला दिये गए। केरल और मैसूर में भी, जहाँ पहले ऐसी घटनाएँ बहुत कम सुनने में आती थीं, अछूते नहीं रहे।

स्वतन्त्रता के बाद सबसे अधिक निकृष्ट साम्प्रदायिक दंगे 1969 में गुजरात की राजधानी अहमदाबाद में हुए। 18 सितम्बर को एक हिन्दू मन्दिर की गायों के एक रेवड़ ने एक मस्जिद के निकट अनेक मुसलमानों को अपने सींगों से मार गिराया। कुछ बच्चों को भी चोटें आईं। मुसलमानों ने गायों को मन्दिर तक खदेड़ दिया। इससे हिन्दु क्रुद्ध हो उठे और लड़ाई हो गई जिसमें 11 व्यक्तियों को चोटें आईं। इसकी प्रतिक्रिया सारे शहर में हुई और गैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार 600 से लेकर 1200 तक व्यक्ति मारे गए। उसके बाद ये उपद्रव गुजरात के अन्य भागों में भी फैल गए और जन सम्पत्ति की अपार हानि हुई। खान अब्दुल गफ्फ़ार खाँ जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रथम बार, गांधीजी के जन्म-शताब्दी समारोह में भाग लेने भारत आए थे, इस घटना से बहुत दुखी हुए और उन्होंने 3 अक्तूबर से "धार्मिक घृणा के व्याप्त वातावरण का प्रायश्चित करने के लिए" तीन दिन का व्रत आरम्भ किया। गुजरात के गवर्नर श्रीमन्नरायण और पश्चिम बंगाल के एक भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, पी० सी० सेन ने एक दिन का व्रत रखा। बम्बई, पटना और पंजाब तथा हरियाणा के अनेक नगरों में भी हज़ारों व्यक्तियों ने एक-एक दिन का व्रत रखा। किन्तु इन सब प्रायश्चितों का कोई प्रभाव न हुआ और 7 मई, 1970 को जब बम्बई के निकट भिवंडी नगर में शिवाजी की याद में निकाले गए एक जुलूस पर पथराव किया गया। इसके परिणामस्वरूप जो उपद्रव हुए, उनमें लगभग 80 व्यक्ति मारे गए और लगभग 1000 मकान तहस-नहस कर दिये गए। 1971 व 1972 में भी कुछ उपद्रव हुए। गृह मन्त्रालय में राज्य मन्त्री, रामनिवास मिर्धा ने 9 मई, 1974 को एक वक्तव्य में बताया कि 1973 में साम्प्रदायिक हिंसा की 242 घटनाएँ हुईं जिनमें आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, कर्नाटक, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और देहली राज्य मुख्य रूप से प्रभावित हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दिल्ली में सबसे गम्भीर साम्प्रदायिक उपद्रव 5 मई, 1974 को हुआ, जिसमें 7 व्यक्ति मारे गए और सैकड़ों घायल हुए।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता बनी रहने के कारण (Why Hindu-Muslim Communalim Persisted?)

इस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता क्यों विद्यमान रही। किन्तु इससे भी पहले हमें साम्प्रदायिकता के अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य भाषा में साम्प्रदायिकता अथवा फिरकापरस्ती से तात्पर्य अन्य धर्म-सम्प्रदायों के प्रति शत्रुता की भावना तथा उनके अनुयायियों के प्रति पक्षपात एवं यथा संभव छेड़छाड़ की प्रवृत्ति माना जाता है। यथार्थ में, साम्प्रदायिकता का अर्थ केवल अपने सम्प्रदाय से लगाव रखना तथा केवल अपने सम्प्रदाय के व्यक्तियों की ही रक्षा एवं उत्थान से सम्बन्ध रखना होता है। किन्तु व्यवहार में साम्प्रदायिकता इससे भी अधिक जटिल प्रश्न है तथा अनेक कारणों से उत्पन्न होती है। ब्रिटिश राज में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के मुख्य कारण धर्म स्थानों, धार्मिक ग्रंथों, आराधना प्रणालियों, धार्मिक त्यौहारों, सामाजिक रीतियों, सामान्य जीवनयापन के तरीकों, भाषा एवं रहने के स्तरों में भिन्नताएँ थीं।[4] निश्चय ही **फूट डाल कर राज्य करने** की ब्रिटिश नीति का इसमें सबसे अधिक हाथ था। ब्रिटिश राज्य की समाप्ति के बाद भी ये मतभेद विद्यमान रहे तथा आपसी फूट के कुछ और तत्त्व भी उपस्थित हुए। ये थे : मुसलमानों की पृथकत्व भावना, उनकी धार्मिक कट्टरता एवं सुधार न स्वीकार करने की आदतें, उनका आर्थिक पिछड़ापन, पाकिस्तान की भूमिका, हिन्दू अतिराष्ट्रीयता, एवं सरकार की अकर्मण्यता। आगे उनका पृथक-पृथक विवेचन किया जा रहा है।

I. मुसलमानों की पृथकत्व भावना (Separatism and Isolationism among Muslims) हिन्दू-मुस्लिम मतभेद का प्रथम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण मुसलमानों की अपने आप को बहुसंख्यक सम्प्रदाय से अलग रखने तथा भारत की धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीय नीति से मेल न करने की प्रवृत्ति है।

स्वतंत्रता के निकट-पूर्व एवं बाद के दिनों में मुहम्मद इस्माईल, नवाब इस्माईल खाँ इत्यादि कुछ मुस्लिम नेताओं ने अनुभव किया कि गैर-मुस्लिम बहुसंख्या वाले प्रान्तों के मुसलमानों द्वारा पाकिस्तान की स्थापना का समर्थन किया जाना, भारी भूल

[4]विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक की पुस्तक *Indian National Movement* (विकास पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1969) देखो पृष्ठ 125-28, प्रेमनाथ बजाज की पुस्तक *Whither India After Independence?* पृष्ठ 1-15-32 भी देखो। स्वतन्त्रतापूर्व के भारत में साम्प्रदायिकता के विकास के लिए देखा, जोन आर० मॅक्लेन, ऍड, *The Political Awakening in India* (*Prentic Hall Inc., New Jersey 1970*) पृष्ठ 98-145, *The Times of India*, 23, 24 जुलाई, 1974 में गोपाल कृष्ण का लेख "Communalism Revisited" भी देखो।

थी।[5] उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थिति को सुधारने के प्रयत्न किये। इसके लिए उन्होंने भारतीय मुसलमानों में प्रचार किया कि वे उन राजनीतिक दलों एवं व्यक्तियों को समर्थन दें तथा उनके हाथ मजबूत करें, जो धर्मनिरपेक्षता एवं आर्थिक न्याय के पृष्ठपोषक हों। वे राष्ट्र के मुख्य प्रवाह में सम्मिलित हो जायें क्योंकि उनका भविष्य शेष भारतीय जनता के साथ मिल कर रहने में है, पृथक रहने में नहीं, तथा उन्हें यह लांछन मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए कि देश के विभाजन का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है।

किन्तु इन विचारों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक मुस्लिम संगठन एवं व्यक्ति यही प्रचार करते रहे कि मुस्लिम सम्प्रदाय को अपने हितों, संस्कृति, भाषा एवं धर्म की रक्षा के लिए स्वयं को पृथक रूप से संगठित करना चाहिए। **जमायते-इस्लाम**[6] ने मुसलमानों को स्वतंत्र भारत के संविधान के अन्तर्गत होने वाले प्रथम आम चुनावों में भाग न लेने का परामर्श दिया। उनका यह कहना था कि चुनाव में इस्लामी राज्य स्थापित नहीं हो जायेगा। मुस्लिम धर्म-गुरुओं एवं विद्वानों की संस्था **जमायत-उल-उलेमा-ए-हिन्द** के एक प्रभाग ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये। 1948 में बची-खुची मुस्लिम लीग ने मुसलमानों की पृथक चुनाव सूचियों की माँग की। यह 1950 वाले दशक में सुप्त रही, पर तीसरे आम चुनाव के अवसर पर पुनः जागृत हो गई। 29 अक्तूबर, 1961 को जब मुहम्मद रज़ा खाँ ने जब मुख्य संस्था से पृथक हो कर नई "ऑल इण्डिया मुस्लिम" स्थापित की, तो इस संस्था में फूट पड़ गई। किन्तु पुरानी लीग के महा सचिव, इब्राहीम सुलेमान सायत ने 1960 वाले दशक में यही रट लगाये रखी कि उनका संगठन "मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि निकाय" है तथा "केवल वह ही भारत के मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है।"

मुस्लिम हितों की व्याख्या करने तथा केवल ऐसे राजनीतिक दलों को समर्थन देने के लिए, जो मुस्लिम हितों के विकास का वचन दें, भारतीय मुसलमानों ने मार्च 1971 के मध्यावधि चुनावों से पूर्व नई दिल्ली में एक अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन किया, जिसमें देश के कोने-कोने से आ कर मुसलमानों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अनेक प्रस्ताव पारित किये गए जिनमें मुसलमानों के हितों पर बल दिया गया था। इन प्रस्तावों में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा, उर्दू की रक्षा सरकारी नौकरियों में स्थानों के आरक्षण, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के स्तर की

[5]देखो, मुइन शकीर का लेख "Muslim Politics after Independence." *The Hindustan Times,* 20 जुलाई, 1970, पृष्ठ 73, तथा एम० आर० ए० बेग की पुस्तक "*The Muslim Dilemma in India* (विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1973) तथा पी० दीक्षित की पुस्तक *Communalism: A Struggle for Power* (औरियण्ट लौंगमैन्स, दिल्ली, 1973)

[6]यह 1970 वाले दशक में लगभग 2000 पूरे समय कार्य करने वालों की एक अतिवादी संस्था थी। कहा जाता है कि इसका उसी नाम की पाकिस्तानी संस्था से निकट संबंध था, जिसके नेता मौलाना मौदूदी थे।

संरक्षा तथा अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुनाव करने की माँगें की गई थीं। सम्मेलन ने, जो संस्थाएँ उससे सम्बद्ध हों, उनमें तालमेल स्थिर करने के लिए एक अखिल भारतीय राजनीतिक सलाहकार समिति नियुक्त की। यह घोषित किया गया कि समिति अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करेगी प्रत्युत वह उन मुस्लिम संस्थाओं के लिए, जो उससे परामर्श लेना चाहें, "एक केन्द्रीय संस्था" के रूप में कार्य करेगी।[7]

एक भूतपूर्व संसत्सदस्य असांर हरवानी ने वताया कि मुस्लिम सम्मेलन का मुख्य प्रेरणा-स्रोत अली मियाँ था, जो जमायते-इस्लामी के निकट सम्बन्ध रखता था। उनका कहना था कि जमायता का अखवाने मुसलमीन से निकट सम्बन्ध है, जिसने इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति का तख्ता पलटा तथा वह अंजुमन-सभानुल-मुसलमीन से भी सम्बन्धित है जिसने स्वर्गीय राष्ट्रपति नासर (संयुक्त अरब गणराज्य) की हत्या के अनेक प्रयत्न किये।

केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस दलीय सरकारों द्वारा मुस्लिम जनता की दशा में सुधार की आशा छोड़कर मुस्लिम लीग, 1970 वाले दशक के आरम्भ में, अधिक सक्रिय हो उठी और उसने देश के ऐसे सभी बड़े नगरों व कस्बों में, जहाँ मुसलमान अच्छी संख्या में थे, अपनी शाखाएँ स्थापित कर लीं। 5 अगस्त, 1973 को मुस्लिम लीग की एक शाखा उत्तर प्रदेश में खोली गई और अनेक मुसलमानों ने अन्य राजनीतिक दलों का परित्याग करके उनकी सदस्यता ग्रहण की। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की एक और संस्था 'मुस्लिम मजलिस' स्थापित की गई और उसने मुसलमानों में हिन्दुओं से पृथक होने की भी भावना फैलानी शुरू की। 1974 में उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए चुनावों के अवसर पर उसने संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी एवं भारतीय क्रान्ति दल से समझौता करके उनके समर्थन द्वारा स्थानों की एक निश्चित संख्या पर चुनाव लड़ने का निर्णय किया। थोड़े से मुस्लिम नेताओं ने इन संगठनों की गतिविधियों की आलोचना की और मुस्लिम जनता से देश की धर्म निरपेक्ष शक्तियों के साथ सहयोग करने का आग्रह किया। शेख मुहम्मद अब्दुल्ला लीग पर वरस पड़े और उसे देश के विभाजन की जिम्मेदार ठहराते हुए दुख प्रकट किया कि मुसलमानों ने स्वयं को देश की बदली हुई हालत के अनुसार नहीं ढाला है। कुछ उदार एवं सुलझे विचारों के मुस्लिम विद्वानों ने विचार प्रकट किये कि मुस्लिम सम्प्रदाय की समस्याओं का समाधान मुस्लिम लीग द्वारा नहीं हो सकता तथा उसका भविष्य हिन्दुओं के साथ मिलकर रहने में है, पृथक रहने में नहीं।[8] उल्लेखनीय है कि मुस्लिम वर्गीय एवं साम्प्रदायिक संगठनों के जी-तोड़ प्रचार के बावजूद मुस्लिम लीग

[7] *The Hindustan Times*, 21 दिसम्बर, 1970 पृष्ठ 1. इन प्रस्तावों की ऑल इण्डिया सिटिज़ेन्स फ़ोरम के सभापति रवींद ख्वाजा ने तथा पंजाब अंजुमन इस्लामिया के अध्यक्ष ने घोर निन्दा की। अंसार हरवानी का कहना था कि सम्मेलन ने भारतीय मुसलमानों के आत्म-सम्मान को ठेस पहुंचाई है।

[8] 17 सितम्बर, 1973 के *The Hinndustan Times* में ताहिर महमूद का लेख "The League is not the Answer" देखो।

एवं मुस्लिम मजलिस को फरवरी 1974 के राज्य विधान सभा के चुनावों में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मुस्लिम लीग ने 51 स्थानों पर चुनाव लड़ा, पर उसे केवल एक स्थान प्राप्त हुआ और मतदाताओं ने हिन्दुओं अथवा मुसलमानों किसी की भी साम्प्रदायिकता के प्रति कोई रुचि नहीं ली।

2. **मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता एवं सुधार न करने की आदत** (Religious orthodoxy and Obscurantims among Muslims) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साम्प्रदायिकता का पोषण करने वाला एक और तत्त्व मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता एवं उनकी सुधार न करने की आदत थी। जमायत-ए-इस्लामी, मजलिस-ए-मशावरत, मुस्लिम लीग और मुस्लिम मजलिस पुराने घिसे-पिटे विचारों, इस्लाम की मध्यकालीन शान-शोकत (जो अब कान्तिविहीन हो चुकी थी), वैयक्तिक जीवन में धर्म की प्रमुखता एवं महत्त्व, तथा हिन्दू व मुस्लिम संस्कृतियों, निजी कानून एवं रहने तथा विचार करने की शैली में मूल मतभेद के आधार को बढ़ावा देती रहीं।

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के भविष्य को भी, जिसे संघीय सरकार एक अल्पसंख्यक संस्थान की बजाय राष्ट्रीय संस्थान बना देना चाहती थी, अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के सांस्कृतिक रूप का प्रश्न बताया गया। 1971 में हुए अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन (ऑल इण्डिया पोलिटिकल कन्वैंशन) ने भारत सरकार को मुसलमानों के "निजी कानूनों" में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी दी।

यह सब उस समय किया जा रहा था, जब पाकिस्तान एवं अन्य मुसलमान देशों के लोग भी **शरीयत** पर आधारित "निजी कानून" में अनेक सुधार कर रहे थे।[9]

1972 के अन्त में मुसलमान विद्वानों, धर्म-गुरुओं और राजनीतिक नेताओं का एक सम्मेलन बम्बई में हुआ। इसकी अध्यक्षता उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले के देवबंद स्थित दारुल अलूम के मौलाना क़ारी मुहम्मद तैयब ने की तथा उद्‌घाटन अरबिक अकादमी के रेक्टर डा० यूसुफ नजमुद्दीन ने किया। सम्मेलन में भाग लेने वालों में

[9]पाकिस्तान के मुख्य न्यायाधीश हमूदुर रहमान ने, जो जनवरी 1971 में कॉमनवेल्थ देशों के मुख्य न्यायाधीशों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिल्ली आये थे, बताया कि **शरीयत** में मुसलमानों को एक से अधिक पत्नियाँ रखने की अनुमति दी गई है। पर अब पाकिस्तान में ऐसा कोई भी व्यक्ति, जिसकी एक पत्नी जीवित हो, उसकी लिखित सहमति के बिना दूसरा विवाह नहीं कर सकता। पत्नियाँ भी अपने पति को तलाक दे सकती हैं, जो कि **शरीयत** द्वारा अनुमति नहीं है यदि किसी व्यक्ति के पिता का उसके पितामह के जीवनकाल में देहान्त हो जाये तो पोते को अपने पितामह की सम्पत्ति में से हिस्सा पाने का अधिकार है। इसकी भी **शरीयत** में अनुमति नहीं दी गई है। देखो *The Hindustan Times*, 6 जनवरी, 1971, पृष्ठ 12। इंस्टीच्यूट आफ़ ऐडवांस्ड लीगल स्टडीज़, लंदन के निदेशक' जे० एन० डी० ऐन्डर्सन ने नई दिल्ली में "Contemporary Legal Trends in the Muslim World" पर भाषण करते हुए, अनेक अन्य देशों में "निजी कानून" में किये गए परिवर्तनों की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा कि "अधिकतर मुस्लिम देशों में शरीयत का परिक्षेत्र बहुत कम कर दिया गया है तथा शेष को भी उत्तरोत्तर आधुनिक बनाया जा रहा है। *The Hindustan Times*, 12 जनवरी, 1972, पृष्ठ 3.

मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, शिया कान्फ्रेंस, जमायत-ए-तावीगी, जमायत-उल-उलेमा-ए-हिन्द, जमायत-ए-इस्लामी, इत्तहादुल मुसलमीन, दिल्ली, इस्लामिक रिसर्च इंस्टिट्यूट, लखनऊ, सुलेमानी बोहरा सम्प्रदाय तथा सुन्नी जमायत के प्रतिनिधि भी शामिल थे। इनके अतिरिक्त, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के कुछ प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया, जो इस प्रकार था : "हम अपनी हुक़ूमत, अपनी इज्ज़त, सम्पत्ति, तथा उर्दू भाषा, सभी कुछ गवाँ चुके हैं और यदि हमसे खुद खुदा के दिए हुए धर्म और 'निजी कानून' को भी छीन लेने की कोशिश की जाती है तो हमारा कोई सहारा ही नहीं रहेगा।" प्रस्ताव में संघीय सरकार को चेतावनी दी गई कि यदि उसने मुस्लिम निजी कानून में संशोधन करने की कोशिश की तो देश भर के मुसलमान उसे इस्लाम पर हमला समझेंगे तथा वे "महान संकट को रोकने" के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने से भी नहीं हिचकिचाएँगे। इस सम्मेलन तथा मुस्लिम लीगी नेता इब्राहीम सुलेमान सायत ने कुछ महीने बाद घोषित किया कि संविधान की धारा 44, जिसमें एक जैसे सिविल कोड का प्रावधान है, मुस्लिम निजी कानून पर लागू नहीं की जा सकती तथा मुसलमान उसमें संसद द्वारा परिवर्तन करने के कृत्यों को स्वीकार नहीं करेंगे।[10] इस प्रकार, बढ़ते हुए दबाव को देते हुए सरकार ने घोषित किया कि मुस्लिम निजी कानून में **परिवर्तन नहीं किया जायेगा।**

इसी प्रकार, मुस्लिम लीग तथा मुस्लिम मजलिस इत्यादि अनेक मस्लिम संगठनों ने 10 मार्च, 1973 को नई दिल्ली में एक ऑल इण्डिया अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी कान्फ्रेंस आयोजित की जिसमें 1972 के मुस्लिम यूनिवर्सिटी (संशोधन) अधिनियम में "मूल परिवर्तन" करने की तथा अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी का व्यवस्थापन मुस्लिम सम्प्रदाय को लौटाने की माँग की गई। इसके तीन सप्ताह बाद, जयामत-ए-उलेमा-ए-हिन्द की कार्य समिति ने अधिनियम में संशोधन करके अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी का "मूल" रूप पुनः स्थापित करने की माँग की। 22 अप्रैल, 1973 को मुस्लिम लीग ने घोषित किया कि वह उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी ऐक्ट के प्रश्न को लेकर चुनाव लड़ेगी। फरवरी 1974 में जब चुनाव हुए तो उसने इस प्रश्न को अपना एक मुख्य स्तम्भ बनाया। एम० सी० छागला इत्यादि कुछेक धर्म निरपेक्ष मुस्लिम नेताओं ने इस जैसे आन्दोलनों की आलोचना की और प्रधान मन्त्री से आग्रह किया कि "इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न पर ब्लैकमेल होकर हार मानने की आवश्यकता नहीं है।" उन्होंने उस यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व प्राध्याप्क, केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री, नूरूल हसन से सरकारी नीति बनाम मुस्लिम यूनिवर्सिटी के प्रश्न पर अडिग रहने का अनुरोध किया।

कुछ जुझारू मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने अप्रैल 1970 में दिल्ली में एक "सेना"

[10]देखो *The Hindustan Times*, 29 दिसम्बर, 1972 पृष्ठ 5, तथा 19 जून, 1973, पृष्ठ 4.

स्थापित की, जिसका कथित उद्देश्य मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा करना था। उसने अपने लिए एक हरा झण्डा चुना जिस पर एक सफेद चाँद तथा लाल तारा अंकित थे। "सेना" स्थापित होने के बाद कुछ ही घंटों के भीतर जामा मस्जिद क्षेत्र के पार्षद डा० जेड० ए० अब्बास मलिक ने धमकी दी कि यदि निज़ामुद्दीन मस्जिद और कब्रिस्तान की 24 घण्टे के भीतर मरम्मत नहीं की गई तो मुसलमान "सीधी कार्रवाई" करेंगे। इस सबसे यही प्रतीत होता है कि जब सारा देश मध्यकालीन परम्पराओं एवं पिछड़ेपन इत्यादि का परित्याग करके आधुनिकता में पदार्पण कर रहा था और जीवनयापन तथा विचार शैली की नयी रीतियाँ अपनाता जा रहा था, अनेक मुसलमान केवल "निजी कानूनों", कब्रिस्तानों, मस्जिदों तथा ऐसी ही अन्य चीज़ों के बारे में ही सोच रहे थे।

3. **मुसलमानों का आर्थिक पिछड़ापन** (Economic Backwardness of Muslims) संसद की तेज़ी से बदलती हुई हालत में भी धार्मिक कट्टरता एवं सुधार न करने की आदत का अनिवार्य परिणाम, मुस्लिम जनता का आर्थिक पिछड़ापन था। मुग़ल साम्राज्य के विघटन के बाद ब्रिटिश सरकार ने लगभग 100 वर्ष तक जिस मुस्लिम विरोधी नीति का अनुसरण किया, उससे मुसलमान बिल्कुल दरिद्र हो गए और अनेक तो भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ों द्वारा भारत में लाई गई औद्योगिक क्रान्ति से मुस्लिम कलाकारों एवं दस्तकारों की रोज़ी छिन गई। उनकी स्थिति तब भी नहीं बदल सकी, जब 19 वीं शताब्दी के अन्त में अंग्रेज़ों ने अपनी नीति को पूर्णतः बदल दिया क्योंकि एक बार पिछड़ जाने के बाद उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया था और वे बात-बात में धर्म एवं थोथी परम्पराओं का आश्रय लेने लगे थे। उन्हें पश्चिम की वैज्ञानिक, तकनीकी एवं साहित्यिक शिक्षा सहित आधुनिकता की सभी बातें अरुचिकर लगती थीं। इस स्थिति में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी सुधार नहीं हुआ। शैक्षणिक योग्यता न होने के कारण वे सरकारी नौकरियों में अपना उचित भाग प्राप्त न कर सके तथा व्यापार व उद्योग में भी उनका यही हाल था। इसके फलस्वरूप वे स्वाभाविक रूप से हताश एवं निरूत्साहित हो गए तथा उनकी यह निराशा यदा-कदा उन व्यक्तियों या सम्प्रदायों के प्रति हिंसा एवं अराजकतापूर्ण कार्रवाइयों के रूप में प्रकट होती थी, जो उन्हें सरकारी नौकरियों, व्यापार, तथा उद्योग में अपने से अच्छी हालत में प्रतीत होते थे।

4. **पाकिस्तान की भूमिका** (Role of Pakistan) देश के दोनों और पाकिस्तान स्थित था जो भारत में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन ही नहीं देता था अपितु आग्रहपूर्वक साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देता था। जब भी यहाँ हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव होते, पाकिस्तानी नेता और समाचारपत्र दंगे का वास्तविक उत्तरदायित्व स्थिर किये बिना हिन्दुओं के हाथों मुसलमानों के कत्ले-आम की कहानियाँ सुनाने लगते तथा सरकार पर इस "अपराध में साथ देने" का आरोप लगाते। उदाहरणतया, जब 1961 में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में उपद्रव हुए तो राष्ट्रपति

अयूब खाँ ने कहा कि "ये उपद्रव भारत सरकार की सहमति के बिना नहीं हो सकते थे।" पाकिस्तान के भारत स्थित उच्चायुक्त आग़ा हिलाली ने इसे "युद्धप्रिय हिन्दू सम्प्रदायवादियों द्वारा" मुसलमानों का सुनियोजित हत्याकाण्ड बताया और कहा कि यह एक बर्बरतापूर्ण कृत्य था। इसी प्रकार, जब कश्मीर में पवित्र अवशेष की चोरी के नाम पर उपद्रव हुए तो तत्कालीन पाकिस्तानी विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने 1 जनवरी, 1964 को आरोप लगाया कि यह चोरी भारत की ओर से कश्मीर पर कब्ज़ा रखने वाले अधिकारियों तथा उनके गुर्गों ने कराई है ताकि जम्मू-कश्मीर के मुसलमान भली भाँति यह समझ लें कि उनके जीवन, इज्ज़त एवं धर्म सुरक्षित नहीं हैं। उनकी भलाई राज्य छोड़ कर चले जाने में ही है ताकि राज्य की मुस्लिम बहुसंख्या अल्पसंख्या में परिणित हो जाये। पाकिस्तान के प्रमुख नगरों में विराट प्रदर्शन किये गए और वक्ताओं ने जनता को "जिहाद" के लिए तैयार रहने का सन्देश दिया।

पाकिस्तान ने यह सब कुछ तो इसलिए किया कि वह भारतीय मुसलमानों को भारत की धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्रीय शक्तियों से अलग रखना चाहता था, और कुछ तो इसलिए किया कि पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दुओं को अधिक दबा कर रखा जा सके अथवा इसलिए कि वे डर कर भारत को भाग जायें। पर अनेक अनपढ़ भारतीय मुसलमान यही समझते रहे कि पाकिस्तान उनका हितैषी, हितरक्षक एवं उपकारी है, और यदि आवश्यकता हुई तो वह "हिन्दू धर्मान्धता" से उनकी रक्षा करेगा। इन विचारों की पृष्ठभूमि में मौका मिलते ही वे हिंसा एवं उपद्रव के कृत्य करने से नहीं चूकते थे। यह कथन मुख्यतः मुस्लिम सम्प्रदाय के कट्टरपंथी एवं जुझारू व्यक्तियों के प्रति है।

5. **हिन्दू अतिराष्ट्रीयता** (Hindu Chauvinism) मुसलमानों की कट्टरता, सुधार न करने की आदत और पृथकता के स्वभाव की प्रतिक्रिया हिन्दू सम्प्रदाय पर भी हुई और उसमें अतिराष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो गई। हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना स्वतन्त्रता से पहले भी विद्यमान थी। उस समय यह हिन्दू महा सभा, आर्य समाज और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा फैलाई गई थी। ये संगठन "हिन्दू प्रधान देश" में हिन्दू संस्कृति की माँग करते थे एवं हिन्दुत्व, हिन्दू राष्ट्र एवं हिन्दू भाषा (हिन्दी) पर बल देते थे और महान प्रतापी संस्कृति एवं प्राचीन सभ्यता के देश आर्यावर्त्त का गुणगान करते थे। वे केवल ब्रिटिश संस्कृति को ही नहीं अपितु मुस्लिम संस्कृति को भी "विदेशी" मानते थे।

इन संगठनों की अतिराष्ट्रीयता देश के विभाजन के बाद और भी तीव्र हो गयी और हिन्दू आस्थाओं, महत्ताओं एवं विचारों के अधिकाधिक उग्रता एवं धर्मान्धतापूर्ण प्रचार के अतिरिक्त, उन्हें लागू कराने तथा उनका विस्तार करने के लिए सुनियोजित आन्दोलन चलाये गए। अक्तूबर 1950 में हिन्दू महासभा ने अपने द्वार ग़ैर-हिन्दू अल्पसंख्यकों के लिए खोल दिए, पर यह भी कहा कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को इस संगठन का सदस्य बनाया जायेगा जिनका देश से कुछ 'लगाव' है और उस 'लगाव'

की वे "हिन्दू राष्ट्र" प्रणाली के अन्तर्गत रक्षा करना चाहते हैं। उसके बाद यह पृष्ठ-भूमि में चली गई और अधिकतर गैर-राजनीतिक पूर्ण कार्यों की ओर अग्रसर हुई। जून 1956 में आर्य समाज ने, जोकि एक अनिवार्यत: सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है, हिन्दी भाषा को शैक्षणिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में "उचित" स्थान दिलाने की अपनी माँग के समर्थन में पंजाब में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। हिन्दुत्त्व का असली नेतृत्त्व राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के राजनीतिक अंग जनसंघ, के हाथों में चला गया। दूसरे आम चुनाव की पूर्वसंध्या को जनसंघ ने विभाजन को समाप्त करने और **अखण्ड भारत** पुन: स्थापित करने की माँग की, भारत में हिन्दू शरणार्थियों को बसाने के लिए पाकिस्तान से भूमि माँगने का प्रश्न उठाया और पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर को "आज़ाद" कराने का आग्रह किया। अपने तीसरे आम चुनावों के घोषणापत्र में उस ने अन्य बातों के अतिरिक्त **भारतीय संस्कृति** एवं **मर्यादा** पर बल दिया और कांग्रेसी सरकारों से पाकिस्तान एवं भारतीय मुसलमानों के "तुष्टीकरण" की नीति के परित्याग का आग्रह किया। साथ ही, उसने हिन्दी व संस्कृत भाषाओं की उन्नति करने की भी ज़ोरदार माँग की।

1966 के ग्रीष्म में, जनसंघ ने एक गौरक्षा आन्दोलन चलाया तथा गौहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। उसी वर्ष 7 नवम्बर को लगभग 100,000 व्यक्तियों की एक भीड़ ने संसद के समक्ष अपनी माँग के समर्थन में प्रदर्शन किया। हिन्दू धर्म नेता, पुरी के मन्दिर के उच्चतम पुजारी शंकराचार्य निरंजन नाथ ने इस माँग के समर्थन में अनिश्चित काल के लिए अनशन आरम्भ कर दिया तथा ऐसे ही एक अन्य नेता, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, भी वैसा ही करने वाले थे। उन्हें बन्दी बना लिया गया।

राजनीतिक कारणों से, जनसंघ ने अपने चौथे आम चुनाव सम्बन्धी घोषणापत्र में अपनी मुस्लिम विरोधी प्रवृत्ति को केवल अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया। उसमें कहा गया था कि कांग्रेस सरकार "पृथकतावादी, विग्रहवादी एवं राष्ट्र विरोधी तत्वों का तुष्टीकरण करती रही है।" उस चुनाव में उसे काफी सफलता प्राप्त हुई और इसके फलस्वरूप वह और अधिक ज़ोर-शोर से मुस्लिम-विरोधी प्रचार करने लगा। दिसम्बर 1969 में, पटना में, जनसंघ के अखिल भारतीय प्रतिनिधि सम्मेलन में माँग की गई कि "सभी विघटनकारी तत्वों" का "भारतीयकरण" किया जाए, विशेषत: उनका जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से "दो राष्ट्रों" के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। जनसंघ के एक अतिवादी नेता बलराज मधोक ने 12 फरवरी, 1970 को अपने एक भाषण में कहा, "यदि भारतीय मुसलमान राष्ट्रवादी होना चाहते हैं तो इस्लाम का भारतीय-करण करना होगा।" उन्होंने यह धारणा भी व्यक्त की कि जब तक साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रविरोधी गतिविधियों के सबसे बड़े आगार को सहन किया जाता रहेगा, मुसल-मानों का भारतीयकरण नहीं हो सकेगा।[11]

[11]मधोक के विचारों के विस्तृत अध्ययन के लिए उनकी पुस्तक *Indianization*, पृष्ठ 30-31

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी मुस्लिम विरोधी प्रचार जारी रखा।[12] उसके मुख्य नेता एम० एस० गोलवलकर ने अपनी पुस्तक, *A Bunch of Thoughts* में लिखा कि भारतीय राष्ट्रीयता की बुनियाद हिन्दुत्व के आधार पर रखी गई है। उन्होंने मुसलमानों, ईसाइयों एवं साम्यवादियों को "अन्तर्राष्ट्रीय आतंक" बताया और कहा कि वे भारतीय राष्ट्रीयता के "योग्य" केवल तभी हो सकते हैं, जब वे अपने "बाह्य प्रदेशी प्रेरणा स्थलों" से छुट्टी पाकर हिन्दू परम्पराओं का सम्मान करना सीख लें। 22 नवम्बर, 1970 को उन्होंने हिन्दुओं को परामर्श दिया कि वे उन व्यक्तियों से सम्भावित खतरे के प्रति सचेत हो जायें, जिन्होंने "हम पर 1000 वर्ष पूर्व आक्रमण किया था" और जो अब हमारी सहनशीलता का लाभ उठा रहे हैं। उन्होंने यह भी कहा कि इण्डिया का अर्थ "हिन्दू राष्ट्र" है तथा भारतीय संस्कृति मूलतः हिन्दू संस्कृति है। कुछ समय बाद जयपुर की एक रैली में भाषण करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अध्यक्ष ने कहा कि पाकिस्तान का जन्म "भारत के प्रति मुस्लिम शत्रुता के कारण हुआ है।"

दिसम्बर 1970 में जब ऑल इण्डिया मुस्लिम पोलिटिकल कन्वेन्शन ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन सूची की माँग की तो हिन्दू महासभा ने अपनी चुप्पी खोली और कहा कि इस माँग के गम्भीर परिणाम होंगे। एक प्रस्ताव में उसने कहा कि उन मुसलमानों को जो अब भी "दो राष्ट्रों के सिद्धान्त" के आधार पर पृथक सुविधाओं की माँग करते हैं, "सरकारी तौर पर" पाकिस्तान भेज दिया जाना चाहिए। जनवरी 1971 में "मुस्लिम सेना" के उत्तर में एक "हिन्दू सेना" बनाने के प्रयत्न किये गए। अखिल भारतीय हिन्दू सेना के प्रवर्तक रंजन बाबा सत्यार्थी ने कहा कि सेना का जनसंघ से अधिक निकट सम्बन्ध होगा, जो एक "राष्ट्रवादी दल" है। महाराष्ट्र में शिव सेना ने, जो मूलतः साम्यवादियों एवं श्रमिक संघियों के विरुद्ध रची गई थी, 1970 के मध्य में हिंसापूर्ण मुस्लिम विरोधी रुख अपना लिया और उसके प्रमुख नेता बाल ठाकरे ने "इसलाम के हरे आतंक" की कटु आलोचना की। अपनी शिव सेना पत्रिका में उन्होंने लिखा, "हिन्दुओं को केवल हिन्दू ही नहीं अपितु कट्टर हिन्दू बनना होगा और धर्म के नाम पर मर मिटने को तैयार रहना होगा।" अनेक मुसलमान हिन्दुओं को ऐसे संगठनों के माध्यम से देखते थे और उनके हृदयों में यह धारणा बैठ गई थी कि हिन्दू साम्प्रदाय उनके हितों एवं भलाई की रक्षा नहीं कर सकता। अतः वे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाने लगे और बहुसंख्यक सम्प्रदाय से घृणा करने लगे।

6. **सरकार की अकर्मण्यता** (Government's Inertia) देश में हिन्दु-मुस्लिम साम्प्रदायिकता विद्यमान रहने का कारण संघीय एवं राज्य सरकारों द्वारा इस समस्या का

देखो (एस० चांद एण्ड कंम्पनी, नई दिल्ली, 1970)। के०एल० गावा की पुस्तक *Passive Voices: A penetrating study of Muslims in India*. स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1973) भी देखो।

[12]रिचर्ड एल० पार्क और आईरिन टिंकर, *Leadership and Political Institutions in India* (Princeton University Press, New Jersey, 1959), पृष्ठ 221.

उचित एवं दृढ़तापूर्वक समाधान न किया जाना भी था। समस्या के सन्तुलित एवं सर्वांगीण अध्ययन के कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किये गये और जब भी साम्प्रदायिक दंगे होते गैर-कांग्रेसी दलों को निशाना बना कर उन्हीं के सिर सारा दोष मढ़ दिया जाता था। 1974 में भी संघीय एवं राज्य सरकारों ने जनसंघ एवं मुस्लिम लीग को साम्प्रदायिक दंगों के प्रति उत्तरदायी ठहराया। किन्तु इससे भी अधिक ठोस तथ्य यह प्रतीत होता था कि हिन्दुत्व का स्कन्धीकरण तथा उत्तरोत्तर बढ़ता संस्कृत का समावेश, जिससे स्कूलों व कॉलेजों से उर्दू भाषा मिटती गई और सरकारी अधिकारियों द्वारा उसकी शिक्षा के प्रसार के प्रभावी उपाय करने की अनिच्छा; संघीय सरकार द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी के आचार एवं प्रकार में परिवर्तन करने के प्रयत्न; आकाशवाणी द्वारा, विशेषत: राष्ट्रीय त्यौहारों पर भी, शुद्ध हिन्दु धर्म संबंधी प्रार्थनाओं व भजनों के प्रसारण; जिन स्कूलों में मुसलमान विद्यार्थी भी पढ़ते थे, उनमें हिन्दू आस्थाओं और धार्मिक संस्कारों के शिक्षण; तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं जनसंघ जैसे शुद्ध हिन्दू संगठनों पर रोक लगाने के प्रति सरकार की अनिच्छा—ये सब ऐसे तत्त्व थे जिनसे मुसलमानों के हृदय में यह धारणा बैठ गई कि धर्म निरपेक्षता की आड़ में सरकार भारत को हिन्दुत्व की ही भूमि बना देना चाहती है। 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध में, जहाँ मुसलमान सैनिकों व जरनैलों ने भी अन्य सैनिकों के समान भारत की प्रतिरक्षा में प्राणों की आहुति दी, मुस्लिम जनता को यातायात नियंत्रण एवं सामान्य पुलिस कार्य इत्यादि सिविल डिफ़ैन्स के कर्त्तव्य नहीं सौंपे गए जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्त्ताओं को सौंपे गए थे। इस प्रकार के कृत्यों से मुसलमानों के मस्तिष्क में हीनता की भावनाएँ व्याप्त हो गईं।

इसके अतिरिक्त, संघीय और राज्य सरकारों के प्रशासनतन्त्र भी अपने कार्य के अयोग्य सिद्ध हुए।[13] अनेक अवसरों पर, बहुधा मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा, यह आरोप लगाये जाते थे कि पुलिस और उसकी आसूचना शाखा ने साम्प्रदायिक उपद्रव को होने से रोकने अथवा हो जाने पर तुरन्त समाप्त करने की यथासमय कार्रवाई नहीं की। ऐसे भी आरोप लगाये गए कि जब बहुसंख्यक सम्प्रदाय आगे बढ़ रहा था तो सरकारी अधिकारियों ने, जो अधिकतर हिन्दू थे, अतिक्रमणकारियों का साथ दिया, कि उन पर आक्रमण होने पर सरकार ने उन्हें उचित राहत एवं सहायता प्रदान नहीं की, तथा साम्प्रदायिक हिंसा में रत व्यक्तियों के पकड़े जाने पर भी उन्हें दण्ड नहीं दिया गया।[14] बताया गया है कि सरकार ने साम्प्रदायिक दलों पर केवल इसलिए रोक नहीं लगाई कि वह असंवैधानिक होता। यदि इसे सत्य भी मान लिया जाये और यह

[13] 23 मई, 1970 को सभी मुख्य मन्त्रियों को भेजे गए अपने पत्र में प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने स्वीकार किया कि राज्यों की सरकारें तथा आसूचना संगठन साम्प्रदायिकता को रोकने की "प्रभावी एवं यथासमय कार्रवाई" नहीं कर रहे हैं।

[14] अप्रैल 1968 में **स्टेट्समैन** में एक सर्वेक्षण प्रसारित किया गया जिसमें यह टिप्पणी की गई कि

भी मान लिया जाये कि उस सम्बन्ध में संविधान संशोधन सम्भव नहीं था, तो भी सरकार साम्प्रदायिक गतिविधियों के शमन के लिए ठीक उसी तरह निवारक नज़रबन्दी कानून, या भारत रक्षा नियम, या गैर-कानूनी गतिविधियाँ (प्रतिरोध) अधिनियम, या आन्तरिक सुरक्षा कानून का उपयोग कर सकती थी, जिस प्रकार उसने कश्मीर में जनमत-संग्रह मोर्चे की गतिविधियों का शमन करने या मिज़ो नेशनल फ्रण्ट या असम में नगा विद्रोहियों या पश्चिम बंगाल व देश के अन्य भागों में नक्सलवादियों को दबाने के लिए इन कानूनों का उपयोग किया।

जो व्यक्ति साम्प्रदायिक उपद्रवों में पकड़े गए थे, उनमें से बहुत थोड़े व्यक्तियों को दण्ड दिये गए। देखो *Keesing's Contemporary Archives*, 1967-1968, पृष्ठ 22332.

अध्याय 18

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयता
(Regionalism in Indian Politics)

भारत की विविधता के दृष्टिकोण से दूसरा नम्बर क्षेत्रीयता का है। साम्प्रदायिकता का अर्थ राष्ट्र की अपेक्षा साम्प्रदायिक प्रेम है तो क्षेत्रीयता का अर्थ देश की अपेक्षा किसी क्षेत्र-विशेष अथवा वह क्षेत्र जिस राज्य का भाग है, उस राज्य की अपेक्षा उस क्षेत्र विशेष का प्रेम होता है। साम्प्रदायिकता मुख्यत: दो बड़े सम्प्रदायों, हिन्दुओं व मुसलमानों, तक सीमित है, पर क्षेत्रीयता सारे देश में व्याप्त है जोकि प्राय: सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित आन्दोलनों तथा अभियानों के रूप में प्रकट होती है। राजनीतिक क्षेत्र में यह चार प्रकार से प्रकट होती हैं : कुछ राज्यों की जनता द्वारा भारतीय संघ से पृथक होने की माँग, जनता द्वारा पृथक राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग, पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग, तथा अन्तर्राज्यीय विवाद। इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है जिस पर विवेचना करना आवश्यक होगा।

भारतीय संघ से पृथक होना
(Secession From Indian Union)

मद्रास (तमिलनाडु) में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (The Dravida Munnetra Kazhagam in Madras, Tamil Nadu)

पहले-पहल भारत में क्षेत्रीयता कुछ राज्यों की जनता द्वारा भारतीय संघ से पृथक हो कर स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पंन्न देश वन जाने की माँग के रूप में प्रकट हुई। इसका प्रथम उदाहरण मद्रास राज्य के तमिल सम्प्रदाय ने प्रस्तुत किया। 5 जून, 1960 को द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (DMK) और नाम-तमिलों ("हम तमिल") ने सारे मद्रास राज्य में मद्रास को भारत से पृथक करके एक स्वतन्त्र एवं प्रभुत्व-सम्पन्न राज़्य 'तमिलनाडु' स्थापित करने का संयुक्त अभियान चालू किया। उन्होंने "तमिलनाडु" के अतिरिक्त शेष भारत के मानचित्रों की खुले आम होली जलाई। 30 जनवरी, 1961 को तमिल कषगम नामक एक अन्य संगठन ने मद्रास राज्य का नाम बदल कर "तमिल-

नाडु" रखे जाने के लिये आन्दोलन चालू किया। इसके कुछ समय उपरान्त द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने सुझाव दिया कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से पृथक होकर स्वतन्त्र "द्रविड़नाड गणराज्य" स्थापित कर लेना चाहिए। किन्तु इस सुझाव को मद्रास के बाहर से पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। 9 अप्रैल, 1961 को द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के अनेक अग्रणी नेताओं ने इस दल का परित्याग करके संसत्सदस्य ई० वी० के० सम्पत के नेतृत्व में 'तमिल नेशनल पार्टी' नामक नया दल स्थापित कर लिया। इस नये दल ने डी० एम० के० के प्रस्ताव का विरोध करते हुए उसके स्थान पर संविधान के मौलिक संशोधन की सलाह दी ताकि भारत स्वशासी भाषायी राज्यों का एक त्रिकेन्द्रित संघ बन जाये जिन्हें "भारत से पृथक होने" का अधिकार प्राप्त हो। इस दल ने प्रस्ताव रखा कि केन्द्रीय सरकार सभी राज्यों की सहमति से बनाई जाये तथा उसके नियन्त्रण में केवल प्रतिरक्षा एवं विदेश सम्बन्ध इत्यादि राष्ट्रीय हित के विषय रहें। मद्रास की राज्य विधान सभा तथा मद्रास कार्पोरेशन के अनेक डी० एम० के० सदस्य, जिनमें मेयर वी० मनुस्वामी भी सम्मिलित थे, इस दल के सदस्य बन गए।

तदपि डी० एम० के० पार्टी अपना द्रविड़ राज्य सम्बन्धी अभियान चलाती रही और उसके कार्यक्रमों को प्रचुर सफलता मिलने लगी। उसने इसी आधार पर राज्य सभा के तीसरे आम चुनावों में भाग लिया और 50 स्थान जीते जबकि दूसरे आम चुनावों में उसे केवल 15 स्थान प्राप्त हुए थे। लोक सभा में उसकी सदस्य संख्या, जो 1957 में 2 थी, बढ़ कर 7 हो गई। 1 मई, 1962 को राज्य सभा में भाषण करते हुए उसके नेता सी० एन० अन्नादुराई ने अपना दृढ़ मत व्यक्त किया कि दक्षिणी भारत की जनता उत्तरी भारत की जनता से भिन्न जाति की है। उन्होंने आरोप लगाया कि भारत के औद्योगिक विकास सम्बन्धी योजनाओं में संघीय सरकार ने दक्खन के प्रति "उदासीनता" एवं "अवहेलना" का व्यवहार किया है।

प्रधान मन्त्री नेहरू ने भारत के विघटन की इस माँग की तीव्र आलोचना करते हुए कहा कि भारतीय संघ से सम्बन्ध विच्छेद की माँग करना स्पष्ट रूप से अन्यायपूर्ण है।

देश में विघटन की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय संसद ने अक्तूबर 1968 में सोलहवाँ संविधान संशोधन विधेयक पारित किया, जिसके द्वारा—(1) संसद को ऐसी विधि निर्मित करने का अधिकार मिल गया जिसके द्वारा भारतीय संघ की प्रभुसत्ता एवं अखण्डता को चुनौती देने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जा सके, तथा (2) यह निर्दिष्ट कर दिया गया कि संसद अथवा किसी राज्य विधान मण्डल के प्रति निर्वाचन के प्रत्येक प्रत्याशी को शपथ अथवा आत्म निष्ठापूर्वक भारतीय संविधान के प्रति सत्यनिष्ठा एवं विश्वास रखने तथा देश की प्रभुसत्ता व अखण्डता की रक्षा करने का दायित्व स्वीकार करना होगा।

उपरोक्त अधिनियमन के फलस्वरूप डी० एम० के० ने उसी वर्ष 3 नवम्बर को अपने कार्यक्रम में से प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतंत्र द्रविड़ महासंघ (द्रविड़नाड) तथा उसके

भारत से सम्बन्ध-विच्छेद की माँग का परित्याग कर दिया। इसकी बजाय पार्टी के संविधान में एक नई धारा जोड़कर पार्टी का उद्देश्य मद्रास, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश एवं केरल का एक "द्रविड़ संघ" बनाने का घोषित किया गया, "जिसे भारत की प्रभुसत्ता एवं अखण्डता तथा संविधान की मर्यादा के भीतर यथासम्भव अधिकतम अधिकार प्राप्त हों।"

आन्दोलन यथावत चलता रहा। सितम्बर 1970 में डी० एम० के० ने मद्रास में एक "राज्य स्वायत्त शासन सम्मेलन" आयोजित किया। इसके नेता वी० वी० राजू संसत्सदस्य ने राज्य के नागरिकों पर शासन चलाने का प्रयत्न करने, राज्यों को अपने 'ऋणी" समझने, तथा उनके नियंत्रण में अपने "वित्तीय उपबंधकों" का प्रयोग करने के "दिल्ली के रवैये" की आलोचना की। अप्रैल 1971 के अन्तिम चरण में मुख्य मंत्री करुणानिधि ने धमकी दी कि यदि राज्य की स्वायत्त शासन सम्बन्धी माँग की देर तक अवहेलना की गई तो तमिलनाडु का भारतीय संघ से पृथक होना "अनिवार्य हो जायेगा।" 19 सितम्बर को उन्होंने अपनी धमकी को दोहराते हुए कहा कि उनका दल राज्य में स्वायत्त शासन स्थापित कराने के लिए एक आन्दोलन आरम्भ करने को तैयार है।[1] एक बार उन्होंने तमिलनाडु के लिए पृथक ध्वज की भी माँग कर डाली। वे राज्यों के लिए स्वायत्त शासन की अपनी माँग को बार-बार दोहराते रहे। 15 अक्तूबर, 1973 को उन्होंने इस विचार का अधिकाधिक राज्यों में प्रचार करने के लिए एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाने का विचार व्यक्त किया। 5 मार्च, 1975 को उन्होंने कहा कि यदि शेख़ अब्दुला की तरह जेल जाने से राज्य-स्वायत्त शासन की माँग की पूर्ति हो सकती हो तो वे उसके लिए भी तैयार हैं। इसके एक सप्ताह बाद उन्होंने केन्द्रीय सरकार पर डी० एम० के० सरकार का "तिरस्कार व अपमान" करने का आरोप लगाते हुए आशा व्यक्त की कि वह डी० एम० के० को राज्य स्वायत्त शासन के लिए संवैधानिक एवं शान्तिपूर्ण प्रयत्नों से डिगने के लिए बाध्य नहीं करेगी। उन्हें यह शिकायत थी कि वर्तमान संविधान में राज्यों को दयनीय रूप से केन्द्र सरकार पर निर्भर करना पड़ता है तथा केन्द्र सरकार न तो राज्यों की जनता की भावनाओं का आदर करती है और न ही उनकी समस्याओं तथा आवश्यकताओं को समझने का प्रयत्न करती है। अतः राज्यों को अधिकतम स्वायत्त शासन के अधिकार दिये जाने चाहिएँ ताकि जनता शीघ्रतापूर्वक स्थायी उन्नति कर सके। उन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए "अन्य उपाय" करने की धमकी भी दी, पर उन उपायों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। अब वे सम्बन्ध-विच्छेद को छोड़कर स्वायत्त शासन की माँग पर ज़ोर देने

[1]20 सितम्बर, 1971 का *The Hindustan Times*, पृष्ठ 12 उन्होंने बताया कि कांग्रेस दल के भूतपूर्व अध्यक्ष के० कामराज तक भी हिन्दी का विरोध करने तथा तमिलनाडु में स्वायत्त शासन लागू कराने के लिए संघर्ष आरम्भ करना चाहते हैं। उन्होंने करुणानिधि से कहा कि ऐसा आन्दोलन अन्य राज्यों में भी आरम्भ किया जाना चाहिए। 28 सितम्बर, 1971, पृष्ठ 1.

लगे थे ।

प्रादेशिक दल होने के नाते डी० एम० के० जनता का समर्थन प्राप्त होने के लिए सदैव स्थानीय समस्याओं सम्बन्धी प्रश्न उठाती थी ताकि उसकी गद्दी बनी रहे । मई 1974 के अन्तिम चरण में तामिझर पादुकप्पू पेरावई (तमिल प्रतिरक्षा संघ) ने मद्रास-नगर में एक जुलूस निकाला जिसमें "मलियालियों को खदेड़ा जाय" और "केवल तामिलों को नौकरियाँ दी जायें" इत्यादि मलयाली विरोधी नारे लगाये गये । उन्होंने तमिल-नाडु में किसी भी संस्थान, राजनीतिक दल अथवा सरकारी पद पर "किसी भी मल-याली इत्यादि अ-तामिल व्यक्ति को उच्च स्थान पर आसीन न होने देने" की शपथ ली । प्रदर्शन में सम्मिलित व्यक्तियों ने मलयालम चित्र प्रस्तुत कर रहे दो छविगृहों पर पथराव किया, मार्ग के साइन-बोर्डों को क्षति पहुँचाई, तथा एक के मंच मंडप में घुस गए । उन्होंने हिंसा एवं अव्यवस्था के अनेक अन्य कार्य भी किए । इस घटना के अगले दिन मुख्य मंत्री करुणानिधि ने घोषणा की कि उनकी सरकार, सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में 80 प्रतिशत नौकरियाँ स्थानीय व्यक्तियों के लिए आरक्षित करने के पक्ष में है । इसके तुरन्त बाद सरकार की ओर से इस प्रकार की एक अपील जारी कर दी गई ।

पंजाब में अकाली दल (The Akali Dal in Panjab)

भारत के स्वतंत्रता-संघर्ष के दिनों में मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में सिख सम्प्र-दाय ने अपने लिए 'खालिस्तान' के नाम से एक स्वतंत्र सिख राज्य की माँग की । स्व-तंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारा सिंह ने पंजाब के गुड़गाँव ज़िले, पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्य संगठन (पैप्सू) को मिला कर एक सिख राज्य बनाने की माँग की । 2 नवम्बर, 1949 को उन्होंने पूर्वी पंजाब में एक "सिख प्रान्त" की माँग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के हिन्दू "संकीर्णहृदय वाले सम्प्रदायवादी" हो गये हैं और "सिखों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गई है ।"

1950 से लेकर 1965-66 तक के वर्षों में पंजाब के सिख पंजाबी सूबे के लिए आन्दोलन चलाते रहे, जो समय-समय पर हिंसक भी होता था, और अन्ततः उनकी माँग को केन्द्र ने 1 नवम्बर, 1966 को स्वीकार कर ही लिया ।[2]

इससे सारे सिख सन्तुष्ट नहीं हो सके । अतः संत फ़तेह सिंह के अनुयायी पुनः सिख "होमलैण्ड" की माँग करने लगे । उनका कहना था कि "उत्तर भारत में एक समाजवादी लोकतंत्रीय सिख होमलैण्ड" की स्थापना ही सिख राजनीति का वास्त-विक एवं एकमात्र लक्ष्य है । इस दल के एक महासचिव जगजीत सिंह ने सिखों में

[2]पंजाबी सूबे की प्रथम धारणा एवं संघर्ष के आह्वान के विस्तृत अध्ययन के लिये अजीत सिंह सरहदी की पुस्तक, *Punjabi Suba: The Story of the Struggle* (अतर चन्द कपूर एण्ड संस, दिल्ली, 1970) पृष्ठ 198-291 देखो ।

"सिक्खिस्तान" का प्रचार करने के लिए अनेक देशों का दौरा किया। उन्होंने सिक्खिस्तान की एक "विद्रोही सरकार" बनाने तथा उसका मुख्यालय पश्चिम पाकिस्तान के शेखुपुरा ज़िला में ननकाना साहिब (गुरु नानक का जन्म स्थान) में स्थापित करने तक की योजना बना डाली। 30 सितम्बर, 1971 के समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित किया गया कि पाकिस्तान सरकार ननकाना साहिब को वैटिकन नगर के समान दर्जा प्रदान करने का विचार कर रही है।[3] संत फ़तेह सिंह ने कहा कि डा० जगजीत सिंह उनके अकाली दल की नीति एवं कार्यक्रम के विरुद्ध अत्यधिक चेष्टा कर रहे हैं और उन्हें अपने दल से निकाल दिया।

यह कार्रवाई इसलिए की गई कि भारतीय महासंघ से पृथक होने की माँग सोलहवें संविधान संशोधन अधिनियम का अतिक्रमण होती, जिसके विरुद्ध सरकार की ओर से कार्रवाई की जा सकती थी।

सिख नेताओं ने जब यह जान लिया कि भारत से पृथक होना सम्भव न होगा तो वे राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण तथा राज्यों को पहले से अधिक स्वायत्त सत्ता दिये जाने की माँग करने लगे। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष, संसद-सदस्य गुरचरण सिंह तौरा, ने 9 मार्च, 1975 को कहा कि विदेश विभाग, प्रतिरक्षा तथा संचार-व्यवस्था इत्यादि को छोड़कर शेष सभी सत्ता, जिस प्रकार तमिलनाडु के मुख्य मन्त्री करुणानिधि ने माँग की है, राज्यों को सौंप दी जानी चाहिए। उन्होंने केन्द्र सरकार पर पंजाब, विशेषतया सिखों के प्रति भेदभाव के प्रवर्तन का आरोप लगाया। उसी संस्था के जनरल सैक्रेट्री ने कुछ ही दिन बाद घोषित किया कि अकाली दल प्रस्तावित सिख राज्य के लिए स्वायत्तता का दर्जा प्राप्त करने के लिए एक बृहत संघर्ष आरम्भ करने वाला है। उन्होंने अनेक अ-कांग्रेसी नेताओं से इस संघर्ष में दल की सहायता करने की अपील की।

जो सिख नेता अकाली दल की भारत से पृथक होने की माँग को अबुद्धिमतापूर्ण बताते रहते थे, उनका कहना था कि भारत सरकार सिखों के प्रति भेदनीति अपना रही है, और सिख "तथाकथित धर्म निरपेक्ष एवं राष्ट्रीय सरकार के हाथों में सुरक्षित नहीं है", तथा सिखों को भारतीय संघ के भीतर एक सिख "होमलैण्ड" प्रदान किया जाना चाहिए।[4] 1973 में पंजाब में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हो जाने के बाद अकाली नेता कहने लगे कि कांग्रेसी मुख्य मन्त्री में राज्य की समस्याओं एवं आवश्यकताओं को प्रभावी तौर से केन्द्र के सम्मुख प्रस्तुत करने का साहस नहीं है। विधान सभा में अकाली दल के उप-नेता, अजायब सिंह सांढू एवं अकाली कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य गुरवीर सिंह ने कहा कि केन्द्र सरकार "अपने झूठे वायदों एवं प्रशास-

[3]*The Hindustan Times*, 30 सितम्बर, 1971, पृष्ठ 5.

[4]पंजाब के एक भूतपूर्व मुख्य मंत्री प्रकाश सिंह बादल के कथन के लिए देखो 27 अगस्त, 1971 के *The Hindustan Times* का पृष्ठ 5.

निक अव्यवस्था" द्वारा जनित समस्याओं के बोझ से दबी हुई है, अतः उसे राज्य की समस्याओं के समाधान करने की फुरसत नहीं है, और न ही वह ऐसा करना चाहती है। अतः उन्होंने माँग की कि राज्यों को अधिकाधिक स्वायत्तता प्रदान की जाय ताकि केन्द्र द्वारा निर्णय न कर पाने के कारण उनके विकास कार्यों में बाधा न पड़े। उन्होंने यह भी कहा कि उनकी राज्यों को मज़बूत बनाने की इच्छा के फलस्वरूप भारतीय संघ मजबूत बनेगा।

असम में मिज़ो (The Mizos in Assam)

8,200 वर्ग मील क्षेत्रफल तथा दो लाख की जनसंख्या वाले असम के मिज़ो पहाड़ी क्षेत्र की जनता ने न केवल असम बल्कि भारतीय संघ से भी पृथक होने की माँग की। उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान तथा बर्मा के संलग्न क्षेत्रों की मिज़ो जनता सहित एक "स्वतंत्र मिज़ो राज्य" बनाये जाने की माँग की। उन्होंने अपनी माँग को बल देने के लिए मिज़ो राष्ट्रीय मोर्चा (मिज़ो नेशनल फ्रण्ट—MNF) की स्थापना की। संघीय सरकार को उनकी माँग अस्वीकार करके दमन नीति अपनानी पड़ी। मिज़ो सशस्त्र आन्दोलन आरम्भ करके गुरिल्ला युद्ध करने लगे। 1962 में चीनी आक्रमण के समय एम० एन० एफ० पर प्रतिबन्ध लगाकर उसके सभी कार्यों को भारतीय प्रतिरक्षा नियमों के अन्तर्गत अवैध करार दे दिया गया। किन्तु उनकी गतिविधियाँ चलती रहीं और असम की कछार पहाड़ियों तथा तत्कालीन केन्द्रशासित प्रदेश त्रिपुरा तक फैल गईं। मिज़ो पहाड़ियों में नागरिक प्रशासन व्यवस्था लगभग पूर्णतया नष्ट हो गई।

2 मई, 1968 को केन्द्र सरकार ने आरोप लगाया कि मिज़ो, नागाओं और चीनियों से मिले हुए हैं, जो उन्हें शस्त्र एवं प्रशिक्षण दे रहे हैं। केन्द्र सरकार ने यह भी आरोप लगाया कि पाकिस्तान विद्रोही मिज़ो जनों की सहायता कर रहा है। इसे पाकिस्तान सरकार ने "पूर्णतः मिथ्या आरोप" बताया। संघीय सरकार ने निवारक नज़रबन्दी अधिनियम के अन्तर्गत सैकड़ों मिज़ो जनों को बन्दी बना लिया। 31 दिसम्बर, 1969 को उपर्युक्त अधिनियम की अवधि समाप्त होने पर असम सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके निवारक नजरबन्दी की व्यवस्था कर दी। अतः मिज़ो जन बन्दी ही बने रहे किन्तु उनकी गतिविधियाँ फिर भी चलती रहीं। जनवरी 1971 में एम० एन० एफ़० के अध्यक्ष चुँगा के नेतृत्व में उसके एक त्रि-सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल ने नई दिल्ली में प्रधान मन्त्री एवं अन्य संघीय नेताओं से भेंट की। श्रीमती इन्दिरा गांधी को प्रेषित अपने ज्ञापन में उन्होंने कहा कि वे ब्रिटिश शासन काल में उनकी जन्मभूमि के विभाजन द्वारा जो उन पर अन्याय किया गया था, उसके कारण असम सरकार द्वारा उत्पन्न की गई राजनीतिक अस्थिरता कुप्रबन्ध से विक्षुब्ध हैं।

उन्होंने भारत से पृथक होने तथा "स्वतंत्र मिज़ो राज्य" बनाने जैसी कोई बात करने की बजाय 1971 में मिज़ो जनों को राज्य का स्तर प्रदान किये जाने के प्रश्न पर

जनमत-संग्रह की माँग की ।[5] उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के दृष्टिकोण से संघीय सरकार ने मिज़ो की पहाड़ियों को एक केन्द्रशासित प्रदेश बना कर उसका नाम मिज़ोरम रख दिया। इस नए राज्य का उद्‌घाटन श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 21 जनवरी, 1972 को किया। संघीय सरकार ने इस नए केन्द्रशासित प्रदेश की जनता की दशा सुधारने के लिए करोड़ों रुपये खर्च किये ताकि वे भारत की सामान्य प्रगति में भाग ले सकें, पर इसमें बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। अनेक उग्रवादियों ने, जो एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कराये बिना शान्त नहीं होना चाहते थे, लालडेंगा के नेतृत्त्व में अपनी हिंसा एवं आतंकपूर्ण गतिविधियाँ जारी रखीं। उनमें से कुछ व्यक्ति, शस्त्र प्राप्त करने तथा गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण लेने के लिए चीन भाग गए ताकि वे भारतीय सीमा सुरक्षा दल का सामना कर सकें। कुछ विद्रोही मिज़ो, स्वयं को अधिक गहन कार्रवाई के लिए तैयार करने के लिए अराकान (बर्मा) चले गए।

पहले फरवरी 1973 में, और फिर फरवरी 1974 में, मिज़ो सरकार ने उनके छिपे नेताओं से अनौपचारिक बातचीत की, पर उसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। उनके अधिक कट्टर सदस्यों नें जो रवैया अपनाया, वह केन्द्रीय गृह मन्त्री उमा शंकर दीक्षित के शब्दों में "अत्यन्त अतर्कसंगत" था। इस प्रकार, स्थिति बिगड़ती ही चली गई। 1 दिसम्बर, 1974 को 'मिज़ो राष्ट्रीय सेना' ने अधिसूचना जारी की कि "इस समय मिज़ोरम में जो भी भारतीय हैं, उन्हें एतद द्वारा 1 जनवरी, 1975 से पूर्व मिज़ोरम छोड़कर चले जाने का आदेश दिया जाता है। जो व्यक्ति इस आदेश का पालन नहीं करेंगे वे उसके परिणाम के स्वयं उत्तरदायी होंगे।" इस अन्तिम चेतावनी की अवधि समाप्त होते ही मिज़ो नेशनल फ्रण्ट ने अपनी आतंकवादी गतिविधियाँ तेज़ कर दीं। 13 जनवरी, 1975 को दो बन्दूकधारी, जो पुलिस के नायब थानेदारों की वर्दियाँ पहने हुए थे, ऐज़वाल में आरक्षि महानिरीक्षक (इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस) के सभा कक्ष में जा घुसे और उन्हें, तथा उनके उप-महा निरीक्षक (डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल) एवं पुलिस अधीक्षक को गोली से मार दिया। इस नृशंस हत्याकाण्ड से भारत सरकार को बड़ी चिन्ता एवं क्षोभ उत्पन्न हुआ तथा विद्रोहियों के दमन के लिए बड़े पैमाने पर सैनिक कार्यवाही आरम्भ कर दी गई। सरकार ने यह भी निर्णय लिया कि हिंसक गतिविधियाँ समाप्त किये बिना छिपे मिज़ो नेताओं से कोई बातचीत न की जाये।

मिज़ोरम के विकास मन्त्री, आर० थाग्ल्याण ने 26 अप्रैल, 1975 को संकेत दिया कि सुरक्षा दल द्वारा केन्द्रशासित प्रदेश के युवकों पर जो ज़ुल्म ढाये जा रहे हैं, उनके कारण वे अधिकाधिक संख्या में पृथकतावादी छिपे मिज़ो जनों के साथ मिलते जा रहे हैं। साथ ही, यह सर्वविदित था कि साम्यवादी चीन, भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्र में अव्यवस्था एवं अराजकता फैलाने के चरम उद्देश्य से शत्रुतापूर्ण मिज़ो जनों को धन एवं शस्त्रों की सहायता दे रहा था। मिज़ो विद्रोहियों की गतिविधियों में पाकिस्तान का

[5] **दि हिन्दुस्तान टाइम्स** 30 जनवरी, 1971, पृष्ठ 5.

चीन के साथ गठजोड़ भी अपनी भूमिका निभा रहा था। इस गंभीर स्थिति का सामना करने के लिए संघीय सरकार ने अधिक कड़े उपाय किये। मई 1975 में आन्तरिक सुरक्षा कानून (आंसुका) को अधिक कठोर बनाना भी उन्हीं उपायों में से एक था। किन्तु इनका भी केवल सीमित प्रभाव हुआ। 3 जून को मुख्य मन्त्री छुंगा ने कहा कि विद्रोही तत्त्व "बहुत सक्रिय" हैं तथा स्थिति "अभी नियन्त्रण में नहीं है।"

असम में नागा (The Nagas in Assam)

एक अन्य जनजाति, जिसने भारतीय संघ से पृथक होने व स्वतन्त्र राज्य बनाने का प्रयत्न किया, असम की नागा (उर्फ़ नगा) जाति थी। इनकी संख्या लगभग चार लाख थी जो बीस से भी अधिक जनजातियों में बंटी हुई थी जिनकी भिन्न-भिन्न भाषाएँ एवं रीति-रिवाज़ थे। वे भारत-बर्मा सीमान्त पर नागा पहाड़ी जनपदों में तथा तुवेंग-सांग प्रभाग में रहते थे। उत्तरी मणिपुर में भी कुछ नागा अल्प-संख्यक थे और लगभग एक लाख नागा समीपवर्ती बर्मी क्षेत्रों में रहते थे पर उन दोनों में से किसी दल ने भी पृथकता आन्दोलन को समर्थन प्रदान नहीं किया। पहाड़ी जनपदों के नागा अधिक समुन्नत थे और वे ही उक्त आन्दोलन के अग्रणी भी थे। उनके नेता का नाम ज़ैपो फ़िज़ो था और उन्होंने आन्दोलन चलाने के लिए एक 'नागा नेशनल कौंसिल' नामक संस्था स्थापित कर रखी थी। फरवरी 1950 में फ़िज़ो ने नागाओं की स्वाधीनता के प्रश्न पर एक जनमत संग्रह किया और 99 प्रतिशत नागाओं ने स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के पक्ष में मत दिया। 1952 में फ़िज़ो ने आम चुनावों के बहिष्कार का आयोजन किया जिसमें उन्हें "महान सफलता" प्राप्त हुई। उसी वर्ष अप्रैल में उन्होंने कहा कि यदि कठिनाइयाँ हुईं तो नागाओं के मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाया जायेगा।[6] 1955 के आरम्भ में नागा नेशनल कौंसिल ने हिंसा एवं अराजकता के गंभीर कृत्य किये जिनके दमन के लिए सेना बुलानी पड़ी। लगभग 300 नागा मारे गए और उनकी गतिविधियों के क्षेत्र को "उपद्रवग्रस्त क्षेत्र" घोषित किया गया।

छः नागा नेताओं ने फ़िज़ो के हिंसक उपायों एवं पृथकतावादी आन्दोलन की आलोचना की। सितम्बर 1956 में उन्होंने प्रधान मन्त्री नेहरू से मुलाक़ात की और सभी नागाओं को एक प्रशासन के अधीन एकत्रित रूप से प्रशासित करने के प्रस्ताव प्रस्तुत किये। नेहरू ने उन्हें विश्वास दिलाया कि शान्ति स्थापित होने के तुरन्त बाद "भारतीय संघ की एकता, अखण्डता और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए" वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन के प्रश्न पर नागा जनों से गहन परामर्श करेगी। असम सरकार ने फ़िज़ो एवं उसके 37 सह-अपराधियों की गिरफ़्तारी के लिए 5000 रु० के इनाम की घोषणा की तथा उन पर अनेक अपराधों का अभियोग लगाया जिनकी सज़ा मौत होती है।

[6]डी० आर० मनकेकर, *On the Slippery Slope in Nagaland* (मानकतलास, बम्बई, 1967), पृष्ठ 46.

रकार ने 22 से 26 अगस्त तक कोहिमा में निष्ठावान नागा नेताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह माँग की गई कि सभी नागा क्षेत्रों को एक प्रशासनिक इकाई के रूप में एकत्रित करके विदेश मंत्रालय के अधीन रखा जाये जिसका प्रशासन राष्ट्रपति की ओर से असम के गवर्नर द्वारा चलाया जाये।

इस प्रस्ताव का अर्थ स्वतन्त्र नागा राज्य की माँग का परित्याग था और इसके द्वारा भारत सरकार के साथ पूर्ण राजनीतिक समझौता होने से पूर्व एक "अन्तरिम व्यवस्था" प्रत्याशित थी। इस सम्मेलन ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा उन नागा विद्रोहियों से, जिन्होंने अभी तक हथियारों का परित्याग नहीं किया था, अपील की कि वे "हिंसक पद्धति" का परित्याग करें और उनसे "अपने देश के हित के लिए तथा अपनी परम्पराओं के अनुसार अपनी जाति के स्वतन्त्र विकास के लिए" सहयोग करने की अपील की। भारत सरकार ने दोनों प्रस्तावों का स्वागत किया और जुलाई 1960 में भारत सरकार एवं नागा जाति सम्मेलन के बीच एक परस्पर समझौता हो गया।[7]

24 जनवरी, 1961 को राष्ट्रपति एस० राधाकृष्णन ने नागालैंड (अन्तरिम प्रावधान) विनियम घोषित किये जिनके द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा मिलने से पूर्व अन्तरिम अवधि में नागालैंड के प्रशासन के लिए निम्नांकित प्रावधान किये गए। (i) नागा जनजातियों के 45 निर्वाचित सदस्यों की एक अन्तरिम निकाय तीन वर्ष तक गवर्नर की सलाहकार परिषद् के रूप में कार्य करेगी, जो उसकी सिफ़ारिश पर उनमें से अधिकतम पाँच सदस्यों को कार्यकारी परिषद के रूप में कार्य करने के लिए नामांकित करेंगे, (ii) अन्तरिम निकाय को सामान्य नीति एवं विकास योजनाओं सम्बन्धी प्रशासनिक मामलों पर विचार-विमर्श करने तथा सिफारिश करने का अधिकार होगा, (iii) कार्यकारी परिषद गवर्नर को उनके कार्य-संचालन में परामर्श देगी। अन्तरिम निकाय को 18 फरवरी, 1961 को असम के गवर्नर-जनरल श्री गनेश की उपस्थिति में शपथ दिलाई गई, जिन्होंने असम के साथ-साथ नागालैण्ड के गवर्नर का भी पद-भार संभालना था। इमा कोङ्ग्लिवा आओ को अन्तरिम निकाय का अध्यक्ष (स्पीकर) चुना गया और डा० शीलू आओ को कार्यकारी परिषद का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

नेहरू ने 21 अगस्त, 1962 को लोक सभा में नागालैंड राज्य विधेयक तथा संविधान (तेरहवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किये, जो सुगमतापूर्वक पारित हो गए तथा शीघ्र ही उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई। 4 सितम्बर, 1962 को नागालैण्ड भारतीय संघ का सोलहवाँ राज्य वन गया। इसमें नागा पहाड़ी जनपद तथा तुवेगसांग का जनजातीय क्षेत्र सम्मिलित था। इस नए राज्य का राष्ट्रपति ने 1 दिसम्बर, 1963 को विधिवत उद्घाटन किया। इसकी अन्तरिम विधायिका के लिए प्रथम आम चुनाव 10-16 जनवरी, 1964 को किये गए और 25 जनवरी को नागा राष्ट्रीय दल

[7]विस्तृत अध्ययन के लिए उसी पुस्तक में देखो, अपेंडिक्स V, पृष्ठ 197।

के नेता डा० शीलू आओ को मुख्य मन्त्रिपरिषद की शपथ दिलाई गई।

यद्यपि भारतीय सेना ने नागाओं के बड़े-बड़े गढ़ों को नष्ट करके उनके छिपने के स्थानों को नष्ट कर दिया पर लगभग 1500 विद्रोही नागा पुनः संगठित हो गए तथा छोटे-छोटे गिरोह बनाकर "मार कर भागने" की गतिविधियाँ चलाने लगे। विद्रोही नागाओं की केन्द्रीय शक्ति नागा पहाड़ियों में अभी शेष थी तथा उसकी सदस्य संख्या एवं शस्त्रास्त्रों के भण्डार में कोई कमी नहीं आई थी। उनमें से अधिकतर बर्मी सीमान्त क्षेत्र में सक्रिय थे। नागालैंड राज्य स्थापित होने के बाद ये विद्रोही हताश होकर अधिक उग्र हिंसा एवं तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ करने लगे। उन्होंने मुख्य मन्त्री शीलू आओ की हत्या कर दी तथा "नागा विद्रोही सरकार" स्थापित कर ली। फ़िज़ो ने पश्चिमी देशों में नागालैण्ड के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिए समर्थन का प्रचार करने का निश्चय किया और भाग कर इंग्लैण्ड चला गया। वह और उसका लंदन स्थित साथी रेवरेण्ड मिकेल स्काट, नागाओं की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्तुत करने के लिए न्यू यार्क गए। किन्तु उन्हें कोई विशेष समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। तब फ़िज़ो ने साम्यवादी चीन और पाकिस्तान की ओर रुख किया। ये दोनों देश भारत के कट्टर शत्रु थे, अतः उसे भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए। इन देशों ने नागाओं को राजनीतिक समर्थन एवं उत्तर पूर्वी क्षेत्र में गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार पुनः बल पा कर फ़िज़ो के अनुयायियों ने अपना आतंक फैलाने, छिपकर वार करने तथा हत्या करने सम्बन्धी गतिविधियाँ तेज़ कर दीं और अपने सैंकड़ों राजनीतिक प्रतिरोधियों का वध कर दिया। 7 अगस्त, 1972 को नागालैण्ड के मुख्य मन्त्री होकिशी सीमा पर भी वार किया गया, पर वे मृत्यु से बच गए। 1973 के पूर्वार्द्ध में नागा विद्रोहियों की छापामार गतिविधियाँ चरम सीमा पर थीं।

केन्द्र सरकार ने कड़ा रुख अपनाया तथा घोषित किया कि नागालैण्ड को और अधिक स्वशासन प्रदान करने का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही, "नागा राष्ट्रीय परिषद", "नागा विद्रोही सरकार", तथा "नागा विद्रोही सेना" को अवैध घोषित कर दिया गया। आठ वर्ष पूर्व जिन सैनिक प्रक्रियाओं को अस्थायी रूप से रोक दिया गया था, उन्हें पुनः आरम्भ करके अवैध गतिविधि (प्रतिरोध) अधिनियम को दृढ़ता एवं कठोरतापूर्वक लागू कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप अधिकतर विद्रोही नागा हिंसा का परित्याग करके खुले मैदान में आ गए। नागा विद्रोही सरकार के "प्रधान मन्त्री" स्कातोव्सु और भूतपूर्व "जनरल" जुहार्तो ने आत्मसमर्पण कर दिया और देश के साथ सहयोग करने के लिए तैयार हो गए। इनमें से कुछ विद्रोही नागा सीमा सुरक्षा दल में भर्ती हो गए तथा 26 जनवरी, 1974 को भारत के पच्चीसवें गणराज्य दिवस के अवसर पर वे सैनिक परेड में सम्मिलित हुए। नागालैण्ड राज्य के दसवें स्थापना दिवस (1 दिसम्बर, 1973) को श्रीमती गांधी कोहिमा गईं और नागाओं से अनुरोध किया कि वे अपने राज्य को भारतीय संघ की एक समृद्ध इकाई बनाने के कार्य में जुट जायें। उन्होंने फ़िज़ो व उसके सहयोगियों को चेतावनी दी कि उनसे संवैधानिक

प्रावधानों के अतिरिक्त किसी प्रकार के समझौते के लिए कोई वार्ता नहीं की जायेगी। 2 सितम्बर, 1974 को अवैध गतिविधि (प्रतिरोध) अधिनियम की अवधि दो वर्ष के लिए बढ़ा दी गई तथा भूमिगत नागा राष्ट्रीय परिषद एवं उसकी अन्य सहयोगी संस्थाओं पर देश की सुरक्षा एवं प्रादेशिक अखण्डता बनाए रखने के हित में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। तथा कथित नागालैण्ड महासंघीय सरकार, नागा सेना, किम्हाओ (राज्य सभा), तरार होहो (लोक प्रतिनिधि सभा) एवं महासंघीय सर्वोच्च न्यायालय को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया।

इन सभी दमन एवं शमन कार्रवाइयों से भी नागाओं का राज्य-प्रतिरोध समाप्त नहीं हुआ। भारतीय समाचारपत्रों में बराबर ऐसे समाचार छपते रहे कि नागा भारतीय संघ से पृथक होकर अपना स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बनाने के उद्देश्य से हथियार एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भाग कर चीन व बर्मा चले गए हैं। भारत में बंगला देश युद्ध के आरम्भ में जो संविधान की धारा 352 के प्रावधान से आपात् स्थिति की घोषणा की गई थी, भारत सरकार उसे उठाना नहीं चाहती थी। उसके लिए जो कारण बताये गए, उनमें से एक उत्तर पूर्वी क्षेत्र में नागाओं एवं अन्य राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों की निरन्तर सक्रियता भी थी।

पृथक राज्य स्तर के लिए माँगें
(Demands for Separate Statehood)

राज्यों का पुनर्गठन (Reorganization of States)

देश के अनेक भागों द्वारा पृथक राज्य बनाये जाने की माँग की गई। संविधान के रचयिताओं ने तत्कालीन घटक इकाइयों अर्थात प्रान्तों का नाम बदल कर उन्हें राज्यों की संज्ञा दी थी। राज्यों की निम्नलिखित तीन श्रेणियाँ निर्धारित की गई थीं : (क) श्रेणी में भूतपूर्व गवर्नर-शासित प्रान्त सम्मिलित किये गए। ये थे–असम, बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश (भूतपूर्व केन्द्रीय प्रान्त), मद्रास, उड़ीसा, पंजाब (भूतपूर्व पूर्वी पंजाब), उत्तर प्रदेश (भूतपूर्व आगरा, व अवध के संयुक्त प्रान्त), एवं पश्चिम बंगाल। भूतपूर्व रजवाड़ों की (ख) श्रेणी के राज्यों में गणना की गई। ये थे—हैदराबाद, जम्मू व कश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य संघ, राजस्थान, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर-कोचीन। ये या तो बड़ी देशी रियासतें थीं जो राज्यों के संघीकरण के बाद भी शेष रहीं अथवा छोटी रियासतों के समूह थे, जो ऐसे 275 लघुतर राज्यों को विलय करके बनाये गए थे।

भूतपूर्व उच्चायुक्तों के प्रान्तों को राज्यों की (ग) श्रेणी में रखा गया। ये थे—अजमेर (भूतपूर्व अजमेर-मेरवाड़ा), भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा और विन्ध्य प्रदेश। लगभग 61 देशी राज्यों को इन राज्यों में विलीन कर दिया गया।

राज्यों की इन श्रेणियों के अतिरिक्त एक श्रेणी वह है जो संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (घ) में वर्णित थी। इस श्रेणी में अण्डेमान और निकोबार द्वीप-समूह आते थे।

स्तर के दृष्टिकोण से (क) व (ख) श्रेणी के राज्य लगभग समान थे। अन्तर केवल इतना था कि (क) श्रेणी के राज्यों के प्रधान गवर्नर होते थे और (ख) श्रेणी के राज्यों के प्रधान राज प्रमुख होते थे। (ग) श्रेणी के राज्यों को सीधे संघीय सरकार के नियन्त्रण में रखा गया और वे एकात्मक आधार पर प्रशासित होते थे। अण्डेमान और निकोबार द्वीपसमूह में संघीय सरकार ने केवल कार्यकारी प्राधिकार ही नहीं वरन् विधायक सत्ता भी अपने हाथों में रखी।

भारतीय संघ की घटक इकाइयों के स्तर में उपर्युक्त अन्तर असंगत तो था, पर उसे चलने देने के कई कारण थे। स्वतन्त्रता के समय राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रशासन की तीन श्रेणियाँ थीं—गवर्नरों के प्रान्त, मुख्य आयुक्तों के प्रान्त तथा देशी रजवाड़े। उस समय संविधान के रचयिताओं के पास अधिक ज़रूरी काम थे और वे घटक इकाइयों के पुनर्गठन का कार्य किसी और समय हाथ में लेना चाहते थे। ब्रिटिश शासकों ने तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किसी युक्तिपूर्ण अथवा वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया था वरन् वह ब्रिटिश शक्ति के क्रमिक विकास के समय उपस्थित परिस्थितियों का परिणाम था, जो (विकास) सौ वर्ष से भी अधिक समय तक होता रहा था। जब भी कोई नया बड़ा प्रदेश लिया अथवा हस्तगत किया जाता, तत्कालीन प्रान्तों के साथ आवश्यक जोड़तोड़ करके एक पृथक प्रशासनिक इकाई बना दी जाती थी। इसका आधार अधिकतर राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक आवश्यकताएँ होती थीं। विदेशी शासकों को जाति एवं भाषा की समैकता अथवा ऐतिहासिक तत्त्वों से कोई सरोकार नहीं था। गणराज्य की स्थापना होते ही जनता ने भाषायी समैकता की माँग प्रस्तुत की और 1 अक्तूबर, 1953 को आन्ध्र प्रदेश की स्थापना का आधार, न्यूनाधिक भाषायी विचारधारा ही थी। उसे (क) श्रेणी के राज्यों में रखा गया।

संघीय सरकार ने अनुभव किया कि राज्यों के पुनर्गठन के प्रश्न को अब और अधिक नहीं टाला जा सकता, अतः उसने 1953 में एक राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganization Commission) नियुक्त किया। इसे एस०आर०सी० के छोटे नाम से भी पुकारा जाता था। सभी सम्बद्ध तत्वों का अवलोकन करने के पश्चात् एस० आर० सी० ने सिफारिश की कि भारतीय संघ की घटक इकाइयों को केवल दो वर्गों में विभाजित कर दिया जाये : (क) "राज्य", जोकि प्रमुख घटक इकाइयाँ हों और केन्द्र के साथ उनका संघीय आधार पर संवैधानिक नाता हो। वस्तुतः सारा देश इन्हीं इकाइयों में बाँट दिया जाना चाहिए और (ख) "प्रदेश" जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामरिक अथवा अन्य दृष्टिकोण से किसी राज्य के साथ न जोड़े जा सकने के कारण केन्द्र के शासन में रखे जायें। एस० आर० सी० ने सुझाव दिया कि "प्रदेशों" में वे (ग) श्रेणी के राज्य, जिन्हें अन्य राज्यों के साथ नहीं मिलाया जाना हो, तथा

(घ) श्रेणी के प्रदेश रखे जायें। यह भी सुझाव दिया गया कि इन "प्रदेशों" को संसद में प्रतिनिधित्व दिया जाये, पर उनसे सम्वद्ध दायित्वों का विभाजन न हो। एस० आर० सी० का विचार था कि इन क्षेत्रों में प्रजातन्त्र इस रूप में हो कि जनता प्रशासन के साथ निदेशक की बजाय सलाहकार के रूप में सहयोग करे।

एस० आर० सी० की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए संसद ने अप्रैल 1956 में राज्य पुनर्गठन विधेयक पारित किया और राज्यों को, मुख्यतः भाषायी आधार पर पुनर्गठित कर दिया गया। (क) व (ख) श्रेणी के राज्यों का अन्तर समाप्त करके (ग) श्रेणी को समाप्त कर दिया गया। उनमें से कुछ को नवोदित राज्यों में जोड़ दिया गया तथा अन्यों को संघीय प्रदेश (यूनियन टैरिटरीज़) संज्ञा दी गई। पुनर्गठन के बाद राज्यों की संख्या घटकर 14 रह गई। उनके नाम थे: आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा जम्मू-कश्मीर।[8]

राज्यों के पुनर्गठन के बाद संघीय प्रदेशों के ये नाम थे: दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डेमान व निकोबार द्वीप समूह तथा लक्काद्वीव और मिनीकोय व अमीनदिवी द्वीपसमूह।[9] दिसम्बर 1961 में सैनिक कार्रवाई के पश्चात् जब गोआ, दमन और दीव को भारत सरकार ने ले लिया तो संसद ने मार्च 1962 में, गोआ, दमन और दीव (प्रशासन) विधेयक पारित किया और भूतपूर्व पुर्तगाली उपनियेशों को एक केन्द्रशासित प्रदेश बना दिया गया। यद्यपि उनका विधिवत हस्तांतरण बाद में हुआ, 21 अक्तूबर, 1954 को भारत एवं फ्रांस की सरकारों में हुए समझौतों के फलस्वरूप चार भूतपूर्व फ्रांसीसी बस्तियों (पांडिचेरी, कराईकल, माही और यमन) को मई 1956 में भारत के हवाले कर दिया गया था। इन चारों बस्तियों को मिला कर एक नाम पांडिचेरी रख दिया गया और उसे संघीय प्रदेशों की सूची में जोड़ दिया गया। नवम्बर 1966 में पंजाब के पुनर्गठन के बाद चण्डीगढ़ को भी एक संघीय प्रदेश बना दिया गया। इस प्रकार वह संख्या नौ तक जा पहुँची।

राज्यों के और अधिक पुनर्गठन की माँग (Demands for Further Reorganization of States)

राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन से समस्या का निर्णायक अन्त नहीं हुआ अपितु वह और पेचीदा हो गई। देश के विभिन्न भागों में जनता की पृथक राजनीतिक इकाई बनने की आकांक्षा नई प्रेरणा मिली, और उसकी पूर्ति के लिए वे

[8]प्रथम 13 राज्यों का संवैधानिक स्तर एक जैसा था, पर जम्मू-कश्मीर को विशेष दर्जा दिया गया। संविधान के कुछ प्रावधान उस पर लागू नहीं होते थे। किन्तु कालान्तर में उसे भी लगभग उसी स्तर पर ले आया गया।

[9]राज्यों के पुनर्गठन सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन के लिए देखो: सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय का प्रकाशन, *India 1957* (नई दिल्ली, 1957), अध्याय xxx, पृष्ठ संख्या 383-87.

आन्दोलन का अभियान संगठित करने लगे। इसका प्रथम उदाहरण वम्वई राज्य में सामने आया।

(क) वम्वई का द्विभाजन (Bifurcation of Bombay)

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश थी कि वम्वई को दो भाषायी राज्य वना रहने दिया जाये, सौराष्ट्र और कच्छ के गुजराती भाषी राज्यों तथा हैदरावाद के मराठी भाषी ज़िलों को बम्वई में मिला दिया जाये तथा मध्य प्रदेश के मराठी भाषी ज़िलों को मिला कर विदर्भ नाम का पृथक राज्य बना दिया जाये। इन सिफ़ारिशों को पर्याप्त वाद-विवाद के वाद मान लिया गया किन्तु मध्य प्रदेश के मराठी भाषी ज़िलों को मिलाकर विदर्भ नामक राज्य नहीं वनाया गया। इन ज़िलों को वम्वई में जोड़ दिया गया। इस निपटारे का भीषण विरोध किया गया और 1955-56 में वम्वई नगर एवं अहमदावाद में मराठी और गुजराती के समर्थकों ने अनेक हिंसक उपद्रव किये। दूसरे आम चुनावों से कुछ पूर्व वम्वई नगर और महाराष्ट्र में, वाम एवं दक्षिण दोनों धड़ों के विपक्षी दलों ने संगठित होकर एक पृथक मराठा राज्य वनाने व वम्वई को उसकी राजधानी वनाए जाने की माँग करने के लिए एक **संयुक्त महाराष्ट्र समिति** गठित की। गुजरात में भी एक पृथक गुजराती राज्य की माँग का आन्दोलन चलाने के लिए एक उसी प्रकार का, **महागुजरात जनता परिषद** नामक गठवन्धन स्थापित किया गया। इन दोनों संगठनों की गतिविधियों के फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी, जोकि एस० आर० सी० की सिफारिशों का समर्थन कर रही थी, लोक सभा और राज्य विधान सभा में अनेक स्थानों पर हार गई। मुख्य मन्त्री वाई० बी० चव्हाण ने महाराष्ट्रियों व गुजरातियों में "भावनात्मक अखण्डता" लाने के प्रयत्न किये, पर वे भी निष्फल रहे।

अगस्त 1959 में कांग्रेस कार्य समिति ने वम्वई को दो भागों में विभाजित करने का एक सुझाव स्वीकार किया। वम्वई नगर को मराठा वा गुजरात राज्य में मिलाने सम्वन्धी विवाद (मुख्यतः जिसके कारण 1956 में संघीय सरकार ने एक द्विभाषी राज्य वनाने के पक्ष में निर्णय लिया था) को ऐसे हल द्वारा निपटा दिया गया जिसे मानने के लिए दोनों पक्ष तैयार थे, अर्थात् वम्वई को महाराष्ट्र की राजधानी बना दिया जाये तथा महाराष्ट्र, गुजरात की नई राजधानी वनाने की लागत दे। संघीय सरकार ने राज्य को दो भागों में विभक्त करना स्वीकार कर लिया। 8 मार्च, 1960 को वम्वई पुनर्गठन विधेयक जिसमें इस द्विभापी राज्य के 1 मई, 1960 से, मराठी भाषी एवं गुजराती भाषी दो टुकडे करने का प्रावधान था, संसद को प्रेषित करने से पूर्व विधान सभा की मेज़ पर रखा गया। तीन दिन वाद उसे पारित कर दिया गया। लोक सभा ने उसे 19 अप्रैल को और राज्य सभा ने 23 अप्रैल को स्वीकार किया। 25 अप्रैल को विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई। नए राज्यों का प्रादुर्भाव 30 अप्रैल-मई 1960 की मध्य रात्रि को हुआ। अब राज्यों की गिनती

15 हो गई । 1 दिसम्बर, 1963 को जब नागालैण्ड राज्य (जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है) बना तो राज्यों की संख्या 16 तक जा पहुँची ।

(ख) पृथक विदर्भ राज्य की माँग (Demand for Separate Vidarbha State)

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, एस० आर० सी० ने सिफारिश की थी कि मध्य प्रदेश के मराठी भाषी ज़िलों का एक पृथक राज्य, विदर्भ, बना दिया जाये । पर केन्द्र सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया और उन ज़िलों को बम्बई राज्य का भाग बना दिया गया । वहाँ की जनता क्षुब्ध हुई, पर उन्हें केन्द्र सरकार ने यह कह कर तुष्ट कर दिया कि उनके हितों की पूरी सुरक्षा की जायेगी । 1960 में जब बम्बई के द्विभाजन का प्रस्ताव विचाराधीन था, विदर्भ नाम का पृथक राज्य स्थापित करने का प्रश्न पुनः उठाया गया । नागपुर क्षेत्र के कतिपय कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों ने दृढ़तापूर्वक विदर्भ बनाने की माँग की । वस्तुत: उनके विचारों को नागपुर के राजनीतिक महत्त्व का ह्रास प्रभावित कर रहा था, जो 1956 तक मध्य प्रदेश की राजधानी था । अनेकों अन्य कांग्रेसियों ने इस माँग का विरोध किया । 4 दिसम्बर, 1969 को कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें विदर्भ राज्य बनाने का विरोध किया गया था पर, साथ ही, यह सिफारिश की गई थी कि विदर्भ के हितों की रक्षा करने तथा नागपुर का स्तर बनाये रखने के उचित उपाय किये जायें ।

इसके फलस्वरूप बम्बई सरकार ने 14 मार्च, 1960 को आश्वासन दिये कि राज्य सरकार प्रत्येक वर्ष में कुछ निश्चित समय के लिए नागपुर में रहा करेगी, विधान सभा का कम से कम एक अधिवेशन प्रतिवर्ष नागपुर में हुआ करेगा, विदर्भ के लिए एक पृथक विकास प्रमण्डल स्थापित किया जायेगा, तथा विभिन्न क्षेत्रों में विकास का खर्चा उनकी जनसंख्या के अनुपात से किया जायेगा । इससे विदर्भ के सभी लोग सन्तुष्ट न हो सके । उन्होंने विदर्भ राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन करने के निमित्त एक **नाग-विदर्भ आन्दोलन समिति** की स्थापना की । 30 मार्च, 1961 को नागपुर में तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में भीषण हिंसा एवं अराजकता की घटनाएँ हुईं । पुलिस को गोली चलानी पड़ी और अनेक व्यक्ति मारे गए । किन्तु कालांतर में विदर्भ की माँग ठण्डी पड़ गई । तो भी यदा-कदा वह माँग की जाती रही ।

(ग) पंजाब का द्विभाजन (Bifurcation of Punjab)

पंजाब की पंजाबी-भाषी जनता ने, जिसमें अधिकतर सिख थे, अकाली दल के नेतृत्त्व में पृथक पंजाबी-भाषी राज्य की माँग की । हिन्दुओं ने जनसंघ, हिन्दू महासभा और आर्य समाज के नेतृत्त्व में पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा पटियाला व पूर्वी पंजाब के राज्यों (पेप्सू) का एक हिन्दू बहुसंख्यक "विशाल पंजाब" बनाने की माँग

की। दोनों पक्षों ने आन्दोलन, हिंसा, हड़तालें, प्रदर्शन और अनशन किए तथा एक-दो घटनाएँ "आमरण अनशन" की भी हुईं। केन्द्र ने उनकी माँगें स्वीकार नहीं कीं। अकाली दल के दो धड़ों में से एक के नेता संत फतेह सिंह ने यह धमकी दी कि यदि 25 सितम्बर, 1966 तक पंजाबी-भाषी राज्य स्थापित करने की माँग स्वीकार न की गई तो वे आत्मदाह कर लेंगे। इससे पंजाब में स्थिति बहुत तनावपूर्ण हो गई। केन्द्र को देश की अखण्डता एवं सुरक्षा को खतरा होने की आशंका हुई, अतः उसने 1 नवम्बर, 1966 को पंजाब का भाषायी आधार पर विभाजन करने का निश्चय किया। पंजाबी-भाषी ज़िलों को मिलाकर पंजाब राज्य बना दिया गया और सात हिन्दी-भाषी ज़िलों का नया राज्य 'हरियाणा' बना दिया गया। पंजाब के जो हिन्दी-भाषी पहाड़ी क्षेत्र हिमाचल प्रदेश को मिलते थे, उन्हें हिमाचल प्रदेश को हस्तांतरित कर दिया गया। इस प्रकार राज्यों की संख्या 17 तक जा पहुँची।

(घ) असम का पुनर्गठन (Reorganization of Assam)

असम राज्य में जिसके पूर्व में बर्मा और दक्षिण में पूर्वी पाकिस्तान थे, मिज़ो एवं नागाओं के अतिरिक्त ऐसे अन्य तत्त्व भी थे जो पृथक राजनीतिक अस्तित्व की माँग कर रहे थे। इनमें से प्रथम ग़ैर-आसामी जनजातियों के लोग थे, जो गारो, खासी-जेन्तिया, और मिकिर एवं उत्तरी कछार के क्षेत्रों में रहते थे। उन्होंने एक सर्वदलीय पर्वती नेता सम्मेलन स्थापित कर लिया और एक पृथक पहाड़ी राज्य की माँग करने लगे। संघीय सरकार ने असम को महासंघीय (federal) आधार पर पुनर्गठित करना स्वीकार कर लिया। इस व्यवस्था के अधीन समान हित के अनिवार्य विषयों में से कुछ को क्षेत्रीय महासंघ के ज़िम्मे किया जाना था, और शेष को संघटक इकाइयों के हाथों में रहने देना था। सर्वदलीय पर्वती नेता सम्मेलन 18 जनवरी, 1967 को यह प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए सहमत हो गया। किन्तु उसके शीघ्र बाद असम प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने इस व्यवस्था के प्रति असहमति व्यक्त की और यह दृष्टिकोण अपनाया कि असम की पहाड़ियाँ एवं मैदानों में निकट अन्तर्सम्बन्ध है, और एक-दूसरे के बिना उनका अस्तित्व एवं विकास असम्भव हो जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें पृथक कर देने से सारे क्षेत्र की सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा ठप्प हो जायेंगी। इससे सर्वदलीय पर्वती नेता सम्मेलन ने कड़ा रुख अपना लिया और वह पुनः पृथक पहाड़ी राज्य की माँग करने लगा।

दिसम्बर 1967 में, सर्वदलीय पर्वती नेता सम्मेलन ने घोषित किया कि यदि सरकार ने संसद के बजट अधिवेशन में असम के पुनर्गठन के प्रस्ताव घोषित नहीं किये तो उसके सदस्य असम विधान मण्डल से त्यागपत्र दे देंगे। वांछित घोषणा नहीं हुई और 25 मई, 1968 को खासी-जेन्तिया और गारो पहाड़ियों के प्रतिनिधि पाँच सर्वदलीय पर्वती नेता सम्मेलन के सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिये। 9 सितम्बर को शिलांग में पूर्ण हड़ताल रही, तथा यह अहिंसक आन्दोलन अन्य नगरों में भी किया जाने लगा।

दो दिन बाद संघीय सरकार ने असम में स्वायत्तशासी पहाड़ी राज्य बनाना स्वीकार कर लिया तथा अप्रैल 1969 में संसद द्वारा संविधान (22वाँ संशोधन) विधेयक पारित किया जिसमें सरकार को तत्सम्बन्धी अधिकार दिया गया था। उसी वर्ष दिसम्बर में संसद में असम पुनर्गठन विधेयक पारित किया गया। 2 अप्रैल, 1970 को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मेघालय नामक पहाड़ी राज्य का उद्घाटन किया।

यह राज्य असम के अन्तर्गत एक स्वायत्तशासी राज्य था। इसकी अपनी विधायिका एवं मन्त्रिपरिषद थी। किन्तु इससे जनता की महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं हुई और 30 सितम्बर, 1970 को मेघालय विधान सभा ने सर्वसम्पत्ति से केन्द्रीय सरकार से यह प्रार्थना करने का संकल्प लिया कि स्वशासी राज्य को एक पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जाये। अन्ततः यह माँग जनवरी 1972 में स्वीकार कर ली गई और राज्यों की संख्या 18 हो गई।

किन्तु असम का पुनर्गठन अभी पूरा नहीं हुआ था। कछार की पहाड़ियों की बंगाली भाषी जनता ने आरोप लगाया कि असम सरकार के हाथों में उनके हित एवं अधिकार सुरक्षित नहीं हैं क्योंकि वह शैक्षणिक संस्थानों में बंगाली पढ़ाने की उचित सुविधाएँ नहीं प्रदान कर रही है। अतः उन्होंने अपने लिए पृथक राज्य की माँग की। 1973 के आरम्भ में यह माँग, मुख्यतः "युवा पीढ़ी" में, बहुत बलवती हो गई। किन्तु संघीय सरकार ने उनकी माँग को अस्वीकार कर दिया और उन्हें कहा कि वे शेष असम के साथ मिल कर बसना सीखें।

असम में क्षेत्रीयता का एक अन्य गम्भीर उदाहरण, महाराष्ट्र की शिव सेना के समान लचित सेना का संगठन था। 1967 के ग्रीष्म काल में लचित सेना ने अन्य राज्यों के प्रवासियों के विरुद्ध एक आन्दोलन चलाया। यह आन्दोलन मुख्यतः राजस्थानी व्यक्तियों के विरुद्ध था जिनका राज्य के अधिकतर उद्योग पर अधिकार था। पहले तो यह आन्दोलन इश्तिहारों के माध्यम से किया गया, जिनमें ग़ैर-आसामी व्यक्तियों से राज्य छोड़ कर चले जाने का आग्रह किया जाता था, पर 13 जनवरी, 1968 को यह सूचना प्राप्त हुई कि ग़ैर-आसामी उद्योगपतियों को लचित सेना द्वारा ऐसे पत्र भेजे गए हैं कि वे दो मास के भीतर असम छोड़ कर चले जाएँ। 26 जनवरी (गणराज्य दिवस) को विद्यार्थियों ने समारोह का बहिष्कार किया और ग़ैर-आसामियों की दुकानों एवं उद्योग संस्थानों पर आक्रमण किये। यह प्रक्रिया केन्द्रीय सरकार द्वारा असम के प्रस्तावित पुनर्गठन के विरोध में हुई और इसकी पृष्ठभूमि में लचित सेना के नेता ही बताये जाते थे। 31 जनवरी को केन्द्रीय गृह मन्त्री चव्हाण ने आरोप लगाया कि असम सरकार की आन्दोलनकारियों से "साँठगाँठ" है। न्यायमूर्ति के० सी० सेन ने जिन्हें इस परिस्थिति की जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया था, ब्यौरा दिया कि राज्य सरकार ग़ैर-आसामियों के विरुद्ध आन्दोलन के "पूर्णतः तटस्थ" है तथा समाज-विरोधी तत्त्वों का साहस "सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों की उदासीनता व रूक्षता के कारण बढ़ा है।" केन्द्र सरकार के आदेश पर असम सरकार ने लचित सेना स्वयंसेवकों की

गतिविधियों को रोकने के कठोर उपाय किये, जिससे स्थिति पर काबू पा लिया गया।

(ङ) आन्ध्र प्रदेश के द्विभाजन की माँग (Demand for Bifurcation of Andhra Pradesh)

राज्य पुनर्गठन आयोग ने सिफ़ारिश की थी कि हैदराबाद के बहुभाषी राज्य को विघटित करके उसके कन्नड़भाषी क्षेत्रों को मैसूर में मिला दिया जाये और मराठी भाषी क्षेत्रों को बम्बई में मिला दिया जाये। आयोग ने अनुभव किया कि हैदराबाद राज्य के तेलुगू भाषी क्षेत्रों (तेलंगाना) को आन्ध्र के साथ मिला कर एक अलग तेलुगू भाषी राज्य बनाने के पक्ष में पर्याप्त तर्क उपलब्ध हैं, पर उन्होंने तुरन्त उसका सुझाव नहीं दिया क्योंकि तेलंगाना की जनता में यह भावना विद्यमान थी कि कहीं आन्ध्र के अधिक शिक्षित लोग उन्हें चक्कर में डालकर उनका शोषण न करें। अतः आयोग ने सिफ़ारिश की कि तेलंगाना को एक अलग राज्य रखा जाये, पर यह प्रावधान कर दिया जाये कि तीसरे आम चुनाव के बाद यदि "तेलंगाना के विधान मण्डल का दो-तिहाई बहुमत उसके पक्ष में मत दे" तो उसे आन्ध्र के साथ मिला दिया जाये।

किन्तु संघीय सरकार का विचार था कि इस प्रकार जो अनिश्चितता व्याप्त होगी, उससे तेलंगाना के आर्थिक विकास में बाधा पड़ेगी। अतः उसने तेलंगाना को आन्ध्र के साथ मिलाने का निर्णय किया। 1956 में आन्ध्र एवं तेलंगाना के नेताओं ने उपरोक्त एकीकरण के प्रति शर्तों के रूप में निम्नलिखित निर्णय किया : (i) राज्य विधान सभा के तेलंगानी सदस्य अपने क्षेत्र से सम्बन्धित विषयों के निपटारे के लिए एक क्षेत्रीय समिति बनायेंगे, (ii) राज्य के समस्त खर्चे में से अपना आनुपातिक भाग दे कर तेलंगाना से प्राप्त सारा राजस्व उस क्षेत्र के विकास पर व्यय किया जायेगा, (iii) पाँच वर्ष तक तेलंगाना में 500 रु० तक वेतन के सरकारी पदों पर केवल वही व्यक्ति भर्ती किये जायेंगे, जो कम से कम 15 वर्ष तेलंगाना में रह चुके हों, (iv) जब राज्य के मुख्य मन्त्री आन्ध्र के होंगे, उप-मुख्य मन्त्री तेलंगाना के होंगे और इसी प्रकार यदि मुख्य मन्त्री तेलंगाना के होंगे तो उप-मुख्य मन्त्री आन्ध्र के होंगे।

इस समझौते के आधार पर आन्ध्र प्रदेश राज्य 1 नवम्बर, 1956 को पुनः स्थापित किया गया।

किन्तु यह समझौता कारगर साबित नहीं हुआ और तेलंगाना की जनता अपना असन्तोष एवं रोष व्यक्त करने लगी। 1960 से आगे के दशक भर यही शोर मचता रहा कि उन्हें आन्ध्र प्रदेश से पृथक कर दिया जाये और एक नया तेलंगाना राज्य स्थापित किया जाये। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय में जो विद्यार्थी तेलंगाना क्षेत्र के थे, उन्हें यह आशंका सताने लगी कि वे आन्ध्र के विद्यार्थियों से पिछड़ जायेंगे और उनका भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। जनवरी 1969 के प्रथम सप्ताह में उन्होंने एक आन्दोलन चलाया जिसमें उन्होंने माँग की कि 1956 के समझौते को "पूर्णतः एवं निष्क-

पटता से" क्रियान्वित किया जाये। आरम्भ में यह आन्दोलन सामान्यतः शान्तिपूर्ण था, पर बाद में हिंसापूर्ण हो गया।

19 जनवरी को तात्कालिक मुख्य मन्त्री ब्रह्मानन्द रेड्डी और 44 विधायकों ने घोषित किया कि जो आन्ध्र के व्यक्ति तेलंगाना के व्यक्तियों के लिए आरक्षित स्थानों पर नियुक्त हैं, उन्हें तुरन्त आन्ध्र को स्थानान्तरित कर दिया जायेगा और उनके जो स्थान रिक्त होंगे, उन्हें तेलंगाना के अर्हता-प्राप्त व्यक्तियों द्वारा भरा जायेगा तथा तेलंगाना के फ़ालतू राजस्व को पूर्णतः उसी क्षेत्र के विकास में लगाया जायेगा। इस घोषणा के फलस्वरूप पृथक तेलंगाना की माँग वापस ले ली गई।

आन्ध्र के सरकारी कर्मचारियों के परिवार जब तेलंगाना से लौटे तो आन्ध्र के विद्यार्थियों ने प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन छेड़ दिया। इसके परिणामस्वरूप तेलंगाना आन्दोलन भी पुनः चालू हो गया। तेलंगाना के नेताओं ने अपनी पृथक राज्य बनाने की माँग को बल देने के लिए एक प्रजा समिति बनाई। स्थिति इतनी कठिन एवं तनावपूर्ण हो गई कि शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने के लिए सेना बुलानी पड़ी। 26 मार्च, 1969 को प्रधान मन्त्री ने घोषणा की कि तेलंगाना की जनता की शिकायतें दूर करने के लिए शीघ्र उपाय किये जायेंगे, पर उसका कोई प्रभाव न हुआ। आन्ध्र प्रदेश के द्विभाजन सम्बन्धी आन्दोलन ने हिंसापूर्ण रूप ले लिया। फलतः सरकारी सम्पत्ति नष्ट की गई, पुलिस ने बेकाबू भीड़ पर गोलियाँ चलाईं और सैकड़ों व्यक्तियों को गिरफ़्तार किया गया जिनमें तेलंगाना प्रजा समिति के अध्यक्ष मदनमोहन भी थे। डा० एम० चेन्ना रेड्डी (श्रीमती गांधी की सरकार में एक भूतपूर्व मन्त्री) और के० वी० रंगा रेड्डी (आन्ध्र प्रदेश के उप-मुख्य मन्त्री) इत्यादि अनेक विख्यात कांग्रेस जनों ने पृथकता आन्दोलन के प्रति समर्थन की घोषणा की। 11 अप्रैल को प्रधान मंत्री ने एक आठ-सूत्री योजना की घोषणा की जिसमें विकास की प्रगति एवं रोज़गार पाने के अवसरों में गति लाने का विश्वास दिलाया गया था, पर उसका भी कोई प्रभाव न हुआ और तेलंगाना प्रजा समिति (टी०पी०एस०) की नेता श्रीमती टी०एन० सदालक्ष्मी ने घोषित किया कि पृथक राज्य के लिए आन्दोलन जारी रहेगा। 26 मई को टी० पी० एस० ने एक अहिंसापूर्ण नागरिक अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया। तेलंगाना के कांग्रेस जनों ने 1 जून को एक सम्मेलन किया। उन्होंने आन्ध्र से पृथक होने की माँग का समर्थन किया। आन्ध्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी से पृथक हो गए और एक स्वतन्त्र तेलंगाना प्रदेश कांग्रेस कमेटी (टी० पी० सी० सी०) बना ली, जिसका अध्यक्ष कोंडा लक्ष्मण बापूजी को बनाया गया। डा० एम० चेन्ना रेड्डी टी० पी० एस० के अध्यक्ष बन गये। भारतीय क्रान्ति दल और स्वतन्त्र पार्टी ने पृथक तेलंगाना राज्य की माँग को नैतिक समर्थन प्रदान किया तथा संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और रिपब्लिकन पार्टी ने आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। साम्यवादी दल और साम्यवादी (मार्क्सवादी) ने इस माँग का विरोध किया। कतिपय प्राध्यापकों, सेवा निवृत्त सरकारी कर्मचारियों, हैदराबाद उच्च न्यायालय के एक भूतपूर्व

मुख्य न्यायाधीश और कुछ व्यापारियों ने गवर्नर को एक ज्ञापन दिया जिसमें "राज्य सरकार द्वारा आन्दोलन को कुचलने के लिए अपनाये गए दमनकारी उपायों" के प्रति विरोध प्रकट किया गया और इस बात पर बल दिया गया कि "जनता के न चाहने पर उन्हें न तो पृथक किया जाये और न ही उन पर संगठित आन्ध्र प्रदेश थोपा जाये।" उन्होंने माँग की कि आन्ध्र प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये और उसके बाद जनता की इच्छा का पता लगाया जाये कि वह आन्ध्र प्रदेश से पृथक होना चाहती है अथवा आन्ध्र प्रदेश के साथ रहना चाहती है।

28 जून को ब्रह्मानन्द रेड्डी सरकार के आठ तेलंगानी मन्त्रियों ने अपने-अपने पद से इस्तीफा दे दिया और कहा कि वे "आन्ध्र प्रदेश के दोनों क्षेत्रों के पूर्ण सामंजस्य के लिए उचित एवं आवश्यक मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करने के लिए" जनता में कार्य करेंगे। मुख्य मन्त्री ने भी अपना इस्तीफ़ा कांग्रेस संसदीय दल को प्रेषित कर दिया ताकि सारी समस्या पर शान्तिपूर्वक एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण रख कर विचार किया जा सके।

इस अवधि में आन्दोलन—अर्थात् व्यापार बन्द, प्रदर्शन, हड़तालें, सम्पत्ति का विनाश एवं पुलिस गोलीकाण्ड—निर्बाध चलते रहे।

6 अगस्त, 1969 को केन्द्रीय गृह मन्त्री चव्हाण ने सरकार के निर्णय की पुनरोक्ति की कि उसका आन्ध्र प्रदेश के द्विभाजन का कोई इरादा नहीं है। इसके शीघ्र बाद ब्रह्मानन्द रेड्डी ने मुख्य मन्त्री पद से अपना इस्तीफा वापस ले लिया।

इन दो घटनाओं से टी० पी० सी० सी० हल्कों में उदासी छा गई और उसने अपने 35 विधायकों तथा 12 विधानपरिषद सदस्यों को रेड्डी सरकार को समर्थन न देने का आदेश दिया। संघीय उप-रक्षा मन्त्री एस० आर० कृष्ण, संसदसदस्य अकबर अली खाँ और एक श्रमिक नेता जी० संजीवा रेड्डी ने टी० पी० सी० सी०, टी० पी० एस० और आन्ध्र प्रदेश सरकार के नेताओं में समन्वय स्थापित कराने का प्रयत्न किया, पर दोनों घड़े अपने-अपने निश्चय पर दृढ़ रहे।

नवम्बर 1970 में टी० पी० एस० प्रत्याशी मदनमोहन ने एक कांग्रेसी प्रत्याशी पी० वी० राजेश्वर राव को सिद्दीपेट मध्यावधि चुनाव में 20,070 मतों से हटा दिया। साम्यवादी दल के नेता को, जो संयुक्त आन्ध्र प्रदेश के पृष्ठपोषक थे, कुल 7,073 मत प्राप्त हुए और उनकी जमानत जब्त हो गई। इस विजय के परिवेश में टी० पी० एस० एम० चेन्ना रेड्डी ने संघीय एवं राज्य सरकार के नेताओं से आग्रह किया कि वे समय की पुकार को समझें और पृथक तेलंगाना राज्य स्थापित करने की माँग स्वीकार कर लें। किन्तु प्रधान मन्त्री ने उन्हें कतिपय कटुतापूर्ण उत्तर दिया कि आन्ध्र प्रदेश का विभाजन नहीं किया जायेगा।

दिसम्बर 1970 में राष्ट्रपति गिरि ने लोक सभा भंग करके नये चुनावों का आदेश दिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी को आशंका हुई कि कहीं हत्प्रभ टी० पी० एस० विपक्ष का पलड़ा भारी न कर दे, अतः उन्होंने निम्नलिखित नए सुझाव प्रस्तुत किये :

(i) कि टी० पी० एस० अधिकृत रूप से तेलंगाना क्षेत्र से चुनाव न लड़े और कांग्रेसी प्रत्याशियों के विरुद्ध अपने प्रत्याशी खड़े न करे; (ii) कि उन्होंने जो आठ सूत्री कार्यक्रम घोषित किया था, उसकी 1977 तक आज़माइश की जाये; (iii) कि 1977 के आम चुनावों के बाद यदि तेलंगानी विधायकों का दो-तिहाई बहुमत फिर भी पृथकत्व के हक़ में मत दे तो आन्ध्र प्रदेश में से काट कर एक पृथक राज्य बना दिया जाये। इन्दिरा गांधी ने ब्रह्मानन्द रेड्डी एवं टी० पी० एस० नेता डा० एम० चेन्ना रेड्डी को अपने सुझावों के आधार पर वार्ता के लिए आमन्त्रित किया। टी०पी० एस० नेता भविष्य में तेलंगाना को दिये जाने वाले स्तर के विषय में पक्का आश्वासन पाने के लिए दृढ़ रहे और उन्होंने माँग की कि कांग्रेस लोक सभा के सभी चौदह स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों का नामांकन टी० पी० एस० की सलाह पर करे, पर मुख्य मन्त्री ने प्रधान मन्त्री को सूचित किया कि "पृथकतावादियों" को कोई रियायत न दी जाये तथा कांग्रेस को उनके विरुद्ध चुनाव लड़ना चाहिए। इस प्रकार, वार्ता असफलतापूर्वक समाप्त हो गई। टी० पी० एस० ने प्रधान मन्त्री की योजना को अस्वीकार कर दिया, 1977 तक इन्तज़ार करने के विचार को "व्यर्थ बकवास" बताया, स्वयं को पूर्ण राजनीतिक दल के रूप में बदल लिया और लोक सभा के चुनाव के लिए अपने प्रत्याशी नामांकित किए। टी० पी० एस० ने अपने पृथकत्व कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़े और दस स्थान जीत लिए।

उसके बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी और टी० पी० एस० नेता चेन्ना रेड्डी से पर्याप्त कूटवार्ता हुई जिसके फलस्वरूप एक "छः सूत्री" समझौता हुआ। टी० पी० एस० ने कांग्रेस में विलय स्वीकार कर लिया। प्रधान मन्त्री को अधिकार दिया गया कि वे तीन वर्ष बाद स्थिति का पुनरीक्षण करके अन्तिम रूप से निश्चित करें कि पृथक तेलंगाना बनाया जाये अथवा नहीं। इस समझौते के अन्य प्रावधानों द्वारा निर्धारित किया गया कि तेलंगाना क्षेत्रीय समिति को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया जाये, कि तेलंगानी व्यक्तियों के लिए रोज़गार के अवसरों के विषय में "मुल्की नियमों" की संवैधानिकता को चुनौती नहीं दी जायेगी, कि तेलंगाना के लिए पृथक पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई जायेंगी, तथा तेलंगाना से एक व्यक्ति को मुख्य मन्त्री बनाया जायेगा। इस समझौते के अनुसार ब्रह्मानन्द रेड्डी ने मुख्य मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया और उनके स्थान पर वी० पी० नरसिंह राव मुख्य मन्त्री बने।

इस समझौते के आवेश में तेलंगाना क्षेत्र के अनेकों व्यक्तियों को यह शंका होने लगी कि चेन्ना रेड्डी के नेतृत्व में टी० पी० एस० कहीं उनकी पृथक तेलंगाना राज्य की माँग के प्रति विश्वासघात न करे। 10 जनवरी, 1971 को उन्होंने संयुक्त समाजवादी दल के नेता सत्यनारायण रेड्डी के नेतृत्व में एक नई टी० पी० एस० बना ली। पुरानी टी० पी० एस० ने चुनाव के बाद की स्थिति से समझौता करके तदनुसार आचरण करना आरम्भ कर दिया था, पर नई टी० पी० एस० ने अपना संघर्ष जारी रखा, पर उसमें कुछ दम नहीं था। उसे संगठन कांग्रेस, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, स्वतन्त्र

पार्टी और रिपब्लिकन पार्टी का समर्थन प्राप्त था। राज्यों की विधान सभाओं के पाँचवें आम चुनावों के कुछ दिन पूर्व, जो मार्च 1972 में हुए, नई टी० पी० एस० ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था कि तेलंगाना को पृथक राज्य बनाने से कम किसी भी अनुदान से तेलंगाना की जनता सन्तुष्ट नहीं होगी।

1956 में जब हैदराबाद के क्षेत्र को आन्ध्र के साथ मिलाकर आन्ध्र प्रदेश बनाया गया तो "मुल्की नियमों" को उनके संशोधित रूप में रख लिया गया था ताकि आन्ध्र में विद्यमान उच्च शैक्षणिक स्तर के कारण नौकरियों के मामले में तेलंगाना की जनता घाटे में न रहे। ये 'नियम' 1919 में हैदराबाद के निज़ाम द्वारा बनाये गये थे। इनके द्वारा सरकारी नौकरियाँ और शैक्षणिक संस्थानों में दाखले केवल उन व्यक्तियों के लिए आरक्षित कर दिये गए थे, जो आन्ध्र में उत्पन्न हुए अथवा कम से कम 15 वर्ष से वहाँ रह रहे थे। यद्यपि हैदराबाद राज्य की 85 प्रतिशत जनता हिन्दू थी, सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर मुसलमान नियुक्त थे। "मुल्की नियमों" का मूल उद्देश्य यही था कि अन्य क्षेत्रों के मुसलमानों को इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए अन्य राज्यों से आकर हैदराबाद में बसने का प्रोत्साहन न मिलने पाये।

आन्ध्र क्षेत्र के कुछ व्यक्तियों ने "छः सूत्री" समझौते की अवहेलनापूर्वक "मुल्की नियमों" की संवैधानिकता को चुनौती दी और आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "मुल्की नियम" असंवैधानिक हैं क्योंकि उनसे संविधान की धारा 16(2) की अवहेलना होती है जिसका यह प्रावधान है कि किसी भी नागरिक को, अन्य बातों के अतिरिक्त, निवास के आधार पर सरकारी नौकरियों से वंचित नहीं किया जायेगा। अपील करने पर सर्वोच्च न्यायालय ने 3 अक्तूबर, 1972 को निर्णय दिया कि "मुल्की नियम" धारा 35(ख) द्वारा परिरक्षित हैं। धारा 35(ख) का प्रावधान था कि किसी राज्य द्वारा सेवा में नियुक्ति की शर्तों में, अन्य बातों के अतिरिक्त, किसी राज्य की सीमा के भीतर आवास की अनिवार्यता सम्बन्धी विधि, जो संविधान आरम्भ होने के तुरन्त पूर्व प्रचलित थी, संसद द्वारा परिवर्तित किये जाने, संशोधित किये जाने अथवा उनके स्थान पर नई विधि बनाये जाने तक प्रचलित रहेगी। इस प्रकार, "मुल्की नियम" आन्ध्र प्रदेश बनने के बाद भी प्रचलित रहे।

आन्ध्र प्रदेश की राजधानी, अर्थात् हैदराबाद, क्योंकि तेलंगाना में थी, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का यह अर्थ लगाया गया कि राज्य के सचिवालय में सभी पद तथा न्यायाधीशों के पद भी केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा भरे जा सकते हैं, जो तेलंगाना में जन्मे हों अथवा कम से कम 15 वर्ष तक वहाँ रह चुके हों।

नवम्बर 1972 में आन्ध्र में "मुल्की नियम" समाप्त करने के प्रति एक आन्दोलन शुरू किया गया जिसमें विद्यार्थियों ने आगे बढ़कर भाग लिया। उनकी माँग थी कि आन्ध्र को एक पृथक राज्य बनाया जाये। स्थिति बहुत गम्भीर हो गई और व्यवस्था बनाये रखने में सरकारी अधिकारियों की सहायता के लिए सेना बुलानी पड़ी।

27 नवम्बर को श्रीमती गांधी ने एक समन्वय योजना प्रस्तुत की, जिसके द्वारा (क)

"मुल्की नियम" केवल अ-राजपत्रित एवं अवर पदों के लिए प्रवर्तित किये जाने, (ख) राज्य सरकार के सचिवालय तथा विभागों के प्रमुख अधिकारियों के कार्यालयों में ये नियम अराजपत्रित पदों की प्रत्येक तीन रिक्तियों में से दूसरी को भरने के प्रति प्रवर्तित किये जाने, और (ग) इन नियमों का प्रचलन हैदराबाद में 1977 के बाद और शेष तेलंगाना में 1980 के बाद समाप्त कर दिये जाने सम्बन्धी "मुल्की नियम विधेयक" तैयार किया गया जिसे 30 दिसम्बर, 1972 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गयी।

इस अधिनियम के प्रति आन्ध्र एवं तेलंगाना, दोनों में ही तीव्र विरोध प्रकट किया गया। आन्ध्र की जनता "मुल्की नियम" समाप्त करने की माँग कर रही थी और तेलंगाना की जनता उन्हें लागू करने की माँग कर रही थी। आन्ध्र के 141 कांग्रेसी विधायकों में से 73 ने आन्ध्र को तेलंगाना से पृथक करने की माँग की। उन्होंने तथा आन्ध्र के 11 संसत्सदस्यों ने जनता से अनुरोध किया कि सरकार को करों की अदायगी न कर के पंगु बना दिया जाये। उन्होंने एक हिंसापूर्ण आन्दोलन जारी कर दिया तथा राज्य की शासन-व्यवस्था लगभग ढह गई।

इस स्थिति के परिप्रेक्ष्य में तथा केन्द्रीय नेताओं की सलाह मानकर राज्य के मुख्य मन्त्री पी० वी० नरसिंह राव ने 17 जनवरी, 1973 को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। अगले ही दिन राज्य को द्विभाजन से बचाने तथा नियम व्यवस्था पुनः स्थापित करने के लिए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। विधान सभा को भंग न करके निलम्बित कर दिया गया।[10] यह सब इस उद्देश्य से किया गया कि आन्दोलन तथा हिंसा समाप्त हो जाये तथा लोकप्रिय शासन स्थापित करना सम्भव हो जाये। राव के त्यागपत्र से भी आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ। 21 जनवरी को आन्ध्र के कांग्रेसी नेताओं ने दल से त्यागपत्र देने का निश्चय किया और यह घोषणा की कि यदि 5 फरवरी तक पृथक आन्ध्र राज्य न बनाया गया तो "ऐसा विद्रोह होगा जिसका इतिहास में उदाहरण नहीं मिलेगा।" उसी दिन तेलंगाना के कांग्रेसी नेताओं ने आन्ध्र से तुरन्त पृथक होने के लिए कार्य करने के लिए **पृथक तेलंगाना के लिए कांग्रेस फोरम** बना लिया। दोनों ही क्षेत्रों में आन्दोलन ने व्यापक एवं हिंसक रूप ले लिया।

हिंसापूर्ण कृत्यों के दमन के लिए संघीय सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस की एक टुकड़ी नियुक्त की। प्रजा परिषद के अध्यक्ष जी० लाषन्ना ने जो पृथक आन्ध्र आन्दोलन की अग्रणी केन्द्रीय कार्य परिषद के सदस्य भी थे, आरोप लगाया कि लगभग 300 व्यक्तियों को गोली से उड़ा दिया गया। हिंसा कम हो गई, पर पृथकता आन्दो-

[10]आन्ध्र में केन्द्रीय शासन लागू करने का यह दूसरा अवसर था। ऐसा पहला अवसर 1953 में आया, जब टी० प्रकाशम का मन्त्रिमण्डल विधायिका में ही पराजित हो गया था। मार्च 1972 के आम चुनावों के बाद राष्ट्रपति शासन लागू करने का यह पहला अवसर था।

लन चलता रहा। 1 फरवरी, 1972 को लाषन्न ने केन्द्र को चेतावनी दी कि यदि पृथक आन्ध्र राज्य स्थापित न किया गया तो "आन्ध्र का यह बृहत् जनआन्दोलन एक विकराल रूप लेकर भारतीय संघ से पृथक होने के बृहत् आन्दोलन में परिणत हो जायेगा।" उन्होंने यह भी कहा कि "पृथक होने के प्रश्न पर कोई वार्ता नहीं की जा सकती।"[11]

केन्द्रीय सरकार को आशंका हुई कि कहीं स्थिति पूर्णत: वेकाबू न हो जाये। अत: उसने वातचीत द्वारा समझौता कराने के प्रयत्न शुरू किये। छ: महीने तक विभिन्न स्तरों पर वार्ता करने के पश्चात् एक छ: सूत्री फार्मूला तैयार किया गया। यह इस प्रकार था : (1) "मुल्की नियम" एवं तेलंगाना क्षेत्रीय समिति समाप्त कर दिये जायें, (2) अ-राजपत्रित पदों के लिए सीधी भर्ती में स्थानीय प्रत्याशियों को प्राथमिकता दी जाये तथा तहसीलदारों, अवर अभियन्ताओं और सिविल असिस्टेन्ट सर्जनों तथा स्थानीय निकायों के अधीन नौकरियों में भी ऐसा ही किया जाये, (3) सरकारी कर्मचारियों की शिकायतें सुनने के लिए एक उच्च सत्ताधारी ट्रिब्युनल बनाया जाये, (4) एक राज्य स्तरीय योजना मण्डल गठित किया जाये, जिसकी विभिन्न पिछड़े क्षेत्रों के लिए उपसमितियाँ बनाई जायें, (5) वर्तमान शैक्षणिक सुविधाओं की उन्नति के लिए एक नया केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जाये, तथा शैक्षणिक संस्थानों में भर्ती के लिए स्थानीय प्रत्याशियों को वरीयता प्रदान की जाय, (6) उपरोक्त सूत्रों के प्रवर्तन के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन किये जायें।

दोनों पक्षों ने अपनी आधारभूत माँग अर्थात आन्ध्र प्रदेश के द्विभाजन की माँग में परिवर्तन नहीं किया, पर उन्होंने "उन परिस्थितियों में" इस फार्मूले को सर्वश्रेष्ठ बताया। दोनों पक्षों के नेताओं ने फार्मूले को स्वीकृति प्रदान की और लोकप्रिय शासन स्थापित करने का वातावरण तैयार कर लिया गया। नरसिंह राव हिंसा समाप्त नहीं कर पाये थे और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा था, अत: उनके स्थान पर कोई अधिक लोकप्रिय मुख्य मन्त्री नियुक्त करने का निश्चय किया गया। किन्तु कांग्रेस विधायक दल नेता के प्रश्न से सहमत नहीं हो सका। उसने 1 दिसम्बर, 1972 को एक प्रस्ताव पारित करके सर्वसम्मति से प्रधान मन्त्री को नेता चुनने का अधिकार दे दिया। उन्होंने जे० वैन्गल राव को चुना जो ब्रह्मानन्द रेड्डी के मन्त्रिमण्डल में गृह मन्त्री और नरसिंह राव के मन्त्रिमण्डल में उद्योग मन्त्री रह चुके थे। उन्हें व एक 15 सदस्यीय मन्त्रिपरिषद को 10 दिसम्बर, 1973 को पद की शपथ दिलाई गई, और आन्ध्र प्रदेश में 11 मास पुराना राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया।

इसके शीघ्र वाद संघीय सरकार ने संसद में उपरोक्त छ: सूत्री फार्मूले को संवैधानिक प्राधिकार प्रदान करने के लिए संविधान (छत्तीसवाँ संशोधन) विधेयक प्रस्तुत किया। इसे लोक सभा ने 18 दिसम्बर, 1973 को 311 के मुकाबले 8 मतों से पारित कर दिया। छ: सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया। सदन ने "मुल्की नियम"

[11] देखो दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 2 फरवरी, 1973, पृष्ठ 12.

समाप्त करने सम्बन्धी विधेयक भी पारित कर दिया। इससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि समस्या का समाधान हो गया है। किन्तु छः सूत्री फार्मूला तेलंगाना के पृथकतावादियों को सन्तोष प्रदान न कर सका। उन्होंने पृथक तेलंगाना राज्य स्थापित कराने का आन्दोलन पुनः चलाने के लिए एक तेलंगाना अधिकार प्रतिरक्षण समिति (Telengana Rights Protection Committee) बनाई। इस समिति ने 21 जुलाई, 1974 को एक दिवसीय सम्मेलन किया जिसमें अनेक प्रस्ताव पारित किये गए। मुख्य प्रस्ताव यही था कि इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि तेलंगाना का भविष्य उसकी पृथक राज्य बनाए जाने की पूर्ति पर निर्भर करता है। उसमें यह भी कहा गया कि चाहे सरकार और राजनीतिज्ञ "मर्यादाविहीन राजनीतिक दावपेंच खेलते रहें", जनता पृथक राज्य स्थापित कराने के प्रति संघर्ष करती रहेगी। सम्मेलन ने केन्द्र सरकार को चेतावनी दी कि यदि तेलंगानी जनता की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शीघ्र उपाय न किये गए तो उन्हें "मजबूर होकर तेलंगाना राज्य स्थापित कराने के प्रयत्न करने पड़ेंगे", और उसके परिणामों का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार पर होगा। यद्यपि ऐसे कोई कदम नहीं उठाये गए, पर आन्ध्र प्रदेश के पृथकतावादी अपनी अप्रसन्नता एवं असन्तोष व्यक्त करते रहे।

भारत के अन्य भागों में पृथक राज्य के दर्जे की माँगें (Separate Statehood Demands in Other Parts of India)

देश के अनेक अन्य भागों में भी पृथक राज्य का दर्जा दिये जाने की माँगें उठाई गईं। असम के मैदानी इलाकों की जनजातियों ने अपने लिए एक पृथक केन्द्रशासित प्रदेश स्थापित करने की माँग की। उन्होंने 20 दिसम्बर, 1973 को प्रधान मन्त्री से कहा कि राज्य सरकार निरन्तर जनजातियों को दबा रही है और उनके लिए असमियों के अधीन रहना असम्भव हो गया है। मैसूर की भूतपूर्व देसी रियासत की जनता ने कर्नाटक जनपदों से पृथक होने की माँग की। उत्तर प्रदेश में कुमाऊं और टिहरी-गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्रों ने अपने पृथक राज्य की माँग की। भारतीय क्रान्ति दल के नेता चरण सिंह और जनसंघीय नेताओं ने समय-समय पर उत्तर प्रदेश को तीन राज्यों में विभाजित करने की माँग की। उनका कहना था कि देश के इस सबसे बड़े राज्य की जनता के विकास का केवल यही एक उपाय है। उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए आम चुनावों की पूर्व-संध्या को आठ पहाड़ी जनपदों—उत्तर काशी, टिहरी-गढ़वाल, चमोली, पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, नैनीताल और देहरादून—ने सीमा निर्धारण समिति के अध्यक्ष को पत्र भेज कर और अधिक स्थानों की माँग की। यह दलील पेश की गई कि विधायिकाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने के कारण उत्तर प्रदेश की पहाड़ी जनता को सदैव राजनीतिक रुग्णता का शिकार होना पड़ता है। दक्षिण गुजरात की जनजातियों ने डांग व डूबला कबीलों के लिए पितृ भूमि के रूप में एक पृथक जन-जाति राज्य की माँग की। बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश के 15

जनजातीय जनपदों ने, जिनकी आबादी तीन करोड़ से अधिक थी, पृथक झारखंड राज्य बनाने की माँग की। मार्च 1973 में झारखंड पार्टी ने श्रीमती गांधी को एक ज्ञापन दिया जिसमें कहा गया था कि उपरोक्त चारों राज्यों की सरकारों के आचरण से झारखंड की जनता को विश्वास हो गया है कि वे "मान-मर्यादा सहित अच्छा एवं परिपूर्ण जीवन" कभी नहीं जी सकेंगे। अप्रैल 1975 में लगभग 1000 जनजातीय व्यक्तियों ने पृथक झारखंड राज्य बनाने की अपनी माँग के प्रति ध्यान आकर्षण के लिए नई दिल्ली में प्रदर्शन किया। अपनी माँग के समर्थन में उनमें से 200 व्यक्तियों ने स्वयं को गिरफ्तार भी कराया। छत्तीसगढ़ के पृथक राज्य की भी माँग की गई। वस्तुतः ये सब माँगें और छुटपुट प्रदर्शन क्षेत्रीयता की अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं थे।

पूर्ण राज्य के दर्जे की माँगें
(Demands for Full-Fledged Statehood)

भारत में क्षेत्रीयता की अभिव्यक्ति केन्द्रशासित प्रदेशों में पूर्ण राज्य की माँग के दर्जे के रूप में सामने आई। 4 सितम्बर, 1962 को लोक सभा ने और 7 सितम्बर, 1962 को राज्य सभा ने संविधान (चौदहवाँ संशोधन) विधेयक पारित किया जिसके द्वारा इनमें से कुछ प्रदेशों को स्थानीय विधायिकाएँ स्थापित करने के अधिकार प्रदान किए गए। इससे जो प्रदेश प्रभावित हुए उनके नाम ये हैं—हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, पाण्डिचेरी व गोआ, दमन व दीव। शेष संघीय प्रदेश—अण्डेमान व निकोबार द्वीप समूह, लक्कादीव, मिनीकौय, और अमीनदीव द्वीप समूह तथा दिल्ली को इस विधेयक के परिक्षेत्र से बाहर रखा गया। इन प्रदेशों ने पीड़ा अनुभव की और संघीय सरकार की भेदपूर्ण नीति के विरुद्ध अभियान शुरू किया।

28 मार्च, 1969 को गृह मन्त्रालय में राज्य मन्त्री विद्याचरण शुक्ल ने लोक सभा में वक्तव्य दिया कि कुछ राज्यों के अतिरिक्त, जिन्हें संघीय प्रदेश रखना नितान्त आवश्यक है, सरकार की नीति संघीय क्षेत्रों को "उचित परिस्थिति विद्यमान होने पर" पार्श्ववर्ती बड़े प्रदेशों के साथ मिला देने अथवा उन्हें "पूर्ण राज्यों" में परिवर्तित कर देने की है। उन्होंने कहा ये अतिरिक्तयाँ दिल्ली, अण्डेमान व निकोबार द्वीप समूह तथा लक्कादीव, मिनीकौय एवं अमीनदीव द्वीप समूह हैं। इस घोषणा से उन व्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला जो पहले से ही ऐसा दर्जा पाने के लिए शोर मचा रहे थे। हिमाचल प्रदेश, मणीपुर, त्रिपुरा और गोआ, दमन व दीव तथा उन क्षेत्रों के राजनीतिक दलों ने मत प्रकट किया कि जनसंख्या एवं भूमि के क्षेत्रफल—दोनों ही—दृष्टिकोणों से उन्हें पूर्ण राज्य का दर्जा पाने का पूरा अधिकार है। हिमाचल प्रदेश की माँग को संघीय सरकार ने 31 जुलाई, 1970 को स्वीकार कर लिया और यह भारतीय संघ का

उन्नीसवाँ राज्य बन गया।[12] जनवरी 1972 में मणीपुर व त्रिपुरा के संघीय क्षेत्रों को भी पूर्ण राज्यों का दर्जा प्रदान कर दिया गया और भारत के राज्यों की संख्या 21 तक जा पहुँची।

दिल्ली के संघीय प्रदेश के राजनीतिज्ञों ने भी दिल्ली की विशाल जनसंख्या एवं वित्तीय क्षमता के आधार पर इसे पृथक राज्य बनाने की माँग की, पर संघीय सरकार ने उनकी माँग को मुख्यत: इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि दिल्ली देश की राजधानी है और उसे अलग राज्य बनाना देश के हित में नहीं होगा। किन्तु जनता की विधायक प्रक्रिया में भाग लेने की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए संघीय सरकार ने 56 सदस्यों की एक महानगर परिषद (Metropolitan Council) स्थापित कर दी। इससे दिल्ली के महानगर पार्षद सन्तुष्ट नहीं हुए और वे समय-समय पर आग्रह करते रहे कि पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हुए बिना दिल्ली की जनता की समस्याओं का समाधान नहीं होगा।[13] पर संघीय सरकार ने कठोर रवैया अपना लिया।[14] और दिल्ली संघीय प्रदेश बनी रही। संघीय प्रदेशों की संख्या घट कर छ: रह गई।

अन्तर्राज्यीय विवाद
(InterState Disputes)

(क) महाराष्ट्र-मैसूर सीमा विवाद (Maharashtra-Mysore Boundary Dispute)

क्षेत्रीयता का एक अन्य उदाहारण राज्यों में परस्पर विवाद थे। ऐसा पहला विवाद मैसूर और महाराष्ट्र में हुआ। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, बम्बई पुनर्गठन विधेयक—जिसमें बम्बई को मराठी व गुजराती-भाषी राज्यों में विभाजित करने का प्रस्ताव था—संसद को प्रेषित करने से पूर्व 8 मार्च, 1960 को विधान सभा में प्रेषित किया गया। इससे बेलगाँव, निपानी और कारवार के नगरों सहित उन मराठी भाषी क्षेत्रों के सम्बन्ध में मतभेद गहरा हो गया[15], जो 1956 में मैसूर में सम्मिलित किये गये थे (जहाँ क्षेत्रीय भाषा कन्नड़ थी) और जहाँ कुछ ही समय पूर्व उसे बम्बई में मिलाने के विरुद्ध संयुक्त महाराष्ट्र समिति (बम्बई के मराठी क्षेत्र में विपक्षी दलों का संगठन) द्वारा गठित अवज्ञा आन्दोलन किया गया था। 11 मार्च को बम्बई विधान सभा ने एक संकल्प लिया जिसमें "केन्द्र सरकार से सीमा के सम्बन्ध में न्यायपूर्ण

[12]नया राज्य 25 जनवरी, 1971 को स्थापित किया गया।

[13]दिल्ली महानगर परिषद के औपचारिक संकल्प के अध्ययन के लिये देखो, **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 30 सितम्बर, 1970, पृष्ठ 3.

[14] वही, 1 नवम्बर, 1970, पृष्ठ 1 और 27 नवम्बर, 1970. पृष्ठ 1.

[15]उन क्षेत्रों में बीजापुर, उत्तरी कनारा तथा धारवाड़ के जनपद शामिल थे, जहाँ लगभग पौने सात लाख मराठी भाषी लोग रहते थे।

एवं सन्तोषजनक हल ढूंढने के लिए तुरन्त उपाय करने तथा उनका अनुसरण करने का ज़ोरदार आग्रह किया गया था।" दूसरी ओर मैसूर विधानपरिषद ने उसी दिन एक संकल्प द्वारा केन्द्र सरकार से इस बात की पुष्टि करने का आग्रह किया कि राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा जो राज्यों की सीमाएँ निश्चित की गईं थीं, उन्हें सम्बन्धित राज्यों द्वारा परस्पर स्वीकृत छोटे-मोटे पुनः समंजन के अतिरिक्त छेड़ा नहीं जायेगा।

मतभेद बढ़ता गया। 5 अप्रैल, 1966 को महाराष्ट्र सरकार ने माँग की कि विवादग्रस्त क्षेत्रों को चौथे आम चुनावों अर्थात् फरवरी 1967 से पूर्व महाराष्ट्र में मिला दिया जाये। महाराष्ट्र विधायिका के दोनों सदनों के एक सर्वसम्मत संकल्प द्वारा संघीय सरकार को चेतावनी दी गई कि "इस माँग की पूर्ति न की जाने से न केवल राज्य (महाराष्ट्र) के हितों की हानि होगी वरन् सारे देश की एकता व अखण्डता की हानि होगी।" संघीय सरकार ने 17 अक्तूबर, 1966 को भारत के एक भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति मेहरचन्द महाजन का एकल सदस्यीय आयोग नियुक्त किया जिसे केवल मैसूर व महाराष्ट्र के ही नहीं अपितु मैसूर व केरल के विवाद की भी जाँच करने का आदेश दिया गया। तत्कालीन मुख्य मन्त्री एस० निजलिंगप्पा ने घोषित किया कि उनकी सरकार सीमा का छोटा-मोटा समंजन करने को तो तैयार है, पर वह महाराष्ट्र द्वारा प्रस्तुत की गई मराठी-भाषी क्षेत्रों सम्बन्धी माँग के विषय में कोई वार्ता नहीं करेगी।

बाल ठाकरे के नेतृत्व में शिव सेना ने एक हिंसक आन्दोलन छेड़ दिया। वे महाराष्ट्र प्रवासी दक्षिण भारतीयों के प्रति ज़हरीला प्रचार एवं मारपीट करने लगे। उनका कहना था कि वे इस प्रकार 'मूल' महाराष्ट्रियों के आर्थिक हितों की रक्षा करना चाहते हैं। निजलिंगप्पा ने मुख्य मन्त्री वी० पी० नायक से इस "गुण्डागर्दी" पर रोक लगाने के लिए कहा। मद्रास के मुख्य मन्त्री अन्नादुराई ने शिव सेना की गतिविधियों को "अत्याचार एवं बर्बरतापूर्ण" बताया। मद्रास में एक "शिव सेना विरोधी आन्दोलन" चलाया गया और वहाँ बसे उत्तर भारतीयों को राज्य छोड़ कर चले जाने के लिए कहा गया।

7 फरवरी, 1969 को शिव सेना ने पुनः एक आन्दोलन चलाया। बाल ठाकरे को निवारक नज़रबन्दी अधिनियम के अधीन गिरफ़्तार कर लिया गया जिसके परिणामस्वरूप आन्दोलनकारी विद्रोह करने लगे।[16] लगभग 50 व्यक्ति पुलिस की गोलियों से मारे गए। उन्हीं दिनों महाजन द्वारा अपनी रिपोर्ट प्रेषित की गई।[17] सम्पूर्ण

[16]25 अप्रैल को बम्बई उच्च न्यायालय ने ठाकरे को छोड़ दिये जाने का आदेश दिया। इस आदेश का यह आधार बताया गया कि उसके प्रति बन्दीकरण आदेश में बताये गए कारण "अत्यधिक अस्पष्ट" थे।

[17]आयोग की सिफ़ारिशों के अध्ययन के लिए देखो, पी० के० शर्मा, *Political Aspects of States Reorganization in India* (मोहनी पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1969), पृष्ठ 167.

महाराष्ट्र समिति ने, जिसमें हिन्दु महासभा, साम्यवादी दल के दोनों बड़े, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी एवं किसान मज़दूर पार्टी सम्मिलित थे, इस रिपोर्ट को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया और पुनः कहा कि मैसूर के मराठी-भाषी क्षेत्रों को महाराष्ट्र में मिला दिया जाये तथा विवाद को "न्यायपूर्ण भाषायी सिद्धान्तों" के आधार पर निपटाने का आग्रह किया।

दूसरी ओर मैसूर के नए मुख्य मन्त्री वीरेन्द्र पाटिल सहित, मैसूर के नेताओं ने आग्रह किया कि महाजन आयोग की सिफ़ारिशों को पूर्णतः स्वीकार किया जाये और उनसे ज़रा भी "विचलित होने" की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार, दो पूर्णतः विरोधी दृष्टिकोणों से घिर कर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा कि इस मामले को निर्णय के लिए संसद पर छोड़ दिया जाये। किन्तु मैसूर के मुख्य मन्त्री ने, जो संगठन कांग्रेस के नेता थे, इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। संगठन कांग्रेस संसदीय दल, मैसूर के संसद सदस्यों (विभिन्न राजनीतिक दलीय) तथा मैसूर राज्य के विधायकों ने केन्द्र सरकार को चेतावनी दी कि यदि मैसूर पर कोई निर्णय "लादा गया", तो वे उसका "यथाशक्ति" विरोध करेंगे।

इस प्रकार, बढ़ते हुए दबाव के बीच गृह विभाग में राज्य मन्त्री के० सी० पन्त ने 18 दिसम्बर, 1970 को महाजन आयोग रिपोर्ट संसद की मेज़ पर रखी। साथ ही, उन्होंने घोषित किया कि सरकार इस विवाद को सुलझाने में असफल रही है, अतः वह संसद का निर्णय चाहती है। इससे बड़ा हंगामा हुआ और संसद के जीवन में प्रथम बार मैसूर के विपक्षी संसत्सदस्यों ने सदन के भीतर धरना दिया। मैसूर के मुख्य मन्त्री वीरेन्द्र पाटिल ने पन्त के कृत्य को "महाराष्ट्र व केरल के दबाव के प्रति समर्पण" बताया और कहा कि "न्याय केवल उन्हें मिलता है, जो सबसे अधिक शोर मचाते हैं।"[18] मैसूर के अनेक नगरों में उपद्रव हुए तथा रेलों, कार्यालयों एवं उद्योग संस्थानों पर हमले किये गए। मैसूर विधान सभा का एक विशेष अधिवेशन, जो केन्द्र सरकार द्वारा आयोग की रिपोर्ट को संसद के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने पर विचार करने के लिए बुलाया गया था, धरने एवं शोरगुल के साथ समाप्त हो गया। किन्तु उसके बाद फिर अधिवेशन बुलाया गया जिसमें एक प्रस्ताव भारी मत से पारित करा कर संघीय सरकार से अनुरोध किया गया कि वह संसद में एक विधेयक ला कर पारित कराने की व्यवस्था करे जिसके आधार पर महाजन आयोग की सिफ़ारिशें कार्यान्वित की जा सकें।

महाराष्ट्र के मुख्य मन्त्री वी० पी० नाइक ने संघीय सरकार के उपरोक्त कृत्य का

[18] **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 19 दिसम्बर, 1970, पृष्ठ 4.

स्वागत किया और जब मैसूर के व्यक्तियों ने मैसूर के महाराष्ट्र से लगते हुए क्षेत्रों में मराठी-भाषी जनता व उसकी सम्पत्ति पर आक्रमण किया तो महाराष्ट्रवासी शान्त रहे। सरकार ने ऐसे उपाय किये कि महाराष्ट्र में रहने वाले कन्नड़-भाषी व्यक्तियों के प्रति कोई बदले की कार्रवाई न होने पायें। यद्यपि मराठी समाचारपत्रों में उत्तेजनात्मक सुर्खियाँ छपीं, पर कुल मिला कर शिव सेना ने भी संयम से काम लिया। संसद तीन वर्ष तक महाजन आयोग की रिपोर्ट पर कोई निर्णय नहीं ले सकी और दोनों ही राज्यों, अर्थात महाराष्ट्र व कर्नाटक (मैसूर को 1973 में संसद द्वारा दिया गया नया नाम) की जनता व्यग्र हो उठी। कर्नाटक के एक नगर बेलगाम में कन्नड़-भाषी लोगों ने मराठी-भाषी व्यक्तियों पर आक्रमण व उनका तिरस्कार किया। इसके परिणामस्वरूप पर्याप्त हिंसा और हानि हुई। यह उपद्रव म्युनिसिपल प्रशासन मन्त्री बी० बसवलिंगप्पा द्वारा कन्नड़ भाषा, महात्मा गांधी, गीता और देवताओं के प्रति की कई एक टिप्पणी के कारण हुए। उन्होंने हरिजनों के प्रति 5,000 वर्ष से हो रहे अन्याय का भी उल्लेख किया। 12 दिसम्बर, 1973 को बेलगांव ज़िले के अठैनी ग्राम में एक कन्नड़-भाषी भीड़ ने मराठी-भाषी व्यक्तियों के घरों व दुकानों पर पथराव किया। इसमें पुलिस को गोली चलानी पड़ी और तीन व्यक्ति मारे गए। इसकी प्रतिक्रिया महाराष्ट्र के बम्बई तथा पूना, सतारा, सांगली और कोल्हापुर इत्यादि नगरों में हुई, जहाँ शिव सेना ने कन्नड़ियों पर आक्रमण किये और हिंसापूर्ण कृत्य किये। एक शिव सेना विधायक प्रमोद नवलकर ने 11 दिसम्बर को सदन के भीतर धमकी दी कि "हज़ारों शिव सैनिक, मराठी-भाषी जनता की रक्षा करने के लिए बेलगाम पर चढ़ाई कर देगें।" इस आवेग में हिंसा और क्षेत्रों में भी फैल गई और कन्नड़-विरोधी भीड़ों ने उडूपी होटलों व दुकानों पर आक्रमण किये। सम्पत्ति को बहुत क्षति पहुँचाई गई और महाराष्ट्र व कर्नाटक दोनों में ही पुलिस द्वारा स्थिति पर काबू पाने के लिए गोली चलाई जाने पर, अनेकों व्यक्ति मारे गए। दोनों राज्यों में सैकड़ों व्यक्ति बन्दी बनाए गए। 16 दिसम्बर को शिव सेना के मुखिया बाल ठाकरे ने कहा कि वे कर्नाटक में मराठी-भाषी व्यक्तियों पर किये गए अत्याचार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए सारे बृहत्तर बम्बई में समस्त नागरिक जीवन ठप्प करा देंगे।

कर्नाटक के मुख्य मन्त्री देवराज उर्स ने महाराष्ट्र के मुख्य मन्त्री को इस सीमा विवाद में हिंसा न होने देने की अपील की। दिसम्बर 1973 में दोनों मुख्य मन्त्रियों ने दिल्ली में प्रधान मन्त्री और गृह मन्त्री से वार्ता की। दोनों अपने-अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहे और वार्ता असफल रही। संघीय सरकार सोचती रही कि यथास्थिति बनी रहेगी। 25 जनवरी, 1974 को शिव सेना ने पुनः बम्बई नगर में उपद्रव किये और लगभग 250 कन्नड़ियों द्वारा संचालित उडूपी होटल लूट लिए, बैंकों व व्यापार संस्थानों के शीशे तोड़ डाले और बम्बई के घनी आबादी वाले क्षेत्रों में अनेक व्यक्तियों को चोटें पहुँचाई। मुख्य मन्त्री उर्स ने केन्द्र से इन घटनाओं की जाँच कराने का आग्रह किया। दोनों राज्यों के परस्पर सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए और दोनों राज्यों में 'बाहर के' व्यक्तियों के प्रति

हिंसा एवं उत्पीड़न होता रहा। यद्यपि महाराष्ट्र व केरल में विवाद के अन्य कारण थे, पर शिव सेना के स्वयंसेवकों ने अपनी गतिविधियाँ केरलवासियों के विरुद्ध भी चालू कर दीं। केरल के मुख्य मन्त्री अच्युत मेनन ने प्रधान मन्त्री को पत्र लिख कर बम्बई में रहने वाले मलयालियों (केरल के लोग) की रक्षा की व्यवस्था के लिए केन्द्र के हस्तक्षेप का अनुरोध किया।

(ख) चण्डीगढ़ पर पंजाब-हरियाणा विवाद (Punjab-Haryana Dispute over Chandigarh)

संघीय सरकार द्वारा पंजाब को पंजाब व हरियाणा में द्विभाजित करने के निर्णय के बावजूद वे अपनी सीमाओं तथा पारस्परिक सम्बन्धों के प्रश्न पर झगड़ते रहे। उन्हें उभयनिष्ठ कड़ियाँ अर्थात् दोनों राज्यों का एक गवर्नर, उच्च न्यायालय, तथा विश्व-विद्यालय पसन्द नहीं थे। 2 नवम्बर, 1966 को संत फतेह सिंह के सात अनुयायियों ने चण्डीगढ़ को पंजाब के अन्य पंजाबी-भाषी क्षेत्रों से पृथक रखे जाने के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए पंजाब विधान सभा से त्यागपत्र दे दिया। पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष जैल सिंह ने भी चण्डीगढ़ तथा पंजाब के अन्य पंजाबी-भाषी क्षेत्रों को पंजाब में मिलाने की माँग की। 5 दिसम्बर, 1966 को संत फतेह सिंह ने घोषणा की कि वे स्वर्ण मन्दिर में अनशन आरम्भ करेंगे और यदि उनकी माँगें 27 दिसम्बर तक स्वीकार न की गईं तो उसी दिन आत्मदाह कर लेंगे। उनके छः अनुयायियों ने भी ऐसी ही घोषणा की। हरियाणा के मुख्य मन्त्री भगवतदयाल शर्मा ने घोषणा की कि हरियाणा अपनी भूमि का एक इंच भाग भी किसी को नहीं लेने देगा।" उन्होंने 10 दिसम्बर को कहा कि यदि चण्डीगढ़ का प्रश्न पुनः उठाया जाता है तो उन हिन्दी-भाषी क्षेत्रों को भी बहस का विषय बनाना पड़ेगा जो पंजाब में शामिल कर दिये गए हैं।

सन्त के 'अ-प्रजातंत्रीय' कृत्य के विरोधस्वरूप आर्यसमाज के अध्यक्ष योगराज सूर्यदेव ने चण्डीगढ़ में अनिश्चित काल के लिए प्रति-अनशन शुरू किया। चण्डी-गढ़ सम्बन्धी विवाद चलता रहा और उसे सुलझाने के सभी उपाय व्यर्थ गए। दोनों ओर से धमकियों, हिंसा, हड़ताल एवं प्रदर्शनों द्वारा स्थिति गम्भीर होती गई। अन्ततः संघीय सरकार ने 29 जनवरी, को निर्णय दिया कि चण्डीगढ़ को पंजाब में मिलाया जायेगा, हरियाणा को अपना चण्डीगढ़ सम्बन्धी दावा त्यागने के बदले फ़ाज़िल्का और अबोहर नगरों सहित फ़ाज़िल्का तहसील के 114 ग्राम दिये जायेंगे, हरियाणा को अपनी निजी राजधानी पाँच वर्ष के भीतर बनानी होगी जिसके लिए उसे 20 करोड़ रुपये का अनुदान-ऋण दिया जायेगा, तथा अन्तरिम अवधि में चण्डीगढ़ एक संघीय प्रदेश रहेगा और पंजाब व हरियाणा दोनों ही उसे अपनी-अपनी राजधानी के रूप में प्रयोग करेंगे। इस अवधि में निम्नलिखित कार्य भी किये जाने थे—(1) हरियाणा, पंजाब और हिमाचल प्रदेश की सीमाओं के निपटारे के लिए एक आयोग की नियुक्ति, और

(2) उक्त निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए पंजाब पुर्नगठन अधिनियम में आवश्यक संशोधन करना। उस समय ऐसा अनुमान किया जाता था कि उस अधिनियम को 1971 के बजट अधिवेशन में संशोधित किया जायेगा।

इस निर्णय से पंजाब अथवा हरियाणा कोई भी संतुष्ट न हो सका। पंजाब के मुख्य मन्त्री गुरनाम सिंह ने उसे असंगत, अन्यायपूर्ण एवं स्वेच्छापूर्ण बताया, और हरियाणा की जनता ने उत्तेजित होकर हड़तालें, प्रदर्शन और विरोध प्रकट किये। किन्तु कुछ समय बाद स्थिति स्वत: शान्त हो गई।

चण्डीगढ़ का मामला अनिर्णीत ही पड़ा रहा। केन्द्र सरकार ने न तो पंजाब पुर्नगठन अधिनियम को संशोधित करने की दिशा में कोई कदम उठाया और न ही उसने सीमा आयोग नियुक्त किया। हरियाणा सरकार ने नयी राजधानी का निर्माण तो क्या, उसके लिए स्थान का चयन तक नहीं किया। उसने इसका यह कारण बताया कि हो सकता है वह अपनी नयी राजधानी के लिए स्थान उस क्षेत्र में नियत करे जो उसे सीमा आयोग के निर्णय द्वारा मिलने वाला है। उसे यह शिकायत थी कि चण्डीगढ़ तो, जो अनन्त: पंजाब को जाना है, केन्द्र से धन पाकर उन्नत एवं विकसित होता जा रहा है पर फ़ाज़िल्का-अबोहर क्षेत्र को, जो उसे प्राप्त होना था, उसके विकास का सामान्य भाग भी नहीं मिल रहा क्योंकि पंजाब सरकार उसके विकास पर कुछ भी व्यय नहीं कर रही है। हरियाणा सरकार ने कई बार यह माँग की कि उस क्षेत्र को केन्द्रीय शासन के अधीन रख दिया जाये। यद्यपि पंजाब के पास कोई विकल्प नहीं था पर वह फ़ाज़िल्का तहसील के अधिक रूई उपजाने वाले क्षेत्र को हरियाणा में मिलाये जाने की आशा से ही दुखी था। दोनों सरकारें निराश अवश्य थीं, पर कोई आन्दोलन, प्रदर्शन अथवा हड़तालें इत्यादि नहीं हुईं। इसका स्पष्ट कारण यह था कि दोनों राज्यों के मुख्य मन्त्री कांग्रसी थे और दोनों में से कोई भी केन्द्रीय नेताओं को नाराज़ नहीं करना चाहता था। 20 फरवरी, 1975 को संघीय गृह मन्त्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी ने राज्य सभा में घोषित किया कि चण्डीगढ़ "कुछ और समय तक" संघीय प्रदेश बना रहेगा। किन्तु इस अवधि की मात्रा के बारे में प्रश्न पूछने का साहस पंजाब या हरियाणा किसी को भी नहीं हुआ।

हरियाणा द्वारा "विशाल हरियाणा" की माँग (Haryana's Thrust for "Vishal Haryana")

पृथक राज्य बन जाने के बाद हरियाणा के कुछ व्यक्तियों ने, मुख्यत: राव वीरेन्द्र सिंह के नेतृत्व में, विशाल हरियाणा की चर्चा आरम्भ की, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दस ज़िलों तथा राजस्थान के अलवर एवं भरतपुर जिलों की माँग की। उन्होंने दलील दी कि अपर्याप्त साधनों, कठोर प्रशासन एवं पिछड़ेपन के कारण हरियाणा की

उन्नति में रुकावट पड़ेगी, और यदि विशाल हरियाणा[10] बनाया जा सका तो वह सारे भारत का अन्न भण्डार बन जायेगा। विशाल हरियाणा की स्थापना सम्बन्धी आन्दोलन के लिए एक पृथक राजनीतिक दल—विशाल हरियाणा पार्टी—स्थापित किया गया। किन्तु संघीय सरकार उसके पक्ष में नहीं थी, अतः राव वीरेन्द्र सिंह व उनके अनुचरों के प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए।

नदियों के जल उपयोग सम्बन्धी अन्तर्राज्यीय विवाद (Inter-State Disputes on Utilisation of River Waters)

उपरोक्त अन्तर्राज्यीय विवादों के अतिरिक्त राज्यों में परस्पर नदियों के जल के वितरण सम्बन्धी अनेक अन्य विवाद भी थे। इनमें से प्रमुख विवाद नर्बदा, कृष्णा और कावेरी नदियों के जल के वितरण के सम्बन्ध में थे। नर्बदा नदी के जल सम्बन्धी विवाद मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में था। उनके परस्पर मतभेद के कारण नौगांव बाँध इत्यादि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिंचाई एवं विद्युत निर्माण योजनाओं के समापन में देर हुई। महाराष्ट्र एवं राजस्थान के भाग तो दोनों राज्यों के मुख्य मन्त्रियों ने परस्पर वार्ता द्वारा तय कर लिए, पर गुजरात एवं मध्य प्रदेश के दावों को अक्तूबर 1972 में "यह देखने के लिए कि उनके दृष्टिकोणों को किस प्रकार समन्वित किया जा सकता है तथा उनके मतभेदों को कितना कम किया जा सकता है" प्रधान मन्त्री को प्रेषित किया गया। प्रधान मन्त्री कोई निर्णय न दे सकीं, और मामला एक न्यायाधिकरण को सौंप दिया गया। यह न्यायाधिकरण भी ऐसा कोई हल नहीं खोज सका जो दोनों पक्षों को स्वीकार होता। मार्च 1975 के आरम्भ में संघीय कृषि मन्त्री जगजीवन राम ने राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्रियों तथा गुजरात के गवर्नर के सलाहकार की एक बैठक बुलाई (गुजरात उस समय राष्ट्रपति के शासन में था) और उन्होंने नर्मदा के पानी पर आधारित आठ सिंचाई योजनाएँ निर्मित करने का एक समझौता किया। इस समझौते को "एक बड़ी प्रगति" माना गया।

एक अन्य अन्तर्राज्यीय विवाद कृष्णा नदी के जल को महाराष्ट्र, मैसूर (कर्नाटक) एवं आन्ध्र प्रदेश में वितरित करने के प्रश्न पर था। तीनों के भिन्न-भिन्न दावे थे। केन्द्र सरकार ने उनके विवाद को अप्रैल 1969 में न्याय निर्णय के लिए एक न्यायाधिकरण के हवाले किया जिसके अध्यक्ष न्यायमूर्ति आर० एस० बाचावत थे। न्यायाधिकरण ने अपनी कार्रवाई समाप्त करने के बाद अपनी "सर्वसम्मत" रिपोर्ट दिसम्बर 1973 के अन्तिम सप्ताह में केन्द्रीय सिंचाई एवं ऊर्जा मन्त्रालय को दी। मन्त्रालय ने तीनों राज्यों से कहा कि वे कृष्णा नदी के पानी के सर्वोत्तम उपयोग के लिए ग्राह्य

[10] देखो रणवीर सिंह चौधरी का लेख "Genesis of the Demand for Vishal Haryana" *Journal of the Society for the Study of State Governments*, Vol. I में, जनवरी-जून 1968, 1 और 2 नवम्बर, पृष्ठ 12-20.

एवं क्रियात्मक योजनाएँ बनाएँ। महाराष्ट्र सरकार ने कृष्णा न्यायाधिकरण की रिपोर्ट के प्रति सन्तोष प्रकट किया, पर कर्नाटक के दो भूतपूर्व मुख्य मन्त्रियों—निजलिङ्गप्पा और वीरेन्द्र पाटिल ने कहा कि कृष्णा ट्रिब्युनल ने उनके राज्य के हितों को अपार क्षति पहुँचाई है। आन्ध्र के मुख्य मन्त्री ने रिपोर्ट कर तुरन्त प्रतिक्रिया नहीं दिखाई पर वे भी खुश प्रतीत नहीं होते थे।

तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल का कावेरी के जल के वितरण के सम्बन्ध में विवाद था। इस प्रश्न पर जगजीवन राम की मध्यस्थता से इन राज्यों के मुख्य मन्त्री कावेरी के जल के उचित एवं किफ़ायती उपयोग एवं उसके तीनों राज्यों में वितरण की व्यवस्था करने के लिए एक कावेरी घाटी अधिकरण स्थापित करने पर सहमत हो गए। इस अधिकरण में तीनों राज्यों के तकनीकी कर्मचारी सम्मिलित किये गए और केन्द्र सरकार का एक प्रतिनिधि इसका अध्यक्ष बनाया गया। यह तय पाया गया कि इस अधिकरण का निर्णय इन तीनों राज्यों पर बाध्य होगा। इस प्रकार एक पुराना विवाद समाप्त हो गया और इसे "बड़ी उपलब्धि" माना गया जिससे अन्य अन्तर्राज्यीय जल विवादों को सुलझाने में भी सहायता मिलने की आशा थी।

पंजाब, जम्मू-कश्मीर और हिमाचल प्रदेश राज्यों में थीन बाँध योजना के निर्माण एवं स्वामित्व के प्रश्न पर मतभेद था। इस बाँध से बहुत बड़ी मात्रा में ऊर्जा प्राप्त होने तथा इन तीनों राज्यों को सिचाई सम्बन्धी महान सुविधाएँ प्राप्त होने की आशा थी। इसमें पंजाब की 700 एकड़, जम्मू-कश्मीर की 12,000 एकड़ और हिमाचल प्रदेश की 1000 एकड़ भूमि के जलमग्न होने का अनुमान था। बाँध का दाहिना किनारा तथा प्रस्तावित 20,000 एकड़ झील में से 12,000 एकड़ जम्मू-कश्मीर में पड़ते थे। इस बाँध में रावी के जल का उपयोग किया जाना था और इसकी लागत का अनुमान 100 करोड़ रुपये था। यह योजना कई वर्ष तक अनिर्णीत रही क्योंकि पंजाब उसका एकल स्वामी बनाये जाने की माँग करता था। केन्द्र सरकार ने पंजाब सरकार को स्पष्ट कर दिया कि जम्मू-कश्मीर की विशेष संवैधानिक स्थिति के कारण वहाँ की भूमि केवल केन्द्र के लिए अधिगृहीत की जा सकती है, किसी अन्य राज्य के लिए नहीं। इस प्रकार, पंजाब ने जनवरी 1973 में अपनी एकल स्वामित्व की माँग का परित्याग कर दिया और संघीय सरकार ने इसका लाभ पाने वाले राज्यों के प्रतिनिधियों का एक अन्तर्राज्यीय बोर्ड स्थापित करने का निश्चय किया।

अन्य नदियों के जल-वितरण सम्बन्धी अनेक अन्य विवाद भी थे, पर उनका विशेष महत्त्व नहीं था। इनमें से कुछ तो परस्पर वार्ता द्वारा निपटा लिए गए और कुछ शेष रह गए। यह उल्लेखनीय है कि इन सभी विवादों में मुख्य मंत्रियों ने स्वतन्त्र राष्ट्रों के प्रवक्ताओं के समान भाग लिया तथा अपने-अपने राज्यों के लिए अधिकतम लाभ प्राप्त करने के प्रयत्न किए। ऐसा प्रतीत होता था जैसे भारत एक बहुराष्ट्रीय देश हो।

क्षेत्रीयता की उत्पत्ति के कारण (Why Regionalism Grew?)

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्थानीयता एवं क्षेत्रीयता की भावना भारत के राजनीतिक जीवन का एक प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट अंग थी। अतः यह देखना उचित होगा कि यह कैसे विकसित हुई। इसके विकास के मुख्यतः तीन कारण थे। इनमें से अग्रणी व प्रथम भारतीय समाज के आर्थिक एवं सामाजिक विकास की समस्या थी। स्वातन्त्र्य संघर्ष के दिनों में देश की जनता को राजनीतिक नेताओं ने समझाया था कि उनके सभी कष्टों और आर्थिक कठिनाइयों का कारण ब्रिटिश शासन है और यदि वे स्वयं को इन कठिनाइयों से निकालना चाहते हैं तो उन्हें उस शासन को समाप्त करने के लिए संगठित हो जाना चाहिए। अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति होते ही जनता, जिनकी महत्वाकांक्षाएँ चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं, सोचने लगी कि गरीबी तथा उनके कष्टों की समाप्ति का समय आ पहुँचा है। देश के नए संविधान ने जनता को विश्वास दिलाया कि केन्द्र एवं राज्यों की सरकारें ग्राम-पंचायतें संगठित करने, काम दिलाने, वार्धक्य एवं बेकारी के दिनों में राहत, काम की न्यायपूर्ण एवं दयालु प्रकार की शर्तें, कामगारों के लिए जीने योग्य न्यूनतम वेतन, बच्चों को निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा और अधिक अच्छी सफाई व्यवस्था तथा अस्पतालों की व्यवस्था के उपाय करेंगी तथा उनके धर्म एवं पूजा के स्थानों की रक्षा करेंगी। भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर के, संविधान द्वारा यह भी गारन्टी की गई कि सार्वजनिक नीति एवं कार्यकारी निर्णय करते समय सरकारें धर्म से प्रभावित नहीं हुआ करेंगी। संघीय सरकार ने पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं, विकास के चरणों व क्षेत्रों की वरीयताएँ निश्चित कीं तथा औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये।

किन्तु वास्तविकता इन सब के प्रतिकूल सिद्ध हुई और जनता को निराशाओं, अधिक कठिनाइयों, अधिक शोषण तथा अधिक अन्यायपूर्ण वितरण के सिवा कुछ न मिला। देश के हित की बात सोचने की बजाय नेताओं के विचार संकुचित हो गए और वे केवल अपने-अपने ही राज्यों या क्षेत्रों की उन्नति की माँग करने लगे।

क्षेत्रीयता उत्पन्न करने का दूसरा तत्व भी इसी से निकट सम्बन्धित वरन् मिला-जुला था। वह तत्व यह था कि भारत के अधिक पिछड़े भागों में यह जागृति बढ़ती जा रही थी। शिक्षा और रोज़गार के अवसरों के सम्बन्ध में, संयंत्र और फ़ैक्टिरयाँ लगाने में, बाँधों और पुलों के निर्माण में, तथा केन्द्रीय धन एवं अनुदानों के आवण्टन में उनकी अवहेलना की जा रही है। यदि केन्द्र एवं अधिकतर राज्यों व संघीय प्रदेशों में यदि एक ही दल (कांग्रेस) का राज्य न होता तो बहुत संभव था कि भारत की संघीय प्रकार की शासन विधि भंग हो जाती।

देश में स्थानीयता एवं क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ावा देने वाला तीसरा तत्व, राजनीतिज्ञों की वैयक्तिक एवं स्वार्थी विचाराधारा थी। देश को अभी स्वतन्त्रता मिली भी नहीं थी कि उनमें सत्ता हथियाने के प्रति नग्न संघर्ष आरम्भ हो गया। कांग्रेस से आरम्भ होकर यह संक्रामक रोग अन्य राजनीतिक दलों को भी डसने लगा।

केन्द्रीय सत्ता और कहीं-कहीं राज्य की सत्ता कमजोर होने से कभी [illegible] एवं राज्य नेताओं द्वारा स्वयं अपने अधिकार एवं सत्ता बढ़ाने के लिए [illegible] पूर्ण समझा गया। वे जनता में क्षेत्रीयता का प्रचार करते हुए भी नहीं [illegible] अतिरिक्त अधिकाधिक राज्य बनाने से अधिकाधिक गवर्नर, अधिकाधिक मुख्य मन्त्री और अधिकाधिक विधायक बनाये गए। वास्तव में, भारत के राजनीतिज्ञों का [illegible] भी यही था। पेशेवर राजनीतिज्ञों द्वारा अनेक बार, उनके अपने [illegible] साम्प्रदायिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए भोली-भाली जनता के संकीर्ण एवं साम्प्रदायिक विचारों को उत्तेजित कर दिया जाता था और वे कभी साम्प्रदायिकता के नाम पर, कभी भाषा के नाम पर तथा अनेकों बार क्षेत्र एवं राज्य के नाम पर, जरा-सा बहाना मिलते ही स्वयं अपने साथियों के सिर तोड़ने, उनके घर द्वार जलाने पर उतारू हो जाते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि क्षेत्रीय उपद्रव और आन्दोलन केवल तभी होते हैं, जब राजनीतिक नेता और राजनीतिक दल जनता की भावनाओं को तदर्थ भड़का देते हैं।

अध्याय 19

राष्ट्रीय अखण्डता के प्रयत्न
(Efforts Towards National Integration)

जो अपकेन्द्रीय शक्तियाँ एवं स्थानीयता की प्रवृत्तियाँ देश भर में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता एवं भाषायी विवादों के रूप में देश भर में व्याप्त हो रही थीं, उनके कारण केन्द्रीय सरकारी हलकों में बड़ी चिन्ता फैली। यह अनुभव किया गया कि यदि इन शक्तियों को समय रहते न रोका गया तो भारत की प्रभुसत्ता एवं अखंडता को भीषण आघात पहुँचेगा। इस उद्देश्य को लेकर लोक सभा में 10 अगस्त, 1961 को दो विधेयक प्रस्तुत किये गए, जो साम्प्रदायिक प्रचार के शमन के दृष्टिकोण से तयार किये गए थे। इनमें से एक विधेयक 31 अगस्त को पारित किया गया। इसके द्वारा "भिन्न-भिन्न धर्मों, वंशगत या भाषायी गुटों, जातियों या सम्प्रदायों में शत्रुता या घृणा की प्रवृत्ति" को बढ़ावा देने को तीन वर्ष तक के कारावास द्वारा दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। दूसरे विधेयक द्वारा जो 4 सितम्बर को पारित किया गया, चुनाव प्रचार के लिए धार्मिक, वंशगत, साम्प्रदायिक, जातीय एवं भाषायी भावनाओं को जागृत करने के लिये भी उपरोक्त दण्ड निर्धारित कर दिया गया। इस प्रकार दंडित होने वाले व्यक्तियों को मतदान करने व संसद या राज्य विधायिकाओं के निर्वाचन में मत देने या उनकी सदस्यता के अनर्ह घोषित कर दिया गया।

ये दोनों विधेयक राज्य सभा द्वारा भी पारित कर दिये गए और उन्हें राष्ट्रपति ने भी यथासमय स्वीकृति प्रदान की।

राष्ट्रीय अखण्डता सम्मेलन (National Integration Conference), 1961

संसद में उपरोक्त दोनों विधेयक प्रस्तुत किये जाने के शीघ्र बाद केन्द्र सरकार ने 28 सितम्बर से 1 अक्तूबर तक "राष्ट्रीय अखण्डता की समस्या" पर विचार-विमर्श करने के लिए नई दिल्ली में एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में प्रधान मन्त्री, कैबिनेट स्तर के मन्त्रियों, मुख्य मन्त्रियों, राजनीतिक दलों के नेताओं तथा विख्यात शिक्षाविदों, लेखकों और वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इसका उद्घाटन दार्शनिक राजनीतिज्ञ उप-राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने किया। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि

"...यद्यपि अब जाति कोई सामाजिक बुराई नहीं रह गई है, पर अब यह राजनीतिक एवं प्रशासनिक बुराई हो गई है। हम चुनाव जीतने या अधिक व्यक्तियों को नौकरियाँ दिलाने के लिए जातीय निष्ठाओं का उपयोग करने लगे हैं।" भाषा के प्रश्न पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि राज्यों के भाषायी आधार पर पुर्नगठन ने, चाहे वह कितना भी आवश्यक एवं वांछनीय रहा हो, जनता को अपनी-अपनी भाषाओं के प्रति जागरूक बना दिया है। उन्होंने सुझाव दिया कि "हमें पुनः उस अवस्था में लौट जाना चाहिए जब इन बातों का कुछ महत्त्व न रह जाये।"

सम्मेलन द्वारा यह तथ्य उजागर किया गया कि राजनीतिज्ञ एवं राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए साम्प्रदायिकता क्षेत्रीयता एवं भाषावाद फैलाने में पर्याप्त भूमिका निभाते हैं। अतः सम्मेलन ने उनके लिए एक आचार संहिता तैयार की। आचार एवं आचरण के कुछ स्वीकृत मानक इस प्रकार थे :

(1) कोई भी राजनीतिक दल ऐसे कार्य नहीं करेगा जिनसे भिन्न-भिन्न जातियों, सम्प्रदायों अथवा भाषायी या धार्मिक गुटों में वर्तमान मतभेदों या पारस्परिक घृणा में वृद्धि होती हो अथवा तनाव पैदा होता हो।

(2) राजनीतिक दल, साम्प्रदायिक, जातीय, क्षेत्रीय अथवा भाषायी मामलों सम्बन्धी शिकायतों के निवारण के लिए ऐसे आन्दोलन नहीं करेंगे, जिनसे शान्ति भंग होने, वैमनस्य बढ़ने अथवा जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों में तनाव में वृद्धि होने की आशंका हो।

(3) राजनीतिक दलों को अन्य दलों द्वारा आयोजित सभाओं, जुलूसों इत्यादि में रुकावट डालने या उन्हें भंग करने से दूर रहना चाहिए।

(4) शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के उपाय करते समय, सरकार को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सार्वजनिक स्वतन्त्रताओं पर अत्यधिक प्रतिबन्ध न लगने पायें तथा ऐसे उपाय काम में न लाये जायें जिनसे राजनीतिक दलों के सामान्य परि-चालन में हस्तक्षेप होता हो।

(5) दलीय स्वार्थ सिद्धि के लिए राजनीतिक क्षमता का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

सम्मेलन द्वारा उजागर किया गया कि राष्ट्रीय अखण्डता की उन्नति करने में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ऐसे दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गए कि शिक्षा-नीति में अधिक एकरूपता एवं सुदृढ़ता लाने के लिए शिक्षा को समवर्ती विधान सूची का विषय बना दिया जाये। सम्मेलन ने एक राष्ट्रीय अखण्डता परिषद (National Integration Council)—NIC स्थापित की। इसके सदस्य प्रधान मन्त्री, केन्द्रीय गृह मन्त्री, राज्यों के मुख्य मन्त्री, राजनीतिक दलों के सात नेता, विश्वविद्यालय अनु-दान आयोग के अध्यक्ष, दो शिक्षाविद्, अनुसूचित जातियों व जनजातियों के आयुक्त तथा प्रधान मन्त्री द्वारा नामांकित सात अन्य व्यक्ति थे। एन० आई० सी० को

सामान्य जनता, विद्यार्थियों एवं प्रेस के लिए आचार संहिता निर्धारित करने का आदेश दिया गया। उसे अल्पसंख्यकों की शिकायतों पर विचार करने तथा उन्हें दूर करने तथा राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अनशन व्रतों के उपयोग पर भी विचार करने का आदेश दिया गया।

प्रधान मन्त्री नेहरू ने एन० आई० सी० को आदेश दिया कि वह राष्ट्रीय अखण्डता के प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करने और उससे निपटने के लिए आवश्यक सिफारिशें करने का निर्देश दिया।[1]

राष्ट्रीय अखण्डता सम्मेलन (National Integration Conference), 1968

सम्मेलन द्वारा जो आचार संहिता बनाई गई थी, उस पर, कांग्रेस सहित किसी भी राजनीतिक दल ने आचरण नहीं किया। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने भी राष्ट्रीय अखण्डता परिषद की सिफ़ारिशों को क्रियान्वित करने के कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किये। इसका परिणाम यह हुआ कि 1960 वाले दशक में तथा 1970 के दशक के आरम्भिक वर्षों में दूर-दूर तक गम्भीर साम्प्रदायिक दंगे, क्षेत्रीय अराजकता तथा भाषायी प्रश्न सम्बन्धी विप्लव होते रहे। ऐसा प्रतीत होता था कि देश विखण्डित होकर टुकड़े-टुकड़े होने वाला है।

संघीय सरकार ने नेशनल इन्टेग्रेशन काउन्सिल (एन० आई० सी०) का पुनः आह्वान किया। उसका आकार बढ़ाकर 39 के स्थान पर 55 सदस्यों का कर दिया गया और उसमें उद्योग, व्यापार एवं ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये गए। परिषद की बैठक 20 से 22 जून, 1968 तक श्रीनगर में हुई, जिसमें एक घोषणा द्वारा ऐसी सभी प्रवृत्तियों की भर्त्सना की गई जो "राष्ट्रीय एकता की जड़ काटती हैं।" इसने सभी राजनीतिक दलों, अन्य संगठनों एवं प्रेस से आग्रह किया कि साम्प्रदायिक दुर्भावना और क्षेत्रीय शत्रुताएँ निरुत्साहित की जायें, सहिष्णुता एवं सामंजस्य के सिद्धान्तों का सक्रिय प्रचार किया जाये तथा राष्ट्रीय एकता एवं भ्रातृत्व के हित में समाज की रचनात्मक शक्तियों को प्रचालित किया जाये।

अहमदाबाद में साम्प्रदायिक दंगे—एन० आई० सी० द्वारा जन-अभियान की पुकार (Communal Riots at Ahmedabad—NIC Calls for Mass Campaign)

श्रीनगर सम्मेलन के बाद के महीनों में, जैसाकि गृह मन्त्री चव्हाण ने दावा किया था, संघीय सरकार ने उसके सभी निर्णयों को कार्यान्वित कर दिया। किन्तु साम्प्र-

[1]सम्मेलन द्वारा भाषायी समस्या पर भी विचार-विमर्श किया गया और इस सम्बन्ध में अनेक निर्णय किए गए। उनके अध्ययन के लिए देखो कीसिंग की पुस्तक *Contemporary Archives, 1961-1962*, पृष्ठ 183-98.

दायिक दंगे और क्षेत्रीय विस्फोट होते रहे। अहमदाबाद में बहुत गम्भीर साम्प्रदायिक दंगे हुए जिससे सारे राष्ट्र का अन्तःकरण हिल उठा।[2] 16 अक्तूबर, 1969 को एन० आई० सी० की स्थायी समिति ने सभी राजनीतिक दलों से साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के लिए एक संयुक्त जन-अभियान तथा जन-शिक्षा का काम हाथ में लेने का आग्रह किया। इस समिति ने जनसंघ के इस आन्दोलन की भर्त्सना की कि मुसलमानों को "भारतीय" बनाया जाये, और कहा कि जनसंघ का यह कहना कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक समाधान पाकिस्तान के साथ जनता का आदान-प्रदान है, "धर्म निरपेक्षता एवं राष्ट्रीयता से बिल्कुल मेल नहीं खाता, और साथ ही वह देश की एकता व सुरक्षा के प्रति भी हानिप्रद होगा।"

भिवण्डी में साम्प्रदायिक दंगे—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध की माँग (Communal Riots at Bhiwandi—AICC Demands Ban on Communal Parties)

मई, 1970 में भिवण्डी में गम्भीर साम्प्रदायिक उपद्रव हुआ।[3] एन० आई० सी० ने साम्प्रदायिकता समाप्त करने के लिए एक वृहत अभियान आरम्भ करने की योजना बनाई। जून में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया : हमारे धर्म निरपेक्ष समाज में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमात-ए-इस्लामी जैसे युद्धप्रिय साम्प्रदायिक संगठनों का कोई स्थान नहीं है। सरकार को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि क्या ऐसे संगठनों को हमारे समाज में साम्प्रदायिक घृणा और हिंसा का ज़हर निरन्तर फैलाते रहने की छूट देना उचित है।"

इनसानी बिरादरी का संस्थापन (Formation of Insani Biradari)

अगस्त, 1970 में एक ग़ैर-सरकारी संगठन, इनसानी बिरादरी (human brotherhood), स्थापित हुआ। इसका विचार खान अब्दुल ग़फ्फ़ार ख़ाँ की भारत यात्रा से उत्पन्न हुआ। सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण इसके अध्यक्ष एवं शेख मुहम्मद अब्दुल्ला इसके उपाध्यक्ष बने। इनसानी बिरादरी का सदस्य कोई भी बन सकता था, चाहे वह किसी भी जात, आस्था, धर्म अथवा राजनीति से सम्बन्ध रखता हो। इसके तीन मूल मन्त्र थे—सहिष्णुता, समझना और सराहना। इसे साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीय विग्रह की शक्तियों को नष्ट करने के लिए रचा गया था।

भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में खान का जो संगठन 'लाल कुर्ती दल' के नाम से विख्यात था, उसी के अनुरूप अब खुदाई खिदमतगार थे, जो इनसानी बिरादरी के

[2] विस्तृत अध्ययन के लिए इसी पुस्तक में 'भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता' शीर्षक अध्याय देखो।

[3] विस्तृत अध्ययन उपरोक्त अध्याय में।

स्वयंसेवी, अहिंसक "दमन" सेना बने। उन्हें यथासमय साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने एवं पुनः स्थापन कार्य करने का दायित्व सौंपा गया।

विशेष बात यह हुई कि सैंतीस प्रतिनिधि इनसानी बिरादरी के सदस्य नहीं बने क्योंकि उन्हें यह डर था कि इसका गठन कुछ इस प्रकार किया गया है कि यह "साम्प्रदायिकता का दमन करने की बजाय उसे शरण एवं आदर" प्रदान करेगी। इनसानी बिरादरी ने कुछ दलों को साम्प्रदायिक घोषित करने से इन्कार कर दिया तथा उनके सदस्यों को अपने दल का सदस्य भी बनने दिया। उक्त प्रतिनिधियों का विचार था कि ऐसे तत्वों को इनसानी बिरादरी की सदस्या के रूप में असाम्प्रदायिकता का आवरण मिल जायेगा तथा वे अपने-अपने मंच से साम्प्रदायिकता की आग भड़काते रहेंगे।

सर्व-भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति का संस्थापन (Formation of All-India Sampradayikta Virodhi Committee)

निरन्तर साम्प्रदायिक दंगे होते देखकर, एक कांग्रेसी नेता श्रीमती सुभद्रा जोशी ने सर्व-भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति के नाम से एक ग़ैर-सरकारी संगठन स्थापित किया। इसका एक सम्मेलन 11 से 13 दिसम्बर 1970 तक हुआ जिसमें साम्प्रदायिकता की समस्याओं सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किये गए। एक प्रस्ताव में कहा गया कि साम्प्रदायिक दंगे "साम्प्रदायिकता की शक्तियों ने आयोजित एवं विरचित किये हैं और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर० एस० एस०) व जनसंघ उनका मूर्तरूप हैं। इन शक्तियों अर्थात आर० एस० एस० जनसंघ का उद्देश्य ही "हमारी शासन-व्यवस्था का धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्रीय स्वरूप नष्ट करके उसके स्थान पर साम्प्रदायिक एकतान्त्रिक शक्तियों को स्थापित करना है।"

अन्य प्रस्ताव संघीय सरकार के प्रति सिफ़ारिशों के रूप में थे। इनमें सरकार से जनसंघ जैसे साम्प्रदायिक दलों को एन० आई० सी० से निकाल बाहर करने, "युद्ध-प्रिय संगठनों" को कानून द्वारा अवैध घोषित करने, ऐसे कर्मचारियों और अधिकारियों की एक विशेष टुकड़ी तैयार करने—जो धर्म निरपेक्षता के कट्टर अनुयायी हों, तथा शिक्षा पद्धति को धर्मनिपेक्ष बनाने का आग्रह किया गया था। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा उस समिति ने मुसलमानों से "पृथक साम्प्रदायिक राजनीति के बदनाम और विनाशकारी पथ" को त्यागने की अपील की।

पुनः साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीय हिंसा—एन० आई० सी० द्वारा साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाने की पुनः माँग (Communal and Regional Violence Again—NIC Reiterates Demand to Ban Communal Parties)

1971 व 1972 में कुछ राज्यों, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक इत्यादि में

साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीय प्रकृति की ओर अधिक हिंसापूर्ण घटनाएँ हुईं, तथा साम्प्रदायिक मैत्री और राष्ट्रीय एकता के पृष्ठ पोषक पुनः सक्रिय हो उठे। जनवरी 1974 के दूसरे सप्ताह में नेशनल इंटेग्रेशन कौंसिल ने दिल्ली में एक सम्मेलन किया तथा एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, शिव सेना, जमात-ए-इस्लामी और आनन्द मार्ग पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग को पुनः दोहराया गया था। इस प्रस्ताव द्वारा सर्व भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति से इस बुराई पर सर्वांगी आक्रमण करने का आग्रह किया और साथ ही यह भी मांग की कि वह इस बात का विश्वास प्राप्त करे कि नेशनल इंटेग्रेशन कौंसिल द्वारा की गई साम्प्रदायिकता को रोकने सम्बन्धी, मुख्यतः साम्प्रदायिक दंगों सम्बन्धी सिफ़ारिशों को वास्तविक भावना सहित प्रवर्तित किया जाता है। एन० आई० सी० के साम्प्रदायिकता एवं शिक्षा सम्बन्धी आयोग ने सिफ़ारिश की कि यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा संस्थानों में जो शिक्षा सामग्री प्रयुक्त की जाये उसमें साम्प्रदायिकता एवं अ-लोकतन्त्रीयता की भावना की गंध तक न होने पाये। साम्प्रदायिकता एवं ट्रेड यूनियन आन्दोलन सम्बन्धी आयोग ने विचार व्यक्त किया कि साम्प्रदायिकता विरोधी समिति एवं अन्य धर्म निरपेक्ष शक्तियों द्वारा ऐसे प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है जिनसे साम्प्रदायिकता वादियों के श्रमिक वर्ग में फूट डालने व उन्हें पथ भ्रष्ट करने के प्रयत्नों का पर्दाफ़ाश करके उन्हें व्यर्थ सिद्ध किया जा सके। एन० आई० सी० के अल्पसंख्यकों की आर्थिक समस्याओं सम्बन्धी आयोग ने ज़ोर दिया कि अल्पसंख्यकों के प्रति नौकरियों, रोज़गार दिलाने तथा अन्य आर्थिक क्षेत्रों में बरता जाने वाला भेदभाव तुरन्त समाप्त होना चाहिए।

मूल्यांकन (An Appraisal)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दंगों एवं हिंसा की समस्या तथा उस समस्या के समाधान के प्रयत्न का अपना एक विशेष आकार अथवा ढाँचा था। यह ढाँचा इस प्रकार था कि जब भी कोई साम्प्रदायिक दंगा, भाषायी विप्लव अथवा पृथक होने या सम्बन्ध तोड़ने जैसा आन्दोलन होता, सरकारी एवं गैर-सरकारी निकाय सक्रिय हो जातीं, प्रस्ताव पास करतीं, अपीलें करतीं तथा संयम का परामर्श देने लगती थीं। सितम्बर 1965 में और फिर दिसम्बर 1971 में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो सारा देश एक व्यक्ति के समान शत्रु का सामना करने के लिए उठ कर खड़ा हो गया। लगभग सभी राजनीतिक दलों, सभी राज्य सरकारों, जयप्रकाश नारायण, बी० के० कृष्णामेनन और एम० सी० चागला जैसे विख्यात निर्दलीय नेताओं, व्यापार, उद्योग एवं कामगारों के प्रतिनिधियों, कलाकारों, लेखकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सभी ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार से आक्रमणकारी को "कुचल देने" के लिए पूर्ण समर्थन देने की शपथ ली। सबका यही कहना था कि राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय अखण्डता सर्वोच्च हैं तथा वे जनता के हृदय को सब से अधिक प्यारी हैं। ऐसे अवसरों

पर ऐसा प्रतीत होने लगता कि भारत में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता अथवा भाषायी समस्या का अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि बाहरी समस्या का अन्त होते ही ये बुराइयाँ फिर प्रकट हो कर पहले की तरह देश का राजनीतिक रूप बिगाड़ने लगती थीं। किसी भी स्तर पर इन समस्याओं के स्थायी समाधान के प्रयत्न नहीं किये गए।

पंजाब को दो भागों में विभाजित कर दिये जाने से यह प्रमाणित हो गया कि बड़े राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्यों को शीघ्रतापूर्वक विकसित होने के अधिक अवसर उपलब्ध रहते हैं। एक बार जयप्रकाश नारायण ने सुझाव दिया कि बिहार को उत्तर बिहार, दक्षिण बिहार तथा छोटा नागपुर के तीन राज्यों में विभाजित कर दिया जाये। उत्तर प्रदेश के नेताओं ने माँग की कि उनके राज्य के भी तीन भाग कर दिये जायें—एक में पूर्वीय जनपद हों, दूसरे में पश्चिमी जनपद तथा तीसरे में उत्तरी पहाड़ी इलाके सम्मिलित किये जायें। किन्तु केन्द्रीय नेताओं ने ये माँगे स्वीकार नहीं कीं और जनता भूख एवं दरिद्रता का जीवन बिताती रही। विघटनकारी शक्तियों को इसलिए भी नहीं रोका जा सका कि शासक दल (कांग्रेस) जनता की सामाजिक-आर्थिक समस्या का समाधान करने में असफल रहा। इस प्रकार, अपने दुर्भाग्य की निराशा में जनता हिंसा, अराजकता तथा खून-खराबे पर उतारू हो जाती थी, चाहे वह साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता अथवा भाषायी विवाद किसी रूप में हो। इन प्रमुख समस्याओं का समाधान किये बिना कोरी सान्त्वनाओं से बहुत दिन काम नहीं चल सकता और देश के शासक अन्धेरे में ही हाथ मारते रहेंगे।[1]

[1]राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के अधिक गहन अध्ययन के लिए देखो, एम० आर० सिन्हा की पुस्तक *Integration in India*, इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, 1973.

अध्याय 20

भारत में साम्यवादी दल
(Communist Party in India)

सन् 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति आरम्भ हुई और मार्च 1919 में रूसी क्रान्तिकारियों ने सारे संसार में साम्यवाद का प्रचार करने के लिए कम्यूनिस्ट (थर्ड) इन्टरनेशनल की स्थापना की। उनकी नजर भारत पर भी पड़ी। लेनिन के शब्दों में, यहाँ एक ओर तो बढ़ता हुआ औद्योगिक एवं रेलवे मजदूर वर्ग था और दूसरी ओर अंग्रेजों का नृशंसतापूर्ण आतंकवाद था, जिससे यहाँ साम्यवादी क्रान्ति लाना बहुत सुगम प्रतीत होता था।[1] कुछ ब्रिटिश साम्यवादियों और एम० एन० राय ने कुछ युवा भारतीयों को, जो मार्क्सवाद और रूसी क्रान्ति की बड़ी प्रशंसा करते थे, मार्क्सवादी सिद्धान्तों एवं विचारधारा को भारत में फैलाने के लिए एक संस्था स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। औपचारिक रूप से यह संगठन 26 दिसम्बर, 1925 को स्थापित किया गया और इसका नाम कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया (भारतीय साम्यवादी दल) रखा गया। शीघ्र ही कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया को, जिसे सुगमता के दृष्टिकोण से सी० पी० आई० भी कहते हैं, कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल की एक शाखा के रूप में मान्यता दे दी गई। 1928 में कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल ने सी० पी० आई० के जिम्मे निम्नलिखित कार्य किये : (1) देश के उद्धार के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष, (2) देश के विभिन्न स्थानों पर रहने वाले साम्यवादियों और जहाँ-तहाँ बिखरे हुए साम्यवादी गुटों को एक स्वतन्त्र, केन्द्रित पार्टी के रूप में इकट्ठा करना, (3) इण्डियन नेशनल कांग्रेस के राष्ट्रीय सुधारवाद का भण्डाफ़ोड़ करना तथा शान्तिपूर्ण विरोध के बारे में स्वराज्यवादियों, गांधीवादियों इत्यादि के सभी नारों का विरोध करना, (4) मज़दूर संघों में राष्ट्रीय सुधारवादी नेताओं का पर्दाफ़ाश करना तथा मज़दूर संघों को वास्तविक वर्ग संगठनों में परिवर्तित करने तथा कामगारों को प्रचार एवं

[1]विस्तृत विवरण के लिए वी० आई० लेनिन का "Thesis on Report on the Tactics of the Russian Communist Party to the Third Congress of the Comintern", *Selected Works*, Vol. x में उनका भाषण पढ़ो, जो उन्होंने कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल के तीसरे अधिवेशन में दिया था।

प्रशिक्षण के माध्यम से साम्यवाद के सिद्धान्त सिखाने का निर्णायक संघर्ष करना, (5) इसी प्रकार कृपक क्रान्ति लाने के लिए किसानों को संगठित करना, और (6) देश में हिंसक क्रान्ति उत्तेजित करना।[2]

कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल ने सी० पी० आई० का कार्यक्रम निर्धारित करने के अतिरिक्त अनेक भारतीय साम्यवादियों को जनता में असन्तोष एवं विद्रोह की भावना फैलाने, जनता को सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयार करने, कामगारों की हड़तालें संगठित करने और स्वातन्त्र्य-संघर्ष का निदेशन करने तथा सरकारी व ग़ैर-सरकारी संस्थानों में घुसकर उन्हें भीतर से खोखला करने की कला भी सिखाई। मास्को में प्रशिक्षित के कुछ साम्यवादियों के ये नाम हैं: एम०एन० राय, एस०ए० डांगे, जी०एम० अधिकारी, सी० पी० दत्त, डा० हफ़ीज़, नलिनी गुप्ता, अयोध्या प्रसाद और शौकत उस्मानी।

स्वातन्त्र्य संघर्ष में भारतीय साम्यवादियों की भूमिका (Role of Indian Communists in Freedom Struggle)

इस प्रकार, भारत में साम्यवाद का आरम्भ सोवियत संघ के नेतृत्व एवं मार्गदर्शन द्वारा हुआ। इसके कार्यक्रम और समय की आवश्यकताएँ **थर्ड इन्टरनेशनल** द्वारा निश्चित किये जाते थे। इसके नेता सोवियत नेताओं के अनुसेवी होते थे। इस प्रकार, यह स्वाभाविक ही था कि सी० पी० आई० या तो सोवियत संघ के हितों के लिए कार्य करती थी या थर्ड इन्टरनेशनल के लक्ष्यों व उद्देश्यों के हित में कार्य करती थी।[3] यह तथ्य भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में सी० पी० आई० द्वारा किये गए योगदान से भी स्पष्ट हो जाता है। साम्यवादी आन्दोलन के प्रमुख नेता रजनी पामदत्त और बेन ब्रैडले यह समझते थे कि उस समय इण्डियन नेशनल कांग्रेस ऐसी स्थिति में थी कि उसे राष्ट्रीय संघर्ष में भारत की जनता का संयुक्त मोर्चा नहीं कहा जा सकता था, उसके संविधान में जनता का प्रमुख वर्ग सम्मिलित नहीं था, इसके संघर्ष कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ विद्यमान थीं, उसके नेताओं को राष्ट्रीय संघर्ष के नेताओं के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती थी, और इस प्रकार ये नेता कोई जनआन्दोलन तैयार करने अथवा उसका नेतृत्व करने की बजाय उसमें रुकावट बने हुए थे।[4] इसी कारण, जब 1928 में कांग्रेसी नेता वल्लभ

[2]विस्तृत अध्ययन के लिए देखो एम० आर० मसानी, *The Communist Party of India*, (Derek Vencshoyle, London, 1954), पृष्ठ 37.

[3]डा० भवानी सेन ने अपनी पुस्तक *Communism in Indian Politics* (Columbia University Press, New York, 1973) में कहा है कि कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल द्वारा ही सी० पी० आई० रची गई थी। जी० एस० भार्गव ने इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए लिखा है कि अपनी स्थापना के अनेक वर्षों बाद तक सी० पी० आई० ब्रिटिश कम्यूनिस्ट पार्टी का उपकरण थी, और उसने मास्को के साथ सीधा सम्पर्क भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के बाद स्थापित किया।

[4]मसानी से उद्धृत, *op. cit.*, पृष्ठ 61.

भाई पटेल ने बारदोली सत्याग्रह आरम्भ किया, या जब उसी वर्ष कांग्रेस ने देश भर में साइमन आयोग का बहिष्कार आयोजित किया, या जब 1930 में महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह आरम्भ किया, या जब 1932 में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध अधिक जोरदार जन संघर्ष चालू किया गया, तो सी० पी० आई० ने इन सब आन्दोलनों का विरोध किया और उन्हें पूंजीवादी-छलना मात्र बताया। सी० पी० आई० ने बड़े-बड़े नेताओं गांधी, नेहरू और बोस तक को विदेशी नेताओं का पिट्ठू और पिछलग्गू बताया।

1933 में जर्मनी की सत्ता हिटलर के हाथों में आ गई और वह सोवियत संघ के प्रति शत्रुता का प्रचार करने लगा। स्तालिन के सम्मुख रूस को जर्मनी से बचाने की समस्या थी। कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल ने संसार भर के साम्यवादियों को हिटलर की एक युद्धप्रिय व्यक्ति के रूप में निन्दा करने का निर्देश दिया और यह भी निर्देश दिया कि वे अपने-अपने देशों के अन्य दलों के साथ संयुक्त मोर्चे स्थापित करें, ताकि उन मोर्चों का शत्रु के विरुद्ध उपयोग किया जा सके, चाहे वह हिटलर का फासिस्टवाद हो, चाहे पश्चिमी साम्राज्यवाद हो और चाहे अन्दरूनी पूंजीवाद हो। साम्यवादियों को असली प्रजातन्त्रवाद और संसदीय शासन पद्धति के समर्थक बनने का निर्देश दिया गया। भारतीय साम्यवादियों ने उपर्युक्त दोनों निर्देशों का सोवियत संघ के विश्वस्त अनुचरों के रूप में पालन किया। उन्हें कांग्रेस में घुसपैंठ करने का निश्चय किया, और पाम दत्त एवं बेन ब्रैडले के आदेशानुसार इस उद्देश्य के लिए कांग्रेस समाजवादी दल (कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी सी० एस० पी०) से काम निकाला। सी० एस० पी० में जयप्रकाश नारायण के प्रभाव से, जो अपने विद्यार्थी जीवन में अमरीका-प्रवास के दौरान कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल के प्रबुद्ध समर्थक रह चुके थे, और कांग्रेस में नेहरू व बोस के प्रभाव से, क्योंकि वे भी सोवियत संघ की उपलब्धियों से प्रभावित थे, 1936 में कांग्रेस के द्वार भारतीय साम्यवादियों के लिये खोल दिए गए।[5] सी० एस० पी० ने भी एक प्रस्ताव पास करके अपनी सदस्यता के द्वार साम्यवादियों के लिए खोल दिये।[6]

अनेक प्रख्यात सी० पी० आई० सदस्य कांग्रेस में शामिल हो गए और उन्हें उचित पदवियाँ प्रदान की गईं। उदाहरणतया, संज्जाद हैदर को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का सदस्य बनाया गया, नम्बूदरीपाद को अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल का सह-सचिव बनाया गया, तथा पी० सुन्दरैया, ए० के० गोपालन, पी० रामामूर्ति, डा० एम० अशरफ़, दिनकर मेहता और सोली बाटलीवाला को सी० एस० पी० में अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया गया। कांग्रेस में रह कर कम्यूनिस्ट

[5]वही, पृष्ठ 67।

[6]पहले सी० पी० आई० ने सी० एस० पी० के नाम 'समाजवादी फ़ासिस्ट' और "पूंजीवादियों का बायां हाथ" इत्यादि रखे हुए थे। देखो बी० बी० सिन्हा की पुस्तक, *The Red Rebel in India* (ऐसोसियेटिड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968), पृष्ठ 25।

नेता कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्तावों को साम्यवादी रूप देने का प्रयत्न करते थे। सी० एस० पी० के भीतर से उन्होंने मज़दूरों, किसानों और छात्रों को अपने प्रभाव में लाने के लिए इस सामाजिक संगठन का नियन्त्रण अपने हाथ में लेने के प्रयत्न किये। सी० एस० पी० में इनका प्रभाव इतना अधिक हो गया कि 1938 के शुरू में जब सी० एस० पी० अध्यक्ष एम० आर० मसानी ने संस्था के वार्षिक (लाहौर) अधिवेशन में सोवियत संघ की तानाशाही और उसके द्वारा यूरोप में अपनाई गयी दोगली नीति के लिए उसकी आलोचना की, तथा अन्य सी० एस० पी० नेताओं अशोक मेहता, राममनोहर लोहिया और अच्युत पटवर्धन ने सी०एस०पी० के भीतर कम्यूनिस्ट घुसपेंठ का ज़िक्र किया तो उन सब को सी० एस० पी० की राष्ट्रीय कार्यसमिति से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया गया। किन्तु 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर जब सी० एस० पी० के नेताओं ने युद्ध के प्रति भारतीय साम्यवादी दल का रवैया देखा तो उन्हें विश्वास हो गया कि सी० पी० आई० को सोवियत संघ से अधिक लगाव है तथा भारत की घटनाओं एवं परिस्थिति की उन्हें कम चिन्ता है। इसके फलस्वरूप सी० एस० पी० की राष्ट्रीय कार्यसमिति ने सभी साम्यवादी सदस्यों को दल से निकाल बाहर किया और सी० पी० आई० के साथ 'संयुक्त मोर्चा' भंग कर दिया।

1 सितम्बर, 1939 को जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया और हिटलर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ब्रिटेन और फ्रांस ने उसके देश को लड़ने पर मजबूर किया है। जर्मनी ने 23 अगस्त 1939 को सोवियत संघ के साथ आक्रमण न करने एवं तटस्थता की सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, अतः सी० पी० आई० ने घोषित किया कि हिटलर शान्तिप्रिय है और ब्रिटेन एवं फ्रांस युद्धप्रिय देश हैं। सी० पी० आई० का यह कहना था कि युद्ध का कारण उपर्युक्त देशों की साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ हैं। जब सोवियत संघ ने पोलैण्ड तथा लट्विया, फिनलैण्ड, लिथुवेनिया, ऐस्टोनिया, बेसर्बिया और बुकोविना के बड़े-बड़े क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया तो उसमें सी० पी० आई० की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा प्रतीत नहीं हुई और उसने सोवियत संघ का भरपूर समर्थन किया।

22 जून, 1941 को हिटलर की सेनाओं ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया और सोवियत संघ ने अमरीका व ग्रेट ब्रिटेन से मित्रता कर ली। तब संसार भर के साम्यवादी दलों को अमरीका व ब्रिटेन के प्रति अपने रवैये में परिवर्तन करने का आदेश दिया गया। सी० पी० आई० ने घोषित किया कि "जनताओं का युद्ध" आरम्भ हो गया है। साम्राज्यवादी सरकारों का तख्ता उलटने की नीति कुछ समय के लिए त्याग दी गई। सी० पी० आई० ने ग्रेट ब्रिटेन की युद्ध शक्ति बढ़ाने के लिए सभी सम्भव सहायता प्रदान करने का निश्चय किया और कहा कि अब ब्रिटेन साम्राज्यवादी नहीं है। इसके आभारस्वरूप भारत सरकार ने 26 जुलाई, 1942 को सी० पी० आई० को वैध घोषित किया।

यद्यपि कांग्रेस ब्रिटिश शासन के प्रति संघर्ष कर रही थी और उसे भारत-भूमि से

निकाल बाहर करने के प्रयत्न कर रही थी, सी० पी० आई० ने केवल इसलिए अंग्रेज़ों से सहयोग करने का प्रचार करना शुरू किया कि सोवियत संघ की अंग्रेज़ों से मित्रता हो गई थी। उसने कांग्रेस, सी० एस० पी० और फ़ारवर्ड ब्लॉक नेताओं को "फिफ्थ कालम्निस्ट" (पचं मांगी) कह कर पुकारा। युद्ध समाप्त होने के दो महीने बाद, 24 अक्तूबर, 1945 को, जवाहरलाल नेहरू ने एक आम जलसे में भारतीय साम्यवादियों को यह कहकर फ़टकार बताई कि "साम्यवाद की सबसे अधिक हानि सी० पी० आई० ने की है।" उन्होंने यह भी कहा कि "साम्यवादी दल ने जो भूमिका निभाई है, उसके कारण सभी राष्ट्रवादी उसके शत प्रतिशत विरोधी हो गए हैं तथा जब हज़ारों भारतीय अपने देश की ख़ातिर सर-धड़ की बाज़ी लगा रहे थे, साम्यवादी दल उनका विरोध कर रहा था जो कभी नहीं भुलाया जा सकता।"

दिसम्बर 1945 में कांग्रेस कार्यसमिति ने सभी साम्यवादियों को दल से निष्कासित कर दिया और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को उन्हें किसी भी कांग्रेस संगठन में कोई पद न देने का निर्देश दिया। यह कार्रवाई नेहरू, पटेल और गोविन्द वल्लभ पन्त द्वारा प्रस्तुत एक विशेष रिपोर्ट पर विचार करने के बाद की गई। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि पर्याप्त समय से साम्यवादी दल की प्रमुख नीति कांग्रेस की नीतियों व कार्यक्रमों का विरोध करने व उनमें बाधा डालने की रही है।

जून 1947 में जब लार्ड माउन्टबैटन ने भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंपने की योजना घोषित की तो सी० पी० आई० ने प्रत्यक्षतः मास्को का अनुसरण करते हुए उस योजना को "........ऐसी दोहरी साम्राज्यवादी नीति की चरम सीमा" बताया "जो जनआन्दोलन को क्षत-विक्षत करने के लिए विघटनकारी एवं प्रतिक्रियात्मक शक्तियों को सक्रिय करती है, वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति में बाधा डालती है, प्रजातन्त्रीय भावना के विकास को कुण्ठित करती है तथा भारत की एकता व अखण्डता को नष्ट करती है।" कांग्रेस द्वारा माउन्टबैटन योजना स्वीकार करने के बाद जब देश स्वतन्त्र हुआ और उसने 26 जनवरी, 1950 को अपना नया संविधान लागू किया तो सी० पी० आई० ने उसे "गुलामी का उद्देश्य पत्र" संज्ञा दी।

स्वतन्त्रता के बाद भारत की राजनीति में भारतीय साम्यवादियों की भूमिका
(Role of the Indian Communists in Indian Politics after Independence)

साम्यवादी दल द्वारा सशस्त्र संघर्ष (CPI Launches Armed Struggle)

वर्ल्ड फैडरेशन ऑफ़ डैमोक्रेटिक यूथ (लोकतन्त्रीय विश्व युवक संघ) और इन्टरनेशनल यूनियन ऑफ़ स्टूडैन्ट्स (अन्तर्राष्ट्रीय छात्र संघ) ने 24 से 27 फरवरी, 1948 तक कलकत्ता में एक दक्षिण-पूर्व एशिया युवक सम्मेलन आयोजित किया जिसका उद्देश्य उस समय स्वतन्त्र होने वाले एशियाई देशों के लिए सामयिक नीति निर्धारित करना

था। उसमें सी० पी० आई० के अनेक नीति-निर्धारक एवं रूस के कुछ प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन में यह तय हो पाया कि दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में साम्यवादी दलों को 'बुर्जुआ' लोकतान्त्रिक नेतृत्त्व का तख्ता उलटने के लिए हिंसापूर्ण विप्लव और गृह युद्ध आयोजित करने चाहिए। अगले दिन सी० पी० आई० कांग्रेस की एक बैठक कलकत्ता में हुई जिसमें एक 'राजनीतिक थीसिस' स्वीकार की गयी। इसमें कहा गया था कि यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली गई है, "स्वातन्त्र्य संघर्ष के साथ धोखा किया गया है और देश के नेताओं ने भूखों मर रही जनता को अंधेरे में रख कर एक कपटपूर्ण सौदा किया है तथा प्रजातान्त्रिक क्रान्ति के प्रत्येक नारे से विश्वासघात किया है।" उपर्युक्त 'थीसिस' में यह भी कहा गया कि "नेहरू की अध्यक्षता में केन्द्र सरकार की स्थापना से प्रजातान्त्रिक क्रान्ति की एक भी समस्या का समाधान नहीं हुआ है। उसकी स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि भारतीय जनता को स्वतन्त्रता या स्वाधीनता प्राप्त हो गई है, और न ही इससे यह निश्चित होता है कि भारतीय जनता प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता की ओर प्रगति करेगी। पण्डित नेहरू और सरदार पटेल सहित सभी सरकारी नेता भारत के पूँजीवादी हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। बुर्जुआ वर्ग ने......साम्राज्यवाद से रियायत लेने के लिए जन संघर्ष का परित्याग कर दिया है। आगे से प्रजातन्त्रीय क्रान्ति को सीधे बुर्जुआ सरकार, उसकी नीतियों तथा कांग्रेस के बुर्जुआ नेताओं के प्रतिपक्ष में कार्य करना होगा।"

सी० पी आई० के 'राजनीतिक थीसिस' में यह भी कहा गया कि कांग्रेस सरकार, देश को आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवाद के हाथों बेच रही है, और सरकार बड़े व्यापारियों के हित में चलाई जा रही है।[7] सी० पी० आई० ने 'वास्तविक स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र' प्राप्त करने के लिए सभी संघर्षप्रिय और क्रान्तिकारी तत्वों का एक "प्रजातन्त्रीय मोर्चा" स्थापित करने का निश्चय किया। सी० पी० आई० के महासचिव बी० टी० रानादिव ने रूस की 'अक्तूबर 1917' की क्रान्ति के समान भारत में 'निर्णायक क्रान्ति' लाने का दायित्व अपने कंधों पर लिया।

भारत की नयी सरकार के कर्त्ता-धर्त्ता इन घटनाओं का निकट अध्ययन कर रहे थे। कलकत्ता सम्मेलन के बाद एक मास के भीतर सरकारी तन्त्र ने कार्रवाई की। 26 मार्च, 1948 को पश्चिम बंगाल सरकार ने सी० पी० आई० को सारे प्रान्त में अवैध घोषित कर दिया, उसके कलकत्ता स्थित कार्यालयों पर छापे मारे, और अनेक व्यक्ति गिरफ्तार किये गए। इसी प्रकार, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, पूना, अहमदाबाद, एवं अन्य नगरों में भी तलाशियाँ ली गईं। अप्रैल के प्रथम सप्ताह में एस० ए० डांगे (बम्बई विधान सभा के सदस्य तथा ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष) एवं बम्बई प्रान्त की ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष एस० एस० मिराजकर सहित

[7]'राजनीतिक थीसिस' के विस्तृत विवरण के लिए देखो उपर्युक्त पुस्तक में पृष्ठ 48-50.

कई सौ साम्यवादियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। मई में साम्यवादी मालाबार में सक्रिय हो उठे, और उनके द्वारा की गई अनेक डकैतियों, मारपीट और घरों में ज़बरदस्ती घुसने के फलस्वरूप अनेक गिरफ़्तारियाँ की गईं। तेलिचेरी के निकट साम्यवादियों के साथ गोलीबारी में पुलिस ने बहुत-सी बन्दूकें, बन्दूक की गोलियाँ और छुरे पकड़े, जो साम्यवादियों ने एक जंगली गुफा में छिपाये हुए थे।

26 फरवरी, 1949 को सशस्त्र साम्यवादियों की टोलियों ने कलकत्ते के दमदम हवाई अड्डे, उसके निकटवर्ती जैसप एण्ड कम्पनी के इंजिनियरिंग कारखाने और एक सरकारी गोला-बारुद फ़ैक्टरी पर एक साथ हमले किये। हमलावरों ने अनेक व्यक्तियों को हताहत किया, जिनमें एक पुलिस थानेदार तथा एक ब्रिटिश ओवरसीज़ एयर कार्पोरेशन का अधिकारी भी शामिल थे।

9 मार्च को साम्यवादी-प्रधान मजदूर संगठन ने रेलवे और डाकतार कर्मचारियों की हड़ताल द्वारा यातायात ठप्प कराने का प्रयत्न किया। किन्तु ऑल इण्डिया रेलवे मैन्स फ़ैडरेशन और इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने कहा कि प्रस्तावित हड़ताल राष्ट्र के आर्थिक पुनरुत्थान में रुकावट डालने के उद्देश्य से कराई जा रही है और अपने सदस्यों को हड़ताल में भाग न लेने का आदेश दिया।

इस प्रकार, हड़ताल असफल हो गई और बम्बई व कलकत्ता की कुछ छोटी-मोटी घटनाओं के अतिरिक्त स्थिति सामान्य रही।

जून और जुलाई के पूर्वार्ध में कलकत्ता और उसके आस-पास के गाँवों में गम्भीर अव्यवस्था फैली और हड़तालें व उपद्रव हुए तथा पुलिस, ज़मींदारों एवं कांग्रेसियों को मारा पीटा गया।

15 दिसम्बर, 1949 को साम्यवादियों ने कलकत्ता में एक ज़ोरदार हमला किया जिसमें पुलिस पर हमले, ट्राम व बसें जलाना, और बम फेंकना भी सम्मिलित था। अनेक पुलिस कर्मचारी और अन्य व्यक्ति हताहत हुए।

पश्चिम बंगाल के अतिरिक्त मद्रास, ट्रावणकोर, कोचीन और हैदराबाद के अनेक भागों में भी साम्यवादी गतिविधियाँ हुईं। हैदराबाद राज्य के तेलगांना प्रदेश में सरकार का अधिकार चलना बन्द हो गया। लगभग 2000 गाँवों पर साम्यवादियों ने अधिकार कर लिया, जहाँ उन्होंने भूमि सुधार किए, कचहरी को निर्णय दिए और "शत्रु" का नाश किया। पाँच वर्ष तक तेलंगाना एक छोटा-सा राज्य बना रहा।[8]

साम्यवादी दल के विरुद्ध कार्रवाई (Action against the CPI)

साम्यवादी दल ने जो जुल्म किये, उनसे नई दिल्ली के सरकारी हलकों में तथा

[8]साम्यवादियों द्वारा किए गए जुल्मों के अध्ययन के लिए ए० निविट की पुस्तक *India Going Red* देखिए।

तत्सम्बन्धी राज्यों की राजधानियों में बड़ी चिन्ता फैली।

29 सितम्बर, 1949 को भारत सरकार ने "भारत में साम्यवादियों के हिंसापूर्ण कृत्य" शीर्षक से एक श्वेतपत्र जारी किया जिसमें सी० पी० आई० के प्रति आरोपों की सूची दी गई थी और मुख्यतः पश्चिम बंगाल और हैदराबाद में उसकी गतिविधियों का विस्तृत वर्णन दिया गया था। श्वेतपत्र में कहा गया था कि "भारत के साम्यवादियों ने बड़े पैमाने पर हिंसा का प्रचार एवं आयोजन किया है तथा नीति एवं भद्रता की पूर्ण अवहेलना करते हुए और सामाजिक जीवन एवं विचारधारा की तनिक भी परवाह न करते हुए अब भी हिंसा कर रहे हैं। सरकार अपने सभी साधनों द्वारा अराजकता का दमन करने के प्रति दृढ़ संकल्प है।"

इस श्वेतपत्र के आवेश में मद्रास सरकार ने स्थानीय साम्यवादी दलों तथा साम्यवादियों द्वारा चलाये जा रहे संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध से तमिलनाडु साम्यवादी दल, आन्ध्र साम्यवादी दल, केरल साम्यवादी दल और कर्नाटक साम्यवादी दल प्रभावित हुए। इनके अतिरिक्त 19 मज़दूर संगठनों एवं उनकी शाखाओं को भी, जिन्हें सी० पी० आई० के निदेशन व नियन्त्रण में समझा जाता था और जिनके लक्ष्य व उद्देश्य भी उसी के समान थे, अवैध घोषित कर दिया गया।

2 जनवरी, 1950 को ट्रावनकोर कोचीन की सरकार ने भी वही कार्रवाई की। इससे केरल, ट्रावनकोर-कोचीन एवं तमिलनाडु के साम्यवादी दलों के अतिरिक्त 32 साम्यवादी नेतृत्व के संगठन भी प्रभावित हुए जिनमें अनेक छात्र-संघ, मज़दूर-संघ और गोदी कर्मचारी-संघ शामिल थे।

5 जनवरी को हैदराबाद के मुख्य मन्त्री एम० के० वैल्लोडी ने कहा कि 1949 में साम्यवादियों ने उस राज्य में 247 हत्याएँ और 116 डकैतियाँ कीं। उन्होंने कहा कि कुछ तेलंगानी ज़िलों में "क़ानून और व्यवस्था की नित्य प्रति अवहेलना होती रही है" और इसे अधिकतर वही लोग करते हैं जो साम्यवादी कहलाते हैं।"

25 फरवरी को पश्चिम बंगाल विधान सभा ने एक "सुरक्षा विधेयक" स्वीकार किया जिसका उद्देश्य राज्य में अवैध रूप से हथियार प्राप्त करने, रखने व इस्तेमाल करने पर रोक लगाना तथा राज्य में राजविरोधी आन्दोलन का दमन करना था।

चार साम्यवादी नेताओं का रूस जाना—नई कार्यविधि (Four CPI Leaders go to Soviet Union—New Tactical Line)

सी० पी० आई० द्वारा छोड़े गए सशस्त्र संघर्ष और गुरिल्ला युद्ध द्वारा कांग्रेस की "अप्रजातान्त्रिक" "जनता विरोधी" और "बुर्जुआ" सरकार को अपदस्थ नहीं किया जा सका तथा "मज़दूर वर्ग की तानाशाही" स्थापित नहीं की जा सकी। दिसम्बर 1950 में सी० पी० आई० की केन्द्रीय समिति ने भावी नीति और कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए एक बैठक की और यह तय हो पाया कि दल के चार नेता मशविरा करने के लिए "पितृभूमि" जायें। अतः एस०ए० डांगे, अजय घोष, राजेश्वर राव और बासव-

पुण्या नामक साम्यवादी नेता मास्को गए। मास्को में साम्यवादी हथकण्डों के विशेषज्ञों से परामर्श करने के बाद सी० पी० आई० नेताओं ने यह निर्णय किया कि जब तक साम्यवाद देश में बहुत अधिक लोकप्रिय न हो जाये, हिंसक क्रान्ति स्थगित कर दी जाये तथा शान्तिपूर्ण प्रयत्नों पर जोर दिया जाए। किन्तु यह समय की आवश्यकता के अनुसार किया गया एक अस्थायी उपाय मात्र था। दीर्घकालीन उपाय के रूप में ये सी० पी० आई० नेता अपने साथ एक दस्तावेज़ लाये जिसका शीर्षक शान्तिपूर्ण के स्थान पर क्रान्तिकारी मार्ग (Not Peaceful but Revolutionary Path) था। इसमें कहा गया था कि सी० पी० आई० का उद्देश्य शान्तिपूर्ण संसदीय प्रणाली से प्राप्त नहीं हो सकेगा, कि वर्तमान राज को जोकि साम्राज्यवादी-सामन्त शाही व्यवस्था को बनाए रख रहा है, हटा कर उसके स्थान पर जनता का लोकतान्त्रिक राज स्थापित करना केवल एक सशस्त्र जनक्रान्ति द्वारा सम्भव हो सकता है, और लोकप्रिय प्रजातन्त्रीय क्रान्ति के लिए दो आधारभूत तत्व—किसानों द्वारा समर्थनकारी युद्ध और शहरों में विद्रोह—इकट्ठे होना आवश्यक है।

साम्यवादी दल द्वारा नीति सम्बन्धी वक्तव्य (CPI's Statement of Policy)

कार्यविधि निश्चित हो जाने के बाद सी० पी० आई० ने 11 से 16 अक्तूबर, 1951 तक कलकत्ता में एक कान्फ्रेन्स की और उसमें एक भविष्य नीति सम्बन्धी वक्तव्य स्वीकार किया गया। इस वक्तव्य में मोटे तौर से सी० पी० आई० के लक्ष्य, उद्देश्य, सामयिक नीति और कार्यप्रणाली निर्धारित की गई, जो इस प्रकार थी :

(1) 1947 में जो स्वाधीनता प्राप्त हुई, वह भारतीय क्रान्ति का प्रथम चरण था। उस क्रान्ति के दूसरे चरण में सामन्तवादी और अर्ध-सामन्तवादी ज़मींदारी की पूर्ण समाप्ति, कृषि मज़दूरों और ग़रीब किसानों में ज़मीन का मुफ्त वितरण, ब्रिटिश पूँजी की ज़ब्ती और उसका राष्ट्रीयकरण, हमारी राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था पर से विदेशी एकाधिकार पूँजी की शोषणकारी जकड़ को पूर्णतः समाप्त करना।

(2) स्वतन्त्रता से पहले की ही तरह, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी, देश की अर्थव्यवस्था पर बुर्जुआ वर्ग का नियन्त्रण रहा और बुर्जुआ वर्ग ने सामान्य जनता की मेहनत का फल स्वयं लेने के लिए तथा अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी रूपरेखा पर विकसित करने के लिये राजतन्त्र का उपयोग किया।

(3) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अमरीकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारतीय बुर्जुआ वर्ग के साथ साँठ-गाँठ करके भारतीय राज्य को अपनी युद्ध-योजनाओं में घसीटा और यहाँ भारी उद्योग स्थापित करने में सहायता देने से इन्कार कर दिया जो औद्योगीकरण का आधार है।

(4) कम विकसित अर्थव्यवस्था में यदि उसे असाम्राज्यवादी, अएकाधिकारवादी, एवं प्रजातान्त्रिक रूपरेखा पर विकसित किया जाये तो सरकारी क्षेत्र, अर्थात् सार्व-

जनिक क्षेत्र एक प्रगतिशील भूमिका निभा सकता है। किन्तु ऐसा न करने के कारण वड़े-वड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थापित हो गए है जिनमें अपने सभी दुर्गुण विद्यमान हैं।

(5) वुर्जुआ-ज़मीदार सरकार की कृषि सुधार सम्बन्धी नीतियाँ किसानों को युगों पुराने वन्धनों से मुक्त कराने के उद्देश्य से नहीं बनाई गई थीं वल्कि सामन्तवादी ज़मींदारों को पूँजीवादी ज़मींदारों में परिवर्तित करके अमीर किसानों का एक नया वर्ग विकसित करने के उद्देश्य से रची गई थीं। सामुदायिक विकास योजनाओं, पंचायत सुधार, भूमि सीमा निर्धारण सम्बन्धी क़ानून तथा भूमि की चकवन्दी सम्बन्धी क़ानून निष्फल सिद्ध हुए हैं और उन से किसानों एवं भूमिहीन मज़दूरों का कुछ भी उपकार नहीं हुआ है।

(6) यद्यपि सरकार की विदेश नीति मुख्यत: तटस्थता की एवं महायुद्ध विरोधी रही है, भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए पाश्चात्य एकाधिकार सहायता पर अधिकाधिक निर्भर करना, विदेशी पूँजीपतियों से अधिकाधिक आर्थिक सहयोग करना, कामनवैल्थ का सदस्य वने रहना और इन सब तथ्यों के परिणामस्वरूप अनेक उपनिवेश विरोधी मुद्दों पर उसका गोल-मोल बात करना तटस्थ रूप से अमरीका के नव उपनिवेशवादी एवं अतिक्रमणकारी इरादों की पूर्ति में सहायक हुआ और इसके कारण भारत शान्ति प्रजातन्त्र, स्वाधीनता और समाजवाद की शक्तिशाली धारा से अलग-थलग जा पड़ा।

(7) यद्यपि राज्य का ढाँचा महासंघीय प्रकार का है, सारी सत्ता और अधिकार केन्द्र सरकार में ही निहित हैं।

(8) वुर्जुआ वर्ग ने धर्म निरपेक्षता विरोधी शक्तियों को रियायतें दी हैं। अत: सी० पी० आई० का यह कर्त्तव्य है कि धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के भली-भाँति क्रियान्वयन के लिए अथक संघर्ष करे।

(9) प्रशासनिक सत्ता नकचढ़े अफ़सरों के हाथों में है जिन्हें सब प्रकार की सुख-सुविधायें प्रदान की जाती हैं। इन अफ़सरों का जनता से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि वे सदा शोषक वर्गों के ही हित सिद्ध करते हैं।

(10) न्यायपालिका का रवैया मज़दूरों, किसानों और अन्य श्रमजीवियों के प्रतिकूल है। क़ानून कार्यविधि और न्याय-प्रणाली में यद्यपि सिद्धान्त रूप से अमीरों और ग़रीबों को समान स्तर पर रखा जाता है, पर वास्तव में उनसे शोषक वर्गों का हित-साधन होता है तथा उनका अधिकार बना रहता है।

(11) बुर्जुआ वर्ग और उनके ज़मींदार मित्र अल्पसंख्या में होते हुए भी देश पर राज करते हैं तथा सरकार, व्यवस्था बनाये रखने के लिए सशस्त्र सेना और पुलिस पर अधिकाधिक निर्भर करती जा रही है।

(12) जब भी मज़दूर, किसान अथवा अन्य कमजोर वर्ग अपने शोपण कर्त्ताओं के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं तो उनके संविधान प्रदत्त मूल अधिकार उनके प्रति लागू होने

बन्द हो जाते (कर दिये जाते) हैं।

(13) संसदीय और लोकतान्त्रिक विचारधारा को बुर्जुआ और जमींदारों द्वारा अपने पैरों तले कुचला जाता है, और जब भी उन्हें आवश्यकता प्रतीत होती है, वे संसदीय लोकतन्त्र के स्थान पर सैनिक तानाशाही लाने से भी नहीं हिचकते। इस समय तक देश में जो लोकतन्त्र विद्यमान रहा है उससे देश के लाखों मजदूरों के मूल्य पर शोषक वर्ग का ही निर्माण हुआ है। सरकार की नीतियाँ श्रमिक वर्ग, किसानों, मध्यम वर्ग तथा छोटे एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगपतियों और व्यापारियों तक के विपरीत सिद्ध होती हैं और यही कारण है कि असन्तुष्ट श्रमजीवी सरकार के विरुद्ध भाँति-भाँति के आन्दोलन चलाते हैं। सरकार द्वारा अपनाई गई जनताविरोधी नीतियों के कारण आम जनता का बढ़ती हुई कीमतों, नये-नये करों और बेलगाम मुद्रास्फीति के माध्यम से शोषण किया गया।

(14) भारतीय साम्यवादी दल अपने समाजवाद और साम्यवाद निर्माण करने के लक्ष्य पर दृढ़ रहा है।

(15) समाजवादी समाज का निर्माण करने के लक्ष्य का अनुसरण करते हुए सी० पी० आई० ने श्रमिक वर्ग और उसके संगठन के आर्थिक विकास और राजनैतिक विचारों की परिपक्वता को ध्यान में रखते हुए श्रमिक वर्ग के अधीन सभी वास्तविक ग़ैर-सामंतवादी और ग़ैर-साम्राज्यवादी शक्तियों के निकट सहयोग से जनतन्त्र स्थापित करने के लिए कार्य करेगी।

सी० पी० आई० सम्मेलन ने दल के लिए जो कार्यक्रम निश्चित किया वह इस प्रकार था :

(i) देश में रहने वाली भिन्न-भिन्न जातियों के लिए वास्तविक स्वायत्त शासन के आधार पर भारत की एकता का परिरक्षण और उन्नति।

(ii) अठारह वर्ष व उससे अधिक आयु के सभी नागरिकों के लिए आम-समान और सीधा मताधिकार।

(iii) केन्द्र में विधायिका के दोनों सदनों को समान अधिकार।

(iv) राज्यों के लिए स्वशासन।

(v) सभी सामाजिक, राजनीतिक और न्यायिक संस्थानों में लोकतान्त्रिक भावना का समावेश।

(vi) सभी के लिये काम करने के अधिकार सहित पूर्ण नागरिक स्वतंत्रताएँ।

(vii) वेतनों और आमदनियों में असमानताएँ समाप्त करना, तथा सामाजिक असमानताएँ और अयोग्यताएँ दूर करना।

(viii) जमींदारी का बिना मुआवजा दिये उन्मूलन और भूमि का कृषि मजदूरों और ग़रीब किसानों में बिना मूल्य के वितरण।

(ix) बाग़ानों, खानों, तेल शोधन कारखानों एवं जहाजी व्यवसायों में लगी सारी विदेशी पूंजी का हस्तगत, और बैंकों तथा अन्य ऋण संस्थानों का राष्ट्रीयकरण। और

(x) भारत की ब्रिटिश कॉमनवैल्थ से वापसी, और ब्रिटेन व अमरीका से किये गए सभी समझौतों और क़रारों का परित्याग तथा भारत के पड़ोसियों से सभी विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा।[9]

4 फरवरी, 1952 को भारतीय साम्यवादी दल के महासचिव ए० के० घोष ने दिल्ली में एक प्रैस कॉन्फ्रेंस में ज़ोर दिया कि साम्यवादी दल यद्यपि भारतीय संविधान (जिसे अप्रजातन्त्रीय बताया गया था) को स्वीकार नहीं करता तदपि यथासम्भव शान्तिपूर्ण उपाय अपनाना चाहता है और एक संवैधानिक विपक्षी दल की भूमिका निभाना चाहता है, किन्तु यह भी घोषित किया कि "हम केवल उन्हीं पर निर्भर नहीं करते।"

यह भवानी सेन गुप्ता के सी० पी० आई० के अन्तर्गत "संसदीयता" की पुनरोक्ति थी। (यह प्रणाली पहले-पहल 1946 में थी जब साम्यवादी दल ने केन्द्रीय विधान मण्डल और प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनावों में भाग लिया, अपनाई गई थी।[10]

भारतीय साम्यवादी दल के चुनाव उद्देश्य-पत्र में "शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण" की सामयिक आवश्यकता का रेखांकन—चुनावों में भाग लेना (CPI'S Election Manfiesto Outlines "Peaceful Approach" Strategy—Contests Elections)

प्रथम आम चुनाव से कुछ पहले सी० पी० आई० ने अपना चुनाव-उद्देश्यपत्र प्रकाशित किया, जो कि उपर्युक्त नीति के वक्तव्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। उसने अनेक लोक सभा और राज्य विधान सभा निर्वाचन क्षेत्रों में चुनाव लड़े और प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की। उसने लोक सभा के 70 स्थानों पर चुनाव लड़े और 27 स्थान जीते। साम्यवादी दल ने अधिकतर तमिलनाडु, हैदराबाद, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल और ट्रावनकोर-कोचीन में ज़ोर लगाया।

राज्य विधान सभाओं के चुनावों में साम्यवादी दल और उसके मित्रों ने कुल मत संख्या का 6.04% मत प्राप्त किये। उन्होंने 587 स्थानों पर चुनाव लड़ा और 181 स्थान जीते, जिनमें से अधिकतम संख्या (163) मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन, हैदराबाद और पश्चिम बंगाल के स्थानों की थी। बिहार, मध्य प्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और सौराष्ट्र में साम्यवादी दल ने कुल मिलाकर 110 स्थानों पर चुनाव लड़ा पर वह इनमें से एक भी स्थान नहीं जीत सका।

[9]साम्यवादी दल के चुनाव सम्बन्धी उद्देश्यपत्र के विस्तृत अध्ययन के लिए देखो मसानी, n. 2. पृष्ठ 136-151, इसमें भूमि, उद्योग, भाषायी राज्यों, भारतीय गणतंत्र के संविधान, विदेश नीति और कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल को ध्यान में रखते हुए साम्यवादी दल की नीति निर्धारित की गई थी।

[10]एक प्रख्यात पत्रकार जी० एस० भार्गव ने यह विचार व्यक्त किया है कि 1946 के आम चुनावों में सी० पी० आई० का भाग लेना "राजनीतिक मंच पर अपना अस्तित्व जताना" मात्र था। उनका यह दृष्टिकोण था कि सारे अविभाजित भारत में केवल आठ साम्यवादी विधायक "दल के लिए संसदीय भूमिका का आभास प्रस्तुत नहीं कर सकते थे।"

6 फरवरी, 1953 को चुनाव आयोग ने घोषित किया कि अखिल भारतीय आधार पर चुनाव चिन्ह प्रदान करने के लिए केवल चार दलों को "राष्ट्रीय दलों" के रूप में मान्यता दी जायेगी। इनमें से एक दल सी० पी० आई० था।[11] इस प्रकार सी० पी० आई० लोक सभा में सबसे बड़ा विपक्षी दल बन गया।

साम्यवादियों की नज़रबन्दी से रिहाई (Communists are Released from Detention)

सी० पी० आई० द्वारा "शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण" अपनाए जाने के फलस्वरूप राज्य सरकारों ने जिन साम्यवादियों को हिंसापूर्ण एवं अन्य गैर-क़ानूनी कृत्यों के लिये नज़रबन्द किया था, उन्हें छोड़ना शुरू कर दिया। 13 फरवरी, 1952 को मद्रास सरकार ने उन 106 साम्यवादियों को रिहा कर दिया जिन्हें चुनावों की अवधि के लिए पैरोल पर छोड़ा गया था। इसके दो दिन बाद पश्चिम बंगाल सरकार ने अनेक साम्यवादी नज़रबन्दियों को रिहा किया।

24 मार्च को ट्रावणकोर-कोचीन सरकार ने साम्यवादी दल एवं कई श्रमिक संगठनों पर से प्रतिबन्ध उठा लिया। 29 मार्च को हैदराबाद विधान सभा में साम्यवादी प्रभुत्व के जनता लोकतंत्रीय मोर्चे के नेता वी० डी० देशपांडे ने कहा कि यदि सरकार सभी राजनीतिक कैदियों की आम रिहाई का आदेश दे, सभी नज़रबन्दों को छोड़ दे और मुकद्दमे तथा गिरफ्तारी के वारन्ट वापस ले ले तो साम्यवादी दल अपने सभी हथियार एक सप्ताह के भीतर समर्पित करने को तैयार है। मुख्य मन्त्री बी० रामाकृष्णाराव ने सभी साम्यवादी नज़रबन्दों की रिहाई की घोषणा की और राज्य के साम्यवादी दल पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया।

साम्यवादी दल द्वारा संसद में संयुक्त प्रजातंत्रीय मोर्चा बनाने के प्रयत्न (CPI Endeavours to Form a United Democratic Front in Parliament)

लोक सभा में सबसे बड़ा विपक्षी दल बन जाने के बाद, साम्यवादी नेता ए० के० गोपालन ने निम्नलिखित कार्यक्रम के आधार पर, गैर-कांग्रेसी, प्रजातंत्रीय दलों के साथ एक 'संयुक्त प्रजातंत्रीय विपक्षी दल' बनाने का प्रयत्न किया: (1) राष्ट्रपति के आपात्-स्थिति घोषित करने सम्बन्धी अधिकारों की समाप्ति, (2) भारत की कॉमनवैल्थ से वापसी, (3) सभी ब्रिटिश स्वामियों के बैंकों, फ़ैक्ट्रियों, और बाग़ानों इत्यादि की ज़ब्ती एवं राष्ट्रीयकरण, (4) भाषण, प्रेस एवं संगठन की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध की समाप्ति, (5) हड़ताल का अधिकार, (6) देशी राज्यों की समाप्ति, (7) राज्यों की तुरंत भाषाई

[11] कोई भी राजनैतिक दल, जो डाले गए कुल वैध मतों में से कम से कम 3% मत प्राप्त करता था, उसे चुनाव आयोग "राष्ट्रीय दल" के रूप में मान्यता देता था।

आधार पर स्थापना, (8) नजरबन्दी के सिद्धान्त की समाप्ति, (9) सशस्त्र सेनाओं में से ब्रिटिश अफ़सर हटाना, (10) सुरक्षा बजट को 50 प्रतिशत कम करना, (11) सशर्त विदेशी सहायता स्वीकार न करना, इत्यादि। साम्यवादी दल के प्रयत्नों का कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकला क्योंकि उसके बड़े-बड़े नेताओं के भाषणों से उनके शान्तिपूर्ण इरादों का भण्डाफोड़ हो गया था। विपक्षी दलों ने अनुभव किया कि साम्यवादियों के मन में संविधान और सरकार की संसदीय प्रणाली का कोई आदर नहीं है।

संसदीयता के परिवेश में साम्यवादियों ने श्रमिकों, किसानों, छात्रों, वकीलों, डाक्टरों, लेखकों, कलाकारों, और औरतों तक के संगठनों में घुसपैंठ आरम्भ की, और उनकी संख्या एवं लोकप्रियता में आशातीत वृद्धि हुई।

साम्यवादी दल द्वारा "वामपक्षियों" के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाना (CPI Forms United Fronts with "Leftist" Parties)

कांग्रेस के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के प्रयास में प्रजातंत्रीय दलों की ओर से निराश होकर साम्यवादी दल ने अन्य "वामपक्षी" दलों की ओर रुख किया और उनके साथ मिलकर "वामपक्षी प्रजातंत्रीय मोर्चा" बनाने के अभिप्राय से उनकी सहमति के लिए अपने कार्यक्रम में परिवर्तन करने को भी तैयार थी। दूसरे आम चुनाव से पूर्व उनमें से कुछ दलों ने सी० पी० आई० के संकेत का स्वागत किया और निम्नलिखित चुनाव संबंधी गठबन्धन तैयार किये गए : (1) बम्बई में कामगार किसान पार्टी के साथ। यह एक समाजवादी टुकड़ी थी जो श्रीमती अरूणा आसिफ अली के नेतृत्व में समाजवादी दल से अलग हो गई थी, (2) उड़ीसा में संयुक्त समाजवादी संगठन के साथ, (3) पंजाब में संयुक्त प्रगतिशील मोर्चे के साथ, (4) पैप्सू में संयुक्त प्रगति ब्लाक के साथ, (5) दिल्ली में फ़ारवर्ड ब्लाक के साथ, (6) असम में फ़ारवर्ड ब्लाक, गोरखा लीग और क्रांतिकारी समाजवादी दल के साथ, (7) पश्चिम बंगाल में फ़ारवर्ड ब्लाक (मार्क्सवादी) और बोल्शेविक पार्टी के साथ, (8) हैदराबाद में जनता प्रजातंत्रीय मोर्चे, लीग आफ़ सोशलिस्ट वर्कर्ज़, और हैदराबाद मज़दूर संघ के साथ। ट्रावनकोर-कोचीन तमिलनाडु, बिहार और त्रिपुरा में "वामपक्षी" दलों के साथ चुनाव समझौते किए गए। किन्तु सोशलिस्ट पार्टी के साथ कोई समझौता नहीं हो सका और उसके जयप्रकाश नारायण एवं डा० लोहिया जैसे नेताओं को "अमरीकन पूंजीवादियों" के एजेण्ट बताकर बदनाम करने के प्रयत्न किये गए।

दूसरे आम चुनाव में साम्यवादी दल (CPI Contests Second General Election)

इस निर्वाचन में सी० पी० आई० की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। पहले उसके कब्ज़े में लोक सभा के 27 स्थान थे, पर अब उसने 29 स्थान जीत लिये। इसके मतों की संख्या पहले के 4,712,009 के दुगुने से भी अधिक, 12,069,452 हो गई।

दल को सबसे अधिक समर्थन केरल से मिला, जहाँ उसने 9 स्थान जीते। उसके बाद पश्चिम बंगाल में 6, बम्बई में 4, और आन्ध्रप्रदेश में 4 स्थान प्राप्त हुए। मद्रास, तेलंगाना (आन्ध्र प्रदेश का भाग) और त्रिपुरा में उसकी स्थिति कमजोर हो गई। असम, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, राजस्थान, दिल्ली और मणिपुर में उसे एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

पहली बार साम्यवादी दल को लगभग सभी राज्यों की विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। आन्ध्र एवं पश्चिम बंगाल में यह सबसे बड़े विपक्षी धड़े के रूप में उभर आया और बम्बई में इसकी स्थिति में काफी सुधार हुआ।

केरल में साम्यवादी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया और 5 अप्रैल, 1957 को उन्होंने मन्त्रिमण्डल बनाया। साम्यवादियों के इतिहास में यह प्रथम अवसर था कि वे संसार भर में कहीं भी, चुनाव लड़ कर सत्तारूढ़ हुए। इस पर सी० पी० आई० नेताओं ने बहुत खुशी मनाई और सोचने लगे कि अब वे देश के अन्य भागों में भी सत्ता हथिया लेंगे। एस० ए० डांगे ने कहा..."यद्यपि केरल में साम्यवादी दल संविधान की मर्यादा में रह कर कार्य करेगा पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह मार्क्सवाद, लेनिनवाद और स्तालिनवाद के प्रिय सिद्धान्तों को त्याग देगा। साम्यवादी बदल नहीं गए हैं। इस बारे में कोई भूल में न रहे। हम वही हैं जो पहले थे।"[12] नेहरू की सरकार को चेतावनी के समान, कि वह केरल मन्त्रिमण्डल के कार्य में बाधा न डाले, रानाडिव ने वक्तव्य दिया कि "यदि केरल में मन्त्रिमण्डल भंग हुआ तो उसके परिणामस्वरूप साम्यवादियों को एक बार फिर विद्रोह की नीति अपनानी पड़ेगी।[13] इसी प्रकार सुन्दरैया ने कहा "कि यदि संघीय सरकार ने केरल मन्त्रिमण्डल के कार्यों में बाधा डाली तो वह सी० पी० आई० अन्य तरीके अपनाएगी।"[14]

केरल में साम्यवादियों के सत्तारूढ़ होने के कारण (Why the Communists Came to Power in Kerala?)

यहाँ यह विचार करना उपयुक्त होगा कि केरल में साम्यवादियों को सत्ता प्राप्त होने के क्या कारण थे। नेहरू का विचार था कि साम्यवादियों की जीत से "साम्यवाद के लिए निश्चित समर्थन" की बजाय "स्थानीय मामलों में असन्तोष" अधिक प्रतिध्वनित होता है। उनका कहना था कि राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय बड़े-बड़े मुद्दों का चुनाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। वह तो मूलतः स्थानीय कठिनाईयों, स्थानीय मुद्दों और स्थानीय रोष का परिणाम है।" केरल के तत्कालीन गवर्नर डा० रामाकृष्ण राव

[12]सिन्हा द्वारा, n. 5, पृष्ठ 102 में उद्धृत।
[13]वही।
[14]वही।

ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि केरल की जनता दीर्घ काल से परेशान थी कि उसकी कोई स्थायी सरकार नहीं है, और "ठीक हो या गलत," उनका विचार था कि स्थायी सरकार बनवाने का एकमात्र उपाय साम्यवादियों को सफल बनाना है, अतः उन्होंने साम्यवादियों को मत दिए।

इंगलैंड के दैनिक समाचारपत्र **मांचस्टर गर्जियन** ने टिप्पणी करते हुए लिखा कि निम्नलिखित सामाजिक एवं राजनीतिक तत्त्वों ने साम्यवादी विजय में योगदान किया : (1) भारत के सभी राज्यों में केरल का जनसंख्या घनत्व सब से अधिक है, पर वहाँ उद्योग धन्धे नहीं के बराबर हैं, अत: बेरोज़गारी बहुत है, (2) केरल में साक्षरता की दर भारत में सर्वाधिक है, अतः साक्षर बेरोज़गारों की विकट समस्या विद्यमान है, (3) अधिकतर किसान भूमिहीन हैं, और 1954-55 में प्रजा समाजवादी सरकार ने कृषि-सुधार योजनाएँ निरूपित की थीं उन्हें गोविन्दा मेनन की सरकार ने लागू नहीं किया, (4) राज्य पुनर्गठन अधिनियम द्वारा, ट्रावनकोर-कोचिन का तमिलनाडु ज़िला, जो ठोस कांग्रेसी था, मद्रास में मिला दिया गया, और मद्रास का मालाबार ज़िला, जिसमें कांग्रेस का बहुमत था, केरल में मिला दिया गया, (5) केरल में 1948 से लगा कर पाँच मुख्य मन्त्री आ चुके थे और 1956 से वह राष्ट्रपति राज्य के अधीन था, क्योंकि न तो कांग्रेस और न ही विपक्षी दल वहाँ स्थायी सरकार बना पाये थे। इस प्रकार राजनीतिक स्थिरता की आम आवश्यकता के कारण सी० पी० आई० को समर्थन मिला, जो स्थायी सरकार बनाने योग्य, एकमात्र राजनीतिक दल था, (6) राज्य के कांग्रेसी नेताओं में आन्तरिक मतभेद विद्यमान थे और दलगत व्यवस्था का पूर्ण अभाव था।

साम्यवादी दल में आन्तरिक मतभेद
(Internal Difference Within the CPI)

(क) आन्तरिक मुद्दों पर मतभेद (Differences on Internal Issues)

यद्यपि बाहर से ऐसा प्रतीत होता था कि सी० पी० आई० में एकता है पर उसके जन्म से ही उसमें गम्भीर मतभेद विद्यमान थे। किन्तु ये मतभेद उसकी तीसरी महासभा से पूर्व तक सर्वविदित नहीं थे (तीसरी महासभा दिसम्बर 1953 में मद्रास के निकट मदुराई में हुई)। जैसे-जैसे समय बीतता गया, ये मतभेद कटुतर और अधिकाधिक गहन होते गए। प्रथम एवं सब से अधिक महत्त्वपूर्ण मतभेद 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चे' के प्रश्न पर था। अजौय घोष, पी० सी० जोशी, और अधिकारी का कहना था कि नेहरू की सरकार प्रगतिशील विचारों की है, और मुख्य प्रतिक्रियात्मक एवं दक्षिणपंथी रवैया स्वतन्त्र पार्टी एवं साम्प्रदायिक दलों का प्रतीत होता है, कि इन शक्तियों पर प्रहार करने के लिए देश के सभी लोकतान्त्रिक तत्त्वों को संगठित हो जाना चाहिए और कांग्रेस के "वामपंथियों" को अपने में मिला लेना चाहिए, और कि भारत की विदेश नीति "मूलत: और ग़ैर-साम्राज्यवादी व ग़ैर-उपनिवेशवादी ही नहीं, अपितु यदा-

कदा डगमगाने के बावजूद, सोवियत संघ तथा नव स्वतन्त्र देशों के साथ विकट सहयोग की है।"

सी० पी० आई० के वामपंथियों के (भूपेश गुप्त, रामामूर्ति इत्यादि) इन कल्पनाओं से सहमत नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि सी० पी० आई० को सभी लोकतांत्रिक एवं समाजवादी शक्तियों को श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में संगठित कर के "जनता का लोकतंत्र" स्थापित कराने के लिए कार्य करना चाहिए, और "देश को एक उचित वैकल्पिक नेतृत्व" प्रदान करना चाहिए, कि कांग्रेस की नीतियाँ "दक्षिण पंथी प्रतिक्रियावादी तत्वों" के विकास को बढ़ावा दे रही हैं, तथा, नेहरू की सरकार की पाश्चात्य पूँजीवाद/साम्राज्यवाद से साँठ-गाँठ हैं।

इस घड़े का यह विचार था कि भारत में क्रान्ति केवल श्रमिक वर्ग के नेतृत्व से आ सकती है, और किसी अन्य वर्ग को वह श्रेय मिलने वाला नहीं है। किन्तु जोशी-घोष घड़े का विचार था कि श्रमिक वर्ग में न तो पर्याप्त जागृति है और न ही वह प्रभावशाली ढंग से संगठित है, कि उसे भारतीय समाज को समाजवादी बनाने के लिए अन्य लोकतान्त्रिक शक्तियों से गठजोड़ करना होगा, और इन शक्तियों में बुर्जुआ वर्ग भी सम्मिलित है जिसका अब एकछत्र नेतृत्व विद्यमान नहीं है, और एक बार लोकतांत्रिक शक्तियों से गठजोड़ स्थापित हो जाने पर उस गठजोड़ में श्रमिक वर्ग प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेगा।

जबकि "वामपंथी" घड़ा बुर्जुआ ज़मींदार राज के "विस्थापित" करने तथा उसके स्थान पर श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में 'जन लोकतन्त्र' स्थापित कराने के पक्ष में था, "दक्षिणपंथी" घड़ा एक राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चा बनाना चाहता था, पर उनका वर्तमान सरकार और राज को "विस्थापित" करने का कोई इरादा नहीं था। उनका विचार था कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चे की बुनियाद मज़बूत होती जायेगी तथा वह जनआन्दोलन के बढ़ते हुए ज्वार में अधिकाधिक लड़ाकू एवं शक्तिशाली होता जायेगा, वह सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी के भीतर व बाहर की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को समाप्त कर देगा, और अन्तत: सरकारी सत्ता पर स्वयं अधिकार कर लेगा। रामामूर्ति एवं अन्य "वामपंथी" साम्यवादी देश के आर्थिक एवं राजनीतिक संकट का कारण कांग्रेस का "एकाधिकारवादियों और अमरीकी साम्राज्यवादियों के प्रति आत्म-समर्पण," और उसके द्वारा समाज का समाजवादी पुनर्निर्माण न करना बताते थे और उनका विचार था कि "सभी लोकतांत्रिक एवं प्रगतिशील शक्तियों का वृहत गठबन्धन" स्थापित होते ही ये बुराइयाँ स्वयं समाप्त हो जायेंगी।

दोनों घड़े सत्ता हथियाने के "शान्तिपूर्ण साधनों" की बात करते थे पर जबकि "दक्षिणपंथी" घड़े के नेता इस बात पर ज़ोर देते थे कि एक शक्तिशाली जनक्रान्ति आन्दोलन विकसित कर के तथा संसद में स्थायी बहुमत प्राप्त कर के, श्रमिक वर्ग और उनके मित्र संसद को जनता की इच्छा के वास्तविक उपकरण में परिवर्तित कर सकेंगे "वामपंथी" नेताओं का यह विचार था कि शासक वर्ग कभी भी स्वेच्छापूर्वक

सत्ता नहीं छोड़ेगा, वे (शासक वर्ग) जनता की इच्छा की परवाह नहीं करेंगे तथा उसके लिए शक्ति का उपयोग भी करेंगे। उनका कहना था कि "यह आवश्यक है कि क्रान्तिकारी शक्तियाँ सतर्क रहें और अपने कार्य को ऐसी दिशा प्रदान करें कि वे किसी भी स्थिति का, तथा देश के राजनीतिक जीवन में किसी भी परिवर्तन इत्यादि का सामना कर सकें।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद की अवधि में "वामपन्थी" धड़े के नेतृत्व में हुई हिंसक एवं क्रान्तिपूर्ण गतिविधियों से साम्यवादी दल की हानि व बदनामी हुई, और "दक्षिणपंथी" धड़े की ओर झुकाव अधिक होने लगा। पहले आम चुनावों में हुई विजय से उसके हाथ और अधिक मज़बूत हो गए, और दल अधिकाधिक उसके नियन्त्रण में आता गया।

भारतीय साम्यवादी दल के नेताओं के इन मतभेदों के कारण, दल की तीसरी महासभा में, जो दिसम्बर 1953 में मदुराई (मद्रास के निकट) में हुआ था, घरेलू मुद्दों पर कोई निश्चित नीति निरूपित नहीं की जा सकी, और सभा में जो राजनीतिक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, उसमें विदेशी सम्बन्धों का ही अधिक ज़िक्र था और अमरीका विरोधी रवैया अपनाने पर बल दिया गया था (उस समय दोनों शक्ति-धड़ों में शीतयुद्ध चरम सीमा पर था), और घरेलू मुद्दों का बहुत कम वर्णन किया गया था। इसमें केवल यह विश्वास प्रकट किया गया कि "भारत अभी तक अर्ध उपनिवेश तथा परतन्त्र देश है क्योंकि वह आर्थिक, वित्तीय और सैनिक दृष्टिकोण से पहले की तरह साम्राज्यवादी नीति, मुख्यत: ब्रिटिश, पर निर्भर करता है। यह अब भी एक बुर्जुआ-ज़मींदार सरकार है और इसके नेता बड़े-बड़े बुर्जुआ हैं जिनकी ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सांठ-गांठ है।"

किन्तु मदुराई अधिवेशन के बाद "दक्षिणपन्थी" धड़ा अधिक शक्तिशाली हो गया, और इसका यह परिणाम हुआ कि जब साम्यवादी दल ने 18 से 19 अप्रैल 1956 तक पालघाट में अपना चौथा अधिवेशन किया तो उसमें उसने एक राजनीतिक प्रस्ताव पास किया जिसमें और बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था कि समाजवाद संसदीय तरीक़ों से लाया जा सकता है, और वह कांग्रेस के नेतृत्व में किया जा सकता है, "जिसके साथ मिल कर सी० पी० आई० को एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए।"

उसके बाद सी० पी० आई० ने नेहरू की कांग्रेस सरकार के साथ अधिकाधिक सहयोग करना शुरू कर दिया। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) के महासचिव के पद से डांगे ने, कदाचित सरकार के संकेत पर, श्रमिकों को परामर्श दिया कि वे वेतन बढ़ाने इत्यादि माँगों की पूर्ति के लिए हड़ताल न करें। जब राज्यों की कांग्रेसी सरकारों ने जनता पर भारी कर लगाए तो सी० पी० आई० ने तनिक भी विरोध प्रकट नहीं किया। 1959 में साम्यवादी चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के राष्ट्रीय परिषद के प्रस्ताव का विरोध करने के कारण जब केन्द्रीय सरकार ने सैंकड़ों सी० पी० आई० सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया तो सी० पी० आई० ने उन्हें

छुड़ाने के लिए कोई आन्दोलन नहीं किया। अमरोहा, फर्रुखाबाद, और राजकोट के निर्वाचन क्षेत्रों में लोक सभा के मध्यावधि चुनावों में इस ने अपने प्रत्याशी खड़े नहीं किए तो कांग्रेसी प्रत्याशियों को समर्थन प्रदान किया। लोक सभा के सी० पी० आई० सदस्यों ने विपक्षी दलों द्वारा नेहरू सरकार के विरुद्ध उठाए गए अविश्वास प्रस्तावों में भाग नहीं लिया। सी० पी० आई० के "वामपंथी" सदस्यों ने उपर्युक्त तथा ऐसे ही अन्य कृत्यों को "श्रमिक वर्ग के प्रति विश्वासघात और बुर्जुआ वर्ग के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण बताया।"

(ख) सोवियत संघ में स्तालिनवाद का उन्मूलन—सी० पी० आई० में और अधिक मतभेद (De-Stalinisation in Soviet Union—More Differences within the CPI)

जिन दिनों भारतीय साम्यवादी दल में मतभेद बढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों सोवियत संघ के साम्यवादी दल में भी आन्तरिक मतभेद बढ़ रहे थे। अक्तूबर 1956 में सोवियत संघ के साम्यवादी दल का बीसवाँ अधिवेशन मास्को में हुआ, जिसमें दल के प्रमुख सचिव ख्रुश्चेव ने अपने लम्बे भाषण में स्तालिन की आन्तरिक एवं विदेशी कठोर नीति की निन्दा की। उन्होंने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि सोवियत घड़े की बढ़ती हुई शक्ति, अनके भूतपूर्व उपनिवेशिक देशों द्वारा अपनाई गई तटस्थता की नीति तथा पूंजीवादी देशों में "युद्ध विरोधी" आन्दोलन के ज्वार के कारण लेनिन का पूँजीवाद में "युद्ध की अनिवार्यता" का सिद्धान्त अब लागू नहीं होता। पूंजीवादी एवं समाजवादी देशों में सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द करते हुए उन्होंने स्तालिन की "व्यक्ति पूजा" की घोर निन्दा की। ख्रुश्चेव ने स्तालिन द्वारा रूसी जनता पर ढाये गए जुल्मों एवं नृशसंताओं की भी निन्दा की और उनके लिए अधिक स्वतन्त्रता की हिमायत की। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में स्तालिन के कृत्यों व नीतियों के इस उन्मूलन को स्तालिनवाद का उन्मूलन अथवा **डी-स्तालिनाइज़ेशन** कहते हैं।

सोवियत नेताओं के चरणचिन्हों पर चलते हुए सी० पी० आई० के महासचिव अजॉय घोष ने 22 नवम्बर, 1956 को एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने कहा कि सी० पी० आई० ने अब तक जो "सोवियत संघ की प्रत्येक बात को आदर्श मान लेने" का रवैया अपना रखा था, उसे त्यागने पर दृढ़ संकल्प है। उन्होंने स्वीकार किया कि सी० पी० आई० की सब से बड़ी ग़ल्तियों में से एक यह थी कि उसने इन सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं किया कि "प्रत्येक देश में समाजवाद ऐसे आन्दोलन के माध्यम से स्थापित किया जायेगा जो सब देशों के लिए समान सिद्धान्तों पर आधारित होते हुए भी, प्रत्येक देश की विशिष्ट परिस्थितियों और परम्पराओं को भी मान्यता देगा," और कि "स्वयं समाजवादी समाज के कई प्रकार होंगे।"

उन्होंने लिखा कि सी० पी० आई० भारत में हिंसा एवं गृह-युद्ध के बिना" समाजवाद लाने में विश्वास करती है, तथा उसी दिशा में प्रयत्नशील है।

3 जुलाई, 1957 को, मास्को में सोवियत साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति ने (1) मोलोतोव, मालेन्कोव, और कागानोविच को दल की अध्यक्ष समिति (प्रिज़ीडियम) से निकालने और (2) शेपिलोव को केन्द्रीय समिति के सचिव पद से हटाने की घोषणा की। मालोतोव, मालेन्कोव और कागानोविच पर ये आरोप लगाये गए थे : प्रिज़ीडियम और केन्द्रीय समिति के भीतर "दल विरोधी धड़ा", दल के बीसवें अधिवेशन के प्रस्ताव का निरन्तर विरोध और दल द्वारा किए गए "व्यक्ति पूजा के परिणामों को समाप्त करने तथा क्रान्ति सम्बन्धी वैधता के अतिक्रमण के उन्मूलन" के लिए किए जाने वाले उपायों का कट्टर विरोध। मोलोतोव पर सोवियत सरकार की विदेशी नीति के "निरन्तर विरोध" और "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में बाधा डालने के भी आरोप लगाए गए। शेपिलोव पर "दल विरोधी धड़े" में सम्मिलित होने का आरोप लगाया गया। तीन दिन बाद ख्रुश्चेव ने "दल विरोधी धड़े" के प्रति आरोपों को लेनिनग्राद में एक भाषण में दोहराया और मोलोतोव, मालेन्कोव तथा कागानोविच पर "अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने व विश्व में शान्ति स्थापित करने के उपायों में बाधा डालने" का आरोप लगाया तथा यह भी आरोप लगाया कि इन नेताओं ने उपरोक्त नीति एवं उपायों के स्थान पर "ढिबरी कसने" की नीति अपनाई जो "लेनिन के समाजवादी और पूँजीवादी पद्धतियों में शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के विपरीत थी।

रूस की आन्तरिक घटनाओं से प्रभावित होकर सी० पी० आई० ने 1958 के आरम्भ में अपने अमृतसर अधिवेशन में पुनः घोषित किया कि समाजवाद शांतिपूर्ण उपायों से लाया जा सकता है। इस प्रकार दल में "दक्षिणपन्थी" दृष्टिकोण दृढ़तर होता गया। "वामपन्थी" साम्यवादी भारत एवं विदेश में होने वाली घटनाओं का चुपचाप, किन्तु सशंक दृष्टि से अवलोकन करते रहे।

(ग) भारत-चीन सीमा संघर्ष—सी० पी० आई० में विभिन्न दृष्टिकोण
(Sino-Indian Border Conflict—Differing Views within the CPI)

1950 वाले दशक के अन्त में तथा 1960 वाले दशक के आरम्भ में, भारत का चीन से एक सीमा संघर्ष हुआ, जिससे सी० पी० आई० के नेताओं में और अधिक मतभेद उत्पन्न हो गया। इसके लक्षण पहले-पहल 1954 में दृष्टिगोचर हुए थे जब नेहरू ने चाऊ ऐन लाई को बताया कि चीन के मान-चित्रों में जो भारत-चीन सीमा दिखाई गई है वह ठीक नहीं है। चीन के प्रधान मन्त्री ने उत्तर दिया कि ये पुराने नक्शे थे जो च्यांग काई शेक की सरकार द्वारा बनाये गए थे, और उन्हें संशोधित करके मैकमोहन लाइन को दोनों देशों को सही सीमा के रूप में मान्यता दी जायेगी। 1958-59 में चीनी सैनिक लद्दाख में घुसपैठ करके अक्षाई चिन सैनिक मार्ग को साफ़ करते रहे। भारत ने इसके प्रति विरोधपत्र भेजे, पर पीकिंग सरकार ने कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। अप्रैल, 1959 में तिब्बत में चीन के अधिकार के विरुद्ध विद्रोह हुआ पर उसे कुचल दिया गया। दलाई लामा ने भाग कर भारत में शरण ली और

उन्हें व उनके हजारों अनुयायियों को यहाँ राजनीतिक शरण प्रदान की गई। यह पीकिंग सरकार को बहुत अखरा। उसी वर्ष सितम्बर में चीन की साम्यवादी सरकार ने भारत की 50,000 वर्ग मील भूमि पर दावा प्रस्तुत किया। चाऊ-एन-लाई ने भी भारत व चीन की तत्कालीन सीमा-रेखा (मैकमोहन लाइन) को भी चुनौती दी। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि भारत सरकार सीमावर्ती नगर कलीमपोंग को तिब्बत में विद्रोह भड़काने वाले विद्रोहियों को प्रयुक्त करने देती है।

चीन-भारत सीमा संघर्ष की सी० पी० आई० में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। उसके महासचिव अजॉय घोष ने नेहरू की सरकार को समर्थन प्रदान किया पर साथ ही यह भी चेतावनी दी कि भारत को **पंचशील** का आदर करना चाहिए जिसमें यह प्रावधान है कि दोनों देश एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करें। उन्होंने चीनियों को संयत करने का प्रयास किया और उनके द्वारा भारत पर लगाये गए कुछ आरोपों के प्रति खेद प्रकट किया।

सी० पी० आई० द्वारा उपर्युक्त रवैया अपनाने के कारण आन्तरिक एवं वाह्य, दोनों ही प्रकार के थे। आन्तरिक कारण यह था कि 31 जुलाई, 1959 को भारत के राष्ट्रपति ने केरल में साम्यवादी मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करके वहाँ केन्द्रीय शासन स्थापित कर दिया था। सी० पी० आई० के 'वामपन्थी' धड़े ने इसे "राज्य का तख्ता उलटना" बताया और "दक्षिणपन्थियों का मजाक उड़ाया, जो संसदीय उपायों द्वारा समाजवाद लाने की बातें करते थे अजॉय घोष ने मास्को से परामर्श लिया कि चीन-भारत सीमा संघर्ष के आवेश में सी० पी० आई० को क्या रवैया अपनाना चाहिए, पर रूस ने इस प्रश्न पर तटस्थता का रुख अपनाया। अतः सी० पी० आई के सचिवालय ने दोनों पक्षों, (भारत व चीन) से अपने सीमा सम्बन्धी मतभेदों को परस्पर वार्ता द्वारा सुलझाने का अनुरोध किया।[15]

वाह्य कारणों में एक यह कारण था कि प्रथम आम चुनावों के बाद के वर्षों में पश्चिम और पूर्व के दो शक्ति धड़ों में जो शीत युद्ध चल रहा था, उसमें नेहरू की सरकार का झुकाव पश्चिम-विरोधी और पूर्व-समर्थक था। नेहरू-सरकार ने कोरियाई युद्ध में हस्तक्षेप के लिए अमरीका की आलोचना की और उससे युद्ध समाप्त करने का अनुरोध किया। फरवरी 1954 में जब अमरीका की सरकार ने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये : तो नेहरू ने टिप्पणी की "एशिया के देश, और भारत तो अवश्य ही इस नीति को स्वीकार नहीं करते और किसी देश के प्रभुत्व में नहीं रहना चाहते।" उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका से हाइड्रोजन बम एवं अन्य परमाणु-हथियारों के परीक्षण बन्द करने का अनुरोध किया। उसी वर्ष जून में साम्यवादी चीन के प्रधान मन्त्री (चाऊ-एन-लाई) भारत आए और नेहरू के साथ

[15]मोहन राम की पुस्तक, *Indian Communism : Split within a Split* (विकास पब्लिकेशन, दिल्ली, 1969) पृष्ठ, 95 देखो।

पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किए, जबकि अमरीका से चीन की घोर शत्रुता थी। 1955 के अन्त में सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री बुलगानिन और सोवियत साम्यवादी दल के मुख्य सचिव, ख्रुश्चेव नेहरू-सरकार के निमन्त्रण पर भारत आए और उनका जो स्वागत व अतिथि-सत्कार किया गया वह अपूर्व था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त घटनाओं से भारत के साम्यवादी नेताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि नेहरू की सरकार को आन्तरिक मामलों में तथा अन्य देशों के साथ भारत की समस्याओं के समाधान में पूर्ण समर्थन दिया जाना चाहिए।

सीमा पर तनाव बढ़ता रहा और अगस्त 1959 में लाँग जू के निकट भारत व चीन के सैनिकों में गम्भीर झड़प हुई। 21 अक्तूबर को दोनों देशों की सेनाओं में पूर्वी लद्दाख स्थित कोंग्-का दर्रे पर लड़ाई हुई और दोनों ओर के अनेक सैनिक हताहत् हुए। यद्यपि सोवियत संघ का रुख अधिकाधिक भारत के पक्ष में प्रतीत होता था, सी० पी० आई० के नेता खुले आम विरोध करने लगे। सुन्दरैया के नेतृत्व में 'वामपन्थी' धड़े का विचार था कि सीमासंघर्ष की जिम्मेदार भारत सरकार है। अजॉय घोष के नेतृत्व में 'दक्षिणपंथी' धड़े का विश्वास था कि यद्यपि चीन ने आक्रमण नहीं किया है पर मानचित्र इत्यादि के प्रति उसके रवैये के कारण संघर्ष उत्पन्न हुआ है। एस० जी० सरदेसाई के नेतृत्व में एक तीसरे गुट का यह विचार था कि चीनियों ने नेहरू को "भारतीय प्रतिक्रिया का प्रवक्ता" मानने की भूल की है और "उन्हें सही मार्ग पर लाने के लिए भारतीय प्रदेश में घुस आए हैं।"

भारत व चीन में सीमा विवाद और अधिक गंभीर हो गया, तथा अक्तूबर 1962 के तीसरे सप्ताह में चीन ने लद्दाख एवं नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेन्सी (नेफ़ा) में भारत पर आक्रमण कर दिया। भारत की सभी राजनीतिक दलों ने इस हमले का मुकाबला करने के लिए नेहरू-सरकार को भरपूर समर्थन देने का वचन दिया। साम्यवादी नेताओं में इस प्रश्न पर और अधिक मतभेद हो गया। भूपेश गुप्त, ज्योति बसु सुन्दरैया और हरकिशन सिंह सुरजीत के 'वामपक्षी' धड़े ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि चीन ने मैकमोहन लाइन का उल्लंघन किया है और भारत पर आक्रमण किया है। ज़ैड० ए० अहमद, योगीन्द्र शर्मा, एम० एन० गोविन्दन नायर और डांगे ने निष्कर्ष निकाला कि चीन ने मैकमोहन रेखा का उल्लंघन किया है और उस रेखा के दक्षिण का क्षेत्र भारत का है। इस स्थिति पर विचार के लिए सी० पी० आई० की राष्ट्रीय परिषद की एक बैठक 31 अक्तूबर से 2 नवम्बर, 1962 तक हुई। इसमें डांगे गुट एक प्रस्ताव पास करवाने में सफल हो गया, जिसमें नेहरू की सरकार को पूर्ण समर्थन दिया गया था, जनता के सभी वर्गों से चीनी हमले से मातृभूमि की रक्षा करने के लिए संगठित होने का अनुरोध किया गया था और सरकार के इस दृष्टिकोण से पूर्ण सहमति प्रकट की गई थी कि चीन से वार्ता केवल इस आधार पर की जा सकती है कि उसकी सेनाएँ उसी (अर्थात् 8 सितम्बर, 1962 की) स्थिति पर लौट जाएँ जहाँ वे वर्तमान आक्रमण से पहले थीं। इस प्रस्ताव में चीनियों के इस

आरोप का खण्डन किया गया कि "नेहरू अमरीकी साम्राज्यवाद के ऐजेण्ट हैं, प्रतिक्रियावादियों के नेता हैं और भारत सरकार के विस्तारवादी हैं जो अधिकाधिक सहायता प्राप्त करने के लिए अमरीकी साम्राज्यवाद के उपकरण के रूप में कार्य कर रहे हैं।" इस प्रस्ताव के पास होने के शीघ्र बाद बासु, सुन्दरैया, और सुरजीत ने सचिवालय से त्यागपत्र दे दिया क्योंकि जैसा कि मद्रास के समाचारपत्र दि हिन्दू ने लिखा, "वे सीधे चीन को दोषी ठहराने के विरोधी थे।" उनका यह सिद्धान्त था कि कोई भी समाजवादी देश कभी किसी पर आक्रमण नहीं करता।

जिन दिनों चीन-भारतसीमासंघर्ष हुआ, उन्हीं दिनों सोवियत संघ और अमरीका में "क्यूबा का प्रक्षेपणास्त्र-संकट" उत्पन्न हुआ। अतः सोवियत संघ ने पहले तो तटस्थता का रुख अपनाया और दोनों पक्षों से परस्पर वार्ता द्वारा झगड़ा निपटाने का आग्रह किया, पर क्यूबा संकट समाप्त होते ही उसने अपनी चाल बदल दी। 12 दिसम्बर, 1962 को ख्रुश्चेव ने चीन द्वारा युद्ध-विराम करने और अपनी सेनाओं को वापस बुलाने के चीन के आदेश की सराहना की, पर साथ ही यह भी कहा कि, "अच्छा तो यह होता कि चीनी अपनी स्थिति से आगे ही न बढ़ते।" ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह रवैया इसलिए अपनाया कि स्वयं उनके देश का चीन से सीमा-विवाद हो गया था और वे चाहते थे कि चीन ऐसे झगड़े करना छोड़ दे। चीनी नेहरू की सरकार की अधिकाधिक कटु आलोचना करने लगे पर रूसी उसके अनन्य समर्थक बन गए। सी० पी० आई० ने, जिस पर 'दक्षिणपंथी' गुट का अधिकार था, सोवियत नीति का भरपूर समर्थन किया।

(घ) विश्व साम्यवादी आन्दोलन में विग्रह (Split within the World Communist Movement)

ठीक उसी समय जब चीन-भारतसीमाविवाद बढ़ रहा था दोनों विशाल समाजवादी देशों, सोवियत संघ और साम्यवादी चीन में भी गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो रहे थे। यह मतभेद निम्नलिखित मुद्दों पर थे :

(1) सोवियत संघ का साम्यवादी दल ख्रुश्चेव द्वारा अक्तूबर 1956 में बीसवें अधिवेशन में प्रस्तुत इस दृष्टिकोण का समर्थक था कि लेनिन का पूंजीवाद के अधीन "युद्ध की अनिवार्यता" का सिद्धान्त अब लागू नहीं होता। दूसरी ओर चीन का साम्यवादी दल यह विश्वास करता था कि यह समझना कि पूंजीवाद समाप्त किए बिना युद्ध से बचा जा सकता है "कोरा भोलापन है।"

(2) सोवियत साम्यवादी दल इस बात पर जोर देता था कि परमाणु युद्ध सभी के लिए समान रूप से विनाशकारी सिद्ध होगा और इस तर्क का, विभिन्न सामाजिक पद्धतियों वाले देशों में भी "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व" के पक्ष में प्रयोग करता था। किन्तु चीनी साम्यवादी दल का विश्वास था कि चीन परमाणु युद्ध के बाद भी जीवित रह सकता है और एक तीसरे विश्व-युद्ध से साम्यवाद को और अधिक विजय प्राप्त

होगी ।

(3) कुछ चीनी वक्तव्यों में कहा गया कि ख्रुश्चेव जिस "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व" की बात करते हैं । उसमें वर्ग संघर्ष की समाप्ति निहित है "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व" का जो तात्पर्य पाश्चात्य राजनीतिज्ञों अर्थात् ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन और फ्राँस के राष्ट्रपति दि गॉल ने प्रस्तुत किया उसे चीनी साम्यवादी दल ने "सुधारवादी (रिवीज़निस्ट)" बताकर आलोचना की ।

(4) एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनों की सहायता करने में चीन की अपेक्षा सोवियत संघ अधिक सावधानी बरतता था ।

(5) चीनी साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव द्वारा बीसवें अधिवेशन में व्यक्त किये गए उनके इस दृष्टिकोण के प्रति शंकालु रवैया अपनाया कि कुछ देशों में साम्यवादी दलों के लिए हिंसक क्रान्ति के बिना संसदीय उपायों से सत्ता हथियाना सम्भव था ।

(6) सोवियत संघ का साम्यवादी दल इस मान्यता का मार्क्सिस्ट सिद्धान्त का समर्थक था कि समाजवाद के स्थान पर साम्यवाद लाने के लिए गहन औद्योगीकरण नितान्त आवश्यक है । किन्तु चीनी सिद्धान्तवादियों का यह विचार था कि कृषि विस्तार "एक आवश्यक आधार है ।" सोवियत समाचारपत्रों में "हठवादिता" और "संकीर्णता" के खतरों पर अधिकाधिक ज़ोर दिया जाता था और 1959 से उन्होंने यूगोस्लाव साम्यवादियों के "सुधारवाद" के विरुद्ध आन्दोलन कम कर दिया था । किन्तु चीनी साम्यवादी दल 1957 की मास्को-घोषणा पर दृढ़ था कि "सुधारवाद" अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के लिए "मुख्य खतरा" था ।

इन मुद्दों पर सोवियत संघ और साम्यवादी चीन का मतभेद और अधिक स्पष्ट हो गया । इससे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में फूट पड़ने का खतरा था क्योंकि कुछ दल विशेषतः अल्बानिया का साम्यवादी दल प्रत्यक्ष रूप में चीनी दृष्टिकोण का समर्थन करता था जबकि अन्य (पूर्वी जर्मन और चेकोस्लोवाक साम्यवादी दल इत्यादि) सोवियत संघ की नीतियों पर खुलकर टिप्पणी नहीं करते थे । इस मतभेद के कारण कई देशों के साम्यवादी दल में आंतरिक विवाद उत्पन्न हो गए । भारतीय साम्यवादी दल को भी ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा । अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के मूल विचारधारा सम्बन्धी मतभेदों के समाधान के लिए संसारभर के 81 साम्यवादी दलों का एक सम्मेलन नवम्बर 1960 में मास्को में हुआ, किन्तु दरार और अधिक चौड़ी हो गई और वे दल दो गुटों में विभक्त हो गए, जिनमें से एक रूसी साम्यवादी दल की नीतियों का समर्थक था और दूसरा चीनी साम्यवादी दल के सिद्धान्तों का पृष्ठ-पोषक था । मास्को सम्मेलन में भारतीय साम्यवादी दल के प्रतिनिधि मण्डल में अजॉए घोष, भूपेश गुप्त, नम्बूदरीपाद, डांगे और राममूर्ति थे । इन व्यक्तियों ने ख्रुश्चेव का समर्थन किया पर हरेकृष्ण कोनार के नेतृत्व में पश्चिम बंगाल के साम्यवादियों ने चीन का पक्ष लिया । उन्होंने ख्रुश्चेव द्वारा स्तालिन की आलोचना को "घिनौनी" बताया, युगोस्लाविया के प्रति रूस के रवैये को "चापलूसी"

बताया और आरोप लगाया कि ख्रुश्चेव ने 1956 में हंगरी के विद्रोह के प्रति "अस्थिर" रवैया अपनाया था और चीनी सरकार ने उन्हें बड़ी मुश्किल से हंगरी की क्रान्ति की रक्षा के लिए जाने को तैयार किया था। भारतीय साम्राज्यवादी दल की राष्ट्रीय परिषद ने दिसम्बर 1960 में उसके अधिकृत प्रतिनिधिमण्डल द्वारा मास्को सम्मेलन में अपनाई गई स्थिति का समर्थन किया।

भारतीय साम्यवादी दल में फूट
(Split within the CPI)

भारतीय साम्यवादी दल के आन्तरिक मतभेद बढ़ते रहे। अप्रैल 1961 में दल का वार्षिक अधिवेशन विजयवाड़ा में हुआ और वहाँ नम्बूदरीपाद जैसे "दरमियाने विचार के नेताओं तथा मिखेल सुस्लोव के नेतृत्त्व में एक पाँच सदस्यों के रूसी प्रतिनिधिमण्डल ने दोनों विपरीत दृष्टिकोणों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु "वामपन्थी" और "दक्षिणपन्थी" अपनी अपनी हठ पर अड़े रहे। "वामपन्थी" दल के संगठन पर अधिकार करने के लिये प्रयत्नशील थे पर उन्हें 110 सदस्यों की राष्ट्रीय परिषद में केवल 50 स्थान प्राप्त हुए। दल के भीतर गतिरोध होने के कारण केन्द्रीय कार्य-कारिणी और केन्द्रीय सचिवालय के सदस्यों का चुनाव भी न हो सका। केवल विग्रह को ही किसी न किसी तरह टाल दिया गया।

तीसरे आम चुनावों की पूर्व संध्या को सी० पी० आई० ने अपना चुनाव उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया (12 अक्तूबर 1961 को) जिसमें दल के दरमियाने विचारों वाले सोवियत रूस समर्थक वर्ग के विचार प्रतिभासित थे। इसमें कहा गया था कि सी० पी० आई० कांग्रेस को "प्रतिक्रियावादी" दल नहीं समझती, अतः यदि कांग्रेस की समाज-वादी नीतियों को लागू करने में सहायता करने के लिए बड़ी संख्या में "साम्यवादी तथा अन्य प्रजातन्त्रीय प्रत्याशी" जीत गए तो वह "सन्तुष्ट" होगी।

13 जनवरी, 1962 को सी० पी० आई० के महा सचिव अजॉय घोष की मृत्यु हो गई और दल के दोनों दलों के बीच की दरार को पाटने के प्रयत्न किये गए। उसी वर्ष 29 अप्रैल को राष्ट्रीय परिषद ने सर्व सम्मति से दल के संविधान में संशोधन कर के केवल एक महासचिव की बजाय एक चेयरमैन और एक महासचिव का प्रावधान किया। "दक्षिणपन्थी" नेता डांगे को अध्यक्ष (चेयरमैन) बनाया गया और दरमियाने विचारों के नेता नम्बूदरीपाद को महासचिव बना दिया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति में ज्योति बसु, सुन्दरैया और हरकिशन सिंह सुरजीत को सम्मिलित करने के लिए उसकी संख्या 25 से बढ़ा कर 30 कर दी गई। (पहले ये व्यक्ति केन्द्रीय कार्य-कारिणी के सदस्य कभी नहीं बने थे)। ये तीनों और डांगे, नम्बूदरीपाद, एम० एन० गोविन्द नायर, ज़ेड० ए० अहमद, योगिन्द्र शर्मा, और भूपेश गुप्त ने मिल कर सी० पी० आई० का "मिला जुला सचिवालय (कम्पोज़िट सैक्रेटेरियट)" बनाया। केन्द्रीय

कार्यकारिणी समिति और सचिवालय ने कुछ समय तक शान्तिपूर्वक कार्य किया। बाद में जब नवम्बर 1962 में सी० पी० आई० ने भारत पर चीनी आक्रमण की निन्दा का प्रस्ताव पास किया तो नम्बूदरीपाद ने महासचिव के पद से मुक्त किये जाने की इच्छा प्रकट की पर इस बात पर ज़ोर नहीं दिया। इसी प्रकार भूपेश गुप्त ने सचिवालय की सदस्यता से त्यागपत्र दिया पर अन्य सदस्यों के आग्रह पर अपने पद पर विद्यमान रहे।

रूस-चीन मतभेद दिनोंदिन बढ़ते गए, और 1963 के मध्य तक उनके सम्बन्धों में काफ़ी खिंचाव आ गया। इसके परिणामस्वरूप सी० पी० आई० के आन्तरिक मतभेदों में भी वृद्धि हुई। "दक्षिणपन्थी" सोवियत नीति का अधिक समर्थन करने लगे। वे नेहरू की सरकार व उसकी नीतियों की खुल्लमखुल्ला हिमायत करने लगे। जब ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस इत्यादि, श्रमिक संगठनों ने अपनों हितों की रक्षा के लिए हड़तालें एवं प्रदर्शन करने का विचार किया तो डांगे ने उन्हें संयम से काम लेने तथा सरकार एवं उद्योगपतियों से अपने विवाद निपटा लेने का परामर्श दिया। केन्द्र सरकार ने लगभग 900 "वामपन्थी" साम्यवादियों को उनके चीन समर्थक झुकाव के कारण बन्दी बना लिया पर "दक्षिणपन्थी" नेताओं ने इस कार्रवाई की निन्दा नहीं की और न ही उनकी रिहाई की माँग की। लोक सभा के तीन मध्यावधि चुनावों में सी० पी० आई० ने कांग्रेस के प्रत्याशियों को समर्थन प्रदान किया। सी० पी० आई० के महासचिव नम्बूदरीपाद ने जब नवम्बर 1962 के उस प्रस्ताव की आलोचना की जिसमें साम्यवादी चीन को आक्रमणकारी बताया गया था, तो अनेक चोटी के "दक्षिणपन्थी" नेताओं ने उनके व उनके अनुयायियों के प्रति "कठोर कार्यवाही" करने की माँग की। नम्बूदरीपाद ने सी० पी० आई० के महासचिव पद से त्यागपत्र दिया पर दल के अनेक नेताओं ने कहा कि इसकी बजाय, उन्हें पदच्युत किया जाना चाहिये। पश्चिम बंगाल, पंजाब और आन्ध्र प्रदेश की परिषदों में से "वामपन्थियों" को अनुशासहीनता के आरोप लगा कर निकाल बाहर किया गया। जब लोक सभा में अनेक विपक्षी दलों ने 1963 में नेहरू की सरकार के प्रति अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया तो "दक्षिणपन्थियों" के प्रभुत्व में साम्यवादी दल ने उनका समर्थन नहीं किया।

"दक्षिणपन्थियों" के रवैये और आचरण से "वामपन्थिों" में बहुत रोष एवं निराशा फैली, और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि देश के साम्यवादी आन्दोलन में फूट पड़ने वाली है। अक्तूबर 1963 में एम० बासवापुण्यह के नेतृत्त्व में आन्ध्र, तमिलनाडु और केरल के अनेक साम्यवादियों ने उपर्युक्त विपत्ति को टालने के प्रयत्न किये। किन्तु सी० पी० आई० के अध्यक्ष डांगे ने हठ की कि दल का बहुमत उनकी व उनके गुट की विचारधारा से सहमत है। उन्होंने "वामपन्थियों" पर अनेक आरोप लगाते हुए उनसे अपने आचरण की सफ़ाई देने की माँग की। दल के अन्तर्गत इस विप्लवी स्थिति के मध्य, जनवरी 1964 में उसकी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई। "वाम-

पन्थी" धड़े ने दल को पुन: संगठित करने के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस की एक बैठक बुलाने का आग्रह किया पर डांगे ने कहा कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

3 फरवरी, 1964 को पश्चिम बंगाल राज्य की परिषद को, जिसमें "वामपन्थियों" का प्रभुत्व था, पुन: जीवित किया गया। उसने एक साम्यवाद-विरोधी साप्ताहिक समाचारपत्र, **दि करण्ट** को अनेक पत्र दिये जिनके बारे में यह कहा गया कि वे डांगे ने 1924 में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल को, अपनी जेल से रिहाई की प्रार्थना में लिखे थे (उन्हें **कानपुर षड्यन्त्र केस**) में गिरफ़्तार किया गया था, और उसके लिए ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने का वचन दिया था। सी० पी० आई० के सचिवालय ने, जिसमें "दक्षिणपन्थियों" का प्रभुत्व था, इस प्रयत्न को दल के नेताओं को "जान बूझ कर बदनाम करने का षड्यन्त्र" बता कर निन्दा की गई।

11 अप्रैल को राष्ट्रीय परिषद की एक बैठक उन पत्रों के सम्बन्ध में विचार करने के लिये हुई। "वामपन्थी" धड़े ने डांगे से कहा कि क्योंकि उनके आचरण पर विचार किया जाना था, अत: वे कुर्सी खाली कर दें, पर उन्होंने उनकी बात नहीं मानी। इस पर 96 में से 32 सदस्य सभा से उठ कर चले गए। उठ कर चले जाने वालों में सुन्दरैया, ज्योति बसु, ए०के० गोपालन, नम्बूदरीपाद, भूपेश गुप्त, राममूर्ति, हरकिशन सिंह सुरजीत, प्रोमोद दास गुप्त, और वेंकटारमन थे। शेष सदस्यों ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया कि इन पत्रों के वास्तविक होने की कोई प्रत्यक्ष सम्भावना नहीं है। 32 साम्यवादियों के उपर्युक्त गुट ने इस प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में सी० पी० आई० के सदस्यों से डांगे व उनके गुट तथा उनकी "सुधारवादी राजनीतिक नीति" का बहिष्कार करने का आग्रह किया। इस पर उन्हें राष्ट्रीय परिषद ने "विघटनकारी एवं दल विरोधी गतिविधियों के लिए" अनिश्चित काल के लिए निलम्बित कर दिया। पूर्ण विग्रह से बचने के लिए, प्रधान मन्त्री नेहरू के देहान्त के दो दिन बाद 29 मई, 1964 को डांगे ने कहा कि यदि उपर्युक्त 32 सदस्य राष्ट्रीय परिषद में पुन: लौट आयें और सभी समान्तर दलीय संगठनों से सम्बन्ध विच्छेद कर लें तो निलम्बन का आदेश समाप्त किया जा सकता है। किन्तु ये शर्तें स्वीकार नहीं की गई और असहमत गुट ने डांगे पर अलोकतन्त्रीय कृत्य करने तथा "मिले जुले सचिवालय" की भावना को भ्रष्ट करने का आरोप लगाया।

जुलाई के आरम्भ में सचिवालय के प्रतिनिधियों और 32 असहमत सदस्यों के प्रतिनिधियों ने सी० पी० आई० में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया पर "दक्षिणपन्थी" धड़े को समन्वय की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं हुई। 7 से 12 जुलाई तक "वामपन्थी" धड़े ने तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) में एक विराट् सभा की और सी० पी० आई० के कार्यकर्ताओं तथा समर्थकों से आग्रह किया कि साम्यवादी दल को पुनर्गठित करने में उनकी सहायता करें, और उसे भारतीय जनता की क्रान्तिकारी परम्पराओं के अनुरूप एक मजबूत सुगठित दल बनायें।" लगभग एक मास बाद 32 "वामपन्थियों"

में से 11 ने, जो कि लोक सभा के सदस्य थे, गोपालन के नेतृत्व में एक अलग गुट बना लिया। इसके परिणामस्वरूप सी० पी० आई० का लोक सभा में सब से बड़ा विपक्षी दल होने का दावा समाप्त हो गया।

14 सितम्बर को राष्ट्रीय परिषद ने उपर्युक्त 32 नेताओं सहित, उन सभी साम्यवादियों को सी० पी० आई० से निकाल दिया, जिन्होंने तेनाली सम्मेलन में भाग लिया था। इस निष्कासन के बाद 32 "वामपन्थियों" और उनके समर्थकों (साम्यवादी दल की कुल सदस्य संख्या का लगभग एक तिहाई भाग) ने 31 अक्तूबर से 7 नवम्बर 1964 तक कलकत्ता में दल का सातवाँ अधिवेशन बुलाया और एक नया कार्यक्रम बनाया जिसका उल्लेख बाद में किया जायेगा। इस अधिवेशन में एक केन्द्रीय समिति निर्वाचित की गई और उसे अधिकार दिया गया कि यदि वह आवश्यक समझे तो दल का नाम बदल सकती है। इसके शीघ्र बाद केन्द्रीय समिति ने दल का नाम बदल कर कम्यूनिस्ट पार्टी आफ़ इण्डिया (मार्क्सिस्ट) सी० पी० एम० कर दिया। राज्यों की विधान सभाओं के कुल 170 साम्यवादी सदस्यों में से 49 सी० पी० एम० के सदस्य बन गए और 9 तटस्थ हो गए। चौथे आम चुनाव की पूर्व संध्या को सी० पी० आई० और सी० पी० एम० ने पृथक चुनाव उद्देश्यपत्र प्रकाशित किये और अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में एक दूसरे के विरुद्ध चुनाव लड़े। इस प्रकार भारतीय साम्यवादी दल का विग्रह हो ही गया।

विग्रह के बाद भारतीय साम्यवादी दल
(The CPI After the Split)

सी० पी० आई० सोवियत संघ के निकटतर (CPI Moves Closer to the Soviet Union)

सी० पी० एम० की स्थापना के बाद, सी० पी० आई०, एक ओर सोवियत संघ के और दूसरी ओर कांग्रेस पार्टी के निकटतर आने लगी। पहले सी० पी० आई० के व सोवियत संघ के निकट सम्बन्धों की विवेचना करना उचित होगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साम्यवादी आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय प्रकार का है और संसार के सभी देशों के साम्यवादी दल मास्को से प्रेरणा व पथ प्रदर्शन प्राप्त करते हैं। यह पथ प्रदर्शन कॉमिफ़ॉर्म करता है जो 1947 के सितम्बर मास में स्थापित हुआ था, और 1919 में स्थापित कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल का ही संशोधित रूप था। कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल को 1943 में अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूज़वैल्ट के आग्रह पर विघटित कर दिया गया था, क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका, रूस और ग्रेट ब्रिटेन ने हिटलर के जर्मनी के विरुद्ध महायुद्ध में मित्रता स्थापित कर ली थी। तभी से निरन्तर सी० पी० आई० सोवियत संघ के साम्यवादी दल के एक मित्र के रूप में कार्य करती आ रही थी। विग्रह के बाद यह मित्रता कई प्रकार से और भी अधिक हो गई। प्रथम

सी० पी० आई० के नेता पहले से अधिक बार मास्को जाने लगे तथा सोवियत नेताओं के साथ राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्नों पर और अधिक वार्ता करने लगे। दूसरे सी० पी० आई० सोवियत विदेशी नीति के हितों व परिलक्ष्यों का समर्थन करती थी और जो देश सोवियत संघ के मार्ग में वाधक होते थे उनकी निन्दा करती थी (विशेषत: संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी चीन) तथा जो देश उनकी सहायता करते थे व उनसे सहयोग करते थे, उनकी सराहना करती थी। तीसरे यह भारत सरकार और सोवियत संघ में परस्पर मित्रता करा कर उनमें निकट सहयोग स्थापित कराने के प्रयत्न करती थी, चौथे इण्डो सोवियत फ्रैंडशिप सोसाईटी के माध्यम से, इसने भारतीय जनता में सोवियत संघ को शान्ति प्रिय तथा सभी जगह शान्ति, स्वतन्त्रता एवं आर्थिक समानता व न्याय का पृष्ठ पोषक वताकर उसके प्रति सद्भावना फैलाई, और पाश्चात्य शक्तियों को "साम्राज्यवादी" "उपनिवेशवादी" तथा "शोषक" वताया।

सी० पी० आई० के अध्यक्ष डांगे को अपने कार्य का पारितोषिक 9 अक्तूवर 1974 को मिला जव सोवियत संघ ने उन्हें "आर्डर आफ़ लेनिन" की उपाधि से विभूषित किया। यह उपाधि उस देश द्वारा साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं को प्रदान की जाने वाली उच्चतम उपाधि है। अनेक देशों के साम्यवादी दलों ने, जो रूस के प्रभाव में थे, इस अवसर पर डांगे को वधाई दी।

सी० पी० आई० एवं कांग्रेस की मित्रता (CPI becomes an Ally of the Congress)

जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है, सी० पी० आई० में फूट पड़ने के वाद वह कांग्रेस की मित्र बन गई, और उसके सदस्यों ने केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस सरकारों से तथा कांग्रेस संगठन से भी अपने सम्वन्ध सुधारने शुरू किये। यह मोहन कुमारामङ्गलम के थीसिस के अनुरूप था। वह अपने लड़कपन से ही पक्का साम्यवादी रहा था। 1964 में उसने सी० पी० आई० को अपनी सत्ता हथियाने की योजना प्रेषित की थी। उस योजना का सारांश यह था कि कांग्रेस में "घुसपैठ" की जाये, उसके आधुनिक नारों को "अपना लिया जाये" और कांग्रेस सरकार पर जन आन्दोलनों द्वारा "दवाव डालकर" उस देश को साम्यवाद की ओर ले चलने के लिए वाध्य किया जाये। कुमारामङ्गलम का कहना था कि इन प्रयत्नों से अन्ततः सी० पी० आई० द्वारा सत्ता हथियाने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। अपनी पुस्तक **कम्यूनिस्ट्स इन कांग्रेस: कुमारामंगलम थीसिस** की भूमिका में सतीन्द्रसिंह ने लिखा है कि उस समय कुमारामङ्गलम के थीसिस पर किसी ने विचार नहीं किया। सतीन्द्र सिंह आगे लिखते हैं कि कुमारामङ्गलम ने अपनी योजना 1969 में पुनः प्रेषित की और उसके अन्त में 1964 से 1969 तक की राजनीतिक एवं आर्थिक घटनाओं के विषय में भी एक नया अध्याय जोड़ दिया। इस वार उस पर मुख्यतः दो कारणों में अमल किया गया। एक तो यह

कि कांग्रेस विभाजित हो चुकी थी और लगभग 60 कांग्रेसी संसत्सदस्य विपक्षी दल में शामिल हो गए थे। इन्दिरा गांधी की सरकार अल्पमत में रह गई थी और सत्तारूढ़ रहने के लिए सहारे की तलाश कर रही थी। सी० पी० आई० ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए समर्थन देने के लिए सौदेबाजी शुरू कर दी। उसकी माँग यह थी कि सी० पी० आई० के सदस्यों को सरकारी एवं दलीय संगठनों व एजेंसियों में स्थान दिये जायें।

कुमारामङ्गलम के थीसिस को स्वीकार करने का दूसरा कारण संभवतः सोवियत संघ से प्राप्त कोई निर्देश था। साम्यवादी चीन के साथ रूस के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे, और सतीन्द्र सिंह के अनुसार सोवियत संघ "अनुशासनहीन चीन की घेराबन्दी" करके रखना चाहता था, ताकि उस से "छूत की बीमारी" न फैलने पाये। निकट पड़ौसी होने के नाते, इस कार्य के लिये रूस को भारत अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत हुआ। मास्को के अधिकारियों ने सी० पी० आई० को श्रीमती गांधी की सरकार से सम्बन्ध सुधार कर त्रिकोण सम्बन्ध स्थापित करने की सलाह दी। सी० पी० आई० ने इस पर आचरण किया।

सी० पी० आई० ने कांग्रेस की कई प्रकार से सहायता की। प्रथम विधायक निकायों में, विशेषतः लोक सभा में। कांग्रेस पार्टी के विभाजन के बाद विपक्षी दलों ने तीन अवसरों पर श्रीमती गांधी के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किये, किन्तु हर बार, **कुल मिलाकर** सी० पी० आई० सदस्यों ने अविश्वास प्रस्तावों के विपरीत मत दे कर उन की रक्षा की।

सितम्बर 1973 में सी० पी० एम० ने श्रीमती गांधी की सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाने का विचार किया, पर सी० पी० आई० की राष्ट्रीय परिषद ने स्वयं को उससे अलग रखने का निश्चय किया। सी० पी० आई० का यह दृष्टिकोण था कि अविश्वास प्रस्ताव से संगठन कांग्रेस, जनसंघ, और स्वतन्त्र पार्टी को सरकार द्वारा उठाये गए आधुनिक कदमों अर्थात अनाज का थोक व्यापार अपने हाथ में लेने इत्यादि के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर मिल जायेगा। उसके सचिव "राजेश्वर राव" ने प्रतिक्रियावादी दलों द्वारा "कांग्रेस का अन्धाधुन्ध विरोध" करने की निन्दा की।

मार्च 1971 में लोक सभा के मध्यावधि चुनावों की पूर्व संध्या को जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और संगठन कांग्रेस ने श्रीमती गांधी के दल के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया पर सी० पी० आई० ने इस मोर्चे में सम्मिलित न होने के अतिरिक्त, श्रीमती गांधी के दल से गठजोड़ कर लिया। इसके फलस्वरूप जिन निर्वाचन क्षेत्रों में सी० पी० आई० ने कांग्रेस के अधिकार में अपने प्रत्याशियों के नाम वापस ले लिये थे या उन्हें **बैठा दिया** था, उस के कार्यकर्त्ताओं ने कांग्रेसी प्रत्याशियों की सहायता की और उसी प्रकार अन्य निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस ने सी० पी० आई० के प्रत्याशियों की सहायता की। मार्च 1972 में राज्य विधानपरिषदों के

पाँचवें आम चुनावों के अवसर पर भी ऐसा ही हुआ। चुनाव समाप्त होने के बाद सी० पी० आई० ने केरल और पश्चिम बंगाल में मन्त्रिमंडल बनाने में कांग्रेस से सहयोग किया। इन दोनों राज्यों में इन दलों में "मन मुटाव" होने पर भी, और पश्चिम बंगाल में सी० पी० आई० नेता विश्वनाथ मुखर्जी द्वारा सी० पी० आई० व कांग्रेस में दो वर्ष पुरानी प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक ऐलायन्स के उपाध्यक्ष पद से त्याग पत्रदेने पर भी दोनों-दलों का गठजोड़ बना रहा और उपरोक्त दोनों राज्यों में हुए उनके मतभेद को अन्य स्थानों व राज्यों में फैलने नहीं दिया गया। अन्य राज्यों की विधान सभाओं में सी० पी० आई० के सदस्य कांग्रेस विधायक दल के साथ घुल मिल कर कार्य करते रहे।[16]

दूसरे, सी० पी० आई० ने कांग्रेस की सहायता इस प्रकार की, कि उसने समय-समय पर कांग्रेस सरकार को विपक्षी दलों व जनता के अन्य संगठनों के आक्रमणों से बचाया। उदाहरणतया, मई 1974 में रेल कर्मचारियों ने अपनी माँगों के समर्थन में देश-व्यापी हड़ताल की। संघीय एवं राज्य सरकारों ने हड़तालियों के दमन के लिये कठोर कदम उठाये, और सी० पी० आई० ने सरकार का साथ दिया। मई 1974 में सी० पी० एम० एवं पश्चिम बंगाल के आठ अन्य राजनीतिक दलों ने एक "बन्द" आयोजित करने का आह्वान किया, जिसका उद्देश्य कांग्रेसी सरकारों की नीतियों के भारत-व्यापी विरोध प्रदर्शनों की श्रृंखला का सूत्रपात करना था, किन्तु सी० पी० आई० ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब वह कार्यक्रम शुरू किया गया और बढ़ती हुई क़ीमतों, बेरोज़गारी, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली, तथा प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं कुंबा परस्ती के विरुद्ध प्रदर्शन किये गए तो सी० पी० आई० केवल तटस्थ दर्शक ही नहीं बनी रही, अपितु उसने सरकार द्वारा उन विरोध-प्रदर्शनों को "दबाने" के लिये किये जाने वाले सभी उपायों की खुल कर हिमायत की।

अक्तूबर 1974 में अनेक राजनीतिक दलों और छात्र संगठनों ने कांग्रेस सरकार का "सुधार" करने के लिये आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में दिल्ली में एक अहिंसापूर्ण आन्दोलन शुरू किया पर साम्यवादी दल (सी० पी० आई०) ने उसे 'प्रतिक्रियात्मक' और 'जनविरोधी' बताया। सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण ने 72 वर्ष की अवस्था में जनता की विविध समस्याओं के समाधान के लिये बिहार में एक आन्दोलन शुरू किया। जून 1974 के आरम्भ में उन्होंने अब्दुल ग़फ़्फ़ूर के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को भंग करने की माँग करने के लिये पटना में एक विराट प्रदर्शन आयोजित किया, और सी० पी० आई० ने इस माँग के कठोर प्रतिरोध में एक जवाबी प्रदर्शन किया। बाद में जब जयप्रकाश आन्दोलन अधिक ज़ोर पकड़ गया और दूर-दूर तक फैल गया तो सी० पी०

[16]सी० पी० आई० ने विभिन्न राज्यों में इस प्रकार स्थान जीते : आन्ध्र प्रदेश-10, असम-7, बिहार-24, केरल-19, मध्य प्रदेश-1, मद्रास-2, महाराष्ट्र-10, मैसूर-2, उड़ीसा-7, पंजाब-5, राजस्थान -1, उत्तर प्रदेश-14, पश्चिम बंगाल-16, हिमाचल प्रदेश-2, मणिपुर-1 और त्रिपुरा-1

आई० उस आन्दोलन को सत्तारूढ़ दल की वजाय, अपने विरुद्ध वताने लगी। सी० पी० आई० के महासचिव राजेश्वर राव ने कहा कि चाहे कांग्रेस उस से सहयोग करे या न करे, उनके दल ने जे० पी० के आन्दोलन को कुचलने की कसम खाई है। उन्होंने यह भी कहा कि जे० पी० देश को संयुक्त राज्य अमरीका के हाथों गिरवी कर देना चाहते हैं, और पूँजीवादी, जमाखोर तथा तस्कर व्यापारी उनका समर्थन कर रहे हैं। उन्होंने प्रधान मन्त्री से जयप्रकाश नारायण के साथ किसी प्रकार का समझौता करने की वजाय उनकी चुनौती स्वीकार करने का अनुरोध किया। नवम्बर 1974 में सी० पी० आई० ने कांग्रेस, अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम और चार अन्य दलों के सहयोग से, विहार एवं देश के अन्य भागों में जे० पी० के आन्दोलन का संयुक्त रूप से मुकाबला करने के लिये एक "सेव डेमोक्रेसी फ्रण्ट (लोकतन्त्र वचाओ मोर्चा)" वनाया।

जैसा कि पहले वताया जा चुका है कुमारामङ्गलम की थीसिस में कांग्रेस सरकार के साथ पूर्ण सहयोग और उसके पूर्ण समर्थन की वजाय, उसकी नीतियों और कार्यक्रमों के विरोध और आलोचना का भी सुझाव दिया गया था ताकि उसे देश को साम्यवाद की ओर ले जाने के लिये दवाया जा सके। इसके अनुसार सी० पी० आई० ने अनेक वार श्रीमती गांधी की सरकार की आलोचना की। इसके कुछ नवीनतम उदाहरण इस प्रकार हैं: फरवरी 1973 में उसने भारत के राष्ट्रपति को एक करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षरों सहित एक माँग-पत्र प्रेषित किया जिसमें सरकार की नीति सम्बन्धी असफलताएँ गिनाई गई थीं। उसी वर्ष सितम्बर में सी० पी० आई० के स्वयंसेवकों ने राज्य और ज़िला मुख्यालयों में सरकारी दफ्तरों का घेराव किया तथा चावल और अन्य आवश्यक वस्तुओं के थोक व्यापार को सरकार द्वारा अपने हाथ में लिये जाने की माँग की। गेहूँ का थोक व्यापार सरकार द्वारा अपने हाथ में लेने की नीति बुरी तरह असफल रही और सरकार को उसे त्यागना पड़ा। सी० पी० आई० ने इसे एक प्रतिक्रियात्मक कदम वताया और सभी "वामपंथी" दलों और "प्रगतिशील" कांग्रेसियों से इसके विरुद्ध सामूहिक विरोध प्रकट करने के लिये कहा। राजेश्वर राव ने कहा कि इन्दिरा की सरकार की सड़क के बीच में चलने की नीतियों का दायरा बहुत तंग है और वे जनता की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकेंगी। प्रायः कांग्रेस सरकार के भ्रष्टाचार, पक्षपात, अकुशलता और लाल फ़ीताशाही की आलोचना की जाती थी। अगस्त 1974 मे सी० पी० आई० ने भारत के राष्ट्रपति पद के लिये कांग्रेस के प्रत्याशी फ़खरुद्दीन अली अहमद का समर्थन नहीं किया। उसका कहना था कि हाल के महीनों में कांग्रेस पार्टी एकाधिकार वादियों, मुनाफ़ाखोरों और जमाखोरों के दवाव में आती रही है जिससे गम्भीर आर्थिक संकट और भी गहरा हो गया है। सी० पी० आई० ने वढ़ती हुई कीमतों और वेरोज़गारी का दोष कांग्रेस सरकार के माथे मढ़ा और यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि सरकार "दक्षिणपंथी" शक्तियों और नीहित स्वार्थों के प्रति आत्मसमर्पण करके श्रमिक वर्गों का नुकसान कर रही है।

सी० पी० आई० द्वारा कांग्रेस के माध्यम से अपना उल्लू सीधा करने के दृष्टिकोण

से उसका कांग्रेस के सरकारी और संगठन विभागों में घुसपैंठ करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। अनेक साम्यवादी मंत्री बन बैठे। मोहन कुमारामङ्गलम स्वयं ईंधन और खानमंत्री बन गए। सतीन्द्र सिंह ने संघीय सरकार में शामिल होने वाले अन्य साम्यवादियों के निम्नलिखित नाम बताए हैं। डी० पी० घर, योजनामन्त्री (जिन्हें फरवरी 1975 में रूस में राजदूत नियुक्त किया गया); के० आर० गणेश राजस्व और व्यय के राज्यमंत्री; नूरुल हसन शिक्षा और समाजकल्याण मंत्री; के० वी० रघुनाथ रेड्डी श्रम और पुनः स्थापन राज्यमंत्री तथा आर० के० खादीलकर स्वास्थ्य और परिवार नियोजन राज्यमंत्री।

चन्द्रजीत यादव ने कांग्रेस के महासचिव का महत्त्वपूर्ण पद सम्भाला। एक अन्य सी० पी० आई० नेता रजनीपटेल बम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बन गये। आर० के० सिन्हा, शशीभूषण, अमृत नहाटा, और अर्जुन अरोड़ा ने कांग्रेस दल के भीतर एक अध्ययन मण्डल स्थापित किया जिसका नाम "फ़ोरम फ़ॉर सोशलिस्ट एकशन" पड़ा। इसका उद्देश्य कांग्रेसियों, विशेषतः युवा कांग्रेसियों को साम्यवादी बनाना था। अनेक सी० पी० आई० सदस्य "प्रगतिवादियों" के रूप में ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी, कांग्रेस कार्यसमिति कांग्रेस, केन्द्रीय संसदीय बोर्ड और कांग्रेस केन्द्रीय निर्वाचन समिति की बैठकों में भाग लेने लगे और उनके निर्णयों एवं नीतियों को समाजवादी रंग देने लगे। उनमें से अनेक कांग्रेसी मंत्रियों की सहायता से विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हो गए और इन शिक्षा मन्दिरों के माध्यम से अपनी विचारधारा का प्रचार करने लगे।

कांग्रेसियों द्वारा दल में साम्यवादियों की घुस पेंठ पर आपत्ति (Congressmen Resent Communist Infiltration in Party)

साम्यवादियों की बढ़ती हुई घुसपैंठ से तथा उनके द्वारा कांग्रेस की नीतियों व कार्यक्रमों को प्रभावित करने के प्रयत्नों से अनेक कांग्रेसी नेताओं को बड़ी चिन्ता हुई। कांग्रेस कार्यसमिति के एक सदस्य चन्द्र शेखर को सी० पी० आई० का कांग्रेस के कार्यों में हस्तक्षेप करना बहुत बुरा लगा और उन्होंने 29 मार्च, 1973 को सी० पी० आई० नेता भूपेश गुप्त से कहा कि वे कांग्रेस के 'मैनेजिंग एजेन्ट' बनने के प्रयत्न न करें। उन्होंने कहा कि वे "छल एवं जालसाजी" द्वारा कांग्रेस में परिवर्तन लाने की साम्यवादी सामयिक-नीति को सहन नहीं करेंगे। बाद में यंग इण्डियन पत्रिका में "पोलिटिक्स आफ़ मैनीपुलेशंस" शीर्षक से एक लेख में उन्होंने सी० पी० आई० पर कांग्रेस की कठिनाइयों का अनुचित लाभ उठाने, दल की मूल आकृति को बिगाड़ने के लिए अपनी "मनहूस चालें" चलने तथा उसके "वामपन्थियों" को कमजोर

करने के आरोप लगाये।[17] उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस और जयप्रकाश नारायण की टक्कर कराने में सी० पी० आई० का निहित स्वार्थ है, और वह यह है कि वह सत्तारूढ़ दल से सौदेबाज़ी करने की और भी अच्छी स्थिति में होना चाहती है। उन्होंने दृढ़ मत प्रकट किया कि सी० पी० आई० केवल "बनी बनी की यार" है और वह कांग्रेस के एक धड़े को दूसरे से भिड़ा कर स्वयं सत्ता हथियाने के चक्कर में है। एक कांग्रेसी संसत्सदस्य कृष्ण कान्त ने तो यहाँ तक कह दिया कि सी० पी० आई० का वास्तविक अभिप्राय, श्रीमती इन्दिरा गांधी को सत्ता से अपदस्थ करना है। उनका कहना था कि प्रधान मन्त्री को जयप्रकाश नारायण नहीं वरन् सी० पी० आई० अपदस्थ करना चाहती है। 12 जनवरी, 1975 को बोर्डी (महाराष्ट्र) में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की एक सभा में भाषण करते हुए केन्द्रीय कृषिमन्त्री, जगजीवन राम ने "उन पाखण्डियों" के प्रति गहरा रोष प्रकट किया जो कांग्रेस में घुस आए हैं और सच्चे कांग्रेसियों के समान व्यवहार का दिखावा कर रहे हैं। उनका प्रहार साम्यवादियों पर था। श्री जगजीवन राम के मतानुसार सी० पी० आई० कांग्रेस को हानि पहुँचा कर अपना फ़ायदा करना चाहती थी और सत्ता में कांग्रेस की भागीदार बनने की उसकी चाल से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कांग्रेस को अकेले सत्तारूढ़ नहीं होने देना चाहती। उत्तर प्रदेश के दो कांग्रेस संसत्सदस्यों, नवलकिशोर और एम० पी० शुक्ला ने "कुछ आत्मश्लाकी प्रगतिवादी कांग्रेसियों की" आलोचना करते हुए कहा कि "वे सी० पी० आई० की ढकोसलेबाज़ी को प्रोत्साहन देते हैं" और कांग्रेस को सी० पी० आई० के श्रीमती गांधी व उनकी सरकार को अपदस्थ करने के "जघन्य" लक्ष्य के प्रति चेतावनी दी। दोनों संसत्सदस्यों का कहना था कि "कपटपूर्वक सत्ता हथियाना तो उनकी युगों पुरानी चाल है और यही उनका स्वप्न भी है। अब भी समय है कि कांग्रेसी नेता सी० पी आई० का सही देखें और ऐसे अविश्वसनीय और अवसरवादी मित्रों से सम्बन्ध रखने के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करें।" केन्द्रीय सरकार में निर्माण एवं आवास राज्यमंत्री मोहन धारिया ने अपने सार्वजनिक भाषणों में अनेक बार याद दिलाया कि सी० पी० आई० कांग्रेस व अन्य राजनीतिक दलों में लड़ाई करवाने और स्वयं कांग्रेस पार्टी के भीतर मन मुटाव पैदा करने की "मनहूस कुटिलता" कर रही है। अनेक अन्य नेता भी सी०पी० आई० द्वारा कांग्रेस के माध्यम से सत्ता हथियाने की चालों से चिन्तित थे पर उन्होंने सी० पी० आई० की खुल कर आलोचना कदाचित इसलिए नहीं की कि उन्हें कांग्रेस के उच्च पदाधिकारियों की कृपा से

[17]विस्तृत अध्ययन के लिये 19 जनवरी, 1975 के *The Times of India* का पृष्ठ 5 देखिये।

वंचित हो जाने का डर था।[18]

कांग्रेस के सी० पी० आई० समर्थक धड़े की माँग थी कि कांग्रेस सी० पी० आई० मित्रता के आलोचकों को अनुशासन सिखाया जाए और उन्हें अनर्गल प्रचार करने से रोका जाए। श्रीमती गांधी पूर्ववत् सी० पी० आई० के सहयोग और समर्थन का स्वागत करती रही, क्योंकि उन्हें जयप्रकाश नारायण का सामना करने के लिए उसकी आवश्यकता थी। "सी० पी० आई० के सदस्यों की कांग्रेस में घुसपैठ" की दुहाई देने वालों को फटकारते हुए उन्होंने कहा कि कांग्रेस में "ग्राह्यता" है और वह अपने सदस्यों को स्वतंत्र विचार रखने की पर्याप्त छूट देती है। उन्होंने सी० पी० आई० के सदस्यों द्वारा बहुधा प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों "फासिज़्म", "दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया" और "वामपंथी अभियान" को अपने आलोचकों के प्रति इस्तेमाल किया।

सी० पी० आई० का दसवाँ अधिवेशन (Tenth Congress of the CPI)

सी० पी० आई० का दसवाँ अधिवेशन 27 जनवरी, 1975 को विजयवाड़ा में आरम्भ हुआ। दस दिन के विचार-विमर्श के दौरान सी० पी० आई० की कुछ स्पष्ट नीतियाँ और उद्देश्य सामने आए। एक यह कि देश की तात्कालिक आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों से सी० पी० आई० को यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस की सरकारें देश की अनेक समस्याओं को समझाने और अपने आश्वासन पूरे करने के सर्वथा अयोग्य हैं, अत: जहाँ तक हो सके अधिकतम राज्यों में केरल जैसी सरकारें बनाई जाएँ और केन्द्र में कांग्रेस के प्रतिवादियों सहित वामपंथी और लोकतान्त्रिक शक्तियों की एक सरकार बनाई जाए जिसमें "दक्षिणपंथी तत्व बिल्कुल न हो।" भारतीय समाचारपत्रों और कांग्रेस के सी० पी० आई० विरोधी धड़े ने इसका यह अर्थ लगाया कि सी० पी० आई० श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार को अपदस्थ करने का लक्ष्य बना रही है। दूसरे, ऐसी मिली-जुली सरकारों में केवल प्रगतिवादी और लोकतंत्रीय कांग्रेसी ही नहीं अपितु मध्यपंथी कांग्रेसी भी शामिल किये जाएँगे क्योंकि इन मध्यपंथियों के कारण ही देश पूँजीवादी की ओर अग्रसर हुआ और उन्हें उस मार्ग से हटाना आवश्यक प्रतीत होता था। इसका यह अर्थ निकाला गया कि सी० पी० आई० को तीन धड़ों में विभाजित करने का प्रयत्न करेगी, अर्थात् प्रगतिवादी, मध्यपंथी और प्रतिक्रियावादी—प्रतिक्रियावादियों का सफ़ाया करेगी और मध्यपंथियों को अपने प्रभाव में ले आएगी क्योंकि कांग्रेस के भीतर उनका बहुत प्रभाव था।

[18]मोहन धारिया को श्रीमती गांधी ने 3 मार्च, 1975 को अपनी मन्त्रिपरिषद से पदच्युत कर दिया। उनके प्रति लगाए गए आरोपों में एक आरोप यह भी था कि वे बार-बार कांग्रेस एवं सी० पी० आई० का गठजोड़ समाप्त करने का आग्रह करते थे। इसके फलस्वरूप कांग्रेसी नेताओं को कांग्रेस व सी० पी० आई० के परस्पर सम्बन्धों के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ा। देखो *The Statesman*, 16 मार्च, 1975, पृ० 1.

तीसरे, सी० पी० आई० के नेता जे० पी० के आन्दोलन की निन्दा करते थे और कहते थे कि उनके आन्दोलन को असफल बनाना उनका मुख्य उद्देश्य है और कांग्रेस में जे० पी० के प्रभाव को समाप्त करने की आवश्यकता है।[19] चौथे, सी० पी० आई० यह बिल्कुल नहीं मानती थी कि भारत में गृहयुद्ध की स्थिति विकसित हो रही है, वरन् उसका यह दृष्टिकोण था कि अब भी संसदीय विचारों और संविधान की मर्यादा में रह कर कठिनाइयों पर विजय पाने की बहुत गुंजाइश है। विशेषतः डांगे का कहना था कि पिछले पच्चीस वर्षों में यद्यपि पर्याप्त तकनीकी और औद्योगिक प्रगति हुई है पर अभी बहुत काम करने की आवश्यकता है, जिसके लिए सरकार की "वर्तमान त्रुटिपूर्ण नीतियों" को नई दिशा प्रदान करनी होगी। पाँचवें सी० पी० आई० अधिवेशन द्वारा आर्थिक मोर्चे सम्बन्धी कुछ "अनिवार्य काम (definite tasks)" अंगीकार किये गए। इनमें देश भर में खाद्यान्नों एवं अन्य अनिवार्य प्रयोग की वस्तुओं के वितरण के लिए ठोस वितरण व्यवस्था स्थापित किए जाने तथा खाद्यान्नों के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण और उत्पादनों पर वर्गीकृत लेवी व्यवस्था तथा छोटे किसानों की छूट संबंधी आन्दोलन सम्मिलित थे। दल ने किसानों को उर्वरक कीटनाशक औषधियाँ एवं अन्य आवश्यक कृषि सामग्री नियंत्रित दामों पर दिये जाने तथा खाद्यान्नों की उचित मूल्य नीति द्वारा न्यायसंगत दान दिये जाने के लिए आन्दोलन करने का भी निश्चय किया। सी० पी० आई० चाहती थी कि सरकार सौ-सौ रुपये के नोटों का चलन बन्द करे, कर वसूली की कार्यविधि आसान करे, कर की चोरी करने वालों को कठोर दंड दे, तस्कर व्यापारियों की सम्पत्ति कुर्क करे और चीनी तथा वस्त्रोद्योग इत्यादि उपभोक्ता उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करे।

सी० पी० आई० अधिवेशन में सी० पी० एम० से एकता सम्बन्धी वार्ता आरम्भ करने का भी निर्णय किया गया। दल में 1964 के विग्रह के बाद, दोनों साम्यवादी दल पूर्णतः पृथक हो गए थे और बहुत समय तक उनमें सम्पर्क समाप्त रहा। पर अप्रैल 1969 में सी० पी० आई० नेशनल कॉन्सिल ने सभी वामपंथी दलों की एक राष्ट्रीय ताल-मेल समिति स्थापित करके सी० पी० एम० को संसद में एक संयुक्त साम्यवादी गुट में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया था। किन्तु मार्क्सवादियों ने उस समय "सिद्धान्तहीन साम्यवादी एकता की बातों" को अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि "साम्यवादी दल में फूट पड़ने के मूल कारण अभी विद्यमान एवं सक्रिय थे।" सी० पी० एम० के अड़ियलपन के कारण, मई 1970 में सी० पी० आई० राष्ट्रीय परिषद ने

[19]सी० पी० आई० के अध्यक्ष डांगे का कहना था कि जयप्रकाश नारायण और उनके अनुयायी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और आनन्दमार्गियों की तरह "कत्ल की कूटनीति" का अनुसरण कर रहे हैं। अपने कथन के समर्थन में उन्होंने कहा कि रेल मंत्री ललित नारायण मिश्रा ने जब जयप्रकाश नारायण के "पूर्ण क्रान्ति" आन्दोलन की निन्दा की तो उसके शीघ्र बाद उसकी हत्या कर दी गई। देखो *The Times of India*, 7 जनवरी, 1975, पृ० 5.

यह निर्णय किया था कि सी० पी० एम० "वाम और लोकतन्त्रीय धड़ों की एकता" से बाहर है। कुछ वर्षों बाद जब सी० पी० एम० का झुकाव जनसंघ, संगठन कांग्रेस, स्वतंत्र पार्टी और डी० एम० के० की ओर प्रतीत होने लगा और उसके सुन्दरैया और ज्योति बसु इत्यादि नेता जयप्रकाश नारायण एवं बीजू पटनायक जैसे "प्रतिक्रियावादी" नेताओं से मेल-जोल बढ़ाने लगे तो सी० पी० आई० को ऐसा अनुभव होने लगा कि राजनीतिक स्तर पर सी० पी० एम० के साथ संयुक्त मोर्चा नहीं बनाया जा सकेगा।[20] अगस्त 1973 में सी० पी० एम० ने निश्चय किया कि वह "एक दल की तानाशाही" और "एक नारी के निरंकुश शासन" के विरुद्ध लड़ाई में "प्रतिक्रियावादी" शक्तियों के साथ मिलकर योजनाएँ नहीं बनाएंगे। इस निर्णय से प्रेरित होकर सी० पी० आई० नेता पुनः "वामपंथियों" से एकता का राग अलापने लगे। 23 सितम्बर, 1973 को भटिण्डा में अखिल भारतीय किसान सभा के सम्मुख भाषण करते हुए राजेश्वर राव ने कहा कि यदि सी० पी० एम० कांग्रेस के "प्रगतिवादियों" को "राजनीतिक अछूत" समझना बंद कर दे और अपना यह विश्वास त्याग दे कि वर्तमान सरकार को अपदस्थ किये बिना जनता के लिए कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता तो उनके दल का सी० पी० एम० के साथ मित्रता करने का मार्ग साफ़ हो जाएगा।

1974 में, कांग्रेस को, जो सी० पी० आई० की मित्र थी, अनेक विपक्षी दलों की भीषण चुनौतियों का सामना करना पड़ा जिनका नेतृत्व जयप्रकाश नारायण कर रहे थे। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर तथा यह समझ कर कि कांग्रेस के साथ मिल कर अथवा उसके बिना सरकारी सत्ता हथियाने का समय आ गया है सी० पी० आई० ने अपने दसवें अधिवेशन में एक राजनीतिक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ "दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया" और "जवाबी क्रान्ति" से लड़ने के लिए सभी "वामपन्थी" और प्रजातान्त्रिक शक्तियों की विशालतम एकता स्थापित करने के सामयिक महत्त्व की रूपरेखा निर्धारित की। यह भी फैसला किया गया कि मार्क्सवादियों को वापस वाम तथा लोकतान्त्रिक प्रभाव में लाने के लिए उनसे वार्ता आरम्भ की जाए। सी० पी० आई० के अध्यक्ष डांगे ने सी० पी० एम० से अपील की कि यदि वह असली वामपन्थी-दल होने का दावा करती है तो "जवाबी-क्रांति" को परास्त करने के लिए वर्तमान आन्दोलन में शामिल हो जाए। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह प्रतीत होती थी कि सी० पी० आई० कांग्रेस और जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन का जो मूल्यांकन करती थी वह सी० पी० एम० नेताओं द्वारा किये गए मूल्यांकन से एकदम भिन्न था। इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए सी० पी० आई० के अनुयायियों को आदेश दिया गया कि वे स्थानीय स्तर पर सी० पी० एम० के अनुयायियों और जनता से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखें क्योंकि सी० पी० एम० नेताओं की "अवसरवादी" नीतियों के कारण उन्हें गम्भीर विचारधारा संकट का सामना करना पड़ा है।

[20] *The Hindustan Times*, 22 मार्च, 1973, पृ० 4.

विग्रह के बाद भारतीय साम्यवादी (मार्क्सवादी) पार्टी की स्थिति (The CPI (M) After the Split)

सी० पी० एम० की स्थापना के बाद भारत सरकार की यह सामान्य धारणा थी कि नया साम्यवादी-दल पीकिंग का अनुयायी बनेगा और साम्यवादी चीन की प्रेरणा और समर्थन से एक हिंसक क्रान्ति द्वारा कांग्रेस सरकार का तख्ता पलटने के प्रयत्न करेगा। तत्कालीन केन्द्रीय गृहमन्त्री गुलज़ारी लाल नन्दा ने 1 जनवरी, 1965 को अपने आकाशवाणी प्रसारण में कहा कि "यह विश्वास करने के कारण मौजूद हैं कि नया दल पीकिंग की प्रेरणा द्वारा स्थापित किया गया है, वह देश में अस्थिरता लाने के लिए तथा एशिया में अपना प्रभुत्व जमाने के प्रयत्नों में तथा उसके विश्वक्रान्ति के लक्ष्य की पूर्ति में पीकिंग के एक उपकरण का काम करेगी, कि उसने अनेक विदेशी-पत्रक बाँटे हैं जो स्पष्ट रूप से भारत-विरोधी एवं चीन-समर्थक हैं और चीन की सरकार भारतीय साम्यवादी दल से यह आशा करती थी कि जब चीन भारत पर आक्रमण करे उन्हीं दिनों साम्यवादी दल तोड़-फोड़ की कार्रवाई करे ताकि भारत सरकार को सब ओर से कठिनाई उत्पन्न हो, कि सी० पी० एम० ने कलकत्ता अधिवेशन (31 अक्तूबर से 7 नवम्बर, 1964 तक) जो कार्यक्रम बनाया था वह 1948 में सी० पी० आई० के द्वितीय अधिवेशन में स्वीकृत राजनीतिक प्रस्ताव से बिलकुल मिलता-जुलता था जिसके बाद साम्यवादी दल ने सरकार का तख्ता उलटने के लिए हिंसापूर्ण क्रान्ति का मार्ग अपनाया और सी० पी० एम० का उद्देश्य एक ऐसी आन्तरिक क्रान्ति विकसित करना था जो नये चीनी आक्रमण के समय विस्फुटित हो कर ऐसी कठिनाई उत्पन्न करे जिससे भारत की लोकतन्त्रीय सरकार नष्ट हो जाए ...यह आशा 1962 में क्रियान्वित न हो सकी।[21]

भारत सरकार द्वारा सी० पी० एम० के अनुयायियों की गिरफ्तारियाँ (Indian Government Detains CPM Followers)

जिस दिन नन्दा ने आकाशवाणी पर उपर्युक्त वक्तव्य दिया उसी दिन सरकार ने सी० पी० एम० के 900 अग्रिम कार्यकर्त्ताओं की, भारत रक्षा नियमों के अधीन गिरफ़्तारी का आदेश दिया। इन व्यक्तियों में सी० पी० एम० के लगभग सभी नेताओं के नाम भी सम्मिलित थे। अधिकतर बड़े-बड़े नेताओं को त्रिचूर (केरल) में गिरफ़्तार किया गया जहाँ वे 3 जनवरी, 1965 को आरम्भ होने वाले सर्वहारा अधिवेशन में भाग लेने गए थे। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष एस० एस० मिराजकर को त्रिचूर जाते हुए मार्ग में ही गिरफ़्तार कर लिया गया। ज्योति बसु और नम्बूदरीपाद को इसलिए गिरफ़्तार नहीं किया गया कि उन्होंने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था कि

[21]पूर्ण विवरण के लिए देखो सिन्हा की पुस्तक, *The Red Rebel in India* (भारत में लाल क्रान्ति), पृ० 186-88.

चीन ने भारत पर आक्रमण किया है। दल के महासचिव सुन्दरैया की गिरफ़्तारी के कारण नम्बूदरीपाद कार्यवाहक महासचिव बने।

सी० पी० एम० का स्वतन्त्र रवैया (CPM Adopts Independent Posture)

सी० पी० एम० के अनुयायियों की गिरफ़्तारी के कुछ सप्ताह बाद नम्बूदरीपाद ने घोषित किया कि उनके दल ने मास्को और पीकिंग के विचारधारा सम्बन्धी विवाद के सम्बन्ध में कोई रवैया नहीं अपनाया था और यदि उनके दल के किसी व्यक्ति ने इस सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त किए हों तो उन्हें केवल उस व्यक्ति के निजी विचार माना जाएगा। नम्बूदरीपाद के यह रवैया अपनाने का कदाचित् यह कारण था कि उनके सभी साथी जेल में थे और वे उनसे परामर्श किए बिना कोई निर्णय नहीं लेना चाहते थे। जब कि सी० पी० एम० नेताओं ने सोवियत संघ और चीन के विचार-धारा सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रश्नों पर निर्णय लेने के प्रश्न को टाल दिया उनके सामने यह समस्या विद्यमान थी कि भारत के प्रति चीन की बढ़ती हुई शत्रुता की पृष्ठभूमि में वे चीन के प्रति क्या रवैया अपनाएं। सितम्बर 1965 में भारत-पाक युद्ध के समय चीन ने भारत को आक्रमणकारी बताया। चीन सरकार ने कश्मीरी जनता के "आत्मनिर्णय के अधिकार" का समर्थन करते हुए भारत को घुड़की दी कि यदि उसने कश्मीरियों का दमन किया तो चीन सिक्किम-तिब्बत-भारत सीमा पर आक्रमण द्वारा हस्तक्षेप करेगा। पीकिंग रेडियो और प्रेस ने यह प्रचार करना शुरू किया कि नगा और मिज़ो अपनी स्वतन्त्रता के लिए भारत से संघर्ष कर रहे हैं और उनका संघर्ष न्यायोचित एवं उपयुक्त है। चीन ने यह भी प्रचार किया कि पाकिस्तान साम्राज्यवाद का विरोधी है और भारत पश्चिमी साम्राज्यवाद एवं पूंजीवाद का पृष्ठपोषक है। सी० पी० एम० नेताओं ने चीन के उपर्युक्त प्रचार के लिए दबे शब्दों में उसकी निन्दा की। उनके इस कृत्य से ऐसा प्रतीत होता है कि शायद वे भारत एवं चीन के सम्बन्धों में अधिक तनाव नहीं आने देना चाहते थे।

सी० पी० एम० द्वारा बन्द का आयोजन (CPM Organizes Bandhs)

जो सी० पी० एम० नेता जेल से बाहर थे उन्होंने देश के भीतर जो कार्रवाई शुरू की उसे "विद्रोह अथवा क्रान्ति का पूर्वाभ्यास" कहा जा सकता है। 1964 से 66 तक उसने सी० पी० एम० के सदस्यों की रिहाई, उपभोक्ता वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्यों, खाद्यान्नों की कमी, भाषा और बेरोज़गारी इत्यादि के नाम पर देश के विभिन्न भागों में कामगारों और किसानों के प्रदर्शन और हड़तालें, बन्द आयोजित किए। स्कूलों व कॉलेजों के छात्र-छात्राओं का खुल कर उपयोग किया गया तथा उनकी अपरिपक्व बुद्धि एवं ओछी समझ-बूझ का देश में साम्यवादी आन्दोलन के विकास के लिए खूब उपयोग किया गया। बन्द मुख्यतः पश्चिमी बंगाल गुजरात, तमिलनाडु, बिहार, केरल राजस्थान और उत्तर प्रदेश में आयोजित किए गए। इन सब का उद्देश्य अन्ततः वर्न-

मान शासन-प्रणाली का तख्ता उलटकर उसके स्थान पर मार्क्स-लेनिनवादी सिद्धान्तों पर शासन-प्रणाली स्थापित, करना था। ये "वन्द" अपने उद्देश्य में पूर्णत: असफल रहे और कांग्रेस सरकारों ने उन्हें सफलतापूर्वक दवा दिया।

सी० पी० एम० पुन: संसदीयता की ओर (CPM Returns to Parliamentarianism)

सी० पी० एम० ने देश में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न करके शासन तन्त्र को कुण्ठित करने के प्रयत्न किए पर उसे सफ़लता नहीं मिली। अत: दल के नेता किसी नयी सामयिक नीति के विषय में सोचने लगे। इसी वीच 16 फरवरी, 1966 को उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए एक फैसले के परिणामस्वरूप अधिकतर सी० पी० एम० नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को जेलों से मुक्त कर दिया गया। इन सव ने पुन: राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया। पर्याप्त विचार-विमर्श और वहस के वाद दल ने यह फैसला किया कि चौथे आम चुनावों में भाग लिया जाए और यह सिद्ध कर दिया जाए कि सी० पी० एम० देश का असली साम्यवादी दल है। 24 अक्तूवर को सी० पी० एम० का चुनाव उद्देश्य पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें देश में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शान्तिपूर्ण उपाय करने पर वल दिया गया। लोक सभा के चुनाव में सी० पी० एम० को 19 स्थान एवं राज्य सरकारों में 127 स्थान प्राप्त हुए। विभिन्न राज्यों में इसकी स्थिति इस प्रकार थी—मद्रास 11, महाराष्ट्र 1, उड़ीसा 1, पंजाब 3, उत्तर प्रदेश 1, पश्चिम-वंगाल 43, त्रिपुरा 2, केरल 52।

राज्य विधान सभाओं के चुनाव परिणामों से यह स्पष्ट हो गया कि यद्यपि सी० पी० आई० को किसी राज्य में भी वहु स्थान नहीं मिले थे पर सी० पी० एम० केरल में सबसे वड़े एकल दल के रूप में, और पश्चिम बंगाल ने दूसरे दल के रूप में प्रकट हुई क्योंकि केरल में इसको 133 में से 52 स्थान और पश्चिम बंगाल में 280 में से 43 स्थान प्राप्त हुए। केरल में सी० पी० एम० नेता नम्बूदरीपाद ने पाँच अन्य वामपक्षी दलों को साथ मिला कर 5 मार्च, 1967 को एक संयुक्त मोर्चा सरकार वनाई और पश्चिम वंगाल में सी० पी० एम० वंगाल कांग्रेस नेता अजॉए मुखर्जी की संयुक्त मोर्चा सरकार में सहायक साझीदार वन गए। सी०पी० एम० नेता ज्योति वसु उप-मुख्य मंत्री वने।

सी० पी० एम० द्वारा भारत के लिए "माओ सिद्धान्तों" के अनुसरण का त्याग (CPM Discards "Maoist Line" for India)

साम्यवादी आन्दोलन, प्रकृति एवं क्षेत्र, दोनों ही प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय था और सभी देशों के साम्यवादी दल मास्को से पथ-प्रदर्शन एवं प्रेरणा लेते थे। 1960 में विश्व साम्यवादी आन्दोलन में दरार पड़ने के पश्चात् चीनी साम्यवादी उपर्युक्त नेतृत्व पाने की लालसा करने लगे और विभिन्न देशों के राष्ट्रीय साम्यवादी दलों में फूट डालने के प्रयत्न करने लगे ताकि दोनों में से एक वड़ा उनके प्रभाव-क्षेत्र में रहे। भारतीय

साम्यवादी दल में फूट पड़ने पर "दक्षिणपंथी" धड़ा सोवियत संघ के निकट हो गया और चीनी साम्यवादी यह आशा करने लगे कि वामपंथी गुट (सी० पी० एम०) उनसे मैत्री करेगा और भारत में साम्यवादी क्रान्ति लाने के लिए उनके बताए हुए मार्ग पर चलेगा।

लगभग दो वर्ष तक सी० पी० एम० ने दोनों बड़े साम्यवादी राष्ट्रों के विचारधारा सम्बन्धी मतभेद पर अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया। किन्तु जब उन्होंने उन मामलों पर अपनी स्थिति निर्धारित करनी शुरू की जिन पर 1960 के मास्को सम्मेलन में उन्हें विभाजित होना पड़ा था तो उन्होंने पूरी तरह रूस अथवा चीन के पद-चिन्हों पर चलने से इन्कार कर दिया। यद्यपि सी० पी० एम० चीन द्वारा सोवियत संघ के साम्यवादी दल पर लगाए गए आरोपों को बहुत सत्य मानती थी तो भी उसने चीन द्वारा सुझाए गए विकल्प स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। चीनियों का यह विश्वास था कि सोवियत संघ पूँजीवाद की ओर लौट रहा है और वह अमरीका से साँठ-गाँठ करके चीन के विरुद्ध षडयंत्र कर रहा है पर सी० पी० एम० इस पर विश्वास करने को तैयार नहीं थी। सी० पी० एम० नेताओं ने चीनियों की यह कल्पना भी मानने से इन्कार कर दिया कि मास्को और पीकिंग के मतभेदों से पश्चिमी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ लड़ाई करने के सभी अवसर समाप्त हो जायेंगे। चीनियों का यह भी विश्वास था कि भारत की बहुत सी जनसंख्या एक महान राजनीतिक विस्फोट तथा राजनीतिक पुनर्गठन की दिशा में आगे बढ़ रही है तथा सी० पी० एम० को भारत-सरकार के प्रतिक्रियावादी अधिकारियों, बड़े-बड़े जमींदारों, पूँजीपतियों और व्यापारियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए उस स्थिति का लाभ उठाना चाहिए। चीनी रेडियो और प्रेस ने भारतीय मार्क्सवादियों को देश में भीषण संघर्ष चलाने की सलाह दी। फरवरी 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव के समय चीन-सरकार ने सी० पी० एम० के नेताओं से कहा कि संसदीय उपाय भारतीय जनता की कठिनाइयाँ कभी भी हल नहीं कर पायेंगे। सी० पी० एम० ने यह सभी मशविरे अस्वीकार कर दिए और उसने चुनाव में भाग लेने के अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल और केरल में मंत्रित्व भी ग्रहण कर लिया। इससे चीनी-साम्यवादी हतप्रभ हो उठे और अप्रैल-मई 1967 में चीनी प्रेस एवं रेडियो ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि "भारत में कोई साम्यवादी दल नहीं है" और जो व्यक्ति स्वयं को साम्यवादी कहते हैं वे "प्रतिक्रियावादियों" की गुलामी स्वीकार कर चुके हैं, कि "डांगे गुट" भारतीय जनता की क्रान्ति को छलपूर्वक नष्ट करने पर तुला है, और भारत-सरकार जिससे "डांगे गुट" सहयोग कर रहा है "पहले से अधिक प्रतिक्रियावादी" पर "फिर भी अमरीकी साम्राज्यवाद और सोवियत सुधारवाद की पहले से अधिक गुलाम" है। चीनी प्रचार तंत्र ने भारतीय जनता से कांग्रेस की 'जमींदार-बुर्जुआ' सरकारों को हिंसा एवं बल प्रयोग द्वारा समाप्त करने तथा इन सरकारों के पुराने राजतंत्र को समाप्त करने का अनुरोध किया क्योंकि उसको जन आन्दोलन को दबाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। चीनी समाचारपत्रों ने यह

प्रकाशित किया गया कि सी० पी० एम० ने केरल ओर पश्चिम बंगाल में अन्य दलों के सहयोग से जो सरकारें बनाईं हैं वे मूलतः भारतीय संघ के अन्य राज्यों की सरकारों के समान ही हैं।

चीन में 1966 के उत्तरार्ध में जो "महान् सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति" आरम्भ की गयी, उसके आवेग में चीनी रेडियो व प्रेस "भारत के लिए माओ मार्गदर्शक रूपरेखा' (A Maoist Line for India) निर्धारित करने लगे जिसका तात्पर्य यह था कि सी० पी० एम० उसका अनुसरण करे और भारत के क्रान्ति आन्दोलन को उसी के अनुसार संगठित करे। "माओ रूपरेखा" उन "माओ विचारों" के अनुरूप थी जो देश विदेश में रहने वाले चीनी युवकों के मन में भरे जा रहे थे।

इस "रूपरेखा" में बताया गया था कि भारत में कांग्रेसी सरकार एकाधिकारी पूँजीवादी वर्ग एवं नौकरशाही के हितों की संरक्षक एवं परिपालक है, कि वह राष्ट्रीयता-विरोधी, बुर्जुआ एवं ज़मीदारों की सरकार है और वह उस मुफ़्तखोर वर्ग का पालन करती है जिसे अंग्रेज़ों ने स्थापित किया था।

चीनी पत्र **पीपुल्स डेली** (पीकिंग से प्रकाशित) एक लेख में यह सुझाव दिया गया कि भारतीय क्रान्ति को "किसानों पर भरोसा करने, देहात में आधार स्थापित करने, विविध प्रकार से निरन्तर सशस्त्र संघर्ष कराने तथा नगरों का घेरा डालने तथा अन्ततः उन पर अधिकार करने" का मार्ग अपनाना चाहिए। चीनी समाचार एवं प्रचार एजेंसियों द्वारा ज़ोर देकर कहा गया कि भारत के देहात में अब सत्ता हथियाने के लिए गुरिल्ला प्रकार का संघर्ष आरम्भ करने का समय आ गया है।

किन्तु सी० पी० एम० नेताओं ने "माओ रूपरेखा" की वैधता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कहा कि भारत की स्थिति का चीन ने जो मूल्यांकन किया है वह "अत्यन्त अतिश्योक्तिपूर्ण एवं काल्पनिक" है। सी० पी० एम० ने यद्यपि यह स्वीकार किया कि वह भी भारत की कांग्रेस सरकार को एक ऐसी बुर्जुआ-ज़मींदार सरकार मानती है जो विदेशी पूँजीपतियों से समन्वय एवं सहयोग करती है पर वह यह मानने को तैयार नहीं थी कि कांग्रेस सरकार राष्ट्रविरोधी है तथा उसकी विदेशी साम्राज्यवाद से साँठ-गाँठ है। सी० पी० एम० का यह भी विश्वास था कि चीनियों ने कांग्रेस सरकार के जनता में प्रभाव का जो अनुमान लगाया था वह भी बिलकुल गलत था और निकट भविष्य में देश के क्रान्तिकारी तत्वों द्वारा सरकार का तख्ता उलट सकने की कोई सम्भावना नहीं थी।

1969 के आरम्भ में चीनी साम्यवादी दल का नौवाँ अधिवेशन हुआ जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के लिए कुछ अन्य सामयिक नीतियाँ निर्धारित की गईं किन्तु सी० पी० एम० ने उनमें से अधिकतर को "बिलकुल गलत" एवं मार्क्सवाद-लेनिनवाद के वास्तविक सिद्धान्तों के विपरीत बताकर अस्वीकार कर दिया। उदाहरणतया सी० पी० एम० ने यह स्वीकार नहीं किया कि ऐसे सभी समाजवादी देश जिन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों में संशोधन करके सुधार किया है, "सुधारवादी" हो गए

हैं और समाजवादी नहीं रहे हैं। उसने यह भी स्वीकार नहीं किया कि "माओवादी विचार" ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद की वास्तविक एवं सही व्याख्या है, और केवल चीन व अल्बानिया ही समाजवादी हैं। सी० पी० एम० ने माओ-त्से-तुंग को "उस युग का नेता" स्वीकार नहीं किया "जिसमें साम्राज्यवाद पूर्ण विनाश की ओर तथा समाजवाद विश्वव्यापी विजय की दिशा में अग्रसर हो रहा है।" बाद के वर्षों में सी० पी० एम० ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि सोवियत संघ और चीन दोनों का ही रवैया भारत के "किसी भी संगठित जन क्रान्ति आन्दोलन के प्रति शत्रुतापूर्ण है।" दल की केन्द्रीय समिति के सदस्य नम्बूदरीपाद ने 10 नवम्बर, 1972 को चण्डीगढ़ में कहा कि उनके दल को देश में अपने शासन के विस्तार के लिए चीन अथवा सोवियत संघ, किसी की भी ठोस सहायता की दरकार नहीं है। केरल के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री ने कहा कि "हम केवल यह चाहते हैं कि सोवियत संघ कांग्रेस सरकार की जन-विरोधी नीतियों को राजनीतिक समर्थन प्रदान करना बन्द कर दे।"[22] नम्बूदरीपाद ने यह भी कहा कि सोवियत संघ और चीन, दोनों ही, "अमरीका को पटाने की फिक्र में हैं, ताकि वे उसे एक-दूसरे के विरुद्ध इस्तेमाल कर सकें" और इस प्रकार वे भारत एवं एशिया के अन्य देशों में क्रांति आन्दोलनों को हानि पहुँचा रहे हैं।

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि सी० पी० एम० की गणना विश्व साम्यवादी आन्दोलन के उन गिने-चुने साम्यवादी दलों में की जा सकती है जो मास्को अथवा पीकिंग किसी का भी प्रभाव सहन करने को तैयार नहीं थे। उसका विश्वास था कि भारत के क्रांति आन्दोलन को अपना मार्ग स्वयं निर्दिष्ट करना होगा और इस देश में चीनी अथवा सोवियत रूप-रेखा पर आन्दोलन चलाना उचित नहीं होगा।

सी० पी० एम० द्वारा वामपन्थी शक्तियों को संगठित करने के प्रयत्न (CPM Endeavours to Unite Leftist Forces)

सी० पी० एम० को यह विश्वास था कि भारत में समाजवाद लाने के लिए सोवियत संघ, साम्यवादी चीन अथवा सी० पी० आई०, किसी पर भी निर्भर नहीं किया जा सकता। केरल और पश्चिम बंगाल में जो संयुक्त मोर्चा सरकारें बनीं, वे शीघ्र ही अपदस्थ हो गईं। उनकी असफलता का दोष केन्द्र में श्रीमती गांधी की सरकार की कूटनीति के मत्थे मढ़ा गया पर उसका वास्तविक कारण उनके आन्तरिक मतभेद थे। इससे सी० पी० एम० को विश्वास हो गया कि समाजवाद लाने के लिए संसदीय उपायों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। 1973 के पूर्वार्ध में सामान्यतः राष्ट्रीय स्तर पर और विशेषतः पश्चिम बंगाल स्तर पर सी० पी० आई० और कांग्रेस का वैमनस्य इस सीमा तक जा पहुँचा कि सी० पी० आई० राज्य के कुछ नेताओं ने भविष्य में सहयोग की सम्भावना के लिए सी० पी० एम० के सदस्यों से सम्पर्क स्थापित

[22]देखो, *The Hindustan Times*, 11 नवम्बर, 1971, पृष्ठ 6.

कर लिया।

उसी वर्ष के सितम्बर मास में सी० पी० एम० के पालिटब्यूरो ने जब यह देखा कि अनेक जनआन्दोलनों में सी० पी० आई० ने उसके तथा अन्य "वाम" प्रजातन्त्रीय शक्तियों का साथ दिया था तो उसे बहुत सन्तोष हुआ और उसने यह आशा व्यक्त की कि अन्ततः सी० पी० आई० "शासक कांग्रेस से मित्रता की नीति का परित्याग करके वामपक्षी दलों के संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित हो जायेगी।"

सी० पी० एम० के महासचिव राजेश्वर राव ने 23 सितम्बर, 1973 को कहा कि श्रीमती गांधी की मध्यवर्ती नीतियों से जनता की समस्याओं का समाधान नहीं होगा और अब समय आ गया है कि सी० पी० एम० तथा कांग्रेस के आधुनिकतावादी तत्वों सहित सभी प्रगतिवादी एवं लोकतन्त्रीय शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाए। किन्तु सी० पी० एम० नेता अपने इस विश्वास पर अडिग रहे कि कांग्रेस सरकार को अपदस्थ किए बिना कोई भी उपलब्धि नहीं हो सकती क्योंकि उसकी नीतियों, विशेषतः कृषि सम्बन्धी नीतियों से "जनता का सर्वनाश हो रहा है।" तथापि सी० पी० एम० उस हद तक नहीं पहुँचना चाहती थी, अतः दोनों साम्यवादी धड़ों में मेल न हो सका। फरवरी, 1975 में अपने दसवें अधिवेशन में जब सी० पी० आई० ने सी० पी० एम० से पुनः वार्ता आरम्भ करने का निश्चय किया तो सी० पी० एम० ने फिर वही दृष्टिकोण अपनाया, अर्थात् सी० पी० आई० द्वारा कांग्रेस की मित्रता का परित्याग किए बिना कोई समन्वय नहीं हो सकता।

सी० पी० एम० की समाजवादी दल से मित्रता (CPM's Alliance with the Socialist Party)

सितम्बर, 1973 के तीसरे सप्ताह में सी० पी० नेताओं—पी० सुन्दरैया (महासचिव), प्रोमोद दास गुप्ता, नम्बूदरीपाद, बासवपुण्या, पी० राममूर्ति एवं हरकिशन सिंह सुरजीत ने समाजवादी दल के नेताओं—जार्ज फ़र्नेण्डीज़ (अध्यक्ष), मधु लिमे, मधु दण्डवते, प्रेम भसीन, पीटर अल्वायर्स और सुरेन्द्र मोहन से वार्ता की। इस वार्ता का उद्देश्य यह था कि दोनों दलों के एक पूर्व निश्चय के अनुसार, उनमें यथासम्भव अधिकतम मुद्दों पर एकता स्थापित की जा सके। फलतः दोनों दलों में एक प्रकार की मित्रता हो गई, जिसके मुख्य विषय निम्नलिखित थे :

(1) दोनों दल कांग्रेस सरकार की "जन विरोधी" नीतियों के विरुद्ध जन संघर्ष एवं आन्दोलन में तेज़ी लाने के लिए राज्यों के अनेक दलों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न करेंगे और एक "वैकल्पिक ठोस काल-मर्यादित कार्यक्रम" तैयार करके उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित करेंगे।

(2) इस कार्यक्रम के एक अंश के रूप में, दोनों दलों ने अन्य आधुनिकतावादी दलों एवं जन संगठनों के परामर्श से राष्ट्रव्यापी बन्द व हड़ताल आयोजित करने का निश्चय किया।

(3) इस 'मैत्री' के भागीदारों ने सार्वजनिक वितरण व्यवस्था में अनाज व चीनी के भाव न बढ़ने देने का निश्चय किया तथा यह भी निश्चय किया कि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के बाहर जो भी अन्न होगा उसे जमाखोरों व भू-स्वामियों से बल-पूर्वक लेकर "अधिकतम एक रु० प्रति किलो" मूल्य पर बेच दिया जायेगा।

(4) दोनों दलों ने जिस अभिलेख पर संयुक्त रूप से हस्ताक्षर किए, उसमें लिखा गया था कि कांग्रेस अपने एकलदलीय शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए अलोक-तन्त्रीय मार्ग अपना रही है। अभिलेख में यह भी कहा गया था कि निर्वाचन के परि-णामों से जनमत प्रतिबिम्बित नहीं होता, अतः चुनाव पद्धति में सुधार की आवश्य-कता है। साथ ही अनुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रावधान किया जाना चाहिए और 18 या 18 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों को चुनाव का अधिकार दिया जाए।

(5) "राज के वर्तमान लक्षणों" के विषय में इस अभिलेख में कहा गया कि सर-कार पूँजीवाद को बढ़ावा दे रही है और सार्वजनिक क्षेत्र भी पूँजीवादी के विकास में सहायता कर रहा है तथा ज़मींदारी उन्मूलन के बाद एक नये प्रकार के बड़े ज़मींदारों ने कृषि में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली है। स्वतन्त्रता के बाद राज के परिरक्षण में नौकरशाही वर्ग ने एक निहित स्वार्थ विकसित कर लिया है। दोनों दलों का कहना था कि राज के इन लक्षणों को चिरस्थायी बनाने में कांग्रेस एक मुख्य उपकरण का कार्य कर रही है।

(6) विदेश नीति के प्रश्न पर दोनों दलों में मौलिक मतभेद था। समाजवादी दल सोवियत संघ से मैत्री सम्बन्ध विकसित करने के "विरुद्ध" नहीं था पर वह भारत-सोवियत सन्धि के विरुद्ध था क्योंकि वह तटस्थता की नीति के प्रतिकूल थी और उससे भारत के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में फंसने तथा चीन-भारत सम्बन्ध बिगड़ने का खतरा था। किन्तु सी० पी० एम० का कहना था कि इस सन्धि से भारत को साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा उसके आर्थिक विकास में सहायता मिली है। अतः उसके विचार में सन्धि की रक्षा करने तथा भारत-सोवियत सम्बन्धों को और अधिक मज़-बूत बनाने के सभी प्रयत्न करना आवश्यक था। साथ ही उसका कहना था कि साम्य-वादी चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नये सिरे से प्रयत्न किए जाने चाहिएँ।

सी० पी० एम०, जनसंघ, संगठन कांग्रेस और स्वतन्त्र पार्टी से "संसदीय मंच पर भी" मेल करने को तत्पर नहीं थी पर उसने इन दलों की एकता को एक "राज-नीतिक संयुक्त मोर्चे" में परिणत करके उसे कांग्रेस का एक आत्मनिर्भर विकल्प बनाने का विचार किया। अक्तूबर 1974 में दल के दो प्रमुख नेताओं, सुन्दरैया और नम्बूदरीपाद ने कहा कि यदि (जनसंघ व कुछ अन्य "दक्षिणपन्थी" दलों के अतिरिक्त) अन्य राजनीतिक दल कांग्रेस की नीतियों के विरुद्ध जन संघर्ष में सम्मिलित होना

चाहेंगे, तो उन्हें उनके साथ चुनाव समझौते करने में कोई आपत्ति न होगी।[23] सी० पी० एम० नेताओं ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि देश में जो स्थिति इस समय विद्यमान है, उसमें "वाम" एवं "लोकतान्त्रिक" शक्तियों के सामने केवल दो मार्ग हैं : वह यह कि या तो कांग्रेस सरकार को अपने "हिंसा व दमन" के मार्ग पर चलने दें और उसे अपनी रक्षा के लिए सदैव साम्राज्यवाद पर निर्भर करने दें, अथवा सरकार की एकाधिकार समर्थक, भूस्वामी समर्थक और साम्राज्यवाद समर्थक नीति का विरोध किया जाये। सी० पी० आई० की तीव्र आलोचना करते हुए वासवपुण्या ने कहा कि जो भी थोड़ा वहुत विकल्प सामने आता है, श्रीमती गांधी उसे नष्ट करने पर तुली हुई हैं, सी० पी० आई० एक प्रेरक की भूमिका निभा रही है जो केवल विपरीत फलदायक ही नहीं, अपितु विपरीत क्रान्तिकारी भी है। 1974 में जब जयप्रकाश नारायण ने सरकार की "जन विरोधी नीतियों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया, तब सी० पी० एम० ने देश भर में क्रान्ति की ज्वाला भड़काने के लिए "पूर्ण समर्थन" देने का निर्णय किया। किन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि जनसंघ जैसे दलों के कारण, जिनसे उसके विचारधारा सम्बन्धी मतभेद हैं, जयप्रकाश नारायण की पृष्ठपोषक विपक्षी समिति की सदस्य नहीं बनेगी। तदपि सी० पी० एम० ने वचन दिया कि समिति के बाहर देश भर के मार्क्सवादी जयप्रकाश के "महान् एवं न्यायपूर्ण संघर्ष" में उनका साथ देंगे, और उनका संघर्ष वहुत दिनों तक चलेगा।

नक्सलबाड़ी किसानों का विद्रोह (Naxalbari Peasants Uprising)

सी० पी० एम० के कुछ उग्रपन्थी नेता, दल के संसदीयता की ओर झुकाव और समाजवाद लाने के लिए शान्तिपूर्ण प्रयत्नों से खुश नहीं थे। वे "माओ विचारों" और भारत के लिए "माओ द्वारा निर्धारित मार्ग" से अत्यधिक प्रभावित थे। 2 मार्च, 1967 को पश्चिम बंगाल में एक संयुक्त मोर्चा मंत्री मण्डल को शपथ दिलवाई गई जिसमें सी० पी० एम० नेता भी शामिल थे। इससे उपर्युक्त उग्रपंथी नेताओं को विश्वास हो गया कि सी० पी० एम० क्रान्तिविरोधी होती जा रही है। ऑल इण्डिया किसान सभा (सी० पी० एम० की कृषक संस्था) के महासचिव हरेकृष्ण कोनार ने जो एक पीकिंग समर्थक नेता थे और सी० पी० एम० पालितब्यूरो के सदस्य भी थे, अगले ही दिन सभा की बैठक बुलाई। इस सभा में यह निर्णय किया गया कि संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल किसी भी भूमि सम्बन्धी समस्या का समाधान नहीं कर सकेगा, अत: किसानों को भूमियों पर कब्ज़ा कर लेना चाहिये, चाहे वे सरकार की हों अथवा किन्हीं व्यक्तियों की निजी भूमियाँ हों। इस मामले में पहल करने की ज़िम्मेदारी नक्सलवाड़ी के किसानों को सौंपी गई। यह पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग ज़िले के सिलीगुड़ी सब डिवीज़न में 25 वर्ग मील का एक छोटा सा प्रदेश था। इसे इसकी

[23]*The Times of India*, 21 अक्तूबर, 1974, पृष्ठ 10.

महत्त्वपूर्ण सामरिक एवं भौगोलिक स्थिति के कारण ही कृषक विद्रोह का आरम्भ करने के लिए चुना गया। यह पूर्वी पाकिस्तान की सीमा से 14 मील, नेपाल की सीमा से 4 मील और चीन के एक प्रान्त तिब्बत से 60 मील दूर था। योजना इस प्रकार थी कि यदि भारत व पश्चिम बंगाल सरकार विद्रोहियों को गिरफ़्तार करने या दबाने का प्रयत्न करे तो वे भाग कर किसी भी उपर्युक्त देश में चले जाएं। इन उग्रपंथियों को चीन से हथियार एवं गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण मिलने की भी आशा थी। इसके अतिरिक्त असम, नागालैंड, मिज़ोरम, मणिपुर, त्रिपुरा और नेफ़ा का शेष भारत के साथ सम्पर्क इसी मार्ग से होता था और इस पर विद्रोही गुट का अधिकार हो जाने से उन राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के शेष भारत से कट जाने की बहुत आशंका थी। नक्सलवाड़ी और खड़ीबाड़ी और फाँसीदेवा के किसानों ने सरकारी और भू-स्वामियों की निजी भूमियों पर कब्ज़ा कर लिया और उनके स्वामियों को जबरदस्ती निकाल कर, फ़सलें काट लीं, भूस्वामियों से गोली-बारूद, धन और अन्न छीन कर "जनता के न्यायालय" स्थापित किए।

नक्सलवाड़ी में आतंक और हिंसा का साम्राज्य स्थापित हो गया और वहाँ सरकार की सत्ता का प्रवर्तन समाप्त हो गया। थोड़े ही समय में यह हिंसा और अराजकता असम, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब और मध्य प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में फैल गई। दूर-दूर तक पुलिस और पुलिस थानों पर हमले हुए, दुकानें लूटी गईं, ज़मींदारों और धनी किसानों की हत्याएँ की गईं तथा सरकारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति नष्ट की गई। घेराव, हड़तालें और बन्द आयोजित किये गए। माओ-साहित्य और चीनी साम्यवादी दल के इश्तहार खुले आम बाँटे गए। पश्चिम बंगाल के नगरों की गलियों में किशोर और किशोरियाँ, "माओ-त्से-तुंग लाल सलाम, लाल चीन लाल सलाम" के नारे लगाते फिरते थे।

इन विद्रोहियों का नाम नक्सलाइट (नक्सलवादी) पड़ गया और चीनी रेडियो व प्रेस ने तुरन्त उन्हें नेतृत्त्व प्रदान करना शुरू कर दिया। उन्हें बताया गया कि सी० पी० आई० ने 1046-51 के तेलंगाना संघर्ष में विश्वासघात किया, और अब सी० पी० एम० नक्सलवादी क्रान्ति के साथ भी वही करने जा रही है, कि केरल और पश्चिम बंगाल के सी० पी० एम० नेता वहाँ की बुर्ज़ुआ ज़मींदार सरकारों से सहयोग करने लगी है कि भारत के 'प्रतिक्रियावादियों' के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष, भीषण और हिंसा-पूर्ण होना चाहिये, और भारतीय क्रान्तिकारियों को माओ सिद्धान्तों के अनुसार एक पृथक राजनीतिक दल बनाना चाहिये। 28 जून, 1967 को पीकिंग रेडियो पर "दार्जिलिंग कृषक विद्रोह" पर एक रिपोर्ट प्रसारित की गई जिसमें कहा गया कि नक्सलवाड़ी की कृषक-क्रान्ति ने यह दिखा दिया है कि "भारतीय जनता ने चेयरमैन माओ द्वारा बताये गए क्रान्तिकारी मार्ग पर चलना सीख लिया है।" प्रसारण के अनुसार यह मार्ग "क्रान्तिकारी-साम्यवादियों" द्वारा गाँवों में मूल केन्द्र स्थापित करना, गाँवों में अधिकतम फ़ौज का दबाव रखना और नगरों को चारों ओर से घेर कर उन पर

अधिकार कर लेना था। इसके चार दिन बाद पीकिंग रेडियो ने नक्सलवाड़ी की घटनाओं का वर्णन करते हुए, उन्हें माओ-त्से-तुंग के मार्गदर्शन में आरम्भ किये गए भारतीय क्रान्तिकारी सशस्त्र संघर्ष का पहला कदम बताया। रेडियो ने नक्सलवाड़ी के विद्रोही किसानों द्वारा शुरू की गई सशस्त्र क्रान्ति को चेयरमैन माओ-त्से-तुंग के विचारों की "एक चिंगारी" बताया जो भारत में जल रही है। चीनी रेडियो ने बार-बार भारतीय जनता से माओ के मार्गदर्शन पर चल करके श्रीमती गांधी की सरकार-का तख्ता उलटने का अनुरोध किया।

उग्रपंथियों का सी० पी० एम० से निष्कासन (Extremists are Expelled from the CPM)

सी० पी० एम० नेता अपने अनुयायियों की कुछ नई गतिविधियों से परेशान थे। वे नक्सलवाड़ी का जो मूल्यांकन करते थे वह पीकिंग द्वारा किये गए मूल्यांकन से बिलकुल भिन्न था। इसके अतिरिक्त वह यह नहीं चाहते थे कि भारत का क्रान्ति-संघर्ष किसी विदेशी शक्ति की छत्रछाया में संचालित किया जाए और क्योंकि नक्सलबाड़ी गतिविधियों को पीकिंग से निर्देष एवं प्रेरणा प्राप्त होते थे उन्होंने सारे मामले पर विचार करने के लिए 6 से 11 अप्रैल, 1968 तक बर्दवान (पश्चिम बंगाल) में दल की केन्द्रीय समिति का एक खुला अधिवेशन आयोजित किया। इसमें सभी उग्रपंथियों एवं अत्यधिक वामपंथियों को सी० पी० एम० से निष्कासित करने का निर्णय किया गया। आन्ध्र प्रदेश विधान सभा में वामगुट के नेता, टी० नागी रेड्डी ने इस मत का विरोध किया और उन्होंने आन्ध्र के सी० पी० एम० सदस्यों से "अधिकृत नेताओं का तख्ता उलटने" की अपील की। उन्हें भी 16 जून, 1968 को दल से निकाल दिया गया। सभी निष्कासित नेताओं और सदस्यों ने क्रान्तिकारी साम्यवादी दल के नाम से एक नया दल बना लिया। केरल असेम्बली के एक सदस्य कोसाला-राम दास ने जो त्रिवेन्द्रम के भूतपूर्व महापौर थे केरल में एक ऐसा ही दल बना लिया। इस प्रकार सी० पी० एम० का विग्रह होने लगा और उसमें एक नई दरार पड़ गई।

नक्सलवादी हिंसा (Naxalite Violence)

मुख्य निकाय से निष्कासित होने के बाद उग्रपंथियों का रवैया और भी अधिक हिंसापूर्ण हो गया और उन्होंने अपनी गतिविधियाँ तेज़ कर दीं। 20 नवम्बर, 1968 को भूतपूर्व अमरीकी विदेश सचिव रॉबर्ट मैकनमारा जो कि विश्व बैंक-ग्रध्यक्ष थे कलकत्ता आये और नक्सलवादी छात्रों ने वियतनाम में अमरीकी नीति के विरोध में एक उग्रप्रदर्शन किया जिसमें पुलिस को लाठीचार्ज करना पड़ा। बसें जलाई गईं, अनेक आदमियों को चोटें आईं और कहीं-कहीं छात्रों व पुलिस में जमकर लड़ाई हुई।

22 नवम्बर की प्रातः लगभग एक सौ पचास हथियार बन्द नक्सलवादियों ने तेली-

चैरी के पुलिस थाने पर आक्रमण किया और उसके दो दिन बाद पाल-पल्ली गाँव के थाने व रेडियो स्टेशन पर पच्चीस व्यक्तियों की एक भीड़ ने आक्रमण किया। इन दोनों हमलों का नेतृत्व कुन्नीकल, नारायणन और उसकी पुत्री अजिता ने किया। उनका उद्देश्य और अधिक हथियार प्राप्त करना था। किन्तु वे अपने प्रयास में असफल रहे और नारायणन, उसकी पुत्री और पत्नी को गिरफ़्तार कर लिया गया। कहा जाता है कि उन्हें चीनी दूतावास से आवश्यक साहित्य प्राप्त हो रहा था।

नवम्बर 1968 से जनवरी 1969 तक आन्ध्र के गिरिजन कबीले के लोगों में नक्सलवादियों के नेतृत्व में हिंसा भड़क उठी। उन्होंने 1967 में भी विद्रोह किया था जिसे दबा दिया गया था। इस बार उन्होंने दो गाँवों पर आक्रमण किया और व्यापारियों के घर से अनाज लूट ले गये तथा उन्होंने जमींदार के घर को लूटा और पुलिस-दलों पर आक्रमण किये। कुछ स्थानों पर उन्होंने पुलिस पर गोली भी चलाई तथा उनकी गतिविधियाँ आन्ध्र प्रदेश के अनेक ज़िलों में फैल गईं।

17 दिसम्बर, 1968 को लगभग पाँच सौ व्यक्तियों ने जिनका नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों पर नक्सलवादी होने का सन्देह था और जो बन्दूकों और बमों से लैस थे, बिहार के खाकड़िया जिले में एक धनी किसान के घर पर चढ़ाई की और बहुत सा अनाज लूट ले गए। इसी तरह की कुछ अन्य घटनाएँ भी हुई।

नक्सलवादियों ने पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक हिंसा व आतंक का बाज़ार गर्म किया। राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की हत्याएँ और रेलगाड़ियों, बसों, शिक्षा संस्थानों एवं सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों पर आक्रमण रोज की घटनाएँ हो गईं और कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि राज्य में नियम एवं व्यवस्था का तन्त्र समाप्त हो गया है। जीवन, सम्पत्ति और स्त्रियों की मर्यादा असुरक्षित हो गई और हज़ारों लोग देश के दूसरे भागों में पलायन करने लगे।

नक्सलवादियों ने हिमाचल प्रदेश, पंजाब, केरल, दिल्ली, त्रिपुरा, असम, नागालैण्ड, मिज़ो पहाड़ियों और उड़ीसा में भी अपनी गतिविधियाँ बढ़ा दीं। चीनी समाचार-पत्रों **पीकिंग डेली** और **पीपुल्स डेली** ने नक्सलवादियों की गतिविधियों को पूर्ण समर्थन प्रदान किया और ऐसा प्रचार किया कि सारे भारत में क्रान्ति की तीव्र इच्छा विद्यमान है, कि भारत के लिए "चीनी मार्ग" ही एक मात्र मार्ग है, और सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने की नीति की ही विजय होगी। चीनियों द्वारा नक्सलवादियों को हथियार दिये जाने के रहस्यों का भी भन्डाफ़ोड़ होने लगा। नक्सलवादियों की शक्ति काफ़ी बढ़ गई और अंग्रेजी समाचारपत्र **दि स्टेटसमैन** के राजनीतिक संवाददाता के अनुमान के अनुसार 3 जनवरी, 1969 के आस-पास नक्सलवादियों की संख्या आन्ध्र में छ: हज़ार, पश्चिम बंगाल में पाँच हज़ार, केरल में चार हज़ार, बिहार में एक हज़ार, उत्तर प्रदेश में सात सौ, मध्य प्रदेश में दो सौ और राजस्थान में दो सौ थी।

सरकार द्वारा नक्सलवादी गतिविधियों का दमन (Government Suppresses Naxalite Movement)

नक्सलवादी आन्दोलन से श्रीमती गांधी की सरकार को राजनीतिक एवं नियम-व्यवस्था, दो प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। 13 जून, 1967 को गृह मन्त्री वाई० वी० चव्हाण ने लोक सभा में घोषित किया कि नक्सलवाड़ी की स्थिति की यथास्थान जाँच के लिए वहाँ एक संसदीय प्रतिनिधिमण्डल जायेगा। उसके लगभग एक मास पश्चात केन्द्र सरकार ने दार्जिलिंग ज़िले के सिलिगुड़ी सब डिविज़न में लाइसेंस के बिना तीर, तलवार और बर्छियां इत्यादि ले जाने पर रोक लगा दी। पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार को, जिसमें सी० पी० एम० नेता ज्योति बसु उप-मुख्य मंत्री एवं गृह (पुलिस) मंत्री थे, इससे "आत्मिक संकट" उत्पन्न हुआ। सी० पी० एम० को नक्सलवादियों की गतिविधियाँ पसंद नहीं थीं, पर उसके नेता केन्द्र स्थित "प्रतिक्रियावादी" सरकार द्वारा अपने "कामरेडों" का दमन किया जाना भी नहीं देख सकते थे। अत: केवल यही नहीं कि संयुक्त मोर्चा सरकार ने नक्सलवादियों की गतिविधियाँ रोकने के लिए कोई विशेष कार्रवाई नहीं की, प्रत्युत जब सरकार ने नक्सलवादियों पर प्रतिबन्ध लगाया तो ज्योति बसु ने केन्द्र सरकार पर आरोप लगाया कि वह "पश्चिम बंगाल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रही है।" किन्तु मुख्य मन्त्री अजॉय मुखर्जी ने स्वीकार किया कि नक्सलवादी आन्दोलन "चीन समर्थक है और उसका दमन अवश्य किया जाना चाहिए।" 20 फरवरी, 1968 को पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और उसके बाद केन्द्र सरकार ने नक्सलवादी आन्दोलन द्वारा प्रस्तुत की गई हालत को सुधारने के और अधिक कठोर उपाय किये। प्रशासन तन्त्र में पूर्ण सुधार किया गया और सहस्त्रों नक्सलवादियों को निवारक नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत तथा बाद में भारत-रक्षा अधिनियमों व आंतरिक सुरक्षा कानून के अन्तर्गत जेलों में डाल दिया गया। एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था दि ऐम्नेस्टी इन्टरनेश्नल, जिसका मुख्यालय लंदन में है, ने अनुमान लगाया कि 15,000 से 20,000 तक व्यक्तियों को गिरफ़्तार किया गया और उनमें से अनेक को शारीरिक यातनायें दी गई, स्वास्थ्य के लिए हानिकर स्थितियों में रखा गया, बेड़ियों से जकड़ा गया, बिजली के झटके लगाये गये तथा सिगरेट के टुकड़ों से जलाया गया। इस संस्था ने यह भी रहस्य खोला कि अन्य शारीरिक यातनाओं में ताड़ना, सिर के बल लटकाना, तथा पुरुषों व स्त्रियों के कोमल अंगों में पिने तथा कीलें चुभाना तक सम्मिलित थे।[24] भारत सरकार ने इस सूचना का खण्डन करते हुए आँकड़े प्रस्तुत किये कि मार्च 1970 से फरवरी 1974 तक केवल 1,609 व्यक्ति बन्दी बनाए गए,

[24]17 सितम्बर 1974 का **दि हिन्दुस्तान टाइम्स** पृ० 1 देखो। **एम्नेस्टी इन्टरनेशनल** का उद्देश्य राजनीतिक कारावास यातना, बिना मुकद्दमा चलाये बन्दीकरण, तथा धार्मिक एवं जातीय उत्पीड़न से त्रस्त व्यक्तियों की सहायता करना था।

जिनमें से 592 नज़रबन्द थे और 1017 पर मुकद्दमे चलाये जा रहे थे। सरकार ने शारीरिक यातनाओं की कहानी को "तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना" बताया। सरकार के दमन कार्य की भीषणता कुछ भी रही हो पर नक्सलवादी विद्रोह केन्द्र व राज्यों में कांग्रेसी सरकारों का तख्ता उलटने में असफल रहा।

नक्सलवादियों में विग्रह (Split Among Naxalites)

नक्सलबाड़ी विद्रोह की असफलता के फलस्वरूप उसमें फूट पड़ गई और भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के अलग-अलग गुट बन गए। आन्दोलन के प्रवर्तक कोनार ने अनुभव किया कि "माओ विचार" और "माओ मार्गदर्शन" भारत में विद्यमान स्थिति के अनुकूल नहीं हैं। कोनार को यह स्पष्ट हो गया कि चीनियों को वैध उपायों द्वारा संघर्ष करने का अनुभव नहीं है और भारतीयों को अवैध प्रकार के संघर्ष का तनिक भी अनुभव नहीं है, अत: भारत में वैध एवं अवैध, दोनों प्रकार के मिले-जुले संघर्ष की आवश्यकता है। इस प्रकार, कोनार के विचार में भारत में मार्क्स-लेनिनवादी रूप-रेखा पर क्रान्ति का वातावरण तैयार करने के लिए संसदीय प्रतिष्ठानों का उपयोग करना होगा। उसका यह भी विचार था कि यद्यपि भारत में क्रान्ति लाने के लिए किसानों में जागृति लाना आवश्यक था, पर भारत के कृषक-वर्ग को क्रान्ति का नेतृत्व नहीं सौंपा जा सकता था। यह कार्य ग्रामीण सर्वहारा और शहरों में रहने वाले कार्मिक वर्ग ने संयुक्त रूप से करना था। वह कृषकों की सशस्त्र क्रान्ति के विरुद्ध नहीं था पर "तुरन्त" ऐसी कार्रवाई के पक्ष में भी नहीं था। उसके विचार में इसके लिए गहन प्रशिक्षण एवं तैयारी की आवश्यकता थी। देहात में दृढ़ आधारों का निर्माण करना आवश्यक था ताकि सरकारी सेना द्वारा साम्यवादी गुरिल्लों पर तीव्र आक्रमण किये जाने की स्थिति में वहाँ आश्रय ले सकें। कोनार का कहना था कि रूस, चीन, इण्डोनेशिया और वियतनाम के साम्यवादियों के अनुभवों का लाभ उठाते हुए भारत में क्रान्ति का संचालन अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए, क्योंकि सामान्यत: भारत में और विशेषत: पश्चिम बंगाल में तुरन्त सशस्त्र क्रान्ति की स्थिति अभी परिपक्व नहीं है।

नक्सलबाड़ी विद्रोह के एक अन्य नेता का नाम कानू सान्याल था। उनके नेतृत्व में "साम्यवादी क्रान्तिकारियों" की एक गुप्त बैठक हुई और 22 अप्रैल, 1969 को उन्होंने अपने राजनीतिक धड़े का नाम सी० पी० आई० (मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट) रखा, और अपने सिद्धान्त माओ-त्से-तुंग के विचारों पर आधारित किये। इस दल की उत्पत्ति की औपचारिक घोषणा सान्याल ने कलकत्ते में मई दिवस (1969) को की। इस दल का दृढ़ विश्वास था कि भारतीय क्रान्ति को केवल माओ विचारों के अनुसरण द्वारा ही विजय प्राप्त हो सकती है। सान्याल का कहना था कि "हमारा दल अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एक टुकड़ी मात्र है, और चीनी साम्यवादी दल उसका नेता है।" स्थापना के कुछ ही समय बाद इस दल ने छात्रों व श्रमिकों में एक

परिपत्र भेजा जो उसके सिद्धान्त शास्त्री चारु मजूमदार द्वारा तयार किया गया था। इस परिपत्र में दल का कार्यक्रम और कार्यविधि निर्दिष्ट की गई थी। इसमें अधिक से अधिक सात-सात व्यक्तियों की "अनेकों" छोटी-छोटी लाल-रक्षक इकाइयाँ बनाने का आदेश दिया गया था। ऐसी प्रत्येक इकाई का एक "कमाण्डर" होता था जिसका कार्य "सीधी-कार्रवाई" में भाग लेना और "क्रान्तिकारी किसानों और कामगारों को गुरिल्ला प्रक्रिया में गुप्त प्रशिक्षण" देना था। लाल-रक्षक इकाइयों ने "क्रान्तिकारी-जनता" को संगठित करने के साथ-साथ अपने मस्तिष्क में सी० पी० आई० (एम० एल०) के राजनीतिक उद्देश्य को सर्वोच्च स्थान देना था। यह उद्देश्य भारत में एक ऐसी ही "जन-क्रान्ति" लाना था जैसी चीन में चेयरमैन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्त्व में आई थी। परिपत्र के अनुसार यह कार्यक्रम मुख्यतः सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में क्रियान्वित किया जाना था जहाँ पुलिस एवं शासक वर्ग के अन्य अभिकर्त्ता अधिक सक्रिय नहीं होते। आन्दोलन को आहिस्ता-आहिस्ता शहरों और उद्योग संस्थानों के निकटवर्ती क्षेत्रों में पहुँचाया जाना था और उसका अन्तिम उद्देश्य राज्य-सत्ता पर अधिकार करने के लिए नगरों पर आक्रमण करना था। परिपत्र में बताया गया था कि "प्रहार करने का यही समय है और देर करने की गुंजाइश नहीं है क्योंकि देश में सशस्त्र क्रान्ति लाने की स्थिति परिपक्व हो गई है।" परिपत्र में पुलिस व सेना से "यदा-कदा सीधी टक्कर लेने" की अनुमति दी गई थी। इससे तात्पर्य "पुलिस व सेना को केवल कागज़ी शेर प्रमाणित करना, और उसके साथ-साथ दमनकारी शक्तियों का मनोबल तोड़ना था।"

3 अगस्त, 1970 को चारू मजूमदार ने अपने दल के सदस्यों से आन्ध्र प्रदेश के श्री काकुलम क्षेत्र में "विस्तृत स्वतन्त्र क्षेत्र" बनाने को कहा ताकि श्री काकुलम में संघर्ष छः महीने के भीतर वियतनाम युद्ध का रूप ले सके। उन्हें "प्रतिक्रियावादी शासक-वर्ग" से राइफलें छीनने का भी आदेश दिया गया था ताकि श्री काकुलम में एक स्वातन्त्र्य सेना स्थापित की जा सके। उसका स्वप्न था कि श्री काकुलम नये भारत के निर्माण का मार्ग दिखाए। इसके लिए उसने कृषक-जनता को सक्रिय बनाने और "शत्रु" को झूठी सूचना देने से लेकर "शत्रु सेना की विष द्वारा" हत्या करने तक सभी हथकण्डे अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। मजूमदार ने सलाह दी कि शत्रु को "पूर्णतः नष्ट" करने का कार्यक्रम "माओ-विचारों पर आधारित दल की राजनीतिक कार्यविधि के आवश्यक कार्य करने" के साथ-साथ चलना चाहिए। उसने अपने अनुयायियों के लिए यह नारा चुना "चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन है और चीन का मार्ग हमारा मार्ग है।" चारू मजूमदार को 16 जुलाई, 1972 को कलकत्ता में गिरफ़्तार कर लिया गया और उसके 12 दिन बाद उसका देहान्त हो गया।

चारु के अनेक निकट सहयोगियों, फणी बागची, परिमलदास गुप्ता, प्रोमोद सेन गुप्ता और असित सेन इत्यादि ने उससे सम्बन्ध तोड़ लिया था। उनका यह कहना था कि भारत के ग्रामीण क्षेत्र "चाहे जब क्रान्ति की आग भड़काने के लिए बारूद

के ढेर नहीं हो गये हैं।" वे कोई कार्रवाई करने से पूर्व उचित तैयारियाँ कर लेना चाहते थे। प्रत्युत इन नेताओं को ग्रामीण जनता की युद्ध तत्परता में सन्देह था और वे चाहते थे कि क्रान्ति के नेतृत्व की भूमिका शहर के सर्वहारा वर्ग को दी जाए। अतः 1970 के पूर्वार्ध में उन्होंने अपनी गतिविधियाँ कलकत्ता और पश्चिम बंगाल के अन्य बड़े नगरों में केन्द्रित कीं। केरल के बहुत से नक्सलवादियों ने सान्याल और मजूमदार के नेतृत्व को तुरन्त स्वीकार नहीं किया। इन नेताओं के पाँच गुट थे और उन सभी का यह दावा था कि वे ही असली क्रांतिकारी और चीनी-सरकार के मार्क्स-लेनिनवाद के सच्चे अनुयायी थे। माओ के विचार उनके धर्मग्रन्थ थे। इन गुटों के सदस्य जनता के असन्तुष्ट सम्प्रदायों में जाते थे और दीवारों पर हाथ से प्रचार-सामग्री लिख कर अपने राजनीतिक दर्शन का प्रसार करते थे। वे नित्य अध्यापन कक्षाएँ लेते थे और वर्तमान पद्धति के विरुद्ध अधिक से अधिक जनता को विद्रोह के लिए तैयार करने के लिए गुप्त परिपत्र भेजते थे। ऐसे ही एक परिपत्र में पश्चिम बंगाल के नमूने पर केरल में छोटे-छोटे लाल-रक्षक दल बनाने को कहा गया था और नक्सलवादियों को खर्चा चलाने के लिए चोरी व लूटपाट करने का आदेश दिया गया था। इसी परिपत्र में बन्दूक, तमंचों इत्यादि के स्थान पर छुरों, भालों और कुल्हाड़ियों का प्रयोग करने का आदेश दिया गया था क्योंकि गोली-सिक्के वाले हथियार महँगे थे और आसानी से नहीं मिलते थे। इन गिरोहों में से मुन्नीकल नारायण का गिरोह सबसे अधिक भयानक था और उसकी गतिविधियों से केरल के अनेक भागों में आतंक फैल गया। आन्ध्र प्रदेश में भी ऐसे अनेक गुट बन गये जो विचार-धारा के आधार पर परस्पर सहमत नहीं थे।

आंशिक रूप से सरकार द्वारा की गई कठोर कार्रवाई के कारण और आंशिक रूप से नक्सलवादियों के आन्तरिक विग्रह के कारण उनका आन्दोलन 1971 में फीका पड़ कर समाप्त हो गया। मार्च 1972 में जब राज्य सभाओं के पाँचवें आम चुनावों में कांग्रेस की भारी बहुमत से जीत हुई तो पासा एकदम पलट गया। अनर्गल हिंसा और हत्याओं से जनता तंग आ गयी थी, और इसके अतिरिक्त युवक वर्ग को कांग्रेस में पुनः विश्वास हो गया था। किन्तु जब केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस सरकारें चुनाव से पूर्व किये गये वायदों को पूरा करने में असफल रहीं तो यह विश्वास एक बार फिर डगमगा उठा। पश्चिम बंगाल में नक्सलवादी पुनः एकत्रित होने लगे और 1974 में कलकत्ता, हावड़ा, 24-परगना, नादिया और हुगली के अनेक क्षेत्रों में हमलों और हथियार छीनने इत्यादि की अनेक घटनाएँ हुईं। ऐसा प्रतीत होता था कि नक्सलवादी भारतीय राज-नीति का एक नया चरण आरम्भ करने जा रहे हैं। 1974 के अन्त और 1975 के आरम्भ में देश में जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन चल रहा था और गरीबी, भूमि-हीनता, ऊँचे-मूल्य और बेरोजगारी उस आन्दोलन के अंग बन गये थे।

एक नये साम्यवादी दल का जन्म (Birth of the New Communist Party)

15 दिसम्बर, 1974 को साम्यवादी क्रान्तिकारियों ने कोचीन में "सेन्टर ऑफ़ इण्डियन कम्यूनिस्टस" के झंडे तले एक नये साम्यवादी दल स्थापित किया। यह भारत में चौथा साम्यवादी दल था और "असली" साम्यवादी होने का दावा करता था। ए० वी० आर्यन के नेतृत्त्व में 19 सदस्यों की एक समिति बनाई गई, और उसका उद्देश्य श्रमिक वर्ग और किसानों की एक सशस्त्र क्रान्ति आयोजित करके "जनता की सरकार" स्थापित करवाना घोषित किया गया। इस दल ने अपना एक राजनीतिक अभिलेख स्वीकृत किया जिसमें यह कहा गया था कि विचारधारा सम्बन्धी प्रश्नों पर वह चीन के पद चिन्हों पर चलेगा, पर ऐसा करते समय स्थानीय परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाएगा।

अध्याय 21

कांग्रेस–विग्रह के पहले और उसके बाद
(Congress Party—Before and After the Split)

कांग्रेस का जन्म 28 दिसम्बर, 1885 को हुआ था। इसके लिए आरम्भिक नेतृत्व एवं मार्गदर्शन एक उदार अंग्रेज ऐलन ऑक्टेवियन ह्यूम ने प्रदान किया, जो भारतीय सार्वजनिक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) के सदस्य थे। वे आई० सी० एस० से 1882 में सेवा निवृत्त हुए। उन्होंने कांग्रेस स्थापित कराने में इसलिए रुचि ली कि वे असन्तुष्ट भारतीयों को एक ऐसा मंच प्रदान करना चाहते थे जहाँ से वे भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त कर सकते, ताकि 1857 की क्रान्ति में जो रक्तपात हुआ था, उसकी पुनरावृत्ति न हो। कांग्रेस के मूल प्रतिष्ठाताओं ने उसका इसी उद्देश्य के लिए उपयोग किया। उनके दिमाग में अंग्रेज़ों को भारत से निकाल वाहर करने का कोई विचार नहीं था, वल्कि वे व्रिटिश विचार-पद्धतियों, व्रिटिश कानून, न्याय व्यवस्था, व्रिटिश चातुर्य का भारतीय जनता के उत्थान के लिए उपयोग करना चाहते थे। उन्हें अंग्रेजों की न्याय-प्रियता एवं उदारता में पूर्ण विश्वास था।

किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के वाद भारतीय नेताओं का दृष्टिकोण वदल गया क्योंकि युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने जो वायदे भारत को लोकतन्त्र एवं संवैधानिकता की ओर ले जाने के लिए थे, वे पूरे नहीं किये गये। इसकी वजाय अप्रैल 1919 में भारत को जलियांवाला वाग का कत्ले आम सहना पड़ा। 1920 से कांग्रेस ने अपना यत्न अंग्रेज़ों को निकाल वाहर करने में लगाना शुरू किया, और 1947 में यह लक्ष्य प्राप्त हुआ। भारत छोड़ने और सत्ता भारतीयों के हाथों में हस्तांतरित करने का व्रिटिश निर्णय अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों का परिणाम था, पर इसका सारा श्रेय कांग्रेस ने स्वयं ले लिया। स्वातन्त्र्य संघर्ष में सभी पेशों एवं सभी प्रकार के लोगों ने उसमें भाग लिया था और विजय प्राप्त होने पर उन सभी को उसमें हिस्सा वंटाने का अधिकार था। यद्यपि 1947 तक भारत के स्वातन्त्र्य संघर्ष की हरावल सदैव कांग्रेस के हाथों में रहती थी, पर उसके वाद इसने एक राजनीतिक दल का रूप ले लिया। दल के प्रमुख नेता सरकारी पदों पर आसीन हो गए और छोटे नेता व आम सदस्य उन

पदों (मन्त्रियों, संसत्सदस्यों और राज्य विधान सभाओं के सदस्यों के पद) का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने लगे। बड़े-बड़े नेता भी अधिकतम सत्ता व उच्चतर पदवियों के लिए आपस में झगड़ते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस शक्ति संघर्ष का अखाड़ा बन गई।

1947-1967 की अवधि में कांग्रेस
(Congress Party During 1947-1967)

कांग्रेस के भीतर सत्ता संघर्ष (Power Struggle within the Congress)

सत्ता के लिए संघर्ष आरम्भ से ही शुरू हो गया था। स्वतन्त्रता के पहले तीन महीनों के भीतर ही आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस की अध्यक्षता से इस आधार पर त्यागपत्र दे दिया था कि महत्त्वपूर्ण सरकारी नीति सम्बन्धी निर्णयों के बारे में प्रधान मन्त्री नेहरू न तो उन से सलाह लेते हैं और न ही उन्हें इनकी सूचना दी जाती है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (ए० आई० सी० सी०) की एक बैठक के बाद गांधी जी ने कहा : "मुझे विश्वास हो गया है कि कांग्रेस की एकता बनाये रखने का कोई प्रयास अब सफल नहीं हो सकेगा। इस से पीड़ा दीर्घ अवश्य हो जायेगी। कांग्रेस के लिए यही श्रेष्ठ होगा कि रोग में वृद्धि होने से पूर्व वह स्वयं भंग हो जाये। कांग्रेस स्वेच्छापूर्वक भंग हो जाने से देश का राजनीतिक वातावरण अधिक चुस्त एवं शुद्ध हो जायेगा।"

महात्मा गांधी के अन्तरंग मण्डल की एक सदस्या कुमारी मणि बेन गांधी ने बाद में बताया कि 29 जनवरी, 1948 की रात को गांधी जी को यह पता लगा कि किसी (नाम नहीं बताया गया) के पुत्र ने रिश्वत ली है। इस से महात्मा जी को बहुत पीड़ा पहुँची, और उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि देश किस दिशा में जा रहा है। उन्होंने कांग्रेस के संविधान का नया मसौदा तैयार किया और निर्धारित किया कि कांग्रेस अपने वर्तमान रूप में उपयोगिता समाप्त कर चुकी है, और उसे राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक दलों के साथ अ-रचनात्मक प्रतिस्पर्धा से दूर रहना चाहिये, तथा स्वयं को विसर्जित कर के अपना एक लोक सेवा संघ बना लेना चाहिए।[1] जैसा कि मणि बेन ने उद्घाटित किया, गांधी जी 30 जनवरी की संध्या को प्रार्थना सभा में नये संविधान की घोषणा करने वाले थे, लेकिन उससे पहले ही वे एक हत्यारे की गोलियों से शहीद हो गये।[2] सरकार और दलीय संगठन में कांग्रेस जनों के ऊपर

[1]विस्तृत अध्ययन के लिये राधाकृष्णन का लेख "Lok Sewak Sangh: A New Turn in the Gandhian Movement," देखिये, *The Hindustan Times*, 7 अक्तूबर, 1973, पृष्ठ 5.

[2]देखो *The Hindustan Times*, 5 अक्तूबर, 1970.

जो थोड़ा बहुत पैतृक नियन्त्रण रखा जा सकता था, वह खत्म हो गया और सत्ता के लिए संघर्ष ही कांग्रेसी शासन की प्रकृति बन गया।

भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति पद के लिए व्यक्ति के चुनाव के प्रश्न पर पहली बार गम्भीर मतभेद पैदा हुए। नेहरू जी ने श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का नाम प्रस्तावित किया। उनका आधार यह था कि वे दल के भीतर अलोकप्रिय हैं और उन्हें संगठन में अथवा सरकार में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता। अन्य अनेक नेताओं ने, पटेल के नेतृत्व में डा० राजेन्द्रप्रसाद का नाम प्रस्तावित किया। नेहरू जी की बात नहीं मानी गयी और प्रसाद जी को राष्ट्रपति का पद मिल गया। इससे पंडित जी को चोट पहुँची। फिर जब कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव का प्रश्न पैदा हुआ तो नेहरू जी ने कृपलानी का पक्ष लिया लेकिन पटेल और उनके गुट ने श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का नाम प्रस्तुत किया। इस बार भी नेहरू को मात खानी पड़ी और कृपलानी कांग्रेस छोड़ गये। 15 दिसम्बर, 1950 को पटेल की मृत्यु हो गई और इसके बाद कोई ऐसा न रहा जो नेहरूजी का मुकाबला कर सके। कुछ ही समय बाद उनमें और टंडन में गहरे मतभेद पैदा हो गये। नेहरू जी के दो समर्थकों, अजित प्रसाद जैन और रफ़ी अहमद किदवई ने टंडन से मतभेद होने पर 17 जुलाई, 1951 को सरकार और दल दोनों से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने टंडन जी को संगठन के हर उद्देश्य से एकदम उलट बताया और आरोप लगाया कि दल की नीतियों में और उनमें कुछ भी समानता नहीं है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि कांग्रेस कहती कुछ है और करती कुछ और है। नेहरू जी ने टंडन से कहा कि वे कार्यसमिति का पुनर्गठन करें, लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया। जैसा कि समाचारपत्रों में लिखा था, पंडित जी ने स्वयं अपने को वर्तमान कांग्रेसी नेतृत्व से विषम-स्वर पाया और कार्य-समिति तथा केन्द्रीय चुनाव समिति से इस्तीफ़ा दे दिया। मौलाना आज़ाद ने उनका अनुसरण किया और एक दिन बाद 11 अगस्त को अपना इस्तीफ़ा दे दिया।

भारतीय संसद और 22 राज्य विधान सभाओं के लिए पहले आम चुनाव अक्तूबर 1951 में होने थे। टंडन कांग्रेस की इस आन्तरिक स्थिति के कारण बहुत चिन्तित थे। उन्होंने नेहरू व आज़ाद के त्यागपत्रों से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का एक विशेष अधिवेशन 8-9 सितम्बर को नागपुर में बुलाया। उन्होंने बैठक से पहले अध्यक्षपद से अपना त्यागपत्र दे दिया और एक प्रेस सम्मेलन में कहा कि नेहरू के अनुरोध को मानकर कार्यसमिति का पुनर्गठन करने का कोई संगत कारण उन्हें नज़र नहीं आता। वे त्यागपत्र दे रहे हैं क्योंकि नेहरू जी 'किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं।' नेहरू कांग्रेस के लिए "अनिवार्य" हैं और उनके त्यागपत्र से दल कमज़ोर पड़ जायेगा। टंडन के त्याग-पत्र को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 'खेदपूर्वक' स्वीकार कर लिया और नेहरू

उनके स्थान पर चुन लिए गये ।[3] इस प्रकार भारत के दो सर्वोच्च पद एक ही व्यक्ति के हाथ में आ गये । उन्होंने दल में अपने अनुगामियों से कहा कि वे 'आन्तरिक झगड़ों के अभिशाप, से अपने को मुक्त करें और "एक महान लक्ष्य की दिशा में उल्लास-पूर्ण साहसिकता की पुरानी भावना को अपनायें ।"

कांग्रेसियों द्वारा पृथक दलों का निर्माण (Congress Form Separate Parties)

कांग्रेस के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष और आन्तरिक कलह की दूसरी अभिव्यक्ति उन कांग्रेसियों द्वारा अलग राजनीतिक दलों और गुटों के बनाये जाने में हुई जो सरकार अथवा दल के संघटनात्मक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ प्राप्त करने में विफल रहे थे ।

सितम्बर 1950 के तीसरे सप्ताह में अ० भा० कांग्रेस कमेटी का 56वाँ अधिवेशन हुआ । इसमें कुछ प्रतिनिधियों ने कृपलानी के नेतृत्व में कांग्रेस के भीतर एक 'लोकतंत्रीय गुट' संगठित कर लिया, जिसका उद्देश्य दल में 'भ्रष्टाचार, लोकतंत्रीय अधिकारों के बढ़ते हुए निषेध' का विरोध करना था । उसी वर्ष 2 नवम्बर को हुई बैठक में इस गुट ने "कांग्रेस लोकतंत्रीय दल" का नाम अपना लिया और घोषणा की कि नया दल कांग्रेस के कार्यक्रम को लागू करने के लिए काम करेगा और साम्प्रदायिक एकता, सार्वजनिक जीवन में चरित्र की 'शुद्धता' केन्द्रीय एवं राज्य विधान मण्डलों के लिये 'योग्यता और दृढ़ चरित्र वाले' सर्वमान्य' उम्मीदवारों के चुनाव, 'मुनाफ़ाखोरी और कालाबाजारी को रोकने तथा कांग्रेस संगठन के भीतर लोकतंत्र को फिर से लानें' पर विशेष ज़ोर देगा ।

कांग्रेसजनों में सत्ता के लिए संघर्ष और स्वार्थसिद्धि की लगान केवल केन्द्रीय नेताओं तक ही सीमित न रही । वह संगठन के सभी स्तरों, राज्य, ज़िला, नगर और गाँव तक में फैल गई । 1950 के दौरान अनेकों राज्यों में गम्भीर मतभेद पैदा हो उठें और दल के सदस्यों तथा दल में पदासीन व्यक्तियों ने सरकार के अपने ही भाइयों के विरुद्ध भ्रष्टाचार कुनबापरस्ती और पक्षपात के गम्भीर आरोप लगाये । उत्तर प्रदेश में ऐसे आरोप लगाने के कारण 21 सदस्यों को दल से निकाल दिया गया । 11 जून, 1950 को इन लोगों ने त्रिलोकी सिंह और राधेश्याम के नेतृत्व में 'जनता कांग्रेस दल' के नाम से एक नया दल बना लिया । घोषणा की गई कि इस दल का सिद्धान्तवाद "गांधीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय" पर आधारित होगा और इसका लक्ष्य होगा सत्ता का जनता के हस्तांतरण और "पूँजीवाद की समाप्ति के माध्यम से एक वर्गहीन समाज

[3]मध्य प्रदेश के भूतपूर्व गृह मन्त्री पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र ने टंडन को पद से मुक्त किये जाने की निन्दा की और इसे 'भारत में लोकतन्त्र की हत्या' बताया और नेहरू जी को 'भावी तानाशाह' घोषित किया । विरोध में उन्होंने 9 सितम्बर को कांग्रेस दल से इस्तीफा दे दिया ।

की स्थापना।"[4]

इन्हीं आधारों पर ट्रावनकोर-कोचीन के कांग्रेस विधान मण्डल दल से भी 14 सदस्यों को निष्कासित किया गया और इन्होंने भी 16 जून, 1950 को "कांग्रेस लोकतंत्रीय दल" के नाम से एक नया दल संगठित कर लिया जिससे कांग्रेस के "लोकतंत्रीय आदर्शों को सुरक्षित रखा जा सके और जनता को एक नया नेतृत्व प्रदान किया जा सके।"

13 नवम्बर, 1950 को पश्चिमी बंगाल में सौ से अधिक कांग्रेसियों ने डा० प्रफुल्ल चन्द्र घोष के नेतृत्व में "कृषक प्रजा मज़दूर पार्टी" के नाम से एक नया दल बना लिया। डा० घोष ने घोषणा की कि यद्यपि फिलहाल दल की सक्रियता पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित रहेगी लेकिन वह अन्य राज्यों में समान उद्देश्यों वाले दलों के साथ मिलकर काम करने का प्रयत्न करेगा। "एक वर्गहीन शोषणहीन लोकतंत्र" की स्थापना को दल का लक्ष्य बताया गया।

कांग्रेसी मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप (Corruption Charges Against Congress Ministers)

केन्द्र और अधिकतर राज्यों में कांग्रेस के शासन के प्रथम बीस वर्षों में एक ओर जहाँ सत्ता के लिए संघर्ष और आन्तरिक कलह चल रही थी, दूसरी ओर, कुछ अपवादों को छोड़कर, कांग्रेसी मन्त्री अपने निजी एवं व्यक्तिगत मनोरथों की सिद्धि के लिए अपने सार्वजनिक पदों का अनुचित लाभ उठाने लगे। कांग्रेस के छोटे नेताओं एवं अन्य सदस्यों ने मन्त्रिपदों पर आसीन अथवा दल में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन व्यक्तियों के साथ सम्पर्क व सम्बन्ध के माध्यम से अपने काम निकालने शुरू कर दिये। ये लोग सभी स्तरों पर प्रशासन की दैनिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करते थे और सरकारी कर्मचारियों व अधिकारियों पर स्वयं अपने आप को या अपने सम्बन्धियों, मित्रों और प्रशासकों को पर्मिट, कोटे, लाइसेंस, ठेके और नौकरियाँ देने के लिए दबाव डालते थे। व्यापारी वर्ग पर उनके चुनाव आन्दोलन में धन लगाने के लिए दबाव डाला जाता था व उन्हें तरह-तरह के लालच दिये जाते थे। इसके बदले व्यापारी वर्ग चोर बाज़ारी जमाखोरी और मुनाफ़ाखोरी करते थे।

छठे दशाब्द के अन्त तक सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार का प्रश्न भारत में एक गम्भीर राजनीतिक प्रश्न बन गया और विभिन्न क्षेत्रों से मन्त्रियों तथा उच्च सरकारी अधिकारियों पर खुले आरोप लगाये गये। यह तब सी० डी० देशमुख से शुरू हुआ जो केन्द्र में वित्तमन्त्री रहे थे। अ० भा० कांग्रेस कमेटी का 65वाँ अधिवेशन बंगलौर में जनवरी 1960 में होना था। इसके कुछ महीने पहले देशमुख ने मद्रास नगर में एक

[4]उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष ने 13 जुलाई, 1951 को इसे मुख्य विरोधी दल के रूप में मान्यता दी थी।

भाषण दिया, जिसमें उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि वह कुछ भूतपूर्व एवं वर्तमान मन्त्रियों तथा उच्च सरकारी अधिकारियों पर लगाये गये भ्रष्टाचार के आरोपों की छानबीन के लिए एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण स्थापित करे। राष्ट्रपति प्रसाद ने नेहरू का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। बंगलौर में प्रधान मन्त्री ने घोषणा की कि सभी मन्त्रियों को स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति का ब्यौरा देना पड़ेगा और जब भी वह कम या अधिक हो उसकी सूचना देनी पड़ेगी। उन्होंने देशमुख द्वारा प्रस्तुत की गई जाँच की माँग को स्वीकार नहीं किया।

4 मार्च, 1960 को एक वरिष्ठ कांग्रेसी और नेहरू जी के जामाता श्री फिरोज़गांधी ने प्रस्ताव रखा कि दल के भीतर एक "सतर्कता समिति" स्थापित की जाये जो भ्रष्टाचार के आरोपों की छानबीन करे। कांग्रेस कार्यसमिति ने इस विचार का स्वागत किया और एन० संजीवा रेड्डी को, जो 3 दिसम्बर, 1959 को कांग्रेस अध्यक्ष बने थे, निर्देश दिया कि वे एक स्थायी नाम-सूची बनायें, जिसमें से वे, जिम्मेदार कांग्रेसियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग के आरोपों की छानबीन के लिए एक या दो सदस्यों को नियुक्त कर सकें। इसके अनुसार उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश जगन्नाथ दास, मद्रास के एडवोकेट जनरल वी० के० तिरुवेंकटाचारी, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश एवं राज्य सभा के सदस्य पी० एन० सप्रू, लोक सभा के उपाध्यक्ष सरदार हुकम सिह, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक वरिष्ठ वकील गोपाल स्वरूप पाठक को नाम-सूची पर लिया गया।

तीसरे आम चुनावों (फरवरी 1962 में) के बाद कांग्रेस ने राज्यों में व्यापक आधार के बड़े मन्त्रिमण्डल बनाने की नीति अपनायी। उसने आशा की कि इस प्रकार विभिन्न गुटों और दलों को प्रतिनिधित्व मिल जायेगा और आपसी झगड़े खत्म हो जायेंगे। लेकिन इससे कुछ नहीं हुआ और 1963 की गर्मियों में उड़ीसा, पंजाब, केरल और गुजरात के दलों में अधिक गम्भीर झगड़े पैदा हो गये और विरोधी गुटों ने मुख्य मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगाये और कहा कि दलीय पदों के लिए चुनावों में अनियमितताएँ बरती गई हैं। विरोधी दलों ने बातों को पकड़ा और 1963 के आरम्भ में कुछ संसत्सदस्यों ने आरोप लगाया कि तत्कालीन खान और ईंधन मंत्री श्री के० डी० मालवीय ने कलकत्ता की एक फर्म सिराजुद्दीन एण्ड क० से चुनाव के लिए धन प्राप्त किया है और बदले में उनके मन्त्रालय ने उसे खनिज लाइसेंस दिये हैं। श्री मालवीय ने स्वीकार किया कि उनके प्रस्ताव पर फर्म ने 1957 में राज्य विधान सभा के लिए चुनाव लड़ रहे एक कांग्रेसी उम्मीदवार को दस हज़ार रुपये दिये थे। फर्म की बहियों में से कुछ ऐसे इन्दराज भी प्रकाश में आये, जिनसे मालवीय के विरुद्ध संशय को बढ़ावा मिला। नेहरू जी ने उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश श्री एस० के० दास के नेतृत्व में एक खोज-समिति बिठाई, जिसने जून 1963 में अपनी रिपोर्ट दी। आचार्य कृपलानी, श्री एन० जी० रंगा और श्री हेम बरुआ जैसे कुछ संसत्सदस्यों ने माँग की कि रिपोर्ट को सदन में पेश किया जाये। लेकिन प्रधान मन्त्री ने वैसा करने

से इन्कार कर दिया और श्री मालवीय को चुपचाप पद से मुक्त कर दिया। संसदीय क्षेत्रों में काफी रोष प्रकट किया गया और भ्रष्ट कांग्रेसियों को बचाने के आरोप नेहरू जी पर लगाये गये।[5]

केरल प्रान्तीय कमेटी के अध्यक्ष ने मुख्य मन्त्री शंकर और उद्योग मन्त्री दामोदर मेनन पर आरोप लगाये और कहा कि इन दो व्यक्तियों ने अपने भ्रष्ट आचरण से केरल में कांग्रेस संगठन को भारी हानि पहुँचाई है। नेहरू ने इसकी छानबीन का काम स्वयं अपने ऊपर लिया। पंजाब में असंतुष्ट कांग्रेसियों और विरोधी दलों ने मिलकर मुख्य मन्त्री प्रताप सिंह कैरो पर भ्रष्टाचार और कुशासन के आरोप लगाये। जब 2 सितम्बर, 1963 को उच्चतम न्यायालय ने पंजाब सरकार की सेवा में नियुक्त एक सिविल सर्जन डा० प्रताप सिंह के मामले में कैरो की सख्त नुक्ताचीनी की तो इस मामले को भारी महत्त्व मिल गया। प्रधान मन्त्री ने राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन को सलाह दी कि वे श्री कैरो के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिए एक उच्चाधिकारी को नियुक्त करें। आज़ादी के बाद पहली बार ऐसा हुआ कि एक मुख्य मन्त्री के विरुद्ध अदालती जाँच बैठायी गयी।

कांग्रेस में फिर से प्राण फूँकने के प्रयास—कामराज योजना (Efforts to Revitalise the Congress—Kamaraj Plan)

दल के भीतर उत्पन्न सत्ता के लिए संघर्ष, गुटबाजी और आंतरिक झगड़ों पर कांग्रेस हाईकमान ने गम्भीर चिन्ता प्रकट की। जनवरी 1951 के अन्त में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की एक बैठक अहमदाबाद में हुई। उसने स्थिति पर विचार किया और 'जनता के सभी वर्गों के बीच, विशेषकर कांग्रेसियों में व्याप्त एकता एवं सहयोग-की, पुकार करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार किया। प्रस्ताव के समर्थन में बोलते हुए नेहरू जी ने कहा कि आन्तरिक मतभेद अतीत में भी थे लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति का लक्ष्य सभी तत्वों को इकट्ठा रखे हुए था और स्वतंत्रता मिलने के बाद अब बिखराव आ गया है और "सभी प्रकार के लोग" कांग्रेस में आ रहे हैं। उन्होंने जोर देकर कहा कि यदि कांग्रेस अपने संगठन को ठीक करेगी तो "ह्रास और विघटन" ही परिणाम में मिलेगा।

कांग्रेस के आवदी के वार्षिक अधिवेशन (1955) में दलीय अनुशासन पर एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया था और कांग्रेस कार्यसमिति को निर्देश दिया गया था कि वह "संगठनात्मक शुद्धता को बनाये रखने, अनुशासन कायम रखने तथा गुटबन्दी एवं-व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के किसी भी प्रयास को असरदार ढंग से रोकने के लिए दृढ़

[5]सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार के लिये श्री जी० एन० भार्गव की पुस्तक 'आफ्टर नेहरू: इण्डियाज़ न्यू इमेज' का 'वन स्टेप फार्वर्ड' 'टू स्टेप्स बैकवर्ड' शीर्षक अध्याय देखिये (अलाइड पब्लिशर्स, बोम्बे) पृष्ठ 236-55.

एवं उचित उपाय करे।"

पंजाब, उड़ीसा और मैसूर में इन राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को हटाने की माँग करते हुए जो हस्ताक्षर-अभियान चल रहे थे उनको दृष्टि में रखते हुए कांग्रेस कार्यसमिति ने 6 अप्रैल, 1958 को एक प्रस्ताव स्वीकार करके सभी मुख्य मन्त्रियों को निर्देश दिया कि वे दल की बैठकें अकसर बुलाया करें जिससे मतभेदों को दूर किया जाता रहे और महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार होता रहे। मई में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में नेहरू ने दल के बड़े नेताओं पर आरोप लगाया कि वे "अनुशासनहीनता और गुटबन्दी पैदा कर रहे हैं, धार्मिक पक्षपात फैला रहे हैं और कांग्रेस के सिद्धांतों को भीतर से खोखला बना रहे हैं।" अक्तूबर 1958 के अन्तिम सप्ताह में अपनी अगली बैठक में अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने फैसला किया कि कोई अध्यक्ष और महा मंत्री लगातार दो वर्षों से अधिक पद पर न रहे। नेहरू ने घोषणा की कि यह फैसला कांग्रेस अध्यक्ष पर भी लागू होगा। फलत: ढेबर ने अपना पद त्याग दिया। उनका स्थान श्रीमती इन्दिरा गांधी ने लिया।

दल के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष तथा केन्द्र की एवं राज्यों की सरकारों में भ्रष्टाचार और कुनबापरस्ती बढ़ती ही चली गई। विरोधी दलों ने इन बुराइयों को लेकर दल पर आक्रमण किये और जनता के सामने उसकी पोलें खोलीं। एक राष्ट्रीय संगठन के रूप में कांग्रेस की तस्वीर काफी दूषित हो उठी थी। मद्रास राज्य के तत्कालीन मुख्य मंत्री और दल के एक अत्यन्त सम्मानित नेता के० कामराज ने, जो नवम्बर 1963 में दल के अध्यक्ष बने, दल की एक बैठक में कहा कि संगठन का ह्रास आरम्भ हो चुका है और इसका कारण यह है कि दल के नेता मंत्रियों के रूप में सरकारों में शामिल हो रहे हैं और उनका सम्पर्क जनता से टूट गया है। उनके अनुसार, इसका परिणाम यह हुआ है कि दल के आम सदस्यों की संगठनात्मक कार्यों में रुचि समाप्त हो गयी है। कामराज ने चेतावनी दी कि यदि कांग्रेस को एक राष्ट्रीय दल के रूप में जीवित रहना है तो नेहरू समेत उसके प्रमुख नेताओं को पद छोड़ देने चाहिएँ, जनता के बीच जाना चाहिए और लोगों में यह विश्वास फिर से जगाना चाहिए कि अब भी कांग्रेस ही उनकी सर्वोत्तम, कल्याणकारी संस्था है।

इस भाषण की बड़ी तेज़ प्रतिक्रिया हुई और 8-9 अगस्त 1963 को नेहरू के निवास स्थान पर कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई जिसमें उस योजना पर विचार किया गया जो बाद में "कामराज योजना" कहलाई। तीन के सिवाय सभी मुख्य मंत्रियों समेत दल के सारे चोटी के नेता इस बैठक में शामिल हुए। योजना को एक 'वांछनीय और आवश्यक क़दम' समझा गया और कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके अनुसार (क) नेहरू को यह तय करने का अधिकार दिया गया कि किनकी सेवायें सरकार में चाहियें और किनकी संगठन में और (ख) उनसे कहा गया कि वे एक समिति नियुक्त करें जो एक विस्तृत योजना बनाए कि जो लोग सरकारी पद छोड़ रहे हैं उनकी सेवाओं का दल और देश के सर्वोत्तम लाभ के लिए उपयोग

किस प्रकार किया जाये। इस प्रस्ताव ने सभी केन्द्रीय मंत्रियों और सभी मुख्य मंत्रियों और कितने ही राज्य मन्त्रियों को इस्तीफ़े देने के लिए प्रेरित किया।

मेजर सी० एल० दत्त (सेवा निवृत्त) जिन्होंने दो राष्ट्रपतियों डा० राजेन्द्र प्रसाद एवं डा० राधाकृष्णन के परिसहायक (ए०डी०सी०) के रूप में काम किया था, अपनी पुस्तक 'विद्द टू प्रेज़िडेन्ट्स' में अन्दर की कहानी को जानने का दावा किया है। इनमें एक कहानी यह है कि "कामराज योजना" के निर्माता ने इसे डा० राधाकृष्णन के साथ मिलकर बनाया था और नेहरू को प्रधान मन्त्री पद से निकाल फेंकने की एक तरकीब थी।[6]

इस कहानी की पुष्टि भारतीय मामलों पर लिखने वाले अन्य लेखकों ने नहीं की है, और इसे जितनी विश्वसनीयता के यह योग्य है केवल उतनी ही विश्वसनीयता दी जा सकती है।[7] तथ्य यह निकलता है कि वे सब, जो सम्भवतः नेहरू का स्थान ले सकते थे अथवा जिन पर 'ग़ैर वफ़ादारी' का शक हो सकता था, उन्हें पदों से मुक्त कर दिया गया और दल का तंत्र उनके हाथों में सौंप दिया गया। जिन मन्त्रियों पर कामराज की कुल्हाड़ी पड़ी, उनमें थे : मोरारजी देसाई (वित्त), लाल बहादुर शास्त्री (गृह), जगजीवन राम (यातायात और संचार), एस० के० पाटिल (कृषि एवं खाद्य), बी० गोपाल रेड्डी (सूचना और प्रसारण) तथा कालू लाल श्रीमाली (शिक्षा)। मुख्य मन्त्रियों से जिनके त्यागपत्र स्वीकार किये गए, वे ये थे : कामराज (मद्रास), चन्द्रभानु गुप्त (उत्तर प्रदेश), बख्शी गुलाम मोहम्मद (जम्मू और कश्मीर), भगवतराय मंडलोई (मध्य प्रदेश), बिनोदानन्द झा (बिहार) तथा विजयानन्द पटनायक (उड़ीसा)।

27 सितम्बर को केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने फ़ैसला किया कि राज्यों के मन्त्रिमंडलों में 20 से अधिक सदस्य नहीं होने चाहिए और इन्हें पूरे दल में से चुना जाना चाहिए, न कि किसी विशेष गुट में से।

नेहरू का निधन—सिंडीकेट का उद्भव प्रधान मन्त्री के रूप में शास्त्री जी का चुनाव (Death of Nehru—Struggle for Premiership)

जब कांग्रेस अपने में नई स्फूर्ति फूंकने का प्रयास कर रही थी ठीक उसी समय उस पर

[6] मेजर सी० एल० दत्त की 'विद टू प्रेज़ीडेन्टस: दि इनसाइड स्टोरी' देखिए (विकास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1970) पृष्ठ 120-121,

[7] दूसरी ओर माईकल ब्रेशर ने कहा है कि यह योजना नेहरू की सलाह पर तैयार की गई थी। देखिए उनकी पुस्तक 'सक्सेशन इन इंडिया' पृष्ठ 9-20 ए०पी० पर्नचास तथा अन्य की 'इंडियन पॉलिटिक्स आफ्टर नेहरू' (दी क्रिश्चियन इंस्टिच्यूट, बंगलोर 1967। पृष्ठ 52 तथा कुलदीप नायर की 'इण्डिया : दी क्रिटिकल ईयर्स' पृष्ठ 66 भी देखिए। जी० एस० भार्गव की धारणा थी कि योजना को इसलिये बनाया गया था जिससे नेहरू समेत हाई कमान की सर्वोच्चता को केन्द्रीय सरकार के नेताओं और राज्यों के मुख्य मन्त्रियों पर फिर से कायम किया जा सके। देखिए उनकी पुस्तक 'आफ्टर नेहरू : इंडियाज़ न्यु इमेज' पृष्ठ 100-101.

एक संकट टूट पड़ा। यह था 27 मई, 1964 को नेहरू की मृत्यु। समान प्रतिष्ठा और शक्ति का कोई नेता ऐसा नहीं था, जिसे उसके उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार किया जा सके। दल के नेताओं के अन्दरूनी गुट ने जो बाद में सिंडीकेट के नाम से प्रसिद्ध हुआ, निर्णायक प्रभाव डाला। इस सिंडीकेट में कामराज, एस० के० पाटिल (दल के कोषाध्यक्ष), अतुल्य घोष और संजीवा रेड्डी शामिल थे। जैसा कि आमतौर से विश्वास किया जाता है इस गुट ने ही लाल बहादुर शास्त्री को प्रधान मंत्री चुना।[8]

लेकिन शास्त्री अधिक दिन जीवित नहीं रहे। 11 जनवरी, 1966 को उनकी मृत्यु हो गई और केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के सामने एक नेता चुनने की समस्या फिर आ खड़ी हुई। इस बार मोरारजी देसाई ने अपने को एक उम्मीदवार के रूप में पेश किया लेकिन सिंडीकेट ने श्रीमती इन्दिरा गांधी का पक्ष लिया। फलत: मुकाबला हुआ और 19 जनवरी को मत पड़े। श्रीमती इन्दिरा गांधी 169 के मुकाबले 355 मतों से जीत गईं। उत्तर प्रदेश के चन्द्रभानु गुप्त के सिवाय और मैसूर के निजलिंगप्पा समेत सभी राज्यों के मुख्य मन्त्रियों ने भी सिंडीकेट के अतिरिक्त उनका समर्थन किया है।[9]

चुनाव के बाद बोलते हुए देसाई ने दल की एकता के हित में श्रीमती गांधी को पूरा समर्थन देने का वचन दिया और कहा, "एकता निडरता के साथ उपलब्ध की जानी चाहिए और दल के भीतर मतभिन्नता के आधार पर कोई पसन्द और नापसन्द नहीं रहनी चाहिए।"

कांग्रेस में भ्रम-निवारण (Disenchantment within Congress)

केन्द्रीय संसदीय दल की नेता चुने जाने के कुछ ही समय बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपनी मन्त्रिपरिषद की घोषणा की और उसमें अशोक मेहता, फ़ख़रुद्दीन अली अहमद और गोपाल स्वरूप पाठक को शामिल किया। श्री जगजीवन राम जिन्होंने 'कामराज योजना' के अधीन त्यागपत्र दे दिया था, भी ले लिये गए। शपथ ग्रहण समारोह से पहले मंत्रियों की सूची को कामराज को दिखा लिया गया था। उन्होंने कांग्रेस में नए प्रवेश करने वालों को सरकार में ले लिये जाने के विरुद्ध मत प्रकट किया, लेकिन इसे मुद्दा नहीं बनाया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधान मन्त्री बनने के बाद पहली बार 12-14 फरवरी 1966 को जयपुर में संगठन का सामना किया और कामराज के समर्थन और उनकी अपनी अपील के बावजूद अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने खाद्यान्न पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध लगाने की सरकारी नीति के विरुद्ध एक प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। दल के भीतर मोह से मुक्ति का क्रम शुरू हो गया और दो गुट

[8]नेहरू जी की मृत्यु के बाद नेतृत्व के संघर्ष के लिए जे० डी० सेठी की पुस्तक 'इंडियाज़ स्टेटिक पावर स्ट्रकचर, (विकास पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1969), पृष्ठ 29-39 देखिए।

[9]जे० डी० सेठी की धारणा रही कि मुख्य मन्त्रियों ने इन्दिरा जी का समर्थन इसलिए किया क्योंकि वे 'एक कमज़ोर केन्द्र और एक कमज़ोर प्रधान मन्त्री' चाहते थे। देखिए वही, पृष्ठ 56।

उभरने शुरू हो गए, जिनमें एक श्रीमती गांधी का समर्थक था और दूसरा उनका विरोधी।

जून में श्रीमती गांधी ने भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया और ऐसा करते हुए उन्होंने दल के अध्यक्ष से सलाह नहीं की। इस पर कामराज ने भारी रोष प्रकट किया और जोर देकर कहा कि इतने महत्वपूर्ण नीति-सम्बन्धी निर्णय पर उनसे अथवा दो भूतपूर्व वित्तमंत्रियों—देसाई और श्री टी० टी० कृष्णमचारी से परामर्श करना चाहिए थी। विरोधियों ने श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक वार झंझोड़ देने की सोची। लोक सभा के लिए चौथे आम चुनाव से पूर्व श्री कृष्णामेनन ने उत्तर-पूर्व बम्बई से चुनाव लड़ने के लिए टिकट माँगा। 1962 में मजबूत विरोध के बावजूद वे यहाँ से भारी बहुमत से जीते थे। इन्दिरा गांधी ने सार्वजनिक रूप से कहा कि यह टिकट मेनन को दिया जाना चाहिए। लेकिन बम्बई कांग्रेस की चुनाव समिति ने जो प्रकटत: एस० के० पाटिल के प्रभाव में थी, उनकी प्रार्थना को नामंजूर कर दिया और इस जगह से चुनाव लड़ने के लिए योजना कमीशन के एक सदस्य एस० जी० बर्वे को चुन लिया। भारतीय पत्रों ने इसे प्रधानमन्त्री की एक डाँट बताया।[10]

चौथे आम-चुनाव के समय कांग्रेस में और अधिक गुटबाजी (More Infighting in Congress on the Eve of Fourth General Election)

देश के चौथे आम चुनाव फरवरी-मार्च 1967 में होने वाले थे। जो कांग्रेसी कोई सरकारी पद पाने का अवसर प्राप्त नहीं कर सके थे अथवा जो कोई पद ले तो गए थे पर जिन्हें किसी न किसी कारण से उससे अलग कर दिया गया था, उन्हें एक अवसर प्रतीत हुआ और सत्ता और प्रतिष्ठा के लिए एक भाग-दौड़ शुरू हो गई। इसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम रास्ता यह समझा गया कि जो कांग्रेसी सत्ता में हैं उन्हें बदनाम किया जाए और उन पर कीचड़ उछाली जाए और विरोधी दल बनाकर अपने को जनता के अधिक उत्तम हितैषी के रूप में पेश किया जाए।

सितम्बर 1966 में उड़ीसा में एक गम्भीर संकट खड़ा हो गया। कहा गया कि यह कामराज द्वारा भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री बीजू पटनायक को आगामी चुनावों के दौरान राज्य कांग्रेस के नेता के रूप में स्थापित करने के प्रयास से पैदा हुआ। कुछ ही समय पहले मंत्रिमंडल की एक उपसमिति ने पटनायक की कठोर आलोचना की थी। 5 अक्तूबर को 11 विधायकों ने कांग्रेस विधान मण्डल दल से इस्तीफ़ा दे दिया और 'उड़ीसा जन कांग्रेस' बना ली। डा० हरिकृष्ण मेहताब ने, जो 1947-50 और 1956-61 तक दो

[10] 22 दिसम्बर को 36 वर्ष की सदस्यता के बाद मेनन ने कांग्रेस दल से इस्तीफ़ा दे दिया और 1 जनवरी, 1967 को उन्होंने घोषणा की कि वे उसी जगह के लिए एक स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ेंगे। एक प्रेस भेंट में 5 फरवरी को उन्होंने कहा कि कांग्रेस से उन्होंने इसलिए त्यागपत्र दे दिया है क्योंकि वह अधिकाधिक एक राजनीतिक अल्पतन्त्र के हाथों में बना जा रहा है।

बार मुख्य मन्त्री रह चुके थे और जिनका कुछ वर्षों से राज्य कांग्रेस से झगड़ा था, नये दल में मिल गए। जन कांग्रेस ने स्वतन्त्र पार्टी से चुनाव समझौता कर लिया और 31 दिसम्बर को घोषणा की वे उड़ीसा में पिछले पाँच वर्षों के कांग्रेसी कुशासन के दौरान "भ्रष्टाचार, घोर अपव्यय और नैतिक मूल्यों की धृष्ट उपेक्षा" को समाप्त करने के लिए परस्पर मिले हैं।

राजस्थान में 20 दिसम्बर, 1966 को दो मन्त्रियों (कुम्भाराम आर्य—वित्त, तथा झालावाड़ के राजपूत महाराजा हरिश्चन्द्र—उद्योग) तथा दो उपमंत्रियों ने सरकार से त्यागपत्र दे दिया और प्रशासन में भ्रष्टाचार के व्यापक होने का आरोप लगाया। 9 दिन बाद उन्होंने जनता पार्टी नाम के एक नये दल के निर्माण की घोषणा की और कहा वे कांग्रेस के विरुद्ध सभी विरोधी दलों से चुनाव समझौते करेंगे।

1966 के अन्त के आसपास बिहार में एक गम्भीर फूट पड़ गई। वैसे कांग्रेस कुछ वर्षों से के० बी० सहाय (मुख्य मंत्री) और श्री महामायाप्रसाद सिन्हा (भूतपूर्व राज्य कांग्रेस अध्यक्ष) के नेतृत्त्व में दो विरोधी गुटों में विभाजित रही थी। 1965 के दौरान थोड़ा मेल हुआ था, लेकिन 1966 के कुछ महीनों में झगड़ा बहुत ही उग्र हो उठा। 31 दिसम्बर को बिहार विधान सभा में स्वतंत्र पार्टी के नेता, रामगढ़ के भूतपूर्व राजा कामाक्षय नारायण सिंह, जो कुछ समय से कांग्रेस मंत्रिमण्डल को समर्थन देते रहे थे तथा महामाया प्रसाद सिन्हा एवं उनके अनुगामियों ने कांग्रेस से अलग होकर 'जन-क्रान्ति दल' का निर्माण कर लिया। उन्होंने कहा कि उन्होंने ऐसा इसलिए किया है क्योंकि "जिन लोगों पर भ्रष्टाचार के खुले आरोप हैं", उन्हें कांग्रेस उम्मीदवार नाम-जद कर दिया गया है। मध्य प्रदेश में 28 नवम्बर, 1966 को असंतुष्ट गुटों ने जन कांग्रेस बना ली। पंजाब में 1 जनवरी, 1967 को जनता पार्टी बना ली गई। उत्तर प्रदेश में सी० बी० गुप्ता और कमलापति त्रिपाठी के बीच चुनाव नामजदगियों पर कटु संघर्ष हुए। आन्ध्र प्रदेश में, यद्यपि वहाँ खुली फूट नहीं थी, फिर भी मुख्य मंत्री ब्रह्मानन्द रेड्डी और संजीवा रेड्डी में दो गुटों के बीच झड़पें हुईं।

लगभग 50 उन कांग्रेसियों ने, जो मूल संगठन को छोड़ चुके थे और नए दल बना चुके थे, 6 दिसम्बर, 1966 को आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में दिल्ली में एक सम्मेलन किया और एक अखिल भारतीय दल 'जन कांग्रेस' बनाने का फैसला किया। यह दल "स्वतन्त्रता पूर्व की कांग्रेस के आधारभूत मूल्यों को पुनर्जीवित करने और पिछले बीस वर्षों के अनुभव को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रमों में संशोधन करने के लिए" वचनबद्ध हुआ। घोषणा की गई कि राज्यों के जिन असंतुष्ट कांग्रेसी संगठनों ने सम्मेलन में हिस्सा लिया है वे अपने-अपने राज्यों में स्वतन्त्र रहकर कार्य करेंगे और अपने-अपने निजी चुनाव समझौते करेंगे क्योंकि "चुनावों से पहले एक संयुक्त संगठन निर्मित करने का समय अब नहीं रहा है।"

1947-67 के दौरान कांग्रेस के सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रम (Socio-Economic Programme of Congress, 1947-1967)

अपने जीवन के प्रथम लगभग तीस वर्ष तक कांग्रेस ब्रिटिश शासन के तत्वावधान में भारतीय जनता के उत्थान सम्बन्धी कार्यों में लगी रही। भारत के राजनीतिक उद्धार की उस समय कोई विशेष चिन्ता नहीं की गई। 1920 के बाद, इसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में जनता के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के अतिरिक्त, पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन शुरू किया, जो पूर्णतः अहिंसापूर्ण था। स्वातन्त्र्य संघर्ष के दिनों में कांग्रेसी नेताओं के विचार इस प्रकार के थे कि देश में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति आये बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता निस्सार हो जाएगी। अतः वे सामूहिक साक्षरता, हरिजन उद्धार, छुआछूत उन्मूलन, ग्रामोद्योग, भूमि सुधार, भू सम्पत्ति की सीमा और अमीर-गरीब का अन्तर मिटाने इत्यादि सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों के क्रियान्वयन पर बल देते थे। दूसरे महायुद्ध के अन्त में जब कांग्रेसी नेता ब्रिटिश सरकार के संविधानिक मुद्दों पर वार्ता कर रहे थे और जब कांग्रेस ने केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान सभाओं के निर्वाचन, जो नवम्बर-दिसम्बर 1945 में होने वाले थे, लड़ने का निर्णय किया, इसने एक 12-सूत्री घोषणापत्र जारी किया, जिसके आर्थिक नीति सम्बन्धी प्रमुख मुद्दे इस प्रकार थे: (i) भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए समान अधिकार एवं अवसर, (ii) सामाजिक अत्याचार और अन्याय से पीड़ित सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा, (iii) गरीबी की लानत को दूर करना तथा जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाना, (iv) उद्योग एवं कृषि का आधुनिकीकरण, (v) वैभव के सभी साधनों, तथा उत्पादन एवं वितरण के तरीकों का सामाजिक नियन्त्रण।

1947 में जब अंग्रेजों ने सत्ता भारतीयों के हाथों में सौंपी तो यह स्वाभाविक ही था कि वह सत्ता कांग्रेसियों के हाथों में आ गई। तब उन्हें कानून और व्यवस्था, साम्प्रदायिक घृणा, और देश के विभाजन से उत्पन्न शरणार्थियों के पुनर्वास की भीषण समस्याओं का सामना करना पड़ा, अतः वे आर्थिक समस्याओं को तुरन्त हाथ में नहीं ले सके। कांग्रेस का स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पहला और सामान्य क्रम में 55 वां वार्षिक अधिवेशन—18-19 दिसम्बर, 1948 को जयपुर में हुआ पर उसमें आर्थिक नीति पर कोई निश्चित प्रस्ताव पास नहीं किया गया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने केवल यह घोषणा की कि कांग्रेस ऐसे भारत का निर्माण करने का प्रयास करेगी जिसमें सभी जातियों व धर्मों के लोगों को समान अधिकार मिलें। ए० आई० सी० सी० के 29-30 जनवरी, 1951 को हुए अहमदाबाद अधिवेशन में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी घोषणा की गई कि कांग्रेस का उद्देश्य 'शान्तिपूर्ण और न्यायसंगत साधनों से' एक ऐसा सहयोगपूर्ण परिवार (कॉमनवेल्थ) स्थापित करना है जो समान अवसरों तथा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की समानता पर आधारित हो। पहले आम चुनावों से कांग्रेस के घोषणापत्र में कहा गया था कि उसकी आर्थिक नीति भूमि सुधारों और कुटीर उद्योगों पर प्रतिलक्षित होगी। घोषणापत्र में जोर देकर

कहा गया था कि देश का विकास एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से किया जाएगा।

केन्द्र और अधिकतर राज्यों की कांग्रेस सरकारों ने तात्कालिक समस्याओं पर काबू पा लिया। तब वे देश की आर्थिक समस्याओं की ओर अधिक गम्भीरतापूर्वक ध्यान दे सकीं। 21-23 जनवरी, 1955 को कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मद्रास के निकट अवादी में हुआ, जिसमें एक आर्थिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया गया। प्रस्ताव पर बोलते हुए नेहरू ने कहा कि एक 'लोक कल्याणकारी राज्य' और 'समाजवादी अर्थनीति' स्थापित करना ही राष्ट्र का लक्ष्य है और हमारी अर्थ-नीति का उद्देश्य, प्रचुरता लाना तथा समान वितरण, होना चाहिए। उन्होंने कहा कि इसके लिए भारी उद्योग स्थापित करने होंगे तथा लघु उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों का व्यापक विस्तार करना होगा। उत्पादन बहुत बढ़ाया जाना चाहिए ताकि जीवन स्तर ऊँचा उठाया जा सके और दस वर्ष के भीतर सभी को रोज़गार दिया जा सके। नेहरू ने आगे कहा कि भारत में समाजवाद शान्तिपूर्ण उपायों से लाना होगा, और यूरोप की तरह वर्ग युद्ध की मुसीबतों में से गुज़रना भारतीय जनता के लिये एक बेवकूफी की बात होगी। समाजवाद का प्रस्तावित ढाँचा भारत की स्थितियों के अनुकूल होना चाहिए और उसकी जड़ें भारत की मिट्टी में होनी चाहिएँ। वह किसी भी अन्य देश द्वारा अपनाये गये समाजवाद की नकल मात्र नहीं हो सकता। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद भी प्रस्ताव पर बोले और उन्होंने कहा कि कांग्रेस किसी भी वाद या सिद्धान्त से बंधी नहीं है और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सम्पत्ति का वितरण 'समता के आधार' पर होना चाहिए। उन्होंने कहा, "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निजी क्षेत्र को राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में पूरा स्थान मिलेगा और उत्पादन बढ़ाने के लिए उसे सरकारी सहायता दी जायेगी, 'सिर्फ कीमतों और लाभों पर कुछ नियन्त्रण रखा जायेगा' सीधे समाजवाद की बात करने के बदले नेहरू और आज़ाद दोनों ने ही एक नया शब्द गढ़ा—'समाज का समाजवादी ढाँचा'[11]।

इसके कुछ महीने बाद कांग्रेस अध्यक्ष यू० एन० ढेबर ने सभी प्रदेश कांग्रेस कमेटियों के अध्यक्षों को भेजे गये एक प्रपत्र में समझाया कि 'समाज के समाजवादी ढाँचे' पद से क्या मतलब लिया गया है। इसका मतलब है—प्रथम, पूरे समाज के हित में, उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति अथवा समाज के एक वर्ग के स्थान पर पूरे समाज की मिल्कियत और उसका नियन्त्रण, दूसरे, राष्ट्रीय सम्पत्ति के साधनों का और आय का समान वितरण तथा तीसरे, समाज के सभी वर्गों के लिए अवसर की समानता।

दूसरे आम चुनाव के घोषणापत्र को स्वयं नेहरू ने लिखा था। इसमें इस बात को उन्होंने फिर से पुष्ट किया कि दल का उद्देश्य 'एक पूर्ण समाजवादी समाज व्यव-

[11]इस शब्द के पीछे नेहरू के चिन्तन के लिये देखिए, एन० स्वामीदास कृत 'इंडिया टुडे एंड दि चेंजिंग वर्ल्ड ऑडर' (कुमार एंड कुमारी, मद्रास), पृष्ठ 132।

स्था' है और ज़ोर देकर कहा "भारत में क्रांति तभी पूरी हो सकती है जब राजनीतिक क्रांति के बाद आर्थिक और सामाजिक क्रांति भी हो।" इसमें कहा गया कि शोषण और एकाधिकार बिल्कुल नहीं होना चाहिये आय की विषमता को लगातार कम किया जाना चाहिये और आम जीवन स्तर में एक राष्ट्रीय न्यूनतम मान स्थिर किया जाना चाहिए। घोषणापत्र में "ज़मीनों की अधिकतम सीमा क्रमशः लागू किये जाने" और "भूमिहीन मज़दूरों की आर्थिक दशा" में एवं उनके सामाजिक स्तर में सुधार लाने की बात भी ज़ोर देकर कही गयी थी।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नागपुर अधिवेशन (जनवरी 9-11, 1959) में दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किये गये। इनमें एक 'योजना' पर था और दूसरा 'कृषिनीति' पर। योजना सम्बंधित प्रस्ताव में कहा था कि देश की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए रुपया लगाने की रफ़्तार बहुत ही कम है" और सार्वजनिक उद्योग और सरकारी व्यापार इस तरह चलाया जाना चाहिए जिससे सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अतिरिक्त साधन मिल सके। इसमें यह भी कहा गया था कि आयात को अनिवार्य चीज़ों तक सीमित कर दिया जाना चाहिए, जीवन-बीमा का विस्तार किया जाना चाहिये और निजी क्षेत्र के लाभों पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। कृषि-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में ज़ोर दिया गया कि संयुक्त और सहयोगी खेती को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और वर्तमान तथा भावी भूमि-धारणों की अधिकतम सीमा निर्धारित की जानी चाहिए और यह भी कि 1959 के अन्त तक बिचौलियों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। बहस के दौरान नेहरू जी ने कहा कि ये सब कदम भारत को समाजवाद की ओर ले जायेंगे।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के 14-17 जनवरी, 1960 को हुए बंगलौर अधिवेशन में महसूस किया गया कि पिछले वर्षों के दौरान आर्थिक प्रगति बहुत ही अपर्याप्त रही। कहा गया कि देश को 'समाजवादी ढाँचे' के एक कल्याणकारी राज्य की ओर तेज़ी से ले जाने के लिए प्रगति की चाल को इतना तेज़ किया जाना चाहिए जिससे कि वह न सिर्फ बढ़ती हुई आबादी की ज़रूरतों से आगे रह सके और भारी कमी में ग्रस्त हमारी आम जनता की मूलभूत ज़रूरतों को पूरा कर सके बल्कि भावी विकास में लगाने के लिए उचित बचत भी कर सके।

फरवरी 1962 में तीसरा आम चुनाव होना था। 4 अक्तूबर, 1961 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक घोषणापत्र स्वीकार किया और पहले की नीतियों और कार्यक्रमों को फिर से पुष्ट किया। देश की अपर्याप्त प्रगति पर फिर से खेद प्रकट किया गया। चुनावों के बाद दल के नये अध्यक्ष (इस पद पर आने वाले पहले हरिजन) श्री डी० संजीवैया ने कांग्रेस कार्यसमिति के सामने कुछ क्रांतिकारी उपाय विचार के लिए रखे। लेकिन, जैसा कि उन्होंने बाद में बताया, इन्हें 'दबा दिया गया'। उन्होंने बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को 'गम्भीरतापूर्वक' उठाया : सात प्रदेश कांग्रेस कमेटियों ने इसका समर्थन किया और इसकी माँग करते हुए प्रस्ताव

स्वीकृत किये । लेकिन मामला जब कार्यसमिति के सामने आया तो निर्णय को सदा की भाँति टाल दिया गया । सितम्बर 1963 में संजीवैया ने नेहरू जी से कहा कि आवदी अधिवेशन के बाद से समाजवाद के बारे में पर्याप्त कहा और किया नहीं गया है और उसमें कांग्रेस की आस्था को फिर से पुष्ट किया जाना चाहिए । नेहरू ने इस 'विचार' का स्वागत किया और चाहा कि ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया जाये । संजीवैया ने लिखा है, "जब मामला कार्यसमिति के सामने पेश हुआ तो इसे उत्साहपूर्ण समर्थन देने के बदले उन लोगों ने इसे दबा दिया और कहा कि इस प्रश्न को प्रदेश कांग्रेस कमेटियों के पास उनकी प्रतिक्रिया के लिए भेजा जाना चाहिए" ।[12]

पर जनवरी 6-10, 1964 को हुए भुवनेश्वर अधिवेशन में इस मामले को उठाया गया । आर्थिक नीति पर बहस के दौरान वी० के० कृष्णामेनन और के० डी० मालवीय जैसे लोगों ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण, अनिवार्य वस्तुओं के राजकीय व्यापार तथा चावल मिलों के सरकार द्वारा ले लिए जाने जैसी क्रान्तिकारी नीतियों की माँग की । इनका एस० के० पाटिल एवं टी० टी० कृष्णमचारी आदि ने विरोध किया । इस प्रकार आर्थिक नीति पर जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ वह न्यूनाधिक पुराने ढंग का ही था । फिर भी दल के संविधान में यह संशोधन किया गया कि दल का लक्ष्य पहले स्वीकृत "शान्तिपूर्ण एवं न्यायसंगत साधनों से एक समाजवादी सहयोगी कॉमनवेल्थ" की स्थापना के स्थान पर "भारत में, संसदीय लोकतन्त्र पर आधारित शान्तिपूर्ण एवं संविधानिक साधनों द्वारा एक समाजवादी राज्य की स्थापना" होगा ।

फरवरी 1967 में होने वाले चौथे आम चुनावों के पूर्व कांग्रेस ने अनुभव किया कि बढ़ती हुई जनसंख्या और नौकरशाही देश को 'एक न्यायपूर्ण समाजवादी समाज' की दिशा में प्रगति नहीं करने दे रही हैं । अतः उसके घोषणापत्र में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को तेज़ किया जाये और एक प्रशासनिक सुधार निगम बनाया जाये । सभी क्षेत्रों में उत्पादन की गति में वृद्धि करने पर, भी ज़ोर दिया गया ।

चुनावों में कांग्रेस की हार (Congress Party Debacle at the Polls)

जैसा कि इसी अध्याय में अन्यत्र बताया जा चुका है, 1947 के बाद कांग्रेस मंत्री, संसतसदस्य और विधान सभा सदस्य अपना मान बढ़ाने, शक्ति संघर्ष और भ्रष्टाचार में फँस गए, जिसका यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशन में जो कार्यक्रम स्वीकार किया था और चुनाव घोषणापत्रों में जो वादे किये थे वे केवल कागज़ी पुर्जे बनकर रह गए । सब के लिए आर्थिक विकास के समान अवसरों की बजाय एकाधिकार स्थापित हो गए, मुनाफ़े के जनता में वितरण की बजाये, देश का

[12]विवरण के लिए 22 नवम्बर, 1969 के 'दी हिन्दुस्तान टाइम्स' में पृष्ठ 7 पर प्रकाशित डी० संजीवैया के लेख, 'न्यू-स्पिरिट एनीमेट्स दी रैंक्स' को देखिए।

धन केवल कुछ व्यक्तियों के हाथों में संचित हो गया, आय की सीमा निर्धारित करने की बजाय अमीर-गरीब का अन्तर बहुत अधिक हो गया, और प्रशासनिक तन्त्र में सुधार की बजाय चारों ओर आलस्य, भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती और लाल-फ़ीताशाही का बोलबाला था।

उपर्युक्त तथ्यों के परिणामस्वरूप चौथे आम चुनावों के पूर्व देश में यह भावना विद्यमान थी : किसी भी दल को वोट दो पर कांग्रेस को न दो। इसके अतिरिक्त, स्वयं कांग्रेस में फूट पड़ चुकी थी। जिन कांग्रेसियों ने अन्य दलों के साथ गठजोड़ कर लिए थे, या अलग दल बना लिए थे, वे कांग्रेसियों के विरुद्ध चुनाव लड़ने लगे। अनेक ऐसे व्यक्तियों ने जिन्होंने कांग्रेस का साथ नहीं छोड़ा था, गुप्त रूप से कांग्रेसी उम्मीदवारों के विरुद्ध कार्य किया। इसके फलस्वरूप कांग्रेस को चुनावों में करारी मात खानी पड़ी।[13]

लोक सभा में इसका बहुमत 1962 में 361 से घटकर 282 रह गया। राज्य विधान सभाओं के लिए चुनावों में केवल सात राज्यों में उसे पूर्ण बहुमत मिला।

कांग्रेस से टूटे हुए संगठनों ने भारतीय क्रान्ति दल बनाया (Breakaway Congress Organizations Form Bhartiya Kranti Dal)

चुनावों में अपनी विजय से फूल कर कांग्रेस से टूटे हुए राज्य स्तर के दलों के प्रतिनिधियों ने 14-15 मई, 1967 को पटना में एक सम्मेलन किया। दिसम्बर 1966 में भी एक सम्मेलन किया गया था। जिन दलों के प्रतिनिधि सम्मेलन में आये वे थे—बिहार जन-क्रान्ति दल, बंगला कांग्रेस, राजस्थान जनता पार्टी तथा आन्ध्र प्रदेश, आसाम, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश और त्रिपुरा के जन कांग्रेस दल। कृपलानी, मेनन और पी० सी० घोष ने व्यक्तिगत रूप से सम्मेलन में भाग लिया।

प्रतिनिधियों ने एक नया अखिल भारतीय दल 'भारतीय क्रान्ति दल' बनाने का फैसला किया। इसका लक्ष्य रखा गया 'शान्तिपूर्ण एवं संवैधानिक तरीकों से एक ऐसे समाज का निर्माण जो राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण से मुक्त सामाजिक न्याय पर आधारित हो'। दल ने 'महात्मा गांधी द्वारा निर्मित सामाजिक न्याय और सेवा के आदर्शों एवं सिद्धान्तों' में अपनी आस्था प्रकट की।

कांग्रेस में आधुनिकता का विकास (Growth of Radicalism within the Congress)

चौथे आम चुनाव के समय कांग्रेस दल में विघटन आने, चुनावों में उसके द्वारा

[13]चौथे आम चुनावों की निराशाजनक पृष्ठभूमि के लिए देखिये एस० एन० मिश्र की पुस्तक 'दि क्राइसिस, दि कन्ट्री, दि कांग्रेस' (कांग्रेस सोशलिस्ट फोरम, नई दिल्ली, 1967), पृष्ठ 13-15। एन०

हार खाने और भारतीय क्रान्ति दल के निर्माण ने कांग्रेसियों को, विशेषकर युवक वर्ग को यह विश्वास दिला दिया कि जब देश में संकट है, आम जनता त्रस्त है और भूखों मर रही है, वे जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं भूल सकते। उन्होंने समझ लिया कि जो उनके दल के साथ बीता है, उसका कारण समाजवाद की दिशा में प्रगतिशील कार्रवाइयाँ कर सकने में उनकी असमर्थता ही है हालांकि इस समाजवाद के बारे में आवदी अधिवेशन के दिनों से ही बातें बनाई जाती रही थीं। इसका कारण यह भी है कि अज्ञानी और अवसरवादी तत्त्व मात्र पदों से मिलने वाले लाभों से आकर्षित होकर दल में घुस आये हैं। के० डी० मालवीय और एस० एन० मिश्र जैसे लोगों ने दिसम्बर 1957 में ही एक कांग्रेस सोशलिस्ट फोरम बनाया था जिसका उद्देश्य विशेष स्कूलों एवं शिविरों आदि के माध्यम से दल के कार्यकर्त्ताओं में खोज, अध्ययन एवं शैक्षिक गतिविधियों की लगन पैदा करके कांग्रेस के भीतर 'लोकतंत्रीय समाजवादी सिद्धान्तवाद' को लोकप्रिय बनाना था। जब मार्च 1967 में कांग्रेस संसदीय बोर्ड के नये नेता के चुनाव का समय आया तो युवा तुर्क के नाम से प्रसिद्ध चंद्रशेखर, मोहन धारिया, आर० के० सिन्हा, चन्द्रजीत यादव और कृष्णकान्त के युवा गुट ने फैसला किया कि फिर से मुकाबले के लिए आये मोरारजी देसाई के स्थान पर श्रीमती इन्दिरा गांधी को समर्थन दिया जाये। केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के नेता के चुनाव में मतैक्य लाने की कोशिश की गई और एक समझौता हो भी गया। श्रीमती गांधी नेता (प्रधान मंत्री) चुनी गईं और वे उप-प्रधान मंत्री का पद तथा वित्त विषय देसाई को देने के लिए सहमत हो गईं।

कांग्रेस कार्यसमिति का दस-सूत्री कार्यक्रम (CWC Adopts Ten-Point Programme)

केन्द्र में नई सरकार बनने के कुछ सप्ताह बाद नई दिल्ली में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक यह विचार करने के लिए हुई कि आम चुनावों में कांग्रेस की हार के क्या कारण थे और दल के संगठन एवं सरकारी पक्षों के बीच सम्बंधों की रूपरेखा क्या हो? इसने प्रमुखतया दो प्रस्ताव स्वीकार किये—एक संगठन और सरकार के सम्बन्धों पर और दूसरा लोकतांत्रिक समाजवाद की नीति पर। पहले प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेस की नीतियों का प्रतिपादन करना आ० भा० कांग्रेस कमेटी की जिम्मेदारी होगी और उन्हें लागू करना कांग्रेस सरकार का कर्त्तव्य होगा। इस प्रस्ताव में कार्यसमिति को निर्देश दिया गया कि वह एक समिति की स्थापना करे जो समय-समय पर देखे कि लागू करने का काम किस हद तक पूरा हो चुका है।

वाई० बी० चह्वाण और सुब्रह्मण्यम द्वारा तैयार किये गये दूसरे प्रस्ताव में सरकार

पी० अय्यर की पुस्तक, 'दि पॉलिटिक्स ऑफ़ वॉयलेन्स इन इंडिया' (मानकतला, बम्बई, 1967), पृष्ठ 62-80 और 104-120 भी देखिये।

द्वारा कार्यान्वित किये जाने के लिए एक दस-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। ये सूत्र इस प्रकार थे : (1) बैंक संस्थाओं पर सामाजिक नियंत्रण, (2) आम बीमे का राष्ट्रीयकरण, (3) राज्य द्वारा आयात-निर्यात व्यापार में वस्तु-दर-वस्तु की प्रगति, (4) खाद्यान्नों का राज्य द्वारा व्यापार, (5) सहयोगी संस्थाओं का विस्तार, (6) समाज की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति, (7) एकाधिकारों की नियंत्रित समाप्ति, (8) शहरी भूमि की कीमतों में अनर्जित बढ़ोतरी पर नियंत्रण, (9) देहात में निर्माण-सम्बंधी कार्यक्रम, भूमि-सुधार आदि तथा (10) भूतपूर्व राजाओं के विशेषाधिकारों की समाप्ति।

कार्यसमिति ने यह भी तय किया कि विचार एवं कार्य की अधिकतम एकता निश्चित करने के लिए प्रधान मंत्री एवं कांग्रेस अध्यक्ष को अवसर मिलना चाहिए और प्रमुख नीति सम्बधी मुद्दों पर विचार-विनिमय करना चाहिए।

जब जून 1967 के अन्तिम सप्ताह में ये प्रस्ताव अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सामने स्वीकृति के लिए पेश हुए तो पहले प्रस्ताव को तो बिना किसी दिक्कत के स्वीकार कर लिया गया लेकिन दूसरे प्रस्ताव को आर्थिक कार्यक्रम के पहले सूत्र अर्थात् बैंक संस्थाओं पर सामाजिक नियंत्रण को लेकर गम्भीर मतभेद प्रकट हो उठे। उग्रवादी गुट ने सीधे राष्ट्रीयकरण पर ज़ोर दिया तो श्री देसाई के नेतृत्व में अनुदार गुट ने सामाजिक नियन्त्रण का पक्ष लिया। मध्यम मार्ग के रूप में श्री जगजीवन राम ने सुझाया कि श्री देसाई बैंक उद्योग का अध्ययन करें और यदि परीक्षण के बाद वे समझें कि राष्ट्रीयकरण के बिना सामाजिक नियन्त्रण सम्भव नहीं है तो उन्हें वैसा कदम उठाने में हिचकना नहीं चाहिये। इसने उग्रवादियों को शान्त कर दिया और कांग्रेस कार्यसमिति का प्रस्ताव पास हो गया।

आर्थिक कार्यक्रमों पर प्रधान मंत्री और कांग्रेस अध्यक्ष म मतभेद (Rift between the Prime Minister and Congress President over Economic Programmes)

27 अक्तूबर, 1967 को जबलपुर में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में देसाई ने कहा कि बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण की योजना को दो वर्ष तक परखना चाहिए और यदि इस अवधि में वांछित परिणाम न निकले तो वे राष्ट्रीयकरण की सिफ़ारिश कर देंगे। युवा तुर्क व उनके समर्थक, सुधारों को शीघ्र लागू करने तथा प्रगतिशील उपायों को तेज़ी से कार्यान्वित करने के लिए आतुर थे। उनकी दृष्टि में देसाई और उनके साथी नेताओं का गुट राष्ट्र की प्रगति में रुकावट बन रहा था। उनमें से एक चंद्रशेखर ने देसाई के विरुद्ध विभिन्न आरोप लगाये। इससे दल के भीतर एक हलचल मच गई। एस० निजलिंगप्पा ने, जो सांगली (हैदराबाद के निकट) के वार्षिक अधिवेशन में जनवरी 1969 में कांग्रेस अध्यक्ष बने थे और जिन्हें श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उस समय पूरा समर्थन दिया था, 13 मार्च, 1969 को कार्यसमिति की एक बैठक चंद्रशेखर के आचरण पर विचार करने के लिए बुलाई। इसने एक प्रस्ताव पास करके कांग्रेसियों

द्वारा संसद एवं राज्य विधान मण्डलों में अपने दल के साथियों पर व्यक्तिगत आक्रमण करने की मनाही की और कांग्रेस संसदीय बोर्ड की नेता श्रीमती इन्दिरा गांधी से अनुरोध किया कि वे श्री चंद्रशेखर के विरुद्ध कार्रवाई करें।

श्रीमती गांधी कांग्रेस कार्यसमिति के अपने सहयोगियों की सुस्ती से बेचैनी अनुभव कर रही थीं। श्री निजलिंगप्पा द्वारा इसकी रचना से वे नाखुश थीं क्योंकि श्री दिनेश सिंह जैसे उनके कुछ प्रिय सहयोगियों को इसमें नहीं लिया गया था और श्री चन्द्रभानु गुप्त जैसे कुछ अन्य व्यक्ति जिन्हें वे पसन्द नहीं करती थीं, इसमें ले लिए गये थे। पर उन्होंने अपनी भावनाओं को प्रकट नहीं किया और एक सहयोगी जैसा व्यवहार करती रहीं। लेकिन अनिवार्यतः वह सैद्धान्तिक मतभेद जो विशेषकर नेहरू जी की मृत्यु के बाद इन सब वर्षों के बीच दबा रहा था, अप्रैल 1969 के अन्तिम सप्ताह में हुए अ० भा० कांग्रेस कमेटी के फ़रीदाबाद (हरियाणा) वार्षिक अधिवेशन में खुलकर सामने आ गया। दल के प्रमुख नेता सभी 'प्रगतिशील उपायों' पर बरस पड़े। उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों पर आक्रमण किया और कहा कि सार्वजनिक हो या निजी हर क्षेत्र की श्रेष्ठता का आधार लाभप्रदत्ता का तत्व होना चाहिए। उन्होंने इन उद्योगों के कुशल संचालन की माँग की, जिन्हें सरकार तब तक हाथ में ले चुकी थी और साथ ही निजी एकाधिकारों की प्रशंसा भी की। उसी दिन और उसी मंच से सरकार की प्रमुख श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आर्थिक मुद्दों पर जो कुछ भी कहा गया था, उसमें अधिकांश का विरोध किया।[14] उन्होंने दल के भीतर के एक उग्र वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व किया जो लाभ हो या न हो सार्वजनिक क्षेत्र को ही अपना लक्ष्य मानता था। लेकिन इन्दिरा जी और निजलिंगप्पा जी के बीच अभी खुला विवाद नहीं हुआ और मेल-मिलाप की दृष्टि से कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में निजलिंगप्पा की कार्यावधि को एक साल के लिए बढ़ा दिया गया।

युवा तुर्क कांग्रेस के अनुदारों के विरुद्ध बहुत-कुछ युद्ध की घोषणा कर चुके थे। 10 जुलाई से 13 जुलाई, 1969 तक बंगलौर में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक होनी थी। 7 जुलाई को इन लोगों ने एक पत्रक प्रेस में दिया, जिसे इन्होंने वहाँ विचार के लिए श्री निजलिंगप्पा को भेजा था। इसके लेखकों ने दावा किया कि इस पत्रक का उद्देश्य संघीय सरकार की आर्थिक नीतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सुझाव देना है जिससे कि उनके कथनानुसार देश में उत्पन्न विस्फ़ोटक स्थिति का मुकाबला किया जा सके। प्रस्तावों की मोटी रूपरेखा इस प्रकार थी :

1. आर्थिक विकास की गति में तेज़ी लाई जाये जिसके फलस्वरूप कमज़ोर वर्गों के रहन-सहन की अवस्था को सुधारा जा सके पर इसका परिणाम आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण अथवा आय एवं सम्पत्ति में विषमता की ओर वृद्धि नहीं होनी चाहिये।

[14]इन्दिरा गांधी-निजलिंगप्पा मतभेदों के लिए देखिये श्री कुलदीप नायर की पुस्तक 'इन्डिया : दि क्रिटिकल ईयर्स' (विकास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1971), पृष्ठ 1-63।

2. मालिक और कर्मचारी, जमींदार और आसामी तथा साहूकार और ऋणी के बीच असमान आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाया जाये और समर्थों द्वारा कमज़ोरों के आर्थिक शोषण को समाप्त किया जाये।

3. ऐसी आर्थिक संस्थाओं की नव-स्थापना की जाये, उन्हें प्रोत्साहित किया जाये और उनमें सुधार किया जाये तो लोकतांत्रिक समाजवाद की दिशा में समाज के रूपान्तर में प्रभावशाली साधन बन सकती हैं।

आर्थिक नीतियों में निम्न परिवर्तन सुझाये गये :

1. सभी निजी व्यापारिक बैंकों और आम बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।

2. राष्ट्रीयकृत वित्तीय संस्थाओं को ऐसे लोगों के नियन्त्रण में रखा जाना चाहिए, जो सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति आस्थावान हों और सार्वजनिक क्षेत्र के दर्शन में विश्वास रखते हों।

3. शहरी सम्पत्ति पर और उससे होने वाली आय पर अधिकतम सीमा लागू की जानी चाहिए।

4. अनुत्पादक व्यय तथा प्रकट उपभोग पर अधिकतम सीमा लागू की जानी चाहिए।

5. निगम क्षेत्र पर कर की एक प्रगतिशील दर लागू की जानी चाहिए।

6. राष्ट्रीयकृत सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं को, ऋण प्राप्ति की अर्हता के मापदण्ड को बदलना चाहिए और ऋण देने की नीतियों द्वारा योजना के प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों में रुपया लगाने को प्रोत्साहित करना चाहिए।

7. सरकार एकाधिकार प्राप्त व्यापारिक संस्थाओं को जो सहायता देती है, उसे 'ऐक्विटि होल्डिंग्स' में बदल दिया जाना चाहिए जिससे कि एकाधिकार-सम्पन्न व्यापारिक संस्थाओं द्वारा कमाये गये लाभ में सार्वजनिक क्षेत्र की वे वित्तीय संस्थाएँ अपना हिस्सा बाँट सकें, जिन्होंने इन औद्योगिक संस्थाओं के लिए अधिकतम पूंजी उपलब्ध की है।

8. कम विकसित क्षेत्रों में नये उद्योगों को धन देने के विशेष प्रयास किये जाने चाहिएँ और पिछड़े हुए क्षेत्रों को सहायता देने के लिए विशेष फण्ड की नींव डाली जानी चाहिये।

युवा तुर्क ने ये सुझाव दिये :

1. दृढ़ चरित्र के व्यक्तियों द्वारा संचालित एक एकाधिकार निगम की स्थापना की जानी चाहिए।

2. ऐसी सभी नयी बड़ी औद्योगिक योजनाओं को, जिनमें एक करोड़ से अधिक की पूंजी लग रही हो, केवल सार्वजनिक अथवा सहयोगी क्षेत्र में ही अनुमति दी जानी चाहिये।

3. सार्वजनिक क्षेत्र की योजनाओं को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए।

4. वर्तमान सामर्थ्य का अधिकतम लाभ उठाने की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को आम उपभोग की चीजों का उत्पादन अपने हाथ में ले लेना चाहिए जिससे कि इन चीजों में निजी एकाधिकार को समाप्त किया जा सके।

5. सार्वजनिक क्षेत्र की योजनाओं के लिए एक व्यावसायिक संवर्ग (cadre) का निर्माण करने के विशेष प्रयास किये जाने चाहिये।

6. अधिकतम उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों को गृह उद्योगों के क्षेत्र के लिए संरक्षित रखना चाहिए और इन उत्पादनों में बड़े उद्योगपतियों का प्रवेश अस्वीकृत होना चाहिए।

7. वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से नई प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने के विशेष प्रयास किये जाने चाहिएँ, जिससे कि युवकों और शिक्षितों को रोज़गार देने के नये रास्ते निकल सकें।

8. जिन उद्योगों के लिए आवश्यक तकनीकी जानकारी हमारी अर्थव्यवस्था में पहले से ही विद्यमान है, उनके लिए विदेशी पूँजी की इजाज़त नहीं दी जानी चाहिए। इस प्रकार उत्पादकों को सच्चा प्रोत्साहन मिल सकेगा और राष्ट्रीय साधनों पर अनावश्यक दबाव बच सकेगा।

9. अन्तर्निगम लागतों और ऋणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

कृषि क्षेत्र के लिये ये सुझाव दिये गये :

1. सभी राज्य सरकारों से माँग की जानी चाहिए कि वे "भूमि का मालिक किसान" इस नारे को वास्तविक रूप देने के लिए तत्काल उपाय करें।

2. सरकार को देहाती क्षेत्रों में सहयोगी सेवाओं का जाल बिछाने के प्रयासों को तेज़ करना चाहिए, जिससे कि बिचौलियों को समाप्त किया जा सके।

3. खाद्यान्नों का थोक व्यापार और फालतू अनाज की उपलब्धि का काम सिर्फ सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों के हाथ में होना चाहिए जिससे कि अनाज की जमाखोरी और मुनाफाखोरी को रोका जा सके।

युवा तुर्क नेताओं ने दस-सूत्री कार्यक्रम को लागू करने की दृष्टि से पिछले दो वर्षों में हुई प्रगति पर निराशा व्यक्त की और चेतावनी दी कि यदि उनके द्वारा प्रस्तावित उपायों को लागू नहीं किया गया तो देश का लोकतांत्रिक ढाँचा और जिनके लिए कांग्रेस कृतसंकल्प है भारत के राष्ट्रीय जीवन के वे मूल्य चरमरा जायेंगे।

राष्ट्रपति पद के लिए नामज़दगी पर श्रीमती गांधी एवं निजलिंगप्पा में मतभेद (Rift between Mrs Gandhi and Nijalingappa becomes Wider over Presidential Nomination)

फ़रीदाबाद अधिवेशन के बाद कांग्रेस दल दो साफ और प्रखर गुटों में बँट गया। एक गुट क्रान्तिकारी सुधारों को तेजी से लागू करने पर जोर दे रहा था और दूसरा धीमें और सतर्कता से चलने की बात कह रहा था। देश में हताशा और हिंसा बढ़

रही थी और श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पहले गुट के साथ सहयोग करने का फैसला किया। बंगलौर में अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सामने उन्होंने एक नोट पेश किया जिसे उन्होंने अपने "बिखरे विचार" बताया। इसमें आर्थिक नीति सम्बन्धित प्रस्तावों की एक सूची थी, जिसमें आम बीमे और कच्चे माल के आयात का राष्ट्रीयकरण, कृषि भूमि तथा शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा का निर्धारण, एकाधिकारी संस्थाओं की शक्ति को कुचलने के लिए औद्योगिक लाइसेन्स देने की नीति में परिवर्तन, सभी उपभोक्ता उद्योगों को लघु उद्योगपतियों के लिए सुरक्षित करने, उद्योगों में अस्वास्थ्यकर प्रवृत्तियाँ पैदा करने वाले प्रतिबन्धित व्यापार के तरीकों पर रोक लगाने, औद्योगिक मुनाफ़ों में मज़दूरों की हिस्सेदारी, कानून की हद से अभी तक बाहर मज़दूरों के लिए एक न्यूनतम वेतन तथा भूमिसुधारों को जोश के साथ लागू किया जाना शामिल था।

उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया कि "या तो हम सबसे बड़े पाँच या छ: बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने पर विचार कर सकते हैं अथवा ऐसे निर्देश जारी कर सकते हैं कि बैंकों के साधनों को मुख्यत: सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रखा जाये"।

युवा तुर्कों का 'पत्रक' और प्रधान मन्त्री का "नोट" निजलिंगप्पा और सिंडीकेट के लिये तिरस्करणीय था लेकिन देश के और दल के भीतर आम मत के समक्ष वे उनका खुला विरोध नहीं कर सकते थे। पर बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव को तो पचाया नहीं जा सकता था। कामराज ने उसका समर्थन किया, लेकिन निजलिंगप्पा और सिंडीकेट ने उसका विरोध किया। अ० भा० कांग्रेस कमेटी के 390 सदस्यों में 146 के गुट ने तत्काल राष्ट्रीयकरण की माँग की लेकिन एक छोटे गुट ने मामले को अगले अधिवेशन तक के लिए टाल देने का अनुरोध किया। 12 जुलाई की संध्या को गृह मन्त्री वाई० बी० चह्वाण ने एक प्रस्ताव का मसौदा कार्यकारिणी के सामने रखा जिसमें बैंकों के राष्ट्रीयकरण का जिक्र न करते हुए इन्दिरा जी के प्रस्तावों का स्वागत किया गया और केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से माँग की गई कि वे उन्हें लागू करने के लिए 'तत्काल ठोस कदम' उठायें तथा अ० भा० कांग्रेस कमेटी के अगले अधिवेशन में उठाये गये कदमों पर रिपोर्ट पेश करें। देसाई के सुझाव पर समय की सीमा को हटा दिया गया और अन्तिम रूप से स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि केन्द्रीय एवं राज्य-सरकार 'आवश्यक कदम तेज़ी से उठायें'। श्रीमती गांधी ने कांग्रेसियों से अपील की कि वे अपने को "एक वास्तविक समाजवादी दल" के रूप में बदलें और बिना किसी का नाम लेते हुए उन्होंने दल के भीतर विरोधी नीति पर चलने के लिए विरोधियों की आलोचना की।

निजलिंगप्पा और उनके गुट ने इन्दिरा जी के नोट को तो एक राजनीतिक तद्बीर रूप में स्वीकार कर लिया लेकिन भारत के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए दल के उम्मीदवार के मुद्दे पर वे खुले विरोध में आ गये। श्री ज़ाकिर हुसैन की मई 1969 में मृत्यु हो गई और एक नये व्यक्ति का चुनाव उनके स्थान पर होना था।

श्रीमती गांधी ने जगजीवन राम का नाम प्रस्तावित किया पर उन्होंने श्री संजीवा रेड्डी को उम्मीदवार बनाने का सुझाव दिया । केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने श्री रेड्डी को चुन लिया। श्रीमती गांधी ने इस चुनाव से असहमति प्रकट की और विरोध में यह कहती हुई बैठक से चली गईं कि "आप लोगों को इसके परिणाम भुगतने होंगे"। बाद में उन्होंने केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के फैसले का समर्थन करने की बात कही और रेड्डी के पक्ष में भरे गये नौ नामज़दगी पत्रों में से एक पर हस्ताक्षर भी किये ।[15]

बंगलौर से लौटने के कुछ ही दिन बाद प्रधान मन्त्री ने वित्त विषय देसाई से ले लिया और उसे स्वयं अपने हाथ में रखा । विरोध के रूप में देसाई ने मंत्रिमण्डल से इस्तीफ़ा दे दिया । निजलिंगप्पा और चह्वाण ने श्रीमती गांधी और देसाई से अपनी स्थितियों पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया, लेकिन दोनों ही अपनी-अपनी जगह पक्के रहे । कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा ने प्रधान मन्त्री को बहुत-कुछ एक चुनौती दे डाली कि वे वित्त विषय देसाई को लौटा दें । कामराज ने भी उनसे ज़ोरदार अनुरोध किया । लेकिन श्रीमती गांधी ने अपना फ़ैसला नहीं बदला और "अधिकतम खेद के साथ" उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया । कुछ ही दिन बाद एस० के० पाटिल ने घोषणा की कि प्रधान मन्त्री की कार्रवाई 'बदले की भावना' से प्रेरित है और, इसका 'उचित उपाय किया ही जाना चाहिए' ।

इस घटना के कुछ ही समय बाद संघीय मन्त्रिमण्डल ने, कहा जाता है एकमत से, चौदह बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण को स्वीकृति दे दी और 19 जुलाई की संध्या को राष्ट्रपति ने इस फसले को कार्यरूप देने के लिए बैंकिंग कम्पनीज़ (संस्थानों के अर्जन और हस्तांतरण) का अध्यादेश जारी कर दिया । चार अगस्त को लोक सभा ने और 8 अगस्त को राज्य सभा ने अध्यादेश के स्थान पर कम-अधिक उसी ढंग का एक विधेयक स्वीकार कर लिया ।

देसाई को वित्तमन्त्री पद से हटाया जाना और बैंकिंग कम्पनीज़ विधेयक को स्वीकार किया जाना राष्ट्रपति के चुनाव के साथ-साथ ही घटा । कांग्रेस उम्मीदवार के रूप में रेड्डी के नाम की घोषणा के कुछ समय बाद ही वी० वी० गिरि ने, जो जाकिर हुसैन की मृत्यु के बाद से कार्यवाहक राष्ट्रपति थे, एक वक्तव्य जारी करके चुनाव में खड़े होने के अपने फैसले की घोषणा कर दी । उसी दिन श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस बात से इन्कार किया कि गिरि उन्हीं के इशारे पर उम्मीदवार बने हैं । निजलिंगप्पा को इस बात की आशंका थी कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के अनुयायी रेड्डी को समर्थन नहीं देंगे । इसलिए उन्होंने स्वतंत्र पार्टी और जनसंघ के नेताओं से बातचीत चलाई और उनसे अनुरोध किया कि उनके सदस्य यदि अपनी पहली पसन्द के मत रेड्डी के पक्ष में न डाल सकें तो कम से कम दूसरी पसन्द के मत उन्हें ज़रूर दें । श्रीमती गांधी के विश्वासपात्र जगजीवन राम और फ़खरूद्दीन अली अहमद ने कांग्रेस अध्यक्ष

[15]इनमें से एक पत्र पर श्री जगजीवन राम ने भी हस्ताक्षर किये थे ।

से जवाबतलब किया कि उन्होंने उन दलों के नेताओं के पास पहुँच क्यों की, क्योंकि यदि स्थिति को साफ़ नहीं किया जाता तो इसका चुनावों पर 'गम्भीर असर' पड़ सकता था। कांग्रेस संसदीय दल ने दल के भीतर उत्पन्न मतभेदों पर विचार करने के लिए और रेड्डी की उम्मीदवारी के पक्ष में श्रीमती इन्दिरा गांधी और श्री निजलिंगप्पा की अपीलों को सुनने के लिए 7 अगस्त को एक बैठक की। लेकिन यह बैठक प्रेस के मतानुसार "अभूतपूर्व शोर-शराबे" के बीच समाप्त हो गई। निजलिंगप्पा ने रेड्डी के पक्ष में एक सचेतक जारी करने का अनुरोध इन्दिरा जी से किया लेकिन उन्होंने ऐसा करना असंवैधानिक बताकर उससे इन्कार कर दिया। उनको शक था और उन्होंने खुले आम कहा भी कि श्री रेड्डी को भारत का राष्ट्रपति चुनवाकर निजलिंगप्पा उनके मन्त्रिमण्डल के स्थान पर स्वतंत्र पार्टी और जनसंघ के समर्थन से एक मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाने का 'एक गुप्त समझौता' इन दलों के साथ कर रहे हैं।[16]

निजलिंगप्पा पर और उनके समर्थक सिंडीकेट पर श्रीमती गांधी द्वारा लगाए गये आरोपों को बेअसर करने के लिए उनके अनुयायियों ने श्रीमती गांधी के विरुद्ध एक ज़ोरदार प्रचार अभियान शुरू कर दिया। बिहार की एक संसत्सदस्या श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा ने 4 अगस्त को पटना के 'सर्चलाइट' में प्रकाशित एक लेख में कहा कि श्रीमती गांधी कम्युनिस्टों के साथ गठजोड़ कर रही हैं जिससे कि 1972 के चुनावों के बाद भी सत्ता को हथियाये रह सकें। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की एक भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी ने 10 अगस्त को एक प्रेस सम्मेलन में कहा कि श्रीमती इन्दिरा गांधी 'कम्युनिस्टों के सहयात्री' उन लोगों के प्रभाव में हैं जो न सिर्फ कांग्रेस के भीतर बल्कि प्रशासन में भी अपनी जड़ें जमा चुके हैं। दूसरे प्रमुख कांग्रेसियों ने भी, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से, ऐसे ही आरोप लगाए। उदाहरण के लिए कामराज ने कहा कि कम्युनिस्ट कांग्रेस को भीतर से तोड़ने के उद्देश्य से दल में घुसपैठ की कोशिश कर रहे हैं।

इन उद्‌गारों ने दोनों गुटों के बीच विरोध को तेज़ कर दिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके समर्थकों ने प्रचार किया कि हर एक को अपनी आत्मा की आवाज़ के अनुसार मत देना चाहिए। 13 अगस्त को काश्मीर विधान सभा के कांग्रेमी सदस्यों ने श्री रेड्डी को मत न देने का फ़ैसला किया। पंजाब के बहुसंख्यक कांग्रेसी विधायकों ने मुक्त मतदान को समर्थन देने की घोषणा की। कांग्रेस संसदीय दल के भीतर दोनों पक्षों के समर्थकों ने मुक्त मतदान के सिद्धान्त के पक्ष में और उसके विरुद्ध

[16]श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कानपुर में उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी की बैठक में बोलते हुए 23 दिसम्बर, 1969 को षड्यन्त्र के आरोप को दोहराया था। देखिए 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', 24 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 1। निजलिंगप्पा ने इससे साफ़ इन्कार किया था। देखिए, वही 29 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 1।

हस्ताक्षर इकट्ठे किए ।

राष्ट्रपति के चुनाव में कांग्रेसी उम्मीदवार पराजित—मतभेद और अधिक तीव्र (Congress Candidate Loses Presidential Election—Rift becomes Acute)

कांग्रेस के भीतर के इस झगड़े और आरोपों एवं प्रत्यारोपों का परिणाम यह हुआ कि उसका उम्मीदवार चुनाव हार गया, श्री गिरि 16 अगस्त को चुन लिए गये । इसके फलस्वरूप दोनों गुटों के बीच विवाद बहुत ही उग्र हो उठा । निजलिंगप्पा ने जगजीवन राम, फ़खरुद्दीन अली अहमद, कमलापति त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश के कांग्रेस अध्यक्ष, ए० पी० शर्मा, बिहार के कांग्रेस अध्यक्ष तथा पंजाब के कांग्रेस अध्यक्ष जैलसिंह से चुनाव के दौरान उनके आचरण का स्पष्टीकरण माँगा । उनके अनुयायियों ने आवाज़ उठायी कि श्रीमती इन्दिरा गांधी को प्रधान मंत्री पद से हटा दिया जाए । जवाबी चोट के रूप में कश्मीर, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और दिल्ली के 60 से अधिक अ० भा० कांग्रेस कमेटी सदस्यों ने 16 अगस्त को श्रीमती गांधी के समर्थन में एक पत्र लिखकर माँग की कि निजलिंगप्पा में अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक विशेष बैठक बुलाई जाए । 23 अगस्त को कांग्रेस संसदीय बोर्ड के 436 सदस्यों में से 248 ने एक बैठक करके प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें प्रधान मंत्री में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया गया और कहा गया कि उन्होंने "कांग्रेस को एक नया आयाम प्रदान किया है और स्वीकृत सामाजिक आर्थिक कार्यक्रमों के आधार पर वे उसे जनता के और निकट ले आई हैं ।"

दल के भीतर की फूट ने, इस प्रकार, बहुत ही विकराल रूप ले लिया ।

कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा परस्पर समझौते के दो प्रस्ताव पारित (CWC Adopts Two Resolutions on Compromise Settlement)

चह्वाण और तमिलनाडु के कांग्रेस अध्यक्ष सी० सुब्रह्मण्यम ने बढ़ते हुए मतभेदों को दूर करने की एक कोशिश की और निजलिंगप्पा से अनुरोध किया कि वे कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक बुलायें । कार्यसमिति की बैठक 25 अगस्त को हुई । उसमें चह्वाण और सुब्रह्मण्यम द्वारा तैयार किये गए दो प्रस्ताव स्वीकार किये गए, जिनमें एकता की अपील की गई और श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा लगाए गए आरोपों से निजलिंगप्पा को मुक्त कर दिया गया। एकता सम्बन्धी प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेसजनों को 'ऐसी स्थितियाँ पैदा करनी चाहिएँ जिनमें दल का सामान्य और स्वस्थ संचालन फिर से किया जा सके' और उन्हें कांग्रेस की 'स्वीकृत नीतियों के प्रति समर्पण को आधार बनाकर संगठन में एकता पैदा करने की कोशिश' करनी चाहिए और इस प्रकार 'राजनीतिक एवं आर्थिक मोर्चों पर एक नयी सक्रियता' को जन्म देना चाहिए। निजलिंगप्पा को आरोपों से मुक्त करने वाले प्रस्ताव में कहा गया कि 'समय विशेष पर

प्राप्त सूचनाओं के आधार पर गलत धारणाएँ बन जाने के कारण ही अध्यक्ष के विरुद्ध आरोप लगाए गए थे और इसलिए वे अमान्य हैं।'

इन प्रस्तावों के समक्ष निजलिंगप्पा द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव के दौरान जगजीवन राम, फ़ख़रुद्दीन अली अहमद तथा अन्यों को उनके आचरण की सफाई देने के लिए भेजे गए नोटिस वापस ले लिए गए।

कांग्रेसी नेताओं की सुलह समाप्त (Truce among Congress Leaders Ends)

कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि दोनों गुटों के बीच मतभेद समाप्त हो गए हैं लेकिन उनके बीच की दरार का कारण मूलभूत सिद्धान्त था और एकता का प्रस्ताव बहुत ही सतही था। सन्धि अधिक देर टिकी न रही और आरोप एवं प्रत्यारोप फिर से शुरू हो गए। श्रीमती गांधी के विरोधियों ने यह आरोप फिर से लगाया कि वे कांग्रेस दल को कम्युनिस्टों के प्रभाव में ला रही हैं। उन्होंने दस-सूत्री कार्यक्रम से हटने का आरोप भी उन पर लगाया। निजलिंगप्पा ने कहा कि वे 'स्वयं तो झगड़े उठाती हैं और स्वयं उन्हें शान्त करने की कोशिश करती हैं।' देसाई ने धमकी दी कि प्रधान मंत्री ने जो कुछ किया है उसके लिए उनसे क्षमा मंगवाने के लिए वे सत्याग्रह करेंगे। दूसरी ओर सरकार और दल दोनों में इन्दिरा जी के समर्थकों ने 23 सितम्बर को माँग की कि निजलिंगप्पा को हटाने और एक नया अध्यक्ष चुनने के लिए अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक शीघ्र बुलाई जाए। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि 'आत्महत्या के लिए' एकता लाने में उन्हें कोई रुचि नहीं है। कांग्रेस के संविधान की कुछ धाराओं का लाभ उठाकर निजलिंगप्पा ने तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षता से सुब्रह्मण्यम द्वारा इस्तीफ़ा दे दिए जाने के बाद कांग्रेस कार्यसमिति की सदस्यता से भी उन्हें हटा दिया। इसके कुछ ही देर बाद 14 अक्तूबर को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने निजलिंगप्पा समर्थक माने जाने वाले 4 वरिष्ठ मंत्रियों से त्यागपत्र दे देने का अनुरोध किया। श्री निजलिंगप्पा ने आरोप लगाया कि उन्हें बदला लेने की भावना से हटाया गया है और श्रीमती गांधी की यह कार्रवाई एकता प्रस्ताव के अनुकूल नहीं है। श्रीमती गांधी के समर्थकों ने यह माँग करते हुए, कि नए अध्यक्ष के चुनाव के लिए 30 दिसम्बर तक अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक हो जानी चाहिए, एक हस्ताक्षर अभियान शुरू किया। 18 अक्तूबर को इन्दिरा जी को लिखे गए लम्बे पत्र में कांग्रेस अध्यक्ष ने उन पर और उनके समर्थकों पर आरोप लगाया कि वे उनके विरुद्ध कीचड़ उछालने का अभियान चला रहे हैं, कम्युनिस्टों और विरोधी दलों से समर्थन ले रहे हैं तथा दलीय संगठन एवं सरकार में एक व्यक्ति के शासन की स्थापना की तैयारी के लिए एक व्यक्ति पूजा का आन्दोलन चला रहे हैं। उन्होंने यह भी इशारा किया कि इन्दिरा जी को केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के नेता पद से हटाया जा सकता है।

कांग्रेस का दो दलों में विग्रह (Congress Party Splits into Two)

बढ़ती हुई खींचतानी के बीच दल के अध्यक्ष ने फ़खरुद्दीन अली अहमद को कार्यसमिति से अलग कर दिया। उनका स्पष्ट उद्देश्य, कार्यसमिति में अपने निजी बहुमत को स्थिर बनाना था। 31 अक्तूबर को हुई कार्यसमिति की बैठक ने, जिसका 21 सदस्यों में से श्रीमती इन्दिरा गांधी के दस अनुयायी सदस्यों ने बहिष्कार किया था, अ० भा० कांग्रेस कमेटी के 709 निर्वाचित सदस्यों में से 405 द्वारा अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाने की प्रार्थना को ठुकरा दिया। बहिष्कार करने वाले दस सदस्यों ने एक अलग बैठक की और तय किया कि अ० भा० कांग्रेस कमेटी का विशेष अधिवेशन दिल्ली में 22-23 नवम्बर को होगा। 3 नवम्बर को प्रधान मंत्री ने निजलिंगप्पा एवं सिंडीकेट के पक्के समर्थक डा० राम सुभग सिंह को अपने मन्त्रिमण्डल से अलग कर दिया।

दोनों पक्ष तेज़ी से विग्रह की ओर बढ़ते लग रहे थे। 8 कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों ने दिल्ली में एक बैठक की, और समझौते की शर्तें विकसित करने की कोशिश की लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। निजलिंगप्पा के प्रभाव वाली कांग्रेस समिति ने श्रीमती गांधी को दल की प्राथमिक सदस्यता से हटा दिया। इन्दिरा जी के बाद कांग्रेस संसदीय बोर्ड के 432 में से 311 सदस्य दल छोड़ गए और इन लोगों ने 13 नवम्बर को एक बैठक की और इन्दिरा जी के दल से निकाले जाने को गलत और अनुचित बताते हुए और उनके नेतृत्व में पूरा विश्वास प्रकट करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार किया।[17] चह्वाण ने इस प्रस्ताव को पेश किया और दावा किया कि "हम असल कांग्रेस हैं।" उसी दिन संध्या को इन्दिरा जी के विरोधी लगभग 65 सदस्य श्री मोरारजी देसाई के घर पर इकट्ठे हुए और कांग्रेस संसदीय बोर्ड का नया नेता चुनने का फ़ैसला उन्होंने किया। 10 नवम्बर को लोक सभा के 60 सदस्यों और राज्य सभा के 36 सदस्यों ने एक बैठक करके लोक सभा में कांग्रेस संसदीय दल के नेता के रूप के डा० राम सुभग सिंह को और राज्य सभा में नेता के रूप में एस० एन० मिश्र को चुन लिया। देसाई को केन्द्रीय संसदीय दल का अध्यक्ष चुना गया।

जब 17 नवम्बर को संसद का अधिवेशन शुरू हुआ तो डा० सिंह के अनुयायी विरोधी पक्ष के साथ बैठे। स्वतन्त्र पार्टी के पीलू मोदी ने एक 'काम रोको' प्रस्ताव पेश करके माँग की कि "अन्तिम क्षण में नियन्त्रण ज़बरदस्ती प्राप्त करके रबात में जो देश का अनावश्यक अपमान कराया गया, उसके रूप में सरकार की विदेशी नीति की असफलता" पर विचार किया जाए। पक्ष में 140 और विपक्ष में 306 मत आने पर प्रस्ताव रद्द हो गया। 57 विरोधी कांग्रेसी सदस्यों ने, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, प्रजा समाजवादी और संयुक्त समाजवादी दलों ने तथा कुछ स्वतन्त्र सदस्यों ने पक्ष में मत दिया तथा

[17] 20 अन्य सदस्यों ने जो समय पर दिल्ली नहीं पहुँच सके तार और टेलीफ़ोन द्वारा अपना समर्थन भेजा।

209 कांग्रेसी सदस्यों, दो कम्युनिस्ट पार्टियां द्रविड़ मुनेत्र कषगम और कुछ स्वतन्त्र सदस्यों ने विरोध में मत डाले।

उसी दिन डा० सिंह ने लोक सभा के अध्यक्ष के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार सरकार-समर्थक सदस्य कांग्रेस पार्टी कहे जाते रहेंगे और उनका अपना दल कांग्रेस दल (विरोधी) कहा जाएगा।[18]

श्रीमती गांधी के गुट की (10 सदस्यों की) कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा बुलाया गया अ० भा० कांग्रेस कमेटी का विशेष अधिवेशन पहले के निर्णयानुसार 22-23 नवम्बर को नई दिल्ली में हुआ और उसमें 705 निर्वाचित सदस्यों में से 441 और 94 नामजद सदस्यों में से 54 शामिल हुए। एक प्रस्ताव स्वीकार करके निजलिंगप्पा को अध्यक्ष पद से हटा दिया गया और सुब्रह्मण्यम को अन्तरिम अध्यक्ष चुन लिया गया। निजलिंगप्पा द्वारा श्रीमती गांधी, सुब्रह्मण्यम तथा फ़ख़रुद्दीन अली अहमद के विरुद्ध की गयी कार्रवाई को रद्द कर दिया गया।

कांग्रेस के दोनों धड़ों के अलग-अलग अधिवेशन (Separate Sessions of Two AICC Factions)

कांग्रेस (संगठन) ने अपना वार्षिक अधिवेशन 21-22 दिसम्बर, 1969 को अहमदाबाद में किया और उसके अ० भा० कांग्रेस कमेटी सचिव श्यामधर मिश्र ने दावा किया कि अविभाजित दल की अ० भा० कांग्रेस कमेटी के 4650 प्रतिनिधियों में से 2707 तथा निर्वाचित और नामजद 804 सदस्यों में से 440 उसमें उपस्थित थे। पहले दिन अधिकतर भाषणों में श्रीमती गांधी पर व्यक्तिगत आक्रमण किए गये। निजलिंगप्पा ने उनकी तुलना गायबल्स (हिटलर के लोक सूचना एवं प्रसार के राष्ट्रीय मंत्रालय का प्रधान) से की, और उन पर 'छल' और 'धोखाधड़ी' तथा 'अपने निजी व्यक्तित्व की महत्ता से ग्रस्त' होने के आरोप लगाए, और उन्हें आन्तरिक और बाह्य दोनों मोर्चों पर 'विफलताओं' की दोषी ठहराया। उन्होंने कहा कि आन्तरिक मोर्चे के सम्बन्ध में श्रीमती गांधी की समाजवाद की बातें 'प्रपंच' हैं और क्रान्तिवाद की उनकी घोषणाओं का उद्देश्य आगे बढ़ना नहीं बल्कि 'अपनी असमर्थताओं और अकुशलताओं को छुपाने के प्रयास भर हैं'। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कम्युनिस्टों के सामने 'घुटने टेक' दिए हैं और भूतपूर्व पार्टी सदस्यों ने क्रमशः प्रशासन एवं संगठन को अपने हाथों में ले लिया है। बाहरी मोर्चे के सम्बन्ध में श्री निजलिंगप्पा ने सबसे जोरदार आरोप यह लगाया कि "अपने लिए कम्युनिस्टों का समर्थन अर्जित करने की खातिर भारत की कुछ नीतियों को सोवियत संघ का पिछलग्गू बनाने में"

[18]इस दल ने बाद में 'संगठन कांग्रेस' नाम अपना लिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस अलग-अलग नामों से पुकारी जाती रही—कांग्रेस (जगजीवन राम), कांग्रेस, (इंदिरा), कांग्रेस (शासक) और कांग्रेस (नई)।

भी वे नहीं हिचकिचायी हैं। एस० के० पाटिल, राम सुभग सिंह, कामराज और देसाई इत्यादि कुछ अन्य वक्ताओं ने भी विषय समिति की बैठक में ऐसी ही निन्दात्मक भाषा का प्रयोग किया।[19]

अगले दिन लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता के प्रति अपनी आस्था की व्याख्या करते हुए कांग्रेस के पिछले सभी कार्यक्रमों की पुष्टि की गई। ये कार्यक्रम थे—किसानों के अपनी भूमियों के स्वामी बनने के लिए अन्तिम तिथि निश्चित करना, फ़सलों और पशुओं का बीमा करना आरम्भ करना, औद्योगिक एवं अन्य कामगारों के लिए न्यूनतम वेतन की अदायगी, कारखानेदारों, व्यापारियों, कलाकारों और लघु उद्योगों के लिए लगातार बढ़ते हुए अवसर उपलब्ध करना, राजाओं के विशेषाधिकारों एवं प्रिवी पर्सों की समाप्ति, गृह निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों का विस्तार, सम्पत्ति एवं आय की भारी विषमताओं में कमी, और पद-दलित वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लोगों की दशा में सुधार। अधिवेशन में प्रण लिया गया कि 1975 तक हर परिवार को एक न्यूनतम जीवन स्तर मिल जाना चाहिए। पूर्ण अधिवेशन में दल के अध्यक्ष निजलिंगप्पा की कार्यावधि को दिसम्बर 1970 तक बढ़ा देने के कार्यसमिति के फ़ैसले की तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी को दल से निष्कासित करने की भी पुष्टि कर दी गई।

शासक कांग्रेस ने अपना वार्षिक अधिवेशन बम्बई में 28-29 दिसम्बर को आयोजित किया। संगठन कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन को ग़ैरकानूनी करार देते हुए शासक कांग्रेस के महा मन्त्री एच० एन० बहुगुणा ने दावा किया कि 704 निर्वाचित सदस्यों में से, जिनके नाम फरीदाबाद अधिवेशन के समय सूची में थे, 435 सदस्य तथा 57 नामज़द सदस्य इस प्रकार कुल 492 सदस्य उपस्थित थे।[20] समाचारपत्रों ने अनुमान लगाया कि पूर्ण अधिवेशन में लगभग 5 लाख व्यक्ति उपस्थित थे। दल के अध्यक्ष जगजीवन राम ने अपने भाषण में कहा, "हम खिल्ली का जवाब खिल्ली से, आरोप का जवाब आरोप से और गाली का जवाब गाली से नहीं देंगे।" उनकी धारणा थी कि संगठन कांग्रेस साम्प्रदायिक एवं कट्टरपंथी दलों के साथ गठजोड़ कर रही है और देश की रक्षक होने का ढोंग करती है। उन्होंने कहा कि समाजवाद के मार्ग को त्यागने का अर्थ देश को 'अंधे कुँए में धकेलना' होगा, और सचेत किया कि जो व्यक्ति 'एकाधिकारवाद' के पृष्ठ पोषक हैं वे योजना के स्थान पर मुक्त व्यापार की अर्थ व्यवस्था

[19]देखिए **'दि हिन्दुस्तान टाइम्स'**, 22 दिसम्बर, 1969 पृष्ठ 1 और 9 जनवरी, 1970 पृष्ठ 14। **टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 6 दिसम्बर, 1970 व 7 दिसम्बर, 1970 तथा **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 9 जनवरी, 1971, पृष्ठ 14 भी देखिए।

[20]बहुगुणा ने आरोप लगाया कि अहमदाबाद अधिवेशन में शामिल बताये गए सदस्यों की सूची में निजलिंगप्पा ने हेरा-फेरी की थी। देखिए, वही 18 दिसम्बर, 1969।

उच्चतम न्यायालय में पहुँचा और उसने व्यवस्था दी कि श्रीमती गांधी के नेतृत्व की कांग्रेस ही असली कांग्रेस है। तब से निजलिंगप्पा के नेतृत्व का नाम संगठन कांग्रेस पड़ गया।

विग्रह के परिणामस्वरूप कांग्रेस के मूल गुणों में परिवर्तन नहीं (Split Meant No Fundamental Change in the Character of Congress)

कांग्रेस में जो सत्ता-संघर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति के शीघ्र बाद शुरू हुआ और जो चौथे आम चुनाव के बाद एक विचारधारा सम्बन्धी संघर्ष के रूप में परिणत हो गया था, दल के प्रत्यक्ष विभाजन के रूप में समाप्त हुआ। किन्तु इस विभाजन से दोनों में से एक भी धड़े के आधारभूत मूल गुणों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह सत्य है कि आमूला सुधारवादी (युवा तुर्क) धड़ा श्रीमती गांधी के नेतृत्व की कांग्रेस में शामिल हुआ पर अन्य सभी प्रकार के व्यक्ति दोनों धड़ों में शामिल रहे। उनके चयन का मुख्य आधार यह था कि—उनमें से कौन भविष्य में अधिक अच्छे अवसर प्रदान कर सकता है और किस की विजय की अधिक सम्भावना है। ऐसा कुछ भी नहीं था जो उन्होंने अपने क्रमश: अहमदाबाद व बम्बई-अधिवेशनों में न कहा हो, अथवा जिसके प्रति अपना उत्तरदायित्व स्वीकार न किया हो। दोनों ही स्थानों पर जो प्रस्ताव पास किये गए वे लगभग एक जैसे थे। वस्तुत:, ऐसा प्रतीत होता था कि कुछ ही मास पूर्व जो 10-सूत्री कार्यक्रम बनाया गया था, निजलिंगप्पा कांग्रेस उसके प्रति अधिक निष्ठावान और दृढ़ संकल्प थी।

संगठन कांग्रेस द्वारा सरकार विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयत्न (Organizational Congress Endeavours to Form Anti-Government Front)

कांग्रेस का विभाजन भारत के राजनीतिक जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी, और अन्य राजनीतिक दलों में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। 26 दिसम्बर, 1969 को जनसंघ की कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास करके श्रीमती गांधी के कम्युनिस्टों और मुस्लिम लीग के साथ 'अघोषित संयुक्त मोर्चे' की निन्दा की और "सभी राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक दलों से अपील की कि वे कम्युनिस्टों के खतरे की गम्भीरता को समझें और आपस की स्पर्धा की राजनीति की जगह सहयोग की राजनीति अपनायें।" तीन दिन बाद दल की आम सभा ने इस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया और एक संशोधन में कहा कि जनसंघ राष्ट्रवादी और लोकतंत्र में आस्था रखने वाले सभी दलों और व्यक्तियों के साथ एक सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर राज्यों में एवं केन्द्र में मिली-जुली सरकारें बनाने की कोशिश करेगा। स्वतंत्र पार्टी के नव-निर्वाचित अध्यक्ष एम० आर० मसानी ने 31 दिसम्बर, 1969 को घोषणा की कि वे केन्द्र में एक वैकल्पिक सरकार बनाने के उद्देश्य से संगठन कांग्रेस, जनसंघ, प्रजा समाजवादी पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट दल तथा अन्यों के साथ बातचीत करेंगे। प्रजा समाज-

वादी पार्टी ने घोषणा की कि वह जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी अथवा संगठन कांग्रेस से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगी और वह शासक कांग्रेस तथा उन अन्य दलों के साथ सम्पूर्ण तालमेल करेगी जो राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवाद के असंदिग्ध पक्षपाती हैं और लोकतांत्रिक समाजवादी नीतियों को निर्मित करने और उन्हें लागू करने में वह उनके साथ सहयोग करेगी। उसने कहा कि लोकतांत्रिक समाजवादी शक्तियों का संगठन अंधे कांग्रेस-विरोध से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी तीन गुटों में बँट गई। एक के नेता दल के एक भूतपूर्व अध्यक्ष एस० एम० जोशी बने, जिन्होंने इन्दिरा की सरकार को समर्थन देने की बात कही। दूसरे गुट के नेता मधु लिमये बने और उन्होंने इन्दिरा सरकार के विरुद्ध कम्युनिस्टों एवं दक्षिणपन्थी दलों दोनों से समझौता करने पर जोर दिया। राजनारायण के नेतृत्व में तीसरे गुट ने श्रीमती गांधी की सरकार और कम्युनिस्ट दलों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया। दल ने 10 जनवरी, 1970 को सोनपुर (बिहार) में एक विशेष अधिवेशन बुलाया और उसमें एक समझौता प्रस्ताव स्वीकार करके कहा कि वह श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार को उलटने के लिए किसी भी दल से मित्रता कर लेगा। उसने दलों के समर्थन का स्वागत किया जो एक कालबाधित समाजवादी कार्यक्रम में विश्वास रखते थे। उसने कहा कि वह राज्यों में संयुक्त मोर्चे स्थापित करेगा।

संगठन कांग्रेस की अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने कुछ विरोधी दलों की प्रतिक्रिया से उत्साहित होकर 28 जून, 1970 को एक प्रस्ताव स्वीकार करके संसद के भीतर और बाहर 'राष्ट्रवादी लोकतांत्रिक एवं समाजवादी शक्तियों' का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की पेशकश की। इसका आधार यह सोचा गया : (1) भारत की एकता और सुरक्षा, (2) संवैधानिक स्वतंत्रताओं की रक्षा तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं का संरक्षण, (3) व्यवस्था और शांति बनाए रखना तथा (4) एक धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना।

यह प्रस्ताव जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय क्रान्ति दल, अकाली दल, डी० एम० के०, मुस्लिम लीग और रिपब्लिकन पार्टी को भेजा गया। लेकिन केवल दक्षिणपंथी दलों की प्रतिक्रिया ही अनुकूल रही। पहले प्रयास में निराश होकर संगठन कांग्रेस ने फिर दूसरा प्रयास किया। 12 नवम्बर, 1970 को उसकी कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके श्री निजलिंगप्पा को अधिकार दिया कि वे सभी लोकतान्त्रिक दलों के बीच अधिकतम सहमति प्राप्त करने के लिए कदम उठायें जिससे कि लोकतन्त्र पर आये संगठित खतरे का प्रभावशाली ढंग से मुकाबला करने के लिए एक संयुक्त कार्रवाई की जा सके और इस फैसले को अखिल भारतीय एवं राज्य स्तरों पर लागू करने के लिए आवश्यक तंत्र का विकास किया जा सके। संगठन कांग्रेस की अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक 5-6 सितम्बर, 1970 को लखनऊ में हुई और उसने उपरोक्त प्रस्ताव को स्वीकार किया और निजलिंगप्पा को निर्देश दिया कि वे अन्य लोकतान्त्रिक दलों के नेताओं के साथ विचार-विनिमय करके चुनाव समझौतों तथा मिलकर काम करने की व्यवस्थाओं में से उत्पन्न सभी मुद्दों पर विचार करें और

फैसले लें।[22]

कांग्रेस द्वारा सी० सी० आई० से मित्रता (Congress Moves Closer to CPI)

दक्षिणपंथी दलों द्वारा गठजोड़ करने और एक मज़बूत मोर्चा प्रस्तुत होने के खतरे का सामना करने के लिए शासक कांग्रेस ने वामपंथी दलों को साथ लेना शुरू कर दिया। 14 जून, 1970 को सी० सुब्रह्मण्यम ने लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखने वाले सभी वामपंथी दलों की एकता की अपील की और पाँचवे आम चुनावों के बाद संसद का अवरुद्ध न होने देने का यही एकमात्र उपाय बताया। सितम्बर में केरल में मध्यावधि चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक संयुक्त मोर्चा बनाया और अच्युत मेनन के नेतृत्व में सी० पी० आई० प्रमुख संयुक्त मोर्चा सरकार स्थापित करने में सफल हो गई। 12 अक्तूबर को जगजीवन राम ने कहा कि केरल के उदाहरण को अन्य क्षेत्रों पर लागू नहीं किया जा सकता, लेकिन सब कुछ स्थानीय स्थितियों पर निर्भर करता है और कांग्रेस अन्य प्रगतिशील दलों के साथ समझौते कर सकती है।[23] सी० पी० आई० की राष्ट्रीय परिषद ने भी शासक कांग्रेस के साथ गठजोड़ के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार किया। नवम्बर-दिसम्बर 1970 में विपक्षी दलों ने श्रीमती गांधी की सरकार को अपदस्थ करने का प्रयत्न किया पर वे, मुख्यतः सी० पी० आई० की सहायता से बच निकलीं। कांग्रेस और सी० पी० आई० की घनिष्ठता से देश में ऐसी अटकलें लगाई जाने लगीं कि पाँचवें आम चुनाव में कांग्रेस सी० पी० आई० के साथ मिलकर चुनाव लड़ेगी।

लोक सभा के मध्यावधि चुनाव (Mid-Term Poll for Lok Sabha)

उपरोक्त स्थिति में देश की राजनीतिक शक्तियाँ गठजोड़ पर गठजोड़ बनाये जा रही थीं। इसी बीच श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति गिरि को लोक सभा भंग कर के मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह दी। गिरि ने उस पर तुरन्त अमल किया और 27 दिसम्बर, 1970 को आवश्यक आदेश जारी कर दिया।

इस कदम के कारण समझाते हुए श्रीमती गांधी ने कहा कि सदन को इसलिए भंग

[22]'दि हिन्दुस्तान टाइम्स' 7 दिसम्बर, 1970, पृष्ठ 1। चुनाव समझौतों को हरी झंडी देने वाला प्रस्ताव 7 के विरुद्ध 448 मतों से स्वीकार किया गया था। इस प्रकार गठजोड़ के विरोधी पूरी तरह उखड़ गए थे। जून 1970 में लोकतान्त्रिक एवं राष्ट्रवादी दलों के वृहद गठजोड़ के प्रस्ताव ने संगठन कांग्रेस के भीतर एक भीषण अन्तर्दलीय विवाद शुरू कर दिया था और लखनऊ में हुए फैसले के बाद, विशेषकर गुजरात में, दल में सामूहिक त्यागपत्र दिये गए। देखिए, वही 14 दिसम्बर, 1970 पृष्ठ 5।

[23]नवम्बर 1970 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने कांग्रेस से बातचीत शुरू की। एक संयुक्त वक्तव्य में दोनों दलों ने "समाजवादी नीतियाँ प्रवर्तित करने तथा परम्परावाद की शक्तियों, **यथा स्थिति** हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता एवं वामपंथी उग्रता समाप्त करने" में सहयोग करने की शपथ ली।

लोक सभा भंग कराने की कार्रवाई के परिणामस्वरूप यह कृत्य देश भर में बहस एवं गोष्ठियों का विषय बन गया। अनेक व्यक्तियों ने इसके औचित्य के पक्ष में और भी बहुत सी दलीलें पेश कीं। अनेक अन्य व्यक्ति श्रीमती इन्दिरा गांधी के तर्क से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि उन्होंने लोक सभा को केवल इसलिए भंग करवाया है कि उनकी सरकार की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई थी। ऐसे दो अवसर आये—एक तो रबात (मोरक्को में) हुए इस्लामी सम्मेलन में भारत द्वारा भाग लिये जाने के प्रश्न पर, और दूसरा जगजीवन राम द्वारा आयकर न दिये जाने पर जब विपक्षी दलों ने उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किये, और जैसा कि पहले बताया जा चुका है वे सी० पी० आई०, डी० एम० के० और मुस्लिम लीग की सहायता से अपनी रक्षा करने में सफल हो गईं। यह अलग बात है कि इन दलों द्वारा उनकी सहायता करने में उनकी अपनी-अपनी पृथक अभिसन्धियाँ थीं। 3 सितम्बर, 1970 को लोक सभा में 24वाँ संविधान संशोधन विधेयक जिसमें भूतपूर्व राजाओं के प्रिवी पर्सों की समाप्ति का प्रस्ताव था, केवल दो तिहाई मतों से पारित हो गया पर बाद में वह राज्य सभा द्वारा पारित नहीं किया गया। इन घटनाओं से प्रधान मन्त्री को पूर्ण विश्वास हो गया था कि उनकी सरकार कभी भी अपने विरोधियों के मतदान का शिकार हो सकती है।

श्रीमती गांधी के मध्यावधि चुनाव कराने के निर्णय के पक्ष में एक यह दलील भी प्रस्तुत की गई कि सर्वोच्च न्यायालय उनके क्रान्तिकारी सुधार के कार्यक्रम को लागू करने में बाधा डालती है। उदाहरणतया 15 दिसम्बर, 1970 को उसने 2 के मुकाबले 9 के बहुमत से, राजाओं की मान्यता समाप्त करने सम्बन्धी राष्ट्रपति के आदेश को निरस्त कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस निर्णय से प्रधान मन्त्री और उनके विश्वस्ततम सलाहकारों चह्वाण और जगजीवन राम को बहुत गहरी चिन्ता हुई और

उन्होंने यह निर्णय लिया कि उन्हें जनता से नया आदेश प्राप्त करना होगा। इस प्रकार उन्हें संसद में पहले से अधिक समर्थक मिलने की आशा थी, जिनकी सहायता से संविधान में संशोधन करके सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों पर अंकुश लगाना चाहती थीं।

श्रीमती गांधी की कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त (Mrs Gandhi's Congress Gets Absolute Majority)

लोक सभा भंग होने के दस दिन बाद मुख्य चुनाव आयुक्त एस० पी० सेन वर्मा ने घोषित किया कि नई लोक सभा के निर्वाचन के लिए चुनाव 1 से 7 मार्च तक होंगे। संगठन कांग्रेस ने जो विग्रह के बाद अन्य विपक्षी दलों से सम्बन्ध सुधार रही थी, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं से बातचीत करके नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रण्ट नामक संयुक्त मोर्चा बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य श्रीमती गांधी की कांग्रेस का विरोध करना था। उन्होंने परस्पर तय किया कि हर निर्वाचन क्षेत्र में केवल एक उम्मीदवार खड़ा किया जाये जिसका चारों दल समर्थन करें। इन दलों के अध्यक्षों ने एक संयुक्त अपील जारी करके लोगों को बताया कि शासक कांग्रेस देश को एक निरंकुश शासन की दिशा में ले जा रही है। सरकार के लाइसेंस देने के अधिकारों का उपयोग वह विशाल भौतिक साधन एकत्र करने में कर रही है और वह धृष्टतापूर्वक ऑल इण्डिया रेडियो का अपने प्रचार के लिए दुरुपयोग कर रही है। उन्होंने जनता को चेतावनी दी कि लोकतन्त्र खतरे में है और कहा कि इन दलों ने इसलिए गठबन्धन किया है कि ये जनता को ऐसी सरकार देना चाहते हैं, जिसकी राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक एवं धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र में आस्था हो, जो अपने देश की एकता व स्वतन्त्रता को बनाये रखे तथा उसकी आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति तेज़ी से कर सके।[24]

शासक कांग्रेस ने जो देश में वामपंथी शक्तियों को एकत्र करने के प्रयत्न कर

[24]मोर्चा बना ही था कि उसमें मतभेद शुरू हो गए। उत्तर प्रदेश में संगठन कांग्रेस के एक वर्ग ने और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के कुछ नेताओं ने इसकी इस आधार पर आलोचना की कि गठबन्धन के भागीदारों ने सिर्फ श्रीमती इन्दिरा गांधी का विरोध करने के लिए अपने सिद्धान्तों को छोड़ दिया है। एस० एस० पी० के महा मन्त्री जार्ज फर्नेन्डीस उस समय आपे से बाहर हो उठे, जब बम्बई में संगठन कांग्रेस की एक स्थानीय इकाई ने दक्षिण बम्बई के प्रतिष्ठित चुनाव क्षेत्र से उनके विरुद्ध खड़े उद्योगपति नवल टाटा का समर्थन करने का फ़ैसला किया। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि संगठन कांग्रेस ने अपने फ़ैसले को नहीं बदला तो गठबन्धन के लिए उम्मीदवारों को हर कहीं समर्थन देने का एस० एस० पी० का वादा खत्म समझा जायेगा। मोर्चे ने दावा किया कि वे लोक सभा के 518 चुनाव-क्षेत्रों में से लगभग 450 के लिए सर्वस्वीकृत उम्मीदवार खड़े करने पर राज़ी हो गए हैं। पर वास्तविकता यह थी कि अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में इसके दो या अधिक सदस्य दलों ने परस्पर विरोधी उम्मीदवार खड़े किये। साथ ही, जैसा कि स्वतन्त्र पार्टी के अध्यक्ष श्री मीनू मसानी ने चाहा था, चारों दल एक सामान्य कार्यक्रम भी घोषित नहीं कर सके।

रही थी, राष्ट्रीय स्तर पर अन्य दलों से कोई गठबन्धन नहीं किये। राज्यों के स्तर पर कहीं-कहीं चुनाव सम्बन्धी जोड़-तोड़ अवश्य किये गए। केरल में शासक संयुक्त मोर्चे के घटक दलों, कांग्रेस और केरल कांग्रेस में स्थानों के आवण्टन सम्बन्धी समझौता हुआ। तमिलनाडु में सत्तारूढ़ डी० एम० के० ने नौ लोक सभा निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेसी उम्मीदवार को समर्थन देने का वचन दिया। कांग्रेस ने इसके बदले राज्य की विधान सभा के लिए चुनाव न लड़ने का वचन दिया। अन्य राज्यों में कांग्रेस तथा कुछ वामपंथी दलों ने, जिनमें सी० पी० आई० का नाम उल्लेखनीय था, अनेक चुनाव क्षेत्रों में परस्पर विरोध न करने का समझौता किया।

चुनाव निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हुए और जिन 518 निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान किया गया उनके परिणाम इस प्रकार थे :

दल	1971 का चुनाव	1967 का चुनाव	दिसम्बर 1970 में भंग के समय
शासक कांग्रेस	352	283	228
संगठन कांग्रेस	16	—	65
सी० पी० आई० (मार्क्सवादी)	25	19	19
सी० पी० आई०	23	23	24
डी० एम० के०	23	25	24
जनसंघ	22	35	33
तेलंगाना प्रजा समिति	10	—	—
स्वतन्त्र पार्टी	8	44	35
मुस्लिम लीग	4	3	3
एस० एस० पी०	3	23	17
आर० एस० पी०	3	2	2
केरल कांग्रेस	3	—	—
पी० एस० पी०	2	13	15
झारखंड पार्टी	2	—	—
बी० के० डी०	1	—	10
अकाली दल	1	3	3
फॉरवर्ड ब्लाक	1	2	2
रिपब्लिकन पार्टी	1	1	1
बंगला कांग्रेस	1	5	3
युनाइटेड गोअन्स पार्टी	1	1	6
ऑल पार्टी हिल—लीडर्स कांफ्रेन्स	1	1	1

उत्कल कांग्रेस	1	—	—
विशाल हरियाणा पार्टी	1	—	—
युनाइटेड फ्रण्ट ऑफ़— नागालैंड	1	—	—
अन्य दल	—	3	3
निर्दलीय	11	34	27
खाली स्थान	3	—	3
कुल	518	520	519

जिन 518 स्थानों के लिए, चुनाव हुए, उनमें कुल 2,785 उम्मीदवार खड़े थे। कांग्रेस ने 442, संगठन कांग्रेस ने 237, जनसंघ ने 152, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और भारतीय क्रान्ति दल ने 92 प्रत्येक, सी० पी० आई० ने 87, सी० पी० आई० (मार्क्सवादी) ने 86, और स्वतन्त्र तथा प्रजा समाजवादी पार्टियों ने 60 प्रत्येक उम्मीदवार खड़े किये। अनेक छोटी और क्षेत्रीय पार्टियों ने भी अपने उम्मीदवार खड़े किये। इसके अतिरिक्त 100 निर्दलीय उम्मीदवार भी थे।

जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट प्रतीत होगा, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की कांग्रेस ने चुनाव जीता और उसे लोक सभा में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हो गया। नये सदस्यों ने श्रीमती गांधी को प्रधान मन्त्री पद के लिए चुना और उन्होंने 18 मार्च को नया मन्त्रिमण्डल बना लिया। दल के भीतर के कुछ उग्र सुधार वादियों—के० आर० गणेश, मोहन धारिया, आर० के० खाडिल्कर और एस० मोहन कुमार मंगलम जैसे व्यक्ति मन्त्रिमण्डल में शामिल किये गए। इससे यह समझा जाने लगा कि नई सरकार बहुत तेज़ी से समाजवाद और क्रान्तिवाद की दिशा में अग्रसर होगी। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवी पर्स बन्द, 24, 25 और 26वाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम, इसी दिशा में उठाये गए कदम थे। लेकिन 1971 में देश को बंगला देश के प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ उलझना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप दिसम्बर 1971 में दोनों देशों के बीच युद्ध हुआ। सरकार ने शरणार्थियों के रूप में घुस आये लगभग एक करोड़ बंगला देशवासियों के निवास एवं खान-पान तथा उन्हें वापस भेजने पर लगभग 360 करोड़ रुपया व्यय किया और 14 दिवसीय युद्ध पर 100 करोड़ से भी अधिक खर्च हो गया। इस व्यय का प्रभाव यह हुआ कि भारत के लोगों की कठिनाईयाँ बढ़ गईं। श्रीमती गांधी एवं उनकी मन्त्रिपरिषद के सहयोगियों ने जनता को बताया कि अभी उन्हें और अधिक कठिनाइयों, अधिक बलिदानों और अधिक संयमी जीवन के लिए तैयार रहना चाहिए।

श्रीमती गांधी की कांग्रेस राज्यों में पुन: सत्तारूढ़ (Mrs Gandhi's Congress Reoccupies Power in States)

पाकिस्तान से युद्ध समाप्त होने के वाद श्रीमती गांधी ने राज्यों और संघीय प्रदेशों में पाँचवाँ आम चुनाव कराने की इच्छा का ऐलान किया। अनेक विपक्षी दलों के नेताओं ने सुझाव दिया कि देश अभी एक खर्चीले युद्ध से निपट कर चुका है, अत: राज्य सभाओं के निर्वाचन स्थगित कर दिये जायें। किन्तु प्रधान मन्त्री ने स्वयं को एक महान संविधानवादी ज़ाहिर करते हुए यह दृष्टिकोण अपनाया कि निर्वाचन, निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ही किये जाने चाहिएँ। तथापि इसका वास्तविक कारण यही प्रतीत होता है कि पाकिस्तान पर विजय प्राप्त कर लेने के वाद जनता में उसका सम्मान वहुत अधिक वढ़ गया था और वे उसका समुचित लाभ उठाना चाहती थीं। अत: मार्च 1972 में चुनाव कराया गया जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति इस प्रकार रही :

राज्य	घोषित परिणाम	कांग्रेस	संगठन कांग्रेस	स्वतन्त्र	जनसंघ	सी०पी० आई०	सी०पी० एम०	एस० पी०	अन्य दल	निर्दलीय
आन्ध्र (287)	287	219	—	2	—	7	1	—	5	53
महाराष्ट्र (270)	270	222	—	—	5	2	1	3	12	25
मैसूर (216)	216	165	24	—	—	3	—	3	6	15
गुजरात (168)	167	139	16	—	3	1	—	—	—	8
गोवा (30)	30	1	—	—	—	—	—	—	28	1
दिल्ली (56)	56	44	2	—	5	3	—	—	1	1
हिमाचल (68)	65	51	—	—	5	—	1	—	1	7
विहार (318)	318	167	30	2	26	35	—	33	13	12
हरियाणा (81)	81	52	12	—	2	—	—	—	4	11
पंजाव (104)	104	66	—	—	—	10	1	—	24	3

मध्य प्रदेश										
(296)	296	220	—	—	48	3	—	7	—	18
राजस्थान										
(184)	184	145	1	11	8	4	—	4	—	11
असम										
(114)	114	95	—	1	—	3	—	4	—	11
मणिपुर										
(60)	60	17	1	—	—	5	—	3	18	16
मेघालय										
(60)	60	9	—	—	—	—	—	—	32	19
पश्चिमी बंगाल										
(280)	280	216	2	—	—	35	14	—	1	5
त्रिपुरा										
(60)	60	41	—	—	—	1	26	—	—	2
जम्मू कश्मीर										
(75)	74	57	—	—	3	—	—	—	5	9

16 राज्यों में मतदान हुआ जिनमें 8 में कांग्रेस ने 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त किये। ये राज्य थे : आन्ध्र प्रदेश, (52 प्रतिशत) असम, (53.19), गुजरात (50.56), हिमाचल प्रदेश (50.70), कश्मीर (56.07), महाराष्ट्र (56.32), मैसूर (53.56) और राजस्थान (51.01)।

शासक कांग्रेस द्वारा अन्य राज्यों में प्राप्त मतों का प्रतिशत इस प्रकार रहा : बिहार (34.12), हरियाणा (46. 90), मध्य प्रदेश (48.14), मणिपुर (30.21), मेघालय (10.0), पंजाब, (42.48), त्रिपुरा (44.83), पश्चिमी बंगाल (49.44), दिल्ली (48.54) और गोवा (13.64)।[25]

[25]नागालैंड, केरल, उड़ीसा, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश में मतदान नहीं हुआ क्योंकि वहाँ मध्यावधि चुनाव हो चुके थे।

प्राप्त मतों के लेखे का विश्लेषण करने से पता लगता है कि एक वर्ष पहले लोक सभा के चुनावों के समय इन्दिरा कांग्रेस के विरुद्ध निर्मित गठबन्धन में शामिल विरोधी दलों ने सबसे अधिक हानि उठाई। सबसे अधिक हानि स्वतन्त्र पार्टी ने उठाई। जिन राज्यों में चुनाव हुए उनमें 1967 के 175 के मुकाबले उसने केवल 16 स्थान प्राप्त किये। हानि उठाने वाली अगली पार्टी सोशलिस्ट पार्टी थी। पी० एस० पी० और एस० एस० पी० ने मिलकर 1967 में 1890 स्थान प्राप्त किये थे, जबकि नयी सोशलिस्ट पार्टी ने केवल 57 स्थान जीते। जनसंघ की शक्ति 176 से घटकर 105 रह गयी और संगठन कांग्रेस ने, जिसे राज्यों में अपनी शक्ति आजमाने का मौका पहली बार मिला था, केवल 88 स्थान प्राप्त किये। सी० पी० एम०, जो पश्चिमी बंगाल और त्रिपुरा में सबसे प्रमुख पार्टी थी,

चुनाव समाप्त हो जाने के बाद मन्त्रिमण्डल बनाने का काम शुरू हुआ, और मेघालय के अतिरिक्त सभी 16 राज्यों में कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गई। दिल्ली के संघीय प्रदेश में भी सत्ता उसी के हाथ लगी और जनसंघ के विजय कुमार मल्होत्रा के स्थान पर कांग्रेस के राधा रमण, मुख्य कार्यकारी पार्षद बने।

कांग्रेस का प्रभुत्व पुनः स्थापित होने के कारण (Why Congress Party's Predominance was Re-established?)

लोक सभा के मध्यावधि चुनाव में तथा राज्य विधान सभाओं के आम चुनावों में भी, दोनों में ही शासक कांग्रेस की भारी विजय से देश-विदेश की जनता को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। राजनीतिक विश्लेषकों ने इसके कारणों की जाँच की और उन्होंने जो कारण बताये, वे इस प्रकार थे : पहला कारण यह बताया गया कि देश में एक मजबूत एवं स्थिर केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता आम जनता को प्रतीत हो रही थी। चौथे आम चुनावों के बाद मिली-जुली सरकारों और संयुक्त मोर्चा सरकारों का जो प्रयोग राज्यों में हुआ था, वह बुरी तरह विफल हो गया था और लोगों ने समझ लिया था कि यदि एक पूर्ण बहुमत के साथ एक अकेला दल सत्ता में नहीं आया तो केन्द्र में भी यही होगा। 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चा' लोगों को एक वैकल्पिक सरकार दे सकने में समर्थ नहीं लगा क्योंकि मोर्चे के भीतर काफी आंतरिक झगड़े थे और मतदान से पहले अधिकतर राज्यों में वह टूट चुका था। अतः मतदाता के पास सिवाय शासक कांग्रेस को मत देने के और कोई चारा नहीं था। दूसरे, संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र पार्टी और एस० एस० पी० ने जो जनसंघ से गठजोड़ किया उसके कारण ये सब मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के समर्थन से वंचित रह गये। इन सम्प्रदायों ने पूरी तरह शासक कांग्रेस को मत दिया और साम्प्रदायिक अपीलों की उपेक्षा की। तीसरे, कांग्रेस दल का विभाजन हो जाने के बाद शासक कांग्रेस के विषय में यह आम विश्वास बन गया कि वह समाजवाद और क्रान्तिकारी कार्यक्रमों एवं नीतियों का पक्षपाती है। अतः गरीब वर्गों, अनुसूचित जातियों एवं नये मतदाताओं को विश्वास हो गया कि एक वही उनकी दशा सुधारने में समर्थ हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पूरे देश का एक तूफानी दौरा किया और एक महीने में 40,000 मील का चक्कर लगाया। पत्रों की खबरों के अनुसार उन्होंने भारी जनसमूह आकर्षित किये और कभी-कभी तो अपने पिता श्री जवाहरलाल नेहरू से भी अधिक जनसमूहों के सामने वे बोलीं। उन्होंने नया नारा दिया, 'गरीबी हटाओ' और इसका जनता पर सीधा असर हुआ। मतदाताओं ने महसूस किया कि वे इस बारे में ईमानदार हैं और

1967 में 61 के मुकाबले केवल 34 स्थान प्राप्त कर सकी। सी० पी० आई० ने अपनी स्थिति में सुधार किया और 1967 में 85 के बदले 112 जगह जीतीं। छोटे दलों में सर्वदलीय पर्वतीय नेता सम्मेलन ने मेघालय में सत्ता प्राप्त की और महाराष्ट्रवादी गोमंतक दल गोवा में सत्ता पर बना रहा।

लोगों ने उनके हर उम्मीदवार को मत दिया। वस्तुत: शासक कांग्रेस की विजय श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत विजय थी। उनकी इस भारी विजय का चौथा कारण स्त्री मतदाताओं का मत रहा जिन्होंने उन्हें और उनके दल के उम्मीदवारों को लगभग पूर्णत: मत दिया। उन्होंने महसूस किया कि वे समाज की दशा सुधारने के लिए निश्चय ही कार्रवाई करेंगी।

भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के कुछ विदेशी प्रेक्षकों ने शासक कांग्रेस की भारी विजय और राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चे के एकदम उखड़ जाने का श्रेय मतदाताओं की राजनीतिक परिपक्वता को दिया, जिन्हें इस बार जाति, सम्प्रदाय, धर्म अथवा पैसे के संकीर्ण आकर्षण विचलित नहीं कर सके।

कांग्रेस में पुन: सत्ता संघर्ष और विचारधारा सम्बन्धी विवाद (Power Struggle and Ideological Conflict in Congress Begins Again)

भारतीय मतदाता ने, लोक सभा के मध्यावधि चुनाव और राज्य सभा के आम चुनावों, दोनों ही अवसरों पर कांग्रेस को पूर्ण सत्ता इस आशा से प्रदान की थी कि वह सत्ता, श्रीमती गांधी द्वारा किये गए वायदे के अनुसार गरीबी और अन्याय को समाप्त करने में इस्तेमाल की जायेगी। किन्तु जैसा कि लॉर्ड ऐक्टन ने कहा है, सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णत: भ्रष्ट कर देती है। पुन: मन्त्रिमण्डलीय **गद्दियों** पर आसीन होकर कांग्रेस-जन राजनीतिक दलबन्दी और स्वार्थ-सिद्धि के चक्कर में पड़ने लगे और उनमें विचारधारा सम्बन्धी मतभेद बढ़ने लगे। केन्द्र में कुछ कांग्रेसी संसत्सदस्य एक गुट बनाकर 10-सूत्रीय कार्यक्रम को लागू करने के लिए, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, आन्दोलन करने लगे। इनमें अधिकतर 'युवा तुर्क' थे पर कुछ अन्य व्यक्ति भी जो समाजवाद और सुधारवाद लाने के तीव्र इच्छुक थे, उनका साथ दे रहे थे। उन्होंने केन्द्र और राज्यों में कांग्रेसी सरकारों पर समाजवाद लाने के कारगर उपाय करने के लिए दबाव डालने के उद्देश्य से एक 'फ़ोरम फ़ॉर सोशलिस्ट एक्शन' की रचना की। इस 'फ़ोरम' के अध्यक्ष आर० के० सिन्हा थे और इसके प्रमुख नेता, कृष्णकान्त, मोहन धारिया, के० आर० गणेश और चन्द्रशेखर के अतिरिक्त एच० डी० मालवीय, सतपाल कपूर, शशिभूषण, के० पी० उन्नीकृष्णन, अमृत नहाटा और अर्जुन अरोड़ा थे। ये नेता एक ओर तो जनता से किये हुए वायदे पूरे न करने के लिए सरकार की आलोचना करते थे और दूसरी ओर कांग्रेस के भीतर प्रतिक्रियावादियों की टीका-टिप्पणी की जाती थी। उदाहरणत: 1972 में विधान नगर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के वार्षिक अधिवेशन में 'युवा तुर्कों' ने एक साथ मिलकर, केन्द्रीय एवं राज्य सरकारी नेताओं की, बम्बई अधिवेशन (दिसम्बर, 1969) में निर्धारित किये गए कार्यक्रम को लागू न करने के कारण ख़ूब ख़बर ली। इस कार्यक्रम में एकाधिकारों पर प्रतिबन्ध, उत्तर प्रदेश में खाँड उद्योग का राष्ट्रीयकरण, 1970 तक जमीनों के मामले में सभी मध्यवर्ती व्यक्तियों का सफ़ाया और

1972 तक भूमि सुधार कानून लागू करना सम्मिलित था। अमृत नहाटा इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि नेताओं ने अपने वायदे पूरे नहीं किये हैं पर साथ ही उन्होंने कहा कि वे तेज़ी से कार्रवाई करने से "हिचकिचाते हैं और न नुनच करते हैं।" मोहन धारिया ने ज़ोर देकर कहा कि दल के भीतर व बाहर "प्रतिक्रियावादी" शक्तियाँ विविध मोर्चों पर प्रगति में बाधा डालती हैं। कृष्णकान्त ने उन मन्त्रियों को आड़े हाथों लिया जो जनता में मितव्ययिता का प्रचार करते हैं पर स्वयं अपने जीवन में उसका प्रयोग नहीं करते।

अप्रैल 1973 में 'फ़ोरम' ने "दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया से खतरे" विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इसमें जिन मन्त्रियों, संसत्सदस्यों और गिने-चुने सी० पी० आई० नेताओं ने भाषण किए, उन सबने "लोकतांत्रिक, प्रगतिवादी और समाजवादी शक्तियों" के संगठन का आह्वान किया ताकि देश में दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया के इरादे सफल न होने पाएँ क्योंकि वह "हमारी समाजवादी व्यवस्था की ओर प्रगति करने की घरेलू नीतियों को बेकार करने और हमारी तटस्थता की विदेश नीति का नाश करने के प्रयत्न कर रहा है।"[26] कुछ समय बाद 'फ़ोरम' के नेताओं ने संघीय सरकार से सारा खाद्यान्न व्यापार अपने हाथों में लेने और "बेईमान" थोक व्यापारियों के हाथ में कुछ भी न छोड़ने का आग्रह किया, जो आम जनता को बुरी तरह लूट रहे हैं। 9 अप्रैल को तत्कालीन केन्द्रीय योजना राज्य मन्त्री मोहन धारिया ने ज़ोर देकर कहा कि कांग्रेस को "जनता का अर्ध सरकारी" दल बन जाना चाहिए।

'फ़ोरम फॉर सोशलिस्ट ऐक्शन' के दबाव को निरस्त करने के लिए कांग्रेस के 'प्रतिक्रियावादियों' और 'दक्षिणपंथियों' ने अपना एक ऑल इण्डिया नेहरू स्टडी 'फ़ोरम' बनाया। 'नेहरू फ़ोरम' ने 'समाजवादी फ़ोरम' को साम्यवादियों और सहकर्मियों का एक ऐसा गुट बताया जो स्वयं को प्रगतिवादी और असली समाजवादी बता कर कांग्रेस में दरार डालने की कोशिश कर रहे हैं। इसने इन्हें "चालबाज़" और "नकली समाजवादी" बताया, और ज़ोर देकर कहा कि 'सोशलिस्ट फ़ोरम' कांग्रेस की "मूल नीतियों और कार्यक्रमों" के प्रतिकूल प्रकृति का है।

राज्यों में कांग्रेस की स्थिति कुछ और थी। वहाँ कांग्रेसी सत्ता के लिए झगड़ते थे और अपने दल के आर्थिक कार्यक्रमों और नीतियों की परवाह नहीं करते थे। उत्तर प्रदेश में कमलापति त्रिपाठी द्वारा मन्त्रिमण्डल बनाये जाने के बाद राज्य की कांग्रेस पार्टी कई धड़ों में विभाजित हो गई, जिनमें से एक नेता स्वयं मुख्य मन्त्री थे, दूसरे के सालिग राम जैसवाल और तीसरे की नेता राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी थीं। 1973 के मध्य में राज्य सभा के सदस्य त्रिलोकी सिंह के नेतृत्व में एक चौथा गुट बन गया। तीन गुटों ने त्रिपाठी पर भ्रष्टाचार और पद के दुरुपयोग के आरोप लगाये। फरवरी 1974 में राज्य विधान सभा के लिए चुनाव होने वाले थे, अतः श्रीमती गांधी ने

[26]दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 1 अप्रैल, 1973, पृष्ठ 9।

त्रिपाठी को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में ले लिया और उनके स्थान पर एच० एन० बहुगुणा को, जो कांग्रेस के भूतपूर्व महासचिव थे, नियुक्त किया। गुजरात में एक गुट के नेता चिमन भाई पटेल और कान्तिलाल घीया थे। एक दूसरे गुट के नेता, मुख्य मन्त्री घनश्याम ओझा थे। इस ग्रुप को रातु भाई अदानी, जसवन्त मेहता और प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष जीना भाई दारजी का समर्थन प्राप्त था। एक तीसरे गुट के नेता हिम्मत सिंह और वासुदेव त्रिपाठी थे। जून 1973 के अन्तिम सप्ताह में चिमन भाई पटेल के गुट ने ओझा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत करने की धमकी दी। राज्य कांग्रेस को विघटित होने से बचाने के लिये, प्रधान मन्त्री ने मुख्य मन्त्री को अपना पद त्याग कर चिमन भाई पटेल के लिए स्थान खाली करने की सलाह दी। घनश्याम ओझा मन्त्रिमण्डल के इस्तीफ़े के बाद चिमन भाई पटेल को 19 जुलाई, 1973 को नए मुख्य मन्त्री के रूप में शपथ दिलाई गई। उसके बाद क्षुब्ध विधान सभा सदस्य उनके निकाले जाने की माँग करने लगे, और वे फरवरी 1974 में अपने मनोरथ में सफल हुए। राज्य में केन्द्रीय शासन लागू कर दिया गया।

मध्य प्रदेश में राजनीतिक दलबन्दी, यद्यपि श्यामाचरण शुक्ल के स्थान पर पी० सी० सेठी का मन्त्रिमण्डल बनने के शीघ्र बाद शुरू हो गई थी पर वह 1973 के मध्य में उजागर हुई। वहाँ एक धड़ा भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डी० पी० मिश्र का था, दूसरा श्यामाचरण शुक्ला का और एक तीसरा धड़ा सी० पी० तिवारी का था। 14 जुलाई, 1973 को तिवारी धड़े के पाँच मन्त्रियों ने सेठी मन्त्रिमण्डल से इस्तीफ़ा दे दिया और मुख्य मन्त्री को निकाले जाने की माँग की। अनेक अन्य असहमत कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों ने सेठी के विरुद्ध एक अभियोग पत्र तैयार करके कांग्रेस अध्यक्ष एस० डी० शर्मा को प्रेषित किया। किन्तु हाई कमान ने मध्य प्रदेश में नेता बदलना उचित नहीं समझा और विद्रोही मन्त्रियों को अपने इस्तीफ़े वापस लेने का आदेश दिया। साथ ही उन्हें चेतावनी दी गई कि अन्यथा उनके विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई की जायेगी। उन्होंने इस आदेश का पालन किया और पुन: सेठी मन्त्रिमण्डल में शामिल हो गये। कम से कम उस समय के लिये संकट टल गया।

बिहार में बहुत गम्भीर धड़े-बन्दी और प्रतिस्पर्धा थी। वहाँ राज्य कांग्रेस का प्रभुत्व था जो कि केन्द्रीय रेल मन्त्री ललित नारायण मिश्रा का गुट था। एक गुट भूतपूर्व मुख्य मन्त्री केदार पांडे का था पर वह अल्पमत में था केदार पांड़े को जुलाई 1973 में मुख्य मन्त्री पद से हटा दिया गया था और वे तब से ही अपने विरोधी धड़े से बदला लेने की कोशिश कर रहे थे। नवम्बर 1973 में उनके अनुयायियों ने श्रीमती गांधी को एक स्मरणपत्र दिया जिसमें मिश्रा के प्रति भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने के लिए एक जाँच आयोग नियुक्त करने की माँग की गई थी। किन्तु मतभेद दूर करने के उद्देश्य से हाई कमान ने अब्दुल गफ़ूर को मुख्य मन्त्री पद के लिये "नामित" कर दिया। गफ़ूर का राज्य में कोई विरोधी नहीं था अत: असहमत धड़े को आगे कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं रही।

हिमाचल प्रदेश कांग्रेस भी दो घड़ों में विभाजित थी। एक के नेता मुख्य मन्त्री वाई० एस० परमार थे और दूसरे घड़े के नेता डा० सालिगराम और श्रीमती सरला शर्मा थे। वे दोनों भी मन्त्री थे और भीतर से परमार को निकलवाने का प्रयत्न कर रहे थे। सालिग राम को गवर्नर ने 18 नवम्बर, 1973 को संविधान की धारा 164 (1) के तहत मन्त्रिपद से हटा दिया। इसे असहमत गुट की हार माना गया। पश्चिम बंगाल में मुख्य मन्त्री सिद्धार्थ शंकर रे के नेतृत्व को उनके प्रतियोगी घड़े ने चुनौती दी, किन्तु उन्होंने स्वयं दल के आंतरिक मतभेदों को दूर कर लिया। हरियाणा में बन्सी लाल के नेतृत्व को राज्य के संसत्सदस्यों और विधान सभा सदस्यों ने चुनौती दी। अनेक बार उन्होंने प्रधान मन्त्री को स्मरणपत्र देकर बंसी लाल के विरुद्ध भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगाते ए उनके हटाए जाने की माँग की। पंजाब में यद्यपि ज़ैलसिंह का सरकार और दल पर पूर्ण नियंत्रण था, कभी-कभार असन्तुष्टि की आवाज़ आती रहती थी। कर्नाटक में एक गुट मुख्य मन्त्री देवराज उर्स का था और एक असहमत गुट प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष के० एच० रंगानाथ का था। अगस्त 1973 में असहमत गुट में देवराज उर्स को कांग्रेस विधायक दल के नेतृत्व से हटाने की माँग की। तमिलनाडु में भी, जहाँ डी० एम० के० का राज्य था, कांग्रेस घड़ेबन्दी से मुक्त नहीं थी। मार्च 1972 में लोक सभा के मध्यावधि चुनाव से पहले जब कांग्रेस ने विधान सभा की सभी सीटें डी० एम० के० के नेतृत्व में प्रोग्रेसिव फ्रन्ट के लिए छोड़ दीं, जिसकी भागीदार कांग्रेस भी थी तो एक घड़े ने राज्य के कांग्रेसी नेतृत्व के प्रति विद्रोह कर दिया। उस घड़े ने अपने अलग-अलग उम्मीदवार खड़े कर दिये। जब डी० एम० के० ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो कांग्रेस के एक शक्तिशाली भाग ने प्रोग्रेसिव फ्रन्ट से अलग होने के लिए आन्दोलन चलाया। डी० एम० के० में फूट पड़ने के बाद जब अन्ना डी० एम० के० बन गई, तो राज्य कांग्रेस का बहुमत अन्ना डी० एम० के० और सी० पी० आई से गठजोड़ करने के हक में था जबकि एक छोटा भाग कामराज की संगठन कांग्रेस से मित्रता कर लेना अधिक अच्छा समझता था। केरल प्रदेश कांग्रेस "वाम प्रकृति" की थी और इसके प्रति असहमत व्यक्तियों की आवाज़ में दम नहीं था। उड़ीसा में दल बदलने की आदत पड़ गई थी और मार्च 1973 में इसी कारण नन्दिनी सत्पथी मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ होना पड़ा। उसके बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। महाराष्ट्र में प्रदेश कांग्रेस कमेटी के 63 सदस्यों को इसलिए निष्कासित किया गया कि उन्होंने 1973 के आरम्भ में बम्बई के निगम निर्वाचन में दल के अधिकृत उम्मीदवार के विरुद्ध चुनाव लड़ा था। उसी वर्ष के मध्य में मुख्य मन्त्री वी० पी० नाइक के विरुद्ध भी दबाव बढ़ा रहा था। अप्रैल 1974 में 136 कांग्रेसी विधान सभा सदस्यों ने नाइक को एक स्मरणपत्र देकर उनके विरुद्ध अनेक आरोप लगाये। कांग्रेस हाई कमान को लगा कि उस 'संकट की घड़ी' में उनकी कार्रवाई से दल की एकता खतरे में पड़ जायेगी। अतः उन्होंने कांग्रेस के महामन्त्री चन्द्रजीत यादव को नाइक के विरुद्ध आन्दोलन बन्द कराने के लिए भेजा। राजस्थान

के मुख्य मन्त्री बरकत उल्ला खाँ के देहान्त के बाद, हरिदेव जोशी और एक केन्द्रीय मन्त्री रामनिवास मिर्धा ने राजस्थान विधायक दल के नेतृत्व के लिए अपने-अपने दावे प्रस्तुत किये। उन दोनों का समर्थन विधान सभा सदस्यों का एक-एक गुट कर रहा था और इन गुटों में भी अपनी-अपनी अलग मण्डलियाँ थीं। कांग्रेस हाई कमान ने जोशी को चुना और मिर्धा ने अपना नाम वापस ले लिया।

दिल्ली के संघीय प्रदेश में कांग्रेस में अनेक मतभेद पैदा हो गए, और 1973 के उत्तरार्ध में दिल्ली महानगर परिषद की हालत 'गृह युद्ध' जैसी हो रही थी। मुख्य संघर्ष मुख्य कार्यकारी पार्षद राधारमण और एक असहमत गुट में था। इस गुट ने राधारमण को अपदस्थ करने का एक आन्दोलन ही चला दिया, उनके प्रति भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगाये, और उन्हें निकलवाने के लिए प्रधान मन्त्री, कांग्रेस अध्यक्ष और महामन्त्री से मिले। किन्तु केन्द्रीय अधिकारियों ने महानगर परिषद के नेतृत्व में परिवर्तन करने का निश्चय नहीं किया और राधारमण अपने पद पर बने रहे। लद्दाख कांग्रेस में भी दो विरोधी गुट कांग्रेस ए और कांग्रेस बी थे, जिनके नेता क्रमश: कुशक बकुला और कुशक तुखदान थे। इनमें भी आन्तरिक संघर्ष चलता रहता था।

इस प्रकार, राज्यों में कांग्रेस की यह हालत थी कि उसके सदस्यों की आम जनता के दुख दूर करने की कोई चिन्ता नहीं थी, प्रत्युत वे अपनी सारी शक्ति अपनी ही हित साधना में लगा रहे थे।

कांग्रेस को ओर अधिक विभाजन से बचाने के लिए हाई कमान द्वारा हस्तक्षेप (High Command Intervenes to Save Congress from Further Disintegration)

कांग्रेस दल की हाई कमान ने अनुभव किया कि यदि कांग्रेसियों के आपसी झगड़े और विचारधारा के मतभेद इसी प्रकार चलते रहे तो शीघ्र ही कांग्रेस का एक और विभाजन हो सकता है जिसके बहुत भीषण परिणाम हो सकते हैं। अत: उन्होंने स्थिति को संभालने के लिये हस्तक्षेप किया। श्रीमती गांधी ने स्वयं हस्तक्षेप करते हुए 'सोशलिस्ट फ़ोरम' के नेताओं को दल की एकता व समन्वय के हित में 'फ़ोरम' को भंग करने का निदेश दिया। अत: 17 अप्रैल, 1973 को फ़ोरम भंग कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, प्रधान मन्त्री, कांग्रेस अध्यक्ष एस० डी० शर्मा और महामन्त्री चन्द्रजीत यादव ने धमकी दी कि जो कांग्रेसी धड़ेबन्दी और गुट प्रतिद्वन्द्विता करेंगे, उनके विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई की जायेगी। 1 सितम्बर, 1973 को इन्दिरा गांधी ने कांग्रेसियों को कठोर चेतावनी दी कि जो कांग्रेसी दल का अनुशासन भंग करेंगे, उनके विरुद्ध सख्त कार्रवाई की जायेगी। इसी प्रकार, यादव ने कहा "जो भी व्यक्ति अनुशासन भंग करेगा और ऐसे निन्दनीय कार्य करेगा वह तुरन्त कठोर अनुशासनिक कार्रवाई का भागी होगा।" कांग्रेसजनों को यह समझाने के लिए कि हाई कमान का तात्पर्य कार्य से है और अनुशासन बनाए रखने की उसे गम्भीर

चिता है, दिनेश सिंह को जो भूतपूर्व विदेश मन्त्री थे और प्रधान मन्त्री के अत्यधिक विश्वासपात्र थे "दल विरोधी गतिविधियों" के कारण कांग्रेसी मूल सदस्यता तक से निष्कासित कर दिया गया। उनके निष्कासन के आदेश में केवल तभी परिवर्तन किया गया जब उन्होंने कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों के प्रति पूर्ण निष्ठा का आश्वासन दिया। इसी प्रकार गुजरात के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री चिमनभाई पटेल को 1 मार्च, 1974 को "दलविरोधी गतिविधियों" के कारण छः वर्ष के लिए कांग्रेस की मूल सदस्यता से अलग कर दिया गया क्योंकि उन्होंने कांग्रेस विधायक दल का नेतृत्व छोड़ने से इन्कार कर दिया था।

प्रत्येक स्तर के कांग्रेसियों और देशवासियों में कांग्रेस के उत्साह और योग्यता में नया विश्वास लाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 29 दिसम्बर, 1972 को देश की अर्थव्यवस्था में व्याप्त गम्भीर असन्तुलन को, जिसके कारण जनता को बहुत चिन्ता एवं कठिनाईयाँ हो रही थीं "15 महीने के भीतर" समाप्त करने का एक काल-बाधित कार्यक्रम स्वीकार किया। अप्रैल 1967 में अविभाजित कांग्रेस ने जो दस-सूत्री कार्यक्रम स्वीकार किया था उस पर पुनः जोर दिया गया; "सामाजिक न्याय सहित विकास" का नया नारा गढ़ा गया। इसके अतिरिक्त एकाधिकारवादियों और बड़े व्यापारियों पर भी प्रतिबन्ध लगाने का वचन दिया गया। किन्तु कांग्रेस अधिवेशन के बाद के महीनों में कांग्रेस ने दोहरी नीति अपनाई। एक ओर वह आमूल सुधार के उपायों और सामाजिक कार्यक्रम लागू करने की माँग करती रही, और दूसरी ओर वह "मिली-जुली अर्थव्यवस्था" की विचारधारा का पुनः अनुसरण करने लगी। 31 मार्च, 1973 को श्रीमती गांधी ने "फेड्रेशन ऑफ़ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री" के समक्ष अपने अभिभाषण में कहा कि निजी उद्योग एवं व्यवसाय का भारत के आर्थिक विकास में "हमारी लाइसेंस नीति की रूपरेखा की मर्यादा में बड़ा महत्त्व बना रहेगा।" इसी प्रकार केन्द्रीय औद्योगिक विकास एवं विज्ञान तथा शिल्प विज्ञान मंत्री सी० सुब्रह्मण्यम ने दोहराया कि मिली-जुली अर्थव्यवस्था अब भी लाभप्रद हो सकती है उन्होंने कहा कि न तो मैं उद्योग विनाशक हूँ और न ही मुझे एकाधिकार और बड़े-बड़े व्यापार संस्थानों से कोई लगाव है पर देखना यह है कि हम उत्पादन बढ़ाना चाहेंगे या अभाव से पीड़ित रहना पसन्द करेंगे।

इस दोहरी नीति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो केन्द्रीय सरकार ने बैंकों, जनरल इंश्योरेंस और कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण किया, अनाज का व्यापार अपने हाथ में लिया और भूतपूर्व नरेशों के प्रिवी पर्स समाप्त किये, पर दूसरी ओर जनता की न्यूनतम मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने, देहातों में निर्माण कार्यों और भूमि-सुधार कार्यक्रमों को लागू करने, बड़े व्यापार संस्थानों के विकास को नियमित करने, मूल्य-वृद्धि रोकने तथा सार्वजनिक वितरण व्यवस्था संगठित करने, प्रशासनिक तंत्र में सुधार करने और सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों एवं सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में से भ्रष्टाचार और बेईमानी को आमूल समाप्त करने, सहकारी संस्थाओं के विकास

और तस्कर अर्थव्यवस्था, मुद्रास्फीति और घाटे की अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने की दिशा में लगभग कुछ भी नहीं किया। केन्द्र और अधिकतर राज्यों की कांग्रेस सरकारों द्वारा इस प्रकार उचित कार्रवाई न करने के कारण कठिनाईयाँ, परेशानियाँ निराशा, हिंसा, अराजकता, हड़तालें, तालेबन्दियाँ, सभी प्रकार की दैनिक उपभोक्ता सामग्री की कमी तथा जमाखोरी और मुनाफ़ाखोरी निरन्तर बढ़ती गई।

1974 में स्वतन्त्रता के बाद का सबसे भीषण अर्थसंकट आया।

चन्द्रशेखर और मोहन धारिया संसत्सदस्यों इत्यादि युवा कांग्रेसियों ने, जो अपनी आधुनिकता एवं आमूल सुधार के प्रति उत्साह के लिए विख्यात थे, केन्द्रीय एवं राज्यों के मन्त्रियों की उनके "आडम्बरपूर्ण" रहन सहन तथा दल के आर्थिक कार्यक्रम एवं नीतियाँ लागू न करने के लिए, लगभग विधिवत निन्दा की। उन्होंने दल के वरिष्ठ नेताओं को, चुनाव के लिए काला धन लेना न रोकने के लिए, भ्रष्ट तत्वों को संरक्षण देने तथा दल का अनुशासन भंग करने वालों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करने, केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए कांग्रेसी बनने वालों की झूठी सदस्यता समाप्त न करने, जमाखोरों, चोर बाज़ारियों तथा मुनाफ़ाखोरों के विरुद्ध कार्रवाई न करने और क्योंकि अनेक पूँजीवादी अपने आप को समाजवादी कहते हैं, अतः समाजवाद की उचित परिभाषा न कर सकने के कारण फटकारा। जुलाई 1974 में कांग्रेस अधिवेशन में जब कांग्रेस के अधिकारियों ने दल की बहुत सी बुराइयों को जड़ से उखाड़ने के लिये उसका संविधान पुनः बनाने का ज़िक्र किया तो कृष्णकान्त ने कहा कि कांग्रेस को अच्छे संविधान की नहीं वरन् 'ईमानदार व्यक्तियों' की ज़रूरत है। 1975 के पूर्वार्द्ध में कृष्णकान्त एवं युवा तुर्क नेताओं ने कांग्रेसी सरकार और दल के वरिष्ठ नेताओं की पहले से भी अधिक कटु आलोचना की। उनकी मंडली की सदस्य संख्या बढ़ती गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कांग्रेस पुनः विभाजित होने वाली है।

उधर जयप्रकाश नारायण ने देश में "पूर्ण क्रान्ति" लाने के लिये एक आन्दोलन छेड़ दिया, जिससे इस प्रक्रिया में और तेज़ी आई। उन्होंने बड़े पैमाने पर दौरे किये और जनता को बताया कि श्रीमती गांधी की कांग्रेस निर्धनता दूर करने, मूल्य वृद्धि रोकने, सरकारी काम-काज में से भ्रष्टाचार एवं अकुशलता समाप्त करने तथा बेरोज़गारी दूर करने में असफल रही है। उन्होंने जनसंघ, संगठन कांग्रेस, भारतीय लोकदल, और समाजवादी दल की सहायता से अपने बिहार आन्दोलन को अधिक विस्तृत आधार एवं अखिल भारतीय रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। कुछ अवसरों पर उन्होंने सशस्त्र सेनाओं, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों से अपने अधिकारियों के "अवैध" आदेश न मानने का भी आग्रह किया। वे जहाँ भी गये, अपार जन समूह ने उनका स्वागत एवं अनुसरण किया। उपरोक्त राजनीतिक दलों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि जे० पी० के आन्दोलन से उन्हें कम से कम केन्द्र में सरकारी सत्ता हथियाने का अवसर प्राप्त हो जायेगा, जो अभी तक वे कभी नहीं ले पाये थे। अतः उन्होंने जे० पी० के आन्दोलन को पूर्ण समर्थन दिया। इन दलों ने एक लोक संघर्ष समिति

बनाई जिसके अध्यक्ष मोरारजी देसाई, जनसंघीय नेता नानाजी देशमुख—मन्त्री, और संगठन कांग्रेसी नेता अशोक मेहता—कोषाध्यक्ष बने। जून 19`5 के आरम्भ में गुजरात विधानसभा के चुनावों के पूर्व इन दोनों ने एक **जनता मोर्चा** बना कर कांग्रेस को सत्तारूढ़ न होने देने का प्रयत्न किया जिसमें वे सफल भी हुए। फरवरी 1976 में सम्भावित आम चुनावों की अभिलाषा में ये दल अखिल भारतीय स्तर पर कांग्रेस के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने की योजना बनाने लगे।

दल के बाहर व भीतर से एक भीषण चुनौती के आवेश में केन्द्र सरकार के कांग्रेसी अधिकारियों ने देश में "अराजकता" व अव्यवस्था न फैलने देने के अनेक उपाय किये। 1 जुलाई, 1975 को राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित करते हुए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों के एक बीस-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की और केन्द्र एवं राज्य सरकारें पूरे उत्साह एवं दृढ़ संकल्प के साथ उसे लागू करने में जुट गईं। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कांग्रेस देश को नया जीवन प्रदान करके रहेगी। कार्यक्रम के सूत्र इस प्रकार थे:

(1) आवश्यक वस्तुओं के दामों में कमी लाने के निरन्तर प्रयास। उनका धारा-प्रवाह उत्पादन, वसूली एवं वितरण। सरकारी खर्च में कठोर मितव्ययिता।

(2) कृषि भूमि की अधिकतम सीमा लागू करना, फ़ालतू भूमि का शीघ्रतापूर्वक वितरण और भूमि अभिलेखों का संकलन।

(3) भूमिहीन एवं कमज़ोर वर्गों को मकान बनाने के लिए भूमि के आयोजन में वृद्धि।

(4) बन्धुआ मज़दूरी, कहीं भी हो, अवैध घोषित की जायेगी।

(5) ग्रामीणों के कर्ज़े समाप्त करने की योजना। भूमिहीन किसानों, छोटे किसानों और शिल्पकारों से कर्ज़े की वसूली में समय की छूट।

(6) न्यूनतम कृषि-उजरत सम्बन्धी क़ानूनों का पुनरीक्षण।

(7) 50 लाख हैक्टेयर अतिरिक्त भूमि को कृषि योग्य बनाना। भूमिगत पानी के उपयोग का राष्ट्रीय कार्यक्रम।

(8) बिजली उत्पादन कार्यक्रम की गति में वृद्धि। केन्द्रीय नियन्त्रण में भारी बिजली घर।

(9) हथकर्घा उद्योग के विकास के लिये नया विकास कार्यक्रम।

(10) जनता कपड़े की किस्म और पूर्ति में सुधार करना।

(11) शहरी और शहरी बनाने योग्य भूमि का सामाजीकरण। खाली भूमि के स्वामित्व और क़ब्ज़े तथा नये आवास यूनिटों के आधार क्षेत्र की अधिकतम सीमा निर्धारण।

(12) प्रत्यक्ष निर्माण का मूल्य निर्धारित करने तथा कर की चोरी रोकने के लिये विशेष दस्ते। आर्थिक अपराधियों के मुकद्दमों की सरसरी सुनवाई और कठोर दण्ड।

(13) तस्कर व्यापारियों की सम्पत्ति ज़ब्त करने की विशेष नियम व्यवस्था।

(14) नियोजन विधि को उदार बनाना। आयात लाइसेंसों के दुरुपयोग के विरुद्ध कार्रवाई।

(15) उद्योग में कामगारों के साझे की नयी योजनाएँ।

(16) सड़क परिवहन के लिए राष्ट्रीय अनुज्ञापत्र की योजना।

(17) मध्यम वर्ग को आयकर से राहत—छूट की सीमा बढ़ा कर 8,000 रु० करना।

(18) छात्रावासों में आवश्यक वस्तुओं की नियन्त्रित दामों पर पूर्ति।

(19) किताबों एवं लेखन सामग्री के दामों पर नियन्त्रण ; और

(20) रोज़गार और प्रशिक्षण के विस्तार, विशेषत: कमज़ोर वर्ग के लिए नयी प्रशिक्षण काल योजना।

परिशिष्ट
(Appendix)

प्रधान मन्त्री द्वारा लोक सभा के चुनाव कराने का निर्णय
(Prime Minister Decides to Hold Election for Lok Sabha)

18 जनवरी, 1977 को राष्ट्र के नाम एक आकस्मिक प्रसारण में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बताया कि उन्होंने राष्ट्रपति को लोक सभा भंग करने तथा मार्च, 1977 में अर्थात् सदन के परिवर्द्धित कार्यकाल की समाप्ति से 12 महीने पूर्व लोक सभा के निर्वाचन कराने की सिफ़ारिश की है (लोक सभा का कार्यकाल एक-एक वर्ष करके दो बार बढ़ाया जा चुका था, पहले 4 फरवरी, 1976 को और पुन: 5 नवम्बर, 1976 को)। इसके लिए उन्होंने यह कारण बताया—"ऐसी राजनीतिक प्रक्रियाओं को पुन: प्रचलित करना, जिन पर हमें प्रतिबन्ध लगाने के लिए विवश होना पड़ा था।" उन्होंने यह भी कहा कि यद्यपि वर्तमान लोक सभा वैध रूप से 18 महीने तक और कार्य कर सकती थी, पर उन्होंने राष्ट्रपति को नये चुनाव कराने का परामर्श दिया क्योंकि "हमारा यह दृढ़ विश्वास है संसदीय सरकार प्रदान की जानी चाहिए जो राष्ट्र की शक्ति, दृढ़ता और कल्याण की योजनाओं और नीतियों के प्रवर्तन के लिए जनता की स्वीकृति प्राप्त करें।" उन्होंने आगे कहा कि नये चुनावों से "जन-जीवन की व्याकुलता दूर करने का अवसर" प्राप्त होगा।

अगले ही दिन भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय श्री फ़खरुद्दीन अली अहमद ने संविधान की धारा 85 के वाक्यांश 2(ख) द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन द्वारा लोक सभा भंग करने तथा नये चुनाव कराने सम्बन्धी आदेश दे दिये।

20 जनवरी को केन्द्र सरकार ने घोषित किया कि वह समाचारपत्रों पर सेंसर व्यवस्था लागू नहीं करेगी तथा सामान्य राजनीतिक गतिविधियों एवं चुनाव प्रचार करने की सुविधा देने के लिए आपात्स्थिति में भी ढील देगी। अगले ही दिन सरकार ने मुख्य सेंसर के संस्थान को तुरन्त काम करना बन्द करने का आदेश दिया जहाँ भी सेंसर लगाया गया था उसे उठाने के आदेश दे दिये गए तथा सेंसर आदेशों का पालन न करने पर छापेखानों व प्रतिभूति निक्षेप को जब्त करने के आदेश वापस ले लिये गए। विपक्षी दलों के हजारों नेता एवं कार्यकर्ता, जिन्हें आन्तरिक सुरक्षा कानून तथा भारत रक्षा नियमों के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया था, छोड़ दिये गए

की सन्तान को और देश को स्वतन्त्रता चाहिये अथवा गुलामी चाहिये।" उन्होंने आगे चलकर कहा, "जब आप अपने मत पर मुहर लगायेंगे, वह आपके व आपके देश पर भी मुहर होगी। यदि आपने इस अवसर को हाथ से निकल जाने दिया तो आप फिर कभी दिल्ली में ऐसी सभा आयोजित नहीं कर सकेंगे।"

जगजीवन राम का कांग्रेस सरकार एवं दल से त्यागपत्र—नए दल का गठन (Jagjivan Ram Quits Congress Government and Party —Formation of New Party)

एक और प्रमुख घटना यह हुई कि जगजीवन राम ने 2 फरवरी को मन्त्रिपरिषद एवं कांग्रेस दल से त्यागपत्र दे दिया। उस दिन उन्होंने लगभग 11 बजे प्रातः राष्ट्रपति भवन जाकर राष्ट्रपति से भेंट की और उन्हें अपना त्यागपत्र प्रेषित किया। अपने निवास स्थान लौटकर उन्होंने अपने इस कृत्य की सूचना संवाददाताओं को दी जो किसी पूर्व आयोजन के अनुसार वहाँ पहले से एकत्रित थे। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा, "सारी सत्ता को नृशंसतापूर्वक एक अन्तरंग मंडली अथवा एक ही व्यक्ति में केंद्रित करने की पद्धति का अनुसरण किया जा रहा है, और कांग्रेस दल एवं देश के प्रशासन में एकाधिकार की मनोवृत्ति भयानक रूप से बढ़ती जा रही है।" उन्होंने कहा कि कांग्रेस संगठन में सभी स्तरों पर आन्तरिक लोकतन्त्र को न केवल संकुचित कर दिया गया है अपितु लगभग समाप्त कर दिया गया है, और कांग्रेस व पार्टी के संसदीय दल में आन्तरिक अनुशासनहीनता को न केवल सहन किया गया है अपितु उसे भड़काया व प्रोत्साहित किया गया है।" यह एक विस्तृत वक्तव्य था और इस पर जगजीवन राम के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व कांग्रेसी मुख्य मन्त्री हेमवती नन्दन बहुगुणा, उड़ीसा की भूतपूर्व कांग्रेसी मुख्य मन्त्री श्रीमती नन्दिनी सत्पथी, भूतपूर्व केन्द्रीय राज्य मन्त्री के० आर० गणेश, लोक सभा के वयोवृद्ध कांग्रेसी सदस्य द्वारिका नाथ तिवारी, और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व कांग्रेसी मन्त्री राजमंगल पांडे ने भी हस्ताक्षर किये थे।

जगजीवन राम ने उसी दिन एक नया दल "प्रजातन्त्र कांग्रेस (Congress for Democracy)" स्थापित करने की भी घोषणा की। वे स्वयं उसके अध्यक्ष व बहुगुणा उसके महासचिव बने। नए दल की माँगें निम्नलिखित थीं: आपात्स्थिति को तुरन्त समाप्त किया जाये, आंसुका (आन्तरिक सुरक्षा कानून) खत्म किया जाये, मनमाने कानूनों के अन्तर्गत बन्दी बनाये गए राजनीतिक बन्दियों को रिहा किया जाये, आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशन निरोध अधिनियम को रद्द किया जाये, फ़िरोज़ गांधी अधिनियम को पुनः स्थापित करके संसद की कार्रवाई के प्रकाशन सम्बन्धी उन्मुक्ति निश्चित की जाये, सरकार द्वारा आश्वासन दिया जाये कि चुनाव में पुलिस तथा अर्द्ध सैनिक सैन्य दलों का उपयोग नहीं किया जायेगा, जिससे मतदाताओं को भय न हो, राजनीतिक जीवन में किसी भी व्यक्ति का हित संवर्धन करने के लिए सरकारी

मशीनरी का किसी भी रूप में उपयोग न किया जाये तथा सरकार के सूचना के साधन विशेषकर रेडियो तथा दूरदर्शन द्वारा आपात्स्थिति के पूर्व के सिद्धान्तों का परिपालन किया जाना चाहिये।

इसके कुछ ही दिन बाद, जगजीवन राम और मोरारजी देसाई में परस्पर समझौता हुआ कि जनता पार्टी और प्रजातन्त्र कांग्रेस एक ही मंच से चुनाव लड़ेंगी, उनका एक ही चुनाव चिन्ह होगा तथा वे संयुक्त रूप से उम्मीदवार खड़े करेंगे, दोनों के चुनाव घोषणापत्रों में समान उद्देश्यों— अर्थात् व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, मूल अधिकारों, वामपंथी कार्यक्रमों (Left of Centre) तथा प्रत्येक के काम करने के अधिकार पर बल दिया जायेगा।

भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश की नियुक्ति में दूसरी बार अधिक्रमण
(Second Supersession of Seniormost Judge in the Appointment of Chief Justice of India

28 जनवरी, 1977 को न्यायाधीश मिर्जा नईमुल्ला बेग को अजित नाथ रे के स्थान पर भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। रे अगले दिन सेवा निवृत्त हो गए। यद्यपि न्यायमूर्ति खन्ना न्यायमूर्ति एच० आर० बेग की अपेक्षा वरिष्ठ थे, पर केन्द्र सरकार ने इस बार भी वही रवैया अपनाया जो उसने 1973 में न्यायमूर्ति रे को तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों के अधिक्रमण द्वारा मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करते समय अपनाया था, अर्थात् मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए केवल वरिष्ठता को ही एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता। न्यायमूर्ति खन्ना ने इसके विरोध में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

जनता पार्टी ने न्यायमूर्ति खन्ना के अधिक्रमण की निन्दा की और उसके महासचिव सुरेन्द्र मोहन ने कहा : "हमारा सदैव यह विचार रहा है कि इन नियुक्तियों में वरिष्ठता का आदर अवश्य किया जाना चाहिये। जिन व्यक्तियों ने न्याय प्रदान करना है, उनकी नियुक्ति में कार्यपालिका को अपना विवेकाधिकार प्रयुक्त करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। जो कुछ हुआ है हम उसकी घोर निन्दा करते हैं।"

संविधान (चवालीसवाँ संशोधन) विधेयक, 1976
(The Constitution (Forty-Fourth Amendment) Bill, 1976)

26 जून, 1975 को लगाई गई देशव्यापी आपात्स्थिति का लाभ उठाकर केन्द्र स्थित कांग्रेस सरकार ने संविधान में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने का निश्चय किया। मार्च 1976 के अन्तिम सप्ताह में विधि मन्त्री श्री एच० आर० गोखले ने एक सोवियत विधि प्रतिनिधिमण्डल से अनेक मुद्दों पर विचार-विमर्श किया, जिनमें भारत व

सोवियत संघ में विधिक एवं संवैधानिक रीतियों सम्बन्धी मुद्दे भी सम्मिलित थे।[1] कांग्रेस हाई कमान ने भूतपूर्व रक्षा मन्त्री स्वर्ण सिंह की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की, जिसे यह जाँच करके सिफ़ारिश करने का काम सौंपा गया कि संविधान के किन प्रावधानों में किस-किस परिसीमा तक संशोधन करने की आवश्यकता है।

इस समिति ने जो सिफ़ारिशें कीं, उन पर कांग्रेस कार्यसमिति ने 28 मई, 1976 को विचार किया और अधिकतर सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। इन सिफ़ारिशों के आधार पर एक विस्तृत विधेयक का मसौदा तैयार किया गया, जिसके द्वारा संविधान में 57 संशोधन प्रस्तावित किये गए। इस मसौदे को 1 सितम्बर, 1976 को लोक सभा में प्रस्तुत किया गया। प्रमुख प्रस्तावित संशोधन इस प्रकार थे :

1. संविधान की भूमिका में (क) "प्रभुसत्तासम्पन्न प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र" के स्थान पर "प्रभुसत्तासम्पन्न समाजवादी धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र" शब्द जोड़ दिये जायें तथा (ख) "राष्ट्र की एकता" के स्थान पर "राष्ट्र की एकता व अखण्डता" शब्द जोड़ दिये जायें।

2. धारा 31(ग) के पश्चात् नई धारा 31(घ) जोड़ दी जाए, जिसमें यह प्रावधान किया जाए कि निम्नलिखित प्रकार से विधियों को केवल इस आधार पर प्रभावशून्य नहीं माना जायेगा कि वह धारा 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को समाप्त या संकीर्ण करते हैं : (क) राष्ट्र विरोधी गतिविधियों को रोकने या उनकी मनाही करने सम्बन्धी कानून, या (ख) राष्ट्र विरोधी संस्थाएँ बनाने से रोकने या मनाही करने सम्बन्धी कानून।

3. धारा 32 के पश्चात् धारा 32(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया। इसमें यह प्रावधान किया गया कि उच्चतम न्यायालय अपने विचाराधीन संवैधानिक उपचार के अधिकार सम्बन्धी धारा 32 के अन्तर्गत किसी भी मामले की सुनवाई में किसी भी राज्य के विधि की संवैधानिक वैधता पर तब तक विचार नहीं करेगा, जब तक उस सुनवाई में किसी केन्द्रीय विधि की संवैधानिक वैधता भी विचाराधीन न हो।

4. राज्य नीति के निदेशी सिद्धान्तों सम्बन्धी अध्याय IV में धारा 39 के पश्चात् एक नई धारा 39 (क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया। इसमें यह प्रावधान रखा गया कि राज्य द्वारा ऐसी व्यवस्था की जाए कि विधिक व्यवस्था द्वारा समान अवसरों के आधार पर न्याय की उन्नति हो और विशेषतः, उचित विधान या योजनाएँ बना कर या अन्य किसी प्रकार से निःशुल्क विधि सहायता प्रदान की जाये ताकि किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य अयोग्यताओं के कारण न्याय पाने के अवसर से

[1] *The Indian Express*, 26 March, 1976, p. 5. सोवियत प्रतिनिधिमण्डल के नेता वी० आई० तेरीविलोव (V. I. Terebilov) थे जो कि अपने देश के न्याय मन्त्री थे।

वंचित न होना पड़े ।

5. इसी प्रकार धारा 43 के पश्चात् एक नई धारा 43(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया । इसमें यह प्रावधान किया गया कि राज्य द्वारा यथोचित विधान बना कर या अन्य किसी प्रकार से संस्थानों, प्रतिष्ठानों तथा अन्य उद्योग-संगठनों के संचालन में श्रमिकों द्वारा भाग लिये जाने की व्यवस्था की जाए ।

6. धारा 48 के पश्चात् एक नई धारा 48(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया । इसमें निर्देश था कि राज्य द्वारा देश के वनों एवं वन्य जन्तुओं की रक्षा करने तथा पर्यावरण (environment) की प्रतिरक्षा एवं सुधार के प्रयत्न किये जायेंगे ।

7. अध्याय IV के पश्चात्, मूल कर्त्तव्यों सम्बन्धी नया अध्याय IV(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया । इस अध्याय में भारतीय नागरिकों को निम्नलिखित कर्त्तव्य निर्धारित करने का प्रस्ताव किया गया :

(क) संविधान का पालन करना तथा उसके आदर्शों, संस्थानों, राष्ट्रीय ध्वज एवं राष्ट्रीय गान का सम्मान करना ।

(ख) जिन श्रेष्ठ आदर्शों द्वारा हमारे राष्ट्र के स्वाधीनता संघर्ष को प्रेरणा मिली, उन्हें प्रिय मानकर उनका अनुसरण करना ।

(ग) भारत की प्रभुसत्ता, एकता एवं अखण्डता को बनाए रखना एवं उसकी रक्षा करना ।

(घ) देश की रक्षा करना तथा जब भी आवश्यकता पड़े, राष्ट्र की सेवा करना ।

(ङ) धार्मिक, भाषायी, और प्रादेशिक अथवा जाति-वर्ग इत्यादि सम्बन्धी भेदभावों को मिटा कर भारत के सभी नागरिकों में विचारों की अनुरूपता एवं भ्रातृत्व भावना का प्रसार करना, तथा स्त्री जाति की मर्यादा के प्रतिकूल रीति रिवाज़ों को समाप्त करना ।

(च) अपने देश की बहुमूल्य मिश्रित सामाजिक संस्कृतिरूपी दाय (heritage) का सम्मान एवं आदर करना ।

(छ) वनों, सरोवरों, नदियों, वन्य जन्तुओं इत्यादि प्राकृतिक वातावरण की रक्षा एवं उन्नति करना तथा प्राणिमात्र पर दया करना ।

(ज) वैज्ञानिकता, मानवता और जिज्ञासा तथा सुधार की भावना विकसित करना ।

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना व हिंसा का परित्याग करना, और

(ञ) एकल एवं सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में चरम उत्कर्ष के प्रयत्न करना, ताकि प्रयास एवं उपलब्धियों की दिशा में राष्ट्र के स्तर में उन्नति हो ।

8. संविधान की धारा 74 में यह संशोधन प्रस्तावित किया गया कि राष्ट्रपति के लिए प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद द्वारा दिये गए परामर्श के अनुसार आचरण करना अनिवार्य होगा ।

9. धारा 83 में यह संशोधन करने का प्रस्ताव किया गया कि लोक सभा का

कार्यकाल 5 से बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया जाये तथा यह संशोधन वर्तमान लोक सभा के प्रति भी लागू हो।

10. धारा 103 के स्थान पर निम्नलिखित धारा जोड़ने का प्रस्ताव किया गया :

(1) यदि ऐसा प्रश्न उठ खड़ा हो कि,

(क) क्या संसद के किसी भी सदन का कोई सदस्य धारा 102 के वाक्यांश (1) में उल्लिखित अनर्हताओं (disqualifications) के कारण सदस्य रहने के अयोग्य हो गया है, या

(ख) क्या ऐसा कोई व्यक्ति जो संसद द्वारा बनाये गए किसी विधि के अन्तर्गत चुनाव में भ्रष्टाचार करने का दोषी पाया गया हो, संसद या किसी राज्य की विधान सभा का सदस्य निर्वाचित किये जाने या नामांकित (chosen) किये जाने के अयोग्य माना जायेगा, तथा उसकी उपर्युक्त अनर्हता की अवधि या अनर्हता को समाप्त करने या उसकी अवधि कम करने सम्बन्धी प्रश्न—

तो प्रश्न को राष्ट्रपति के निर्णय के लिए प्रेषित किया जायेगा तथा उनका निर्णय अन्तिम होगा।

(2) ऐसे प्रश्न पर कोई निर्णय देने से पूर्व राष्ट्रपति चुनाव आयोग से परामर्श करेंगे। चुनाव आयोग को इस उद्देश्य के लिए यथोचित पूछ-ताछ करने का अधिकार होगा।

11. संविधान की धारा 131 के पश्चात् धारा 131(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया जो इस प्रकार थी :

(1) इस संविधान में कहीं भी किये गए किसी अन्य प्रावधान के रहते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय को, अन्य किसी भी न्यायालय की अपेक्षा, किसी भी केन्द्रीय विधि की संवैधानिक वैधता सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार होगा।

(2) जब किसी उच्च न्यायालय को विश्वास हो—

(क) कि उसके सम्मुख या उसके किसी अधीनस्थ न्यायालय के सम्मुख किसी विचाराधीन मामले में, किसी केन्द्रीय विधि या केन्द्र एवं राज्य दोनों के विधियों की संवैधानिक वैधता का प्रश्न सम्मिलित है, और

(ख) कि मामले के निर्णय के लिए उस प्रश्न के निर्णय की आवश्यकता है,

तो उच्च न्यायालय उस प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के लिए प्रेषित करेगा।

(3) वाक्यांश (2) के प्रावधान को प्रभावित किये बिना, जब भारत के महान्यायवादी (Attorney General of India) के आवेदन पर, सर्वोच्च न्यायालय को विश्वास हो—

(क) कि उसके सम्मुख या उसके किसी अधीनस्थ न्यायालय के सम्मुख किसी विचाराधीन मामले में, किसी केन्द्रीय विधि या केन्द्र एवं राज्य दोनों के विधियों की संवैधानिक वैधता का प्रश्न सम्मिलित है, और

(ख) कि मामले के निर्णय के लिए उस प्रश्न के निर्णय की आवश्यकता है,

तो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालय को वह प्रश्न अपने निर्णय के लिए प्रेषित करने का आदेश दिया जा सकता है।

(4) उपर्युक्त वाक्यांश (2) या (3) के अनुसार कोई प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के लिए प्रेषित करने के पश्चात् उच्च न्यायालय द्वारा उस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय प्राप्त करने तक तत्सम्बन्धी कार्रवाई रोक दी जायेगी।

(5) सम्बन्धित पक्षकारों को अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर देने के पश्चात्, सर्वोच्च न्यायालय, उपर्युक्त प्रश्नों का निर्णय करेगा, तथा वह

(क) मामले का स्वयं निर्णय कर सकता है, अथवा

(ख) स्वयं को प्रेषित किये गए प्रश्नों के निर्णय सहित, मामले की फाईल को उच्च न्यायालय को लौटा सकता है ताकि उच्च न्यायालय या अधीनस्थ न्यायालय द्वारा, जैसी भी परिस्थिति हो, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार निपटाया जा सके।

12. धारा 139 के पश्चात् धारा 139(क) जोड़ने का निश्चय किया गया, जिसमें निम्नलिखित प्रावधान प्रस्तावित थे :

(1) यदि भारत के महान्यायवादी के आवेदन पर सर्वोच्च न्यायालय को यह विश्वास हो जाये कि स्वयं उसके तथा एक या अधिक उच्च न्यायालयों के अथवा दो या दो से अधिक न्यायालयों के विचाराधीन प्रश्नों में विधि के एक ही प्रश्न सम्बन्धी या एक ही सारांश के प्रश्नों सम्बन्धी मामले विचाराधीन हैं, तथा वे मामले सामान्य महत्त्व के सारपूर्ण प्रश्नों से सम्बन्धित हैं, तो वह उस उच्च न्यायालय या उन उच्च न्यायालयों में से उन मामलों को स्वयं मंगा कर निर्णीत कर सकता है।

(2) यदि सर्वोच्च न्यायालय का विचार हो कि न्याय की दृष्टि से ऐसा करना उचित होगा तो वह किसी उच्च न्यायालय के विचाराधीन मामले को किसी अन्य उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकता है।

13. संविधान की धारा 144 के पश्चात् निम्नलिखित धाराएँ जोड़ना प्रस्तावित किया गया :

(1) किसी राज्य के विधि या केन्द्रीय विधि की संवैधानिक वैधता पर विचार करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के कम से कम सात न्यायाधीशों का न्यायासन होना आवश्यक होगा।

(2) किसी केन्द्रीय विधि अथवा राज्य के विधि की संवैधानिक वैधता के लिए बैठने वाले न्यायाधीशों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा उस विधि को संवैधानिक रूप से अवैध घोषित किये बिना उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित नहीं किया जायेगा।

14. संविधान की धारा 172 में संशोधन करके राज्यों की विधान सभाओं का कार्यकाल 5 से बढ़ा कर 6 वर्ष कर दिया जाए। इस संशोधन को उसके लागू होने

के दिन से सभी विद्यमान विधान सभाओं के प्रति लागू कर दिया जाये।

15. धारा 192 के स्थान पर एक नई धारा जोड़ने का प्रस्ताव किया गया। इसके द्वारा संविधान की धारा 103 के, ऊपर दिये गए संशोधित रूप के प्रावधान द्वारा निर्दिष्ट संसदसदस्यों की अनर्हता (disqualification) के ही नमूने पर, राज्यों के विधायकों की अनर्हता सम्बन्धी प्रश्न को पुन: निर्णीत कर दिया गया।

16. उच्च न्यायालयों की अनेक प्रकार की रिट (writ) जारी करने सम्बन्धी धारा 226 में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया गया यद्यपि उच्च न्यायालय रिट (writ) आदेशों के निर्गमन (issuance) द्वारा, मूल अधिकारों को लागू कराने के अपने अधिकारों (powers) का उपभोग करते रहेंगे, पर अब तक जो वे "अन्य किसी उद्देश्य के लिए" शब्दों से प्राप्त क्षेत्राधिकार (jurisdiction) द्वारा ऐसे प्रत्येक मामले में जिसमें किसी विधिक अधिकार (legal right) का अतिक्रमण हुआ हो क्षेत्राधिकार का उपभोग करते रहे हैं, आगे से नहीं कर सकेंगे, और उपर्युक्त शब्दों ("अन्य किसी उद्देश्य के लिए") को यहाँ से निरस्त (delete) किया जा रहा है। इसके स्थान पर अब उच्च न्यायालयों को सीमित क्षेत्राधिकार दिया जायेगा। वे (क) ऐसे मामलों में जहाँ किसी सांविधिक प्रावधान के उल्लंघन द्वारा प्रार्थी की मार्मिक क्षति हुई हो और (ख) ऐसे मामलों में जिनमें कोई ऐसा अवैध कार्य हुआ हो जिसके परिणामस्वरूप न्याय को मार्मिक आघात पहुँचा हो, क्षेत्राधिकार का उपभोग कर सकते हैं।

उपरोक्त दोनों प्रकार के मामलों में प्रार्थी को न्यायालय के सम्मुख यह सिद्ध करना होगा कि उनके पास और कोई चारा नहीं था।

17. धारा 226 के पश्चात एक नई धारा 226(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया। इसका प्रावधान है कि उच्च न्यायालय इस धारा के अन्तर्गत की जाने वाली किसी कार्रवाई में किसी केन्द्रीय विधि की संवैधानिक वैधता पर विचार नहीं करेगा। इस संशोधन का तात्पर्य यह निश्चित करना है कि कोई केन्द्रीय विधि एक राज्य में मान्य (वैध) और दूसरे में अमान्य (अवैध) न हो जाये।

18. धारा 228 के पश्चात् एक नई, धारा 228(क) जोड़ना प्रस्तावित किया गया। इस धारा का प्रावधान है कि किसी उच्च न्यायालय को किसी केन्द्रीय विधि को संवैधानिक दृष्टिकोण से अवैध घोषित करने का क्षेत्राधिकार नहीं होगा। इस धारा के वाक्यांश (2) में यह प्रावधान है कि उच्च न्यायालय राज्य के विधियों की संवैधानिक वैधता सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय कर सकता है। वाक्यांश (3) में प्रावधान है कि राज्य के किसी विधि की संवैधानिक वैधता सम्बन्धी न्यायासन पर बैठने वाले न्यायाधीशों की संख्या पाँच से कम नहीं होगी। किन्तु जब उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कुल संख्या पाँच से कम हो, तो न्यायालय के सभी न्यायाधीश एक साथ बैठ कर उपर्युक्त प्रश्न का निर्णय कर सकते हैं।

वाक्यांश (4) में निर्दिष्ट है कि निम्नलिखित परिस्थितियों के अतिरिक्त, उच्च न्यायालय द्वारा किसी राज्य के विधि को संवैधानिक रूप से अवैध घोषित नहीं किया

जायेगा :

(क) जब न्यायालय में पाँच या पाँच से अधिक न्यायाधीश हों तो उस विधि की वैधता की जाँच करने के लिए बैठने वाले न्यायाधीशों में से कम से कम दो तिहाई न्यायाधीश उसे संवैधानिक रूप से अवैध घोषित करें; तथा

(ख) जब उच्च न्यायालय में पाँच से कम न्यायाधीश हों तो उच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीश उसे संवैधानिक रूप से अवैध मानें।

19. धारा 257 के पश्चात एक नई धारा 257(क) जोड़ने का प्रस्ताव किया गया इस धारा में निम्नलिखित प्रावधान हैं :

(1) भारत सरकार किसी राज्य में नियम-व्यवस्था की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए केन्द्र की किसी भी सशस्त्र सेना या अन्य सेना का उपयोग कर सकती है।

(2) धारा (1) के अनुसार किसी राज्य में नियोजित की जाने वाली सशस्त्र सेना, सेना या उसकी किसी टुकड़ी इत्यादि को भारत सरकार द्वारा निर्गमित आदेशों के अनुसार कार्य करना होगा, तथा वह केन्द्र के उपर्युक्त आदेशों के प्रावधान के अतिरिक्त, राज्य सरकार या उसके किसी अधीनस्थ अधिकारी या प्राधिकारी के अधीक्षण या नियन्त्रण के अधीन नहीं होगी, और

(3) वाक्यांश (1) के अन्तर्गत नियोजित किसी सेना अथवा उसकी टुकड़ी इत्यादि के सदस्यों के उपरोक्त नियोजन की अवधि सम्बन्धी अधिकार कार्यभाग, सुविधाएँ और दायित्व, संसद द्वारा विधि बना कर निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

20. धारा 312 में संशोधन कर के एक संसदीय विधि द्वारा अखिल भारतीय न्यायिक सेवा स्थापित करने का प्रावधान किया गया। ऐसी सेवा में ज़िलाधीश (District Judge) से कम पद सम्मिलित नहीं होगा।

21. संविधान के भाग (xiv) के पश्चात् नया भाग xiv(A) जोड़ना प्रस्तावित किया गया। इस भाग में दो धारायें 323(क) और 323(ख) धारा 323(क) में भारत की प्रादेशिक सीमा के भीतर या भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन या भारत सरकार की या उसके द्वारा नियन्त्रित किसी स्थानीय निकाय (local body), या अन्य अभिकरण (Authority), में काम करने वाले कर्मचारियों सहित भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के कर्मचारियों की भर्ती एवं सेवा की शर्तों सम्बन्धी विवाद निपटाने के लिए एक संसदीय विधि द्वारा प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित करने का प्रावधान किया गया है। इस विधि द्वारा केन्द्र के लिए एक न्यायाधिकरण तथा प्रत्येक राज्य या दो या अधिक राज्यों के लिए पृथक न्यायाधिकरण स्थापित करने सम्बन्धी प्रावधान किया जायेगा तथा उन न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकारों एवं अधिकारों का निरूपण किया जायेगा।

धारा 323(ख) में तथा धारा 323(क) में वर्णित भिन्न-भिन्न मामलों के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों, शिकायतों एवं अपराधों के निपटारे के लिए न्यायाधिकरण स्थापित करने सम्बन्धी प्रावधान किया गया है।

22. आपात्स्थिति घोषित करने सम्बन्धी धारा 352 को भी संशोधित करने का प्रस्ताव किया गया। इससे पहले देश के किसी भाग के लिए आपात्स्थिति घोषित नहीं की जा सकती थी। इस संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को देश के किसी भाग के लिए आपात्स्थिति घोषित करने का तथा यदि आवश्यक हो तो सारे देश में लगाई गई आपात्स्थिति को देश के किसी भाग के लिए सीमित करने का अधिकार देने का प्रस्ताव किया गया।

23. उस समय विद्यमान धारा 356 के अन्तर्गत, संसद द्वारा अनुमोदित घोषणा को यदि पहले समाप्त न कर दिया जाये तो छः महीने तक प्रवर्तनीय रह सकती थी तथा उसे एक वार में छः महीने के लिए और कुल मिलाकर तीन वर्ष तक की अवधि के लिए परिवर्धित किया जा सकता है या इस छः महीने के स्थान पर एक वर्ष जोड़ दिया गया। धारा 357 के वाक्यांश (2) के स्थान पर एक नया वाक्यांश जोड़ दिया गया, जिसके द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि संसद या राष्ट्रपति या अन्य किसी प्राधिकारी द्वारा धारा 356 में प्रदत्त राज्य विधान मण्डल की शक्ति के उपयोग द्वारा बनाया गया प्रत्येक विधि सक्षम (competent) विधान मण्डल या अन्य प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित, रद्द या संशोधित किये जाने तक प्रवर्तित रहेगा।

पद्नाम "केन्द्रीय विधि" और "राज्य विधि" को परिभाषित कर दिया गया। यह सर्वोच्च न्यायालय एवं अन्य उच्च न्यायालयों में केन्द्रीय एवं राज्य विधियों की संवैधानिक वैधता का निर्णय करने सम्बन्धी क्षेत्राधिकार के विभाजन के कारण आवश्यक हो गया था।

24. संविधान की धारा 368 को लेकर, जिसमें संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्ति का वर्णन है, देश में गम्भीर विधिक एवं राजनीतिक मतभेद उठ खड़े हुए थे। इन मतभेदों को समाप्त करने के लिए इस धारा में महत्त्वपूर्ण संशोधन करने का प्रस्ताव किया गया। इसका संशोधित रूप निम्नलिखित है—

(1) इस संविधान का प्रावधान कुछ भी हो, तो भी, संसद अपनी संविधायक शक्ति द्वारा इस संविधान के किसी भी प्रावधान में इस धारा में निर्दिष्ट कार्यविधि द्वारा अतिरिक्त सामग्री जोड़कर, परिवर्तन करके अथवा रद्द करके, संशोधन कर सकती है।

(2) इस संविधान में संशोधन, दोनों सदनों में एक तत्सम्बन्धी विधेयक ला कर ही किया जा सकता है और जब दोनों सदनों में विधेयक प्रत्येक पृथक-पृथक सदन के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा एवं उस सदन के उपस्थित एवं मतदाता सदस्यों के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित हो जाये तो उसे राष्ट्रपति को प्रेषित किया जायेगा। राष्ट्रपति द्वारा विधेयक पर अपनी स्वीकृति देने के पश्चात् संविधान, विधेयक की शर्तों के अनुसार संशोधित समझा जायेगा।

वाक्यांश 3, 4 और 5 जोड़ने की आवश्यकता सर्वोच्च न्यायालय के कुछ शृंखलाबद्ध निर्णयों के कारण हुई। पहले सर्वोच्च न्यायालय का यह विश्वास था कि संसद

को संविधान में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार होता है। कुछ समय पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा निर्णय दिया कि संसद को मूल अधिकारों में कमी करने का कोई अधिकार नहीं है, तथा संविधान में संशोधन की शक्ति धारा 368 से प्राप्त नहीं की जा सकती, जिसमें संविधान संशोधन की कार्यविधि मात्र निर्धारित की गई है। संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) विधेयक पारित किया जाने के पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानन्द भारती के मुकद्दमे में निर्णय दिया कि संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार तो है, किन्तु वह संविधान की मूल विशेषताओं के आधारभूत ढाँचे में परिवर्तन नहीं कर सकता। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों ने संविधान की मूल विशेषताओं को केशवानन्द भारती के मुकद्दमे तथा संविधान (तीसवाँ संशोधन) अधिनियम की वैधता को चुनौती के मुकद्दमे के कुछ उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न अवश्य किया पर उसने स्पष्ट रूप से कहीं नहीं बताया कि उसके दृष्टिकोण से, संविधान की मूल विशेषताएँ क्या हैं।

25. संविधान की सातवीं अनुसूची को भी, जिसमें तीन विधान सूचियाँ हैं; संशोधित कर दिया गया। यह संशोधन विद्यमान मदों में संशोधन करने के लिए किया गया। उदाहरणतया—प्रथम, अर्थात् केन्द्रीय सूची में दूसरी मद के पश्चात् निम्नलिखित मद जोड़ने का प्रस्ताव किया गया : केन्द्र की किसी सशस्त्र सेना या केन्द्र के नियन्त्रण में अन्य सेना या उसकी किसी टुकड़ी इत्यादि को किसी राज्य में नागरिक सत्ता की सहायता के लिए नियोजित करना। इसी प्रकार दूसरी व तीसरी (राज्य व समवर्ती) सूचियों की कुछ मदों में भी संशोधन किया गया।

सातवीं अनुसूची के संशोधन द्वारा कुछ मदों का एक सूची से दूसरी सूची में स्थानांतरित करना भी प्रस्तावित किया गया। उदाहरणतया जिन मदों को सूची-II से सूची-III में स्थानांतरित करने का प्रस्ताव था, वे निम्न प्रकार से थीं : (I) न्याय का प्रबन्ध, सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त सभी न्यायालयों का विधान एवं गठन, (II) शिक्षा।

किन्तु यदि उपरोक्त संशोधन द्वारा (क) धाराओं 54, 55, 73, 162, या 241 अथवा (ख) भाग V के अध्याय IV में, भाग V के अध्याय V में या भाग XI के अध्याय I में, या (ग) सातवीं अनुसूची की किसी सूची में या (घ) संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व या (ङ) इस धारा के प्रावधान में परिवर्तन करना हो, तो—

संशोधन के विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रेषित करने से पहले संशोधन की कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा अपने-अपने सदन में प्रस्ताव पारित करके पुष्टि करना आवश्यक होगा।

(1) धारा 13 का कोई प्रावधान इस धारा के अन्तर्गत किये गए संशोधन पर लागू नहीं होगा।

(2) इस संविधान के किसी संशोधन को [(भाग III) के प्रावधान सहित] जो इस धारा के अन्तर्गत अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से किया गया हो, (चवालीसवें संविधान

संशोधन के लागू होने से पूर्व या पश्चात्) किसी भी आधार पर किसी न्यायालय में विचार का विषय नहीं बनाया जा सकेगा ।

(3) सभी संशय समाप्त करने के लिए एतद् द्वारा यह घोषित किया जाता है कि इस धारा के अन्तर्गत, अतिरिक्त सामग्री जोड़ कर, परिवर्तन करके या कोई प्रावधान रद्द करके इस संविधान के प्रावधानों में संशोधन करने के दृष्टिकोण से इस संसद को असीम संविधायक शक्ति प्राप्त है ।

धारा 13 में वाक्यांश (3) को संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) अधिनियम 1971 द्वारा जोड़ा गया और उसी के द्वारा वाक्यांश (4) भी जोड़ा गया । इनका तात्पर्य यह निश्चित करना था कि धारा 368 के अन्तर्गत बनाई गई विधियों को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस आधार पर निरस्त नहीं किया जा सकता कि वे (भाग III में प्रत्याभूत) मूल अधिकारों के अनुरूप नहीं हैं अथवा उनके लिए हानिकारक हैं। इसकी आवश्यकता गोलकनाथ के मुकद्दमे में सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के कारण उत्पन्न हुई कि संसद को मूल अधिकार कम करने का अधिकार नहीं है ।

(III) नाप तोल के पैमाने, IV वन, और (V) जंगली जानवरों एवं पक्षियों की रक्षा ।

26. प्रस्तावित चवालीसवें संविधान संशोधन विधेयक में, उसके पास हो चुकने के पश्चात् उसे लागू कराने के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए राष्ट्रपति की क्षमता (Power) भी निर्धारित की गई । इसके प्रावधान निम्नलिखित थे :

(1) यदि इस अधिनियम द्वारा संशोधित संविधान के प्रावधानों को लागू करने में कोई कठिनाई उत्पन्न हो (इसमें इस अधिनियम द्वारा संशोधित किये गए प्रावधान जिस स्थिति में राष्ट्रपति की स्वीकृति से पहले थे, उससे उन्हें नए प्रावधानों के अनुरूप लाने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ भी सम्मिलित हैं) तो राष्ट्रपति अपने आदेश से ऐसे प्रावधान कर सकते हैं जो उन्हें वह कठिनाई दूर करने के लिए आवश्यक या उपयुक्त प्रतीत हों । राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार किये जाने वाले प्रावधान में संविधान के किसी प्रावधान का रूपान्तर या परिवर्तन भी सम्मिलित है ।

किन्तु ऐसा आदेश राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृति दिये जाने के दो वर्ष तक की अवधि बीत जाने के पश्चात् नहीं दिया जायेगा ।

(2) ऐसा आदेश दिये जाने के पश्चात् उसे यथाशीघ्र संसद के सदन के सम्मुख रखा जायेगा ।

एक ही बार में अधिकतम संविधान संशोधनों सम्बन्धी यह विधेयक लोक सभा द्वारा 2 नवम्बर, 1976 को उपस्थित मतदाता सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित किया गया । विधि मन्त्री गोखले ने इसे "भविष्य में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के आचरण के लिए एक रूपरेखा" बताया । इसके पक्ष में 366 और विपक्ष में चार मत पड़े । उल्लेखनीय है कि भारतीय साम्यवादी दल के अतिरिक्त

सभी विपक्षी दलों ने विधेयक पर "बहस" एवं "मतदान" दोनों में ही भाग नहीं लिया। राज्य सभा ने इस विधेयक को 11 नवम्बर को पास किया। वहाँ कुल 191 उपस्थित सदस्यों में से सभी ने उसके पक्ष में मत दिया। फिर उसे राज्यों के अनुमोदन (पुष्टि) के लिए भेजा गया। यह अनुमोदन प्राप्त होने पर राष्ट्रपति ने 18 दिसम्बर, 1976 को उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान की और यह अधिनियम बन गया।[2]

[2]दो संशोधन विधेयक—बत्तीसवां और इकतालीसवां—संसद द्वारा अभी तक पारित नहीं हुए हैं। इस कारण से चवालीसवां संशोधन विधेयक ब्यालीसवें संशोधन अधिनियम के नाम से पुकारा जाता है